ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना

(श्रीमद्भगवद्गीताका तेरहवाँ अध्याय)

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्याय पर प्रवचन]

प्रवचनकार :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन कर्त्री :

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

सम्पादक :

विष्णु आनन्द

नम्र निवेदन

'ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना'–इस नामसे श्री गीताजीके तेरहवें अध्यायपर परमपूज्य महाराजश्रीके प्रवचन सन् १९६८ में प्रकाशित हुए थे। पिछले कई वर्षोंसे यह पुस्तक अनुपलब्ध हो गयी थी। परन्तु इसका दूसरा संस्करण निकालनेकी इच्छा होते हुए भी इस कार्यमें बहुत विलम्ब हो गया। कारण यह रहा कि विज्ञ जनोंकी यह राय थी कि ग्रन्थका ज्यों-का-त्यों पुनर्मुद्रण न कराया जाय अपितु इसको नये सिरेसे टेपसे सुनकर पुनः लिखा जाय और फिर नये सिरेसे सम्पादित कराके नवीन रूपमें ही छापा जाय। अधिकांश महानुभावोंका अनुभव यह था कि पुस्तक और टेप-प्रवचनमें विषयवस्तु और भाषाशैलीकी दृष्टिसे बहुत भेद है। वेदान्तके कठिन विषयोंको परमपूज्य महाराजश्रीने अपने प्रवचनोंमें जिस सरलतासे और जिस सरल भाषामें जिज्ञासुओंको समझाया है वह उक्त पुस्तकमें उपलब्ध नहीं था। अतः पूज्यश्री महन्तजी महाराज स्वामी ओंकारानन्द सरस्वतीने ग्रन्थके पुनर्लेखनका आदेश दिया और डाक्टर स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वतीने यह कार्य पाठकोंकी परिचिता श्रीमती सतीश बाला महेन्द्रलाल जेटीको सुपुर्द किया। उन्होंने बड़े मनोयोगसे प्रवचनोंको टेपसे सुनकर लिखा। कार्य लम्बा था ही और कुछ अन्य अपरिहार्य कारणोंसे इस कार्यमें भी काफी समय लग गया। फिर मेरे अपने सम्पादकीय कार्यमें भी आशासे अधिक समय ही लगा। अन्ततः वर्तमान स्वरूपमें यह ग्रन्थ पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रवचनोंको श्लोकोंके क्रमसे ही प्रस्तुत किया गया है जैसा कि प्रथम संस्करणमें था। परन्तु कुछ स्थानोंपर यह संभव नहीं था अन्यथा प्रवचनकी सरलता और सरसतामें अन्तर पड़ता। अतः श्लोक संख्या १९ से २२ तक, फिर २४ से २५ तक, २९ से ३० तक,

३२ से ३३ तकमें यह किया गया है कि श्लोक एक साथ देकर प्रवचनोंको संख्यायित कर दिया गया है।

मूल टेप-प्रवचनोंमें श्लोक संख्या २६ और २७ के प्रवचन थे ही नहीं। प्रथम संस्करणमें भी पूर्व सम्पादकने बस थोड़ा-सा अपनी ओरसे ही उनकी व्याख्या लिख दी थी। ग्रन्थकी पूर्णताको दृष्टिमें रखकर इस संस्करणमें इन श्लोकोंकी नयी व्याख्या मैंने शांकर-भाष्यके अनुसार लिख दी है। आशा है पाठक इसको अन्यथा नहीं लेंगे।

सम्पादन कार्यमें सम्पादककी जो नियति और सीमाऐं होती हैं उन्हींके अनुसार अन्य संशोधन, काट-छाँट और आवश्यक परिवर्द्धन भी हुए हैं। जिनका ब्यौरा देना न संभव है न वाञ्छनीय। प्रथम संस्करणकी जो अच्छी बातें थीं वे सुरक्षित रखी गयी हैं। पृष्ठ संख्यामें तो दुगनेसे अधिक अन्तर हो ही गया है।

अतः इस ग्रन्थके प्रकाशन-मुद्रणमें स्वाभाविक व्यय-भार बढ़ा और उसका निवारण सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके आदि प्रवर्तक, संरक्षक, इस ग्रन्थके प्रवक्ता अनन्तश्री विभूषित स्वामी श्री अखण्डानन्द **सरस्वतीजी महाराजकी** कृपाकांक्षिणी **श्रीमती राजविजय हिन्दूजाने** आर्थिक आंशिक सहयोग प्रदान कर पूरा किया। उनके प्रति महाराजश्रीका स्नेहाशीष तो सदा ही है, और महन्तश्रीकी मंगल-कामना, साथ ही ट्रस्टका आभार! ट्रस्ट उनके प्रति भी धन्यवाद और कृतज्ञता ज्ञापित करता है, जिन्होंने प्रूफ-संशोधन और वर्तनीकी एकरूपताको बनाये रखनेमें सर्वाधिक श्रम-सहयोग किया, वे हैं—श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदी। मुद्रणकी साज-सज्जाको सुरुचिपूर्ण बनाये रखनेका कौशल चि० सोमदत्त-शिवदत्त द्विवेदीने निर्वाह किया, अतः वे उल्लेख्य हैं, और ट्रस्ट उनका आभारी है।

आशा है वेदान्तके जिज्ञासुओंको इस संस्करणके द्वारा अत्यधिक लाभ होगा। परमपूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें कोटिशः प्रणाम सहित—

श्रीवृन्दावनधाम — श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
भाद्र पूर्णिमा ९.९.९५ — **विष्णु आनन्द**
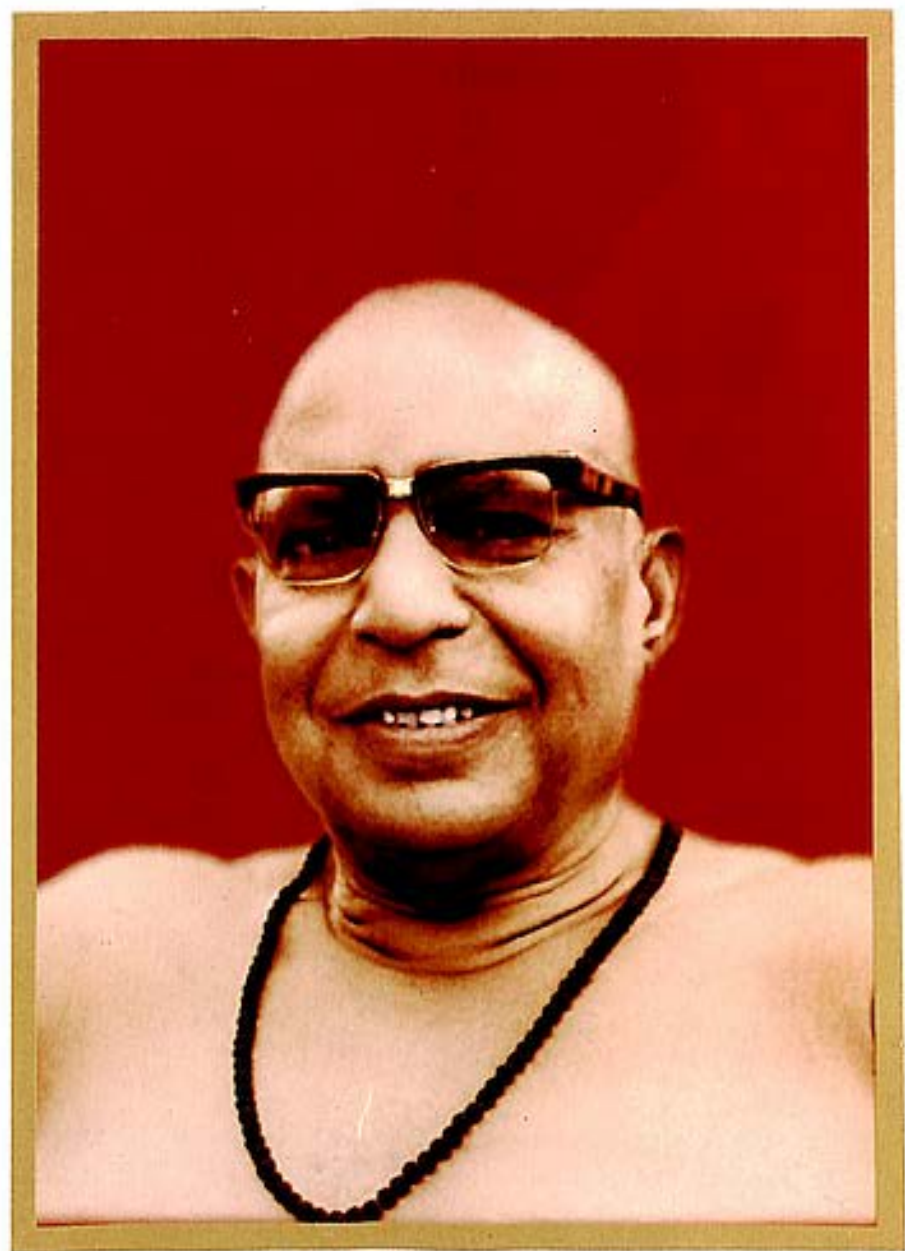
स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

भूमिका

गीता अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका विज्ञानोद्गारी परम मधुर दिव्य संगीत। भागवत-संगीत अर्थात् भगवान्से उत्पन्न समग्र प्रजाके लिए आनन्द, प्रकाश और दिव्य जीवनका अनुभूतिमय सन्देश। यह सात्त्विक-राजस-तामस सम्पूर्ण प्रजाके लिए हितकारी है। स्वधर्ममें निष्ठा, उसका पालन और संवर्द्धन, साथ ही साथ फलकी उपलब्धि इस विद्याकी विशेषता है। भगवान् सच्चिदानन्द अव्यय हैं, उनके वचनके अर्थ भी वे ही हैं।

आइये, इस संगीतके ताल-स्वरमें ही नहीं, इसके निभृत अन्तरंगमें प्रवेश करके देखें कि भगवान् किन दोषोंको दूर करना चाहते हैं, हमारे जीवनमें किन गुणोंका आधान करना चाहते हैं और हमारे अन्दर कौन-सी अपूर्णताएँ, हीनताएँ हैं जिन्हें निकालकर वे हमें सर्वांगपूर्ण बनाना चाहते हैं।

प्रसंगप्राप्त तेरहवें अध्यायपर ही विचार करें। तेरहवाँ अध्याय एक सीधी-सादी सार्वजनीन अनुभूतिका अनुवाद करता हुआ प्रारम्भ होता है। शरीर क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ। जड़ और चेतन, यह और मैं, प्रकाश्य और प्रकाशक। क्षेत्रका विस्तार अत्यन्त विशाल है। एक नन्हें-से देहसे प्रारम्भ करके प्रकृति पर्यन्त। इच्छा, द्वेषादि क्षेत्रके स्वभाव हैं कि विकार हैं, इस प्रपञ्चमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। वे विकार हैं तो भी विकारी होना क्षेत्रका ही स्वभाव है, क्षेत्रज्ञका नहीं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके त्रैकालिक उदय-विलयकी बीजभूता प्रकृति अपने वृद्धि-ह्रासके लिए प्रेरक संस्कार आदिकी अपेक्षा रखती है। वह सर्वथा सापेक्ष ही होती है। बीज केवल सन्मात्र जीवन है। बीज बकारसे प्रारम्भ होकर बहिर्मुख-अन्तर्मुख होता रहता है। जीव देशकाल-विशेष-निरपेक्ष अन्तःस्थ अनन्त जीवन है। कर्म और फल बीजमें हैं, जीवमें नहीं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके हेतुफलात्मक बीज और हेतुफल-निरपेक्ष चेतनके विवेकके बिना जन्म-मरण रूप संसारसे मुक्ति नहीं हो सकती। संसार—संसरण, अनेक अवस्थाओंमें भटकना, जीवन-मरण, चर-अचर, सुख-दुःख यही द्वन्द्वात्मक संसार है। विक्षेप-समाधि भी द्वन्द्व है, साधन-साध्य भी द्वन्द्व है, उपास्य-उपासक भी द्वन्द्व है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक द्वन्द्वोंसे अतीत होनेकी प्रथम निःश्रेणी है। क्षेत्रज्ञका शरीर केवल एक देह ही नहीं है, सम्पूर्ण प्रकृति और प्राकृत है। इसलिए श्रीकृष्णने क्षेत्रकी विशाल मर्यादाके अनुसार क्षेत्रज्ञको अपना स्वरूप बताया। समग्र समष्टि शरीर है और शरीरी हैं

स्वयं भगवान्। क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि छोटे-छोटे शरीर और अनेक जीव स्वप्नके शरीर—और जीवोंके समान ही शरीराभास और जीवाभास हैं। अपरिच्छिन्न जीवन ही सच्चा जीवन है।

शिष्टाग्रणी भगवान् श्रीकृष्ण इस सिद्धान्तको केवल अपनी अनुभूति अथवा उद्भावना नहीं बताते, प्रत्युत छांदस अर्थात् वैदिक, आर्ष अर्थात् स्मार्त, ब्रह्मसूत्र और युक्तियोंके द्वारा सर्वथा निश्चित बतलाते हैं। यह केवल आदेश अथवा शासन करनेवाला शास्त्र नहीं है, यह यथार्थका शंसन करनेवाला शास्त्र है। इसे केवल वक्ताके प्रभावसे अभिभूत होकर मत मानिये, युक्ति-प्रमाणसिद्ध रूपमें हृदयंगम कीजिये।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ निरूपणके अनन्तर साधनका निरूपण है। बाधा-विघ्न न हों तो साधनकी आवश्यकता ही क्या? इसलिए साधन और साधन-विरोधी—दोनोंका ही निरूपण है। क्षेत्र-ज्ञानके लिए साधनकी अपेक्षा नहीं है, परन्तु क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए साधनकी अपेक्षा है। यह दूसरेके घर जाना नहीं, अपने घरमें बैठना है, इसलिए यहाँ भी ज्ञान और अज्ञानका विभाग है। अज्ञान-विभागमें बीस पदार्थ हैं—मान, दम्भ, हिंसा, दण्ड देना, कुटिलता, गुरुपर श्रद्धा न करना, अपवित्रता, चंचलता, इन्द्रियोंको न रोक सकना, विषयमें रागद्वेष होना, अहंकार करना, संसारमें दोषदृष्टि न होना—आसक्ति होना, संसारके सम्बन्धियोंमें उलझ जाना, इष्ट अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तका एकरस न रहना, भगवद्भक्ति न होना, एकान्तमें रुचि न होना, भीड़-भाड़में रुचि होना, भौतिक ज्ञानमें ही लगे रहना, तत्त्वज्ञानके प्रयोजन, अनर्थ-निवृत्ति और परमानन्द प्राप्तिको न समझना। अज्ञानकी इन बीस संतानोंसे बचे बिना ज्ञानकी साधना नहीं होती। मूलमें यह बात स्पष्ट है।

ज्ञेयका जैसा स्वरूप-वर्णन किया गया है वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञान-अज्ञानके समान द्वन्द्वयुक्त नहीं है। वह अद्वितीय है। उसके ज्ञान-मात्रसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। वह देश, काल, वस्तुकृत परिच्छेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित वाङ्मनसागोचर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्मा ही है। सब शक्तियाँ और सब विषय उसीमें भास रहे हैं। वस्तुत: न उसमें कोई शक्ति है, न विषय। उसमें बाहर-भीतर और चर-अचरका भेद नहीं है। वह दूर भी है, निकट भी है। न घटादिके समान प्रत्यक्ष है, न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वह सब प्रकाशोंका प्रकाश है, अज्ञानकी छाया-मायासे रहित है। ज्ञान भी वही, ज्ञेय भी वही, चर भी वही, अचर भी वही; फिर इसके सिवा और क्या है? वह प्रतिशरीरमें अञ्चित, प्रत्यक् ही है। इस प्रसंगमें अतर्कित रूपमें इस ज्ञानके अधिकारीका निरूपण कर दिया गया है। यह अद्वितीय आत्मा ब्रह्म किसके अनुभवमें आता है, इसका विज्ञान किसे होता है? मेरे भक्तको। बारहवें और

तेरहवें अध्यायकी यही परस्पर संगति है। बारहवें अध्यायमें वर्णित भक्तको ही तेरहवें अध्यायमें प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका साक्षात्कार होता है।

इस अध्यायमें वर्णित परमात्मा ज्ञान भी है और ज्ञेय भी। अभिप्राय यह हुआ कि क्षेत्रज्ञाभिन्न ज्ञान ही परमात्माका स्वरूप है। वह सबके हृदयमें विराजमान है। इसका तात्पर्य यह है कि वह शारीरिक प्रत्यक्‌चैतन्य ही है। वही ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु और भर्त्ता होनेके कारण अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे अद्वितीय है; प्रकाशक, ज्योति तथा ज्ञानस्वरूप होनेके कारण विवर्ती है, क्योंकि चैतन्य परिणामी नहीं हुआ करता। आत्मासे अभिन्न होनेके कारण चैतन्य है, चैतन्य होनेके कारण अपरिणामी है; अपरिणामी, अद्वितीयमें प्रपञ्च भास मात्र है।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। परन्तु पुरुष कूटस्थ, अपरिणामी और ब्रह्म है। इसलिए अनादि और अनन्त है। प्रकृति माया है, परन्तु विकारिणी और त्रिगुणमयी होनेके कारण नाशवान् और भेदरूप है। इसलिए इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भेद और विकार दोनों ही प्रकाश्य होते हैं। इसलिए अपनी सत्ता लाभ करनेके लिए उन्हें प्रकाशक सत्ता-सापेक्ष होना पड़ता है। पुरुष एक है, प्रकाश है, निर्विकार है, निरपेक्ष है, अनादि-अनन्त है, निराधार है, अपना आत्मा है। प्रकृति अनेकरूपिणी है, प्रकाश्य है, विकारिणी है, सापेक्ष है, अनादि-सान्त है, साधार है, अनात्मा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह प्रकृति स्वतन्त्रसत्ता नहीं है, अनिर्वचनीय मायामात्र ही है। जब तक ब्रह्मात्मैक्यबोध नहीं होता, तब तक यह अनादित्वेन कल्पित है। यह ब्रह्मज्ञान होनेपर बाधित हो जाती है। तब इसका अनादित्व भी बाधित हो जाता है। इसका अर्थ है कि अज्ञानियोंके लिए प्रकृतिका अनादित्व चरितार्थ है, ज्ञानियोंपर प्रकृतिकी भासमानताका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही प्रकृति कर्म करती है। पुरुष इसके साथ तादात्म्यापन्न होकर भोक्ता अथवा उपलब्धा बनता है। यही प्रकृतिके साथ तादात्म्यापत्ति प्रकृतिके गुणोंको पुरुषके साथ जोड़ देती है। और वह प्रकृतिके गुणोंको अपनेमें मानकर—इतर धर्मको अपनेमें मानकर अध्यस्त कर लेता है। यह अध्यास ही पुरुषको जन्म-मृत्यु, राग-द्वेष, सुख-दुःख और गमनागमनके चक्रमें डालता है। वस्तुतः ये सारी बातें मायामयी प्रकृतिमें ही हैं। पुरुषके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वतः इस शरीरमें विद्यमान चेतन पुरुष इस शरीरसे सर्वथा परे है। महेश्वर, परमात्मा आदि उसीके नाम विशेष हैं, कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

जब पुरुष अपनेको इस रूपमें जान लेता है और मायामयी प्रकृतिके नर्तन-कर्तन आदिको मिथ्या दृश्यके रूपमें देखता है, तब कोई वृत्ति-प्रवृत्ति, व्यवहार उसको प्रभावित नहीं करता। पुण्य-पापादि परिपाकजन्य सुख-दुःखाद्याकार-वृत्तिविशेष,

प्रिय-अप्रिय विषयका स्फुरण अथवा प्रकृति-प्राकृत-सम्बन्ध उसको प्रभावित नहीं करता, क्योंकि उसकी अनुभूतिमें प्रकाशमानतासे पृथक् और कोई सत्ता नहीं है। इसी पुनर्जन्मरहित जीवन्मुक्त पुरुषका निरूपण तेइसवें श्लोकमें किया गया है।

साधनाका विचार करते समय कहा गया है—आत्मा ही आत्मासे आत्मामें आत्माको देखता है। इसके लिए ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण हेतु है। सबका फल है जन्ममृत्युके चक्रसे मुक्ति। मृत्युसे मुक्ति अर्थात् परिच्छिन्नताके अभिमानसे मुक्ति। सम्पूर्ण प्राणियोंका शरीर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोगसे बना है और विवेकसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको पृथक् कर लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है और क्षेत्रकी केवल प्रातिभासिक सत्ता है। आप देखें कि गीतामें बताया गया है—

(१) परमेश्वर सबमें सम और कूटस्थ है।

(२) वह देश-काल-वस्तुओंके विनाशरूप परिवर्तनमें अविनाशी है।

(३) पहले कही हुई दोनों बातोंके ज्ञानसे अपने आपमें हीनता अर्थात् परिच्छिन्नताका भ्रम नहीं रहता। यही परागति है।

(४) कर्मका सम्बन्ध आत्मासे नहीं है। यह मायामयी प्रकृतिका ही विलास है। अतएव भोगके साथ भी इसका कहीं सम्बन्ध नहीं है।

(५) यह कार्य-कारणात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमें ही उदय-विलय, भावाभावको प्राप्त हो रहा है। वह एक अपना आत्मा ही—स्वयंप्रकाश चैतन्य है। वह कालसे तादात्म्य किये बिना नित्यानित्य नहीं होता, देशसे तादात्म्य किये बिना व्याप्य-व्यापक नहीं होता, द्रव्यसे तादात्म्य हुए बिना कार्य-कारण नहीं होता। अज्ञानको स्वीकृति दिये बिना अनेक नहीं होता। इसी अज्ञानके निवर्तक बोधका नाम ब्रह्मात्मैक्यविद्या है।

(६) यह प्रतीयमान शरीरमें विद्यमान होनेपर भी शरीरके समान सादि नहीं, अनादि है; सगुण नहीं, निर्गुण है; विनाशी नहीं, अविनाशी है; जीव नहीं शिव है; यह कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं।

(७) वह आकाशके समान सर्वगत तो है; परन्तु यह भूताकाश या चित्ताकाश नहीं, चिदाकाश है। इसलिए अव्यक्त महत्तत्त्वादिरूप प्रतीयमान समष्टि व्यष्टि शरीरमें यावदज्ञान, अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रतीत होता हुआ भी वस्तुत: उन दोनोंसे निर्मुक्त ब्रह्म ही है। इसलिए सर्वथा निर्लेप है, जलमें कमलके समान नहीं, नीलिमामें आकाशके समान। वह आकाश ही नहीं, प्रकाश भी है। इसीसे तो चिदाकाश है।

(८) ज्ञानदृष्टिसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक करके जान लो कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें भूतप्रकृतिका अर्थात् कारण-कार्यभावका नितान्त अभाव है। बस, परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

यह बात पहले ही कह चुके हैं कि क्षेत्र-विवेक करनेके लिए अन्त:करण शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु ब्रह्मज्ञानके लिए उसकी नितान्त आवश्यकता है। इसीसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेकके अनन्तर और ब्रह्मज्ञानके पूर्व साधनाका विवरण है। अब एकबार साधनाओंके क्रमपर सामान्य दृष्टि डाल लें।

(१) कर्म, वचन और भोगमें नियन्त्रण लानेवाली साधना धर्म है। यह वासनानुसारी नहीं, शासनानुसारी कर्मका नाम है। राजशासन बहिरंग है और उसके शासक भी उद्दण्ड हो सकते हैं। परन्तु धर्मशासन लोक-परलोक एवं अन्त:करणकी-शुद्धिको दृष्टिमें रखकर होता है। धर्मशासन भी शास्त्रानुसारी होनेपर अनुशासन हो जाता है। शास्त्रमें उद्दण्डताके लिए स्थान नहीं है। क्या हम जो चाहें वही करें, बोलें और भोगें? तब तो पशु और मनुष्यमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिए श्रद्धा और विचारके सहकारसे शिष्टानुशिष्ट जीवन व्यतीत करना मनुष्यके लिए अवश्य कर्तव्य है। कर्म-साधनाकी अनेक स्थितियाँ होती हैं।

(अ) कर्म न होना तमोगुण है। कर्म होना रजोगुण है।

(आ) कर्म होना परन्तु निषिद्ध होना या विहित होना।

(इ) कर्म विहित होना परन्तु सकाम या निष्काम होना।

(ई) कर्मका कर्तव्यबुद्धिसे होना अथवा विराट्-साकार-निराकार ईश्वरके लिए होना।

(उ) कामना होना, परन्तु कर्म न होना-मिथ्याचार।

(ऊ) कामना न होना परन्तु कर्म होना-निष्काम कर्म।

(ए) कामना और कर्म दोनों होना-संसारी व्यवहार।

(ऐ) कामना और कर्म दोनों न होना-संन्यास।

(ओ) कामना और कर्म दोनोंके होने-न-होनेमें अहंकार होना।

(औ) दोनोंमें अहंकार न होना परन्तु अज्ञान होना।

(अं) अज्ञान न होना परन्तु समाधिस्थ होना या व्यवहारमें लगना।

इस प्रकार हम ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर विचार करते जायेंगे, साधनाकी गूढ़से गूढ़तम स्थिति प्रकट होती जायगी। यह जानकर आपको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हम एकाग्र होकर जिस विषयपर विचार करते हैं वह उसी विषयका आकार ग्रहण कर लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम समाधिके सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात, सबीज, निर्बीज आदिके स्वरूपपर विचार करेंगे तो समाधि लग जायेगी। भगवान्‌के स्वरूपपर विचार करेंगे तो भगवद्‌भावापत्ति होगी और ब्रह्मपर विचार करेंगे तो ब्रह्माकार वृत्ति हो जायेगी। कर्म-साधना कर्त्ताके अधीन होती है इसलिए वह कर्त्तामें विशेषता उत्पन्न करती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपके बोधनमें समर्थ नहीं होती।

(२) उपासना मनको शासनानुसारी बनानेमें है, वासनानुसारी नहीं। इसमें कर्त्ता गौण हो जाता है और इष्टदेव मुख्य। दोनों रहते हैं परन्तु प्रधानता उपास्यकी ही रहती है। इसके चार स्तर होते हैं—

अ-किसी अल्प स्थानमें अल्पकाल रहनेवाली अल्प वस्तुमें भावसे ईश्वरबुद्धि बनाना। अज्ञको सर्वज्ञ, परिच्छिन्नको पूर्ण, जड़को चेतन और सान्तको अनन्त मानकर अपनी वृत्तिको ईश्वराकार बनाया जाता है। यह कार्योपासना है। इसके अन्तर्गत मूर्तिपूजा, पतिपूजा, गुरुपूजा सबका समावेश हो जाता है। यह विराट्के एक अवयवमें पूर्णकी भावना है।

आ-विशालमें ईश्वरबुद्धि, स्थूल-समष्टि अथवा सूक्ष्म-समष्टिमें विराजमान चैतन्यके रूपमें ईश्वरकी भावना करना। देशसेवा, विश्वसेवा, मानवसेवा, जीवसेवा सब इसीके अन्तर्गत हैं।

इ-देशकी विशालता, कालकी नित्यता और द्रव्यकी बीजरूपता तीनोंको एकमें मिलाकर कारणमें विद्यमान चेतनकी उपासना ईश्वरोपासना है। यही सम्पूर्ण जीवजगत्में भरपूर है।

ई-ऊपर जिन तीनों अवस्थाओंका वर्णन किया गया है, उनका विशेष करके अद्वितीय ब्रह्मके साथ आत्माकी एकताकी भावना ब्रह्मोपासना है। यह तत् रूपसे, अहं रूपसे और दोनोंकी एकता रूपसे—तीनों प्रकारसे होती है।

उ-इन चारों प्रकारकी उपासनाओंसे अन्तःकरणमें विशेषता उत्पन्न होती है। पहलीसे साकार इष्टमें प्रेम और उसका दर्शन होता है। दूसरीसे रागद्वेषकी निवृत्ति होती है। तीसरीसे भगवद्-भावापत्ति होती है और चौथीसे ब्रह्मज्ञानकी योग्यताका उदय होता है। इन सभी उपासनाओंमें किसी न किसी प्रकारसे कर्त्तापन जीवित रहता है, भले ही वह गौण रूपसे हो या लीनरूपसे हो। सायुज्य-मुक्तिमें भी भेदसहिष्णु अभेद ही होता है।

(३) प्रपञ्चके साथ संयोगकी स्फूर्ति-निवृत्ति हो जाना अर्थात् आत्माके साथ उसका योग न होना, द्रष्टाका अपने स्वरूपमें स्थित होना—योग है। यह अभ्यास सापेक्ष है। इनमें सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकारकी होती है—

(अ) स्थूल वस्तुके आलम्बनसे।

(आ) सूक्ष्म वस्तुके आलम्बनसे।

(इ) आनन्दके आलम्बनसे।

(ई) अस्मिताके आलम्बनसे।

इसके बाद असम्प्रज्ञात-समाधि होती है। उसके अनेक अवान्तर भेद होनेपर भी वह मुख्यरूपसे एक ही है। निर्विकल्प, निर्बीज, कैवल्यरूपा स्वरूपस्थिति।

इन समाधियोंमें भी जीवकी अनेकता और जगत्‌की सत्यताकी भ्रान्ति नहीं मिटती है। भ्रान्तिका निरोध अथवा लयमात्र होता है, बाध नहीं, क्योंकि इनमें अखण्ड अव्यय आत्मचैतन्यका बोध नहीं है। इसलिए अविद्याकी निवृत्तिमें समाधि साक्षात् साधन नहीं हो सकती।

इसलिए तेरहवें अध्यायमें साधनाके प्रसंगमें इन तीनोंका स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि इन तीनोंका फल अन्त:करण शुद्धि है, वस्तु-साक्षात्कार नहीं। बंदूककी नली साफ करना और बात है, गोली भरना और बात है तथा लक्ष्यवेध करना दूसरी बात है। ये साधन-सीधे लक्ष्यवेध करनेके लिए नहीं हैं, अन्त:करणकी प्रणाली शुद्ध करनेके लिए हैं। इनका फल है—कर्म-वचन-भोग-विक्षेप, वासनाविक्षेप तथा निरर्थक विक्षेप—इन तीनोंकी निवृत्ति।

गीतामें जिन साधनोंका उल्लेख है वे हैं अमानित्वादि। वे दोष-निवर्तक सद्‌गुणरूप हैं। उनकी व्याख्या आप मूलग्रन्थमें पढ़ेंगे। इनमें विवेक, वैराग्य, शमादि, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा व्याप्त हैं। वे पहले तीनोंकी अपेक्षा अन्तरंग होनेपर भी साक्षात् लक्ष्यके स्वरूपका बोध करानेकी अपेक्षासे बहिरंग ही हैं। ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग इन साधनोंका उल्लेख मतान्तरके रूपमें किया गया है—'केचित्।' श्रद्धापूर्वक उपासना मन्द अधिकारी अज्ञानीके लिए है। अज्ञानीके लिए इनका विभाग आप इस प्रकार बना लें—

(१) परम्परा साधन—कर्म, उपासना और योग हैं। इनमें बहिर्मुख प्रवृत्ति, अन्तर्मुख प्रवृत्ति और निवृत्ति रहती हैं। कर्ममें स्पष्टकर्ता, उपासनामें गौणकर्ता और योगाभ्यासमें अज्ञातकर्त्ता रहता है। इनके परिणाममें एक साध्य स्थितिकी प्राप्ति होती है; जिसका अन्ततोगत्वा टूटना अनिवार्य है। इसलिए ये ब्रह्मज्ञानमें परम्परासाधन हैं।

(२) बहिरंग साधन—विवेक, वैराग्यादि हैं। ये अन्त:करणमें ही होते हैं और अन्त:करणको ही शुद्ध करते हैं। इनमें बाह्य पदार्थ, क्रिया अथवा भावना नहीं है। ये दोष निवृत्तिरूप हैं। निवृत्ति अपने अधिकरणसे भिन्न नहीं होती। फिर भी ये केवल करणके शोधक हैं, वस्तुतत्त्वके बोधक नहीं है। तत्त्वकी अपेक्षा बहिरंग अन्त:करणमें ही रहनेके कारण इन्हें बहिरंग साधन कहा जाता है।

(३) अन्तरंग साधन—श्रवण-मनन-निदिध्यासन हैं। ये वस्तुके स्वरूपको ही लक्ष्य करते हैं—तत् पदार्थका श्रवण, त्वं पदार्थका श्रवण, एकताका श्रवण। प्रतिबन्धरहित साधक श्रवणमात्रसे ही कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि जहाँ वस्तु परोक्ष होती है वहाँ श्रवणसे परोक्षज्ञान होता है; अपरोक्ष हो और प्रतिबद्ध हो तो भी परोक्षज्ञान होता है, परन्तु बोध्यवस्तु यदि सदा अपरोक्ष स्वयं अपना आत्मा ही हो तो श्रवणसे

तत्काल अबाध्य दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। अपने अद्वय स्वरूपमें अविद्या न कभी थी, न है, न होगी।

यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो, प्रतिबंध हो तो श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता। उसके लिए प्रमाणगत और प्रमेयगत संशयकी निवृत्तिके लिए मनन करना पड़ता है। मननके द्वारा बारंबार संशयकी निवृत्ति होनेपर भी यदि विपर्यय होता हो तो निदिध्यासन करना चाहिए। इन दोनोंसे प्रतिबंधरहित अखण्डार्थ-धी अविद्याको निवृत्त कर देती है। इसमें भामतीप्रस्थान और विवरण-प्रस्थानका थोड़ा-सा भेद है। शब्दसे अपरोक्षज्ञान अथवा वृत्तिसे। उपहितका अथवा शुद्धका। दोनों ही अद्वैत समुदायमें और युक्तियुक्त हैं— अपनी-अपनी प्रक्रियाकी दृष्टिसे।

(४) साक्षात् साधन—अपने-आपको अद्वितीय ब्रह्मरूप न जानना ही अज्ञान है। इस अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति करनेवाला ज्ञान ही साक्षात् साधन है। यही सम्पूर्ण साधनोंका फल है। इस अज्ञानकी निवृत्ति स्वयं कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। आत्माके अतिरिक्त अज्ञान निवृत्तिका कोई स्थान, काल या आकार नहीं है। अज्ञानकी निवृत्ति अर्थात् आत्म चैतन्यस्वरूप ब्रह्म। इसमें बन्धन-मुक्तिकी कोई कल्पना नहीं है।

कर्म, उपासना और योग, ये तीनों साधन-साध्यरूप हैं। ये हेतुफलात्मक हैं। इनके फलका भी एक विज्ञान है। कर्म अनेक प्रकारकी सामग्री और क्रियासे साध्य है। इसलिए उसके फलमें भी अनेकत्व और तारतम्य देखनेमें आता है। जैसे इस लोकमें अल्पसुखी और अधिकसुखी। परलोकमें भी सुखमें न्यूनाधिकता होती है। फल भी नन्दनवन, अप्सरा, विमान, देवशरीरका सौन्दर्य आदि अनेक रूप ही होता है। अभिप्राय यह है कि विक्षेपयुक्त वैध कर्मसे साध्य स्वर्गादिरूप फल भी विक्षेपयुक्त ही होता है।

उपासनामें वृत्तिकी एकाग्रता होती है क्योंकि इष्टदेव एक ही होता है। एकाग्रतामें भी तारतम्य होनेके कारण उपासनाजन्य फलमें भी तारतम्य होता है। शक्तिविशिष्ट ईश्वरमें तादात्म्य होनेपर जीवको सृष्टि-स्थिति-संहारके कर्तृत्वका एक अंश प्राप्त हो जाता है। इसीको पुराणोंमें सार्ष्टिमुक्तिके नामसे कहा गया है। सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य भी एकाग्रताकी विशेषता और न्यूनाधिक्यसे ही प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ न कुछ भेद बना रहता है, जीवत्व शेष रहता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी ज्ञाताज्ञात रूपसे रहता ही है। कहनेका अभिप्राय यह है कि साधनाके अनुरूप ही फल मिलता है।

यह पहले ही कह चुके हैं कि योगाभ्यासमें कर्तृत्वपूर्वक अभ्यास होनेके कारण निरोध कालमें भी वह लीन रहता है। लय और अज्ञानका विरोध नहीं है। ज्ञान

और अज्ञानका भी विरोध नहीं है। अज्ञान भासता भी है और लीन भी रहता है। इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिके लिए द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति अकिञ्चित्कर है। इसके लिए तो वृत्तिकी शान्ति नहीं, ब्रह्माकारता चाहिए। आविद्यक भेदग्रन्थिकी निवृत्ति चाहिए।

इन तीनों साधनोंसे जो स्थिति प्राप्त होती है वह परमार्थके आवरणको भंग नहीं करती, क्योंकि परमार्थ घड़ेकी तरह कोई दृश्य पदार्थ नहीं है। घड़ेको बना सकते हैं, गंदा कर सकते हैं, पवित्र कर सकते हैं, दूसरेके घरसे माँगकर ला सकते हैं और तोड़-फोड़ सकते हैं; परन्तु अपना आत्मा ऐसा नहीं है। कर्मका विषय सदा दूसरा होता है, अपना आपा नहीं। कर्म पदार्थका निर्माण करता है, सिद्ध पदार्थके बोधनमें प्रमाण नहीं है। इसलिए यथार्थ वस्तुका अनुभव प्राप्त करनेके लिए साधन-साध्यका व्यवहार अपेक्षित नहीं है, प्रमाण-प्रमेयका विज्ञान अपेक्षित है। सत्यके ज्ञानकी शैली और होती है और मकान बनानेकी और।

आपने तेरहवें अध्यायमें यह देखा है कि ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। विज्ञानसे मद्भावकी उपलब्धि होती है, यही भगवान्‌का स्वमत है। 'प्रवक्ष्यामि' तथा 'मद्भावाय' ज्ञेय-ज्ञानका फल है अमृतव्याप्ति। अधिकारी मद्भक्त ब्रह्मविज्ञानसे मद्भावको प्राप्त होता है। इसके पूर्व क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञानको भी 'मम मतं' कहा है। भगवान् विवेक, ज्ञान और विज्ञानको मुक्तिका हेतु मानते हैं। इसका अर्थ है कि जो वस्तु अज्ञानसे अप्राप्त और ज्ञानसे प्राप्त होती है उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति मिथ्या होती है। वह स्वतः प्राप्त ही होती है। वस्तुके अन्य होनेपर भी जब यह नियम लागू है तब स्व होनेपर तो कहना ही क्या है ? अन्यका ज्ञान होनेपर तो किञ्चित् प्रयत्न भी अपेक्षित होता है; परन्तु स्वका ज्ञान होनेपर तो उसकी भी अपेक्षा नहीं है। स्व और ज्ञान दो नहीं हैं। 'ज्ञानं' और 'ज्ञेयं' एक ही हैं।

मूलमें ब्रह्मका निरूपण करते समय 'अविज्ञेयं' और 'ज्ञेयं' दोनों ही पदोंका प्रयोग किया गया है। यह एक विलक्षण बात है। वही वस्तु अविज्ञेय और विज्ञेय दोनों कैसे हो सकती है ? बहुत सीधी बात है, यही तो स्वयंप्रकाशका लक्षण है। जो वस्तु अवेद्य होकर अपरोक्ष हो उसे स्वयंप्रकाश कहते हैं। अपनेसे अन्य जितने पदार्थ हैं वे वेद्य हैं, जाने जाते हैं, परन्तु स्वयंप्रकाश नहीं हैं, क्योंकि उन्हें प्रकाशित होनेके लिए आत्माकी अपेक्षा होती है। परन्तु आत्माको प्रकाशित होनेके लिए उनकी अपेक्षा नहीं होती। घटादि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हैं, स्वर्गादि परोक्ष ज्ञानके विषय हैं, बुद्ध्यादि एवं सुषुप्तिसमाध्यादि अपरोक्ष ज्ञानके विषय हैं। ये सब विज्ञेय हैं और आत्मा उनसे विलक्षण होनेके कारण अविज्ञेय है। अविज्ञेयता केवल इसीलिए है कि वह वेद्यसे

विलक्षण, अतिसूक्ष्म प्रत्यगात्मा है। वह साक्षिभास्य न होनेसे भी अविज्ञेय है। इसी अविज्ञेयताको लेकर बैठ जाना अविद्या है; परन्तु क्या आत्मा केवल अविज्ञेय है ? वह स्वयं सर्वावभासक, बुद्धि-सुषुप्ति आदिके पीछे बैठकर उनको प्रकाशित करता है, इसलिए स्वयंप्रकाश है। यह स्वयंप्रकाशता शब्द द्वारा साक्षात् अथवा बुद्धिमें प्रतिबिम्बित रूपसे जब आत्मत्वेन अपरोक्ष होती है तब उसको विद्या कहते हैं। बुद्धिमें अविज्ञेयताका प्रतिबिम्बन अविद्याका विरोधी नहीं है, वह केवल नेतिनेति-निषेधमात्र है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिमें प्रत्यगात्मत्वेन ब्रह्मका ज्ञान ही विद्या है। यह विद्या अविद्याको निवृत्त करती है। ब्रह्ममें ज्ञेयतामूलक विद्या और अज्ञेयतामूलक अविद्या है। यह भेद भी अविद्यामें बैठकर ही किया जाता है, स्वयं ब्रह्ममें नहीं है। अविद्या निवृत्त हो जानेपर व्यावहारिक या प्रातिभासिक भेदका परमार्थपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीताके '**सर्वथा वर्तमानोऽपि**' का यही अभिप्राय है। प्राचीन महात्मा यह बात बराबर दुहराते हैं, कि अध्यस्तके गुणदोषका कोई प्रभाव अधिष्ठानपर नहीं पड़ता। रज्जु-सर्पके विषका प्रभाव रज्जुपर नहीं पड़ता, भ्रान्त पुरुषके मनपर पड़ता है। इसलिए भ्रान्त अन्तःकरणमें ही भ्रान्तिका सम्पूर्ण प्रभाव रहता है। इससे अधिष्ठान स्वरूप आत्माका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यह बात श्रुति, स्मृति, शास्त्र एवं ब्रह्म-सूत्रानुमोदित है। तेरहवाँ अध्याय तत्त्वज्ञान द्वारा इसी भ्रान्तिका समूलोन्मूलन करता है।

अन्तमें सार रूपसे इन बातोंपर ध्यान दीजिये—

१. प्रकृति-विकृति अथवा कारण-कार्यरूप व्यष्टि-समष्टि-प्रपञ्च अर्थात् क्षेत्र आप नहीं हैं।

२. क्षेत्रज्ञ क्षेत्रका अभिमानी—विकार, संस्कार, आकार, प्रकार आदिके रूपमें प्रतीयमान दृश्यका धर्मी नहीं है। परिच्छिन्नता और पूर्णता दोनों ही औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं।

३. उपाधि और औपाधिक अधिष्ठान-ज्ञानसे मिथ्या हैं। उपाधि भी वास्तविक नहीं है। भेदमात्र ही अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेसे मिथ्या है।

भासमानता दो प्रकारकी होती है—एक टूट-टूटकर और दूसरी अखण्ड। पहली बाधित है, दूसरी अबाधित। बाधित मिथ्या है, अबाधित आत्मा ब्रह्म। आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है। यही बन्धमोक्षकल्पनाका प्रकाशक स्वयंप्रकाश अधिष्ठान ब्रह्मात्मा है। '**ये विदुर्यान्ति ते परम्।**'

विषय-सूची

ॐ

मंगलाचरण

विश्वं दर्पणदृश्यमान - नगरीतुल्यंनिजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिनामध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

उपक्रम

तेरहवें अध्यायकी संगति

१. गीताका-प्रामाण्य :—जहाँ वक्ता वक्तृत्वाभिमान युक्त नहीं है और व्यक्ति-पुरुष नहीं बोलता, जहाँ स्वयं तत्त्व ही बोलता है—वहाँ किसी प्रकारकी सीमाको स्वीकार किये बिना असीम वस्तु स्वयं जो बोलती है उसका नाम श्रुति है। जो बोली नहीं जाती, सुनी जाती है उस वाणीका नाम श्रुति है और अनुभवी वक्ताकी वाणीका नाम स्मृति है।

उपनिषद् है श्रुति और गीता है स्मृति। स्मृति वक्ताके प्राधान्यसे है। (और श्रुति वक्तव्यकी प्रधानतासे है)। माने श्रुतिमें जिस वस्तुका वर्णन किया जा रहा है वह महान् है और स्मृतिमें बोलनेवाला महान् है।

श्रुति भी जहाँ मामूली विषयका वर्णन करती है उसे प्रमाण नहीं मानते। जैसे **अग्निर्हिमस्य भेषजम्**—ठण्ड लगे तो उसकी दवा है आग तापना। यहाँ श्रुतिका प्रामाण्य स्वतः नहीं परतः है माने यहाँ श्रुति लोकानुभव-सिद्ध पदार्थका वर्णन कर रही है, अज्ञात-ज्ञापन नहीं कर रही है। लोकानुभवसे अज्ञात पदार्थको जहाँ श्रुति समझाती है वहाँ उसका प्रामाण्य होता है —

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न विद्यते।
एतद् विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

वेदकी वेदता यही है कि जो प्रत्यक्ष अनुमानादि लौकिक प्रमाणोंसे ज्ञात न हो, उसको ज्ञात करानेवाला (वेदवाक्य) उपाय है, साधन है।

तत्त्वकी वाणी श्रुति है। जहाँ तत्त्व अपने आप ही बोल रहा है—सूर्य बोल रहा है कि मैं प्रकाशस्वरूप हूँ, भले तुम्हारी आँख देखे कि नहीं देखे, माने अन्य वक्ता उसे चाहे प्रकाशस्वरूप कहे चाहे न कहे; उसमें देखनेवालेकी, बोलनेवालेकी प्रधानता नहीं होती। वस्तुकी जहाँ प्रधानता होती है वहाँ श्रुति प्रामाण्य होता है और जहाँ वक्ता किसी वस्तुको अनुभव करके बोलता है वहाँ स्मृति-प्रामाण्य होता है। अनुभवपूर्वक भाषणका नाम है स्मृति।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। (योगदर्शन १.११)

अनुभूत विषयका भूल न जाना, इसका नाम स्मृति है।

ब्रह्मसूत्रमें गीताको **स्मर्यते च, स्मरन्ति च, स्मृतेश्च** कहकर स्मृति बताया है। स्मृति है माने यह वक्ताकी प्रधानतासे है, अनुभवीकी प्रधानतासे है।

प्रश्न :—गीतामें वक्ता अन्त:करणविशिष्ट है कि मायोपाधिक है?

उत्तर :—हमारी वैदिक परम्परामें श्रीकृष्णको मायाविशिष्ट वक्ता मानते हैं, अन्त:करणविशिष्ट नहीं मानते हैं। माने वे भी अपनेको तत्त्वरूप जानते हुए, मानते हुए ही बोलते हैं। वे अन्त:करणकी किसी विषयानुभूतिका अनुवाद नहीं करते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूपका अनुभव ऐसे होता है—हृदयमें जो संस्कार पड़े होते हैं उनको नहीं उगलते—वे भी तत्त्वसे ऐकात्म्य करके ही बोलते हैं। इसलिए अन्त:करणोपाधिमें जो अनुभव रखे हुए हैं, उनकी स्मृतिसे श्रीकृष्ण नहीं बोलते; वे भी अन्त:करणका परित्याग करके अनुभूत विषय और अनुभाव्य पदार्थोंका परित्याग करके—मायाकी उपाधिसे ही बोलते हैं। इसलिए गीता ईश्वरकी वाणी है।

तत्त्वका बोलना दूसरा, मायाविशिष्टका बोलना दूसरा और अन्त:करण विशिष्टका बोलना दूसरा होता है। यह आपको इसलिए बताया कि हमारे संस्कृत वाङ्मयकी विशेषता, वैलक्षण्यको, उसकी वृत्तिको भी थोड़ा आप जान लें। जब तत्त्वका निरूपण होता है तो उसमें वक्ता पुरुषका कोई महत्त्व नहीं होता और जब आचरणका निरूपण होता है तब वक्ताका महत्त्व हो जाता है। आचार-निरूपण करनेवाली स्मृति होती है और तत्त्व निरूपण करनेवाली श्रुति होती है। मन्वादि स्मृति आचार-निरूपित हैं। पूर्व-पूर्व पुरुष कैसा आचरण करते थे उसका स्मरण करके श्रुत्यार्थानुकूल आचरण होना चाहिए।

इस स्मृतिका 'भगवद्गीता' नाम क्यों है? इसलिए है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको किसी सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त न करके अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराट्को अपने शरीरके भीतर रखकर, सबके साथ तादात्म्य करके बोलते हैं। तो गीता विश्वरूप श्रीकृष्णकी वाणी है। जो सबके हितके लिए बोले और सबको अपना मैं समझकर सबसे प्यार करे उसके सिवाय भगवान् और कौन होता है? सर्वात्माको ही तो भगवान् कहते हैं। उसी भगवान्‌की वाणी होनेसे यह गीता भगवद्वाणी है, भगवद्गीता है। यह वाणी देश विशेषमें, काल विशेषमें, संस्कृति विशेषमें, जाति विशेषमें, वर्णाश्रम विशेषमें, क्रिया विशेष

या आचार विशेषमें आबद्ध नहीं है। यह तो सात्त्विक, राजस, तामस विभाग करके सम्पूर्ण विश्वकी ही व्याख्या कर देती है, विश्वके आचारकी, विश्वके तत्त्वकी व्याख्या कर देती है। इसलिए इसका वक्ता भगवान् है और यह भगवद्गीता है। यह अपौरुषेय वेदवाणी, स्मृतिरूप वाणी, भगवद्वाणी है।

हमारे प्राचीनशास्त्रकी प्रक्रिया यह है कि किसी एक प्रसंगको ग्रन्थसे अलग करके यदि उसको प्रामाणिक मानना चाहें तो वह बिलकुल गलत हो जाता है, सांगोपांग एकवाक्यतासे ही उसके तात्पर्यका निर्णय होता है। जैसे आप देखो—जब आपको कहना होगा कि अपने धर्ममें दृढ़ रहना चाहिए तो आप बोलेंगे—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (गीता ३.३५)

अपने धर्ममें मर जाना अच्छा है। धर्मनिष्ठाके लिए इससे बढ़कर और क्या बात कही जा सकती है? अब दूसरी जगह आप पढ़ोगे—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (गीता १८.६६)

सब धर्म छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ। यही आप गीतामें पढ़ोगे। तो एक कहेगा कि भगवान् धर्म छोड़नेको कहते हैं और एक कहेगा कि भगवान् धर्ममें दृढ़ रहनेको कहते है। दोनोंमें तो परस्पर विरोध है। यदि आप दोनोंकी संगति लगाकर, दोनों स्थलका अभिप्राय नहीं निकालते हैं तो आप गीताको नहीं, अपनी वासनाको मानते हैं। सारा ग्रन्थ कुल मिलाकर एक ही बात कहता है, दो नहीं। ग्रन्थमें लिखा है कि आग जलाना बहुत आवश्यक है और दूसरी जगह लिखा हो कि आग बुझाना बहुत आवश्यक है तो आपको उसमें आपात दृष्टिसे तो विरोध मालूम पड़ेगा, पर उनमें अविरोध ही हैं—भाई रसोई बनाना हो तो आग जलाना आवश्यक है और बन जाने पर, या वहाँ से कहीं जाना हो तो आग बुझा देना भी आवश्यक है, नहीं तो वह लगकर औरोंको जला देगी। तो आग जलाना भी आवश्यक है और बुझाना भी। दोनोंका वक्ता एक ही है और दोनोंका अभिप्राय तुम्हारी भलाईमें ही है। जब आग जलानेको कहता है तो रसोई बनाकर, खाकर तृप्त हो जाओ—इसके लिए और जब बुझानेको कहता है तो कहीं कोई आगकी चिनगारी उड़कर घरमें लग न जाये—इसके लिए वह भी तुम्हारी भलाईके लिए बोलता है।

जबतक यह एकवाक्यताका दृष्टिकोण शास्त्रमें नहीं आयेगा, माने किस अधिकारीके लिए, किस अवस्थामें, किस देशमें, किस कालमें, किस अभिप्रायसे कौन-सी बात कही गयी है—यदि यह समझनेकी कोशिश नहीं करोगे तो अभिप्राय समझमें नहीं आयेगा। तो प्रसंगकी, अध्यायकी संगति होती है। एक बात गीताके सम्बन्धमें ध्यान रखनेकी है कि उपदेश पहले काम नहीं करता कि वह तुम्हारा हाथ पकड़कर कोई काम करनेके लिए बाध्य कर दे। उपदेश डण्डा दिखाकर या हाथ पकड़कर काम करानेके लिए नहीं होता, यह होता है बुद्धिमें परिवर्तन करनेके लिए। यदि कर्म-विषयक बुद्धिका परिवर्तन करनेके लिए उपदेश होगा, तब तो बुद्धिमें परिवर्तनके बाद कर्म होगा। यदि तत्त्वविषयक बुद्धिके परिवर्तनके लिए उपदेश होगा तो पहले तत्त्वविषयक भ्रमका निवारण करेगा।

अब आप देखो भगवान् अर्जुनको डाँटकर नहीं कहते कि लड़, उसकी समझमें, बुद्धिमें परिवर्तन करते हैं—

शास्त्रं ज्ञापकं न तु कारकम्।

शास्त्र ज्ञापक होता है, कारक नहीं। बुद्धि कारक होती है। जब तुम्हारी बुद्धि बन जायेगी, तब उसके अनुसार तुम काम करने लग जाओगे। जब हम अधिकारपूर्वक किसीसे कहते हैं कि हमारी बात तुमको माननी पड़ेगी तो यह उसके साथ अन्याय हो जाता है। जब शिष्यकी समझमें आजाय कि सर्वात्मभाव, ब्रह्मभाव ठीक है, तब तो ठीक। नहीं तो हम उससे कहें कि ऐ, आजसे तुमको 'अहं ब्रह्मास्मि' छोड़कर दूसरा बोलना वर्जित है, तो यह शास्त्रकी रीति नहीं है। शास्त्रकी रीति यह है कि वह पहले तुम्हारी बुद्धिमें परिवर्तन करे फिर तो स्वतः तुम्हारे मुँहसे निकल आवे—'अहं ब्रह्मास्मि' तो बुद्धिमें परिवर्तन आवश्यक है। और श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनकी बुद्धिमें परिवर्तन कर रहे हैं।

अर्जुन अपने बहुत-से सगे-सम्बन्धी मानकर शोक-मोहसे ग्रस्त हो गया था और पाप-पुण्यका कर्ता और सुख-दुःखका भोक्ता समझता था, स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला समझता था। तभी तो कहता है—

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः। (गीता १.४२)

इसीके कारण वह शोक और मोहसे ग्रस्त हो रहा है। तो भगवान्‌का यह उपदेश पहले अर्जुनकी बुद्धिमें परिवर्तन करनेके लिए है।

२. तेरहवें अध्यायकी संगति :—अब आपको इस अध्यायकी संगतिकी बात सुनाता हूँ।

(१) तेरहवें अध्यायका जन्म हुआ क्यों? बारहवें अध्यायमें तो भक्ति पूरी हो गयी थी, भक्तिका जैसा साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण विवेचन बारहवें अध्यायमें मिलता है वह तो जैसे द्वादशाक्षर मन्त्र ही पूरा हो गया, द्वादशात्मा आदित्य ही पूर्ण हो गया, द्वादशात्मा संवत्सर, हरिवासर द्वादशी आगयी, बारह महीने पूरे हो गये! अब तेरहवाँ कहाँसे आयेगा, वह तो मलमास हो जायेगा। तो तेरहवाँ आनेकी क्या अपेक्षा है? इसके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न आचार्योंका अलग-अलग मत है।

एक आचार्यका ऐसा कहना है कि बारहवें अध्यायमें भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिए—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। तो तेरहवें अध्यायमें उस भजनीय भगवान्‌का क्या स्वरूप है, जिसकी भक्ति करनी चाहिए—इसका निरूपण किया जा रहा है।

देखो न! कित्तनी सीधी-सीधी बात है! बारहवें अध्यायमें पूर्वराग-प्रेम हुआ, तेरहवेंमें पहचान हुई, चौदहवेंमें घर-द्वारके सिवाय जो कुछ था सो छूटा और पन्द्रहवेंमें ब्याह हो गया—पुरुषोत्तम योग हो गया।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। (गीता १५.१९)

सर्वभावसे उनकी सेवा—यही तो विवाह है। ऐसा विवाह भगवान्‌के साथ कि कहीं उसमें वियोग ही नहीं, संयोग-ही-संयोग!

बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ—ये सब अध्याय परस्पर संयुक्त हैं, एक दूसरेसे मिले हुए हैं, एक संगति यह हुई।

(२) अब लो दूसरी संगति सुनाते हैं। भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें यह प्रतिज्ञा की कि जो मेरी भक्ति करता है, उसका मैं उद्धार करता हूँ—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२.७)

जो प्रेमसे अपना मन मुझमें लगा देता है, उसको मैं ऐसे ही उठा लेता हूँ जैसे कोई समुद्रमें डूबते हुएको हाथ पकड़कर उठा ले। यह मृत्युरूप

संसार-सागर है और मृत्यु क्या है? कि 'अविद्यालक्षणः संसारः'—एक भूलका नाम मौत है। मरनेवाला समझता है—यह एक भूल है। एक भूलके कारण अपनेको मरनेवाला समझता है। यह आदमी अपने बारेमें भूल गया है। है तो ब्रह्म, परन्तु मान बैठा है अपनेको जीव। है तो अपरिच्छिन्न, परन्तु मान बैठा है परिच्छिन्न। है तो अकर्ता, मानता है अपनेको कर्ता, मैं पापी-पुण्यात्मा। है तो अभोक्ता, कभी सुखी-दुःखी नहीं होता, सुख-दुःखका साक्षी है यह। लेकिन एक भूल जो बीचमें आगयी, इसके कारण यह अपनेको मरनेवाला समझने लगा।

तो भगवान् इस भूलसे बचायेंगे कैसे?

तत्त्वज्ञानका उपदेश करके ही तो बचावेंगे न! तो श्रीधर स्वामी आदि टीकाकारोंने इस ढंगसे निरूपण किया है कि जब भगवान्ने यह प्रतिज्ञा की कि हम भक्तको मृत्यु-संसार सागरसे बचाते हैं, तो आखिर बचानेकी कोई प्रक्रिया भगवान्के पास होगी न! बिना तत्त्वज्ञानके भूल मिटेगी नहीं और भूल मिटे बिना तो कोई मृत्युसे बचेगा नहीं, क्योंकि आत्मदेवके सिवाय इन साक्षी, द्रष्टा, परब्रह्मात्मा, अद्वितीय आत्मदेवके सिवाय और कोई अमृत है नहीं, अमर है नहीं। भगवान् ज्ञान करानेके लिए कि तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो, अपने भक्तोंका उद्धार करनेके लिए इस तेरहवें अध्यायका प्रारम्भ करते हैं।

पहली बात थी कि भक्तिके बाद भगवान्की पहचान, दूसरी बात यह हुई कि भगवान् भक्तोंका उद्धार करते हैं। भगवान्के पास भी कोई जादूकी पुड़िया नहीं है कि तुमको खिला देंगे और तुम्हारा उद्धार हो जायेगा। उद्धार करनेके लिए अगर सबका हाथ पकड़-पकड़कर बैकुण्ठमें ही ले जाने लगें तो बैकुण्ठ भर जायेगा और मर्त्यलोक रहेगा ही नहीं, लीला ही बन्द हो जायेगी। तो जो जहाँ है, वह वहीं मुक्त हो जाये। वह जो भ्रमसे अपनेको जेलखानेमें समझ रहा है, वह जान जाय कि हम किसी जेलखानेमें नहीं हैं, इसके लिए यह तेरहवें अध्यायका उपदेश है। यही उद्धार है। उद्धारकी प्रक्रिया है—आत्मज्ञानका उपदेश—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।'

क्योंकि बिना ज्ञानके भगवान् भी मुक्त नहीं कर सकते, इसलिए भगवान् ज्ञान देते हैं। तो पहली प्रक्रिया वल्लभसम्प्रदाय आदिके अनुयायियोंकी है

और दूसरी प्रक्रिया-भक्ति और ज्ञान-दोनोंको जो परस्पर सहायक मानते हैं उनकी है।

(३) अब देखो तीसरी संगति सुनाते हैं। भगवान्से बारहवें अध्यायमें यह प्रश्न किया था कि सगुण और निर्गुण उपासनामें-से कौन-सी श्रेष्ठ है?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ (गीता १२.१)

कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है निराकारकी उपासना करनेवाला या सर्वात्मभावसे सगुण साकार विश्वको ही परमेश्वरके रूपमें देखनेवाला?

तो भगवान् श्रीकृष्णने यह नहीं सुनाया कि निर्गुण निराकार श्रेष्ठ है कि सगुण साकार। निर्गुण उपासना श्रेष्ठ है कि सगुणोपासना—यह भी नहीं बताया। यह बताया कि सगुण साकारका उपासक योग-वित्तम है। निर्गुण निराकार और सगुण साकारमें-से भगवान्का रूप कौन-सा श्रेष्ठ और कौन-सा कनिष्ठ? बोले—जब भगवान्का स्वरूप—यह नाम दे दिया तो उसमें श्रेष्ठ कनिष्ठका प्रश्न मत उठाओ। भगवान्के स्वरूपमें श्रेष्ठ कनिष्ठ क्या? अरे जब वही है, तो पोशाकके रंगसे या शक्ल-सूरतसे क्या फर्क है? है तो वही, हमारा प्यारा ही तो है। आज किस पोशाकमें दिख रहा है, पोशाककी वजहसे उसमें श्रेष्ठता, कनिष्ठता नहीं होती। तो बोलो—भाई उसका पाँव दबावें कि उसके सिरपर तेल लगावें? कौन-सी सेवा-उपासना श्रेष्ठ है? बोले—बाबा, जैसे उसकी सेवा हो, सो श्रेष्ठ है, इसमें पाँव और सिरका क्या फर्क है, वही तो है। बोले—फिर फर्क क्या है?

देखो, लक्ष्मीजीः बुला लें कि आओ, आओ! पाँव दबाओ, तो पाँवतक पहुँचना तो आसान है, जाकर दबा सकते हो। लेकिन अगर सिरपर तेल लगाना हो तो शेषनागकी फुँकार भी सहनी पड़ेगी। इस बातको भगवान्ने कैसे बताया—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। (गीता १२.५)

यह नहीं बताया कि निर्गुण श्रेष्ठ कि सगुण श्रेष्ठ, पाँव दबाना श्रेष्ठ कि सिरमें तेल लगाना श्रेष्ठ, यह बताया कि निर्गुणोपासना कठिन और सगुणोपासना सरल। फलमें भेद नहीं बताया। स्वरूपमें भेद नहीं बताया और तदाकार वृत्तिमें भी श्रेष्ठ, कनिष्ठ नहीं बताया। वे बोले निर्गुणाकार वृत्ति करना कठिन

और सगुणाकार वृत्ति करना आसान। आप बारहवें अध्यायको गलत ढंगसे कभी मत पढ़ना। शंकराचार्य भगवान् तो आखिरी आठ श्लोकोंको ज्ञानीका ही लक्षण मानते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (गीता १२.१३)

इसको ज्ञानी भक्तका लक्षण मानते हैं। अपने आप पढ़ोगे तो अपनी समझमें जो बात भरी है वही गीतामें-से निकालोगे। जबतक अपनी समझमें भरी बातको छोड़नेका सामर्थ्य आपमें नहीं आवेगा, तबतक गीताकी बात समझमें नहीं आवेगी। जब अपना आग्रह-पूर्वाग्रह छोड़कर गीता पढ़ोगे तब गीता अपना अर्थ बतावेगी। तो सगुणोपासनाका अभिप्राय तो विस्तारसे बारहवें अध्यायमें बता दिया और निर्गुणवालेका तो बहुत थोड़ेमें बताया।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२.३-४)

केवल दो ही श्लोकमें निर्गुणोपासनाका वर्णन किया। तो निर्गुणोपासनाका तथा निर्गुण वस्तुका निरूपण और उसके चिन्तनका प्रकार और निर्गुण वस्तुका आत्मरूपसे ज्ञान, ये सब बात विवेक करके जरा विस्तारसे समझानेके लिए अध्याय प्रारम्भ करते हैं। यह किसी-किसीका मत है।

(४) एक चौथी संगति भी है। उसके लिए अब फिरसे पूरी गीतापर एक दृष्टि डालें।

भगवान्ने गीताके प्रारम्भमें कहा—**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।** (गीता. २.११)। जिनको सच्चा पाण्डित्य प्राप्त हो जाता है। वे जिन्दा या मुर्दाके लिए शोक नहीं करते। अरे गया तो गया। गयी तो गयी अब राख रहीको। जो बीत गयी सो बीत गयी। मनुष्य एक नन्हा-मुन्ना काम करता है और उससे सामने वालेके आइडियाको खराब कर देता है। वह जब किसी भी कामको अपने तक सीमित रखकर ही सोचता है, यह नहीं सोचता कि हमारे कामके साथ हमारे साथियोंकी भी बुद्धि लगी हुई है, तो वह काममें गलती करता है। समाजकी बुद्धि भी एक बुद्धि है। जिस समय हम भूत या

भविष्यके बारेमें, जिन्दा या मुर्दाके बारेमें सोचने लगते हैं, उस समय हम उपस्थितका तिरस्कार करते हैं। आपके घरमें कोई मेहमान आवे और आप उसकी इन्तजारमें रोने लगे जो अभी नहीं अया है; तो आया हुआ यही कहेगा कि हमसे इनका कोई प्रेम नहीं है और कोई तुम्हारा प्यारा तुम्हारे सामने बैठा होवे और तुम दूसरे मरे हुएके लिए रोने लग जाओ, तो यही न इससे सिद्ध होता है कि मरे हुएसे प्रेम ज्यादा है। तो जिन्दा और मुर्दा—ये दोनों तो पट्ठे गये, मगर दोनों जिसके सामने आते हैं, उसका पाण्डित्य तुमको है कि नहीं? **नानुशोचन्ति पण्डिताः**—पंडित जिन्दा या मुर्दाके लिए शोक नहीं करते। तो किस बातके पण्डित हैं? यह बताना पड़ेगा कि पाण्डित्य क्या है?

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। (गीता ४.१९)

गीतामें पण्डित शब्द पारिभाषिक है। एक खास अर्थमें पण्डित शब्दका प्रयोग होता है।

ज्ञानकी अग्निसे जिसका कर्म दग्ध हो गया हो माने जिसमें कर्तापन और भोक्तापनकी भ्रान्ति न हो, उसको पण्डित बोलते हैं। तो अपनेको क्या जाना कि कर्तापन और भोक्तापनकी भ्रान्ति नहीं है। अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जाना और भी लिखा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता. ५.१८)

समदर्शीको पण्डित बोलते हैं। तो कौन-सा ज्ञान हुआ कि जिससे वह समदर्शी हो गया? कौन-सा ज्ञान हुआ जिससे कर्म दग्ध हो गया? तो वह पाण्डित्य क्या है? दूसरे अध्यायमें यह प्रसंग उपस्थित हुआ कि पाण्डित्यका निरूपण करना है।

उसके बाद आप देखो, गीतामें उसी अध्यायमें आत्माका निरूपण है। आत्मा माने त्वंपदार्थ मैं। अपने आपका अपने स्वरूपका, अपने आत्माके स्वरूपका निरूपण हुआ—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(गीता. २.२५)

यह पाण्डित्य हुआ। क्यों? **नानुशोचन्ति पण्डिताः** और **नानुशोचितुमर्हसि।** यह विदित्वा है न इसमें! यह तुम्हारा आत्मा व्यक्तसे विलक्षण है। स्थूल शरीर नहीं है, स्थूल विश्व सृष्टि भी नहीं है। **अचिन्त्योऽयम्। अविकार्योऽयमुच्यते**—यह कारण शरीर और कारण सृष्टि भी नहीं है। जो विकारी होता है सो कारण होता है। जो चिन्त्य होता है सो सूक्ष्म होता है और जो व्यक्त होता है सो स्थूल होता है। माने यह तुम्हारा आत्मा स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरसे विलक्षण, संस्कार और संस्कारीसे विलक्षण, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधिसे ग्रस्त नहीं है।

विदित्वैनं—माने जब इस बातके तुम पण्डित हो जाओगे, आत्म पण्डित तब शोककी निवृत्ति होगी। और—**नानुशोचन्ति पण्डिताः**—पण्डित लोग शोक नहीं करते, यह बात बन जायेगी। क्योंकि जिन कर्मोंसे तुम अबतक संसारमें भटकते रहे हो और जिन कर्मोंसे आगे भटकनेकी संभावना थी वे दोनों ही ज्ञानाग्निमें दग्ध हो गये। पण्डित हो गये अब! तो त्वंपदार्थका निरूपण किया- **अव्यक्तोऽयमचिन्त्योयमविकार्योऽयम्** कहकर। माने आत्मा क्षेत्रसे विलक्षण है। अविद्या और अविद्याके कार्यरूप क्षेत्रसे आत्मा विलक्षण है। यह बात बतायी।

इसी प्रकार तत्पदार्थका भी निरूपण गीतामें हुआ—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७.४-७)

यह तत् पदार्थका निरूपण हुआ। परमात्मा कैसा है? कि उसके शरीर तीन नहीं हैं। आप देख लो—**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयम्** में आत्माका जहाँ निरूपण हुआ, वह व्यक्त माने स्थूलसे, चिन्त्य माने सूक्ष्मसे

और विकार्य माने कारणसे—तीन शरीरसे विलक्षण है आत्मा। अब देखो, सातवें अध्यायमें परा प्रकृति और अपरा प्रकृति '**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय**'—यह ईश्वरके क्षेत्रका, तत्पदार्थके क्षेत्रका वर्णन है। जैसे तीन शरीर आत्माके क्षेत्र हैं, ऐसे दो शरीर परमात्माके क्षेत्र हैं। तीसरा शरीर अविद्या क्षेत्र परमात्मामें नहीं है। तो बोले क्या है वह? तीसरेकी जगह भी कुछ होना चाहिए। तो सातवें अध्यायमें आप ढूँढ़ोगे तो मिल जायेगा। क्या?

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। (७.१४)

तीसरा, माया है ईश्वरमें, वह विकार्य नहीं है। तो अपरा प्रकृति है यह स्थूल विश्व और परा प्रकृति है चिदाभास—

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

और जो तत्पदार्थ है वह है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

तो स्थूल सूक्ष्मकारणसे विलक्षण आत्माका प्रतिपादन हुआ—**सर्वगतं सुसूक्ष्मं।** गीतामें आत्माको सर्वगत भी कहा हुआ है। दूसरे अध्यायमें ही—**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।** (२.२४) नित्य है माने कालसे अपरिच्छिन्न है। सर्वगत है माने देशसे अपरिच्छिन्न है। अचल है माने निर्विकार है। यह आत्मा ऐसा है।

परमात्मा कैसा है? कि परा प्रकृति और अपरा प्रकृति दोनोंसे विलक्षण है, सम्पूर्ण जगत्का मायासे कारण है—चिदाभासका भी और विश्वका भी और—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।

अद्वितीय है। सर्वकारण कारण है, सर्वसे परे है और अद्वितीय है। सातवें अध्यायके अलावा अन्य अध्यायोंमें भी है। दूसरेमें मुख्य रूपसे आत्माका, छठे अध्याय पर्यन्त योगाभ्यास कराके भी आत्माका शोधन कर दिया। तो पहले छह अध्यायोंमें आत्माका शोधन है, दूसरे छह अध्यायोंमें परमात्माका शोधन है।

देखो, पहले अध्यायमें रोता हुआ त्वंपदार्थ है, दूसरे अध्यायमें जिज्ञासा

करता हुआ और उपदेश सुनता हुआ त्वं पदार्थ है। तीसरे अध्यायमें कर्म करता हुआ त्वं पदार्थ। चौथे अध्यायमें अवतारके द्वारा रक्षित होता हुआ त्वं पदार्थ, पाँचवें अध्यायमें संन्यास लेता हुआ त्वं पदार्थ, छठें अध्यायमें योगाभ्यास करके द्रष्टाके रूपमें बैठा हुआ त्वं पदार्थ है। सातवें अध्यायमें परापर प्रकृतिसे विलक्षण तत् पदार्थ है। आठवें अध्यायमें लोकातीत परम पुरुषका वर्णन है :

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। (८.२२)

और नवें अध्यायमें राजविद्यासे सर्वकारण कारणका वर्णन है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि। (९. ४-५)

सबमें मैं और मुझमें सब कार्यकारणका अनुस्यूत भाव, कारणमें कार्यकी सत्ता नहीं और कार्य बिना कारणके नहीं—यह सब नवें अध्यायमें कार्य कारणोपाधिक तत्पदार्थ है; दसवें अध्यायमें विभूति और योगोपाधिक तत्पदार्थ है। ग्यारहवें अध्यायमें विराट्, बारहवें अध्यायमें उपास्य—यह तत्पदार्थका वर्णन हुआ। तो छह अध्यायमें तत् पदार्थ प्रधान वर्णन और छह अध्यायमें त्वं पदार्थ प्रधान वर्णन।

अब तेरहवाँ अध्याय काहेके लिए? कि महावाक्यका अर्थ बतानेके लिए। उधर जो—**अव्यक्तोऽमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते**- आत्मा है दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवेमें, जो विषादी होकर रो रहा है, जिज्ञासु होकर पूछ रहा है, श्रोता होकर सुन रहा है, जो कर्म करता है, त्याग करता है, योगकर्ता और अपनेको द्रष्टा जाननेवाला है, वही आत्मा असलमें परापर प्रकृतिसे विलक्षण परमपुरुष सर्वकारण कारण, वही विभूति और योग—ऐश्वर्योपाधिक वही विराट् और वहीउपासकोंकाउपास्यदेव है। तो तत्त्वमस्यादि महावाक्योंका जो अर्थ है उसको स्पष्ट करनेके लिए **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** (१३.२) यह जो क्षेत्रज्ञ है आत्मपदार्थ और यह जो माम् है तत्पदार्थ—ये दोनों एक ही हैं इसका निरूपण करनेके लिए तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहु: क्षेत्रज्ञ इति तद्विद:॥ १॥

अब तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ करते हैं। पहले सुनाया कि अध्यायकी संगति कैसे लगाते हैं:—

(१) भगवान्‌को जानेंगे तब भक्ति करेंगे, इसके लिए; (२) भगवान् ज़ीवका उद्धार तत्त्वज्ञानके द्वारा करते हैं, अत: तत्त्वज्ञानकी प्रक्रिया बतानेके लिए; (३) निर्गुण उपासनाका निरूपण बारहवें अध्यायमें बहुत संक्षेपमें हुआ, इसलिए भी; और (४) पहले छह अध्यायोंमें त्वं पदार्थका निरूपण, बीचके छह अध्यायोंमें तत् पदार्थका निरूपण करके दोनोंकी एकताका निरूपण करना बहुत जरूरी था, इसलिए भी तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

तो भगवान्‌का ज्ञान भक्तिमें उपयोगी है और उद्धारका जो गणित है, प्रक्रिया है वह समझनेके लिए भी उपयोगी है, निर्गुणोपासनाके लिए भी उपयोगी है और वाक्यार्थ ज्ञानके लिए भी उपयोगी है। निर्गुणोपासनामें और

वाक्यार्थ ज्ञानमें अन्तर होता है। वाक्यार्थ ज्ञान तो तत्काल अविद्याको निवृत्त कर देता है और निर्गुणोपासना परिपक्व हो करके पहले भावात्मक ऐक्य बनाती है,

उसके बाद परब्रह्म परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है।

तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें एक विकल्प सामने और आता है। किसी-किसी टीकाकारने श्रीभगवानुवाच—'इदं शरीरं कौन्तेय' से पहले भी एक श्लोक माना है और वह यह है—

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद् वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

अर्जुनने कहा :—हे केशव! मैं प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेयको जानना चाहता हूँ।

परन्तु भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य अनेक आचार्योंने इस श्लोकको नहीं माना है। माननेवालोंके मतमें अर्जुनने यह प्रश्न किया और भगवान्ने उत्तर दिया अन्यथा भगवान् क्यों बोलें? उनसे पूछो तो बोलें, नहीं तो चुपचाप। यदि जिज्ञासाकी पिपासा नहीं है, तो जिसको प्यास नहीं है उसको बलात् पानी क्यों पिलाना? जब जिज्ञासुके मनमें प्रश्न उठते हैं, तब भगवान् उनका समाधान करते हैं।

लेकिन यह तो उन लोगोंके बारेमें बात है जो कभी-कभी बोलते हों। भगवान्की वाणी तो नित्य है। वेदवाणीको भी नित्य ही बोलते हैं। नित्य इसलिए कि अन्तर्मुखताके एक स्तरमें ये भगवद् बोधक शब्द प्रकाशित होते रहते हैं। जैसे आपके रक्तमें, आपके प्राणोंमें निरन्तर गति रहती है, जैसे बुद्धि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें जाती-आती रहती है, ऐसे ही प्रकृतिके अन्तर्तममें, अन्तर्देशमें कोई ऐसा प्रदेश है, जहाँ भगवान्की वाणी निरन्तर स्वयं उच्चरित होती रहती है।

वाचा विरूपनित्यया—वेदमें ऐसा वर्णन आता है कि भगवान्की वाणी नित्य है। हम लोग उसको सुन नहीं पाते हैं। सुन क्यों नहीं पाते हैं? आप जानते हैं कि रक्तके चलनेमें भी ध्वनि है, श्वासके चलनेमें भी ध्वनि है,

जो संकल्प उठता है वह भी तो शब्द सहित ही होता है, तो उसमें भी ध्वनि होती है। परन्तु उस ध्वनिको हमलोग क्यों नहीं सुन पाते? क्योंकि बाहरकी ध्वनियोंके श्रवणमें हम आसक्त हो गये हैं। जब मनुष्य बाह्य शब्दोंका श्रवण बन्द करके मौन होता है, जब शब्दोंका उच्चारण छोड़कर मौन होता है, जब बाह्य शब्दाकार वृत्ति-श्रवण या उच्चारण दोनोंके द्वारा नहीं होती है, उस समय पहले पश्यन्ती वाणीके रूपमें और बादमें परावाणीके रूपमें वेदार्थका-वेदवचनका-भगवान्‌की वाणीका प्रकाश होता है। जैसे भगवान् नित्य हैं वैसे उसकी वाणी नित्य है; भगवान्‌का संकल्प, स्वरूप, क्रिया सब नित्य है। स्वयं भगवान् ही तो नाम और रूप दोनोंके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। तो जैसे रूपाभिव्यक्ति भगवान्‌में नित्य है वैसे नामाभिव्यक्ति भी भगवान्‌में नित्य ही है। इस नित्य वाणीको **तुरीयां वाचम्** कहते हैं।

बारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो भक्ति और भक्तकी स्थापना की, उसमें—

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः। (१२.१९)

स्थिरमति होनेको भक्तका लक्षण बताया और श्रद्धालु होनेको भी भक्तका मुख्य लक्षण बताया—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२.२०)

ऐसा लगता है कि भगवान्‌के यह उच्चारण करते ही कि मेरा सबसे प्यारा वह है जो स्थिरमति है, श्रद्धालु है और भक्तिमान् है, अर्जुन जैसे तत्काल स्थिरमति होकर, श्रद्धालु होकर, भक्तिमान् होकर बैठ गया। और आप जानते ही हैं—**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।** (३९) श्रद्धावान् पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

बालकी खाल निकालनेवालेको तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। जो बहुत तर्क-वितर्क करते हैं, महात्मा लोग उनसे परहेज करते हैं। जो बहुत तर्क-वितर्क, काँट-छाँट करनेवाले लोग हैं, उनको विद्वान् मिलते हैं। वे उनसे शास्त्रार्थ करके, उनको हराकर उनके साथ बातचीत करनेमें रस लेते हैं। क्यों? क्योंकि विद्वान्‌को जो नयी-नयी युक्ति निकालनेका अभ्यास है,

उसके कारण नयी-नयी युक्ति निकालनेसे विद्वान् पुरुषको रस आता है। लेकिन महात्मा लोग तो—

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं निर्विद्य मौनेन तिष्ठासेत्।
मौनं चामौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणो भवति॥

(बृहदा० ३.५.१)

महात्मा तो पांडित्यको छोड़कर ज्ञानबल-भावमें रहते हैं। पंडिताई छोड़ देते हैं, सहज भावसे रहते हैं। सहज भाव भी छोड़कर मौन रहते हैं और फिर मौन-अमौन दोनों उनको एक सरीखा हो जाता है, तब वे ब्राह्मण होते हैं। तो किसीके विचारपर अपना विचार लादना, किसीके संकल्प पर अपना संकल्प लादना, किसीकी क्रियापर अपनी क्रिया लादना, किसीकी वस्तुपर अपना ममत्व लादना, यह तो महात्माको रुचिकर नहीं है। इसलिए महात्मा लोग शास्त्रार्थ करनेवालेको अपना ज्ञान नहीं देते। महात्मा लोग श्रद्धालु, मौनी, स्थिरमति, भक्तिमान् पुरुषको अपना ज्ञान देते हैं।

आप एक पण्डितको शास्त्रार्थमें हरा भी सकते हो और हार भी सकते हो, लेकिन उससे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अपना अभिमान छोड़नेकी जरूरत पड़ती है। जो अभिमान नहीं छोड़ेगा, उसको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।

एक दूसरा कारण भी है। यदि परमात्मा कोई ऐन्द्रियक पदार्थ होता, इन्द्रियोंसे अनुभवमें आनेवाला, यन्त्रोंसे मालूम पड़नेवाला, आपके मनके ध्यानमें आनेवाला, बुद्धिकी नोकपर चढ़नेवाला पदार्थ होता तो आप स्वयं ऐन्द्रियक तीक्ष्णतासे या मनकी एकाग्रतासे या बुद्धिकी तीव्रतासे, सूक्ष्मतासे उसको जान पाते। असलमें परमात्माको जाननेके लिए तो इस क्षेत्रको ही अलग करना पड़ता है। माने बुद्धिको भी अलग करना पड़ता है, मनको भी अलग करना पड़ता है, इन्द्रियोंको भी अलग करना पड़ता है। जैसे हाथसे पकड़कर आप ब्रह्मको नहीं जान सकते, वैसे इन्द्रियोंसे पकड़कर भी ब्रह्मको नहीं जान सकते, वैसे मनसे भी पकड़कर ब्रह्मको नहीं जान सकते, वैसे बुद्धिसे पकड़कर भी ब्रह्मको नहीं जान सकते। यहाँतक कि स्वयं अपना विषय बनाकरके भी ब्रह्मको नहीं जान सकते। श्रुति कहती है—

स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्।

'आप स्वयं तत्त्व हैं'। इतना जानना अगर आपके लिए काफी नहीं होता है तो फिर सारी पुस्तकोंका बोझ आपको अपने सिरपर उठाना पड़ेगा और आप स्वयं हैं फिर भी अनुभव नहीं होगा। जबतक कोई आपको बतायेगा नहीं।

तो भगवान् कब बोलते हैं? कि जब आप चुप हो जाते हैं। बोलनेसे भगवान् नहीं बोलते, चुप होनेसे भगवान् बोलते हैं। हम सब भले मानुसोंकी यही प्रक्रिया देखते हैं कि उनसे कोई बातचीत करता हो और वह बोलता ही जाए, तो भलामानुस तबतक चुप रहेगा, जबतक वह बोलता जायेगा।

एक आदमी हमारे पास कुछ पूछनेके लिए आता है तो वह पूछना शुरू करता है, फिर जवाब भी दे लेता है, फिर पूछ लेता है, फिर वह दूसरी बात बोलता जाता है। तो इन्तजार करनी पड़ती है कि इसकी बात खत्म हो, तब हम बोलें, लेकिन बात खत्म होते-होते तो उसका 'टाइम' पूरा हो जाता है और वह चला जाता है।

तो भगवान् कब बोलते हैं? भगवान् तब बोलते हैं जब जीव मौन होता है। अर्जुनने बारहवें अध्यायमें, श्रद्धा-भक्तिका माहात्म्य सुनकर कहा कि हम भगवान्के अतीव प्रिय बनेंगे और चुप हो गये। तो भगवान्ने कहा कि वाह, अर्जुन तो बड़ा श्रद्धालु हो गया, अब इसको ज्ञानदान करना चाहिए, इसलिए बिना पूछे ही बोलते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान्ने कहा—कौन्तेय! इस शरीरको क्षेत्र कहा जाता है और इस क्षेत्रको जो जानता है उसको विद्वान् क्षेत्रज्ञ कहते हैं (१३.१)। भगवान् बोलते हैं। भगवान् माने क्या? भ+ग+वा+न्=भगवान्। भवन (होना) और भरण (जीवन)—दोनों जिसके हाथमें हों उसको बोलते हैं 'भ'। पैदा होना और जीना, भरण-पोषण दोनों जिसके हाथमें हो सो भगवान्-**भ**। गमनागमन-चलना-फिरना, स्वर्ग-नरक, ब्रह्मलोककी गति-आगति, जिसके हाथमें हो सो—**ग**। वेदना-वेदन-विशेष-विशेष वस्तुओंका जानना, न जानना—वह

दोनों जिसके हाथमें हो सो—**व**। और अध्यारोप और अपवाद दोनों जिसके हाथमें हो सो—**अ**। सबका निषेध करके जो रहे सो नान्त भगवान्—**न**। नकार जिनके अन्तमें सो भगवान्। नेति नेतिके द्वारा सारी सृष्टिका निषेध हो जानेपर अध्यारोप और अपवादका भी बाध हो जानेपर, निवृत्ति हो जानेपर जो स्वयं शेष रहता है, उसको बोलते हैं **न**।

इस प्रकार **भगवान्** माने भवन और भरण, गमन और आगमन, वेदन और अवेदन, अध्यारोप और अपवाद और इन सबके अत्यन्ताभावमें जो समर्थ होवे उसको बोलते हैं—**भगवान्**।

ये कैसे भगवान् हैं? तो बोले कि **श्रीभगवान्** हैं। यह '**श्री**' शब्द बड़ा व्यापक है। ये अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबू लोग जो '**सर**' बोलते हैं न, वह '**श्री**' में से ही निकला है। श्रीमान् जैसे बोलते हैं। श्री 'हेड'का, सिरका, ही वाचक है माने जो शीर्षण्य है, श्रीश है, हेड है—ऐसे श्रेष्ठताका सूचक यह श्री शब्द है। तो ऐसे श्रीभगवान् उवाच=बोले नहीं। उनका बोलना जारी है। **श्रीभगवानुवाचका** अर्थ है 'अथ श्रीभगवद्-वचनम्' अर्थात् अब यहाँसे भगवान्के वचन प्रारम्भ होते हैं।

बारहवाँ अध्याय पूरा होनेके पहले जैसे भगवान् बोल रहे थे, तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें भी वैसे ही बोल रहे हैं, उनका बोलना जारी है। भगवान्का वचन आदि-अन्तवाला नहीं है, वैसे ही जैसे भगवान्का स्वरूप आदि-अन्तवाला नहीं है। यह मनुष्यका शरीर आदि- अन्तवाला है, इसलिए इसका बोलना भी आदि-अन्तवाला है, परन्तु परमात्मा वह है जो स्वयं बोलता है। बिना बोले ही उसका रोम-रोम बोलता है। अपनी अनन्तताको, अपनी स्वयं प्रकाशताको, अपनी अद्वयताको, तत्त्वकी एकरसताको; जो स्वयं बोल रहा है उसका नाम है भगवान्, भगवान्का वचन। उसको लोग अपनी-अपनी स्थिति, मतिके अनुसार समझते हैं। भगवान् सबके लिए एक सरीखा बोलता है, किसी विशेष क्षेत्र—यूरोप, एशियाके लिए या किसी विशेष सम्प्रदाय—हिन्दू, मुसलमान, ईसाईके लिए नहीं बोलता, पंथ या फिरकेके लिए नहीं बोलता। यही फरक है भगवान्की असली वाणी और नकली वाणीमें। पर जो जितना धारण करने योग्य होता है, उतना उसका अर्थ समझता है—त्रिगुणमयत्वात्, त्रिगुणमय होनेके कारण। तो क्या बोलते हैं? यह श्लोक

आपके सामने बोलता हूँ। यह भगवद्वचन है—पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता सबके लिए है—देह-देही विभाग तो सबमें है न!

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

श्लोक तो आपके सामने है और इसका एक-एक शब्द आपके मुँहमें है और इसमें एक-एक शब्दका अर्थ आप अपने भीतर देखें। हम एक ऐसी वस्तुका वर्णन प्रारम्भ करते हैं, जो नामका विषय है, जिसका नाम होता है—अभिधीयते-**अभिधानविषयी क्रियते**। नामोच्चारण करके नाम रखकर जिसका हम वर्णन कर सकते हैं।

अपने आत्माका, परमात्माका—ब्रह्मका स्वरूप नाम रखकर वर्णन करने योग्य नहीं होता। मगर यह जो क्षेत्र है उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन होता है—अभिधीयते।

देखो, आत्मा कौन है? जो हम शब्द बोल रहे हैं, उसकी जो ध्वनि आप सुन रहे हैं, यह ध्वनि हो रही है वाक्‌के द्वारा और भावपूर्वक हो रही है और इसमें एक वक्ता बैठा हुआ है। शब्द है, वाक् है, वक्ता है—ऐसा सबके शरीरमें है। तुम भी शब्द बोलते हो तो तुम्हारे भी जीभ है और तुम भी वक्ता हो। इस प्रकार अलग-अलग शब्द हैं, वाणी हैं और इनके वक्ता हैं—इन सब वक्ताओंमें जो एक है—आश्रयरूप, अधिष्ठानरूप, प्रकाशकरूप, वह परमात्मा है। वह अभिधानका माने नामका विषय नहीं है, आश्रय है। वह तो नामका आश्रय है। नामका ही नहीं, वाणीका भी आश्रय है। वाणीका ही नहीं, वक्ताका भी आश्रय है। वाक् उपाधिके कारण जो तुम आत्मा वक्ता बने हुए हो, अपनेमें वक्तापनेकी भ्रान्तिसे युक्त जो तुम अपनेको मान रहे हो, इस भ्रान्ति और भ्रान्तिमान्‌का भी जो प्रकाशक है उसको अपना आपा बोलते हैं। यह जो अपना आपा है, ब्रह्म है, वह नामका विषय नहीं है।

अब क्षेत्रको आप समझो। क्षेत्र किसको बोलते हैं? **इदं शरीरं क्षेत्रम् इति अभिधीयते**। कोई भी पदार्थ जब हम जानते हैं, जैसे दूरसे घड़ेको देखें या दूरसे हाथीको देखें तो पहले सामान्य प्रत्ययका उदय होता है—यह है। फिर उसमें विशेष प्रत्ययका उदय होता है—यह हाथी है। जब हम सीपमें रजतको देखते हैं या रज्जुमें सर्पको देखते हैं, तो वह जो सर्प दिख रहा है, वह

'इदं'में दिख रहा है। वहाँ 'इदं'का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होनेके कारण सर्प विशेष दीखने लग गया। सीपका ज्ञान न होनेसे रजत दीखने लग गया। इस प्रकार अधिष्ठानका ज्ञान न होनेसे यह विश्व सच्चा दीखने लग गया।

तो पहले आप देखो—**अहं** और **इदं**। अहं चैतन्यके प्रकाशका स्थान है और इदं विषयके प्रकाशका स्थान है। अहं चैतन्य अहं द्वारा ही इदंको जानता है। पहले अगर अहं न हो तो इदं मालूम न पड़े। यह घड़ा है, घड़ी है, यह मालूम होनेके लिए पहले मैंका होना जरूरी है। तो जो 'मैं'के भीतर प्रकाशक है उसको आत्मा बोलते हैं और जो घड़ीके भीतर बैठकर विषयका प्रकाशक है उसको ब्रह्म बोलते हैं—कल्पित रीतिसे। और अहं, इदं—दोनोंमें जो ऐक्य है उसको ब्रह्मात्मैक्य बोलते हैं।

'इदं' माने जो माया दे सो इदं। **'इं' मायां ददाति इति इदम्**। अर्थात् जो देता है सो इदम् है। माया माने नानात्वका प्रतिभास जो देता है उसको इदं बोलते हैं। इदं सामान्य है। घट जिसमें बनता है वह भी इदं है और सकोरा जिसमें बनता है वह भी इदं है। भुलुआ जिसमें बनता है वह भी इदं है। अब देखो, शरीर स्त्रीका जिस मसालेमें बनता है वह भी इदं है, शरीर पुरुषका जिस मसालेमें बनता है वह भी इदं है, पशु-पक्षी, दानव-देवता सबका शरीर जिसमें बनता है वह भी इदं है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशका शरीर जिसमें बनता है वह भी इदं है। इदंमें ही शरीर बनता है। तो क्षेत्रका पहला लक्षण है—इदन्ता स्कन्दितत्व—इदन्ता जिसको स्कन्दित कर दे, रौंद दे, दबा दे। जिसमें इदं होना जरूरी है वह क्षेत्र होगा और क्षेत्रज्ञमें इदं होना जरूरी नहीं होगा।

इदं माने यह और अहं माने मैं। यह को जाननेके लिए मैंकी जरूरत होती है। मैंके बिना 'यह' जाना नहीं जाता है इसलिए अहंके आश्रित इदं वृत्तिका उदय जिसके लिए होता है उसको क्षेत्र बोलते हैं। इदं प्रत्ययात्मक ही क्षेत्र होता है। यह क्षेत्रकी पहली परिभाषा बतायी प्रत्ययरूपमें।

जब वृत्तिमें इदं सामान्यका उल्लेख हो-यह 'यह' है—ऐसी वृत्ति यदि उदय होवे तो वह क्षेत्र ही है। यह ब्रह्म है—ऐसी वृत्ति यदि उदय होवे तो वह क्षेत्र ही है। 'यह' निराकार है, 'यह' साकार है, 'यह' ब्रह्मा है, 'यह' विष्णु है, जहाँ यहपना लगा वहाँ उसमें क्षेत्रपना आया।

अब इस इदन्ता स्कन्दित क्षेत्रमें, खेतमें (क्षेत्र माने खेत) जोत लो,

बो लो, खेती कर लो, सब हो जायेगा। उस 'यह'को टेढ़ा बना लो, उस 'यह'को सीधा कर लो, उस यहको सुला दो, उस यहको जगा दो, उस यहको भगा दो—सब कुछ कर सकते हो। इसीसे जब ईश्वर भी यहके रूपमें आता है तब उसको हम सुला सकते हैं, जगा सकते हैं, भगा सकते हैं, बेहोश भी कर सकते हैं। जब 'यह'के रूपमें ईश्वर आवेगा तो 'यह'की वृत्ति 'अहं'के आश्रित ही होगी। यह 'अहं'भी परमात्मा नहीं है, परन्तु इदं वृत्तिकी अपेक्षा अहं वृत्ति अन्तरंग होती है। बिना अहं वृत्तिके इदं वृत्ति होती ही नहीं। बिना 'मैं'के 'यह' होता ही नहीं।

तो अब देखो, कितनी बात हो गयीं—पहली यह कि इदं एक लक्षण है। इदं वृत्ति बदल जायेगी, अहं वृत्ति बनी रहेगी। माने काल परिच्छिन्न रहेगी इदं वृत्ति और उसकी अपेक्षा अहं वृत्ति अधिक रहेगी। यह नहीं है कि अहं वृत्ति हमेशा रहेगी। इदं वृत्ति—घड़ा देखा, सकोरा देखा, स्त्री देखी, पुरुष देखा; किसने देखा? मैंने देखा। देखे जानेवाले—यह, यह—बदल गये और मैं एक रहा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक ऐसे करना पड़ेगा।

अच्छा देखो, 'इदं' अन्तर्देशमें भी होता है और बहिर्देशमें भी होता है। लेकिन 'अहं' बहिर्देशमें कभी नहीं होता। अहं बाहर नहीं, हमेशा भीतर ही होता है। अध्यात्म ही होता है अहं, अधिभूत नहीं होता और अधिदैव भी नहीं होता। अपना अहं न अधिभूत होता है, न अधिदैव, वह न देवता होता है, न मिट्टी होता है। वह देवताको देवता और मिट्टीको मिट्टी बतानेवाला होता है। इसलिए अहं अन्तर्देशमें होता है, अहं अध्यात्म है। ईश्वर अधिदैव है। ईश्वर माने इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र। ये अधिदैव हैं और मिट्टी-पानी-आग—ये सब अधिभूत हैं। परन्तु अहं हमेशा अध्यात्म है, अपना आपा है। तो देखो अन्तर्देशमें अहं है और प्रत्ययोंके-वृत्तियोंके बदलनेपर भी कालमें भी अहं है। विषयोंके बदलनेपर भी अहं है। इसलिए जो इदं है सो क्षेत्र है और जो अहं है वह क्षेत्रज्ञ है।

'इदं' एक लक्षण है, इसको छोड़ना नहीं। हमारे संस्कृत भाषाकी रीति बड़ी विलक्षण है, उसमें आधी मात्रा भी व्यर्थ प्रयुक्त नहीं होती। हमारे जितने आर्ष ग्रन्थ हैं, वैदिक छांदस् ग्रन्थ हैं उन सबमें ऐसा ही है। आपने यह कहावत सुनी होगी कि नहीं कि वैयाकरण लोग ऐसा मानते हैं—

अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं पुत्रजन्मोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ।

यदि बोलनेमें आधी मात्रा घटा दी जा सकती हो तो वैयाकरणको इतनी खुशी होती है कि जैसे घरमें बेटा पैदा हो गया। इसका मतलब है कि व्यर्थमें नहीं बोलते हैं।

अब क्षेत्रका दूसरा लक्षण देखो, **शरीरम्**। दूसरी भाषाएँ व्युत्पत्तिहीन हैं, संस्कृत भाषा व्युत्पत्तियुक्त भाषा है। जैसे शरीर है, तो हिन्दीमें शरीर बोलें, तो हम समझ गये-, कीड़ेका शरीर, चींटीका शरीर, खटमलका शरीर, पशुका शरीर, पक्षीका शरीर, मनुष्यका शरीर। संस्कृत भाषामें शरीर शब्दका मूल है–शॄञ् विशरणे धातु। शरणके अर्थमें बिखर जानेके अर्थमें 'शॄञ्' धातु है। 'शॄ हिंसायाम्'–इस धातुसे भी शरीर शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जो निरन्तर मारता रहे। धनुषपर बाण चढ़ाकर पाँच बाण एक साथ मारे और पाँच निशानेपर जाकर लगे तो उनको 'शर' बोलेंगे।

शरण क्या है? अपने मैंको भगवान्‌के चरणोंमें बिखेर देना 'शरण' है और दुश्मनकी छातीमें पाँच बाण मारना 'शर' है। तो यह शरीर क्या है? यह निरन्तर हिंसित होता रहता है, निरन्तर बिखरता रहता है, मरता रहता है, और मारता रहता है। इसलिए इसको शरीर बोलते हैं। शरीर माने मरनेवाली चीज, बिखरनेवाली चीज और शरीर माने मारनेवाली चीज। इसमें 'शर' भी है और शरण भी है।

अब आप देखो, शरीर किसको कहते हैं? तुम्हारे मैंके साथ मिलकर जो तुमको मार रहा है उसका नाम शरीर है। शरीरके मरनेको तुम अपना मरना समझते हो, शरीरके जन्मनेको तुम अपना जन्मना समझते हो, शरीरके रहनेको अपना रहना समझते हो, शरीरके जानेको अपना जाना समझते हो। इस शरीरने बड़ी शरारत की है तुम्हारे साथ। उर्दूमें शरीर माने होता है उद्दण्ड, शैतान। कितना तेल-फुलेल लगाओ, यह रूखा हो ही जाता है। जिन्दा रखनेकी कितनी कोशिश करो, कितना खिलाओ-पिलाओ, सेवा करो, यह शरीर मानता ही नहीं है। बिलकुल कृतज्ञ नहीं है, शरारत करता ही रहता है। कहीं पसीना निकाल दिया, तो कहीं रोआँ निकाल दिया, कहीं मूत निकाल दिया। जैसे उद्दण्ड शरीर बालकको कितना भी समझाओ-बुझाओ

कुछ-न-कुछ ऊधम घरमें कर देता है, वैसे ही यह शरीर बाणकी तरह मारता है और क्षीण होता रहता है। इसमें छः बातें लगी हुई हैं—

(१) शरीर पैदा होता है (जायते) और वह भी गंदगीमें-से। इसका उपादान ही गंदा है। जिस रजके उदय होनेपर हिन्दु धर्मके अनुसार स्त्रीको अशुचि मानते हैं, जिस वीर्यको शरीरसे निकलनेके बाद छूनेमें गंदगी अनुभव करते हैं, उसीके संयोगसे यह शरीर उत्पन्न हुआ। योग दर्शनवाले तो कहते हैं कि इस शरीरको छूओ मत, यह अस्पृश्य है। यह शरीर अनाघ्रेय है—सूँघने लायक नहीं है, अनास्वाद्य है, यह भोगने लायक नहीं है। अद्रष्टव्य है—यह देखने लायक नहीं है। यह असलमें अश्रव्य है—इसकी कथा सुनने लायक नहीं है। ऐसा है यह शरीर। आप कभी ध्यान दो इस शरीरपर तो मालूम पड़ेगा। (२) शरीर उत्पन्न होकर फिर 'है'—ऐसा मालूम पड़ता है—अस्ति। (३) फिर यह मालूम पड़ता है कि यह बढ़ता है—वर्धते। (४) फिर मालूम पड़ता है बदल रहा है—विपरिणमते। (५) फिर धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है—अपक्षीयते और (६) अन्तमें मर जाता है—विनश्यति। एक जादूके खेलकी तरह यह उदय होता है और मिट जाता है।

शरीरको अछूत बतानेका अभिप्राय हमारा यह नहीं है कि तुम इसको फेंक दो। तुम द्रष्टाकी दृष्टिसे, चैतन्यकी दृष्टिसे निर्मल हो, उज्ज्वल हो। इस अशुचि-अपवित्र शरीरमें जो तुम्हारी पवित्र बुद्धि हो रही है; अनित्य शरीरमें जो नित्य बुद्धि हो रही है, इस दुःखमें जो सुख बुद्धि हो रही है, इस अनात्मामें जो आत्मा बुद्धि हो रही है, यह विभ्रम है, यह हमारा अभिप्राय है। इस शरीरको ठीक-ठीक शरीर ही समझो, यह तुम नहीं हो, यह शरीर है—ऐसा समझो।

इस प्रकार शरीरके बारेमें पहली बात बतायी अभिधीयते—माने इसका नाम होता है। दूसरी बात बतायी कि शरीर इदं प्रत्ययका विषय होता है। तीसरी बात बतायी कि यह शरीर है—शीर्ण होता है। अब चौथी बात देखो इसके बारे में—क्षेत्रम्, यह क्षेत्र है। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने क्षेत्र शब्दका अर्थ किया है—

क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद् वा अस्मिन् कर्म फलनिर्वृत्तेः क्षेत्रमिति।

जब उन्होंने क्षेत्र शब्दका इतना अर्थ किया, तो हमारी हिम्मत हो गयी

कि हम 'शरीर' और 'इदं' शब्दका भी इतना अर्थ कर दें। वे क्षेत्र शब्दका अर्थ करते हैं—

क्षिणोति त्रायते च इति क्षेत्रम्—यह हमको क्षीण भी करता है और हमारी रक्षा भी करता है, इसलिए इसको क्षेत्र कहते हैं।

देखो दो पहलू हैं इसके, क्षिणोति—इसने हमको काट दिया, क्षीण कर दिया। कहाँ तो हम ब्रह्म थे, कहाँ एक टुकड़ा बनाकर रख दिया। कहाँ तो एक अविनाशी थे, कहाँ विनाशी बनाकर रख दिया। कहाँ तो पूर्ण थे, कहाँ साढ़े तीन हाथका बनाकर रख दिया। परन्तु यदि इसीका हम धर्मसे शोधन करके, भक्तिसे इसको भावित करके, निरोधके द्वारा मनकी चंचलताको मिटाकर और इससे गुरुकी शरण ग्रहण करके जिज्ञासाके द्वारा यदि हम श्रवण-मनन-निद्धिध्यासन करें तो 'त्रायते च' यह हमारी रक्षा भी करता है। इस प्रकार—

(१) **क्षतत्राणात् क्षेत्रम्**—यह शरीर अथवा क्षेत्र हमारे अन्दर एक क्षत है, एक घाव है, एक व्रण है और इस व्रणसे रक्षा करनेवाला भी यही है। इसीसे भगवान्के बारेमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो, कल्याण हो जायेगा।

(२) **क्षयात् क्षेत्रम्**—यह दिनोदिन क्षयकी ओर जा रहा है अत: क्षेत्र है। यह तो दीएकी लौ है, यह तो गंगाजीकी धारा है, यह तो बहनेवाली हवाका एक झोंका है, कुछ पता नहीं यह कब है और कब नहीं है।

(३) **क्षरणात् क्षेत्रम्**—दिन रात इसमें-से क्षार, खार निकलता रहता है अत: क्षेत्र है। यह क्षार द्रव्य तो आप जानते हैं न! मल, मूत्र, पसीना, नाखून, बाल, रज, वीर्य, थूक, मैल इत्यादि। रात-दिन इस शरीरमें से ये निकलते रहते हैं। न निकलें तो आदमी मर जाय। अरे दवा करनी पड़ती है। यदि ये पनाले इसमें-से बहते न रहें। निरन्तर क्षरण करता है।

(४) **क्षेत्रवद् वा कर्मफलनिर्वृत्तेः**—जैसे खेतमें जोतते हैं, बोते हैं, काटते हैं, ऐसे इसी शरीरमें कर्म बोया जाता है और उसका फल काटा जाता है। क्षेत्र है माने खेत है। जैसे खेतमें कोई चीज बोते हैं और फिर उसका फल काटते हैं, इसी प्रकार इसी शरीरमें पाप और पुण्य बोते हैं। यह नहीं कि बबूल बोवें और आम काटें। नागफनी लगावें और उसमें अंगूर फले-ऐसा

नहीं होता। पुण्य करोगे तो सुख मिलेगा, बुरे काम करोगे तो दुःख मिलेगा। कठोपनिषद्‌में इस शरीरको सस्य-घास बताया हुआ है—

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः। (कठ० १.१.६)

जैसे घास पैदा होती है और कट जाती है, अनाज पैदा होता है और कट जाता है; जैसे एक बीज बो देते हैं; वैसे ही पुरुष स्त्रीरूप खेतमें एक वीर्यका बीज बोता है, उसमें रजकी खाद मिलती है और उससे एक पौधेका अंकुर निकलता है, फिर वह अपने मूलसे छिटककर अलग हो जाता है और फिर स्वयं वह भोजन लेकरके बढ़ता है। जो पौधेकी हालत है वही इस मनुष्य-शरीरकी हालत है। गाय, बैल, पशु और पक्षी भी भूल जाते हैं कि हमारा कौन बेटा है, कौन बेटी है; और पेड़से पौधा जब अलग हो गया, कलम हो गयी, छँट गया, तो पेड़ भी सम्बन्ध नहीं मानता है; परन्तु यह मनुष्य सम्बन्ध मानता है।

तो देखो, जो इदं प्रत्ययका विषय, प्रतिक्षण क्षीण होनेवाला, अपनी उन्नति और अवनतिका मूलकारण, नामका—शब्दका विषय—इसको बोलते हैं क्षेत्र।

अब अर्जुनके लिए जो सम्बोधन कौन्तेय भगवान्‌ने दिया उसको लेते हैं। बोले—यह बात सब नहीं समझेंगे। कौन्तेय ही समझेगा। इस कौन्तेय शब्दमें दो तत्त्व हैं—

(१) कुन्तीके बेटेका नाम है कौन्तेय—कुन्त्याः अपत्यं कौन्तेयः। कुन्तीके अपत्यको कौन्तेय कहते हैं। भगवान्‌ने अर्जुनके लिए यह सम्बोधन किया—हे कौन्तेय! यह तो हुआ अर्जुनका नाम। अब इसमें से एक अर्थ यह निकला कि कुन्ती हमारी बुआ है और तुम हमारी बुआके पुत्र हो। लोकमें यह देखनेमें आता है कि लोग अपने प्यारे सम्बन्धीसे कोई बात करते हैं, तो उसके हितकी करते हैं। तो अर्जुन तुम हमारे भाई हो। इसलिए हम भी तुम्हारे हितकी बात बोलते हैं।

बालोंको कुन्तल कहते हैं। कुन्ती बड़े सुन्दर बालोंवाली थी। इसलिए उसका नाम कुन्ती था।

भगवान् कहते हैं अर्जुन! तुम हमारे भाई ही नहीं तुम हमारी बहन सुभद्राके पति भी हो। एक सम्बन्धी ज्ञान, अपरसम्बन्धी स्मारक; अतः तुम

हमारे बहनोई भी हो। और दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाका जो हरण किया था सो एक सम्बन्ध वह भी है। फिर हमारा-तुम्हारा मैत्रीका सम्बन्ध भी है। भक्तिमें अन्तरंगता सम्बन्ध है। भक्त लोग भी अपनेको भगवान्‌का सम्बन्धी बना लेते हैं। तो भक्तके प्रति ज्ञानका उपदेश होता है। खास तेरहवें अध्यायमें ही यह बात बतायी—

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। (१३.१८)

जो मेरा भक्त है, वह मुझे जान करके मेरे स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, माने जो भगवत्सम्बन्धी है, अपनेको भगवान्‌के साथ रिश्ते-नातेमें जोड़ देता है, उसको ज्ञान होता है।

कौन्तेय—बन्दूककी नोकपर जो संगीन बाँधते हैं उसका संस्कृतमें नाम है कुन्त। वह अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। जब दुश्मन पास आ जाता है तब गोली चलाकर नहीं मारते हैं, उसी संगीनसे ही उसपर वार करते हैं। पासके शत्रुपर गोली नहीं चलायी जाती, कुन्तसे वार किया जाता है। तो जो दोष बाहर होता है, उसके लिए शस्त्रास्त्रका प्रयोग करना पड़ता है और जो दोष बिलकुल हमारे हृदयमें होता है, जैसे भ्रांतिरूप दोष बुद्धिमें ही है, वह बुद्धिसे इतना चिपका हुआ है कि वहाँ बन्दूककी गोली नहीं चलेगी, वहाँ कुन्तसे लक्ष्यबेध होगा। कुन्त क्या है?

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। (कठ० १.३.१२)

जो एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि होती है उसीसे आत्माका साक्षात्कार होता है। एकाग्र बुद्धि माने नुकीली, उसीको अकुंठा बोलते हैं कुंठारहित, जो भोथर न हो, जो परमात्माके ज्ञानमें कहीं भी यह न कहे कि यह समझमें नहीं आता, जो समझदारीसे इनकार न करे—ऐसी सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिका नाम कुन्ती है। अतः 'कौन्तेय' शब्दका अर्थ हुआ कि हे अर्जुन! तेरी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, इसलिए तू क्षेत्रको समझ!

यह क्षेत्र इदं प्रत्ययका विषय है, शरीर होनेसे शीर्ण होनेवाला है, बिखर जानेवाला है, धर्म-कर्म करनेका क्षेत्र है, अविद्याके द्वारा क्षयका और विद्याके द्वारा त्राणका हेतु है तथा यह नामका, शब्दका विषय है। अब आगे क्षेत्रज्ञका निरूपण करते हैं। क्षेत्रज्ञ नामका विषय नहीं होता। नहीं तो यह अभिधीयते क्रिया वहाँ भी चली जाती।

तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १३.१

इसमें दोबारा 'प्राहुः' क्रियाके प्रयोगकी जरूरत क्यों पड़ी? संस्कृत भाषाकी जो पद्धति है, शैली है बोलनेकी उसमें-**तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।** इतने विस्तारकी जरूरत नहीं थी। ऐसा कह देते—एतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ। ऐसा कहनेसे अभिधीयते क्रिया अपने आप क्षेत्रज्ञके साथ लग जाती—**एतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ इत्यभिधीयते।** परन्तु ऐसा कहनेसे क्षेत्रज्ञ भी शब्दका विषय हो जाता जो इष्ट नहीं है। अतः क्षेत्रज्ञके साथ पृथक् क्रिया पद 'प्राहुः' का प्रयोग किया। श्रीकृष्ण कहना यह चाहते हैं कि **एतद्** अर्थात् इस क्षेत्रको **यो वेत्ति** जो जानता है, **तं** उसको **तद्विदः क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः** इस विद्याके जानकार क्षेत्रज्ञ-इस प्रकार कहते हैं।

एक बार फिरसे दृष्टि डाल लो—**कौन्तेय इदं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते**—हे कौन्तेय! हे शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिवाले जिज्ञासु पुरुष! जो क्षेत्रज्ञ है वह—

१. इदं क्षेत्रसे विलक्षण अहं होता है;

२. शरीरसे विलक्षण अशरीर होता है;

३. क्षेत्रसे विलक्षण ॰क्षेत्र होता है;

४. क्षेत्र तो 'अभिधीयते' शब्दका विषय होता है परन्तु क्षेत्रज्ञ उससे विलक्षण होनेके कारण 'न अभिधीयते' अर्थात् शब्दका विषय नहीं होता।

इसमें क्षेत्रज्ञकी पहचानके लिए चार सूत्र निकले। पहचान क्षेत्रकी नहीं, क्षेत्रज्ञकी ही करवानी है। अतः इसमें-से चार सूत्र निकले—

१. जो 'इदं' है, यह है, उसको क्षेत्र बोलते हैं। और जो 'यह' नहीं है उसको क्षेत्रज्ञ बोलते हैं—**अनिदम्।** इदंसे विलक्षण क्षेत्रज्ञ है।

२. **अशरीरम्**—जो जीर्ण-शीर्ण होता है, पैदा होता है, बढ़ता है, घटता है, मरता है शीर्ण-विशीर्ण हो जाता है, एक दिन लापता हो जाता है, जो तोपके गोलेपर उड़ जाता है वह तो शरीर है और *यत् न शीर्यते तत् अशरीरम्,* वह आत्मा है, ब्रह्म है।

'इदं' तो निरुक्त है माने उसका निर्वचन किया हुआ है और जो 'अनिदम्' है, सो अनिरुक्त है, उसका निर्वचन किया हुआ नहीं है। तथा, जो

शरीर है सो नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है। तो आत्माका एक लक्षण निकला 'अनिदम्', दूसरा निकला 'अशरीरम्'।

३. **अक्षेत्रम्**- अर्थात् आत्मासे कर्म और भोगका कोई सम्बन्ध नहीं है, उससे खेती नहीं होती है। उसमें कर्म बोओ और उसका फल काटो-यह नहीं है। क्षेत्रम् माने खेत।

४. **अनभिधीयते**— क्षेत्र अभिधीयते है। उसका वर्णन होता है, नाम होता है, यह पशु है, यह पक्षी है, यह मनुष्य है। कीट-ब्रह्म आदि नाम अलग-अलग हैं। जो अनाम है सो न अभिधीयते। अभिधान माने नाम।

तो यह चार बात निकल आयी इसमेंसे—क्षेत्रज्ञ इदं न भवति, शरीरं न भवति, कर्मफल सम्बन्धी न भवति और अभिधानविषयो न भवति।

अब ये चार बातें श्लोकमें से कैसे निकलती हैं वह प्रक्रिया बताते हैं।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

यः एतद् वेत्ति=यः एतद् इदं शरीरं क्षेत्रं अभिधानविषयं वेत्ति— जो 'यह' को जानता है, शरीरको जानता है, उस घोड़ेको जानता है जिसपर आरूढ़ होकर आत्मा कर्त्ता और भोक्ता हो जाता है, और जो अभिधानको-नामको जानता है, परन्तु स्वयं जिसका नाम नहीं होता, वह क्षेत्रज्ञ है।

अब यहाँ केवल 'वेत्ति' पदका प्रयोग किया गया है माने जानता है। परन्तु क्या जानता है यह नहीं कहा। तो कोई कहेंगे कि **मम इदं अहं इदं एवं योऽभिजानाति**—जो ऐसा जानता है कि यह शरीर मेरा है और मैं यह शरीर हूँ, उस जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। परन्तु यह तो अर्थ नहीं अनर्थ हो जायेगा। क्यों?

देखो, खेतको जाननेवाला खेतका ज्ञाता होगा। तो हम जब मोटरसे देहातमें चलते हैं या पैदल चलते हैं तो खेतको तो हम पहचानते जाते हैं कि यह खेत है, यह खेत है, लेकिन यह खेत मेरा है और यह खेत मैं हूँ—ऐसा तो हम नहीं पहचानते हैं। खेतको खेतके रूपमें जानना ही क्षेत्रज्ञ होना है, उसको मैं और मेराके रूपमें जानना क्षेत्रज्ञ होना नहीं है।

इस बातको काटनेके लिए हम एक बात और आपके ध्यानमें ला देते हैं। भगवान् आगे क्षेत्रको बतानेवाले हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(१३.५-६)

महाभूत क्षेत्र है, अहंकार क्षेत्र है, महत्तत्त्व क्षेत्र है और प्रकृति क्षेत्र है। तो जब क्षेत्र इतना विशाल है तो वह तो सारी दुनियाके क्षेत्रको क्षेत्र कहा गया। उसमें जो क्षेत्रको मैं और मेरा जाने सो क्षेत्रज्ञ, यह बात कहाँसे आसकती है? हम अव्यक्तको या महत्तत्त्वको या अहंकार तत्त्वको या महाभूतोंको मैं-मेरेके रूपमें भला कहाँ जानते हैं? इसलिए मैं-मेरेके रूपमें जाननेवालेका नाम क्षेत्रज्ञ नहीं है, केवल क्षेत्रको जानना और उससे अपनेको व्यतिरिक्त जानना इतना ही क्षेत्रज्ञका लक्षण है। यह त्वं-पदार्थका शुद्ध लक्षण है-यह बात ध्यानमें आनी चाहिए।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

'यो वेत्ति' में-से पहले एक बात आप निकालो विषय-विषयी। एक होता है विषय और एक विषयको जाननेवाला विषयी। विषय माने जो मालूम पड़ता है—इदं और विषयी माने वह जिसको इदं मालूम पड़ता है। तो पहले दो विभाग करो एक इदं—यह; इसको जड़ बोलते हैं और दूसरा यहको जाननेवाला मैं, जिसको चेतन बोलते हैं।

अपनेसे जो अन्य है सो विषय है, दृश्य है और अपना आपा विषयी है, द्रष्टा है। इसमें दुनियाँमें जो कुछ कभी हुआ, है और होगा, उसको मैं होऊँगा तभी जान सकता हूँ। मेरे सिवाय अगर दूसरा कोई उसे जानता होवे उसका कोई दूसरा ज्ञाता होवे, तो उस ज्ञाताके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। जब हम जानेंगे तभी सम्बन्ध बनेगा। इस प्रकार मैं चेतन हूँ और मेरे सिवाय दूसरा जो कुछ मालूम पड़ता है वह जड़ है, दृश्य है, प्रकाश्य है, विषय है, ज्ञेय है और मैं उसका ज्ञाता हूँ।

तो पहला विवेक यही है कि एक दृश्य एक द्रष्टा, एक ज्ञेय, एक ज्ञाता, एक विषय एक विषयी, एक इदं एक अहं। जो जाना जाय सो इदं और जो जाने सो अहं। जो जाना जाय सो जड़ और जो जाने सो चेतन।

अगर कभी आपको ईश्वर भी इदंके-रूपमें मालूम पड़े तो समझना कि उसमें कोई क्षेत्रका अंश मिला हुआ है, वह पूरा क्षेत्रज्ञ नहीं है। उसमें

कुछ-न-कुछ प्रकृति और प्राकृत, कुछ-न-कुछ माया और मायिक अंश जुड़नेके कारण ही वह यहके रूपमें मालूम पड़ रहा है।

अब दूसरा विवेक यह है कि जो 'यह' होता है वह अनित्य होता है 'शरीरम्' अनित्य होता है—और 'मैं' नित्य होता है। जो जाना जायेगा सो बदलता हुआ होगा और अनेक होगा और जो जाननेवाला होगा सो एकरस और एक रहेगा। *शीर्यते इति शरीरम्। यत् शरीरं तदनित्यम् तद्ज्ञः नित्यः।* इस अनित्यताको कई तरहसे समझो। अनित्य है—देश अनित्य है—माने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणकी कल्पनाका जो अधिष्ठान है, स्थान है, वह कैसे? देखो, यह पुस्तक हमारे उत्तर रखी हुई है और आपके दक्षिण है, परन्तु यदि हम यहाँसे उठकर आपके पास बैठ जायें, तो यह पुस्तक हमारे दक्षिण हो जायेगी। इसी प्रकार यदि हम इधर बायें बैठ जायें तो पूर्व हो जायेगी और दायें बैठ जायेगें तो पश्चिम हो जायेगी। तो यह जो स्थानकी कल्पना है, यह अनित्य है। यह पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणकी कल्पना स्थानमें कहीं नहीं है। देखो, इसी प्रकार काल अनित्य है—माने घण्टा, मिनट, सेकेण्ड जिसके अवयव हैं वह काल अनित्य है। इस समय अभी आठ बजनेमें पाँच मिनटकी देर है। अभी थोड़ी देरमें आठ बज जायेंगे, फिर सवा आठ बज जायेंगे। तो यह कालकी कल्पना बदलती है। पर जिस मैंने आठ बजनेमें पाँच मिनटकी देरी देखी, जिस मैंने आठ बजते देखा, वही मैं तो सवा आठ बजते देखूँगा न! इसलिए मैं नहीं बदलता। काल अनित्य है और मैं नित्य हूँ।

जिसे मैंने पूर्व देखा उसीने पश्चिम देखा, उसीने उत्तर देखा, उसीने दक्षिण देखा। दिशा सम्बन्धी कल्पनाएँ बदलती हैं। पर मैं नहीं बदलता। काल सम्बन्धी कल्पनाएँ बदलती हैं पर मैं नहीं बदलता। जिस मैंने स्त्रीको देखा उसीने पुरुषको देखा, जिस मैंने घड़ी देखी उसीने लाउडस्पीकर देखा और उसीने किताब देखी। तो ये विषय बदलते रहते हैं, पर मैं नहीं बदलता। विषय अलग-अलग हैं परन्तु देखनेवाला एक है।

अच्छा, एकको जवान देखा फिर उसीको बूढ़ा देखा। तो शरीर बदलता है। बोले—नहीं, हमको मालूम है, देखनेवाला नहीं बदलता है। बोले नहीं, हमको मालूम है, देखनेवाला भी बदल गया। कैसे? कि उस दिन उन्होंने उसको देखा था, आज दूसरा देख रहा है। बोले— उन देखनेवालोंको भी

तुम ही देखते हो। ईश्वर देख रहा है-यह भी तुम्हीं देख रहे हो। ज्ञान हमेशा आत्मपर्यवसायी होता है। ज्ञानके बारेमें यह नियम है कि जबतक उसके मूलमें तुम नहीं हो जाओगे तबतक न ईश्वरका ज्ञान होगा न जीवका ज्ञान होगा, न जगत्‌का ज्ञान होगा। और, जो जाने जायेंगे वे अनित्य होंगे और जो जाननेवाला है वह नित्य होगा!

अब एक तीसरी बात इसमें ले लो—दृश्य विकारी है, ज्ञाता निर्विकार है। **तत्क्षेत्रं अहं क्षेत्रं न भवति**। क्षेत्र तो क्षयिष्णु है—क्षरणशील है। कभी क्षिणोति है तो कभी त्रायते है। लेकिन अपना आपा निर्विकार है। क्षेत्र विकारी है, वह स्वयंमें बदलता है। जो चीज बदलती है उसका कोई स्वरूप नहीं होता है। विकारी वस्तु स्वरूपशून्य होती है। जो निर्विकार होता है उसीका स्वरूप होता है। आप इस दृष्टिसे कभी विचार करते हो तो करना।

तत्त्वं किम्? येन रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति।

जिसका जिस रूपमें निश्चय कर लिया गया वह अगर अपने रूपको नहीं छोड़ता है, उसीके रूपमें रहता है, तब उसको तत्त्व बोलते हैं। जैसे सोना कभी कड़ा बना कभी कुण्डल बना, कभी हार बना, पर सोना ज्यों-का-त्यों रहता है।

विकारमें आप देखो, क्या-क्या है? **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातश्चेतना धृतिः। एतद् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।** (१३.६)

कभी राग हुआ, कभी द्वेष हुआ, कभी जवान हो गया तो कभी बुड्ढा हो गया। इसीका नाम विकारी हुआ। देशमें विकारी होना माने अन्तर्देशमें कुछ और बर्हिदेशमें कुछ होना। कभी-कभी लोग मिठाई ले आते हैं, तो ऊपर चाँदीका वर्क लगा रहता है, परन्तु जब तोड़ते हैं तो भीतरसे दहिया लगा हुआ, सड़ी हुई निकलती है। इसका नाम विकार है। प्रकृति नहीं रही, विकृति हो गयी। तो जो वस्तु विकारी होती है वह स्वरूपशून्य होती है और जो निर्विकार होती है, उसीका सच्चा स्वरूप होता है। यह क्षेत्र विकारी है, बचपन गया, जवानी आयी, जवानी गयी बुढ़ापा आया, बुढ़ापा गया मौत आयी और मुर्दा सड़कर पंचभूत हो गया। ये संसारकी वस्तुएँ विकारी हैं। पंचभूत भी सड़ता है, वह भी विकारी है। तो जिसमें आकारका आरोप होता है और बदल जाता है, आकार आता है और जाता है, जाता है और आता है, तो जिसमें आकार सचमुच बनता और बिगड़ता है, वह वस्तु विकारी

होती है। और बनते-बिगड़ते आकारोंका जो साक्षी होता है वह निर्विकार होता है।

तो तीन बात अबतक आयी, एक तो विषय जड़ है। दूसरे वह अनित्य है। तीसरे वह विकारी है। अब चौथी बात देखो!

क्षेत्रं मिथ्या दृश्यत्वात् पराश्रितत्वात्।

क्षेत्र मिथ्या है क्योंकि उसकी स्वतः सत्ता नहीं है, उसकी सिद्धि दूसरेसे होती है। और दृश्यत्वात्—दृश्य होनेके कारण।

क्या आश्चर्य है, कि यहाँ पुस्तक हैं—यह कैसे मालूम? कि हम देख रहे हैं। दृश्य होनेसे यह पुस्तक सच्ची है—यह लौकिक-संसारी बात हुई। परन्तु हमारी वृत्ति हो तब तो यह पुस्तक दिखे, और वृत्ति न हो तो न दिखे; हम हों तो दिखे और हम न हों तो यह न दिखे; तो यह तो नेत्रके पराधीन है, वृत्तिके पराधीन है, मैंके पराधीन है, दृष्टिके अधीन है। जिस वस्तुकी उपस्थिति और अनुपस्थिति दृष्टिके अधीन होती है वह मिथ्या होती है। जो वस्तु अनित्य होती है वह तत्त्व नहीं होती, जो वस्तु विकारी होती है, उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए ***यद् दृश्यं यदनित्यं यद्विकारि तन्मिथ्या***-यह दृश्य है, अनित्य है, विकारी है, अतएव भासमान होनेपर भी मिथ्या है। और भासक आत्मा सत्य है।

मिथ्या माने वह नहीं जो कभी दिखता ही नहीं, जैसे बन्ध्यापुत्रको कभी किसीने नहीं देखा,तो बन्ध्यापुत्र मिथ्या—इस अर्थमें वेदान्तमें मिथ्या शब्दका प्रयोग नहीं है। हम जिस मतलबसे मिथ्या शब्द प्रयोग करते हैं, उसको समझनेकी कोशिश करनी चाहिए।

मिथ्या माने मिथ:सिद्ध और मिथ: माने परस्पर। स्त्री-पुरुषके संयोगसे सिद्ध सुख मिथ्या है, क्योंकि वह न अकेली स्त्रीमें है, न वह अकेले पुरुषमें है। वह तो दोके योगसे बना है। साइन्सदाँ लोग भी जलको इसी अर्थमें मिथ्या मानते हैं, तत्त्व नहीं मानते। जब दो गैसें—आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलती हैं तो पानी पैदा हो जाता है। चूँकि दो चीजके मिलनेसे पानी पैदा होता है; इसलिए पानीको तत्त्व नहीं मानते। इसी प्रकार दृश्य और द्रष्टाके संयोगसे जो वस्तु उत्पन्न होती है वह मिथ्या है। संसार मिथ्या है। आवागमन मिथ्या है, स्वर्ग-नर्क मिथ्या है। कर्तापन-भोक्तापन मिथ्या है। आत्माकी

परिच्छिन्नता मिथ्या है, क्योंकि यह दृश्य और द्रष्टाके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। हम मिथ्या उसको नहीं कहते जो भासता नहीं।

जैसे जलसे प्यास भी बुझती है, स्नान भी होता है, जल तालाबमें रहता भी है, बादलसे बरसता भी है, परन्तु वैज्ञानिक भाषामें जल तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार यह प्रपंच वेदान्तियोंको भी दिखता है, वे भी भूख लगनेपर रोटी खाते हैं, प्यास लगनेपर पानी पीते हैं, उनके भी घर-गृहस्थी होती है, उनके भी बच्चा-कच्चा होता है, उनके भी कुर्सी और धरती होती है, परन्तु यह सब तत्त्व नहीं हैं। तत्त्व क्या है? न बदलनेवाला बिना किसी संयोगके ही सिद्ध, स्वतः सिद्ध, जो आत्मा है उसका नाम तत्त्व है।

मिथ्या शब्द समझनेके लिए और उदाहरण दे देते हैं, जैसे बोले—भाई, आज पण्डित यज्ञदत शर्मा मिले थे, लेकिन वे ब्राह्मण होकर भी मिथ्या भाषण करते हैं। माने उनका भाषण—बोलना तो था, परन्तु उनकी बोलीमें जिस अर्थका प्रतिपादन था वह सत्य नहीं है। भाषण है पर उसका अर्थ मिथ्या है। इस अर्थमें मिथ्या बोलते हैं कि नहीं? तो यह जो प्रपंच है, मिथ्या प्रपंच है। मिथ्या प्रपंचका अर्थ होता है कि प्रपंच दिखता तो है, लेकिन उस चेतनमें दिखता है जिसमें प्रपंच है नहीं, उस अधिष्ठानमें दिखता है जिसमें प्रपंच नहीं है। यह काल उसमें दिखता है जिसमें काल नहीं है। यह देश उसमें दिखता है जिसमें देश नहीं है। यह वस्तु उसमें दिखती है जिसमें वस्तु नहीं है। तो मिथ्या होनेमें दीखनेका विरोध नहीं है, स्वरूपतः उसके सत्य होनेका विरोध है। तो यह प्रपंच मिथ्या है—दृश्य होनेके कारण, अनित्य होनेके कारण, प्रागभाव-प्रध्वंसाभावसे ग्रस्त होनेके कारण, अधिष्ठानमें न होनेके कारण माने अत्यन्ताभाव होनेके कारण जो आत्मा है सो दृश्य नहीं है, जो दृश्य है सो आत्मा नहीं है। इस अन्योन्याभावसे ग्रस्त होनेके कारण देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे युक्त होनेके कारण।

एकबात और ध्यानमें रखनेकी है कि मिथ्या जो वस्तु है वह स्वरूपतः कुछ नहीं होती। जिस अधिष्ठानमें जिस प्रकाशकमें मिथ्या वस्तु मालूम पड़ती है उससे जुदा वह नहीं होती हैं।

यस्मिन् यदध्यस्तं तस्मिन् तत् स्वाधिष्ठानात्
पृथङ् न भवति स्वाधिष्ठानातिरिक्तेन न भवति।

जो जिसमें अध्यस्त होता है, वह अपने अधिष्ठानसे जुदा नहीं होता है। जैसे मिथ्या भाषण वाङ्मात्र है, अर्थ नहीं है—केवल शब्द है अर्थ नहीं है, और वह शब्द वाणीसे व्यतिरिक्त नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें प्रपंच ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। जिस देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वितीय, प्रत्यक्, चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें यह विषयरूप अनित्य, विकारी और मिथ्या प्रपंच जिस क्षेत्रज्ञसे सिद्ध हो रहा है, उस क्षेत्रज्ञके अतिरिक्त यह प्रपंच नहीं है।

तब फिर यह प्रपंच क्या हुआ? बोले कि **अभिधीयते**—प्रपंचका केवल अभिधान ही होता है। अभिधीयतेका अर्थ श्रुत्यारूढ़ करलो—वेदमन्त्रके साथ इसको जोड़ दो। ***वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*** (छांदो. ६.१.४)—यह जो हम भिन्न पदार्थोंका वर्णन करते हैं वह केवल जबानी जमा-खर्च है-वाचारम्भण है, यह नाममात्र है—**अभिधीयते**। **अभिधान मात्रं क्षेत्रं अभिधीयते इति**। यह क्षेत्र केवल नाममात्र है। यह वस्तु नहीं है। जैसे ठूँठमें चोर नाममात्र है, जैसे रज्जुमें सर्प नाममात्र है, जैसे अनन्तमें पूर्व-पश्चिम नाममात्र है—जैसे अनन्तमें आज कल नाममात्र है। वैसे 'मैं'-'तुम'का भेद भी यह और मैं का भेद भी अनन्तमें नाममात्र ही है।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

एतद्-इदं वेत्ति, एतद् शरीरं वेत्ति, एतद् क्षेत्रम् वेत्ति, एतद् अभिधानं वेत्ति—इन चारोंसे विलक्षण जो अपने आपको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। *वेद्यात् वेदिता पृथक् भवति।* वेद्यसे-ज्ञानके विषयसे जो ज्ञाता है वह अलग होता है। इसके लिए अभिधीयते नहीं बोलते—यह नामका विषय नहीं है। यह नामका कर्म नहीं है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन. २.३)

जैसे हाथका कर्म घड़ीको पकड़ना और उठाना, इसलिए यह हाथका कर्म होगया वैसे यह मतिका जो साक्षी आत्मा है वह मतिके द्वारा पकड़ा नहीं जाता, इसलिए वह मतिका कर्म नहीं है। मतिके तुम द्रष्टा हो।

जिन्दगीभर लोग दुःखी रहते हैं। वेदान्तका स्वाध्याय करते हुए भी, उनको भोग न मिलनेका दुःख नहीं है, उनको कर्म न करनेका दुःख नहीं है, उनको स्वर्ग न जानेका दुःख नहीं है, लेकिन उनको यह दुःख है कि हाय-हाय अबतक आत्मा हमारी बुद्धिका विषय नहीं हुआ। आत्माको मतिका

कर्म बनानेकी जो इच्छा है वह अज्ञानमूलक है। अरे तू स्वयं है भाई, तू किसको अपनी बुद्धिका विषय बनाना चाहता है? कि नहीं जी, हम अपनी बुद्धिका विषय तो नहीं बनाना चाहते, हम तो जैसे सुषुप्तिको देखते हैं स्वयं; बुद्धिसे सुषुप्ति नहीं देखी जाती :— सुषुप्ति साक्षी भास्य है- वैसे हम आत्मा-परमात्माको देखना चाहते हैं। बोले- अरे तू देखने वाला कौन है? यह तो तूने बिलकुल उलट ही दी बात। जो देखनेवाला है उसीका नाम क्षेत्रज्ञ है।

उसका नाम क्षेत्रज्ञ आखिर किसने रखा? **एतद् यो वेत्ति तं प्राहु : क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः-तौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति इति तद्विदः।** जो ब्रह्मरूप महात्मा हैं। जीव, ईश्वर और जगत्-तीनों जिनके ज्ञानका ही कल्पित आकार है, उन्होंने यह क्षेत्रज्ञ नाम रखा है।

हम आपको सुनावेंगे क्षेत्रज्ञके तीन शरीर हैं-**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**—यह एक शरीर है क्षेत्रज्ञका। और **इन्द्रियाणि दशैकं च पचेन्द्रियगोचराः**—यह दूसरा शरीर है क्षेत्रज्ञका और **इच्छा द्वेषं सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः**— यह तीसरा मनः कल्पित शरीर है क्षेत्रज्ञका।

एक कारणरूप शरीर है- **महभूतान्यहंकारो** इत्यादि; एक कारणसे उत्पन्न करणरूप शरीर है- **इन्द्रियाणि दशैकं च** इत्यादि; और कार्यरूप शरीर है-**इच्छाद्वेषः इत्यादि।**

यह क्षेत्रज्ञ कहाँ फँसा है? कार्य रूप शरीरमें फँसा कि करण रूपमें कि कारण रूपमें फँसा? तो समष्टि देह, व्यष्टि देहके भेदसे चिदाभासके साथ तीनों शरीर जुड़ते हैं और जो नित्य- शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है उनका इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तो—**एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।**

इस प्रकार देह और आत्माका स्वरूप क्या है? देहका याथात्म्य क्या है? और देहसे अतिरिक्त आत्माका साक्षात् स्वरूप क्या है? और उपाधिका परित्याग कर देनेपर आत्मा और ब्रह्मकी एकता कैसी है? यह बात बतानेके लिए यह अध्याय प्रारम्भ होता है।

क्षेत्रज्ञकी ब्रह्मरूपता

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

आपको शुरू-शुरूमें ही बताया कि भगवान्‌का वचन व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेषके लिए नहीं होता, भगवान् तो तत्त्व ही बोलते हैं और सबके लिए बोलते हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार लोग उसका अर्थ समझ लेते हैं। अब आओ प्रारम्भ करते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

अर्थ :—हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझको ही जान, मेरे मतमें जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, बस वही ज्ञान है।

पहले कौन्तेय शब्दका जैसे दो अभिप्राय बताया था उसी प्रकार यहाँ 'भारत' सम्बोधनका अर्थ है। कौन्तेयका एक अर्थ था स्व-सम्बन्धी कुन्ती-

पुत्र; दूसरा था—अकुण्ठा बुद्धि अथवा विकुण्ठा बुद्धि, कुण्ठारहित बुद्धि—जिसकी बुद्धि कहीं भी प्रवेश करनेमें कुण्ठित न हो। जब आदमी कह दे कि हम यह समझकर क्या करेंगे? तो समझना कि वह समझदारीसे परहेज करता है। और यह नासमझका लक्षण है।

एक सज्जनको एक दिन मैं सुना रहा था कि मैं द्रष्टा हूँ—इतना तो बिना वेदान्त बोधके हो सकता है—सांख्यसे हो सकता है, योगसे हो सकता है विवेकसे हो सकता है, युक्तिसे हो सकता है—लेकिन मैं ब्रह्म हूँ, अद्वितीय हूँ, मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है—यह ज्ञान बिना वेदान्तके नहीं हो सकता। तो वे बोले कि देखो स्वामीजी, जब मैं द्रष्टा हूँ—इस ज्ञानसे हमारा दुःख मिट गया, बन्धन मिट गया, देहका सम्बन्ध मिट गया तो अब हम ब्रह्मके बारेमें अपनी बुद्धि क्यों लड़ावें? तो यह ब्रह्मके बारेमें बुद्धि लड़ानेमें जो संकोच है, वह बुद्धिकी क्षीणताका ही सूचक है, क्योंकि तुम्हारे द्रष्टा होनेपर भी जो तुम एकबार बद्ध हो गये, द्रष्टा होनेपर भी देहके धर्मको अपने ऊपर आरोपित कर लिया तो असलमें समाधिकालमें तुम द्रष्टा रहोगे और विक्षेपकालमें विक्षेपसे तादात्म्यापन्न रहोगे; विक्षेप भी ब्रह्म है, यह बात तुम्हारी समझमें कभी आवेगी ही नहीं। विक्षेप भी ब्रह्म है, बन्धन भी ब्रह्म है, नर्क-स्वर्ग भी ब्रह्म है, बन्धन और मोक्ष, धर्म और अधर्म, राग और द्वेष, सुख और दुःख सब अद्वितीय ब्रह्ममें कल्पना-मात्र है—यह बात समझमें नहीं आवेगी। तुम अपनेको द्रष्टा-द्रष्टा करते रहोगे, परन्तु अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी। यह तो ऐसा ही है जैसे बाहर आकर डाकू खड़े हो गये और किसीने अपनी किवाड़ी बन्द की और जाकर कमरेमें बैठ गया और बोले कि हम डाकुओंसे बच गये। अरे आज बच गये भाई, तो क्या कल भी बचोगे? कल बचनेके लिए डाकुओंको पकड़वाना, मारना, भगाना कुछ जरूरी है कि नहीं है? तो यदि द्वैत बना रहेगा, तो तुम थोड़ी देरके लिए आज भले द्रष्टा हो जाओ, अपनेको द्रष्टा समझलो, जबतक अपनेको ब्रह्म नहीं समझोगे, तबतक तुम्हारा दुःख दूर होनेवाला नहीं है; और उस ब्रह्मको समझनेका जो उपाय है, उसीका नाम वेदान्त है। और अपनेको द्रष्टा समझनेका जो उपाय है उसका नाम योग है, सांख्य है, विवेक है, युक्ति है।

तो कौन्तेय शब्दका अर्थ बोल रहे थे कि विकुंठा बुद्धि चाहिए। ज्ञानसे

परहेज मत करो कि हमको यह जाननेकी जरूरत नहीं है और अपनेको ज्ञानी मानकर मत बैठ जाओ कि हम सब समझ गये।

अब इस श्लोकमें भी 'भारत' शब्द है। तो भारत शब्दके भी दो अर्थ हैं—(१) भरत वंशी और (२) 'भा' अर्थात् प्रतिभामें रत।

भरतवंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है, तो हे अर्जुन! तुम बहादुर हो। जैसे भरतवंशमें उत्पन्न हुआ पुरुष अपने शत्रुको मारता है उसी प्रकार तुम्हें अब अज्ञानरूप शत्रुको मारना है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ (४.४२)

भरतवंशमें तुम पैदा हुए हो। तुमने हाथमें लोहेकी तलवार लेकर अपने दुश्मनोंपर बहुत चलायी, अब अरे, भारत! उठाओ ज्ञानकी तलवार और ये तुम्हारे दिलमें जो संशयका कारणभूत शत्रु है, इसको काट दो। तुम्हारे पूर्वपुरुष भरतने तो पाँच बरसकी उम्रमें शेरका गला पकड़ लिया था, उसी वंशमें तुम पैदा हुए हो, तो इस अज्ञानको मारो।

दूसरा अर्थ है भारतका—भा माने प्रतिभा और रत माने उसमें रमनेवाले। 'भा' माने अद्वैतात्मबोधके लिए जिस प्रतिभाकी अपेक्षा है उस प्रतिभामें हे अर्जुन! तुम रमण करनेवाले हो अतः तुम भारत हो।

तो अर्जुन! अब एक विशेष प्रतिभाकी वस्तु तुमको लखाता हूँ। एक क्षेत्रज्ञ तो वह है जो सब क्षेत्रोंमें अलग-अलग मालूम पड़ता है—जो एक शरीरके जन्मसे अपना जन्म, एक शरीरकी मृत्युसे अपनी मृत्यु, एक शरीरके अन्तःकरणसे अपनेको अन्तःकरणी, एक शरीरकी प्रवृत्तिसे अपनेको प्रवृत्त मानता है—यह क्षेत्रज्ञ इसी क्षेत्रमें आबद्ध है। जो क्षेत्रीय लोग होते हैं उनमें कोई तो मोहल्लेके सरपंच होकर ही बहुत खुश होते हैं, कोई सारे नगरके चेयरमैन बनना चाहते हैं, कोई प्रान्तीय कमेटीके अध्यक्ष होना चाहते हैं। ये सब क्षेत्रीय नेता हैं। पर एक नेता ऐसा होता है जो समस्त क्षेत्रोंका नेता होता है—**सर्वक्षेत्रेषु**।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

भगवान् कहते हैं कि सब क्षेत्रोंमें जो अलग-अलग क्षेत्रज्ञ मालूम पड़ते हैं वे असलमें अलग-अलग क्षेत्रज्ञ नहीं हैं, मैं ही वह क्षेत्रज्ञ हूँ। जो

अलग-अलग क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें अलग-अलग भासता हूँ, असलमें मैं एक ही हूँ। इस बातको हम शुरूसे ही फिर समझाते हैं।

आपको सुनाया था कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परस्पर विलक्षण हैं, माने जैसा क्षेत्र है वैसा क्षेत्रज्ञ नहीं है। क्षेत्रका लक्षण कोई दूसरा है और क्षेत्रज्ञका लक्षण कुछ और है। वस्तु एक होने पर भी यदि आकृति भिन्न-भिन्न होवे तो उसके लक्षण भी न्यारे-न्यारे होते हैं। जैसे एक सोनासे कंगन, हार, कुंडल बना दिये जायें, तो वह तत्त्व दृष्टिसे, सोना रहनेपर भी लक्षणकी दृष्टिसे कार्यकी दृष्टिसे, उपयोगकी दृष्टिसे अलग-अलग होते हैं। जैसे एक ही मिट्टीसे घड़ा बनेगा तो उसका लक्षण दूसरा है, सकोरा बनेगा तो उसका लक्षण दूसरा है। एक ही सोनेके पत्तरमें एक स्त्री, एक पुरुष, एक पेड़ बने और एक उस पर चमकता हुआ हीरा बना दें, तो यही बताना पड़ेगा जो चमकता हुआ है सो हीरा है। अमुक चिह्नवाला जिसमें फूल हैं, पत्ते हैं-वह पेड़ है, अमुक चिह्नसे युक्त स्त्री है, अमुक चिह्नसे युक्त पुरुष है। तत्त्व दृष्टिसे सब सोना होनेपर भी जो उसमें आकृतियाँ दिखती हैं, उन आकृतियोंके लक्षण न्यारे-न्यारे होते हैं। तो जहाँ किसी भी वस्तुको परस्पर विलक्षण कहा जाये कि औरतसे मर्द न्यारा है, मर्दसे औरत न्यारी है, पेड़-पौधेसे प्राणी न्यारे हैं और प्राणीसे पेड़-पौधे न्यारे हैं, कंगनसे हार न्यारा है, हारसे न्यारा कंगन है, तो यह भेद-निरूपण करनेपर भी धातुमें भेद हो गया—यह बात नहीं सिद्ध होती। विलक्षण शब्दका अर्थ भिन्न नहीं होता। हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि लक्षणका भेद होनेसे तात्त्विक भेद नहीं होता। वह तो आकृतिका पार्थक्य बतानेके लिए लक्षण अलग-अलग बोले जाते हैं।

तो अब देखो, एक क्षेत्रका लक्षण बताया और एक क्षेत्रज्ञका लक्षण बताया। (१) इदं—'यह' जो कहा जा सके उसका नाम क्षेत्र और जिसको 'इदं' कभी न बोल सकें—अनिदम् हो, उसका नाम क्षेत्रज्ञ। (२) शरीरका नाम क्षेत्र और अशरीरका नाम क्षेत्रज्ञ। (३) जो क्षयिष्णु है, कर्मके बीजका जिससे सम्बन्ध है, कर्म और भोगका जिससे सम्बन्ध है वह क्षेत्र और जिसका कर्म और भोगसे सम्बन्ध नहीं है वह क्षेत्रज्ञ। (४) जिसका नाम रखा जाता है वह क्षेत्र और जिसका नाम नहीं रखा जा सकता वह क्षेत्रज्ञ।

इदं शरीरं क्षेत्रं अभिधीयते और **एतद् यो वेत्ति—यो इदं प्रत्ययास्पदं**

वेत्ति, यः शरीरं वेत्ति, यः क्षेत्रं वेत्ति, यश्च अभिधीतं वेत्ति—जो इदंको जानता है, जो मरणधर्मा शरीरको जानता है जो कर्म और कर्मफलके सम्बन्धीको जानता है और जिसका नाम रखा जाता है उसको जानता है, इस जाननेवालेका नाम क्षेत्रज्ञ है। उसको 'क्षेत्रज्ञ इति अभिधीयते' नहीं कहा, उसको प्राहुः कहा, माने महात्मा लोग अज्ञानकी निवृत्तिके लिए उसका प्रवचन करते हैं। प्राहुः माने प्रवचन। आहुःके पहले 'प्र' जुड़ जानेसे वह प्रवचन हो गया। किसने किया? बोले- **तद्विदः** जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके रहस्यको जानते हैं उन्होंने।

बस; अब तो ज्ञान पूरा हो गया न? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको जान लिया, तो ज्ञान पूरा! बोले—एक दृश्य होता है और मैं द्रष्टा हूँ, तो कर्मका तो मैं कर्त्ता नहीं हूँ; इसलिए पापी-पुण्यात्मा नहीं; और भोगका मैं भोक्ता नहीं हूँ, इसलिए सुखी-दुःखी नहीं; और जो कर्म और भोगके लिए लोक-लोकान्तरमें जाता-आता है उसका भी मैं द्रष्टा हूँ, तो मैं जीव नहीं; मैं तो द्रष्टा हूँ। लो हो गया न ज्ञान? बोले—कि नहीं, इतनेका ही नाम ज्ञान नहीं है, ज्ञानके लिए और भी जानना चाहिए। यही बात भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य यों बोलते हैं—

किम् एतावन्मात्रेण ज्ञानेन ज्ञातव्यौ इति न इति उच्यते।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अलग-अलग ज्ञान हो गया- इतने मात्रसे ज्ञान नहीं होगा और भी जानना जरूरी है। क्या जानना जरूरी है? यही दूसरे श्लोकका विषय है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि। पूर्वं क्षेत्रं विद्धि ततः क्षेत्रज्ञं आत्मानं विद्धि। ततः क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि। क्षेत्रको जानो, फिर क्षेत्रज्ञको—आत्माको जानो और फिर क्षेत्रज्ञको, मुझे जानो, मेरा स्वरूप जानो। यह तीसरी कक्षा अब आयी। पहले श्लोकमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ बताया गया था, पर क्षेत्रज्ञको मेरा स्वरूप समझो- यह बात नहीं कही गयी थी। इसलिए यह बात अब कही गयी—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।**

प्रश्न यह है—जड़ किसे कहते हैं और चेतन किसे कहते हैं?

रामानुज सम्प्रदायमें क्षेत्रको जड़ नहीं अचित् बोलते हैं, क्षेत्रज्ञ जीवात्माको चित् बोलते हैं और परमात्माको बोलते हैं **चिदचिद्विशिष्ट**। यह उनकी

भाषा है। दृश्य जड़ जगत्‌को भी जड़ न कहकर अचित् कहना बड़ी बुद्धिमानी है। अचित है माने जगत् जो हमें ज्ञानस्वरूप नहीं मालूम पड़ता, जिसको जाननेके लिए हमारी जरूरत पड़ती है, हम न जानें तो जाना ही न जाये।

हमारे एक मित्र थे— भौतिकवादके बड़े जानकार-वे कहते थे कि जिसमें इन्द्रियाँ काम करती हैं उसको तो चेतन बोलते हैं और जिसमें इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं उसे जड़ बोलते हैं। सेन्द्रिय व्यक्तिको चेतन बोलते हैं और निरिन्द्रिय व्यक्तिको जड़ बोलते हैं। जैसे पत्थरका टुकड़ा न देखे, न सुने न सूँघे, न चखे, न छूये, अतः वह जड़ है।

इसको हमलोग दूसरे ढंगसे बोलते हैं- जिसके लिए इन्द्रियाँ काम करती हैं, जो इन्द्रियोंके काम करने और काम न करने दोनोंको जानता है, उसको चेतन कहते हैं और जो जाना जाता है, दृश्य है, उसको जड़ बोलते हैं। हमारे यहाँ सेन्द्रियका नाम चेतन और निरिन्द्रियका नाम जड़ नहीं है। हमारे यहाँ द्रष्टा-जाननेवाला- ज्ञाताका नाम चेतन है और दृश्य जो जाना जाये उसे जड़ बोलते हैं। तो इन्द्रियोंका क्रियाशील होना, न होना, इन दोनोंको जो जानता है उसका नाम चेतन है। केवल इन्द्रियोंके प्रयोगकी दशाका नाम ही चेतन नहीं है, इन्द्रियोंके अप्रयोगकी दशाको भी चेतन ही जानता है।

देखो, यह फर्क पड़ा। जो केवल सेन्द्रिय अवस्थाको चेतन और निरिन्द्रिय अवस्थाको जड़ मानते हैं, वे असलमें सेन्द्रिय जड़की ही, एक अवस्थाको चेतन मानते हैं। असलमें जो निरिन्द्रिय दशामें रहकर निरिन्द्रयको भी जानता है, उसको चेतन कहते हैं। यह नयी बात आयी। हमारे यहाँ जड़ और चेतनकी परिभाषा सेन्द्रिय होना और निरिन्द्रिय होना नहीं है, बल्कि दृश्य होना और द्रष्टा होना है। इसलिए निरिन्द्रिय दशामें भी चेतन है जिसने निरिन्द्रियको जाना, सुषुप्तिको जाना, बेहोशीको जाना, समाधिको जाना, मूर्च्छाको जाना। निरिन्द्रिय दशामें भी चेतन वस्तु है। वह कौन जानता है? कि ऐसे कल्पना मत करो कि वह दूसरा है और वह जानता है। दूसरा कोई है और वह जानता है- इस बातको भी हम ही जानते हैं। ज्ञानकी सिद्धि मैंसे अतिरिक्तके बारेमें नहीं हो सकती। ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह हमारी प्रत्यक्‌ताको छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। ईश्वर है- इसको कौन जानता है? कि मैं। जगत् है- इसको कौन जानता है? कि मैं। जगत्‌के

होनेका साक्षी कौन है ? कि मैं। ईश्वरके होनेका साक्षी कौन है ? कि मैं। तो यदि चेतनका पता लगाना होगा, तो मैंकी सूक्ष्म दशाको समझना जरूरी होगा कि मैं क्या है ?

अब देखो कि जितना जाना जाता है सो क्षेत्र है और जो जानता है उसका नाम क्षेत्रज्ञ है। यह जाननेवाला कितना बड़ा है ?

जैसे राजाका बेटा राजकुमार कंगालोंके साथ रहनेके कारण अपनेको कंगाल मानने लगा था उसी प्रकार यह चेतन क्षेत्रज्ञ चिद् ब्रह्म है परन्तु इन्द्रियों—मन आदिके संगदोषसे अपनेको अणु क्षुद्र मानने लगा है। हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध मानकर अपनेको भूलसे कर्ता मानता है। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध मानकर अपनेको भोक्ता मानता है। असलमें, ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे अपनेमें भोक्तापन भास रहा है; कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे अपनेमें कर्तापन भास रहा है और द्रव्यकी उपाधिसे—यह जो पंचभूतोंसे बना हुआ हड्डी-मांस-चामका एक पुतला है, इसके सम्बन्धसे-अपनेमें कालापना, गोरापना भास रहा है। तो क्षेत्रज्ञने अपनेको क्षेत्रके साथ मिला दिया है, इसलिए क्षेत्रज्ञका अहं क्षेत्रके साथ मिल गया है। और क्षेत्रका कर्म, क्षेत्रका धर्म, क्षेत्रका भोग, क्षेत्रका स्वभाव, क्षेत्रकी अवस्था, क्षेत्रकी जड़ता, क्षेत्रकी परिच्छिन्नता, क्षेत्रमें जितने उपद्रव हैं वे सब क्षेत्रज्ञके साथ मिल गये हैं। और यह अन्योन्याध्यास, परस्पराध्यास करके क्षेत्रज्ञके धर्मको क्षेत्रमें-क्षेत्रज्ञका अहंपना क्षेत्रमें—और क्षेत्रकी परिच्छिन्नता आदिको अपने आपमें आरोपित करके उसके कर्म-धर्मको अपने आपमें समझ करके- हम आकुल-व्याकुल संसारमें भटक रहे हैं।

क्षेत्र मरता है और पैदा होता है, मैं न पैदा होता हूँ, और न मरता हूँ। क्षेत्र माने शरीर। शरीर जन्मता है और मरता है; यह कभी काम करता है और कभी नहीं करता है; परन्तु मैं काम नहीं करता हूँ; यह भोगता है और मैं नहीं भोगता हूँ। इसके साथ मिल जाता हूँ, तभी इसके कर्मको और भोगको अपने ऊपर ले लेता हूँ। यह सोता है तो मैं अपनेको सोता मानता हूँ। यह जागता है तो मैं अपनेको जागता-मानता हूँ।

श्रीमद्भागवतके चौथे स्कन्धमें पुरञ्जनोपाख्यानमें वर्णन है कि जब उसकी पत्नी खाती तब पुरञ्जन मानता कि मैं खा रहा हूँ। जब वह चलती तो

वह सोचता कि मैं चल रहा हूँ। जब वह बोलती तब वह भी बोलता। पत्नीका खाना, पत्नीका बोलना, पत्नीका हँसना, पत्नीका रोना पुरञ्जनने सब अपने ऊपर आरोपित कर लिया था। इसी प्रकार यह क्षेत्रका सारा धर्म क्षेत्रज्ञने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है।

अब फिर प्रश्न यह हुआ कि जितने शरीर क्या उतने क्षेत्रज्ञ? एक-एक शरीरमें एक-एक मैं? हे भगवान्! यह जो आपका मैं है यह बड़ा विशाल है। भगवान् यही बात बता रहे हैं। प्रश्न यह है कि आप एक शरीरमें बैठकर एक शरीरके द्रष्टा हो या विभु होकर एक शरीरके द्रष्टा हो? इसका उत्तर यही है कि आप विभु होकर ही एक शरीरके द्रष्टा हो! **शंका**— यदि हम विभु होते तो एक साथ सब अन्तःकरणोंके साथ सम्बन्ध होता—एक जाग रहा है, एक सो रहा है, एक रो रहा है, एक हँस रहा है- लेकिन ऐसा तो नहीं होता! एक ही अन्तःकरणकी अवस्थाके साथ सम्बन्ध होता है, अतः द्रष्टा विभु नहीं है। **समाधान**—देखो हम, एक ही शरीरमें जब कानके साथ एक होते हैं तब सुनते हैं; जब जीभके साथ एक होते हैं, तब चखते हैं, नाकके साथ एक होते हैं तब सूँघते हैं- सब एक साथ नहीं कर सकते कि एक साथ ही सूँघ लें, चख लें, देख लें, छू लें, सुन लें। यद्यपि हम सारे शरीरमें व्यापक हैं, परन्तु शरीरमें ही इन्द्रिय-गोलकके भेदसे विषयका ग्रहण होता है, तद्-तद् गोलकके साथ सम्बन्ध होनेपर ही तद्-तद् गोलकके विषयका ग्रहण होता है। इसी प्रकार यह विभु जो आत्मा है, उसके लिए एक-एक देह अन्तःकरण एक-एक गोलक हैं। अतः विभु आत्मा एक कालमें एक ही अन्तःकरणका द्रष्टा होता हुआ मालूम पड़ता है।

बोले—ऐसी विभुता तो बिलकुल व्यर्थ है, उसकी क्या जरूरत है? भगवान् बड़ी विलक्षण बात समझा रहे हैं— **सर्वक्षेत्रेषु**। जैसे कई खेतोंका मालिक एक किसान होता है या एक-एक किसानके कई खेत होते हैं; जैसे एक-एक सेठके कई-कई फ्लैट होते हैं, कई-कई मकान होते हैं; उसी प्रकार क्षेत्र तो बहुत सारे हैं परन्तु उसमें क्षेत्रज्ञ एक ही है।

यदि आप विचार करके देखोगे तो वह क्षेत्रज्ञ, सब शरीरोंमें रहनेवाली बुद्धियोंसे न्यारा है और सुषुप्तियोंसे भी न्यारा है। केवल दो बातपर अगर ध्यान देवें कि हर शरीरमें अलग-अलग बुद्धि है, परन्तु बुद्धि न मैं और न

मेरी और सुषुप्ति भी न मैं न मेरी। क्यों? तो बोले- सुषुप्ति तो कभी आती है, मेहमानकी तरह चौबीस घण्टेमें एक बार, दो बार, तीन बार और चली जाती है और बुद्धि भी हमेशा नहीं रहती है। यह बुद्धि कभी साथ रहती है, कभी साथ छोड़ जाती है, कभी ठीक काम करती है कभी गलत काम करती है। जीवन्मुक्तकी बुद्धि भी ऐसा ही करती है और अज्ञानीकी भी। क्योंकि तत्त्वज्ञान बुद्धिमें नहीं रहता वह तो संस्कारयुक्त बुद्धिको प्रकाशता है। बुद्धिका काम बाहरके विषयोंसे अनुभव—ज्ञान इकट्ठा करना है और उस अनुभवको पुनः मन-इन्द्रियोंके स्तरपर फेंककर काम लेना है। अर्थात् उन ज्ञानोंको क्रियाशील करनेका काम करती है ठीक वैसे ही जैसे एक डाक्टर पहले ओषधिके गुण-दोष और मरीजके शरीरके गुण-दोषका विवेक करके, फिर इसका क्या इलाज है—यह सोचता है। और अपने अनुभवसे उनको फायदा देता है। परन्तु ये जो आत्मदेव हैं, वे बाहरके विषयोंसे न अनुभव प्राप्त करते हैं और न तो अनुभवसे उनको लाभ ही पहुँचाते हैं। वे तो ज्यों-के-त्यों स्वयं-प्रकाश रहते हैं। प्रकाश देना-मात्र, प्रकाश फेंकना-मात्र उनका काम है—और ऐसा भी अपेक्षासे ही कहा जाता है। स्वयं प्रकाश होना-मात्र उनका स्वरूप है—अर्थात् जहाँ अस्ति (होना) और भाति (प्रकाश)में भेद नहीं है, ऐसा स्वरूप आत्माका है। तो संसारके विषयोंसे अनुभव लेना और देना—यह बुद्धिका काम है और आत्मदेव देने-लेनेका काम नहीं करते। ग्रहण-शीलता बुद्धिमें अन्तःकरणमें है और त्यागशीलता, दानशीलता अन्तःकरणमें है और स्वयं प्रकाश जो आत्मतत्त्व है, वह न ग्रहणशील है और न त्यागशील है। यह ऐसा काँच है जिसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और जो अपना प्रतिबिम्ब कहीं फेंकता नहीं। यह काँच नहीं है यह स्वयं प्रकाश है। सूर्य प्रतिबिम्ब नहीं लेता, प्रकाश फेंकता है।

अब देखो, इस क्षेत्रज्ञके द्रष्टाके सामने बुद्धि कई बार आती है और चली जाती है, कई बार ठीक काम करती है और कई बार ठीक काम नहीं करती, क्यों? बुद्धि तो वासनासे संक्रान्त रहती है, बुद्धिमें तो वासना मिली हुई है। इसीलिए जब कोई लोग कहते हैं कि उनको ईश्वरने यह बात बतायी, तो उनसे पूछो कि ईश्वरने तुमको ही क्यों बतायी, सबको क्यों नहीं बतायी? बोले-अरे, हम ईश्वरके खास रिश्तेदार हैं, इसलिए ईश्वर हमको बता गया!

तो यह अपने खासपनेका जो तुमको अहंकार है तुम्हारे उसी खासपनेके अहंकारको ही ईश्वर बतायेगा जब बतावेगा। इसलिए उपनिषद्में इल्हामको—ईश्वरकी प्रेरणाको खास बात नहीं माना जाता है। जिसकी बुद्धिमें जैसी वासना होगी, वैसा ही इल्हाम होगा। लाल वासना होगी तो ईश्वरका आदेश भी लाल होगा, सफेद वासना होगी तो ईश्वरका आदेश भी सफेद होगा। चोरको भी ईश्वरकी प्रेरणा मिलती है कि आज चोरी मत करो बेटा, पकड़े जाओगे। वेश्याको भी प्रेरणा मिलती है कि इस आदमीसे हमको पैसा ज्यादा मिलेगा। तो वह प्रेरणा शुद्ध ईश्वरकी प्रेरणा नहीं होती, अपने हृदयमें जैसी वासना होती है—अज्ञात वासना होती है, जन्म-जन्मकी वासना होती है—उस वासनाके अनुसार ईश्वरकी प्रेरणा होती है।

सपनोंकी भी ऐसी ही बात है। बोले—आज तो ईश्वरने खास सपना दिया है, पर उसमें वासना जो अपनी है वह मिली रहती है।

वृन्दावनकी बात है। मथुरा और वृन्दावनके बीच बिड़लाजी ने गीता मंदिर बनवाया है। वहाँ छः बजे प्रातःसे गीता-जयन्ती मनायी जाती थी। दिसम्बरका महीना था। हम सबेरे पाँच बजे उठे और गीतामंदिरकी ओर चल पड़े। अंधेरा ही था तो चले रेलवे लाइनसे, तो देखा दाहिनी तरफ एक हरा-हरा तारा टूटकर गिर पड़ा। बगीचेमें जिधर पलाशका वन था, उधर प्रकाश हो गया, हरियाली छा गयी। मैंने सोचा कि अब 'जिन्ना' मर जायेगा। थोड़े दिनोंके बाद गाँधीजी मर गये। तो जिन्ना मर जायेगा यह मेरे मनमें क्यों आया? गाँधीजी मर जायेंगे—यह बात हमारे मनमें क्यों नहीं आयी? तो आप देखो, गाँधीजीसे हमारा प्रेम है, उनके मरनेकी बात हमारी बुद्धिमें नहीं आयी और जिन्नाको हम नापसन्द करते थे—एक हिन्दू मनोवृत्ति रही होगी—तो कल्पना हो गयी कि जिन्ना मर जायेगा। तो ये जो ईश्वरीय निमित्त हैं, आकस्मिक आनेवाले निमित्त हैं, उनमें हम अपनी वासनासे मुक्त होकर, उसको कहाँ देख पाते हैं?

एकबार श्रीशास्त्रानन्दजी महाराज, अच्युत मुनिजी महाराज निर्मलानन्दजी महाराज, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज आदि महात्मा लोग भेरियाघाटपर बैठे थे। उनके बीच यह विचार चला कि ईश्वर प्रेरणा देता है कि नहीं? बोले—देखो ईश्वर अगर प्रेरणा देगा, तो सबको देगा। खास-खासको क्यों देगा?

और यह कहो कि खास-खासको मालूम पड़ती है, तो उस खास-खासवालेके संस्कार अपने होंगे कि नहीं होंगे? तब तो वह अन्तःकरणकी विशेषता हुई, अर्थात् अन्तःकरणमें इतनी सूक्ष्मता आगयी कि वैसी प्रेरणा उसको मालूम पड़ती है।

तो हम आपको यह बात सुनाते हैं कि बुद्धि वासनासे विनिर्मुक्त नहीं होती है। जबतक बुद्धि रहेगी, तबतक थोड़ी पूर्व जन्मकी, थोड़ी नाना-नानीकी थोड़ी दादा-दादीकी, थोड़ी माँ-बापकी, थोड़ी अपने गाँव-घरकी, थोड़ी परिवारकी, थोड़ी पढ़े-लिखेकी, थोड़ी देखे-सुनेकी वासना बुद्धिमें बैठी रहेगी; और वासना सत्यका साक्षात्कार होनेमें बाधा डालती है। तो इस बुद्धि महारानीको कभी सोने दो और कभी जागने दो। इसको जो जाननेवाला है वह बुद्धिके सोते समय भी जागता है और बुद्धिके जागते समय भी जागता है; यह जब कम वासनावाली हो जाती है तब भी यह जागता है और अधिक वासनावाली होती है तब भी जागता है।

जब बुद्धि रहती है तब ही कालवासना रहती है। और तभी देशवासना और वस्तुवासना रहती है।

इस देशका नाम भारत है और यह हमारा राष्ट्र है, यह बुद्धिमें बाहरसे आया है। स्वयंप्रकाश परमात्माने यह प्रेरणा नहीं भेजी है। यह हमारी जातिकी, हमारी परम्पराकी, हमारे शास्त्रकी जैसी मान्यता है, वह हमारी बुद्धिमें प्रविष्ट होकर रह रही है।

यह सम्वत्सर है, कौनसा सम्वत्सर है—आपको मालूम है? सम्वत्सरका नाम है और हमलोग तीन सौ साठ दिनका या तीन सौ पैंसठ दिनका एक सम्वत्सर मानते हैं, बारह महीना मानते हैं। पहले कोई ग्यारह ही मानते थे, पहले कोई दस ही मानते थे, फिर धीरे-धीरे दससे ग्यारह किया, ग्यारहसे बारह किया। वैदिक संस्कृतिमें तो बारह महीने पहलेसे हैं। अच्छा देखो इस महीनेमें जहाँ हम आज बैठे हैं, गुजराती और महाराष्ट्रीय लोग आज कौन-सी तिथि बतावेंगे? महीना बतावेंगे ज्येष्ठ और तिथि ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी कल आनेवाली है और यदि काशीवालेसे पूछो तो? वह तो आषाढ़ कृष्ण एकादशी बतावेगा। यह भेद क्यों? यह जो हमलोग कालमें संज्ञा बनाते हैं,

वह दिनकी उपाधिसे, रात्रिकी उपाधिसे, सूर्य-चन्द्रमाकी उपाधिसे है—यह बाहरसे लेकर हम अपनी बुद्धिमें ठूँस लेते हैं।

सृष्टि किस सन्‌में हुई थी? ईसवी सन् उस समय पैदा नहीं हुआ था। अच्छा, कौन-सा विक्रमीय संवत् था? कौनसा कलियुगीय संवत् था? तो ये सब कालके संस्कार हमलोग अपनी बुद्धिमें भरते हैं।

अच्छा, कालमें आधा दिन और आधी रात होती है; परन्तु दक्षिणी ध्रुवमें? अरे, ऐसी-ऐसी जगह होती है जहाँ हमारे पन्द्रह दिनके बराबरका दिन और पन्द्रह रातके बराबरकी रात होती है। और ऐसे स्थान होते हैं जहाँ छह महीनेके बराबरका दिन और छह महीनेके बराबरकी रात होती है। उत्तरायण, दक्षिणायन, पक्ष—ये सब धरती की उन-उन अवस्थाओंको देखकर बाहरसे हमने अपनी बुद्धिमें ग्रहण कर रखा है।

देखो, हम बचपनमें बर्माको हिन्दुस्तान बोलते थे। एक समय ऐसा था जब सीलोनको, नेपालको, ईरानको, ईराकको अफगानिस्तानको भारतवर्ष बोलते थे। अब आज वह समय कहाँ है? आज तो अभी कुछ ही बरस हुए पाकिस्तानको हिन्दुस्तान नहीं कह सकते, लेकिन पहले उसका नाम हिन्दुस्तान था कि नहीं? तो ये सारी बातें बाहरसे बदलती हैं और हमारी बुद्धिमें आके बैठ जाती हैं और हिन्दुस्तान-पाकिस्तानकी लड़ाई होने लगती है। यह सब आगन्तुक है। ऐसा समय भी कभी आ जायेगा कि पाकिस्तान और चीनका झगड़ा हो जाये और चीन पाकिस्तानपर आक्रमण कर दे; उस समय हिन्दुस्तान और पाकिस्तान मित्र हो जायेंगे। रूस और अमेरिका कभी आपसमें मित्र हो जायें तो हमारी तटस्थता मैत्रीके रूपमें परिणत हो जायेगी! ये राजनैतिक हेर-फेर होते रहे हैं। और उनका प्रभाव हमारी बुद्धिपर पड़ता है। ये देश, काल और वस्तुओंके संस्कार एकदिन जिसको बहुत ग्लानिकारक समझकर फेंक देते हैं, दूसरे दिन उसीको आवश्यक होनेपर लाना पड़ता है।

तो बुद्धिमें जो संस्कार बैठे हुए हैं, उन्हींका उदय और विलय होता रहता है और जो क्षेत्रज्ञ है वह ज्यों-का-त्यों रहता है। खेतमें कभी गेहूँकी फसल होती है, कभी मटरकी फसल होती है, कभी ज्वारकी फसल होती है, लेकिन किसान खेत नहीं है, वह तो खेतको जाननेवाला है। किसी खेतमें कंकड़-पत्थर है, किसी खेतमें घास है, किसी खेतमें कूड़ा है, किसीमें उपज

ज्यादा होती है, किसीमें उपज कम होती है, लेकिन किसान उससे अलग है। इसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ देश-काल, वस्तुके संस्कारसे संस्कृत बुद्धिसे अलग है। परन्तु बुद्धिके इन्हीं संस्कारोंमें तादात्म्य करके हम विरोधी संस्कारोंके पक्षधरोंको मरने-मारनेको तैयार हो जाते हैं। यह दुराग्रह क्यों? इसीलिए कि यह जो क्षेत्रज्ञ है, यह खेतमें आने-जानेवाली चीजको अपनी मान करके फँस गया है।

सच पूछो तो यह जो क्षेत्रज्ञ है वह क्षेत्रके बराबरका नहीं है; वह हजार-हजार, लाख-लाख खेतोंका मालिक है और उनमें कितनी-कितनी फसल पैदा होती और मिटती रहती हैं और यह खेतका जाननेवाला उससे अलग रहता है। तो भगवान् कहते हैं कि काल तुम्हारी बुद्धिकी गोदमें कल्पित होता है और बिगड़ जाता है; देश तुम्हारी बुद्धिकी गोदमें कल्पित होता है और उसकी कल्पना मिट जाती है; जब सुषुप्ति आती है तब उसकालमें तुम किस देशमें रहते हो? किस कालमें रहते हो? तुम्हारी उम्र क्या होती है? सृष्टि हुए कितने बरस हुए होते हैं? सुषुप्तिकालमें कौनसा जहर और कौनसा अमृत रहता है? उस समय बुद्धि अपनी सारी कल्पनाको लेकर सो जाती है और जब जागती है तब अपने सारे परिवारको लेकर जागती है। इसी बुढ़ियाने आग लगा रखी है। इसके साथ जो एकता है, जो मैं-पना है, अरे ओ क्षेत्रज्ञ! तू इस बुढ़ियाका साथी नहीं है, तू इससे न्यारा है।

अब यह प्रश्न हुआ कि मैं इससे न्यारा हूँ तो मैं हूँ क्या? तो भगवान् बोले—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

अरे तू तो मेरा मैं है, माने मुझसे जुदा नहीं है। क्षेत्रज्ञ परमात्माका स्वरूप है। पहले श्लोकमें सिर्फ इतना ही कहा गया था कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परस्पर विलक्षण होते हैं—क्षेत्रज्ञ जानकार है और क्षेत्र अनजान है। इस श्लोकमें यह बात कही गयी कि यह जानकार तो परमात्मासे एक है।

अगर देश है तो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण—सब अपने मैं-में कल्पित हैं, अपना मैं है। योरोप-एशिया ही नहीं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड सब अपने मैंमें कल्पित हैं। मैंमें बुद्धि और बुद्धिमें देश, कालकी कल्पना। बुद्धि सोवे तो ये न मालूम पड़ें, बुद्धि जागे तो मालूम पड़ें। तो देखो, अनादि और

नित्यकालकी कल्पना हमारी बुद्धिमें है और उस कल्पनाका अधिष्ठान और प्रकाशक मैं हूँ। हजारों संस्कृतियाँ हमारे अन्दर पैदा हुईं और मर गयीं; हजारों मजहब पैदा हुए और मर गये, हजारों बार श्रमिक और पूँजीपति पैदा हुए और मर गये; कितना समाज हुआ, कितना वर्ग हुआ, कितनी जाति हुई, कितने सम्प्रदाय हुए कितने अलग-अलग शासन हुए, कितने राज्योंका उत्थान और पतन हुआ और अपना मैं बिलकुल एकरस है। जैसे रस्सीमें साँप कल्पित है, उसी प्रकार मुझमें यह देश-कालकी कल्पना अध्यस्त है और बिना कुछ हुए भास रही है।

इसका मतलब यह हुआ कि कालमें विनाश और विनाशाभाव दोनोंकी कल्पना काल है। उत्पत्ति, जन्म, मृत्यु और जन्म-मृत्युका अभाव यह काल कल्पना है और पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे—ये सब देश-कल्पना हैं। ये कल्पना हैं क्योंकि ये ऐन्द्रियक नहीं हैं—देशका ओर-छोर और कालका आदि-अन्त इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसलिए वस्तुका आदि-अन्त भी कल्पित है और वस्तुकी स्थूलता और सूक्ष्मता कल्पित है। और यह कल्पित किसमें है? यह कल्पित मुझमें है। तो मेरे सिवाय परमात्मा दूसरा कहाँसे आवेगा?

अच्छा, यह बताओ कि परमात्मा हमसे आगे है कि पीछे है? यदि आगे है तब तो विषयके समान दृश्य है; यदि पीछे है तो स्वर्ग-नर्कके समान कल्पित है। तो परमात्मा कहाँ बैठकर अपना अस्तित्व सिद्ध करे? परमात्मा यदि हमसे अज्ञात होकर, अगोचर होकर, परोक्ष होकर अपनी सत्ता सिद्ध करेगा तो कल्पित होगा और परमात्मा यदि हमारे सामने खड़ा हो करके अपनी सत्ता सिद्ध करेगा तो वह दृश्य होगा, वह जड़ होगा। परमात्मा अगर अपनी सत्ता सिद्ध कर सकता है कहीं भी, कभी भी और किसीको भी, तो वह हमारा मैं होकरके ही अपनी सत्ता सिद्ध कर सकता है। हमारे मैंसे अलग होकर परमात्मा सत्ता सिद्ध नहीं करता।

कई लोग इस बातको समझते नहीं हैं। परमात्माका अकाट्य स्वरूप यदि कोई है तो अपना आत्मा ही है। विश्वाससे वह हमारे पीछे है और आरोपित रूपसे सामने है। शालग्राम परमात्मा है, प्रतिमा परमात्मा है, माँ परमात्मा है, पति परमात्मा है, सूर्य परमात्मा है, चन्द्रमा परमात्मा है। ये

आरोपित रूपमें परमात्मा हैं, क्योंकि देखते तो हो साढ़े तीन हाथका, देखते तो हो हाथभरका गोल, और उसको कहते हो कि यही जगत्का कारण है, यही अनादि; अनन्त, सर्वज्ञ परमेश्वर है। तो जो देखते हो उसके विरुद्ध उसमें कल्पना करते हो, इसलिए आरोप है। जो परिच्छिन्न दृश्य होगा—चाहे वह मनमें दृश्य होवे चाहे तनमें दृश्य होवे—उसमें पूर्णताकी कल्पना ही करते हो तुम; वह पूर्ण नहीं है, उसको पूर्ण बनानेवाला पूर्ण है और जिस अनदेखेकी कल्पना परमेश्वरके रूपमें करते हो उस अनदेखेकी कल्पना तो तुम्हारे अन्त:करणमें है, उसको करनेवाले तुम हो क्षेत्रज्ञ।

यह बात ईश्वरवादियोंको नोट कर लेनेकी है कि ईश्वरकी सत्ता, ईश्वरकी महत्ता, ईश्वरकी चेतनता, ईश्वरकी ज्ञानस्वरूपता, अगर किसी भी प्रकार सिद्ध हो सकती है तो ईश्वर हमारे मैंसे एक हो, तभी सिद्ध हो सकती है। हमारे मैंसे जुदा होनेपर ईश्वरकी सत्ता-महत्ता कोई सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वरसे अलग होकर हम दु:खी परिच्छिन्न हो गये; और हमसे अलग होकर ईश्वर जड़ हो जायेगा, दृश्य हो जायगा, कल्पित हो जायेगा। आत्मसत्तासे पृथक होनेपर ईश्वर सत् कैसे रहेगा?

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु—जो क्षेत्र अलग-अलग मालूम पड़ रहे हैं, उन सब क्षेत्रोंमें जो अलग-अलग क्षेत्रज्ञ—चिदाभास हैं उन सबमें एक परमात्मा मैं हूँ—ऐसा जानो।

एक बड़ी विलक्षण बात इसमें शंकरानंदजीने कही है। टीका तो बहुत हैं गीता पर। डेढ़-दो सौके लगभग तो संस्कृतकी टीकाएँ हैं और सारे संसारमें बाइबिल छोड़कर कोई पुस्तक संख्यामें अधिक छपी है तो उसके बाद वह गीता ही है।

शंकरानंदजीने इसका अर्थ किया कि 'क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'। क्योंकि इस श्लोकमें 'चापि' पद जो पड़ा हुआ है उसका अर्थ होता है 'भी' क्षेत्रज्ञ भी मुझे समझो। इसका अर्थ है कि कोई और भी है जो मुझे समझो। वह और क्या है? क्षेत्रज्ञसे अन्य क्षेत्र है। अत: **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** का अर्थ हुआ कि **क्षेत्रज्ञं मां विद्धि क्षेत्रं चापि मां विद्धि**—क्षेत्रज्ञ भी मुझको जानो और क्षेत्र भी मुझको ही जानो।

आप सुनते हैं वेदान्तमें **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**—जो कुछ है सब ब्रह्म ही

है। यह तो बिन्दुमें जो 'मैं' की कल्पना हो गयी है, उसके कारण क्षेत्र हमसे अलग सच्चा मालूम पड़ता है। अगर हम अपने 'मैं' में परिच्छिन्नताका अध्यास न करें, परिच्छिन्नताकी कल्पना न करें, तो यह पृथक् मालूम ही न पड़े। असल में 'मैं' और 'यह' दोनों ज्ञानके ही विवर्त हैं। एक अखण्ड ज्ञान है वही 'मैं' के रूपमें भास रहा है और वही 'यह'के रूपमें भी भास रहा है। देहमें 'मैं' और बाहर 'यह'।

वेदान्तियोंमें एक बाध समानाधिकरण्य मानते हैं और एक मुख्य सामानाधिकरण्य मानते हैं। क्षेत्र बाध सामानाधिकरण्यसे ब्रह्म है और क्षेत्रज्ञ मुख्य सामानाधिकरण्यसे ब्रह्म है।

समानाधिकरण्यका अर्थ क्या है? जैसे कोई बोले—सर्प रज्जू ही है या चाँदी सीप ही है या पुरुष (चोर) ठूँठ ही है। तो यहाँ दो चीज नहीं हैं, एक ही चीज है। रस्सी ही है, सीप ही है, ठूँठ ही है, वहाँ कोई साँप, चाँदी या चोर नहीं हैं, इसको बोलते हैं बाध समानाधिकरण्य—जहाँ अन्यत्व मिथ्या हो गया। सर्प है ही नहीं, तो सर्प रज्जु है, यह कहनेका क्या अभिप्राय हुआ? बोले—सर्प नहीं है, इसीलिए तो उसको रज्जु बोल रहे हैं, इसको बाध समानाधिकरण बोलते हैं।

जब बोलते हैं कि घटाकाश और मठाकाश दोनों एक ही हैं, कंगन और हार दोनों एक ही हैं तो इसको, मुख्य सामान्याधिकरण्य बोलते हैं। क्योंकि दोनों आकाश हैं, दोनों सोना हैं। तो यह क्षेत्र और मैं क्षेत्रज्ञ दोनों ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं। यह और मैं, मैं और यह—'यह' भी ज्ञानसे प्रकाशित है और 'मैं' भी ज्ञानसे प्रकाशित है। 'यह' और 'मैं' वस्तु नहीं हैं, ब्रह्म ही वस्तु है।

प्रपंच और प्रपंचमें जो जीवाभास है दोनोंका बाध होकरके ब्रह्म है। एक प्रक्रिया यह है; और दूसरी प्रक्रिया यह है कि प्रपंच बाधित होकर ब्रह्म है और आभास नहीं कूटस्थ है और कूटस्थ मुख्य सामान्याधिकरण्यसे ब्रह्म है—ऐसा वेदान्तका विचार उसके सम्बन्धमें है जो लोग पंचदशी, विचार सागर आदि की प्रक्रिया पढ़ते हैं उनकी समझमें यह जरा जल्दी आ जायेगा, नहीं तो समझो कि संस्कार ऐसा डालते हैं कि कभी उनके मनमें जिज्ञासा होगी तो इसको समझनेकी कोशिश करेंगे।

भगवान्ने कहा—**मां विद्धि**। यह जो हर क्षेत्रकी उपाधिसे क्षेत्रज्ञके रूपमें आत्मा मालूम पड़ता है, इस शरीरमें एक क्षेत्रज्ञ, दूसरे शरीरमें दूसरा क्षेत्रज्ञ, ऐसा जो मालूम पड़ता है, तो जरा क्षेत्रका ख्याल छोड़करके क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें विचार करो। क्षेत्रके सम्बन्धसे ही क्षेत्रज्ञमें परिच्छिन्नता है (और तज्जन्य भेद मालूम पड़ता है) क्षेत्रके सम्बन्धका परित्याग कर देनेपर क्षेत्रज्ञमें किसी प्रकारसे भी परिच्छिन्नता नहीं है, (अतः क्षेत्रज्ञ अनेक नहीं वस्तुतः एक ही है)।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि—अर्थात् जो तुमको मालूम पड़ता है कि इस शरीरवाला मैं, काला मैं, गोरा मैं, ब्राह्मण मैं, संन्यासी मैं, हिन्दू मैं, मनुष्य मैं—ऐसा जो मैं—मैं मालूम पड़ता है उसमें मैंका कोई विशेषण मत लगाओ। पापी मैं, पुण्यात्मा मैं, सुखी मैं, दुःखी मैं, नर्क -स्वर्गमें जाने-आनेवाला मैं, परिच्छिन्न मैं, ऐसा जो अपने मैं के साथ विशेषण जोड़ते हैं, उनको जरा छोड़ दो। उन सब विशेषण और उपाधियोंके छोड़ देनेके बाद जो मैं है वह तो असंसारी है, वह पापी-पुण्यात्मा नहीं है, वह सुखी-दुःखी नहीं है, वह नारकी-स्वर्गी नहीं है और वह परिच्छिन्न भी नहीं है, वह तो साक्षात् परमेश्वर असंसारी, परमात्मा, परब्रह्म है।

तो **मां विद्धि** का अर्थ है कि सम्पूर्ण उपाधियोंका निरसन हो जानेके बाद ब्रह्मासे लेकर एक कीड़ेतककी जितनी उपाधियाँ हैं जिनमें क्षेत्रज्ञ अलग-अलग मालूम पड़ता है, उन सब शरीररूप उपाधियोंका परित्याग कर देनेके बाद जो शेष रहता है वह ब्रह्म है; वही भगवान्के 'माम्' पदका अर्थ है। वह *निरस्तसर्वोपाधिभेदम् सदसदादिशब्दप्रत्ययागोचरम् ब्रह्मैव* सम्पूर्ण उपाधियोंके भेदसे रहित और अस्ति-नास्ति सभी प्रत्ययोंसे अगम्य उनका साक्षी ब्रह्म ही है।

दुनियामें तो 'यह' और 'मैं'—दो ही चीज मालूम पड़ती हैं किन्तु इनकी जहाँ एकता है, याथात्म्य है, वहाँ जड़ और चेतनका भेद नहीं रह जाता। तब क्या रहता है? सब चेतन ही रहता है—यह अनुभव है। यदि कहो—सब जड़ ही रहता है, तो यह अनुमान है। जगत्के मूलमें—आदि और अन्तमें सब जड़ है, यह बात आप देहमें मैं करके अनुमान करते हो। लेकिन अनुभव जब करते हैं, तो यह देखते हैं कि जब सृष्टिका भान नहीं

होता, तब मैं ही हूँ। तो सब चेतन ही है—यह अनुभूति है और सब जड़ ही है—यह केवल अनुमान है और अनुमान भी सच्चा नहीं, झूठा है। क्यों? क्योंकि व्याप्तिग्रह हुए बिना अनुमान नहीं होता। यह पारिभाषिक शब्द है। जो रसोईघरमें अग्नि और धुँएका सम्बन्ध देख लेता है वही पहाड़में अग्निका अनुमान कर सकता है। तो सारी सृष्टिके न होनेपर जड़ ही है—यह जो देख लेगा वही, अनुमान करेगा कि सृष्टिके न रहनेपर जड़ रहता है। मगर जिसने देखा वह तो चेतन है। इसलिए सब जड़ ही है—यह अनुभवका विषय कभी नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त ही अनुभवके मार्गसे च्युत है कि सब जड़ है। तुम भी जड़, मैं भी जड़ और वह भी जड़; जड़ ही जड़—यह बात अनुभवके मार्गसे गिरी हुई है; क्योंकि यह बात जिसने देखी वह मौजूद है और यदि किसीने नहीं देखी तो कल्पना कर रहा है। इसलिए गलत अनुमानके बलपर, अनुमानाभासके बलपर, जड़ सत्ता सिद्ध की जाती है और अनुभूतिकी दृष्टिसे अखण्ड चेतनकी ही सिद्धि होती है। इसलिए-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।

इस श्लोकका अभिप्राय निकलता है—

(१) जिस ज्ञानसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों जाने जाते हैं, मेरे मतसे वही ज्ञान है। अर्थात्? ज्ञान वह है जिससे जीव भी जाना जाये, ईश्वर भी जाना जाये, जगत् भी जाना जाये, *विषयी क्रियेते*। जिस ज्ञानसे कारणकी उपाधिसे ईश्वर जाना जाये, कार्यकी उपाधिसे जीव जाना जाये, व्यष्टिकी उपाधिसे जीव जाना जाये, समष्टिकी उपाधिसे ईश्वर जाना जाये, वह ज्ञान है। जानना ज्ञान है और जो जाना जाये वह ज्ञानका विषय है। जानना अपने साथ रहता है, अपना स्वरूप है जानना। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञानके विषय हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारे मतमें ज्ञानका स्वरूप क्या है? कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका अधिष्ठान होना, दोनोंका प्रकाशक होना- दोनों जिससे प्रकाशित हों, अनुभवके विषय हों, वह हमारे मतमें ज्ञानका स्वरूप है। **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तत् मम मतं ज्ञानम्**— दो बार 'ज्ञानम्' है, एक बार नहीं, इसलिए यह अर्थ हो गया।

(२) **यत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं तत् मम ज्ञानं मतं**—जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रकाशक ज्ञान है, वह मेरा स्वरूपभूत ज्ञान है, माने वही मैं हूँ। मैं वह ज्ञान हूँ

जिससे सब मालूम पड़ता है या मेरे मतमें वह ज्ञान है- **मम मतं ज्ञानम्**—मेरे मतमें वह ज्ञानका स्वरूप है। कि नहीं, नहीं, वह मेरा ज्ञान है, मेरा स्वरूपभूत ज्ञान है।

यह श्लोकके शब्द पकड़कर मैंने बात सुनायी। अब आपको थोड़ीसी ज्ञानकी महिमा सुना देते हैं।

आप आँखसे तुलसीका पत्ता भी देखते हो और घड़ी भी। लेकिन आप देखो-तुलसीका पत्ता और घड़ी दोनों अलग-अलग होनेपर भी आपका ज्ञान अलग नहीं है। जैसे घड़ी जिस प्रकाशमें देखी जा रही है, उसी प्रकाशमें तुलसीका पत्ता भी देखा जा रहा है और जिस आँखसे घड़ी देखी जा रही है, उसी आँखसे तुलसीका पत्ता देखा जा रहा है। जो मैं आँखसे घड़ीको देख रहा हूँ, वही मैं तुलसीके पत्तेको भी देख रहा हूँ। विषयके भेदसे प्रकाशमें फर्क नहीं है-जिस प्रकाशमें घड़ी, उसी प्रकाशमें तुलसी। विषयके भेदसे इन्द्रियमें, करणमें फर्क नहीं हुआ-जिस आँखसे घड़ी उसी आँखसे तुलसी और विषयके प्रमातामें भेद नहीं हुआ-जिसे मैंने घड़ी देखी उसी मैंने तुलसी। माने विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता।

आपके पास तराजू हो और उसपर एक बार एक माशेकी चीज तौलें, दूसरी बार तोले भरकी तौलें, तीसरी बार छटाँक भरकी तौलें, तराजू तो अलग नहीं होती है न! इसी प्रकार ये संसारके जो विषय जाने जाते हैं इनके भेदसे भी ज्ञानका भेद नहीं हुआ।

अब दूसरी बात देखो, कि इन्द्रियके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। जो मैं आँखसे तुलसीके पत्तेकी हरियाली देख रहा हूँ, वही मैं नाकसे तुलसीकी गन्ध सूँघ रहा हूँ। एक ही को मालूम पड़ता है दोनों—गन्ध और रूप! जो सूँघनेवाला है, आँखसे वही देखनेवाला है आँख और नाक दोनों अलग-अलग हैं, लेकिन ज्ञान अलग नहीं है। रूप-ज्ञान अलग है और गन्ध ज्ञान अलग है परन्तु ज्ञान दोनोंमें एक है। विषय अलग-अलग हैं- तुलसीका हरा रंग अलग है और तुलसीकी सुगन्ध अलग है; और इनको देखनेके लिए करण अलग-अलग हैं-आँख अलग है, नाक अलग है; लेकिन ज्ञान अलग नहीं है। ज्ञानके पेटमें तो दोनों आते-जाते हैं।

अच्छा, अब देखो! कालके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। जब सात

बजा था तब भी हमने घड़ी देखी थी और अब आठ बजे हैं तब भी मैं घड़ी देख रहा हूँ। तो समय बदलता जा रहा है और देखनेवाला ज्ञान एक है। इसका अर्थ है कि रात देखनेवाला, दिन देखनेवाला और पन्द्रह दिन देखनेवाला और छह महीना देखनेवाला और सृष्टिके आदि काल और अन्त कालकी कल्पना करनेवाला बिलकुल एक ही है। तो कालके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता।

आपने तुलसीका बीज देखा, तुलसीको अंकुरित होते हुए देखा, बढ़ते देखा और मंजरी सहित देखा। अन्तमें सूखी अवस्थामें देखा। तुलसीके आकार बदलते गये पर मैं नहीं बदला। आकारके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता।

अब देखो, देश-भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। पूर्वको भी मैं देख रहा हूँ, पश्चिमको भी मैं देख रहा हूँ। देशका प्रकाशक ज्ञान एक ही है ।

अब देखो, अन्तःकरणमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके भेदसे भी-अवस्थाके भेदसे भी ज्ञानका भेद नहीं होता। जिस मैंने सुषुप्तिको देखा उसी मैंने स्वप्नको देखा, वही मैं अब जाग्रत्को देख रहा हूँ। तो अवस्थाके भेदसे भी ज्ञानका भेद नहीं हुआ।

अब कहो कि एक बार मैं पापी था, एक बार पुण्यात्मा था! तो अपनेको पापी जाननेवाले भी तुम्हीं थे और अपनेको पुण्यात्मा जाननेवाले भी तुम्हीं थे। पाप-कर्म और पुण्य-कर्मके भेद होनेसे भी तुममें भेद नहीं हुआ, तुम्हारे ज्ञान-स्वरूपमें भेद नहीं हुआ।

बोले—एक बार मैंने दोस्ती की और एक बार दुश्मनी की। तब राग-द्वेष बदल जानेसे भी तुम्हारे ज्ञानमें फर्क नहीं हुआ। वह तो शीशेकी तरह निर्मल है- दुश्मन आया तो द्वेष प्रकाशित हो गया और दोस्त आया तो राग प्रकाशित हो गया और राग-द्वेष दोनों चले गये, सुषुप्तिमें दोनोंका कुछ पता नहीं और तुम ज्ञानस्वरूप एक। सुखी-दुःखी होनेसे ज्ञानमें फर्क पड़ जाता है! तो कहते हैं कि नहीं पड़ता, क्योंकि सुख-दुःख दोनों क्षेत्र हैं। जिनका नाम मैं ले रहा हूँ वे सब तो क्षेत्र हैं-

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ १३.६

एक बार आपके ज्ञानमें यह ख्याल हुआ कि मैं सुखी हूँ और एक बार यह ख्याल हुआ कि मैं दु:खी हूँ। ये दोनों ख्याल हुए, यह ज्ञान नहीं है। क्यों? क्योंकि देखो, झूठी खबर आ जाती है घाटेकी तो सेठजी दु:खी हो गये, फिर खबर आयी कि नहीं- नहीं, घाटा नहीं हुआ है, तो दु:ख मिट गया। अपनी मनोवृत्तिकी ही तो बात है! तो दु:खका होना और दु:खका मिटना, सुखका होना और सुखका मिटना, यह ख्यालमें ही तो हुआ, लेकिन दोनोंका प्रकाशक जो ज्ञान है, वह ज्यों-का-त्यों रहा। तो सुखीपने और दु:खीपनेके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। मनमें शान्ति और विक्षेपके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। अरे, मन तो चक्कीकी तरह घूम रहा है— एक बार नानीकी याद आती है तो एक बार दादीकी; एक बार सालेकी याद आती है तो एक बार बहनोईकी, औरतकी। इतनी-इतनी यादें आ रही हैं तो आज तो बड़ा विक्षेप है। अरे, यह तुममें विक्षेप नहीं है, यह ज्ञान तो इसको प्रकाशित कर रहा है कि इतना विक्षेप है! जैसे नाटकमें नाचती हुई कोई नर्तकी चाहे हाथसे मना करे कि हट जा यहाँसे और चाहे उँगलीके इशारेसे बुलावे, तुम नाटकमें दोनोंको देखते हो; इसी प्रकार यह जो तुम्हारा ज्ञान है, यह तो तुम्हारा ख्याल है चाहे तुम्हें बुलावे अपनी ओर और चाहे तुम्हें हटावे, तुम दोनोंके प्रकाशक हो, उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो बदल जायेगा। यह तो थोड़ी देरका नाटक है, इसमें अटको मत। नाटक माने ना अटक।

अच्छा देखो, विक्षेप और समाधिसे भी ज्ञानका नाश नहीं होता। क्यों? बोले—समाधि लगी और टूट गयी। समाधि तो कालमें होती है, जब कालका ही असर ज्ञानपर नहीं पड़ता तो समाधिका क्या असर पड़ेगा? समाधि तो कालकी बच्ची है और विक्षेप भी कालका बच्चा है।

अच्छा, स्मृति और विस्मृतिसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। तुम्हें घड़ा भूला हुआ था, तो घड़ा नष्ट हो गया था कि घड़ेका ज्ञान नष्ट हो गया था? घड़ा ही क्या, इस समय जिसकी भी याद तुम्हें नहीं आ रही थी, वह चीज नष्ट हो गयी थी या उसका ज्ञान नष्ट हो गया था? न ज्ञान नष्ट हुआ, न चीज नष्ट हुई, क्योंकि उसका ज्ञान तो तुमको है-ही-है; अब हमने घड़ेका नाम ले लिया, तो घड़ा याद आगया। तो कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान ऐसी

वस्तु है जो विषयके भेदसे, इन्द्रियोंके भेदसे, अवस्थाओंके भेदसे, धर्मोंके भेदसे, पाप-पुण्यके भेदसे, देशके भेदसे, कालके भेदसे, विक्षेप-समाधिके भेदसे नष्ट नहीं होता है। ज्ञान एक बिलकुल जुदा चीज है।

अब उस क्षेत्रज्ञका पता लगाओ। जो बात अभी समझनेकी है वह अब आती है। क्या? कि एक-एक शरीरमें रहनेवाला जो अन्त:करण है उसका भेद होनेपर भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। एक-एक अन्त:करणमें अलग-अलग अहंकार करके जो बैठा है- समझनेवाला कि मैंने इस आँखसे यह देखा, मैंने इस मनसे यह संकल्प किया, मैंने इस बुद्धिसे यह सोचा समझा- ऐसा जो मैं-मैं करके अहंकार बैठा हुआ है, उसके अलग-अलग होनेपर भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। क्योंकि सबमें अहं-अहं हो रहा है, यह बात भी तो ज्ञानसे ही मालूम पड़ती है, ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है। तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि सबके शरीरसे जुदा, सबके अन्त:करणसे जुदा, सबके अहं-अहंसे जुदा, व्यष्टि-समष्टि दोनोंके अहंसे जुदा है—क्षेत्रज्ञ

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा:॥ (१३.५)

ये पाँच महाभूत तो क्षेत्र हैं, समष्टिका अहंकार रुद्र भी क्षेत्र है; बुद्धि—महत्तत्त्व क्षेत्र है; अव्यक्त प्रकृति भी क्षेत्र है—माने वह ज्ञानका विषय है, ज्ञानके द्वारा वह जाना जाता है।

तो कोई भी वस्तु, न देश, न काल, न विषय, न इन्द्रिय, न अन्त:करण, न अवस्था, न पाप, न पुण्य, न विक्षेप, न समाधि, न बाहर, न भीतर, न मर्त्यलोक न वैकुण्ठ, किसीमें ऐसा सामर्थ्य नहीं जो ज्ञानको अलग-अलग कर सके। स्वयं भगवान् भी जब कभी प्रकट होंगे तो हमारे ज्ञानकी रोशनीमें भगवान्‌की आकृति बनेगी। हम देखेंगे, तब भगवान्‌का दर्शन हुआ, अगर हम नहीं देखेंगे तो भगवान्‌का दर्शन क्या हुआ? हमको मालूम पड़नेसे ही भगवान्‌का आना होता है, माने हमारा ज्ञान ही उनके शुभागमनका भी प्रकाशक है। ऐसी स्थितिमें 'ये ईश्वर हैं'- यह भी ज्ञानकी एक आकृति है। यह जीव है - यह भी ज्ञानकी आकृति है। यह प्रकृति है - यह भी ज्ञानकी आकृति है। तो ज्ञानको खण्ड-खण्ड करनेवाला कोई भी पदार्थ सृष्टिमें नहीं है। ऐसा जो असंसारी ज्ञान है वह न स्वर्गमें जाता, न नरकमें, न उसका कभी पुनर्जन्म

होता, न वह कभी बन्धनमें पड़ता, न उसकी मुक्ति होती। ऐसा ज्ञान अपना स्वरूप है। अपने मैंको ही- अहंकारसे विनिर्मुक्त, परिच्छिन्नतासे विनिर्मुक्त, छोटे-बड़ेपनसे विनिर्मुक्त जो अपना अहमर्थ है उसीको-बोलते हैं ज्ञान। तो-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।

ऐसा जो ज्ञान है इसमें वैकुण्ठ देश और नरक देश दोनों ही फुरते हैं। इसी ज्ञानमें समाधिकाल और विक्षेपकाल फुरता है। इसी ज्ञानमें जगत्की कारणावस्था प्रकृति और कार्यावस्थामें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड फुरते हैं। इसी ज्ञानमें कीट, पतंगादि जन्तु और ब्रह्मादि देवता फुरते हैं। यह ज्ञान देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अखण्ड अविनाशी अनन्त अद्वितीय है। **एतद् ज्ञानं मतं मम**। इसलिए इस ज्ञानको **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानम्** कहते हैं। शंकराचार्यजीने एक वाक्य लिखा है केवल ***येन ज्ञानेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ विषयी क्रियेते तद् ज्ञानम्।***

जिस ज्ञानसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों विषयीकृत होते हैं माने बिल्कुल घड़ेकी तरह दिखते हैं। कोटि-कोटि क्षेत्रज्ञ और कोटि कोटि क्षेत्र जिसमें रज्जुमें सर्पके समान, आकाशमें नीलिमाके समान, सीपमें चाँदीके समान, ठूँठमें पुरुषके समान फुरते हैं—जिस अखंड, अद्वय ज्ञानमें ये प्रकाशित होते हैं, 'एतद् ज्ञानं मतं मम'- ऐसा जो ज्ञान है इसको मैं ज्ञान कहता हूँ।

अगर वक्ताकी प्रामाणिकता लेनी हो तो यूँ कहो कि अरे, खुद ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि मैं ऐसे ज्ञानको ज्ञान कहता हूँ। और वक्ताकी प्रधानता न लेना हो तो— **एतद् मम ज्ञानं मतम्**- यह मेरा ज्ञान है। अगर यह ज्ञान तुम्हारा अनुभव है, तुम स्वयं हो, तो यह मेरी उपलब्धि है, यह मेरा साक्षात्कार है। अब (शांकर भाष्यके कुछ) प्रश्नोत्तर सुनाते हैं—

प्रश्न : जब सब क्षेत्रोंमें एक ही ईश्वर है और ईश्वरके सिवाय अन्य कोई भोक्ता नहीं है, तब तो यह ईश्वर ही बेचारा संसारी बनकर दुःख भोग रहा है ना? और या फिर कहो कि संसार ही नहीं है। या यह कहो कि ईश्वर ही सुखी, दुःखी संसारी हो रहा है और या कहो कि पुनर्जन्म, नर्क-स्वर्ग, जीव-ईश्वरका विभाग- ये सब नहीं हैं। लेकिन दोनों ही बात गलत मालूम पड़ती है। क्योंकि एक ओर तो बंधनसे छूटनेके लिए और मोक्षकी प्राप्तिके लिए जितना शास्त्र है वह निरर्थक हो जाता है और दूसरी ओर प्रत्यक्षादि

प्रमाणसे संसारकी सिद्धि होती है और संसारमें सुख-दुःख, सुखी-दुःखी सभी देखनेमें आते ही हैं। यह भी देखनेमें आता है कि संसारमें कोई धनी है कोई गरीब है, कोई अन्धा है। कोई आँख वाला है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, तो ये अपने-अपने पापका फल भोग रहे हैं। यदि आत्मा और ईश्वर दोनों एक होवें तो ये सारे-के-सारे भेद कट जाते हैं, इन बातोंका क्या जवाब है ?

उत्तर : तो देखो इसका जवाब सीधा-सादा है। एक बात ज्ञानीकी दृष्टिमें है, दूसरी बात अज्ञानीकी दृष्टिमें है। शास्त्र ज्ञानी-अज्ञानीकी दृष्टिका अनुवाद करके भेदका प्रतिपादन करते हैं, सचमुच शास्त्र भेदका प्रतिपादन नहीं करते।

यदि कोई वैज्ञानिक यह विश्लेषण करे कि आँखवालेको (चश्मा न लगानेवालेको) दुनिया कैसी दिखती है और दो या दस पावरका चश्मा लगानेवालेको कैसी दिखती है; तो वह आँखकी डिग्रीके हिसाबसे वर्णन करना होगा। अंधकारकी डिग्री तो है नहीं, कि बाहर अंधकार छाया हुआ है—दो डिग्रीका अंधकार है या दस डिग्रीका अंधकार है। यह तो आँखकी कमजोरीके हिसाबसे ही वैज्ञानिकने उसका विश्लेषण किया। बोले—इसकी आँखपर ऐसा चश्मा लगाओ, उसको आँखपर ऐसा चश्मा लगाओ, तो इनको ठीक दीखने लगेगा। यह जो दुनिया दीख रही है, जिसको अखण्ड, अनन्त, अद्वय आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका ज्ञान है, उसके लिए यह सृष्टि कैसी है और जिसको उस अद्वय अनन्त तत्त्वका ज्ञान नहीं है उसके लिए यह सृष्टि कैसी है ? इन दृष्टियोंका अनुवाद करके शास्त्र भेदका प्रतिपादन करता है। यह प्रतिपादन आँखके तारतम्यसे, आँखके न्यूनाधिक्यसे है और यह न्यूनाधिक्य भी शुद्ध ज्ञानमें नहीं है। मान लो ईश्वर और जीव एक है, तो ईश्वरको स्वर्ग-नर्कमें जाना पड़ेगा और सुखी-दुःखी होना पड़ेगा। ठीक, लेकिन क्या ईश्वर नर्कमें नहीं है ? क्यों डरते हो ? अच्छा क्या ईश्वर स्वर्गमें नहीं है ? सामान्य रूपसे जो भक्त होता है, वह भी नर्कसे नहीं डरता है। तुम वेदान्तका विचार करो और नर्कमें ईश्वरके होनेसे तुमको डर लगे! एक भक्त कहता है—

नरक स्वर्ग अपवर्ग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनु बाना॥

हम नर्कमें हों, तो नर्कमें; स्वर्गमें हों, तो स्वर्गमें, जहाँ हों वहाँ हमें तो धनुषधारी भगवान् राम दिखायी पड़ते हैं।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तप्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

एक भक्तके हृदयमें भावनात्मक भक्तिका उदय हो जाता है तो उसको नरकमें भी ईश्वरका दर्शन होने लगता है और तुमने अधिष्ठानका ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा की और तुमको वह नर्क भी ईश्वरमें आरोपित नहीं दिखायी पड़ता। पनालेमें बिलबिलाता हुआ कीड़ा और स्वर्गमें अप्सराओंके साथ नन्दन वनमें विचरता हुआ इन्द्र और वैकुण्ठमें लक्ष्मीसे पाँव दबवाते हुए विष्णु और समाधिमें द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित योगीका आत्मा सब तुम ही तो हो! देखना तो यह है कि तुम्हारी दृष्टि परमात्मापर है कि तुम्हारी दृष्टि नर्क-स्वर्गपर है, कीड़ा-मकोड़ापर है? तुम्हारी दृष्टि कहाँ है, तुम क्या हो?

अज्ञानीको ऐसा लगता है कि हाय रे हाय, ईश्वर यहाँ कैसे? असलमें यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ-कहाँ-जितना है वह सब ईश्वरमें है। अब-तब-कब-सब जितना है सब ईश्वरमें है। यह-वह, मैं-तू सब ईश्वरमें है। तो ईश्वरको बचानेके लिए, ईश्वरमें भेदकी सृष्टि करनेकी जरूरत नहीं है। यदि यह प्रपंच ईश्वरसे अभिन्न मालूम पड़ जाये, सचमुच अभिन्न दीखने लग जाये तो प्रपंच, अपनी प्रपंचताको ही छोड़ देगा। कोई कहे कि अगर रस्सीमें साँप है तो वह रस्सीको काटेगा कि नहीं? यदि आकाशमें यह नीलिमा है तो आकाशको यह देगी कि नहीं? तो बोले- अरे भाई, रज्जुकी दृष्टिसे तो साँप है ही नहीं, तब काटेगा कहाँसे? आकाशकी दृष्टिसे तो यह नीलिमा है ही नहीं, वह रँगेगी कहाँसे? तो ईश्वरकी दृष्टिसे तो यह अज्ञान और अज्ञानकृत सृष्टि है ही नहीं! बिलकुल अज्ञानके कारण ही सृष्टिमें सृष्टिपना है। शास्त्रमें जो भेद-सृष्टिका वर्णन है, वह बात समझनेकी है—

दूरमेते विपरीते विषची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। (कठ० १.२.४)

ये दोनों अलग-अलग हैं—अज्ञानीके लिए वर्णन दूसरे ढंगका है और ज्ञानीके लिए वर्णन दूसरे ढंगका है। यह विद्या और अविद्याकी दृष्टिसे भेदका वर्णन है, वस्तुतः भेद नहीं है। और उनका फ्ल भी-***श्रेयश्च प्रेयश्च***

(कठ० १.२.२) विद्या होगी तो तुम्हें श्रेयकी प्राप्ति होगी, अविद्या होगी तो तुम्हें प्रेयकी प्राप्ति होगी। *द्वाविमौ अथ पन्थानौ* (महा० शान्ति० २४१.६) दो मार्ग हैं। अविद्वान्के लिए मार्ग है और विद्वान्के लिए गति ही नहीं है, उसको कहीं आना-जाना नहीं है।

आपने हजार बार यह बात सुनी है कि ज्ञानसे मुक्ति होती है और अज्ञानसे बन्धन। तो अज्ञानसे जो होता है वह दरअसल नहीं होता है और ज्ञानसे जो होता है वह पहलेसे मौजूद होता है। किसीको यहाँ कोई फूल न दिखता हो अज्ञानसे, तो फूल यहाँ है नहीं- ऐसा मालूम पड़ेगा; लेकिन फूल तो यहाँ है। किसीको ज्ञानसे मालूम पड़े कि फूल तो है, तो फूल पहलेसे मौजूद था, तब मालूम पड़ा। ज्ञानसे मुक्ति होती है—इसका अभिप्राय है तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो। और अज्ञानसे बन्धन है—इसका अर्थ है कि तुम अपनेको नहीं जानते हो, इसलिए तुम अपनेको बद्ध मानते हो। यह मर्यादा वेदशास्त्रने ही स्थापित की हुई है कि जो सच्ची चीज होती है वह ज्ञानसे हटती नहीं जैसे घड़ी है यहाँ, तो अगर घड़ीको आप जानोगे, तो घड़ी यहाँसे हट नहीं जायेगी। सच्ची चीज जान लेनेसे नहीं हटती। व्यवहारमें सच्ची चीज कर्मसे हटती है—हाथसे उठावें, घड़ीको हटा दें। सत्य वस्तु कर्म करनेसे हटती है। लेकिन अगर जाननेसे यह घड़ी मिट जाती है और न जाननेसे बनी रहती है, तो इसका मतलब हुआ कि घड़ी कोई ऐसी ही वस्तु थी। जैसे कोई जादूकी चीज होवे, जैसे कोई भ्रमसे सिद्ध वस्तु होवे; वह न जाननेसे तो है और जाननेसे मिट जाती है। न जाननेसे है माने नहीं है और जाननेसे मिट जाती है माने नहीं है; दोनोंके माने यही है कि नहीं है। जब वेद-वेदान्त यह कहता है कि तत्त्वज्ञानसे मुक्ति हो जाती है तो इससे यही मतलब निकला कि बन्धन नहीं है। ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, अज्ञानसे मुक्ति नहीं है, इसका मतलब यह हुआ कि मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मुक्ति उत्पाद्य नहीं है और बन्धन निवर्त्य नहीं है, केवल अज्ञान ही निवर्त्य है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः। (केन० २.५)

अगर ज्ञान प्राप्त करोगे तो तुम्हारा कल्याण है। वेदान्तमें तुमने पढ़ा *तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय* (श्वेता० ३.८)। केवल परमात्माको जान लेनेसे ही मृत्युका अतिक्रमण हो जाता है।' इसका

अर्थ हुआ कि मृत्यु है ही नहीं *तमेव विद्वानमृतमिह भवति* (नृसिंह २.६) जान लिया और अमृत हो गये। इसका अर्थ हुआ कि मृत्यु है ही नहीं। *'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'* (तैत्ति० २.४) जान लिया कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं परमात्मा हूँ तो फिर उसके लिए कोई भय नहीं रहा। जो लोग अपनेको सच्चे रूपमें नहीं जानते, वे डरते हैं तथा अविद्याके चक्करमें पड़े हुए हैं और वे 'वह दूसरा है और मैं दूसरा हूँ'—इस प्रकारके पशु हो गये हैं। जो जान लेता है कि वह ब्रह्म ही है, तब वह सब हो जाता है।' 'बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं हो सकती।' 'अज्ञानसे ज्ञान आवृत है' और 'ज्ञानसे अमृतकी प्राप्ति हो जाती है'—हजारों श्रुति और शास्त्र इसके सम्बन्धमें स्पष्टम्-स्पष्टम् निरूपण करते हैं।

महाभारतमें एक प्रसंग आया है कि जब मनुष्यको पता चल जाता है कि यहाँ साँप है, तो उस स्थानको वह छोड़ देता है, वहाँसे हट जाता है; जब मालूम पड़ता है कि यहाँ कुशकी नोंक है तो वहाँ पाँव नहीं रखता है; जब मालूम पड़ता है कि इधर नदी है, तो उस रास्ते नहीं जाता मगर जो नहीं जानता है वह उसमें गिर जाता है। तो ज्ञानवाला बच जाता है और अज्ञानवाला फँस जाता है।

अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिद्, ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्।

ज्ञानका प्रत्यक्ष फल देखनेमें आता है—जान लिया तो मुक्त है और नहीं जाना तो बद्ध है। केवल बन्धन और मुक्ति जानने और न जाननेपर ही निर्भर करती है। इसलिए धर्मानुष्ठान करनेसे पुण्य होता है, स्वर्ग मिलता है, अच्छा जन्म मिलता है, सुख होता है। यह सब ठीक है, लेकिन धर्मानुष्ठानसे मुक्ति नहीं मिलती। उपासनाका अनुष्ठान करनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होगी, ब्रह्मके हजार-हजार रूप तुमको दिखायी पड़ेंगे; लेकिन बिना जिज्ञासाके वहाँ भी ज्ञान नहीं होगा। समाधि लगानेसे चित्तवृत्ति एकाग्र हुई और द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो गया। लेकिन जितना अज्ञान लेकर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होगा, निकलनेके बाद उतना ही अज्ञान फिर उसके पीछे पड़ेगा। क्योंकि जब उसको मालूम है कि बाहर पीपलके पेड़पर भूत रहता है तो वह घरमें किवाड़ी बन्द करके बैठ जाता है उस भूतसे बचनेके लिए। परन्तु घरमें कबतक बैठा रहेगा? आखिर तो निकलेगा और निकलेगा तो

फिर डरेगा—वही पीपलका पेड़ दिखेगा और वही उसमें भूत दिखेगा। लेकिन पहले जाँच तो कर लो, कि पीपलपर भूत है कि नहीं! बोले—है, क्योंकि पत्ते खड़खड़ाते हैं। तो पत्ते तो कड़े होते हैं और हवा लगने पर आपसमें टकराते हैं इसलिए खड़खड़ होती है। बोले—अरे इस पर तो कभी-कभी रोशनी चमकती है। तो कहा—अरे भाई, पीपलके पत्तेमें ऐसा तत्त्व होता है कि वह कभी-कभी चमकता है। बोले—अरे भाई, हमने तो इस परसे आग गिरते देखा है। तो कहा—गाँवमें एकाध आदमी बदमाश हैं, वह कपड़ेमें छोटी-छोटी गाँठ लगाकर बारूद रख देता है, और आग लगा देता है और उसीमें-से वह आग गिरती रहती है।

हम पहले कहते थे कि हमने कभी भूत नहीं देखा, प्रेत नहीं देखा, यह क्या होता है। तो एकने हमको कहा कि अच्छा हम ऐसी युक्ति करेंगे कि तुमको भूत दिख जायेगा। अब हम दरवाजे पर बैठे हुए थे और बहुत दूरपर एक आमका पेड़ था। तो क्या हुआ कि रातको उसने कहा कि भैय्याजी, आज तुम देखना, आज मैंने कह दिया है कि भूत अपना चमत्कार तुमको दिखावे। अब मैं दरवाजेपर बैठा-बैठा देख रहा था। फक्कसे आग गिरी पेड़ परसे। थोड़ी देर कुछ नहीं, चुप्प। फिर थोड़ी देर बाद आग गिरी, थोड़ी-थोड़ी देर बाद आग गिरने लगी। मैं तो डर गया। तो हमारे एक बड़े बूढ़े चाचा थे। उन्होंने बताया कि यह कोई बारूद ले आया है और एक लम्बे कपड़ेमें गाँठ लगाकर कई जगह बारूद बाँध दी है और नीचे उसको दीया-सलाईसे आग लगा दी है। जब वह कपड़ा जलता हुआ बारूदपर पहुँचता है तो फक्कसे फूट जाती है। चलो हम तुमको दिखा दें। हम अपने चाचाके साथ चले गये और जाकर देखा तो वह तो बारूद फूटकर गिर रहा था और कुछ नहीं था।

पर आप देखो, आप उसके द्रष्टा रहोगे तो भूतका भ्रम नहीं मिटेगा और जाँच-पड़ताल करोगे, जिज्ञासा करोगे, उसके सम्बन्धमें पूछ-ताछ करोगे, तब वह भ्रम मिट जायेगा। तो यह जो विश्राममें जाकर बैठना है या द्रष्टा होकर चुपचाप बैठना है, जब घरमें-से निकलोगे, तब यह अज्ञान, यह भ्रम, ये जो चीजें संसारमें तुमने मान रक्खी हैं, वे फिर तुम्हारे सिर पड़ेंगी, लेकिन यदि इस अध्यस्तका अधिष्ठान देखो—यह किसमें है, यह किसको भासता

है, यह क्या है, यह क्यों भासता है—यदि इसका पता लगाओ, तो यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ एक ही ज्ञानस्वरूप परमात्मामें मालूम पड़ रहे हैं—ऐसा ज्ञान हो जायेगा।

तो जो मनुष्य स्थूल शरीरमें या सूक्ष्म शरीरमें अपने आपको मैं समझ लेता है कि यह मैं हूँ, यद्यपि वह परिच्छिन्नका प्रकाशक है, अधिष्ठान है, परिच्छिन्न उसमें अध्यस्त है, फिर भी उसको मैं मान लेनेके कारण वह राग और द्वेषका आश्रय बन जाता है। कर्ता बनकर पाप-पुण्य करता है और फिर पाप-पुण्यके अनुसार अपनेमें सुख-दुःख मानता है। मगर जो अपनेको उस छोटे मैं-से जुदा अनन्त ब्रह्मरूपमें, स्वयंप्रकाश रूपमें जान लेता है, उसमें न राग है, न द्वेष है, न उसमें पाप है, न पुण्य है, न उसमें धर्माधर्म है। वह किसी शास्त्रका विषय नहीं होता और उसका कोई खण्डन नहीं कर सकता। इसलिए केवल अज्ञानके कारण ही यह आत्मा अपनेको संसारी मान करके संसारी-सा हो रहा है। असलमें संसारी नहीं है, संसारी-सा हो रहा है। इसलिए यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक करके मनुष्यको अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्न : यदि क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही है तो फिर अज्ञानी कौन है?

उत्तर : क्षेत्र सब अलग-अलग देखनेमें आते हैं। उनकी शक्ल-सूरत ही अलग-अलग देखनेमें आती है, चीज तो कोई अलग है नहीं—माटी-पानी-आग-हवा-आसमान, कोई मसाला, तो अलग-अलग देखनेमें आता नहीं है, वही-के-वही मसाले हैं, बस शक्ल कोई औरतकी है, कोई मर्दकी, तो प्रतीतिकी दृष्टिसे क्षेत्रको अनेक बताया और सब क्षेत्रोंमें एक-एक क्षेत्रज्ञ बताया—यह तो है प्रतीतिका अनुवाद।

अब क्षेत्रज्ञकी एकता देखो—जैसे सपनेमें हजार आदमी अलग-अलग दीखते हैं—सबकी शक्ल-सूरत अलग-अलग, जाति-पाँति अलग-अलग, नाम अलग-अलग, गुण-स्वभाव अलग-अलग। तो स्वप्नमें क्षेत्र बहुत दिखते हैं और सब क्षेत्रोंमें एक-एक क्षेत्रज्ञ है, सबमें एक-एक जीव है—ऐसी कल्पना भी है; सबके पूर्वजन्म-उत्तरजन्म भी हैं, सबमें राग-द्वेष, मैत्री, शत्रुता सब हैं। परन्तु तत्त्व दृष्टिसे देखो तो सपनेके लाख-लाख मच्छरोंमें,

हजार-हजार मनुष्योंमें और तैंतीस करोड़ देवताओंमें आत्मा एक है कि नहीं? है। एक ही द्रष्टाकी दृष्टिमें सब-के-सब हैं।

स्वप्नमें ऐसा भी लगता है कि अनादिकालसे यह सब-के-सब जीव जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए हैं, न जाने कितने जन्म अबतक भोग चुके हैं और अब देखो, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, सुख-दुःखमें फँसे हुए हैं और आगेके लिए मालूम पड़ता है कि अभी मुक्त होनेमें अमुकको जन्म लगेगा और अमुक साधन-सम्पन्न है तो इसी जन्ममें मुक्त हो जायेगा। किसीके बारेमें लगता है कि अभी तो भगवान् इसको जरा नीचे भेजनेका मजा देंगे। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, तत्त्व दृष्टिसे सबका आत्मा एक है। योगवासिष्ठके अनुसार चतुर्थ भूमिकामें यह प्रपंच ज्ञात-स्वप्नवत् है—जैसे हो तो सपना और मालूम हो कि सपना है। इसका यह अर्थ हुआ कि जो अपना और पराया शरीर दिखता है यहाँ कोई भी कर्ता-भोक्ता नहीं है। जो लोग कहते हैं कि ऐसा करनेसे ऐसा होता है—यह कार्य-कारण भाव जिनकी बुद्धिमें घर करके बैठ गया है, वे वेदान्तका मर्म नहीं समझते हैं। यदि वेदान्तकी दृष्टिसे हम पापी-पुण्यात्मा नहीं हैं, तो दुनियामें कोई पापी-पुण्यात्मा नहीं हैं। यदि हम सुखी-दुःखी नहीं हैं, साक्षी हैं, ब्रह्म हैं, तो दुनियामें कोई सुखी-दुःखी नहीं है, सब साक्षी ब्रह्म ही हैं।

तो आत्माके अज्ञानसे यह जगत् सत्यवत् भान होता है, परन्तु भानात्मासे पृथक् भान नहीं है—*आत्माज्ञानात् जगत् भाति।* 'आत्माज्ञानात्'में अज्ञानका 'अ' आत्मामें मिला हुआ है। यही तो तादात्म्य है अज्ञानवत्त्व हो गया उसमें! ज्ञाताको अज्ञानी मानना यही तो सबसे विपरीत प्रत्यय है। अज्ञान किसको है? कि जानने वालेको है। यह वदतो व्याघात है; जो जाननेवाला है वह अज्ञानी नहीं, जो अज्ञानी है, वह जाननेवाला नहीं—यही विपरीत प्रत्यय है। यही अविद्या है कि हम ज्ञानस्वरूप होकर भी अपने आपको अज्ञानी मानते हैं, अज्ञानधर्मवान् मानते हैं ज्ञाताको।

ज्ञाताका धर्म न सुख है न दुःख है, न मोह है न इच्छा है, न संस्कार है। क्योंकि ये सब व्यभिचरित होते हैं, अदलते-बदलते रहते हैं और ज्ञाता तो एकरस रहता है। धर्म-अधर्म, राग-द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न, ज्ञान-अज्ञान—ये सब बदलते रहते हैं। ये हमारे धर्म हैं, कि हमारे गुण हैं, कि हमारे स्वभाव

हैं—अलग-अलग दर्शनोंमें इनका विचार है, परन्तु वेदान्तके अनुसार आत्माके साथ सिवाय तादात्म्यके इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये अन्यनिष्ठ धर्म हैं, हमारे नहीं।

अब यह पूछता है कि अज्ञानी कौन है? तो बोले—भाई जिसको यह भी नहीं मालूम है कि अज्ञानी कौन है, उसको कौन समझावे कि अज्ञान किसको है? तो अज्ञान कोई ज्ञाताका धर्म नहीं है।

जैसे दुनियामें लोग बातचीत करते हैं तो इनका स्वभाव होता है कि दूसरेको बेवकूफ बना दें और खुद चालाक बन जायें; ऐसे ही अज्ञान किसको? यह प्रश्न पूछनेवाले दूसरोंको तो अज्ञानी बनाना चाहते हैं और खुद ज्ञानी बनना चाहते हैं। तो असलमें यह ज्ञाता जब यही नहीं समझता है कि मेरा अज्ञानके साथ सम्बन्ध नहीं है, अज्ञानका भी मैं ज्ञाता ही हूँ तो उसको कैसे समझावें।

फिर देखो, कैसा अज्ञान? कालके आदि-अन्तका अज्ञान, देशके ओर-छोरका अज्ञान, वस्तुओंकी कार्यावस्था और कारणावस्थाका अज्ञान, इनके अधिष्ठानका अज्ञान, इनके प्रकाशकका अज्ञान और उस अधिष्ठान-प्रकाशकके स्वयं अपना आत्मा होनेका अज्ञान, यह अज्ञान कहाँ है? तो बोले—अच्छा, पूछकर दूसरेको तो बेवकूफ नहीं बनाते लेकिन स्वयंमें यदि यह प्रश्न उठता है तो टाल-मटोल कर देते हैं कि अज्ञान होगा कहीं, हमको नहीं है। गायको लाठी किसने मारी? कि मारी होगी किसीने, हमने नहीं मारी है। तो जैसे दुनियामें लोग अपनेको बचाते हैं, वैसे बचानेकी प्रक्रियासे यह काम नहीं चलेगा—

यः पृच्छति स संशयेनैव पृच्छति।

जो पूछता है, प्रश्न करता है वह संशय होनेपर ही तो पूछता है और संशय तो तभी होता है जब ज्ञान कहता है कि ऐसा है कि वैसा है। संशय माने **उभयकोट्यावगाह्या**—यह चीज है कि नहीं है, ऐसी है कि नहीं है। तो बिना अज्ञानके संशयकी उत्पत्ति ही नहीं होती। आपने गीतामें पढ़ा है—*तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः छित्त्वैनं संशयं*—संशय कहाँ है? कि संशय हृदयमें है। यह कहाँसे आया? बोले—अज्ञानसे आया—**अज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं**। यह अज्ञानसे पैदा हुआ और तुम्हारे हृदयमें है और

अपने हृदयमें ही ज्ञानकी तलवार लेकर इसको काटो। तुम्हारे संशयको, तुम्हारे अज्ञानको दूसरा कोई निवारण नहीं करेगा।

जो ज्ञाता है सो अज्ञ नहीं हो सकता और जो अज्ञ है सो ज्ञाता नहीं हो सकता। तुम अपनेको क्या मानते हो? अज्ञ कि ज्ञाता? क्या जाना तुमने अपनेको? यदि अपनेको तुमने ज्ञाता जाना तो अज्ञान तुम्हारा विषय हो गया। इसपर कोई-कोई कहते हैं कि अज्ञानको जान लेनेसे अज्ञान मिट जाता है, अज्ञानको जानना ही ज्ञान है। पर अज्ञानको जानना ही ज्ञान नहीं है। अज्ञान किसमें है अर्थात् किसको है और अज्ञान किसके बारेमें है माने जब अज्ञानके आश्रय और अज्ञानके विषयकी एकताका ज्ञान होता है तब अज्ञान मिट जाता है।

एक आदमी गाँवमें रहते हैं और मैं उनके बारेमें ठीक-ठीक नहीं जानता। तो ठीक-ठीक नहीं जानता हूँ, इतना जान लेनेसे उस आदमीका ज्ञान तो नहीं हुआ! असलमें तुम ज्ञाता हो, ज्ञानस्वरूप हो, तुममें अज्ञान नहीं है और ब्रह्ममें भी अज्ञान नहीं है। स्वयं प्रकाश ब्रह्ममें अज्ञान नहीं और स्वयं प्रकाश आत्मामें अज्ञान नहीं और स्वयं प्रकाशरूप लक्षण एक होनेके कारण जो ब्रह्म सो आत्मा, जो आत्मा सो ब्रह्म।

तब फिर यह अज्ञान कहाँ? तो देखो, न अज्ञानका कोई आश्रय है, न विषय है। तुम-ही-तुम हो, अज्ञान नहीं है। बोले—यह ग्रन्थिभेद क्या होता है जी? कि अज्ञान न कभी था, न कभी है, न कभी होगा—तुम ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो, ऐसा ज्ञान ही ग्रन्थि-भेद है। अच्छा, फिर यह ग्रन्थि कहाँसे आयी? तो ग्रन्थि तो सिद्ध ही नहीं होती। ज्ञान और अज्ञानकी ग्रन्थि भला क्या हो सकती है? यदि तुमको यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान और अज्ञानकी ग्रन्थि नहीं है, यदि यह तुमको सिद्ध हो गया कि आत्मामें ब्रह्मका अज्ञान नहीं है, तब फिर तुम्हारा अज्ञान मिट गया!

आत्माज्ञानात्—आत्माका अज्ञान होनेपर, अधिष्ठान स्वरूप आत्माके अज्ञानसे यह जगत् सत्यरूपसे भान हो रहा है।

अस्ति भानात्मकं पृथक् किंचित् सत्यम् इति भाति। कस्मात्? आत्माज्ञानात्।

है तो यह जगत् भानात्मक, ज्ञानस्वरूप आत्मासे जुदा नहीं, ***आत्मैव भानं, भानं आत्मा, भानं जगत्, जगत् भानं, जगदात्मा।***

आत्मा भानस्वरूप है, भानात्मा स्वरूप है और जगत् आत्माथा भानसे बिलकुल जुदा नहीं है। परन्तु अपने आपका स्वरूप न जाननेके कारण यह आत्मासे पृथक् सच्चा मालूम पड़ रहा है और **आत्मज्ञानात् सत्यवत् न भासते**—आत्माका ज्ञान हो जानेपर फिर आत्मासे अलग जगत् नामका कोई सत्य है—ऐसा नहीं भासता। तो—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—अलग-अलग जो शरीर दिखते हैं और अलग-अलग इनमें जो जीवात्मा मालूम पड़ते हैं, ये दोनों मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, इस बातको जानना ही सच्चा ज्ञान है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

देखो गीतामें छठे अध्यायमें बताया—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (६.२९-३१)

ये तीनों श्लोक इकट्ठे हैं। एकमें बताया—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

सबमें अपना आत्मा है और सब अपने आत्मामें हैं। माने आत्मा और जगत्का ओत-प्रोत भाव है। जैसे कपड़ेमें सूत और सूतमें कपड़ा, ऐसे आत्मामें जगत् और जगत्में आत्मा है। यह त्वंपदार्थका वर्णन हो गया। आत्मा माने त्वं पदार्थ। आत्मा माने अपना आपा—मैं। मैंमें सब और सबमें मैं। दूसरेमें बताते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

यह तत् पदार्थ हो गया। जो मुझको (ईश्वरको) सबमें और सबको मुझमें (ईश्वरमें) देखता है। श्रीकृष्णका 'माम्' ईश्वर है। तो आत्मामें सब

और सबमें आत्मा, और ईश्वरमें सब और सबमें ईश्वर—इसका मतलब तभी निकल सकता है जब आत्मा और ईश्वर दोनों शब्दोंका अर्थ एक हो। तब आत्मज्ञानकी प्रक्रिया क्या हुई? यह एकत्व अब तीसरे श्लोकमें बताते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वभूतमें आत्मा-परमात्मा, आत्मा-परमात्मामें सब भूत इस प्रकार एकत्वमास्थित, जो परमात्मा सो मैं और जो मैं सो परमात्मा। एकत्वपर आस्था कर लो, क्योंकि लक्षण एक हो गया। जैसे एकने कहा कि मिट्टीमें घड़ा और घड़ेमें मिट्टी और दूसरेने कहा कि पंचभूतमें घट और घटमें पंचमभूत। तो यहाँ पंचमभूत और मृत्तिकाका अर्थ एक हो गया। इसी प्रकार जब कहते हैं कि आत्मामें सब और सबमें आत्मा, मुझमें सब और सबमें मैं तो मैंका अर्थ परमात्मा और आत्मा दोनों एक हो गया कि नहीं? कृष्ण जिसको मैं बोल रहे हैं, उसीको आत्मा शब्दसे कहा है। आत्मासे अभिन्न जो ईश्वर और ईश्वरसे अभिन्न जो आत्मा, उसीमें यह प्रपंच और प्रपंचमें ईश्वर, प्रपंचमें आत्मा।

तो 'एकत्वमास्थित'का अर्थ क्या हुआ कि 'यः आत्मा स एव परमात्मा' 'यः परमात्मा स एव आत्मा' इति एवं एकत्वमास्थितः। इस प्रकार एकत्वपर आस्था कर ली। अब बोले अब कैसे रहें? तो—

सर्वथा वर्तमानोऽपि—वह ब्रह्माके रूपमें सृष्टि बना रहा है, विष्णुके रूपमें पालन कर रहा है, रुद्रके रूपमें संहार कर रहा है। वसिष्ठके समान पौरोहित्य कर रहा है। शुकदेव, वामदेवके समान विरक्त हो रहा है, जनकादिके समान राज्य कर रहा है, सर्वथा वर्तमानोऽपि। सर्वथा व्यवहार करता हुआ भी **स योगी मयि वर्तते।** ***यः स योगी स अहम्, यो अहम् स योगी***—जो मैं हूँ वही योगी है, जो योगी है सो मैं हूँ। **मयि वर्तते।** ***अहं तस्य वर्तनं तस्य वर्तनमहम्।*** उसका व्यवहार मेरा स्वरूप है और मेरा स्वरूप उसका व्यवहार है। उसका चलना बोलना, हिलना-डोलना, खाना-पीना, सोना-जागना सब ब्रह्मस्वरूप ही है।

इस प्रकार एक ही जगह छठें अध्यायमें—त्वं पदार्थका वर्णन है—'सर्वभूतेषु चात्मानं' में, तत् पदार्थका वर्णन है— यो मां पश्यति सर्वत्र' में और 'भजत्येकत्वमास्थितः'में असि पदार्थका वर्णन है। माने यह तत्त्वमस्यादि महावाक्यका निरूपण करनेके लिए ही तीन श्लोक हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धिका अर्थ यही है। अब एक दूसरा स्थान भी देखो, अट्ठारहवें अध्यायमें पहले अधिकारी बताया—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(१८.५१-५३)

फिर त्वं-पदार्थका वर्णन करते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (१८.५४)

'समः सर्वेषु भूतेषु'—यहाँतक त्वं-पदार्थादिका वर्णन है। यह ब्रह्मभूत त्वं-पदार्थ है। माने ब्रह्मभूत जीवात्माका वर्णन है। और आगे—**मद्भक्तिं लभते पराम्**—यहाँसे तत्पदार्थका शोधन प्रारम्भ हुआ। भक्ति माने तत्-पदार्थ ईश्वरका शोधन। ईश्वर क्या है? जरा जगत्के केंचुलसे अलग करके परमात्माको देखो तो यह तत्पदार्थका शोधन होगा।

भक्तिका अर्थ है—अलगाव, विवेक, विभाग, भाग। जैसे एक भाईका भाग और दूसरे भाईका भाग। दर्शन शास्त्रमें—मीमांसामें, पूर्व मीमांसा या न्यायमें जहाँ भक्ति शब्दका प्रयोग आता है वहाँ बोलते हैं—***भक्तिर्लक्षणा:***—भक्ति माने लक्षणा। लक्षणा क्या? कि जैसे जहत् लक्षणा होती है, उसमें स्वार्थ (स्व-अर्थ)का परित्याग करके स्वार्थके सम्बन्धीका ग्रहण होता है। हमने कहा कि जरा उस चश्माको बुला लाओ। तो आदमी चश्मेको नहीं बुलायेगा (जो चश्मा-शब्दका अपना अर्थ है) बल्कि चश्मे वालेको बुलायेगा। (जो व्यक्ति चश्मासे सम्बन्धित है)। जैसे बोलते हैं कि स्वामीजीको सुन रहे हैं। तो यहाँ जहत् लक्षणा है। इसमें स्वामीजी तो धरे रह गये, उनका व्याख्यान सुन रहे हैं। यह बोलनेकी एक शैली है। तो भक्ति माने होता है भाग। भाग माने जगत्का भाग कितना है और ईश्वरका भाग कितना है। **भक्तिर्गौणी**—भक्ति माने विभाग करनेवाली और वह गुणोंके अनुसार पदार्थके दो विभाग

कर देती है—**एतद् जगत्। इदं ब्रह्म।** यह जगत् है और यह ब्रह्म है। यह विभाग जिसमें होता है उसीको भक्ति बोलते हैं। ईश्वर और प्रपञ्चका यदि विभाग न हो तो भक्ति काहेकी?

बोले—कि भाई देखो हम तो ईश्वरकी खूब पूजा करते हैं और बड़े ठाट-बाटसे करते हैं, लाखों रुपये खर्च करते हैं पूजामें। अरे भाई कब करते हो किस दिन करते हो? बोले—दीवालीके दिन करते हैं तिजोरीमें-से सोना-चाँदी निकालकर। हमारा ईश्वर तो सोना चाँदी है, हम उसकी पूजा करते हैं। जब सोना-चाँदी ही ईश्वर हो गया तो विभाग कहाँ हुआ? माने सोना-चाँदीको अलग करो और ईश्वरको अलग समझो, तब भक्ति होगी और सोना-चाँदीको ही ईश्वर समझोगे तो भक्ति नहीं हुई। भक्ति माने भाग कर देना—यह संसार है और यह ईश्वर है—**मद्भक्तिं लभते पराम्।** भगवान्‌की परा भक्ति, शुद्धभक्ति अर्थात् जिसमें भगवान्-ही-भगवान् शेष रह जायँ ऐसी भक्ति प्राप्त होती है। यही तत्पदार्थका शोधन है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (१८.५५)

भक्तिसे भगवान्‌की पहचान होती है। अभिज्ञान माने पहचान, लक्षण-समन्वय। ज्ञान और अभिज्ञानमें थोड़ा फर्क होता है। '**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**'का नाम आपने सुना होगा। शकुन्तलाके हाथकी अँगूठी खो गयी थी और दुष्यन्त शकुन्तलाको पहचानना ही भूल गया था; जब अँगूठी आयी तो पहचान हो गयी। उसीको अभिज्ञान बोलते है—माने जिस चिह्नके कारण दुष्यन्तने शकुन्तलाको पहचान लिया। तो '**अभिजानाति**' माने भगवान्‌की जो श्रौत पहचान है, श्रौत लक्षण है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।
अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्। तद् एतद् ब्रह्म।

यह ईश्वरकी पहचान है। यह 'अभिजानाति'का अर्थ हुआ, ब्रह्मके लक्षणका ज्ञान हो गया।

यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः—भगवान् अविनाशी है और तत्त्वतः भगवान् आत्मा ही हैं, चैतन्य हैं, चिन्मात्र हैं भगवान्, चिद्धातु हैं भगवान् यह तत्त्वतः भगवान्‌का ज्ञान है।

तो फिर अब बस हो गया पूरा? इधर अपनेको जान लिया कि मैं प्रसन्नात्मा, शोक और आकांक्षासे रहित, सर्वभूतमें सम और विभु आत्मा हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ, विभु हूँ। अपना ज्ञान पूरा हो गया? कि नहीं पूरा नहीं हुआ। क्योंकि जिसमें तुम विभु (व्याप्त) हो उससे तुम न्यारे हो गये, कार्य कारणकी परिणामी अवस्थाको पकड़े हुए हो। जब ईश्वरका विवेक करोगे तब मालूम पड़ेगा कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ईश्वरका विवर्त है। तब?

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

'**तत्त्वतो ज्ञात्वा**'में एकताका नाम ही तत्त्व है। ***यत्र तत् तत् न भवति, त्वं त्वं न भवति, किन्तु तत् त्वं भवति, त्वं तद् भवति। यत्र तत् त्वयोः भेदो न भवति***—जहाँ तत्त्व हो जाता है। त्व तत् हो जाता है, जहाँ तत् त्वंका भेद नहीं रह जाता है। वह तत्त्व है। **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्।** अर्थात् स्वयं **तद् भवति**, **ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।** पहलेसे ब्रह्म था और ब्रह्म हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।** भगवान् कहते हैं क्षेत्रज्ञ और मैं—ये दोनों दो नहीं हैं, एक ही हैं। **मां विद्धि क्षेत्रज्ञं चापि विद्धि। क्षेत्रज्ञं विद्धि मां चापि विद्धि। क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि उभयो** ऐक्यं विद्धि। इसका अर्थ हुआ क्षेत्रज्ञको जानो और मुझे जानो, मुझे जानो और क्षेत्रज्ञको जानो, और क्षेत्रज्ञ और मेरी एकताको जानो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका प्रकाशक जो ज्ञान है वही मेरे मतमें ज्ञान है। संसारमें ज्ञानका प्रतिनिधि है शब्द। जैसे एक राजाका प्रतिनिधि राजाकी तरहसे बोलता है, वैसे शब्द ज्ञानका प्रतिनिधि है भगवान् विष्णुका वाहन है गरुड़ वैसे ही आत्मज्ञानका वाहन है शास्त्र शब्द। गरुड़ शब्दस्तोम हैं, उनपर आरुढ़ ज्ञानस्वरूप भगवान्का दर्शन करो।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विस्तृत वर्णनकी प्रतिज्ञा

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

अब आओ, इन्हीं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अलग-अलग विस्तृत विवेक करें, जिससे फिर दोनोंकी एकता भी इनके ब्रह्मस्वरूपमें समझमें आजायेगी। पहले भगवान् इनके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ १३.३

अर्थः—वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जैसे विकारवाला है, जिस कारणसे है और जो कार्यरूप है तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है, उसको संक्षेपसे मुझसे सुनो।

तत्क्षेत्रं यत् च=वह क्षेत्र जो है। **यादृक् च**=वह जैसे स्वभाव वाला है—वह विकारी है या निर्विकार है। **यद् विकारि**=वह विकारी है तो उसमें क्या-क्या विकार हैं। **यतः च यत्**=क्षेत्रका कारण क्या है और उसका कार्यरूप क्या है। **च स यो यत्प्रभावश्च**=और वह क्षेत्रज्ञ जो है और वह जिस प्रभाववाला है। **तत् समासेन मे शृणु**=उस सबको संक्षेपसे मुझसे सुनो। संक्षेपसे इसलिए कि विस्तारसे तो सारे शास्त्रोंमें इनका वर्णन है ही। सारे शास्त्रोंमें क्षेत्रका क्षेत्रज्ञका और दोनोंकी एकताका ही वर्णन तो किया गया है। इसीमें सारे शास्त्र समाये हुए हैं।

क्षेत्रज्ञके किस प्रभाव-वर्णनकी यहाँ प्रतिज्ञा है? तो यह क्षेत्रज्ञ ऐसा राजा है महाराजा कि इसमें न द्वैत है और न यह द्वैतका संसर्गी है। वरना महाराजा राजा तो ऐसे भी होते हैं कि कोई रानीके वशमें होते हैं, कोई पुत्रके, कोई मन्त्रीके वशमें होते हैं, कोई प्रजाके। परन्तु यह क्षेत्रज्ञ तो ब्रह्म है जिसमें सब है परन्तु जो सबसे असंग है।

ज्ञानकी सनातन परम्परा

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके जिस वर्णनकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं वह सनातन परंम्परासे प्राप्त है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ १३.१४

अर्थः—ऋषियोंने बहुत प्रकारसे इसको गाया है, अनेक श्रुतियोंमें इनका पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। और ब्रह्मसूचक अनेक सूत्रों व पदोंमें इनका युक्ति निश्चय किया गया है।

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी एकता-ये तीन विषय यहाँ उपक्षिप्त किये गये हैं। कहते है कि इन तीनों विषयोंका वर्णन ऋषियोंने बहुत प्रकारसे किया है **ऋषिभिः बहुधा गीतम्**। कौनसे ऋषि हैं? गौतम हैं, कणाद हैं, कपिल हैं, पतञ्जलि हैं, जैमिनि हैं। इन ऋषियोंने बहुत तरहसे वर्णन किया है। और **विविधैः छन्दोभिः पृथक्-पृथक् गीतम्**—वेदके अनेक मन्त्रोंने भी पृथक्-पृथक् माने अलग ढंगसे इसका वर्णन किया है।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतु मद्भिर्विनिश्चितैः-ब्रह्मके सूचक जो पद हैं, उनको बोलते हैं—ब्रह्मसूत्रपद—जिसको वेदान्त दर्शन आजकल कहते हैं, ***अथातो ब्रह्म जिज्ञासा***से जो प्रारम्भ होता है। श्रीमद्‌भागवतका भी ब्रह्मसूत्रपदसे ग्रहण हो जाता है। श्रीमद्‌भागवत—***सत्यं परं धीमहि***से प्रारम्भ होता है। कई लोगोंको ब्रह्म नामसे चिढ़ होती है। लेकिन जिसको ब्रह्म नामसे चिढ़ होती है, वह अपने ही आचार्यका द्रोही है। अरे भाई भगवान्‌के बहुत-से नाम हैं, तो 'ब्रह्म' भी भगवान्‌का एक नाम है, तुमको ब्रह्म नामसे चिढ़ क्यों है? मैंने यह कहा कि जो ब्रह्म नामसे द्रोह करता है वह अपने आचार्यका द्रोही है। क्योंकि ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या जब रामानुजाचार्यने की और उनके सम्प्रदायके अनुयायियोंने की तो ***'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'***—का अर्थ उन्होंने किया कि नहीं किया? और ब्रह्म शब्दका अर्थ परिपूर्ण परमेश्वर ही किया कि नहीं किया? चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म ही किया कि नहीं किया?

अच्छा मध्वाचार्यने जब ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की और उसमें ***अथातो ब्रह्म जिज्ञासा***—इस सूत्रकी व्याख्या की तो वहाँ ब्रह्मपदका अर्थ नारायण लिया कि नहीं लिया?

अच्छा वल्लभाचार्यजीने जब व्याख्या की तो वहाँ ब्रह्म शब्दका अर्थ पुरुषोत्तम लिया कि नहीं लिया? निम्बार्काचार्यने वेदान्त दर्शनकी व्याख्या की तो वहाँ ब्रह्म शब्दका अर्थ उन्होंने परमेश्वर ही किया कि नहीं किया? गौड़ेश्वर सम्प्रदायमें बलदेव विद्याभूषण जब ब्रह्म सूत्रकी व्याख्या करते हैं, तो वे ब्रह्म शब्दका अर्थ परमेश्वर ही मानते हैं कि नहीं?

तो ब्रह्म शब्दसे चिढ़ना माने अपने आचार्यके द्वारा माने हुए स्वीकृत भगवान्‌के एक नामसे चिढ़ना।

अब आप देखो यदि उसमें ***अथातो ब्रह्मा जिज्ञासा*** रहता तो एक कोनेमें हो जाता ना! ***'अथातो विष्णु जिज्ञासा'***होता तो? एक शक्ल सूरतकी तरफ ध्यान जाता कि नहीं? ***'अथातो देवी जिज्ञासा' 'अथातो सूर्य जिज्ञासा'*** सबकी यही गति होती। ब्रह्म जिज्ञासा होनेसे क्या हुआ कि जो सूर्यमें है, जो देवीमें है, जो विष्णुमें है, जो ब्रह्मामें है, जो रुद्रमें है, जो इन्द्रमें है—शक्ल-सूरत अलग हानेपर भी जो सबमें एक अनन्त अखण्ड है— उसकी जिज्ञासा हुई। तो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वकी जिज्ञासा करनेके लिए ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति होती

है। मध्वाचार्यजी महाराजका ब्रह्मसूत्रपर जो व्याख्यान है, उन्होंने श्रुतियोंका समन्वय नहीं किया है, पुराण वाक्योंका समन्वय किया है। वे प्रत्येक सूत्रपर इतिहास-पुराणके वचन उद्धृत करके उनका समन्वय करते हैं।

अच्छा समझ लो भागवतमें ही—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

अगर होता *'शम्भुं परं धीमहि'*, तो श्लोक तो ठीक होता कि नहीं? *'कृष्णं पर धीमहि, रामं परं धीमहि, विष्णुं परं धीमहि, शक्तिं परां धीमहि, भानुं परं धीमहि'*—शब्द तो बैठ जाता। लेकिन जिसने 'सत्यं परं धीमहि' शब्दका प्रयोग किया होगा, उसने उन लोगोंको जो केवल अपने-अपने इष्टदेवके अतिरिक्त दूसरे नाम और दूसरे रूपका अनादर करते हैं, यह बतानेके लिए किया कि 'सत्य' सबमें है। खास नाम और खास रूप उपासकके कल्याणके लिए है, वह साधककी भलाईके लिए है। एक नामका वह जप करे, एक रूपका ध्यान करे और अपने हृदयसे वासनाओंको निकाले और अपने हृदयको भगवान्‌के आने योग्य निर्मल बनावे—इसके लिए है। परन्तु वेदान्तमें माने उपनिषद्‌में, वेदके अन्तिम भागमें, ब्रह्म शब्दका जो प्रयोग स्थान-स्थान पर आया है, वह उस एक सत्यकी सूचना करनेके लिए है—चुगली करनेके लिए है—*सूचनात् सूत्रम्*—सूचना पहुँचानेके लिए कि देखो उपनिषद् क्या बोलती है। और यहाँ गीतामें तो **पदैश्च** है, श्लोक भी नहीं है। ब्रह्मसूचक केवल पद है। जैसे *आत्मा इति। आत्मेति उपासीत्।* बृहदारण्यक उपनिषद्‌में आया *'आत्मेति ग्राह्यन्ति।'*

तो ब्रह्मसूत्रादि कैसे हैं? कि हेतुमान और विनिश्चित हैं। कारण बताकर, हेतु बताकर कि किस हेतुसे यह बात कहते हैं और विनिश्चय करके उसमें संशयकी कोई बात छोड़ी नहीं गयी हैं। पूर्वपक्ष करके उसकी बात पूरी कही गयी है, फिर उत्तरपक्ष करके उसका समाधान किया गया है। फिर सिद्धान्तकी स्थापना की गयी है। जैसे किसी जजके सामने मुकदमा हो, तो किस विषयका यह मुकदमा है? एक खेतके बारेमें यह मुकदमा है। यह खेत किसका है?

'अ' का है कि 'ब' का है? बोले—'अ' अपने पक्षमें यह-यह युक्ति देता है कि यह खेत हमारा है और 'ब' अपने पक्षमें यह-यह युक्ति देता है कि यह खेत हमारा है। दोनोंकी युक्ति बिल्कुल ठीक-ठीक आगयी? कि आगयी, तो अब दोनोंके बयानका मिलान करके फैसला देना, सिद्धान्तका निर्णय करना है। ब्रह्मसूत्रमें इसीको अधिकरण बोलते हैं। विषय क्या है, 'उसपर संशय क्या है? पूर्वपक्षीका क्या कहना है? उत्तर-पक्षीका क्या कहना है? दोनोंकी बात सुनकरके निर्णय किस पक्षमें करना ठीक है—इन पाँच बातोंसे ब्रह्मसूत्र बनते हैं। तो वे हेतुमान हैं और बिल्कुल विनिश्चित सिद्धान्तके प्रतिपादक हैं।

ऋषिभिर्बहुधा गीतम्—ऋषियोंने वर्णन किया कि आत्मा शुद्ध है, अक्षर है, शान्त है, निर्गुण है, प्रकृतिसे परे है। श्रीमद्‌भागवतके सातवें स्कन्धमें प्रह्लादने जहाँ बालकोंको उपदेश किया है वहाँ बारह लक्षण आत्माके और बारह ही लक्षण अनात्माके बताये हैं।

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥

(भाग. ७.७.१९-२०)

आत्मा नित्य है, देह अनित्य है। आत्मा शुद्ध है, देह अशुद्ध है। आत्मा अव्यय है, देह व्ययशाली है। आत्मा व्यापक है, देह व्याप्य है। आत्मा असंग है, देह संगी है। आत्मा अनावृत है, देह आवृत है।

वहाँ बताया कि ये बारह-बारह लक्षण आत्मा और अनात्माके हैं। तो जैसे मूँजमें-से सींक निकाल लेते हैं, जैसे म्यानमें-से तलवार निकाल लेते हैं, ऐसे अपने आत्माको इस शरीरसे अलग कर लेना चाहिए।

पिण्डः पृथग्गतः पुंसः शिरः पाण्यादिलक्षणः।
ततोऽहमिति पुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम्॥

शरीरमें हाथ अलग हैं, पाँव अलग हैं, सिर अलग, आँख अलग, नाक अलग यह तो एक पिण्ड है और इसमें ये रेखाएँ बना दी गयी हैं। इनमेंसे राजन्—इस शरीरमें मैं नामकी कौन-सी चीज है—

एतत् तव शिरः किन्तु उरः पाणिस्तथोदरम्।
किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते॥

क्या तुम सिर हो कि तुम्हारा सिर है? तुम्हारी छाती है कि तुम छाती हो? तुम्हारा पेट है कि तुम पेट हो? तुम्हारा पाँव है कि तुम पाँववाले हो? यह जो इस शरीरमें अहं-अहं बोल रहे हो, यह तुम्हारा अहं क्या है?

समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथक्तया व्यवस्थितः।
देहात्पृथक् कोऽहमिति भूत्वा चिन्त्य पार्थिव॥

तुम सम्पूर्ण शरीरके अवयवोंसे अलग होकरके बैठे हुए हो, जरा गौर करके चिन्तन करो कि जिसको तुम अहं बोलते हो—मैं बोलते हो, वह चीज क्या है? 'कोऽहम्' मैं कौन हूँ।

छन्दोभिर्विविधैः पृथक्—श्रुतियोंने भी अलग-अलग तरहसे वर्णन किया—*अदृष्टं द्रष्टृ। अश्रुतं श्रोतृ। अमतं मन्तृ।* जो दृश्य नहीं, द्रष्टा है, श्रुत नहीं है श्रोता है, माने क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ पृथक् है, यह बात स्पष्टम्-स्पष्टम् बतायी जाती है। फिर **ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव**—ब्रह्मसूत्रमें इसके अनेक प्रसंग हैं—'*न वियदश्रुतेः*' (२.३.१) यह आकाश आत्मा नहीं है। माने आकाशादि पंचभूत आत्मा नहीं हैं। क्योंकि '*अश्रुतेः*' हैं—श्रुतिसे अप्रतिपादित हैं ये। यहाँसे लेकरके—*नात्माश्रुते नित्यत्वाच्च ताभ्यः* (२.३.१७) तक ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके तीसरे पादमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेचन है; अन्तमें *ज्ञोऽत एव* (२.३.१८) सूत्र आया जिसमें बताया कि यह आत्मा ज्ञाता है।

हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः तो क्षेत्र ज्ञेय है और आत्मा ज्ञाता है—यह विवेक कर लो। '**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव**'में कारण भी बताये गये हैं और बिलकुल पक्का निश्चय किया गया है।

क्षेत्रका वर्णन-१

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

भगवान् पहले क्षेत्रका स्वरूप सुनाते हैं—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

अर्थः—(क्षेत्रके अवयवोंमें पहले २४ तत्त्वोंके नाम गिनाते हैं:) पंचमहाभूत (सूक्ष्म तन्मात्राएँ) अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त, दश इन्द्रियाँ, एक मन (अन्तःकरण), और पाँच इन्द्रियोंके विषय (शब्द स्पर्शादि) इस श्लोककी पहली अर्द्धालीमें जिन आठ वस्तुओंका नाम आया है वे वही आठ हैं सातवें अध्यायमें अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत गिनाया है:—

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (७.४)

पाँच महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशकी सूक्ष्म तन्मात्राएँ), अहंकार बुद्धि यानी महत्तत्त्व और अव्यक्त-प्रकृति यह अष्टधा प्रकृति क्षेत्र हैं। फिर षोडशविकारोंको दूसरी अर्द्धालीमें क्षेत्रमें ले लिया। सांख्यमें चौबीस तत्त्व मानते हैं-मानें प्रकृतिके चौबीस भेद मानते हैं। पच्चीसवाँ तो पुरुष है। तो इन्द्रियाणि दस (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-कान, नेत्र, त्वचा, रसना और नाक तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा); और *एकं च-मनः* (पूरा अन्तःकरण)। और *पंच च इन्द्रियगोचराः*-इन्द्रियोंके पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)। इस प्रकार ये सांख्योक्त सोलह विकार हुए—***'षोडश तु विकाराः'।***

ये पंच महाभूत सब विकारोंमें व्याप्त हैं। विकार माने जितनी विकृति होती है जैसे, पेड़ बना, खटमल बना, पक्षी बना, चौपाया बना, मनुष्य बना, इन्द्रियाँ बनीं, मन बना—ये सब पंचमहाभूतसे ही बनते हैं। आप विचार करके देखो तब मालूम पड़ेगा। जैसे पैसा कमानेके लिए सोचते हैं कि किस ढंगसे मिलेगा, वैसे आत्माकी उपलब्धि कैसे होगी—इसके लिए भी थोड़ी बुद्धि लगानी चाहिए।

देखो कोई-कोई भक्त ऐसे होते हैं, जो गीताको तो मानते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णको नहीं मानते हैं और कोई-कोई भक्त ऐसे होते हैं कि भगवान् कृष्णको तो मानते हैं, परन्तु गीताको नहीं मानते। यह ऐसा है कि कोई गुरुकी तो पूजा करे और उसकी आज्ञा न माने और उसकी आज्ञा तो माने, लेकिन उसका तिरस्कार करे। तो आप धन कमानेमें तो बुद्धि लगाते हो और मन लगाते हो थोड़ी देर ईश्वरकी प्राप्तिके लिए, तो मन भी नहीं लगता। मन भी उसीमें लगेगा जिसको तुम बुद्धिसे श्रेष्ठ समझ रहे हो। बुद्धिसे सोच-सोचकर धन कमानेकी युक्ति निकालते हैं, तो धनको बहुत कीमती समझते हैं। अब थोड़ी देर बुद्धिको एक ओर करके मनसे सोचने लगे कि हे भगवान्, हमारे ऊपर तुम प्रसन्न हो जाओ! अब भगवान् भी अगर पूछें कि कैसे प्रसन्न मैं होऊँगा तुम्हारे ऊपर, क्या करूँ तब तुम समझोगे कि हम प्रसन्न हैं, तो यही कहेंगे कि हमारे घरमें धन भेज दो तो थोड़ी बुद्धि लगानी चाहिए।

यह बात देखनेमें आती है कि हम रूप देखते हैं आँखसे, तो आँखमें भी रूप है और जो दिखता है वह भी रूप है। मनमें भी रूपकी कल्पना आती है। ये पंचतन्मात्रा तीन रूपमें दिखायी पड़ रही है—विषयमें भी रूप बनकर वही है, आँखमें भी रूप बनकर वही है और मनमें भी रूपकी कल्पना बनकर वही है। आध्यात्मिक रूप आँख और मन है, आधिभौतिक रूप बाहर जो काला-पीला-नीला दिखायी पड़ता है सो है और आधिदैविक सूर्य है। इसी तरह हम पाँच इन्द्रियोंके द्वारा पाँच पदार्थोंको देखते हैं।

पदार्थोंकी छानबीन करके उनके रूपका निश्चय करना—यह वैज्ञानिक पद्धति है और अपने अनुभवकी छानबीन करके पदार्थोंका निश्चय करना—यह आध्यात्मिक पद्धति है।

हमारे पास पाँच इन्द्रियाँ स्पष्ट रूपसे मालूम पड़ती हैं। नाकसे गन्धकी उपलब्धि होती है, वह किसी दूसरे इन्द्रियसे नहीं होती। नाक अगर बता दे कि गन्ध है तो आँख मना भी करे तब भी गन्ध है, कान मना करे तब भी गन्ध है, त्वचा मना करे तब भी गन्ध है। गन्धके बारेमें नासिका ही प्रमाण है। इसी प्रकार स्वादके बारेमें अगर जीभ बता दे कि यह खट्टी है, मीठा है, नमकीन है और आँख कहे कि इसमें तो नमक नहीं मालूम पड़ता या शक्कर नहीं मालूम पड़ती तो आप मानेंगे? देखो आप एक ही हो और आपकी ही आँख

है और आपकी ही जीभ है और आपकी ही नाक है। तो जिह्वा एक दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा अननुभूत और दूसरी इन्द्रियोंसे अबाध्य रस नामक वस्तुका ज्ञान कराती है, इसलिए जिह्वा प्रमाण है। नासिका दूसरी इन्द्रियोंसे अज्ञात और दूसरी इन्द्रियोंसे अबाधित एक गन्ध नामकी वस्तुका ज्ञान कराती है इसलिए नासिका प्रमाण है। ऐसे ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे शरीर में हैं और वे पाँच विषयोंका बोध कराती हैं। वे जो पाँच विषय होते हैं, वे तो पाँचों मिले हुए हों, लेकिन इन्द्रियोंमें पाँचों मिले हुए नहीं होते हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है। एक गुलाबका फूल है, नाकने उसमें गन्ध बताया, जीभने उसमें रस बताया, त्वचाने उसमें स्पर्श बताया, आँखने उसमें रूप बताया। लेकिन आँखने रूप ही दिखाया, गन्ध नहीं, त्वचाने स्पर्श ही बताया, रूप नहीं, नाकने गन्ध ही बताया, स्वाद नहीं। और जिह्वाने स्वाद ही बताया, गन्ध नहीं। तो बाहरके गुलाबके फूलसे इन्द्रियोंमें वि[illegible]णता हो गयी ना, गुलाबका फूल पाँच भौतिक है और इन्द्रियाँ हमारी एक भौतिक है। इसीको कहते हैं अपञ्चीकृत पंचभूत। विषय तो पञ्चीकृत पञ्चभूतमें दिखायी पड़ते हैं और इन्द्रियाँ अपञ्चीकृत पञ्चभूतमें हैं, क्योंकि एक-एक विषयको ग्रहण करती हैं।

अब देखो एक-एक इन्द्रिय एक-एक विषयको दिखाती है, लेकिन मनीराम पाँचों विषयोंको बताते हैं। बताते नहीं हैं, आँख बन्द रहे, कानमें रुई ठुँसी रहे, नाक भी बन्द रहे, जीभ पर कुछ स्वाद न हो, तब भी ये मनीराम भूत, भविष्य, वर्तमानके रूप, रस, गन्धको भी बता देते हैं। तो इन्द्रियोंकी अपेक्षा विशेषता हुई ना! इन्द्रियाँ केवल प्रत्यक्षको ही बतलाती हैं और मनीराम कल्पनात्मक होनेसे बीते कलके शक्करकी मिठासका अनुभव भी करा देता है। और आनेवाले कलमें कलकत्ता पहुँचकर जो रसगुल्ला खाना है, वह बात भी आज मन बता सकता है, जीभ नहीं बता सकती। तो क्या हुआ कि मनमें स्मृति कल्पनाका विशेष है, इन्द्रियोंमें स्मृति कल्पनाका विशेष नहीं है, इन्द्रियाँ तो केवल जो सामने आया सो बता दिया।

अब देखो एक मन भी पाँचको ग्रहण करता है और पाँच इन्द्रियाँ पाँचको ग्रहण करती हैं। मन भी पाँचको ग्रहण करता है और एक विषयमें पाँच रहता है। तो क्या अद्भुत लीला हुई इसमें, कि मन पाँच तो बताता है लेकिन एक साथ पाँचको नहीं बताता, एक बार एक ही बताता है। दूसरी

बार दूसरा बताता है, तीसरी बार तीसरा बताता है। यह जो मालूम पड़ता है कि हमारा मन ही एक साथ कई चीज बता रहा है, वह मनकी गतिमें जो तीव्रता है, उसका ग्रहण न होनेसे ऐसा मालूम पड़ता है। तो ये जो पंच तन्मात्राएँ हैं उनमें आप देखो कि विषयमें तो पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत है और इन्द्रियोंमें अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं और मनमें अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतका संघात है, संग है।

महाभूतोंकी सात्त्विक तन्मात्रासे मन और इन्द्रियाँ बनती हैं, उनकी तामस तन्मात्रासे विषय बनते हैं और राजस तन्मात्रासे कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं और ये ज्ञानेन्द्रियोंकी पूरक हैं—नौकर हैं। ये चपरासी हैं। एक सज्जनसे किसीने पूछा कि आप किसी आफिसमें काम करते हैं? कि हाँ करते हैं। क्या करते हैं वहाँ आप? कि मैं वहाँ कार्यकर्त्ता हूँ। तो मैनेजर हो? बोले—नहीं, मैनेजर तो सिर्फ दस्तखत करनेका काम करता है। अरे तो क्लर्क हो? कि वह तो लिखा-पढ़ीका ज्यादा काम करता है, ये लोग तो दफ्तरमें बैठे रहते हैं, काम तो मैं ही करता हूँ। दफ्तरमें जितनी फाइल हैं उनको यहाँसे वहाँ पहुँचाना, वहाँ सफाई रखना, पानी देना अपने हाथसे पीनेके लिए, कर्म-कर्ता तो मैं ही हूँ। बाकी तो ये बैठे-ठाले बाबू लोग हैं।

देखो, कान सुनना चाहता है और जीभ बोलती है। दोनोंमें आकाश तन्मात्रा है—एकमें सुननेवाली, माने शब्दका ज्ञान प्राप्त करनेवाली और एकमें शब्दके उच्चारणकी क्रिया करनेवाली। तो क्रिया करनेवाली तन्मात्रा रज:प्रधान है और सुननेवाली, जाननेवाली जहाँ है वहाँ सत्त्व प्रधान है और जिसके टक्करसे शब्द उत्पन्न होता है, वह? तम: प्रधान है। नगाड़े पर पीट दिया तो नगाड़ेमें जो ध्वनि है वह तामस आकाशका कार्य है; वाक्‌में जो शब्द है वह राजस आकाशसे उत्पन्न होता है, और कानमें जो शब्द-शक्ति है वह सात्त्विक आकाशसे आयी है। इसी प्रकार, त्वचा छूना चाहती है और हाथ उसमें सहायता करता है। दोनोंमें वायुकी स्पर्श-तन्मात्रा है—त्वचामें सात्त्विक और हाथमें राजस; विषयमें जो कोमलता-कठोरताके गुण हैं वह वायुकी स्पर्श तन्मात्राके तामस अंश हैं। नेत्र देखना चाहते हैं तो पैर दृश्य तक पहुँचानेमें मदद करते हैं। दोनोंमें तेजकी रूप-तन्मात्रा है—नेत्रमें सात्त्विक और पैरमें राजस। विषयगत रूप गुणरूप तन्मात्राका तामस अंश है। रसना रस ग्रहण

करती है और उपस्थ रस विसर्जित करता है। अत: रसनेन्द्रियमें रस-तन्मात्राका सात्त्विक अंश है और उपस्थमें राजस; विषयगत रस-गुण उसका तामस अंश है। नाक गन्ध ग्रहण करती है और गुदा गन्ध विसर्जित करती है। अत: नाकमें गन्ध-तन्मात्रका सात्त्विक अंश है और गुदामें राजस अंश है; विषयगत गन्ध-गुण उसीका तामस अंश है। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—कान, त्वचा, नेत्र, रसना और नाक—मालिक हैं और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—उनकी नौकर हैं, चपरासी हैं, पूरक हैं। परन्तु हैं सब पंचभूतोंकी ही रचना। विषयमें पंचीकृत पाँचों भूत हैं (तामसांश), इन्द्रियोंमें राजस और सात्त्विकांशसे एक-एक भूत हैं अपंचीकृत रूपमें और मनमें पाँचोंके सात्त्विकांश हैं अपंचीकृत रूपमें, प्राणोंमें पाँचोंका सम्मिलित राजसांश है अपंचीकृत रूपमें।

अब इस शरीरमें सुख-दु:खका भोक्ता कौन है? तो वह तो मनसे संयुक्त आत्मा ही है। इसमें मन क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

अब एक बात और सोचो। यदि आपको यन्त्रका, मशीनका ज्यादा अभिमान हो, तो कोई मशीन करण होकर कोई वस्तु हमको नहीं लखाती, उपकरण होकरके लखाती है। मतलब? करण तो है यह आँख और उपकरण है चश्मा, दूरबीन, खुर्दबीन। माने हमारे करणोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेमें मददगार हैं उपकरण। अब देखो—

पंचभूतानि आत्मा न भवन्ति पंचत्वात् ज्ञेयत्वात्।

ये पंचमहाभूत आत्मा नहीं हैं, क्यों? कि ***पञ्चत्वात्***—ये पाँच हैं और आत्मा एक है। ***ज्ञेयत्वात्***—महाभूत ज्ञेय हैं, ज्ञानके विषय हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं। पाँच तो किसीके लिए होते हैं—***संघातस्य परार्थत्वात्***—यह दृश्य द्रष्टाके लिए हैं, ज्ञेय ज्ञाताके लिए है, ये पाँच एकके लिए हैं। तो पञ्चभूतसे बना हुआ यह शरीर और पञ्चभूतसे बने हुए विषय और पञ्चभूतके गुणोंको ग्रहण करनेवाली सात्त्विक तन्मात्राओंसे बनी हुई इन्द्रियाँ—एक-एक अलग-अलग, और सबका समूह मन आत्मा कैसे हो सकता है!

महाभूतोंको महाभूत क्यों कहते हैं? ये महान भी हैं और भूत भी हैं। पैदा भी हुए हैं और महान भी हैं। जो पैदा होवे उसको भूत बोलते हैं। पैदा क्यों हुए हैं? क्योंकि इनका लय सुषुप्तिमें देखनेमें आता है। व्यवहारमें भी

कार्यका कारणमें लय देखनेमें आता है। *'भवन्तीति भूतानि'*—जो होते हैं उनको भूत बोलते हैं और *'महानीति भूतानि महाभूतानि'* महान हैं इसलिए महाभूत हैं।

ये बड़े-बड़े भूत हैं। एक तो छोटे-छोटे भूत होते हैं, जो किसी पीपलकी डाल ही हिला दें। हमारे गाँवके पास एक बार बड़ा विचित्र हुआ। एक चर्मकार था। रोज गाँवमें जाता, रातको देरसे लौटता। एक ठाकुर साहब थे। एक दिन मजाक सूझा। रास्तेमें महुआका पेड़ पड़ता था। वे शामको गये। उसपर चढ़के देखा कि चर्मकार आरहा है। जब वह चर्मकार महुआके पेड़के नीचेसे निकला, तो बड़े जोरसे उन्होंने डाल हिला दी। रातका समय, चर्मकारने समझा कि कोई भूत है। तुरन्त वह बीमार पड़ा, डरके मारे उसको बुखार आगया। यह मनोवृत्तिका प्रभाव शरीरपर बहुत ज्यादा पड़ता है, इसको आप कम नहीं समझना। मन ही भूत है। अब वह आकर घरमें बोला ही नहीं। सयाने लोग बुलाये गये। कोई भभूत लगावे कोई हाथ पैर पीटे, कोई कुछ करे, लेकिन वह अच्छा ही न हो, वह तो मरणासन्न हो गया। एकदिन उन ठाकुर साहबके मनमें आयी कि उसका क्या हुआ, जिसको मैंने डराया था। जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि बीमार है। तो खुद ही उन्होंने एक आदमीसे कहलाया कि वे ठाकुर साहब भूत प्रेतके बारेमें बहुत ज्यादा जानते हैं और वे चाहें तो तुरन्त अच्छा कर सकते हैं। उसके घरके लोग बुलाकर ले आये। आकर उन्होंने हाथ-पाँव खूब पीटा, धर्मकी जय, पापकी क्षय, देवता होकर झूठ बोले—हो जाये सत्यानाश। वह सब उन्होंने अपना ढोंग फैलाया और बोले कि मैं मार डालूँगा, छोड़ूगा नहीं, कि कौन हो महाराज तुम? तो बोले कि वही महुआपर मैं तुमको मिला था ना! क्यों तुम रातको महुआके नीचेसे निकलते हो और हमको हाथ नहीं जोड़ते हो? तो मैं तुमसे नाराज हूँ और मैं तुमको मार डालूँगा। वह चर्मकार तो तुरन्त, महाराज, उठकर बैठ गया और साष्टांग दण्डवत किया कि हाँ महाराज आप ही हो। और फिर चिरौरी विनती की; उन्होंने कुछ बता दिया पूजा-पत्री उसके बाद वह ठीक हो गया।

तो यह भूत क्या हुआ? भूत एक कल्पना हुई, अनहुआ भूत। अब यह महाभूत क्या हुआ, यह आप देखो! यह शंकरजीका महाश्मशान है, माने

स्वयं शिवस्वरूप ब्रह्म है और ये महाभूत उनकी कल्पना हैं, उनमें अनहुए भूत हैं। यह प्रपंच भी जो महाभूतोंका ही विस्तार है उनकी कल्पना है, इसलिए उसमें प्रपंचका अत्यन्ताभाव है। महाशिवका प्रपंचका अत्यन्ताभावरूपी श्मशान चेत रहा है। उसमें ये जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी हैं ये छोटे-छोटे भूत नहीं हैं, ये महाभूत हैं। ये चार प्रकारकी जो सृष्टि है— उद्भिज्ज, स्वेदज अण्डज और जरायुज—इनके जितने भी शरीर होते हैं, वे सब इन्हीं पंचभूतोंसे बनते हैं और मरकर इन्हीं पंचभूतोंमें विलीन होते हैं। इसलिए ये सब-के-सब शरीर पंचभूतोंके कार्य होनेके कारण चेतन नहीं हैं, आत्मा नहीं हैं, क्षेत्रज्ञ नहीं है, द्रष्टा नहीं हैं, ये क्षेत्र हैं इसलिए दृश्य हैं। तुम देह नहीं हो और देहके उपादान कारण जो पंचभूत हैं, सो नहीं हो।

सर्वत्र सभी कार्य कारणमें लौटते दिखते हैं। जैसे घड़ा फूटेगा तो पंचभूतोंमें ही घड़ा बना था और पंचभूतमें ही मिलेगा। यह नहीं समझना कि घड़ेमें सिर्फ मिट्टी होती है। उसमें सभी पंचभूत होते हैं। तो जैसे घड़ा बनता-बिगड़ता है, वैसे यह शरीर भी बनता-बिगड़ता है।

अच्छा तो एकने पूछा कि दूध है उपादान और उससे बना दही, लेकिन दही तो फिर दूधमें नहीं लौट सकता। तो कार्य कारणमें लीन होता है—यह नियम कहाँ रहा? तो आप यह समझो कि दूध और दही दोनोंमें-से कोई उपादान कारण नहीं है। पंचभूत ही उपादान कारण हैं, दूध और दही दोनों उसके विकार हैं और दूध, दही दोनों पंचभूतमें लौट जाते हैं। तो ये जो पंचभूत हैं, ये क्षेत्र हैं आत्मा नहीं हैं।

अहंकार—ये महाभूत हमारे देहमें कैसे लिपटते हैं? जैसे किसी चुम्बकको लोहेके चूरेमें डाल दो, तो इधर-उधरसे लोहेका चूरा चुम्बक पर चिपक जाता है, इसी प्रकार यह अहंकार चुम्बक है। अहं नहीं अहंकार। शुद्ध अहं नहीं, चैतन्य अहं नहीं, जिसमें क्रिया-कृति मिली हुई है वह अहंकार है। माने जो कर्मका अभिमानी है, जो कर्म-जन्य है, कर्मके संस्कारको धारण करनेवाला है, वह अहंकार होता है। तो यहाँ व्यष्टि अहंकारका वर्णन नहीं है, समष्टि अहंकारका वर्णन है। ये पंचमहाभूत अहंकारमें, अहंकृतिमें लीन होते हैं।

अहंकार भी कार सहित है इसलिए क्षेत्र है; उसमें कृति लगी हुई है।

क्रिया तो हजारों होती हैं—मैंने यह किया, मैंने यह किया। सब क्रिया लोप हो जाती हैं। देखो बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये, धर्मशाला बनवायीं, अस्पताल खुलवाये, पुल बनवाये, अच्छे-अच्छे काम किये, लेकिन ये सब पुरुषके लिए हैं, इनके लिए पुरुष नहीं है। यह जितनी क्रिया होती है, सब पुरुषके लिए होती है। तो महाभूतमें भी तो क्रिया हो रही है ना! कैसे क्रिया हो रही हैं? कि वे विकारको प्राप्त हो रहे हैं। महाभूतसे हजारों, लाखों चीजें बन रहीं हैं, तो क्यों बन रही हैं? कि क्रियासे बन रही हैं। तो क्रियाके मूलमें, उस क्रियाका कर्ता कौन है? क्रियाका जो समष्टि कर्ता है, उसको अहंकार बोलते हैं। बिना कर्ताके पंचभूतसे व्यवस्थित क्रिया नहीं हो सकती।

बुद्धिः—अच्छा कर्ता तो हो पर उसे बुद्धि न हो तो क्या काम चलेगा? नहीं चलेगा। बोले—*'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'*—महत्तत्त्व है। इसीको भगवान्‌ने यहाँ बुद्धि कहा है। बुद्धि यहाँ समष्टि बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्वको कहा है। तो महत्तत्त्व क्या? महत्तत्त्व भी क्षेत्रज्ञ है।

अव्यक्तमेव च—महत्तत्त्व भी हमेशा क्रियाशील नहीं रहता। एक ऐसी दशा आती है जहाँ सब अव्यक्त हो जाता है। अव्यक्त भी क्षेत्र है। महाभूत, अहंकार, महत्तत्त्व, अव्यक्त सब क्षेत्र हैं।

उदाहरण देखो। जैसे आप गाढ़ सुषुप्तिमें रहते हो, कुछ भान नहीं है—मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्या समय है, क्या चीजें यहाँ रखी हैं, न बाहरकी चीजोंका पता है, न स्थानका पता है, न समयका पता है, न मैं-का पता है, गाढ़ सुषुप्ति है। वह मानो अव्यक्त प्रकृतिकी दशा है। परन्तु उसीको प्रकृति नहीं बोलते हैं, हम तो उदाहरणके रूपमें कहते हैं। सुषुप्ति तो एक कार्य है—एक अवस्था है, लेकिन उसको हम उदाहरणके रूपमें बताते हैं कि उसको मान लो कि प्रकृति है।

अच्छा नींद टूटी, लेकिन मेरा नाम क्या है, यह फुरना नहीं हुई। नींद तो टूट गयी पर मैं वृन्दावनमें हूँ कि बम्बईमें हूँ, यह फुरना नहीं हुई, और मैं संन्यासी हूँ कि वानप्रस्थ हूँ, यह फुरना भी नहीं हुई, मैं ब्राह्मण हूँ कि क्षत्रिय हूँ यह फुरना भी नहीं हुई, मैं कौन हूँ, यह नहीं फुरा। यह महत्तत्त्वकी दशा है।

अब अहंकारकी फुरना हो जाना कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्या हैं यह, अहंकारकी फुरना हो गयी। यह अहंकारकी दशा हो गयी।

अहंकारकी फुरना होनेपर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयक ज्ञान होने लगा। यह पंचमहाभूतकी दशा हो गयी। इस प्रकार चारों अवस्थाएँ हो गयीं—गाढ़ सुषुप्ति मानो अव्यक्त है, निद्राभंग होनेपर सामान्य चेतनाका उदय महत्तत्त्व है, मैं कौन हूँ—यह अहंकारका उदय है और फिर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका पता लगा, वासनाओंका मनमें स्फुरण हो गया, पंचतन्मात्राएँ उदय हो गयीं, आँखें भले बन्द हों। तो ये चारों दशाएँ—अव्यक्त, महत् अहंकार और पंच-महाभूत, प्राकृत दशाएँ हैं। तीन और पाँच करके इनका योग आठ हो जाता है—

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (७.४)

ये सब क्षेत्र हैं।

अब देखो कि महाभूतकी उपाधिसे जो चैतन्य है उसको विश्व-विराट् बोलते हैं। इसकी उपाधिसे जो है वही अहंकार भी है। वह विश्व विराट् है। चैतन्यकी दृष्टिसे अहंकार विराट् है, स्थूल प्रकृतिका भोक्ता और कर्ता है। बुद्धि या महत्तत्त्वकी उपाधिसे जो चैतन्य है वह सूत्रात्मा, तैजस् और हिरण्यगर्भ कहलाता है। अव्यक्तकी उपाधिसे जो चैतन्य है वह ईश्वर है, प्राज्ञ है।

इसीसे हमने जो दृष्टान्त प्राकृत दशाओंका दिया था—सुषुप्ति, बुद्धि, अहंकार और विषयोंका जागरण—ये सब ज्ञेयत्वात्—ज्ञेय होनेके कारण आत्मा नहीं हैं, अनात्मा हैं। ये ज्ञानके विषय हैं। शायद यह नियम तो आपको मालूम ही होगा कि ज्ञान-का-ज्ञान नहीं होता। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं होता। जो ज्ञेय होता है वह जड़ होता है, वह विषय होता है। ज्ञान केवल प्रकाशक होता है, ज्ञान ज्ञेय नहीं होता। दूसरे सिद्धान्तोंमें न्यायादिमें—प्रत्यभिज्ञादिके रूपमें ज्ञानका ज्ञान मानते हैं, परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तमें ज्ञान प्रकाशक ही होता है, प्रकाश्य नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि अहंकारमें जो चेतन है सो, बुद्धिमें जो चेतन है सो अव्यक्तमें जो चेतन है सो, वह तो एक है, तुरीय है। और प्रकृतिरूप, बीजात्मक अव्याकृत उपाधिसे उसीका नाम ईश्वर, महत्तत्त्वात्मक बुद्धिकी उपाधिसे उसीका नाम हिरण्यगर्भ और स्थूल विश्वकी उपाधिसे उसीका नाम अहंकार या विश्व-विराट् होता है। पुराणोंमें अहंकारके भी तीन भेद मानते हैं—वैकारिक,

तैजस् और तामस्। वैकारिक माने सात्त्विक अहंकार, तैजस् माने राजस् अहंकार और तामस अहंकार। इन तीन भेदोंकी क्रिया भी अलग-अलग बताते हैं। तामस अहंकारसे पंचभूतोंकी उत्पत्ति, राजस अहंकारसे प्राण क्रियादिकी उत्पत्ति और सात्त्विक अहंकारसे ज्ञानात्मक मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति। ये सब-के-सब उत्पाद्य होनेसे, विकारी होनेसे, बदलते हुए होनेसे, ज्ञेय होनेसे, ज्ञानके विषय होनेसे क्षेत्र हैं, ये सब-के-सब जड़ हैं।

आप सबके बारेमें पता लगाओ। चारों प्रकारके प्राणियोंके चौरासी लाख योनियोंके स्थूल शरीर जिससे बनते हैं वे पंचभूत—स्थूल पंचभूत—इनमें भी पहले पृथिवी लो। तो पृथिवी न मैं न मेरी और उसका गुण गन्ध न मैं न मेरा, उससे बनी इन्द्रिय-नासिका, न मैं न मेरी और गन्धकी कल्पना करनेवाला मन न मैं न मेरा। और गन्धसे आज खूब मजा आया, आज तो मैंने बहुत बढ़िया सुगन्धका निर्माण किया—यह जो अहंकार और सुगन्धका जो भोग किया वह अभिमान और यह सुगन्ध है यह बुद्धि और सुगन्धकी बीजावस्था—यह सब न मैं हूँ न मेरा है।

इसी प्रकार ये जो स्वादिष्ट वस्तुएँ हैं, उनमें जो स्वाद है, उसको लेनेवाली जो जिह्वा है, उसकी कल्पना करनेवाला जो मन है और उसका कर्ता-भोक्ता जो अहंकार है और उसको समझनेवाली जो बुद्धि है और उसकी जो बीजावस्था है, वह न मैं हूँ न मेरा है।

इसी प्रकार रूप और रूपाश्रय द्रव्य, न मैं न मेरा; स्पर्श और स्पर्शाश्रय द्रव्य, न मैं न मेरा शब्द और शब्दाश्रय द्रव्य न मैं न मेरा। न्याय-वैशेषिक दर्शनमें ये जो रूप, रस, गन्धादि हैं ये द्रव्यके गुण हैं और गुण क्रिया आश्रयत्व जो है यह द्रव्यत्व है माने द्रव्यका लक्षण गुण क्रियाऽश्रयत्व है—गुण और क्रियाका आश्रय होना द्रव्यपना है। परन्तु वेदान्ती लोग कहते हैं कि, गुण क्रिया आश्रयको द्रव्य बताना मूढ़-प्रतारणा है :

गुण क्रिया आश्रयं द्रव्यम् इति मूढप्रतारणा।

सांख्यवादी कहते हैं कि ये गुण नहीं हैं। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तो विषयोंसे भी सूक्ष्म हैं, तन्मात्रा हैं। तन्मात्रासे पृथिव्यादिकी उत्पत्ति हुई है, और वेदान्ती कहते हैं कि ये द्रव्य और द्रव्यके गुण, तन्मात्रा ये ऐन्द्रियक ही हैं, वस्तुतः इनका कोई इन्द्रियोंसे पृथक् अस्तित्व नहीं है। जैसे कैमरामें जो

शक्ल जाकर पड़ती है वह गृहीत हो जाती है, तो हम लोगोंको जो फोटो देखनेको मिलती है, वह कैमरेमें प्रतिबिम्बित फोटो ही देखनेको मिलती है, वैसे ही यह जो गुण, क्रिया और इनका आश्रयभूत द्रव्य दिखायी पड़ता है, वह अन्त:करणमें, मनमें प्रतिबिम्बित होकर ही दिखायी पड़ता है।

तो पंचमहाभूत न मैं न मेरा; अहंकार न मैं न मेरा महत्तत्त्व न मैं, न मेरा; और अव्यक्त-अव्याकृत प्रकृति न मैं, न मेरा।

अभी माया एक और है। उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। उसीके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्याके कारण अपने ठसाठस भरे हुए अविनाशी अद्वितीय स्वरूपमें ये सत्य मालूम पड़ते हैं। और विद्याके कारण अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर, ये अपने स्वरूपमें कार्यकारी रहते हुए भी मिथ्या मालूम पड़ते हैं।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

दश इन्द्रियाणि—अब ये दसों इन्द्रियाँ स्थूल भूतकी बनी हुई नहीं हैं। इसलिए सांख्य मतमें इन्द्रियाँ भी सारे शरीरमें व्यापक होती हैं। बाहरसे दीखने वाली इन्द्रियाँ तो गोलक हैं। जैसे खून सारे शरीरमें व्याप्त है, पर जहाँ जरा-सा छेद कर दें तो खून निकल आवेगा ऐसे ही इन्द्रियाँ इन गोलकोंके स्थानमें प्रगट हो जाती हैं। वैज्ञानिक ढंगसे कभी ऐसा कर सकते हैं कि आदमी हथेलीसे देखने लग जाये और पाँवसे सूँघने लग जाये। क्योंकि प्रकृति सर्वत्र परिपूर्ण है, यह सम्भावना हो सकती है। जैसे कि चींटी नाकसे ही देखती है और साँप आँखसे सुनता है। संस्कृत भाषामें तो सर्पका एक नाम है—***'चक्षुश्रवा'*** माने चक्षु ही जिसके श्रोत्र हैं। मनुष्यमें भी तो एक ही इन्द्रियसे, जिह्वासे, बोलते भी हैं और चखते भी हैं। हमलोगोंकी दो इन्द्रियाँ एक ही गोलकमें काम करती हैं। हमारे अन्तरङ्गमें, हमारे रक्तकी प्रवाहित धारामें, सभी शक्तियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। प्राण और रक्त, रयि और प्राण, रवि और सोम, वही जिसको ऋणात्मक और घनात्मक विद्युत-शक्ति बोलते हैं, उनके द्वारा एक ऐसा विद्युतका प्रवाह रहता है कि सारे शरीरमें ये शक्तियाँ बहती रहती हैं। इसलिए इन्द्रियोंको परिच्छिन्न नहीं मानते हैं। इनको देह व्यापी मानते हैं। सूक्ष्म शरीरके बारेमें तीन प्रकारके मत हैं—अणुपरिमाण,

मध्यम परिमाण और विभु परिमाण। मन विभु है—ऐसा तो योगियोंका मत है। मन अणु है ऐसा नैशेषिकोंका मत है। और वेदान्तका मत है कि अन्तःकरण मध्यम परिमाण है। मध्यम परिमाण माने नखसे लेकर शिखा तक हमारा अन्तःकरण व्याप्त है तो नखसे शिखातक जब अन्तःकरण व्याप्त है तो ये हमारी इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत हैं, स्थूल शरीरमें तो हैं ही नहीं। यह आँखकी पुतलीका नाम आँख नहीं है, रूपके ज्ञानकी जो शक्ति है जो करण है उसको नेत्र बोलते हैं। तब? वह तो मध्यम परिमाण है। माने पाँवसे लेकर चोटी तक ये पाँचों इन्द्रियाँ व्याप्त हैं। इनकी अभिव्यक्तिके स्थान पाँच होते हैं और इनका मूल स्थान, शरीरमें केन्द्रित है।

अच्छा, इनका नाम इन्द्रियाँ क्यों हुआ? असलमें ये सब इन्द्रकी बनायी हुई हैं—इन्द्र-सृष्टं, इन्द्र-दत्तं, इन्द्र-जुष्टं, इन्द्रस्य इति इन्द्रियम्। इन्द्रने जिसकी सृष्टि की, इन्द्रने जिनको दिया, इन्द्रके लिए जो हैं और जो इन्द्रकी हैं, उनको इन्द्रिय बोलते हैं। इन्द्रकी जो वस्तु हो उसको इन्द्रिय बोलते हैं। अब इन्द्र क्या है? कि हाथका अधिदेवता इन्द्र है। इसका मतलब हुआ कि हम जो कर्म करते हैं, जिस वासनासे कर्म करते हैं और कर्मकी जो वासना हमारे हृदयमें बैठी हुई होती हैं। उस कर्म-वासनासे ही इन्द्रिय बनती हैं। आपको मालूम होगा, प्राणियोंमें एक इन्द्रियवाले प्राणी भी होते हैं, दो इन्द्रियवाले होते हैं, तीन -चार और पाँच इन्द्रियवाले होते हैं। सब प्राणियोंके पाँच-पाँच इन्द्रिय नहीं होती। और, योगी लोग अभ्यासके द्वारा एक छठी इन्द्रियका विकास करनेकी कोशिश करते हैं। वे उसको मानस प्रत्यक्ष बोलते हैं। उससे भूत, भविष्यका भी प्रत्यक्ष कर सकें और दूरका भी प्रत्यक्ष कर सकें ऐसी शक्ति, ऐसी सिद्धि मानसमें उत्पन्न हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें इसका बड़ा सुन्दर निरूपण हैं। जब मनमें इच्छा हुई कि मैं रूप देखूँ तो इच्छा और कर्मके संयोगसे नेत्र गोलक बने। यह कर्म जो होता है वह इच्छा और प्रयत्नसे ही तो सम्पन्न होता है। हमारी रूप दर्शन-शक्तिको कार्यान्वित करनेके लिए, हमारे इच्छा और प्रयत्नने शरीरमें यह नेत्र-गोलक स्थान बना दिया। जिससे हम देख सकें। इन्द्रिय पूर्वकर्मके फलस्वरूप बनी हैं, नहीं तो एक पंचभूतमें ऐसी-ऐसी शक्लें बननेका कोई कारण नहीं है। समुद्रमें लहर तब उठती है, जब हवा लगती है। हम मान लें कि पाँच ही हैं भूत, तो इतने

प्रकारके प्राणी बिना कर्मके कहाँसे बन गये ? इतनी इन्द्रियाँ कैसे बन गयीं ? इतने भेद-विभेद कैसे हो गये ? एक ही प्रकृति है तो इतने भेद कहाँसे बन गये ? एक ही ईश्वर है, अखण्ड सत्ता, तो उसमें इतने भेद कैसे बन गये ? उस भेदके निमित्तके रूपमें कर्मको स्वीकार करना पड़ता है और उसी कर्मको प्रेरित करनेवाला जो देवता है, उसको इन्द्र बोलते हैं और उस इन्द्रसे सृष्ट होनेके कारण, दत्त होनेके कारण इन्द्रिय बोलते हैं। पाणिनीका सूत्र ही है—

इन्द्रसृष्टं, इन्द्रदत्तं, इन्द्रजुष्टम्।

इसको इन्द्रिय बोलते हैं। तो ये इन्द्रियाँ दस हैं। इनमें भी पाँच (कर्मेन्द्रियाँ) सेवक (चपरासी) और पाँच (ज्ञानेन्द्रियाँ) क्लर्क हैं। मन इनमें विभागाध्यक्ष है। असली मालिक पीछे बैठा हुआ है।

'इन्द्रियाणि दश एकं च'। एकं च—अर्थात् मन। इसको अलग कर दिया। मनको इन्द्रिय कहा तो जाता है, परन्तु इन्द्रिय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष दर्शनका सामर्थ्य इसमें नहीं है। योगियोंका मत भगवान्‌को स्वीकार नहीं है। मन उतनी ही बातोंको बता सकता है, जितनी इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती हैं। इसीलिए पौरुषेय ज्ञान परमात्माका बोधक नहीं है। क्योंकि इन्द्रियोंसे जो मालूम पड़ता है, उसका संस्कार मन धारण करता है और उसी संस्कारके अनुसार मन कल्पना करता है और उसी संस्कारके अनुसार मानस प्रत्यक्ष होता है। इसलिए इन्द्रियातीत जो स्वतः सिद्ध वस्तु है, इन्द्रियागोचर जो वस्तु है, वह मनके द्वारा कोई नहीं जान सकता—

न तत्र मनो गच्छति न वाग्गच्छति न विद्मो न विजानीमः। (केनो.३)

इसलिए अपौरुषेय तत्त्वके ज्ञानमें ये करण बनकर नहीं आवेंगे, इनको नेति-नेतिके द्वारा ही जाना जा सकता है। यह मन न मैं, न मेरा है। न इन्द्रियाँ मैं हैं न मेरी हैं। इनके द्वारा हमें तत्त्वका दर्शन नहीं करना है। ये तो संस्कारके अनुसार गढ़ी हुई चीज दिखा देंगी और कह देंगी कि यही ईश्वर है। तब नेति-नेतिके द्वारा इसका निषेध करके ज्ञाताको पकड़ना पड़ेगा।

पंच चेन्द्रियगोचराः—इन्द्रियोंके द्वारा जाने जानेवाले जो पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—वे भी क्षेत्र हैं। यह बात पहले समझा चुके हैं। अतः ये विषय भी न मैं हूँ और न मेरे हैं।

क्षेत्रका वर्णन - २

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

भगवान्ने क्षेत्रका दो विभाग कर दिया—**यतश्च यत्**। यतः माने एक कारण क्षेत्र और एक यत् अर्थात् कार्य क्षेत्र। जैसे सांख्यवादी आठ प्रकृत्ति और सोलह विकार—दोनों मिलाके चौबीस तत्त्वका वर्णन करते हैं, वैसे भगवान्ने—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। —ये आठ प्रकृति और **इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।**—ये सोलह विकार, कुल २४ तत्त्वोंके द्वारा कार्य-कारणात्मक क्षेत्रका वर्णन कर दिया। अब बताते हैं कि क्षेत्रमें पैदा क्या होता है। तो—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ १३.६

अर्थ :—(तथा) इच्छा—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—संक्षेपमें इसको विकारसहित क्षेत्र कहा गया है।

इच्छा—इच्छा सुखविषयक होती है। पहले कोई चीज हमको मिली—

स्त्री, पुरुष, धन, जन, मकान, भोजन—और उससे सुख हुआ; तो उस चीजसे हमको सुख मिला, यह संस्कार अपने मनमें ग्रहण हो जाता है। तो फिर जब हम उस चीजको पाना चाहते हैं उसे पानेकी चाहको इच्छा बोलेंगे। संसारमें सुखके कारणके रूपमें जिस वस्तुका पहले अनुभव हो चुका है, उस वस्तुके मिलनेपर या न मिलने पर भी जो उसकी प्राप्ति हम चाहते हैं, उस प्राप्तिकी चाहका नाम इच्छा है।

इच्छा क्षेत्रं ज्ञेयत्वात्—इच्छा क्षेत्र है ज्ञेय होनेसे।

द्वेषः—जिस वस्तुसे जीवनमें कभी दुःखकी प्राप्ति हुई है—वह वस्तु हो, व्यक्ति हो, परिस्थिति हो, कर्म हो, घटना हो—उसको हम हटा देना चाहते हैं, मिटा देना चाहते हैं। मनमें उसको हटाने, मिटानेकी जो चाह है उसीको द्वेष बोलते हैं। देखते ही जलन हो गयी, हटाओ इसको। तो किसीको देखकरके चित्तमें जलन होना बताता है कि जरूर उससे दुःख हुआ है। देखो साँपको देखकर तुम डर जाओगे परन्तु तुम्हारा नन्हा-सा बच्चा नहीं डरेगा। क्योंकि उसको मालूम नहीं है कि यह हमको दुःख देनेवाला है।

तो ये दोनों इच्छा और द्वेष मनमें कभी आते हैं, कभी नहीं आते हैं और ये मालूम पड़ते हैं कि आ गये कि नहीं आये, इसलिए इनका नाम क्षेत्र हो गया। इच्छा द्वेषः क्षेत्रं ज्ञेयत्वात्।

सुखं दुःखं— सुख दुःख क्या है? जब ***सुष्ठु शोभनानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत्सुखम्***—ख-खानि माने इन्द्रिय। जिसमें अपनी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं, निर्मल हो जाती हैं, उसको सुख बोलते हैं. जिस समय मनमें विकार होता है, उस समय सुख नहीं होता है। इच्छा करना और सुख—ये दोनों एक साथ नहीं होते। जिस समय अपनेको कुछ नहीं चाहिए होता है, उस समय हम सुखी होते हैं। सुख और दुःख फलात्मक स्थिति हैं, यह इच्छात्मक स्थिति नहीं है। जिस समय सरोवरमें तरंग न उठी हो, शान्त हो, झिलमिल चाँदनी उसमें प्रतिबिम्बित हो रही हो, तो बोलेंगे यह सरोवर स्वच्छ है। इसी प्रकार हमारे हृदयका हृद, हमारे मनका सरोवर जिस समय स्वच्छ हो, निर्मल हो और आत्म चैतन्यका प्रतिबिम्ब उसमें झिलमिल-झिलमिल झलक रहा हो, उसको सुख बोलते हैं।

सुख किसी भी बाहरकी चीज या व्यक्तिके मिलनेसे नहीं होता है।

सुख जब होता है, तब चित्तकी शान्तिमें ही होता है। एक महात्माने सुनाया कि गुड़ खानेकी इच्छा हुई—गुड़से सुख मिलता है यह ख्याल था—तो गुड़ नहीं मिला तबतक तो व्याकुल थे और जब गुड़ मिल गया और खा लिया, तो गुड़ खानेका सुख नहीं हुआ, गुड़ खानेकी जो इच्छा थी सो मिट गयी; और फिर जबतक कोई नमकीन या अन्य चीज खानेकी इच्छा उदय नहीं हुई—एक इच्छा पूरी हुई और दूसरी इच्छा उदय नहीं हुई—तबतक बीचका जो काल है, जिसमें मन शान्त रहता है, उस शान्तिकालमें ही आत्मसुख प्रतिबिम्बित होता है। केवल उतने कालतक ही मनुष्य सुखी रहता है, जितने कालतक उसके मनमें इच्छा नहीं रहती। इच्छा हुई और कंगाल हुआ! हमारे पास यह नहीं है, तभी तो इच्छा हुई ना! इच्छावान् तो कंगाल है, दुःखी है।

दुनियांदार लोग चार तरहसे सुखी होते हैं—(१) भोग करके— अच्छा, अनुकूल भोग मिले, तो कहते हैं आज बड़ा सुख मिला। (२) अभिमानसे— भोगनेकी चीज उनके पास रखी हो चाहे भोगे नहीं पर मनमें भरोसा हो कि जब चाहेंगे तब भोग लेंगे। बैंकमें, तिजोरीमें रुपया रखा है। न खाते हैं, न देते हैं, न पहनते हैं और मनमें अभिमान है कि हमारे पास इतना रखा हुआ है, हमारे पास ऐसा मकान है। नपुंसकको भी अभिमान होता है कि हमारी स्त्री बड़ी सुन्दरी है। तो यह जिन लोगोंका बैंकमें पैसा रखा हुआ है और काम नहीं आता है,उन लोगोंका सुख कैसा है? जैसे नपुंसकको सुन्दरी स्त्रीका सुख होवे। क्योंकि काम तो आता नहीं, भोग सकते नहीं। (३) मनोरथसे—भौमासुरकी तरह। वह स्त्रीका भोग नहीं करता था, उसने यह संकल्प कर रखा था कि जब एक लाख कुमारी कन्या हमारे महलमें हो जायेंगी, तब हम भोग करके सुखी होंगे। तो अभी तो हमारे पास इतना और हो जाये, ऐसा मकान बना लें, ऐसा ब्याह कर लें, इतने रुपये हो जायें, इतने साथी हो जायें तब भोग करेंगे, इसको मनोरथ बोलते हैं। (४) अभ्यासका सुख—जैसी आदत पड़ जाती है वैसे रहनेको मिले, तो सुखी हो जाते हैं। हमारे एक पहलवान थे, हजार दो हजार दण्ड बैठक रोज करते थे और करनेको जिस दिन ना मिले उस दिन दुःखी हो जाते थे। तो उनको सुख यही था कि दण्ड बैठक करनेपर उनका शरीर हल्का हो जाता था। जैसी आदत पड़ी हुई है न, वैसा कर लेनेसे सुखी हो जाना। इसका नाम अभ्यास-सुख है।

तो चार तरहसे दुनियादार लोग सुखी होते हैं। परमात्माका जो सुख है, वह इन चारोंमेंसे कोई नहीं है। वह तो अपना स्वरूप है। एक वस्तु एक व्यक्तिकी इच्छा हुई, वह इच्छा पूरी हुई, शान्त हुई। शान्त इच्छावाले अन्तःकरणमें आत्मचैतन्य प्रतिबिम्बित हुआ। तो सुख तो हुआ अपने स्वरूपका प्रतिबिम्बन, लेकिन भ्रम यह हुआ कि विषय-भोगसे सुख मिला है और उस भ्रमके कारण फिर और-और विषय चाहेंगे और मारे जायेंगे।

नैयायिक लोग कहते हैं कि जिससे अनुकूल वेदना उत्पन्न हो उसका नाम सुख और जिससे प्रतिकूल वेदना उत्पन्न हो उसका नाम दुःख। '*अनुकूल-वेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।*'

फिर देखो—*सुखं—सुष्ठ शोभनं खनति*—अपने दिलमें जो अच्छी-अच्छी बातें भरी हुई हैं, उनमें जो तन्मय कर दे उसका नाम है सुख। और जिसमें अपनी इन्द्रियाँ ही दोषग्रस्त हो जायें, गन्दी हो जायें उसका नाम है दुःख। *दुष्टं खनति* अथवा *दुष्टानि खानि यस्मिन्*। कुल्ला करना पड़े, हाथ धोना पड़े, स्नान करना पड़े वह सुख, दुःख ही है।

एक आदमीको शरीरमें फोड़ा हुआ—बड़ा दर्द हुआ, बड़ा दुःख है, बड़ा दुःख है। अब वह डॉक्टरके पास गया; तो डॉक्टरने झट चीरा लगाकर उसमें-से पीव निकाल दी। अब बोला—आहा, बड़ा आराम मिला। तो शास्त्रकार कहते हैं बेवकूफको यह आराम नहीं मिला, सुख नहीं मिला, यह तो केवल जो तुम्हारा दुःख था, वह कम हो गया। इसका नाम सुख नहीं है, दुःख मिट गया। दुःखाभावका होना सुख नहीं है, वह तो फोड़ेका दर्द था, मिट गया। तो यह तो दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त यह है कि मनुष्यके मनमें कामकी, क्रोधकी, लोभकी पीब भर जाती है, और जब मनका आपरेशन होता है, थोड़ी-सी पीब निकल जाती है, तो आदमी समझता है कि हम संसारमें सुखी हो गये। वह दुःखाभावको ही सुख समझता है, असली सुखको तो सुख जानाता ही नहीं कि सुख क्या होता है। भगवान्‌ने गीतामें ही कहा—

सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ (६.२१)

एक सुख होता है अपने आपको मोहमें डालनेवाला। जो नशा पीकर गम गलत करते हैं, वह अपने आपको ही भुलावेमें डालना है। जैसे घाटा

हुआ है, तकलीफ हो रही है, किसीने तुमसे लड़ाई कर ली है, तकलीफ हुई है, अब कोई नशा पी लिया, थोड़ी देरके लिए भूल गया; तो बोले—आहा, देखो गम गलत हो गया, चिन्ता मिट गयी, दु:ख मिट गया, हम सुखी हो गये। कि सुखी नहीं, अपने आपको ही तुमने मोहमें डाल दिया। यह तो जैसे दूसरे लोग ठगी करते हैं कि तुमको पीतल देकर सोनेकी कीमत ले लें और तुमको पता न लगे, ऐसे ही तुमने अपनेको ठग लिया। उसने पीतल दिया और सोना समझा दिया, भूलमें पड़ गये तुम, पीतलकी जगह सोनेका ख्याल हो गया, वैसे ही तुम्हारा न कोई घाटा मिटा न मरा हुआ लौटा, न बिछुड़ा हुआ लौटा, कुछ नहीं हुआ, केवल तुम्हारा ख्याल उतनी देरके लिए उठ गया, इसको मोह बोलते हैं। मोहमें डालनेवाला सुख तामस है, क्योंकि उसमें बुद्धिको कम करके अपनेको सुखी किया जाता है। आप देख लो, जितने तामस सुख हैं, उनमें अपनी बुद्धिको घटाकर तब हम अपनेको सुखी करते हैं। अपने ज्ञानपर ही तो चोट कर दी। शरीरको कोई मारे तो तुम्हारा दुश्मन है और तुम्हारे सुखको कोई नष्ट करे तो वह तुम्हारा दुश्मन है और तुम्हारी बुद्धिको कोई नष्ट करे तो वह तुम्हारा दुश्मन नहीं है? अरे तुम सच्चिदानन्द हो, जो तुम्हारे आनन्दका विरोधी है, सो भी दुश्मन और जो तुम्हारे जीवनका विरोधी है सो भी दुश्मन और जो तुम्हारे ज्ञानका, बुद्धिका विरोधी है, सो भी दुश्मन। तो तुम्हारी बुद्धिको नष्ट करके आया, वह मोह-जन्य सुख तामस सुख है।

दूसरा सुख होता है विषय और इन्द्रियके संयोगसे— *विषयेन्द्रियसंयोगात्*। यह राजस सुख है। इसमें पराधीनता है। विषय कब मिले और कब न मिले, आदमी कब मिले और कब न मिले, हमने तो अपनेको गुलाम कर लिया, विषयसुखमें। तो रजोगुणी सुखमें पराधीनता है।

सत्त्वगुणी सुखमें अभ्यास है: अभ्यासाद्रमते यत्र दु:खान्तं च निगच्छति। आत्मबुद्धिप्रसादजम् होने पर भी जिस दिन अभ्यास नहीं कर सकेंगे, माला नहीं फेरी, पूजा नहीं की, सन्ध्या-वन्दन नहीं किया, सूर्य-नमस्कार नहीं किया, उसी दिन हाय-हाय करेंगे कि आजका दिन व्यर्थ गया, रोवेंगे। सात्त्विक सुखमें न मोह है, न पराधीनता है, लेकिन उसमें अपने प्रयत्नकी अपेक्षा है, स्वकर्तृत्वकी अपेक्षा है। इसलिए वह सात्त्विक है। लेकिन जो

परमात्माका सुख होता है, उनमें ये तीनों बातें नहीं होती है। **बुद्धिग्राह्यम्**— उसमें बुद्धि कम नहीं करनी पड़ती **अतीन्द्रियम्**—उसमें इन्द्रिय और विषयके संयोगकी जरूरत नहीं पड़ती। बुद्धिग्राह्य होनेसे तामसिक नहीं है, और अतीन्द्रियम् होनेसे वह राजस नहीं है। और **आत्यन्तिकम्** होनेसे अभ्यासजन्य नहीं है क्योंकि जो अभ्याससे चीज पैदा होती है वह तो मर जाती है। आत्यन्तिक नहीं होती। ऐसा सुख होता है परमात्माका सुख। तो यहाँ संसारी सुखको क्षेत्र बताया है। परमात्मसुख तो आत्माका, क्षेत्रज्ञका अपना स्वरूप है। **दुःखं**—दुःख क्या होता है? आप जानते ही हो; **दुष्टानि खानि यस्मिन्**— जिसमें अपनी इन्द्रियोंकी बनावट दूषित हो जाये, स्वाभाविक न रहे, उसका नाम दुःख है। आँख लाल हो गयी, भौंह चढ़ गयी, उत्तेजना आ गयी शरीरमें, हाथ पाँव काँपने लगे, जीभ बोलनेके लिए फड़फड़ाने लगी, अपना ही शरीर अपने काबूमें नहीं रहा, आँखसे आँसू गिरने लगे, लोट-पोट होने लगे यह दुःख है। प्रतिकूल वेदनाको दुःख बोलते हैं। नैयायिक लोग प्रतिकूल वेदनाको दुःख बोलते हैं। मनुजीने सुख दुःखका एक बड़ा नन्हा-सा लक्षण लिखा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयो॥

अपना वश बना रहे—अपनी जीभपर, अपनी आँखपर, अपनी सब इन्द्रियोंपर, स्त्री-पुत्र भी वशमें होवें; सो 'सर्वं आत्मवशं सुखम्।' जो अपने वशमें है सो सुख है और जो परवश है—पराधीनता है वह दुःख है। शान्त चित्तमें आत्माका प्रतिबिम्बन सुख है और व्यथित चित्तमें—उद्वेलित चित्तमें— उद्भ्रान्त चित्तमें, व्याकुल चित्तमें आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्बन नहीं होता, इसलिए न वह सत् है न चित् है न आनन्द है। तो यह सुख क्षेत्र है और दुःख भी क्षेत्र है—ज्ञेय होनेसे। दुःखमपि ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम्।

संघातः—संघात उसे कहते हैं जो मिलजुलके पैदा हुआ है। जैसे सभामें मतभेद होता रहता है तो कहते हैं—कमेटी बनाओ, मीटिंग करो। हम कभी-कभी देखते हैं कि जो बात हम दो मिनटमें तय कर सकते हैं, वह मीटिंगमें दो घण्टेमें भी तय नहीं होती। यह शरीर भी एक कमेटीकी तरह संघात है—संघ है। तो इसमें आँखकी राय होती है कि वह देखने चलो, कान कहता है वह सुनने चलो, नाक कहती है वह सूँघने चलो, जीभ कहती

है वह खाने चलो, पाँव कहता है कि आज तो हम थक गये हैं, कहीं नहीं जायेंगे, हाथ कहता है चुपचाप हमको बैठे रहने दो—बड़ा मतभेद है इस संघातमें। तो असलमें कमेटीमें जब एक व्यक्ति जब प्रभावशाली होता है तो उसके लिए सारी कमेटी काम करती है और यदि एक व्यक्ति उसमें प्रभावशाली न होवे तो वह कमेटी ठीक काम नहीं करती है।

इसी प्रकार शरीरकी कमेटीमें बहुत-सी कर्मेन्द्रियाँ है, बहुत-सी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, परन्तु एक क्षेत्रज्ञके बिना, ये सब निस्सार हैं। एक व्यक्तिके संकल्पसे सभा-सोसायटी काम करती है, सचमुच उसमें दस-बीस आदमियोंका संकल्प काम नहीं करता है। तो यह जो शरीररूप संघात है—इसमें हड्डी अलग, मांस अलग, चर्बी अलग, खून अलग, हाथ अलग, पाँव अलग। एकहीको सुख पहुँचानेके लिए हाथ ग्रास ले आता है, उसीको सुख पहुँचानेके लिए पाँव चलता है, उसीको सुख पहुँचानेके लिए आँख देखती है, ये सब जिसके नौकर हैं, उपकरण हैं—करण हैं उसको क्षेत्रज्ञ बोलते हैं और यह ज्ञेय होनेके कारण-आज्ञाकारी होनेके कारण, पराधीन होनेके कारण, यह संघात, यह कमेटी जो है शरीरकी, यह संघ जो है, यह क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं है।

अब इसमें एक **चेतना** भी है। चेतना और बुद्धिमें फर्क होता है। आदमी बेहोश हो जाता है तब भी शरीरमें चेतना रहती है, परन्तु बुद्धिका तो लोप हो जाता है। तो एक चेतना है, उसमें संस्कारके अनुसार इच्छा और द्वेष-संकल्प यानी मन उठता है। वही जब पढ़े लिखेके अनुसार, गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार अपने अनुभवके अनुसार जब निश्चयात्मिका होती है तब उसे बुद्धि कहते हैं। लेकिन न संकल्प हो, न निश्चय हो, लेकिन चेतना हो तो वह है **चेतना**।

शरीरमें एक धृति अर्थात् धारणा शक्ति भी है जिससे शरीर बिखर नहीं जाता। तो वह चेतना भी ज्ञेय है और वह धृति भी ज्ञेय है। धृति माने पकड़ जिससे दो हड्डियाँ; अलग-अलग रह करके भी जुड़ी रहती हैं, जिससे नस नाड़ी जुड़ जाती हैं। इसी धृतिके कारण टूटी हड्डियाँ फिर जुड़ जाती हैं, नस-नाड़ी काटकर फिर जोड़ दी जाती हैं। तो यह धृति भी—**ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम्**—ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है।

इस प्रकार—**एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्**—विकारसहित क्षेत्रका यह संक्षेपमें वर्णन कर दिया। विस्तारसे आप देखोगे तो सब जगह मिलेगा। प्रकृति और पुरुषका जहाँ वर्णन है वहाँ भी प्रकृति क्षेत्र है। पन्द्रहवें अध्यायमें जब क्षर और अक्षर है तो क्षर नामका क्षेत्र ही है। सातवें अध्यायमें अपरा नामकी प्रकृति क्षेत्र ही है। तो समासेन माने संक्षेपमें। एक बात व्यासेन बोली जाती है, एक समासेन बोली जाती है। एक होता है व्यास, वह फैलाकर बोलता है और समास संक्षेप करके बोलता है। थोड़ेमें बोलनेसे वाणीका भी अपव्यय नहीं होता। महात्माओंका तो ऐसा कहना है कि गोपश्वादिवत् ही बोलना चाहिए। जैसे गाय या भैंस तब बोलती हैं जब उसको भूख-प्यास लगती है या वह अपने झुण्डसे अलग हो जाती हैं या उसका बछड़ा मर जाता है, नहीं तो चुपचाप रहती है। ऐसे ही मनुष्यको अपनी '**वाचो विग्लापनं हि तत्**'—अपनी वाणीका विग्लापन नहीं करना चाहिए, अपनी वाक्शक्तिको क्षीण नहीं करना चाहिए।

देखो श्रोता तो समझते हैं कि बोलनेमें क्या मेहनत होती है; अरे यह तो दो तोलेकी जीभ है, मुँहमें बैठी है, हिलती जा रही है, लेकिन परिश्रम बोलनेमें भी होता है, परिश्रम सुननेमें भी होता है। परिश्रम सोचनेमें भी होता है। तो **समासेन**—इसलिए थोड़ेमें बोलना।

सविकारं का अर्थ हुआ कि इच्छा द्वेषादि ये सात क्षेत्रके विकार-रूप हैं और पहले जो चौबीस हैं वे क्षेत्ररूप हैं। श्रीरामानुजाचार्यने ऐसा ही कहा है और सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका, इसी रीतिसे इसकी व्याख्या करते हैं।

ज्ञानकी साधन-सम्पत्ति—१

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह:॥ ७॥

भगवानने तीसरे श्लोकमें **स च यो यत्प्रभावश्च** कहकर क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञके स्वरूपके वर्णनकी भी प्रतिज्ञा की थी। अत: क्षेत्रका स्वरूप जब पाँचवें और छठे श्लोकमें वर्णन कर दिया तो सातवें श्लोकसे उन्हें सीधे क्षेत्रज्ञका वर्णन प्रारम्भ कर देना चाहिए था। परन्तु वह वर्णन तो उन्होंने बारहवें श्लोकसे प्रारम्भ किया।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृत मश्नुते।
अनादिमत्परं **ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥**

बीचमें सातवेंसे ग्यारहवें श्लोक तक उन्होंने **अमानित्वमदम्भित्वम्** आदिसे साधन-सम्पत्तिका वर्णन प्रारम्भ कर दिया। ऐसा भगवान्‌ने क्यों किया, इसकी संगतिका ज्ञान होना आवश्यक है।

क्षेत्र प्रत्यक्ष है। उसकी जितनी समझ है उसको एक वैज्ञानिक लैबोरेटरीमें बैठकर जाँच कर सकता है। लेकिन कोई भी यन्त्र ऐसा नहीं है जिसका मुँह अपनी तरफ हो और वह क्षेत्रज्ञकी जाँच-पड़ताल कर सके। क्षेत्रज्ञ ज्ञाता है, वह कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। उपनिषद्‌का वचन है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृहद. २.४.१४) अरे! केन साधनेन केन करणेन विज्ञातारं विजानीयात्—किस साधनसे, किस करणसे, किस उपकरणसे, किस मशीन या यन्त्रसे तुम जाननेवालेको जानोगे? अर्थात् नहीं जान सकते! क्षेत्रज्ञ न तो किसी यन्त्रका विषय है और न किसी मन्त्र या तन्त्रका विषय है। उसको जाननेके लिए थोड़ी तपस्या करनी पड़ती है, थोड़ी साधना करनी पड़ती है, थोड़ा अन्तर्मुख होना पड़ता है। इसीलिए भगवान् क्षेत्रज्ञका निरूपण करनेसे पहले थोड़ी साधन-सम्पत्तिका निरूपण करते हैं।

आजकल लोग फल तो चाहते हैं परन्तु साधन नहीं चाहते हैं। स्कूल-कालेजोंके विद्यार्थी प्रश्नोंके उत्तर रट लेते हैं परन्तु प्रश्नको हल करनेकी जो विधि या विधा है उसको नहीं सीखते। परिणाम यह होता है कि पास तो हो जाते हैं परन्तु विद्यासे वंचित रह जाते हैं। वे उस-प्रश्नके अतिरिक्त कोई उस जैसा दूसरा प्रश्न भी हल नहीं कर सकते।

एक बच्चा था। वह 'रामः रामौ रामाः' याद करके आया और रूप सब सुना दिया। उससे पूछा—अच्छा, जरा 'मुकुन्द' शब्दका रूप बोलो तो! बोला-वह तो हमने याद नहीं किया है। असलमें तो जैसा राम शब्दका रूप होता है, करीब-करीब वैसा ही मुकुन्द शब्दका रूप होता है। व्याकरणका मतलब ही यह है कि एक शब्द हम सीखें और उससे कमसे कम एक हजार शब्द हमको आ जायें। हमारे व्याकरणकी रीति यही है, उसका गुर होता है। तो जो गणितकी रीति नहीं समझेगा, वह एक हल भले याद करले उसको गणित विद्याकी प्राप्ति नहीं होगी।

इसी प्रकार मैं कौन हूँ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर है—'मैं ब्रह्म हूँ।' लेकिन मैं ब्रह्म हूँ, इस हलको याद कर लेना—यह ब्रह्म विद्याकी प्राप्ति नहीं है। प्रत्येकको अलग-अलग यह समझना पड़ेगा कि मैं कैसे ब्रह्म हूँ? जब मुझे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मैं देह हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ; मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, संसारी हूँ, भोक्ता हूँ, तब मैं बिना पाप-पुण्यका, बिना सुख-दुःखका, बिना आवागमनका, बिना परिच्छिन्नताका, मैं कैसे हूँ—यह बात समझनी आवश्यक होती है। तो उसके लिए कुछ साधन करने होते हैं, वह बात सीखनी पड़ती है। नहीं करोगे तो मालूम नहीं पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि जैसे कि पहले आपको सुनाया था कि क्षेत्र माने होता है—क्षत् और त्राण—क्षिणोति त्रायते च क्षेत्रमें ये दो चीजें हैं। वही हमको संसारमें बाँधती हैं और वही हमको संसारसे मुक्त करती हैं। यदि—

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः—के चक्करमें पड़ जाओगे, इन्हींको मैं मानकर बैठ जाओगे, तब तो क्षत हो गया—वह तुमको संसारमें फँसावेगा; और यदि तुम अपने हृदयमें—**अमानित्वमदम्भित्वम्**—इस सम्पत्तिको धारण करोगे, तो त्राण हो जायेगा तुम्हारी रक्षा हो जायेगी, संसारके दुःखसे मुक्त हो जाओगे। यह भी क्षेत्रका ही एक अंग है, यह भी

तुम्हारे हृदयमें ही होगा। इसलिए क्षेत्रके ही अवयवके रूपमें अमानित्व आदि जो साधन हैं, उनका निरूपण है। आओ! अब इस साधन-सम्पत्तिके बारेमें विचार करें—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ १३.७

अर्थः—अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्योपासना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मनिग्रह (ये ज्ञानके साधन हैं और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है)।

यह बात समझनेकी है कि तत्त्व-ज्ञान व्यक्तित्वका शृङ्गार नहीं है। लोग समझते हैं कि हम ज्ञानी हो जायेंगे तो ऐसे-ऐसे हो जायेंगे। एक कह रहे थे हम ज्ञानी हुए तो क्या हुआ, जब बुखार आना बन्द नहीं हुआ! एक आदमी कह रहे थे कि हम ज्ञानी हुए तो क्या हुआ, हमारे मनमें विकार अब भी आते हैं। एक बोले कि हम ज्ञानी हुए तो क्या हुआ, हमारे तो दुःख अब भी आ जाता है। तो यह बात आपको समझना चाहिए कि ज्ञान माने है—अपनेको ब्रह्म जानना। और उसका निवर्त्य, माने जिस चीजको वह ज्ञान मिटाता है, वह है अज्ञान। ज्ञान सिर्फ अज्ञानको मिटाता है, इसके सिवाय ज्ञानका और कोई काम नहीं है। बुखार दवाईसे मिटेगा, विकार साधनासे, अभ्याससे मिटेंगे, दुःख असंगतासे मिटेगा; ज्ञानसे तो सिर्फ अज्ञान मिटता है। इसका अर्थ हुआ कि रोग भले आवे परन्तु हम रोगी नहीं हैं; विकार भले आवें-जावें, हम विकारी नहीं हैं; दुःख भले आवे-जावे, हम दुःखी नहीं हैं। यह परिच्छिन्नत्वकी जो भ्रान्ति है, इस भ्रान्तिको मटियामेट कर देना—इतना ही ज्ञानका काम है। भ्रान्तिके संस्कारसे समय-समयपर जो विपर्ययका उदय होता है, उसको मिटाना भी ज्ञानका काम नहीं है। जैसे किसी समय कभी अपनेको मनुष्य मानकर या हिन्दु मानकर अगर जोशमें आ भी गये तो थोड़ी देरके लिए वह भाव आया और फिर चला गया। तो लोग ज्ञानसे घरमें झाड़ू लगवाना चाहते हैं वह तो ज्ञानकी इज्जत नहीं जानते हैं। यह ज्ञान घरमें झाड़ू लगानेके लिए नहीं है यह तो अपनेमें परिच्छिन्नपनेकी जो भ्रान्ति है अविद्या है, उसको मिटानेके लिए है।

मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं व्यक्ति हूँ, इस भ्रमको वेदान्तसे मिटा दिया जाता है। व्यक्तित्वका शृंगार करनेके लिए वेदान्त कोई स्नो-पावडर नहीं है कि इसके द्वारा हम अपने शरीरको सजावें। शरीरको सजानेवाली विद्या दूसरी है और अपनेको ब्रह्म जाननेवाली विद्या दूसरी है। सदाचारका नाम ज्ञान नहीं है; सद्भावनाका नाम ज्ञान नहीं है; सद्गुणका नाम ज्ञान नहीं है; समाधिका नाम ज्ञान नहीं है; अपने ब्रह्मपनेके अज्ञानको जो मिटा दे, उसका नाम ज्ञान है। यद् विषयक अज्ञान है, तद् विषयक ज्ञान होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी—इतना ही अभीष्ट है।

अब आओ ज्ञानके साधनकी प्रकृतिपर विचार करें कि यह केवल व्यक्तिके शृङ्गारके लिए ही है अथवा यह तत्त्वकी उपलब्धिमें किसी प्रकारसे हेतु है। हमारे एक डाक्टर पन्नालाल हैं। मैं समझता हूँ अब बहुत वृद्ध हो गये होंगे। हैं कि नहीं हैं, यह भी ठीक पता नहीं है। हमारे बचपनमें वे उत्तरप्रदेशमें कमिश्नर थे, फिर गवर्नरके सलाहकार थे। एकबार उन्होंने पूछा कि जीवनमें सद्गुणकी प्रतिष्ठा हो जाये तो क्या इसीका नाम ईश्वरकी प्राप्ति है? साक्षात् भगवान् आँखके सामने आकर दर्शन दे दें, तो क्या इसीका नाम भगवत्प्राप्ति है? वृत्ति समाहित हो जाये तो क्या इसीका नाम भगवत्प्राप्ति है?

नहीं, भाई! भगवत्प्राप्ति माने होता है कि भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ न रहे-न जीव, न जगत्, न कोई अन्य रूपसे ईश्वर। ईश्वरकी अन्यरूपता, जीवकी अनेकता और जगत्‌की सत्यताका भ्रम जिस ज्ञानसे निवृत्त हो जाता हैं, उस सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं।

जिनको व्यक्ति-शोधनकी आदत पड़ जाती है वे अव्यक्त-तत्त्वके ज्ञानमें पिछड़ जाते हैं। पहले सीधी चोट करो! उस अखण्ड अद्वितीय अविनाशी परिपूर्ण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके ज्ञानसे अज्ञान मिट जाये तब देखना तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं रहेगा।

तो यहाँ जो सद्गुणोंका, साधनका वर्णन हो रहा है, इनका नाम भी ज्ञान है—***ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्***-जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। यह व्याकरण-व्युत्पत्ति है ज्ञानकी।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा। (१३.११)

भगवान् कहते हैं—जिनका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, इनका तो नाम ज्ञान है और '**यत् अतो अन्यथा तत् अज्ञानं**'—जो इसके उलटा है उसका नाम अज्ञान है।

अब आजाओ प्रथम साधन **अमानित्वम्** पर। संसारमें लोग मान चाहते हैं। बोले-भाई! भरी सभामें हमें मानपत्र मिलना चाहिए। हमारे शंकराचार्य थे ज्योतिषपीठके, उन्होंने बड़े अच्छे, मोटे कागजपर सुनहले अक्षरोंमें उपाधि-पत्र छपवा रखे थे। जब सेठ लोग उनके पास जाते थे, तो उनका नाम उन पत्रोंपर खूब बढ़िया-सा लिखवाके उनको धर्म-धुरन्धर, धर्म-धुरीण, धर्मालंकार, भक्तराज ऐसी-ऐसी उपाधि दे देते थे। तो सेठ लोग बहुत प्रसन्न होते थे; दस-दस, पाँच-पाँच हजार रुपया उनको दे आते थे। कलकत्तेके एक सेठने लाख रुपया दिया था। वह तो अपनेको समझता था कि हम चोर हैं, बेइमान हैं, ब्लेक मार्केटी हैं। मगर जगद्गुरुजीने उसको उपाधि दे दी कि तुम धर्मालंकार हो। उसका फल यह हुआ कि हीनताकी भावनापर वह मुलम्मा चढ़ा कि लाख रुपया दे गया। तो जो लोग ऐसा 'मान' चाहते हैं, उनको ज्ञान नहीं होता; वे तो मानके लिए आये थे उनको ज्ञान कहाँसे होगा?

यह मान दो तरहका होता है। एक तो विद्यमान गुणोंका अभिमान होता है—जैसे कोई अच्छा पण्डित है और उसको अपने पाण्डित्यका अभिमान है। दूसरे-किसी-किसीको अविद्यमान गुणोंका भी अभिमान होता है—जैसे कोई सेठ है, है तो पूरा ब्लैक-मार्केटी, लेकिन उसको अपने भक्त होनेका अभिमान हो गया है। वह तो धनका भक्त है, ईश्वरका भक्त नहीं है;इस प्रकार यह अविद्यमानका मान हुआ।

मान और भी कई तरहके होते हैं—मैं समझता हूँ कि एक ग्रन्थमें बीस प्रकारसे मानके उदयका उल्लेख किया गया है। उनमें अपने शरीरकी चमड़ी गोरी है, अपने बाल घुँघराले हैं, आँखें हमारी बड़ी-बड़ी हैं—इनका भी अभिमान होता है। हमारी स्त्री बड़ी सुन्दर है, इस अभिमानको लेकर पुरुष घूमते रहते हैं और दिखाते रहते हैं कि देखो हमारी स्त्री कितनी सुन्दर है पैसेका, विद्याका, तपका, ज्ञानका, भक्तिका अभिमान होता है। अपने गुणक अभिमान होता है। अपनी निरभिमानताका अभिमान होता है कि मैं बहुत निरभिमानी हूँ। माया महाठगिनी हम जानी!

जिसको अभिमान होगा उसको बोलेंगे मानी और मानीपनेके भावका नाम है मानित्व। और उसके अभावका नाम है अमानित्व। ज्ञानके, ईश्वरके मार्गमें चलना हो तो इस मानित्वका त्याग करना पड़ता है।

अमानित्वकी ऐसी व्युत्पत्ति नहीं करना कि *'अमानः अस्यास्ति इति अमानी'* या फिर *'अमानिनो भावः अमानित्वम्।'* तब इसकी सही व्युत्पत्ति क्या है? ऐसे व्युत्पत्ति करो कि—

मानोऽस्यास्तीति मानी तस्य भावः मानित्वम्। मानित्वाद् व्यतिरिक्तं विलक्षणं अमानित्वम्।

दैवी सम्पत्तिमें तो थोड़ा मान रहना चाहिए, जिसको स्वमान (स्वाभिमान) या आत्मसम्मान बोलते हैं। पर दैवी सम्पत्तिका जो अधिकारी है, वह जिज्ञासु नहीं है। वहाँ—**नातिमानिता** को दैवी-सम्पत्तिमें गिनाया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। (१६.१-३)

अतिमान नहीं करना—नातिमानिता। एक सामान्य गृहस्थ है, वह इतना मान न करे कि दूसरे लोग उससे अपमानका अनुभव करें, लेकिन थोड़ा-सा मान—मानिता चाहिए, अतिमानिता नहीं चाहिए। अतिमान वर्जित है, मान तो रहना ही चाहिए। लेकिन वही संसारको छोड़कर जब ज्ञानके मार्गमें चलने लगता है तब नातिमानिता नहीं, अमानिता चाहिए। जिज्ञासुका दृष्टिकोण यह है कि हम शुद्ध हों। दूसरे लोग हमको शुद्ध समझते हैं कि अशुद्ध समझते हैं इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

गीताके १५वें अध्यायमें छः बात बता दीं—(१) मान और मोहका तो परित्याग कर दो—**निर्मानमोहा**। (२) संगका परित्याग मत करो, संगके दोषको जीत लो, दूसरेका असर मत पड़ने दो। **जितसङ्गदोषा**। (३) मानमोह छोड़कर लगें कहाँ? तो कहा—**अध्यात्मनित्या**। नित्य अध्यात्ममें लगो। (४) विनिवृत्तकामाः—विषय भोग दूर रहें। (५) सुख-दुःख नामके **द्वन्द्व** बाँधे नहीं—**द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख-दुःख संज्ञैः**। और (६) **अमूढः—कहीं**

मूढ़ नहीं होवे। माने गर्भमें बच्चेके अटक जानेके समान दुनियाकी किसी वस्तुको पकड़कर अटकें नहीं कि अब इसको हम नहीं छोड़ेंगे। अन्यथा बस बन्दरकी तरह पकड़े गये। बन्दरने छोटे मुँहके बर्तनमें हाथ डाला चना निकालनेके लिए, मुट्ठी बाँधी और वहीं पकड़ा गया। ये छह बातें है। जीवनमें आयीं तो **पदमव्ययं तत्**—अव्यय पद-परमेश्वरकी प्राप्ति हुई।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ (१५.५)

तो एक हुआ कि अतिमान नहीं करना और एक हुआ कि मानको ही छोड़ देना—**निर्मानमोहा**। यह निर् जो उपसर्ग लगा है वह कहता है कि पहले मान-मोह था, अब उससे निकल गये। यह 'निर्' उपसर्ग पंचमी समासमें जुड़ता है—***मानमोहेभ्यो निष्क्रान्ताः निर्मानमोहा*** तो मान मोहकी दलदलसे निकल गये।

(१) अब यह **अमानित्व** क्या है? यहाँ वेदान्तका प्रसंग है। तो देखो देहका देश-मान है साढ़ें तीन हाथ। देहका काल-मान है सौ-पचास बरस। देहका द्रव्यमान है एक-दो मन। अब मानी हुआ वह जिसने इस देहको मैं-मेरा समझा, उसमें मानित्व हुआ। इसलिए अमानित्वम्का अर्थ हुआ—अपनेको परिच्छिन्न वस्तुके साथ न मिलाना। यह मानित्व है— कि क्या लंम्बा छरहरा स्वस्थ शरीर है! क्या दीर्घायु है! क्या सौन्दर्य, क्या माधुर्य है! इसलिए अमानित्व है कहीं भी अपनेको किसी भी मानके साथ नहीं मिलाना-- अणु परिमाण भी नहीं मानना, देह परिमाण भी नहीं मानना और विभुपरिमाण भी नहीं मानना। मानके चक्करसे निकलनेकी जो प्रक्रिया है वह अमानित्व है। तब क्या बोलेंगे? कि—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

जहाँ-जहाँ मान होवे, वहाँ-वहाँसे 'मैं'को निकाल लेना; मुञ्जादिषीकानिव, जैसे मूँजसे सींकको निकाल लेते हैं, वैसे। असलमें विवेक हो, तब अमानित्व हो। यह विवेक पूर्वक अमानित्व है। विवेक न हो तो **'एतद् ज्ञानमिति प्रोक्तं'**—इसका नाम ज्ञान है, यह बात नहीं कही जायेगी। स्वीकृतिको, या मान्यताको या आचारको ज्ञान नहीं बोला जाता है। स्थितिका नाम ज्ञान नहीं है; ज्ञान माने विवेक। ***नेति-नेति*** यह निषेध-वाक्य

बृहदारण्यकोपनिषद्के दूसरे, चौथे, और छठें अध्यायमें चार बार आया है। इस अवान्तर वाक्य—*नेति-नेति*-के द्वारा तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है। वह जब तुम्हारी बुद्धिके भीतर आने लगेगा कि यह मैं नहीं हूँ, तब अमानित्वं आयेगा। मैं ऐसा हूँ—यह नहीं; मैं यह नहीं हूँ—इतना ही। क्योंकि मैं यह हूँ, यह तो वृत्तिसे केवल दुहराया जायेगा; प्रमाण वृत्ति बारम्बार काम नहीं करती, प्रमाण वृत्ति तो केवल एकबार काम करती है। आँखसे एकबार ठीक-ठीक देख लिया कि यह घड़ी है, चल रही है और इसमें इतने बजकर इतने मिनट हुए हैं। प्रमाणवृत्ति एकबार काम करती है, परन्तु उस प्रमाण वृत्तिके शोधनके लिए नेति-नेतिका निषेध सर्वत्र लागू होता है। देश-काल-वस्तुका परिच्छेद मेरे स्वरूपके साथ नहीं है। इनका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्मज्ञान होनेपर सभी परिच्छेदोंका बाध हो जायेगा। परन्तु बाधित होनेसे पूर्व परिच्छिन्नताका मेरेसे पृथक् होना तो अपेक्षित ही है। इसी हेतुसे अमानित्वम्‌को ज्ञानका साधन बताया है क्योंकि मानित्वका निषेध ही इसमें किया गया है। अपनेमें जो देशमान (लम्बाई-चौड़ाई), कालमान (सौ-पचास बरसकी उम्र) और द्रव्यमान (मन, दो मन वजन) हैं, उसका निषेध, अपवाद, नेति-नेति, अमानित्वम्‌से किया गया है। साधनमें परिच्छिन्नताका स्वरूपसे अलगाव और ब्रह्मज्ञानसे परिच्छिन्नताका मिथ्यात्व।

(२) अब दूसरा साधन देखो—**अदम्भित्वम्**। दम्भ किसलिए? दम्भी किसको कहते हैं?

ध्यानपूजादिकं लोके द्रष्टव्येति करोति च।
पारमार्थिकधीहीनः स दम्भाचार उच्यते॥

यह श्री शङ्कराचार्यका वचन हैं—'सर्व वेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह'में। जब कोई देखनेवाला हो तब तो ध्यान करने बैठ गये, पूजा करने बैठ गये। **माला लेकर बैठ गये और कोई देखनेवाला न हो, तब? बोले—मौजमें हैं। इसका नाम दम्भाचार है।**

दम्भ माने माया, कपट, जो चीज अपने अन्दर नहीं है, उसको दूसरेको जाहिर करना। अविद्यमान महत्ताको अर्थात् अपने अन्दर, **जो महत्त्व विद्यमान नहीं है, उसको दूसरेको** दिखाना, दम्भ है। व्याकरणके पण्डित **नहीं हैं परन्तु**

व्याकरणके पण्डित बन गये और पण्डिताई दिखाने लगे। पण्डिताईका इससे भी बढ़िया नमूना है:—

यत्र वैयाकरणाः तत्र वैदिकाः यत्र वैदिकास्तत्र वैयाकरणाः।
यत्र नोभयं तत्र चोभयं यत्र चोभयं तत्र नोभयम्॥

जहाँ व्याकरणके अच्छे-अच्छे पण्डित हों, वहाँ कह दिया कि हम वेदके विद्वान् हैं। और वेदके पण्डितोंमें गये, तब बोले हम वैयाकरण हैं। जहाँ दोनों न हों वहाँ दोनों बन बैठे कि हम व्याकरण और वेद दोनोंके विद्वान् हैं। जहाँ दोनों हैं वहाँ दोनों नहीं हैं। इस पाण्डित्यको दम्भ बोलेंगे!

दम्भ माने बनावट। कोई-कोई भीतरसे गरीब होते हैं, बिल्कुल खोखला मामला होता है, और ऊपरसे नौकर, मोटर, कपड़े-लत्ते-सारी बनावट रखते हैं; तो वे दम्भ करते हैं। ऐसे दम्भी लोग या तो दूसरेको ठगते हैं और धनी हो जाते हैं, या थोड़े दिनोंके बाद उनके दम्भका दीवाला निकल जाता है। ऐसे लोग या तो दूसरेको नुकसान पहुँचावेगें या खुद नुकसान पावेंगे।

एक कश्मीरी पण्डितकी लिखी हुई पुस्तक है, उसका नाम है—**कला विलास**। उसमें दम्भ-कलाका भी वर्णन है। एक बार ब्रह्माजीकी सभा जुटी हुई थी। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, राजर्षि-सब उसमें मौजूद थे। उसमें गय, शन्तनु आदि राजर्षि, वसिष्ठादि महर्षि मौजूद थे, ब्रह्मर्षि भी थे। भरी हुई थी सभा। इतनेमें एक सज्जन, बाँये हाथमें कमण्डलु और दाहिने हाथमें कुशा लेकर जल छिड़कते हुए ब्रह्मलोकमें 'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा' बोलते हुए ब्रह्माजीके सामने आकर खड़े हो गये। ब्रह्मलोकको अपवित्र समझनेवाला यह कौन पवित्रात्मा आ गया? सारी सभा आश्चर्यचकित; लोगोंने देखा कि यह तो किसीको प्रणाम भी नहीं करता और यहाँकी धरतीको भी पवित्र कर रहा है तो बहुत बड़ा आदमी होगा। तो सब लोग उठे और उठ-उठकर सबने प्रणाम किया। अब वह तो खड़ा, बैठे ही नहीं। ब्रह्माजीने देखा कि यह तो हमको भी प्रणाम नहीं करता है, तो हमसे भी कोई बड़ा होगा। तो ब्रह्माजी उठे। उन्होंने कहा कि हमारे आसनपर बैठ जाओ। उसने नाक-भौं सिकोड़ ली कि तुम्हारे बैठे हुए उच्छिष्ट आसनपर भला हम बैठेंगे? ब्रह्माजीने कहा कि अच्छा आओ! तुम हमारी गोदमें बैठ जाओ। तब उसने कुशके द्वारा कमण्डलुमें-से जल लेकर ब्रह्माजीके शरीरपर छिड़का। ***अपवित्रः पवित्रो***

वा—करके बैठ गया ब्रह्माजीकी गोदमें। अब ब्रह्माजीकी साँस चले, तो उसने कहा—यह साँस तो तुम्हारे पेटमें-से निकल रही है, यह हमको लगती है, साँस रोको अपनी, ब्रह्माजीने सोचा कि हमारा तो दम घुट जायेगा और हम मर जायेंगे। अरे, यह इतना पवित्रात्मा कौन आया? तो झुकके उसके मुँहकी ओर ब्रह्माजीने देखा। फिर बोले कि—अरे बेटा दम्भ, तू बहुत दिनोंके बाद आया, मैंने तो तुमको पहचाना ही नहीं।

यह जो शौचाचारमें अति है ना, वह अति तो दम्भ है। इसमें मूल बात क्या है? अदम्भित्वका अर्थ अदम्भीपना नहीं है। असलमें जो मानी होता है वही दम्भ करता है। अपने परिच्छिन्न अभिमानकी तुष्टिके लिए, पूजाके लिए, उसके बड़प्पनके लिए ही तो दम्भ किया जाता है ना! दम्भका और कारण क्या है? दम्भ है अपने परिच्छिन्न अहंकी श्रेष्ठता स्थापित करनेके लिए; दूसरे शब्दोंमें मान, बड़प्पन स्थापित करनेके लिए। अपनेको बड़ा दिखानेकी प्रक्रिया दम्भ है। असलमें दम्भ और माया एक ही चीज है।

आप तत्त्व दृष्टिसे देखो कि कौन-सी चीज बिना हुए प्रतीत हो रही है? दम्भ माने—भीतर पवित्रता नहीं है और बाहरसे पवित्रता दिखा रहे हैं; भीतर तिजोरीमें धन नहीं है और बाहरसे धन दिखा रहे हैं; भीतर पाण्डित्य नहीं है और अपनेको पण्डित दिखा रहे हैं—इसीका नाम दम्भ होता है। तो विवर्तका जो लक्षण है वही दम्भका लक्षण है। *'विरुद्धं वर्तनम्-विवर्तः'* जो चीज जैसी हो, उसके विपरीत वर्तना, इसका नाम विर्वत है। 'वि' माने विपरीत। और 'वर्त' माने वर्तन-बर्ताव।

तो यह जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे शून्य, अखण्ड, अद्वितीय परिपूर्ण, अविनाशी, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमार्थ वस्तु है, उसके न बाहर द्वैत है, न भीतर द्वैत है, उसमें न पहले द्वैत है न पीछे द्वैत है। उसमें न स्वयं द्वैत है, न अपने सिवाय द्वैत है। द्वैतकी छाया ही नहीं है, द्वैतकी गन्ध ही नहीं है, ऐसा है अपना आपा, ऐसा है अपना स्वरूप। इसलिए जो अपने जीवनमें दम्भ छोड़ने लगता है, उसको अपने स्वरूपमें जो माया है, जो छाया है, जो चीज बिना हुए भास रही है, उसको छोड़नेके लिए एक विशेष प्रेरणा प्राप्त होती है।

दाम्भिक जीवन बड़ा निन्दित है। धर्मशास्त्रमें भी निन्दित है। मनुजीका एक श्लोक है—

दाम्भिकान् बकवृत्तींश्च वाड्मात्रेणापि नार्चयेत्।

जो दाम्भिक हैं और बकवृत्ति हैं—जैसे बगुला देखनेमें क्या सफेदपोश होता है, भगवान्‌ने जैसे सारी सात्त्विकता उसके रोएंमें डाल दी है, और क्या एक पाँवपर खड़े होकर पानीमें तपस्या करता है, परन्तु जब मछली उसपर विश्वास करके कि यह महात्मा तप कर रहा है, उसके पास आती हैं, तो वह चोंचसे गड़ाप पकड़ लेता है। इसीको 'बकवृत्ति' बोलते हैं। मनुजी कहते हैं कि दम्भी और बकवृत्तिवालोंकी जबानी जमाखर्चसे भी तारीफ नहीं करनी चाहिए।

जिज्ञासुके लिए दूसरेकी ओर देखनेकी जरूरत नहीं है। उसको तो अपने आत्माकी ओर देखनेकी जरूरत है। किया तो कुछ नहीं मगर, कभी बोलेगा हमने पाठशाला बनवायी, हमने अस्पताल बनावाया, हमने कुआँ खुदवाया। कभी कहेगा हमने बड़े-बड़े भोग भोगे, हमने बड़े-बड़े शरीर प्राप्त किये। ये सब दम्भ हैं। इनमें भी अदम्भीपना धारण नहीं करना है, ***नेति-नेति*** के द्वारा दम्भित्वका निषेध ही करना है। यह है **अदम्भित्वम्**।

देश-काल-वस्तुकी परिच्छिन्नताका आत्मामें निषेध किया 'अमानित्वम्'से; अब देशादिका ही निषेध कर रहे हैं 'अदम्भित्वम्'से। कैसे? कि दम्भ माने माया। बाहरकी चीजोंको आत्मामें आरोपित करके तो मान होता है और आत्माको ही बाहर प्रकट करनेका नाम है दम्भ, माया। अपनी ख्याति करना दम्भ है: ***ख्यापनं दम्भः***। तुम ब्रह्मको ख्याति देते हो कि अपनी परिच्छिन्नताको? यह जिज्ञासुके सामने प्रश्न है, किसी संसारीकी बात नहीं करते! ब्रह्मको ख्यातिकी जरूरत नहीं है। तब तुम अपनी परिच्छिन्नताकी ही ख्याति करते हो और उससे जरूर कोई भौतिक लाभ उठाना चाहते हो। जिज्ञासु तो सत्यको, ब्रह्मको जानना चाहता है, वह अपनी ख्याति करेगा तो दम्भी हो जायेगा। अनन्तकी ख्याति सान्तसे? अद्वैतकी ख्याति द्वैतसे? इसीका नाम माया है। वह दम्भ है। यह माया न तुम्हारा स्वरूप है, न स्वभाव है,न गुण है, न धर्म है। मायासे तुम्हारा कोई सम्बन्ध भी नहीं है। किसी भी रूपमें इसको स्वीकृति मत देना। अपने आत्माको ख्यात करके इस मायाके किसी

भी खेलके साथ नहीं जुड़ना। धनी, तपस्वी, ज्ञानी, महात्मा, विद्वान्-कुछ भी बनना और प्रकट करना दम्भ है।

(३) अहिंसा—मानकी पूजाके लिए दम्भ होता है। जहाँ मान नहीं है वहाँ दम्भ नहीं रहेगा। लेकिन जो तुम्हारे दम्भकी पोल पट्टी खोलने लगेगा, या तुम्हारे मानपर चोट पहुँचावेगा, उसके प्रति हिंसाकी वृत्ति उदय होगी। तो हिंसा शरीरसे भी होती है, वाणीसे भी होती है, मनसे भी होती है। असलमें सबसे बड़ी हिंसा है अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको परिच्छिन्न समझना। हमारी बुद्धि उस समय हिंसासे भर जाती है, जिस समय अखण्ड एकरस तत्त्वकी कुट्टी काटके, टुकड़े-टुकड़े करके देखते हैं कि वह पापी, वह पुण्यात्मा, उसकी निन्दा, उसकी स्तुति। यह महाराज वेदान्ती भी, दूसरेको कर्त्ता समझकर उसकी निन्दा करने लगता है; अरे तुम कर्त्ता नहीं हो तो दूसरा कर्त्ता कहाँसे हो गया? तुम भोक्ता नहीं हो तो दूसरा भोक्ता कहाँसे हो गया? अपनेको जबतक तुम परिच्छिन्न कर्त्ता और परिच्छिन्न भोक्ता, तुम परिच्छिन्न अकर्त्ता और परिच्छिन्न अभोक्ता नहीं मानोगे, तबतक दूसरेको कर्ता-भोक्ता कहाँसे मानोगे? वेदान्तनयमें इसीलिए निन्दा-स्तुतिके लिए कोई स्थान नहीं है।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥
न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनयावृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥

(श्रीमद्भागवत)

एक अखण्ड अद्वितीय परमात्मामें साधु-*असाधु न कुर्यात्, साधु-असाधु न वदेत, साधु-असाधु, न ध्यायेत;* न अच्छा-बुरा सोचे, न अच्छा-बुरा करे, न अच्छा-बुरा बोले।

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

जो निवृत्ति परायण महात्मा लोग होते हैं; उनका दृष्टिकोण संसारियोंसे बड़ा अलग होता है; तो अहिंसाका अर्थ हुआ वाणीसे भी किसीको अपनेसे अलग मत करो, सब अपना ही स्वरूप है। जिससे हम अलग हो जाते हैं और हम अपनेको जिससे अलग कर देते हैं, उसकी हिंसा हो जाती है।

बुद्धिसे वह कट गया। न वह हमसे अलग है, न हम उससे अलग हैं। ये साँप, बिच्छू भी अपनेसे अलग नहीं हैं और हम उनसे अलग नहीं हैं। ब्रह्मादि देवता और कीट-पतंगादि निम्न जातिमें आत्मरूपेण, जीवरूपेण जो स्थित हैं, वह वही है जो इस शरीरमें है। जो जो मैं हूँ, वही सबमें है।

तो देखो, लोककी दृष्टि दूसरी है। लोकमें एक कायरताका भाव होता है; उसका नाम 'अहिंसा' नहीं है, वह तो तमोगुण है। अच्छा, कायरता तो न हो,शान्तिसे रहें, पर *'हनते को हनिये, पाप दोष न गनिये'*—इस गाँवकी कहावतके अनुसार जो मारे उसको तो मारना चाहिए; इसमें पाप-दोष कुछ नहीं लगता। अथवा *'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'* सामने आते आततायीको बिना विचारे ही मार देना ठीक है—ऐसा शास्त्रका वचन है। यहाँ ऐसे सोचना कि यह कायरतासे तो ऊँची चीज है परन्तु यह प्रतिहिंसा है। अपनी ओर से आक्रमण करना हिंसा है और प्रतिहिंसा है तो हिंसा परन्तु इसमें प्रथम आक्रमण अपना नहीं है, हिंसामें प्रथम आक्रमण अपना है। युद्धनीति यह है कि दुश्मनपर पहली चोट हमारी ओरसे होनी चाहिए। जबतक वह सावधान हो तबतक तो उसको पीटपाटके गिरा दो। यह हिंसा है और राज्यके लिए आवश्यक होनेपर भी व्यक्तिके लिए हिंसा राजसी वृत्ति है। लेकिन सर्वत्र अपनी ओरसे आक्रमण न करना किन्तु आक्रमण होनेपर आक्रमण करना—यह प्रतिहिंसा सत्त्वोन्मुख रजोवृत्ति है, सत्त्वाभिमुख रजोवृत्ति है। और, अहिंसा ही रखना—यह जिज्ञासुकी वृत्ति है। जो परमात्म-तत्त्वके ज्ञानके लिए अग्रसर हुआ, वह अगर दूसरेके काटपीटमें लग गया, फिर तो उसको दूसरा दिखेगा,परमात्मा नहीं दिखेगा। जो लोग निन्दा-स्तुतिमें लगे हुए हैं वे भले राजनीतिक पुरुष होंगे, सामाजिक पुरुष होंगे, लेकिन वे आध्यात्मिक पुरुष नहीं हैं। अपनी जबान गन्दी होती है-यह जिसको ख्याल नहीं है, वह आध्यात्मिक पुरुष कहाँ हो सकता है? अपना दिल गन्दा होता है—यह जिसको ख्याल नहीं है वह आध्यात्मिक पुरुष कहाँ है? प्रत्येक क्रियाका प्रभाव हमारे चित्तपर क्या पड़ेगा, जो इस बातका ध्यान नहीं रखता है, वह आध्यात्मिक जिज्ञासु नहीं है। इसलिए आध्यात्मिक जिज्ञासुको यह ध्यान रखना है कि यदि हम हिंसा करने लग जायेंगे, काटने लग जायेंगे, तो ब्रह्म छूट जायेगा, ब्रह्मचिन्तन छूट जायेगा, ब्रह्मानुसन्धान छूट जायेगा, ब्रह्माकार

वृत्ति छूट जायेगी, श्रवण-मनन-निदिध्यासन छूट जायेगा—यह ध्यान रखना। लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए जने-जनेसे भिड़ना—यह चलनेकी रीति नहीं है।

आपको सुनाया होगा कभी, हमको किसी महात्माने सुनाया था। एक कुत्तेको ख्याल हुआ कि हम सौ मील दूर अमुक शहरमें जायें। तो निश्चय किया कि दस-दस मील रोज चलेंगे, शान्तिसे खाते-पीते, दस दिनमें पहुँच जायेंगे। पर वह जो अपने गाँवमें-से निकला, तो दूसरे गाँवके जो उसके भाई-बिरादर थे, वे उसपर टूट पड़े। उसने सोचा कि अगर हम इनसे लड़ेंगे, तब ये तो दस हैं हम अकेले हैं, ये तो हमें काटके यहीं गिरा देंगे। इसलिए उसने पूँछ दबाई और काँय-काँय करता हुआ भाग लिया। अब दूसरा गाँव आया तब फिर ऐसे ही भागना पड़ा, तीसरा गाँव आया तब भी ऐसा ही हुआ; कुत्ते कहीं टिकने ही न दें। तो वह जो दस दिनमें सौ मील पहुँचनेवाला था, दो दिनमें ही सौ मील पहुँच गया। यदि वह लड़ाई करता तो क्या होता? एक गाँव भी वह दस दिनमें पार नहीं कर सकता था। जो संसारमें जने-जनेसे भिड़ता हुआ चलता है, लड़ाई करता हुआ चलता है, वह आगे नहीं बढ़ता; और जिसका अपने कामसे काम रहता है; वह आगे बढ़ता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं, उसके लिए अहिंसाकी भी अपेक्षा नहीं होती है। उसकी अहिंसा क्या है? वह अनात्मदृष्टिसे किसीको नहीं देखता, यही उसकी अहिंसा है।

तो देखो, भोजनमें भी अहिंसा, वस्त्रमें भी अहिंसा, शयनमें भी अहिंसा भाषणमें भी अहिंसा, चिन्तनमें भी अहिंसा—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

कर्मसे, मनसे, वाणीसे— किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेश जननं प्रोक्तं अहिंसात्वेन योगिभिः॥

यह योगी याज्ञवल्क्यने अहिंसाका लक्षण बताया है। एक याज्ञवल्क्य हैं, जिनकी याज्ञवल्क्य स्मृति है और एक योगी याज्ञवल्क्य हैं जिनकी योगी संहिता है। यह योगका ग्रन्थ है। घेरण्ड संहिता, गोरक्ष्यसंहिता, योगी- संहिता आदि योगके ग्रन्थ हैं। तो उसमें क्या बताया कि 'कर्मसे, मनसे और वाणीसे अपनी ओरसे किसीको भी क्लेश मत दो। ऐसा काम मत करो कि क्लेश हो, ऐसी बात मत बोलो कि क्लेश हो, मनमें ऐसा मत सोचो कि क्लेश हो; यही

अहिंसा है।' यह संस्कृत भाषामें है। भाषाओंका विवेक होता है। गुरुमुखी न जातीय है न प्रान्तीय है, यह साम्प्रदायिक भाषा है। बंगला भाषा प्रान्तीय है। संस्कृत भाषा न प्रान्तीय है न साम्प्रदायिक है, न जातीय है। साम्प्रदायिक इसलिए नहीं है क्योंकि सारे बौद्ध, जैन धर्मके ग्रन्थ भी इसी भाषामें हैं।

अक्लेशजननं अहिंसा—किसीको क्लेश नहीं देना-यह अहिंसा है। इसका अर्थ अगर हिन्दीमें देखें तो यही होगा कि किसीको सताना नहीं, दु:ख नहीं देना, तकलीफ नहीं देना, मारना नहीं, पीटना नहीं, गाली नहीं देना। परन्तु संस्कृत भाषामें *'अक्लेश जननं अहिंसा'* का अर्थ विलक्षण होगा। क्लेश योगमें पारिभाषिक शब्द है। क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश। अत: किसीको बेवकूफ बनाना भी क्लेशजनक है; वह भी हिंसा है, क्योंकि अविद्या क्लेश है। अस्मिता क्लेश है, इसलिए किसीका घमण्ड बढ़ाना, परिच्छिन्नताके भावमें उसको दृढ़ करना भी हिंसा है। राग क्लेश है इसलिए ऐसी मुहब्बत किसीके दिलमें पैदा कर देना कि वह रोता फिरे, तो वह भी उसकी हिंसा हुई। द्वेष क्लेश है अत: किसीसे भी दुश्मनी करना भी हिंसा है। अभिनिवेश क्लेश है, अत: अपने या दूसरेके मनमें मरनेका डर बसा लेना हिंसा है। इसप्रकार अविद्या, अस्मिता, राग,द्वेष और अभिनिवेश अपनेमें बढ़ाना भी हिंसा है और दूसरेमें इसको पैदा करना या बढ़ाना भी हिंसा है। तो अहिंसाका अर्थ अब हो गया—*अक्लेशजननं* अर्थात् किसीको किसी प्रकारसे क्लेश न देना।

यह जो प्रसंग है **अमानित्वम् अदम्भित्वम्,** इत्यादि इसका विस्तार ज्ञानेश्वरी टीकामें देखें। मैं तो मूलके अनुसार बोल रहा हूँ। बचपनमें पहले हम लोग चार जने बैठते थे-मैं, कानूनगो साहब,अवधूतजी और सुदर्शन सिंह। चारों जने एक-एक टीका गीताकी ले लेते और एक-एक श्लोकपर किसने क्या कहा, किसने क्या कहा—लोकमान्य तिलकने क्या कहा, ज्ञानदेवने क्या कहा, शाङ्करभाष्यने क्या कहा, रामानुजने क्या कहा, मधुसूदनीने क्या कहा इसका हमलोग मिलान करते, तुलना करते। रोज घण्टे दो घण्टे इस कामके लिए निकालते थे। तो हमको तबकी याद है कि और टीकाएँ तो '**अमानित्वम-दम्भित्वम्**'की जल्दी पूरी हो गयीं लेकिन जो ज्ञानेश्वरीकी टीका थी, वह जल्दी पूरी नहीं होती थी; एक-एकपर बहुत-बहुत उन्होंने लिखा है।

लाठीसे मारना ही हिंसा नहीं है, वचनसे मारना भी हिंसा है। वचनसे मारना ही हिंसा नहीं, मनसे मारना भी हिंसा है। वह तो हत्यारा हो ही गया, जिसने किसीके मारनेका संकल्प किया, परन्तु वेदान्तका दृष्टिकोण इसमें औरोंसे न्यारा है। किसी व्यक्तिको दुःखी बना देना भी हिंसा है। किसी बुद्धिमान पुरुषको मूर्ख बनाना भी हिंसा है। क्योंकि मनुष्यका जो स्वरूप है, वह केवल सत्तामात्र तो है नहीं, कि तलवारसे काट दिया तो हिंसा हो गयी। केवल जड़ सत्ता ही अगर मनुष्यका रूप होता तो तलवारसे उसको काट देने पर हिंसा होती। चेतन भी तो मनुष्यका स्वरूप है ना! तो उसके चेतनको चोट पहुँचाना, चैतन्याभिव्यक्तिको चोट पहुँचाना भी हिंसा है। और, वह आनन्द भी तो है ना, तो उसके आनन्दाभिव्यक्तिको चोट पहुँचाना भी हिंसा है।

किसी भी व्यक्तिके जीवन-प्रणालीपर चोट करना हिंसा है। '*तेरे भावें जो करो*' उसकी जीवन-प्रणालीपर तुम चोट क्यों करते हो? वह संध्यावन्दन करता है, कि नमाज पढ़ता है, कि प्रार्थना करता है, यह उसकी अपनी जीवन-प्रणाली है। कोई चम्मचसे खाता है, कोई हाथसे खाता है। चम्मचसे खानेवाले कहें कि हाथसे खानेवाला गन्दा है और हाथसे खानेवाले कहें कि चम्मचसे खानेवाला पाश्चात्य है, तो यह भी हिंसा है। वैसे हमारे देवता लोग चम्मचसे ही खाते हैं। यह जो स्रुवाका नाम संस्कृतमें 'चमस' है। और संध्या आदिमें जिससे हमलोग पानी मुँहमें डालते हैं, उसका नाम है—आचमनी। तो आचमनी, चमस, चम्मच एक ही है।

एक दूसरेकी जीवन-प्रणालीपर जो आक्रमण है, वह अज्ञानका हेतु है और एक दूसरेकी विचार-प्रणालीपर जो आक्रमण है, वह बुद्धिमें अभिव्यक्त चेतनपर आक्रमण है। अगर कोई भी विचारकी नयी पद्धति निकालता है तो वह तो दार्शनिक है, वह विचारोंमें आदरणीय है। यह गौतमकी शैली, यह कणादकी शैली, कपिलकी, जैमिनीकी, पतंजलिकी शैली; ये सब-नये-नये विचारक हमारे दार्शनिक हैं।

इसलिए अहिंसाका अर्थ होता है कि किसीके सुखमें, किसीके ज्ञानमें और किसीके जीवनमें बाधा नहीं डालना। माने किसीको मूर्ख बनाना, किसीको घमण्ड देना, किसीको मोहब्बतमें फँसाना, किसीको दुश्मनीमें

डालना, और निरन्तर भयभीत रहना, होना, करना—इस सबका नाम हिंसा है। और इनसे बचकर रहना यह है अहिंसा।

अब जरा क्षान्तिकी बात सुनाते हैं। क्षान्ति माने क्षमा। आप अहिंसा और क्षान्तिको एकसाथ जोड़कर इसपर विचार करें। दोनोंमें क्या अन्तर है? हिंसा तब होती है जब अपनी ओरसे दूसरेपर आक्रमण होता है और क्षान्ति या क्षमा तब होती है जब दूसरा हमारे ऊपर आक्रमण करता है। दूसरेको बेवकूफ बना दिया, तारीफ कर-करके उसको घमण्डी बना दिया कि बस महाराज *'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'*—अरे तुम दिल्लीकी गद्दीपर क्या बैठे, तुम तो साक्षात् ईश्वर हो। यह भी हिंसा है। कैसे? कि सुननेवालेकेमनमें जो अस्मिता उत्पन्न होगी, उससे गर्व उत्पन्न होगा और उससे वह अपनेको सबसे बड़ा, सबसे अलग समझने लगेगा-यह हिंसा हो गयी। तो प्रशंसा भी नहीं करना, निन्दा भी नहीं करना। जिज्ञासुके लिए यों भी परिच्छिन्नकी प्रशंसा और निन्दामें क्या रखा है? लेकिन आप अहिंसा और क्षान्तिका जो भेद है उसपर ध्यान देवें। दूसरा कोई आपकी हिंसा करना चाहता हो तब आप उसके साथ बर्ताव कैसा करेंगे, प्रश्न यह है। आप स्वयं किसीके ऊपर आक्रमण नहीं करते, यह तो ठीक; लेकिन यदि दूसरा आपके ऊपर आक्रमण करे तो आप कैसा व्यवहार करेंगे? इसके लिए कम्युनिजमकी व्याख्या जुदा है और अध्यात्मकी व्याख्या जुदा है।

कम्युनिजम कहता है कि कुछ लोग संसारकी उपयोगी वस्तुओंको अपने हाथमें ले करके बैठ गये हैं; अगर उनको क्षमा करोगे, तो दुनियाका दुःख, दुनियाकी गरीबी दूर नहीं होगी, इसलिए आक्रमण करके उनसे छीनना चाहिए। कम्युनिजम आक्रमणका पोषक है। इसीलिए वहाँ सिद्धान्तमें हिंसा है। (वहाँ हिंसा भी है, प्रतिहिंसा भी है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोणको समझनेके लिए यह समझो कि वहाँ हिंसा या प्रतिहिंसा नहीं, अहिंसा है। अपनी ओरसे भी हिंसा भी न करें और दूसरे अपने प्रति हिंसा करें तो भी हिंसा न करें। इसमें समझनेके लिए दो विभाग कर लो; एक राष्ट्रीय स्तरपर और एक व्यक्तिगत स्तरपर।)

जहाँतक राष्ट्रकी रक्षाका प्रश्न है, उसके लिए तो सरकार जिम्मेवार होती है और सरकारका हाथ मजबूत करनेके लिए प्रजा जिम्मेवार होती है।

परन्तु देशका प्रत्येक व्यक्ति, औषधालय बन्द कर दे, विद्यालय बन्द कर दे, सत्संग बन्द कर दे और सब सीमापर आक्रमणका मुकाबिला करनेके लिए पहुँच जायें, उस समय यह कर्त्तव्य तो नहीं होता है, क्योंकि उससे तो शत्रुका मनोरथ ही सिद्ध होता है। यदि हमारी परम्परा संस्कृति, अध्यात्म, ईश्वर भक्ति, वेदान्त विचार-सबकुछ बन्द ही हो गया, तो युद्ध होनेके बाद आक्रमणकारी देशमें घुसके जो कुछ करता, वह सब हमने अपने आप ही कर दिया! तो राष्ट्रके स्तरपर इनकी भी रक्षा करनेकी आवश्यकता होती है।

अब व्यक्तिगत स्तरपर यदि कोई जिज्ञासु किसी दूसरेकी हिंसाका शिकार होवे तब उस जिज्ञासुको कैसा बर्ताव करना चाहिए? बोले— क्षान्ति करनी चाहिए, क्षमा कर देना चाहिए।

(४) क्षान्ति—शान्ति और क्षान्ति—दोनों शब्दोंके अर्थमें फर्क है। बचपनमें हमलोगोंको जो पुस्तक पढ़ाई जाती थी, उसमें एक किस्सा था कि एक कुत्ता मुँहमें रोटी लिये नदीके किनारे-किनारे जा रहा था। उसने देखा कि नदीमें एक और कुत्ता मुँहमें रोटी लिये-लिये चल रहा है। कुत्तेका स्वभाव, वह उस दूसरे कुत्तेकी रोटी लेनको झपट पड़ा। तो क्या हुआ कि उसके मुँहकी रोटी तो नदीमें गिर गयी और सामनेवाले कुत्तेके मुँहकी रोटी भी नदारद; वह तो उसीकी परछाईं थी। इस कथाका दार्ष्टान्त यह है कि जिज्ञासुकी कोई निन्दा करे या उसपर कोई आक्रमण करे, उसकी कोई जीविका बन्द कर दे, तो वह क्या करेगा? कि वह अपने स्वरूपमें बैठेगा— ॐशान्तिः शान्तिः! उसको समझना चाहिए कि शान्ति तो आत्मामें स्वाभाविक है और जब बाहरसे कोई उपद्रव करता है तब उस उपद्रवसे अप्रभावित रहना चाहिए—इसी अप्रभावित रहनेका नाम क्षान्ति है। जब दण्ड देनेका संकल्प उठेगा तो तुम्हारे मनमें क्या रहेगा? आत्मा या आक्रमणकारी? आत्मा नहीं रहेगा, आक्रमणकारी रहेगा। यदि क्षमा कर दोगे तो आत्मामें रहोगे। इसलिए क्षान्ति ज्ञानका साधन है और अक्षान्ति अज्ञान है।

यह बात मैं आपको कितनी बार सुना चुका हूँ कि जब मनमें काम होता है तब स्त्री या पुरुषका आकार हमारे मनमें होता है; और जब निष्कामता होती है—ब्रह्मचर्य होता है, तब स्त्री-पुरुषका आकार मनमें नहीं होता है। जब हमारे मनमें लोभ होता है तब धनका आकार मनमें होता है और जब

सन्तोष होता है तो धनका आकार मनमें नहीं होता है। अगर तुम अपने नाजुक दिलको सोना-चाँदी और नोटका बंडल ही दिन रात बनाते रहोगे, तो उसमें वही शक्ल आती रहेगी, वही तरंग आती रहेगी। उसमें परमात्माका चिन्तन कब करोगे? तो हिंसा तब आती है, जब हम किसी दुश्मनका चिन्तन करते हैं। इसमें मूर्खता क्या है? इसको समझो। मूर्खता माने बेहोशी असावधानी—मूर्ख शब्दका यही अर्थ है, मूर्च्छित। जो अपने स्वार्थसे, परमार्थसे-मूर्च्छित हो गया, बेहोश हो गया, बेखबर हो गया, वह मूर्ख है; अब उसके कल्याणकी ही क्या बात है?

तो, सन्तोष माने वृत्तिका धनाकार न होना। शान्ति माने मनमें किसी विषयका न आना। क्षान्तिका अर्थ है—उपद्रव करनेपर भी, माने चित्तके क्षुब्ध होनेका हेतु उपस्थित होनेपर भी, अपकार करनेवाले के प्रति भी दण्ड देनेके संकल्पका उदय न होना। इसका नाम क्षान्ति है कि दण्ड देनेका संकल्प ही नहीं होवे। भले परुषसे परुष, कठोर से कठोर कोई व्यवहार करे। बदलेमें यदि तुम समझाने जाओगे तो, ठीक है, समझा भी सकते हो, चाहो तो उसको मार भी सकते हो, चाहो तो उसको उजाड़ भी सकते हो, लेकिन तुम्हारे दिलकी क्या दशा होगी? मूर्खता क्या हुई इसमें? मूर्खता यह हुई कि तुम चाहते तो हो कि तुम्हारा दुश्मन गाँवमें न रहे, लेकिन जब उसको दण्ड देनेका तुमने संकल्प किया, तो वह तुम्हारे दिलमें आकर बस गया। बाहरसे तुमने भीतर बुला लिया उसको।

जिज्ञासु कैसा चाहिए? जिज्ञासु ऐसा चाहिए जिसकी कोशिश निरन्तर यह रहे कि हमारे दिलमें ब्रह्मके सिवाय दूसरी चीज न बसे। एक अनन्त, अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके सिवाय, दूसरी किसी वस्तुका विचार न आवे। यह कोशिश होनी चाहिए जिज्ञासुकी और ये बोले कि नहीं, पहले लड़ाई जीत लेंगे तब ब्रह्मका विचार करेंगे!

बोले—यह तो ठीक है कि हम किसीको कुछ नहीं कहते हैं, लेकिन जो हमें नुकसान पहुँचाता है, उसके ऊपर तो हम क्रोध कर सकते हैं? उसको तो दण्ड दे सकते हैं? इसके सम्बन्धमें वेदान्तका एक 'जीवन्मुक्ति-विवेक' नामका ग्रन्थ है। उसमें कहते हैं कि भाई, यदि तुम्हारा कोई अपकार करे तो उसके साथ भी तुम बहुत बढ़िया बर्ताव करना।

अपराधिषु कोपश्चेत् कोपे कोपं कथं न चेत्।
धर्मार्थकाममोक्षाणं प्रसह्य परिपन्थिनि॥

यदि तुम अपराधीपर कोप करने जाते हो, तो क्रोधपर क्रोध क्यों नहीं करते? सबसे सन्निहित अपराधी, पासका अपराधी, तो क्रोध है, जो तुम्हारे घरमें नहीं, दिलमें आग लगा रहा है। घरमें आग लगानेवाला यदि अपराधी है तो कलेजेमें आग लगानेवाला भी तो अपराधी है। यदि तुम्हें अपराधीको दण्ड देना है, तो अपने कलेजेमें आग लगानेवालेको पहले दंड दो—***कोपे कोपं कथं न चेत्*** क्यों? यह क्या नुकसान करता है? कि नुकसान यह करता है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणं प्रसह्य परिपन्थिनि।

अरे, यह तो धर्म, अर्थ, काम मोक्ष— सबको लूट लेता है। अगर किसीको दान कर रहे हो और क्रोध आ गया, तो दानका फल नहीं मिलेगा; धर्म गया। अगर ग्राहकसे फायदा उठानेकी बातचीत कर रहे हो और गुस्सा आगया तो ग्राहक ही लौट जावेगा, फिर कभी नहीं आवेगा तुम्हारी दुकानमें- अर्थका विरोधी है। यह भोगका भी विरोधी है। स्त्रीके ऊपर क्रोध किया, पुरुषके ऊपर क्रोध किया, तो लड़ाई करके कहीं दाम्पत्यका आनन्द आता है? और क्रोध करोगे तो भला कहीं अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मज्ञान होगा? माने मोक्षका भी विरोधी है। तो न धर्म सिद्ध हो, न अर्थ सिद्ध हो, न काम और न मोक्ष सिद्ध हो। ***क्षमया राजते लक्ष्मीः। क्षमा विप्रस्य भूषणम्।*** ब्राह्मणका जिज्ञासुका भूषण क्षमा है। असलमें वेदान्तके अधिकारीकी दृष्टिसे—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः
श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

षट् सम्पत्तिमें 'शम' पहला है। और कठोपनिषद्में भी स्पष्ट रूपसे अधिकारीके वर्णनमें शान्त और शान्तमानस दो शब्दोंका प्रयोग किया हुआ है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो न समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। (कठ० १.२.४)

तो शान्ति क्या होती है? सच पूछो तो वेदान्तकी भाषामें शान्ति ही सद्गुण है, क्योंकि शान्ति निर्विषय वृत्ति है। जब स्त्री-पुरुष मनमें हों तो काम और जब स्त्री-पुरुष न हों तब? कि शान्ति। अच्छा धन हो मनमें तो

लोभ और धन न हो तो? कि शान्ति। जब शत्रु हो मनमें, तब क्रोध, लेकिन क्रोध न हो तो? शान्ति। जब परिवार हो, कुटुम्ब हो मनमें, तो मोह, और मोह न हो तो? शान्ति। और दया करने जो लग जाते हैं उनके मनमें होता है दयनीय। उससे मन भर जाता है। जब दयनीय न हो मनमें, तब? शान्ति। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मनको निर्विषय बनाना, बाह्य विषयके प्रतिबिम्बनसे मनको मुक्त करना ही शान्ति है। यह शान्ति है सद्‌गुण और मनके पेटमें यदि बच्चा है, धन है, स्त्री है, परिवार है, शत्रु है, तो उसको बोलते हैं असद्‌गुण! जिसमें अधिष्ठान रूप सत्ता ही केवल प्रकाशित होती हो उसको बोलते हैं सद्‌गुण। उसका नाम है शान्ति; और उस शान्तिमें यदि कोई विक्षोभक आवे, तो उस विक्षोभकका प्रभाव न पड़ना, इसका नाम है क्षान्ति। सद्‌गुण एक है और असद्‌गुण अनेक हैं; क्योंकि सद्‌गुण—शान्ति, निर्विषय वृत्ति है और असद्‌गुण अनेक विषयरूप वृत्ति हैं। वृत्ति काम है। वृत्ति क्रोध है। वृत्ति लोभ है, वृत्ति मोह है। वृत्ति दम्भ है। एक शान्ति सद्‌गुण है। देखो क्या लाघव है इसमें!

हम लोगोंकी रीति ऐसी है कि हम व्यावर्त्यके भेदसे गुणमें भेद करते हैं। गुणमें स्वरूपसे भेद नहीं होता है। यह वेदान्तकी बात समझने योग्य है। जो शान्ति कामको मिटाती है उसका नाम ब्रह्मचर्य है। जो शान्ति लोभको मिटाती है उसका नाम है सन्तोष। जो शान्ति हिंसाको मिटाती है उसका नाम है अहिंसा। शान्ति ही अहिंसा है, शान्ति ही सन्तोष है, शान्ति ही निष्कामता है। शान्ति एक है। क्योंकि अधिष्ठानसे अभिन्न होनेके कारण उसमें अनैक्य आता ही नहीं, अपनेको भिन्न प्रतीत नहीं कराती; और दोष दुर्गुण अपनेको अधिष्ठानसे भिन्न प्रतीत कराते हैं, वे तत्तद् गर्भवती वृत्तिके पेटमें बच्चा होकर रहते हैं। और सब वृत्तियाँ गर्भवती हैं, लेकिन शान्ति निर्गर्भ वृत्ति है, निर्विषय वृत्ति है। तो तत्त्वज्ञान रूप जो नायक है, रसनायक; उसको सगर्भा वृत्तिमें रुचि नहीं है, उसको निर्गर्भ वृत्तिमें रुचि है। इसलिए जिज्ञासु पुरुष अपनी वृत्तिको निर्गर्भ ही रखते हैं।

तो, **क्षान्तिः**—क्षमा कर दो! तुम्हारे बारेमें जो कहा जाता है, सो कहा जाने दो। दूसरेकी जीभ पकड़ना तुम्हारे हाथमें नहीं है।

एक महात्मासे किसीने कहा कि अमुक व्यक्ति तो तुम्हारी बड़ी निंदा

करता है। बोले— वाह, वाह, वाह, बड़ी खुशीकी बात है। अरे इसमें क्या खुशीकी बात है? कि—

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनु ग्रहो मे—मैंने एक पैसा दिया नहीं उनको, मैंने उनकी कोई सेवा की नहीं और मेरे दोष-दुर्गुणको देख-देख करके ही यदि वे खुश हो रहे हैं, तो वह मेरे लिए खुशीकी ही बात है। देखो, लोग दूसरोंको खुश करनेके लिए तो क्या-क्या नहीं करते हैं—

दुःखार्जितापि धनानि परित्यजन्ति।

लोग तो अपना पैसा दे-देकर दूसरोंको खुश करते हैं और हमारा दुर्गुण ले-लेकर कोई खुश होता है तो इससे बढ़कर और क्या खुशीकी बात है?

वेदान्तका दृष्टिकोण यह है कि जिज्ञासुके हृदयमें क्षान्ति रहे। अब यह क्षान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है इसलिए क्षान्ति ज्ञान है। ज्ञान कैसे है? कि यह शान्तिके प्रतिबन्धकके प्रति असहिष्णुता है।

देखो, परिच्छिन्नताके प्रति असहिष्णुताका नाम अमानित्व है; विवर्तके प्रति असहिष्णुताका नाम अदम्भित्व है और अपनी ओरसे हम किसीको भी परिच्छिन्न न करें, इस परिच्छेदक वृत्तिके प्रति जो असहिष्णुता है, वह अहिंसा है और हमारी स्वरूपगत शान्तिके प्रतिबन्धकके प्रति असहिष्णुताका नाम क्षान्ति है। प्रतिबन्ध क्या? कि अरे, हजारों प्रतिबन्ध हैं— कोई पूर्वजन्मका है, कोई इस जन्मका है, कोई भावी प्रतिबन्ध है। परन्तु नहीं, इन सबमें किसी बातका ख्याल नहीं करना। तत्त्वज्ञानमें हमारी कोई रुकावट है, इसका कोई ख्याल नहीं करना। फिर क्या करना? कि केवल तत्त्वपर दृष्टि रखकर उसको समझनेकी कोशिश करना।

यह बातें जो वेदान्तकी हैं, वे ब्रह्मस्पर्शी होती हैं। जो बात ब्रह्मका स्पर्श न करे वह वेदान्त कैसा?

'**क्षान्ति**' शब्द क्षमाके अर्थमें है। अपराधीके प्रति क्षमा की जाती है। अहिंसामें कोई अपराधी नहीं है, अपनी ओरसे मारनेका संकल्प नहीं है। कायरतामें भय है। हिंसामें द्वेष है। प्रतिहिंसा हिंसासे ऊँची चीज है, आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, कायरकी कायरता तमोगुण है, हिंसा रजोगुण है, प्रतिहिंसा

सत्त्वोन्मुख रजोगुण है और अहिंसा सत्त्वगुण है। समयपर हिंसा और समयपर अहिंसा, लौकिक-वैदिक मर्यादाको देखकर दोनोंका यथायोग्य प्रयोग होना चाहिए क्योंकि दोनों ब्रह्ममें अध्यस्त और दोनों ब्रह्मसे प्रकाशित हैं। वैदिक दृष्टिसे जो तत्त्वज्ञ पुरुष होगा, वह समयपर हिंसा भी कर सकेगा और समयपर अहिंसा भी कर सकेगा; परन्तु जैन दृष्टिसे जो महापुरुष होगा वह अहिंसक ही होगा; बौद्ध दृष्टिसे जो महापुरुष होगा वह अहिंसक ही होगा; गांधी-दृष्टिसे जो महापुरुष होगा वह भी अहिंसक होगा। इनसे विलक्षण जो वैदिक, औपनिषद, वेदान्तिक दृष्टिसे महापुरुष होगा, वह परिस्थितिके अनुसार, विधि और निषेधके अनुसार—जहाँ हिंसा विहित है वहाँ हिंसाका और जहाँ निषिद्ध है वहाँ अहिंसाका पालन कर सकता है क्योंकि वस्तुरूपसे हिंसा-अहिंसाका कोई महत्त्व नहीं है, हिंसा-अहिंसा दोनों ब्रह्ममें कल्पित, ब्रह्मसे प्रकाशित, ब्रह्माधिष्ठानक, ब्रह्मस्वरूप हैं। तो वैदिक दृष्टिसे जो हिंसा-अहिंसामें सम होगा, वह महापुरुष है; और जो अहिंसक ही होगा सो साधक है; जो प्रतिहिंसक होगा वह राजपुरुष है; और जो कायर होगा वह संसारी है कायरताके लिए कोई स्थान नहीं है।

वैदिक दृष्टिकोणसे युद्ध भी हो सकता है, क्योंकि वैदिकता सम्प्रदाय नहीं है। आपको एक और बात सुनाऊँ। जो केवल अन्तर्मुखताकी साधनाकी दृष्टिसे ही सद्‌गुणकी स्थापना करते हैं, जैसे महावीर स्वामी, जैसे भगवान् बुद्ध, वे केवल समाधि पक्षको, केवल तीर्थंकर पक्षको लेकर साधनाकी स्थापना करते हैं, परन्तु वेदमें केवल समाधि पक्ष नहीं है। इसमें तो समाधि और विक्षेप दोनोंके प्रति समत्व है। इसमें अर्थ भी पुरुषार्थ है, धर्म भी पुरुषार्थ है, काम भी पुरुषार्थ है, मोक्ष भी पुरुषार्थ है। हमलोग चार पुरुषार्थवादी हैं। चार पुरुषार्थवादी होनेके कारण जो केवल आध्यात्मिक साधनामें लगा हुआ है, वह साधक तो अहिंसक होगा पर जो सिद्ध है वह हिंसा और अहिंसामें सम होगा; जो आधिदैविक साधनामें लगा हुआ है, वह शास्त्रोक्त रीतिसे हिंसा और अहिंसा दोनों कर सकता है। आधिदैविक साधनामें भी जैसे शक्ति पूजामें हिंसाके लिए स्थान है। आधिभौतिक साधनामें भी हिंसाके लिए स्थान है, परन्तु वहाँ भी नियामक शास्त्र ही है।

तो, **क्षान्ति** माने क्षमा करना। परन्तु क्षमा कादरका, कायरका धर्म नहीं

है। संस्कृतमें 'कदर्य' शब्द है इसके लिए। कदर्यका धर्म क्षमा नहीं है वीर पुरुषका धर्म क्षमा है। जहाँ ज्ञानीका लक्षण आवेगा वहाँ क्या है?

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥ (१८.१७)

यह हमारा वैदिक सिद्ध है, वेदान्ती सिद्ध है। कायरता सबसे नीचे है। उससे ऊँचे यह है कि चित्तमें भय न हो, भले बहादुरीके साथ हिंसा करे। उससे भी अच्छा वह है जो स्वयं तो हिंसा नहीं करता, परन्तु कोई हिंसा करे तो बदलेमें आक्रमणका जवाब दे, प्रतिहिंसक हो। उससे अच्छा वह है जो अहिंसक होवे। यह हुई साधनकी न्यूनाधिकता, तारतम्य। सिद्ध पुरुषमें न हिंसा, न अहिंसा। उसके लिए हिंसा, अहिंसा एक सरीखी है क्योंकि आत्माकी मृत्यु होती नहीं और शरीर परिवर्तनशील है, इसलिए—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ (२.३७)

यह बात इसलिए सुनाई कि गीतामें अर्जुनको युद्ध करनेकी स्वयं प्रेरणा दी जा रही है और महापुरुषके बारेमें कहा गया कि **न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति**— (१४.२२) प्रवृत्ति आजाये तो उससे कुछ द्वेष नहीं है और निवृत्ति आजाये तो उससे कुछ द्वेष नहीं है। वह सिद्ध पुरुषकी बात है। लेकिन जो वेदान्तका जिज्ञासु है उसको क्षान्ति चाहिए। कहीं ऐसे झगड़ेमें न पड़ जाये, जैसे कि बदला लेने लग जाये, कि श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें ही बाधा पड़ जाये, अपना मूल उद्देश्य ही गायब हो जाये।

जब हम झूसीमें (प्रयागमें) रहते थे तो एक महात्मा गंगा किनारे घूमता था। सिर्फ कमरमें लंगोटी और धूल शरीरमें पुती हुई। जाड़ा हो, गर्मी हो, एक रस, गंगा किनारे विचरण करे, बड़ा मस्ताना था। यह बात सन् तैंतीस-चौंतीसकी है। उसके कोई दस बरस बाद मैं हरिद्वारसे पैदल लौट रहा था। मेरठ आया। एक कुँएपर, पानी पीनेके लिए गया तो देखा वही महात्मा चोटी रखे हुए, जनेऊ पहने हुए, तौलिया शरीरपर डाले, कुँएसे पानी खींच रहा था। पानी उसने हमको भी पिलाया। हमने तो पहचान लिया उसको। मैंने कहा—तुम वही हो ना? बोला—कि हाँ वही हैं। पूछा—अब तुम्हारी यह क्या स्थिति है? तब तो तुम बड़े मस्ताने थे? बोले—स्वामी जी! मैं एक

गाँवमें भिक्षा लेनेके लिए गया, तो एक भैंसने हमारी पीठमें ऐसी सींग लगायी कि मैं घायल हो गया। मैंने गाँववालोंसे कहा कि तुम भैंस रखना बन्द कर दो। यह महिषासुरका वंशज है, इसका रंग भी तमोगुणी है, इसका दूध पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बिगड़ जाती है, इसको हटाओ गाँवसे। वहाँ गाँवमें कोई पंडित था, उसने कहा कि भैंसका दूध तो पेय है, पीना चाहिए और श्राद्धमें एक दिन भैंसके दूधसे पिण्डदान करनेका विधान है। अब जब वे शास्त्र ले आये तो हमको तो शास्त्र आता नहीं था, चुप हो गये। बादमें हमने गाँव-गाँवमें व्याख्यान देना शुरू किया, तो लोग लाकर किताब रख दें सामने। तब मैं मेरठ आया और अब ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन कर रहा हूँ कि मैं खूब शास्त्र पढ़कर तब यह सिद्ध करूँगा कि भैंसका दूध नहीं पीना चाहिए और भैंस नहीं रखनी चाहिए।

अब बेचारेका वह ब्रह्मचिन्तन, वह श्रवण, वह मनन, वह निदिध्यासन, सब भैंसके प्रति दुश्मनीसे कट गया। बड़ा अच्छा विरक्त महात्मा था। जब मनुष्य बदला लेनेमें पड़ जाता है, तो सारी मस्ती उड़ जाती है। अरे, किसीने कुछ कह दिया तो कह दिया; किसीने तिरछी आँखसे देख लिया, देख लिया; किसीने अँगूठा दिखा दिया, दिखा दिया; तुम्हें अपना काम करना है। वह तो तुम्हारे काममें बाधा डालना चाहता है और यदि तुम उसके बाधा डालनेसे बाधित हो जाते हो, तो तुम अपने दुश्मनका काम करते हो, अपना काम कहाँ करते हो? तुम तो उसकी चालमें आगये, उसके षड्यन्त्रमें फँस गये, वह तुमको तुम्हारी साधनासे च्युत करना चाहता है और तुम च्युत हो गये।

(५) अब बात सुनाते हैं **आर्जवम्** की। आर्जव माने होता है ऋजुता, सरलता। अगर बचपनमें हम पढ़ते, तो उसमें ऐसे आता—'सरलता एक सद्गुण है। जिसके अन्दर सरलता नामका सद्गुण रहता है वह महापुरुष हो जाता है। मनुष्यको सरल बर्ताव करना चाहिए।'

पण्डितोंकी बात होती तो—'जो सरल जीवन व्यतीत करता है उसको स्वर्ग मिलता है' यह बात आती।

सरलताका आप सीधा अर्थ यह समझो कि जिससे जैसा व्यवहार करना हो, मन भी वैसा हो। जैसे प्रेमका व्यवहार करते हैं, वैसे प्रेमसे मन भी भर जाये। बाहर हम, जो व्यवहार लोगोंसे करते हैं उसका अर्थ दूसरेको

बनाना नहीं है, अपने अन्तःकरणको बनाना है। बाहरके कर्मका फल भीतर मनमें होता है, यह ध्यान करना चाहिए।

धर्मका फल क्या है? धर्मका फल अपने अन्तःकरणका निर्माण है। फल माने अहं होता है संस्कृत भाषामें। जैसे हमने कोई सत्कर्म किया, किसीको दान दिया, तो बड़ा सुख मिला, मैं सुखी हो गया। तो यह जो अपने मनमें तृप्ति है, जो सुख है, जो शान्ति है; वही फल है। थोड़ी-सी किसीकी सेवा की और मनमें हुआ कि वाह! वाह!! आजका जीवन सफल हो गया, हमारा हाथ सफल हो गया; तो धर्मानुष्ठानके बाद अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो प्रतिफलित सुख है, उस सुखको ही धर्मका फल बोलते हैं। आप यह बात ध्यानमें रख लो।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

मनुजीने कहा कि जो कर्म करनेसे अपने मनमें तृप्ति और सन्तोषका अनुभव हो, कड़वाहट न आवे, जलन न आवे, कभी ग्लानि न होवे, किसीके प्रति घृणा न होवे; वही कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए और इससे विपरीत कर्मको छोड़ देना चाहिए। धर्म तो हृदयका निर्माण करनेके लिए है और जो बाहरकी वस्तुका निर्माण करनेके लिए है सो श्रम है। लोहेसे तलवार बनाओगे तो उसका नाम श्रम होगा और किसी भूखेको भोजन कराके जो भीतर सुखका अनुभव करोगे, वह धर्मका फल होगा।

तो, सरलताका अर्थ यह है कि जब आप किसीसे मीठा वचन बोलें, तो आपका हृदय भी मीठा हो जाये। जब आप किसीको मीठा खिलावें, तो आपका हृदय भी मीठा हो जाये, जब आप किसीको नमकीन मसालेदार चटपटा खिलावें तो आपका हृदय भी नमकीन मसालेदार चटपटा अत्यन्त स्वादु हो जाये।

यदि बाहरके बढ़िया कर्मके अनुसार ही भीतरका हृदय नहीं बनता है, तो तुम्हारे कर्ममें सरलता नहीं है, कौटिल्य है। कौटिल्य रूप दोषकी निवृत्तिके लिए सरलता-ऋजुता-आर्जवरूप सद्गुणका निरूपण किया जात. है। सरल व्यक्तिको चिन्ता नहीं करनी पड़ती, दाँव-पेंच सोचना नहीं पड़ता, षड्यन्त्र

करना नहीं पड़ता। सरलतासे अपना काम कर लिया और परमात्माका चिन्तन कर रहा है।

अब **आर्जवम्**का थोड़ा और विवेक करते हैं। आर्जवम्का अर्थ यह है कि जैसे सूर्यकी किरणें वैसे तो सीधी चलती हैं, लेकिन कहीं बादल पड़े तो उसमें टेढ़ी हो जाती हैं, तब लाल, पीला, हरा सारे रंग दिखने लगते हैं; इसको किरणोंका 'वक्रीभवन' बोलते हैं- तो यह जो आत्मतत्त्व है, स्वयं प्रकाश, सर्वाधिष्ठान आत्मतत्त्व, अपना आपा, ज्ञानस्वरूप चैतन्य, यह स्वयं प्रकाश है; यह अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा अपनी रश्मियोंको बाहर फेंकता है। जब यह ऋजु प्रकाश शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रूपी ज्ञानके दाँवपेचोंसे बाहर आता है तो इसका भी वक्रीभवन हो जाता है। बाह्य पदार्थोंमें जो भेद दिखायी पड़ता है, यह स्वाभाविक भेद नहीं है। यह वासना और इन्द्रियोंमें आकरके स्वयं प्रकाश ज्ञान ही टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। पाप-वासना, पुण्य-वासना, शत्रु-वासना, मित्र-वासना अन्तःकरणमें जो पाप-बुद्धि और पुण्य बुद्धि—ये जो नाना प्रकारकी संस्कार-जन्य बुद्धियाँ है उनमें आकर यह आत्म-चैतन्य उन-उन बुद्धियोंके समान 'वक्रता' ग्रहण कर लेता है, कौटिल्यको ग्रहण कर लेता है। ***कुटिलस्य भावः कौटिल्यम्।***

तो भले इस आत्म प्रकाशकी आकृति कुटिल दिखे, लेकिन यह स्वयं कुटिल नहीं है। परमात्माको जाननेके लिए ज्ञानको टेढ़ा करनेकी जरूरत नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही स्वयं प्रकाशमान हो रहा है— भले वह आँखके जरिये देखे कि नाकके जरिये देखे कि जीभ के जरिये देखे कि त्वचाके जरिये देखे। कोई 'जरिया' लगाकर; कई द्वारसे जब देखते हैं तो यह एक ही अनेक मालूम पड़ता है। आप जानते हैं कि कोणके भेदसे आकृतिमें भेद भासता है। जैसे एक आदमी खड़ा हो और नीचेसे उसका फोटो लें तो लम्बा आवेगा और ऊँचाईसे लें तो नन्हा-सा आवेगा; ऐसे हम लोग इस संसारको देखनेमें अन्तःकरणके जिस कोणसे संसारको देखते हैं वैसा ही यह संसार भी टेढ़ा मालूम पड़ता है। यदि अन्तःकरणके कोण-भेदको छोड़ करके—कैमरेमें जो कौटिल्य है उस कौटिल्यका अपवाद करके—देखें तो वास्तवमें जो संसारका रूप है वह अनुभवमें आवेगा। ये जो अपने अन्तःकरणमें दोष, गुण हैं, दोष-गुणका ग्रहण है; तो यदि दोषवाले कोणसे किसीका फोटो

लेते हैं, तो वह खराब आता है और गुणवाले कोणसे किसीका फोटो लेते हैं, तो वह अच्छा आता है। हमको प्रेम होगा तो अच्छा फोटा लेना चाहेंगे और द्वेष होगा तो बिगाड़ देना चाहेंगे। आजकल अखबारोंमें जो चित्र छापते हैं उसमें ऐसा ही होता है। जैसे अपने दुश्मन देशके नेताओंका चित्र छापते हैं तो उसको बिगाड़ देते हैं। कभी हिटलरका चित्र छापते थे तो ऐसा जिसमें वह घूँसा ताने हुए होता। तो वह बेचारा हर समय घूँसा थोड़े ही तानता होगा? लेकिन वह बड़ा गुस्से वाला है, यह दिखानेके लिए घूँसा ताने हुए फोटो उसका, कुटिल फोटो, छापते थे।

देखो आजकल लड़कियोंके पिता अपनी लड़कियोंका ऐसा फोटो निकलवाते हैं कि फोटो देखकर लोग यही समझें कि यह इन्द्र सभासे आयी हुई है। उसका फल कोई बढ़िया होता हो, सो बात नहीं है· एक बार फोटो देखकर आजकल लोग ब्याह ही नहीं करते हैं। अगर फोटो देखकर कोई ब्याह कर भी ले तो घर आनेपर फिर दुर्दशा ही तो होगी ना! तो यन्त्रोंके कौटिल्यमें नहीं आना चाहिए।

इन्द्रियोंमें एक ही वस्तुको आँख बताती है—रूप है; कान बताता है—शब्द है; नाक बताती है—गन्ध है; जिह्वा बताती है—स्वाद है; त्वचा बताती है—स्पर्श है; अन्त:करण बताता है— हमारा प्यारा है; और जिससे संसारमें प्यार है उसको विवेक-बुद्धि बताती है कि वह तो शून्य है, कुछ नहीं है, छोड़ो उसको। इसका अर्थ है कि अन्त:करणको समदशामें लाकर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसलिए सरलताको भगवानने ज्ञान कहा: **एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं।**

महाभारतमें कहा—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदं आर्जवं ब्रह्मणः पदम्—कुटिलता जितनी है वह मृत्युका निवास-स्थान है और सरलता— ऋजुता ब्रह्मका निवास-स्थान है। अगर ब्रह्मको अपने हृदयमें प्रकट करना चाहते हो तो सरलता धारण करो और यदि मौतको, मृत्युको अपने अन्दर बुलाना चाहते हो तो कुटिलता धारण करो।

एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति।

बहुत बकवादमें क्या रखा है? सारे ज्ञानका सार इतना ही है। क्या?

कि—जीवनकी सरलता! सरल बुद्धि, सरल मन, सरल जीवन, सरल आचरण। कौटिल्य नहीं हो—इसीको बोलते हैं आर्जव।

मनुजी लिखते हैं—

यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वशः।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥

जिसकी वाणी और मन दोनों शुद्ध हैं, माने कौटिल्यसे रहित हैं, और जो चारों ओरसे भली प्रकार रक्षित अर्थात् संयमित है, वही वेदान्त प्रतिपादित फलको प्राप्त करता है। महात्माका लक्षण महाभारतमें बताया—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं हिंसावेगं उदरोपस्थवेगम्।
एतानवेगान् सहते यश्च विद्वान् निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यत्॥

जो विद्वान् वाणीके, मनके, क्रोधके, हिंसाके, रसनाके, कामके, वेगोंको सह लेता है, उसके हृदयको निन्दा व्यथा नहीं पहुँचा पाती। वेग जिसके बाँधको तोड़ न सके, जैसे समुद्रमें जो ज्वार आता है और लहरें उछल-उछलकर किनारेपर लगती हैं, तो किनारा कैसा चाहिए कि जिसको समुद्रकी लहरें तोड़ न सकें, नहीं तो बम्बई ही बह जाये। इसी प्रकार जब कोई भी वाणी आदिका वेग विद्वान्‌को विचलित नहीं करता तभी सुरक्षित रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर पाता है। अब यह नहीं कि मनमें जो आया बोल दिया, मनमें जो आया सो खा लिया, जीभपर कोई नियन्त्रण ही नहीं है! महात्मा किसको कहते हैं? कोई दुनियामें चाहे कितनी भी निन्दा करे, परन्तु दिलपर चोट न लगे। सफाई देना तो दुनियामें अच्छा बननेकी कोशिश करना है। अरे दुनियामें अच्छा बनकर क्या करेगा? वह तो ब्रह्म है। देखो 'जीवन्मुक्ति विवेक'में क्या बढ़िया आया है!

शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जनाः मम।

यदि वे शरीरकी निन्दा करते हैं, तो हमारे मददगार हैं, क्योंकि शरीरकी निन्दा हम भी करते हैं, इसमें हड्डी है, मांस है, चाम है, पीव है, विष्ठा है, मूत्र है—

कायमाधेय शौचत्वात् पंडिता यदि किं विदुः।

शरीरको रोज शुद्ध करना पड़ता है, इसलिए यह स्वभावसे अशुद्ध है। 'आधेय शौचत्वात्'-साबुन लगानेसे साफ होता है, धोनेसे साफ होता है,

क्षौर करनेसे साफ होता है, नाखून काटनेसे साफ होता है, इसमें शौचका, पवित्रताका आधान करना पड़ता है। यह स्वभावसे रोज-रोज गन्दा होता है। तो हम भी इसकी निन्दा करते हैं। अगर किसीने शरीरकी निन्दा की; हम क्या नहीं कहते हैं कि मन वासनाओंका पुँज है, हम क्या नहीं कहते कि जीवनमें लोगोंसे गलतियाँ होती हैं, हम क्या नहीं कहते कि बुद्धिमें भ्रम रहता है। हम कब कहते हैं कि हमसे कभी भूल ही नहीं होती है? यह दावा हमारा कहाँ है? तो अगर किसीने कोई गल्ती बता दी, तो वही तो कहा ना जो मैं रोज बोलता हूँ। और *आत्मानं यदि निन्दन्ति*—यदि कहो कि वह तो तुम्हारे आत्माकी निन्दा करते हैं, तो हमारी और उनकी आत्मा तो एक ही है। वे हमारी निन्दा करते हैं, तो अपनी करते हैं, और अपनी निन्दा करते हैं तो हमारी करते हैं।

तो जो जिज्ञासु जीवन ऋजुतासे व्यतीत करता है, उसके जीवनमें वेदान्त ज्ञान प्रकट होता है।

(६) अब जरा आचार्योपासनकी बात सुनाते हैं। पहले तो यहाँ आचार्य शब्दका अर्थ स्कूलोंमें पढ़ानेवाला शिक्षक नहीं है। मनुजीने आचार्य शब्दकी व्याख्या की है कि—

आचिनोतीति शास्त्रार्थं आचारे स्थापयति च।

जो शास्त्रार्थका चयन करे और आचारमें स्थापित करे, माने जो लोगोंके जीवनमें आचार और ज्ञानकी प्रतिष्ठा करे उसको आचार्य बोलते हैं।

एक आचार्य होता है धर्मका; हमारे घरके एटीकेट, इतिकृत्यको सिखानेके लिए घरका कोई आदमी चाहिए, वह 'आया' नहीं सिखा सकती। आया ईसाई होगी तो वह ईसाई आचार सिखा सकेगी और वह निम्न जातिकी होगी तो वह निम्न आचार सिखा सकेगी। इतिकृत्य—ऐटीकेटकी शिक्षा देनेके लिए भी आचार्यकी आवश्यकता होती है। ऐसे बैठना, ऐसे उठना, ऐसे खाना। अच्छा, शास्त्र सिखानेके लिए भी आचार्य चाहिए और जो तान्त्रिक शिक्षाएँ हैं उनको देनेके लिए भी आचार्य चाहिए जैसे कि माला कैसे फेरना, माला फेरनमें तर्जनी मत लगाना इत्यादि।

उपासनाकी शिक्षा देनेके लिए भी आचार्य चाहिए। जैसे कि ईश्वरका नाम लेना है तो उसमें तर्जनी नहीं लगाना, माला पाँवसे न छू जाये, कपड़ेसे

ढककर, सीधे बैठकर, मन्त्रका सम्पूर्ण अर्थ जो हमारे इष्टदेव हैं, उनका यह मन्त्र है ऐसा जानकर जप करना। 'कृष्ण' शब्दका अर्थ क्या है? तो बोले—*'कृष्' भू वाचको*—ऐसा नहीं, तब क्या? कि मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, यशोदा तनय—वह कृष्ण शब्दका अर्थ है। तो माला फेरते समय, हृदयके सामने हो माला और सावधान बैठे हों, आलस्य, निद्रा, प्रमाद न आवे और मन्त्रार्थ जो श्रीकृष्ण हैं उनकी आकृति आवे मनमें—ऐसी उपासनाकी शिक्षाका भी आचार्य होता है।

योगाभ्यास कैसे करना, उसका आचार्य भी अलग होता है—आसन कैसे बाँधकर बैठना, शरीर हिलने न पावे, श्वासको कैसे सम करना, सुषुम्ना चलने लगे—इसके लिए क्या युक्ति है, नेत्र चञ्चल न हों, इसकी क्या युक्ति है—यह सब जो सिखावे सो योगका आचार्य।

जहाँ वेदान्तके जिज्ञासुका प्रसंग आता है वहाँ ये लोग आचार्य नहीं होते हैं। वहाँ आचार्य कौन होता है?

आचार्यवान् पुरुषो वेद। (छां० ६.१४.२)

उपनिषद्में बताया आचार्यवान् पुरुषको आत्माका ज्ञान होता है।

आचार्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति। (छां० ४.६.३)

आचार्यसे जानी हुई विद्या अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कराती है। तो वेदान्तमें **आचार्य** शब्दका अर्थ है—ब्रह्मविद्याका उपदेष्टा। यहाँ आचार्य शब्दका अर्थ कर्मोपदेष्टा नहीं, अर्थोपदेष्टा नहीं, लेक्चरर नहीं। लेक्चरार तो लेखचर होते हैं, माने नोट्स लेकर पढ़ाते हैं। यहाँ प्रोफेसरसे भी अभिप्राय नहीं है, यह आचार्य हैं। आचार्य माने जो बुद्धिमें ब्रह्मज्ञानका संचार कर दे।

बोले—क्या केवल उपदेष्टाका अर्थ ही आचार्य है? आपको एक बात सुनाते हैं—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

(मुण्डक० १.२.१२)

ब्रह्मविद्या राह चलते-चलते सीख लेनेकी चीज नहीं है। 'नेति-नेति' के द्वारा सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्म दृश्यका निषेध कर देनेके बाद इस वस्तुका साक्षात्कार होता है। अतः स्थूल और सूक्ष्मके निषेधके लिए जैसा प्रबल आचार्य चाहिए, वैसा आचार्य यहाँ 'आचार्य' शब्दसे अभिप्रेत है।

आचार्योपासनम्— ऐसे आचार्यकी उपासना क्या है ? बात तो असलमें वही बतानी है। ये सेठ लोग कहते हैं—महाराज! आपकी सेवा करना चाहते हैं। हम आपका पाँव दबा दें और आप हमको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करें। उनका अभिप्राय यह होता है कि तिजोरीमें-से कलदार न निकालना पड़े। जैसे हम अपने ग्राहकोंको हल्के किस्मका माल देकर उनसे पैसा ले लेते हैं, वैसे अपने हल्के किस्मके मालसे ही ब्रह्मज्ञान भी ले लें।

एक ब्राह्मण आये, बोले—महाराज, ऐसी कृपा करो कि हमको लाख रूपया मिल जाये, हम आपका पाँव छूकर प्रतिज्ञा करके बोलते हैं कि वह लाख रुपया हम नहीं लेंगे, आपको दे देंगे और आप हमको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करो। अब भला बताओ, अरे भाई तू पाँव क्यों नहीं दबाता? लाख रुपयेसे क्यों सेवा करना चाहता है ?

तो असलमें न तो पाँव दबाना सेवा है और न रुपया देना सेवा है। 'उपासन' शब्दका अर्थ होता है—

'उप' माने पास और 'आसन' माने बैठना। अत: 'उपासना' माने 'पास बैठना।' तो लो गुरुजीके पास आसन बिछाकर बैठ गये; बोले-हम चौबीसों घण्टे बैठे रहेंगे और गुरुजीको देखते रहेंगे। परन्तु यह आचार्योपासन नहीं है। क्योंकि यह तो गुरुजीको संकोचमें डालना हुआ। यह गुरुजीकी सेवा नहीं, उनकी जेल हो गयी।

आचार्योपासनं का अर्थ यह है कि आप अपनी बुद्धिसे यह सोचो कि आपका जो गुरु है उसकी चौकी कहाँ है ? उसकी स्थिति कहाँ है ? उसकी निष्ठा कहाँ है ? बोले-हमारे गुरुजी तो अपनेको कभी ब्राह्मण या संन्यासी या पापी-पुण्यात्मा या सुखी-दु:खी या संसारी-परिच्छिन्न जीव कभी नहीं मानते हैं। हमारे गुरुजी तो हमेशा अपनेको ब्रह्म ही जानते-मानते हैं और ब्रह्ममें ही बैठते हैं। ब्रह्मनिष्ठा-ब्राह्मी स्थितिमें ही स्थित हैं। तो ठीक है, अब आचार्योपासनका अर्थ हुआ कि आप बैठ जाइये, चाहे आसन बाँधकर बैठें चाहे बिना आसनके बैठें; आँखें चाहे बन्द हों चाहे खुली हों; और यह सोचें कि हमारे गुरुजीमें न देश है न काल है, न जाति है न सम्प्रदाय है, न वे ब्राह्मण हैं न संन्यासी हैं। वे न पापी हैं न पुण्यात्मा हैं, उनमें न सुख है न दु:ख है, वे गोलोक-बैकुण्ठवासी नहीं हैं; गुरुजी तो साक्षात् ब्रह्म हैं, और वे

अपनेको ब्रह्म जानते हैं। जब तुम उनकी निष्ठाको अपने ध्यानमें ले आओगे तब उनके पास बैठोगे। इससे तुम्हारा देहाभिमान कटेगा।

क्या तुम गुरुको शरीर ही समझोगे? वृन्दावनमें श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका शरीर पूरा हुआ, तो एक उनके बड़े ही प्रेमी भक्त थे, पलटू बाबा उनको कहते थे। ये महात्मा लोग एक दृष्टिसे बड़े दुःखद होते हैं। जो लोग अपने जीवनमें बहुत से शरीरके प्रेमी बना लेते हैं, उनका शरीर जब छूटता है तो लोग कीड़ेकी तरह बिलबिलाते हैं। किसीको अपना प्रेमी नहीं बनाना चाहिए, ईश्वरके प्रेमी बनें, ब्रह्मके प्रेमी बनें, अपने स्वरूपके प्रेमी बनें। तो अब पलटू बाबा रोवें, छटपटावें चिल्लायें; महीना दो महीना-तीन महीना हो गया। एक दिन उनको सपना आया। स्वप्नमें श्री उड़ियाबाबाजी महाराज प्रकट हुए। बोले—अरे ओ पलटू! पन्द्रह बरस तू मेरे पास बिल्कुल आमने-सामने बैठा, और मैंने तुझे बताया कि मैं ब्रह्म हूँ शरीर नहीं, और तू भी ब्रह्म है शरीर नहीं। और तू मुझे मरा हुआ मानता है? मेरे उपदेशका मेरे ज्ञानका फल क्या यही हुआ? उस दिनसे बस, पलटू बाबा सावधान हो गये।

आचार्योपासनंका अर्थ यह है कि तुम संसारमें मत बैठो, जहाँ आचार्य बैठता हैं, वहीं बैठो। देहको उतनी कीमत मत दो, क्रियाको उतनी कीमत मत दो-अगर जिज्ञासु हो तो! और अगर संसारी हो भाई, तो तुम्हारा धन बड़ा कीमती है, तुम्हारा घर कीमती है, तुम्हारा परिवार कीमती है तुम्हारा शरीर कीमती है। यदि परमार्थके मार्गमें चलना चाहते हो तो धनको, परिवारको, घरको, शरीरको, कर्मको और वासनाको, कर्तापनको, भोक्तापनको, संसारीपनको, परिच्छिन्नपनेको, इनको महत्त्व मत दो। तुम्हारे गुरुने जो अनुभव प्राप्त किया है कि आत्मा साक्षात् ब्रह्म है, उसके पास बैठो उससे मिलके बैठो, उसकी गोदमें बैठो। उससे एक होकर बैठो, उसकी छातीसे लगकर बैठो। यदि तुम अपने गुरुको संसारमें बैठाते हो तो तुम संसारसे पार कैसे जाओगे? गुरुमें यदि मनुष्य-बुद्धि है तो वह ऐसी ही है कि कोई मूर्तिकी पूजा तो करे, और उसको पत्थर समझे, साक्षात् भगवान् न समझे! ऐसे व्यक्तिको भला क्या मिलेगा? अरे वह पत्थर नहीं, भगवान् है; तब उसको भगवान् मिलेगा। मूर्ति कल्याण नहीं करती, मूर्तिमें जो भगवद्भाव है, वह कल्याण करता है। अरे महात्माको शरीर मत समझो, गुरुको शरीर मत

समझो; गुरुको साक्षात् ब्रह्म रूपमें देखो। उसका स्पर्श भी अमृत है, उसका दर्शन भी अमृत है। आज ब्रह्म ही मूर्तिमान होकरके गुरु रूपमें आया है।

आचार्य वह नहीं है जो तुम देख रहे हो। हमको एक महात्माने बचपनमें ही बताया था कि 'बेटा मैं वह नहीं हूँ, जो तुम मुझको देखते हो।' पूछा—तब महाराज आप कौन हैं? बोले—'जो अपने बारेमें मैं तुमको बताता हूँ, सो मैं हूँ। तुम मुझे शरीर देखते हो, तुम जो देखते हो, सो मैं नहीं हूँ। मैं अपनेको ब्रह्म जानता हूँ, मैं अपनेको ब्रह्म बताता हूँ, वह मैं हूँ। मेरे पास आओ, तुम्हारा देहाभिमान अभी छूट जाये।' देखो ना, निष्ठाकी बात यह हुई। यह ब्रह्मज्ञानका साधन हुआ कि नहीं? बैठो तो गुरुके पास बैठो, जहाँ उसकी स्थिति है वहाँ बैठो। अगर आप अपने गुरुकी स्थितिके पास नहीं बैठ सकोगे तो उपासना कहाँसे होगी? तुम तो उसका पाँव पकड़े बैठे हो और वह ब्रह्ममें बैठा है।

जरा सोचो तो, तुम्हारे गुरुजी किस ब्रह्ममें बैठते हैं जिससे उन्हें न तो पापका पश्चात्ताप होता है और न पुण्यकी वासना होती है : ***नैनं कृताकृते तपतः।*** उनका वह ज्ञान कौन-सा है कि जिसको प्राप्त करके आगे-पीछेके पापोंका विनाश हो जाता है और वर्तमानका कोई कर्म और उसका फल उनमें सुख-दुःखका बन्धन (अभिमान) उत्पन्न नहीं करता?

तदधिगमे उत्तर पूर्वाघयोऽश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।

इसलिए 'आचार्योपासनम्'का अर्थ है :

आचार्यस्य उपसमीपे ब्रह्मणि स्थितो आसनं आचार्योपासनम्।

आचार्यके अनुभवके अनुभवकी तुम कल्पना करके बैठो—यही है आचार्योपासन अथवा गुरुदीक्षा।

जो लोग नये ढंगसे पढ़ते हैं, उनके लिए यह बात थोड़ी टेढ़ी है। क्योंकि वे तो समझते हैं कि पोथीमें-से विद्या निकलती है, हमने किताब पढ़ ली तो हमारा काम पूरा हो गया। लेकिन विद्या पुस्तकमें-से नहीं निकलती है। यदि कोई संसारकी एक-एक वस्तुकी परीक्षा करके, समीक्षा करके उसके बारेमें ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो यह अशक्य है।

आपलोगोंने यह जैन सिद्धान्त सुना होगा कि एक वस्तुका ज्ञान तब ठीक-ठीक हो सकता है जब उससे अन्य जितने पदार्थ हैं, उन सबका ज्ञान

ठीक-ठीक होवे। जैसे एक गायकी पहचान आपको बनानी हो कि गाय उस जानवरको कहते हैं जिसके गलेमें ललरी लटकती हो, गलकम्बल लटकता हो, जो सासनावती हो; तो एक जैन तर्क देता है कि क्या तुमको मालूम है कि दुनियामें ऐसा और कोई जानवर नहीं है, जिसके गलेमें ललरी नहीं है? बोले—भाई, दुनिया भरके सब जानवरोंकी तो हमने परीक्षा नहीं की। तो बोले—तब तुमने गायका जो लक्षण बनाया कि **सासनावत्वं गोत्वम्**—गलेमें ललरी होना, यह गायका लक्षण है, वह अनेकान्त है क्योंकि संभव है इतनी बड़ी सृष्टिमें ललरी वाला कोई और भी जानवर हो! इसलिए केवल सप्तभंगी नयसे ही लक्षण बन सकता है—***स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति नास्ति च***—यह तर्क-वितर्क आप लोगोंने कभी न कभी जरूर सुना ही होगा। ऐसी स्थितिमें किसी वस्तुके ज्ञानके लिए यदि हम सोचते हैं कि हम खुद खोजकर पता लगा लेंगे कि दुनियाभरके सब पदार्थोंसे क्या विलक्षणता इस वस्तुमें है, तो यह असंभव है। क्या आप समझते हैं कि आपके मोटरके रंगकी दूसरी मोटर ही नहीं है? बोले—नहीं भाई, हमारी मोटरका नम्बर है, उससे पहचान लेंगे। तो यही जो नम्बर लगाना पड़ता है ना, उसीसे आचार्यकी आवश्यकता सिद्ध हो गयी।

अच्छा आपको 'आचार्योपासनम्'की एक बात सुनाते हैं। आपका अपना नाम कायदेसे रखा हुआ है कि बेकायदे, माने नामकरण संस्कार घरमें हुआ है कि नहीं हुआ है? तो देखो जब आप पैदा हुए थे तो मनुष्यके रूपमें पैदा हुए थे। आपमें संस्कारके द्वारा एक विशेष संकेत नामका आधान किया गया, तो वह संस्कार ही तो है ना चाहे आपका नाम कुछ भी हो—यज्ञदत्त, पुष्यमित्र, पिन्टु, बबलू आदि। मनुस्मृतिमें बड़ा भारी निषेध किया हुआ है कि बच्चेका ऐसा-वैसा नाम नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा नाम लेनेसे उसके संस्कार बिगड़ते हैं। तुम तो अपना प्यार जनाते हो और उसके संस्कार बिगड़ते हैं। नाम ऐसा होना चाहिए जिससे अपना पितृ-पितामह-गोत्र सबकी सूची हो जाये, सूचना हो जाये। वेदान्तके प्रसंगमें यह बात हम जानबूझकर आपको सुना रहे हैं।

तो जब जन्म हुआ, तब आपका नाम नहीं था, पर आपकी बुद्धिमें नामका ऐसा संस्कार डाल दिया गया कि अब आप उस नामकी प्रसिद्धि

चाहते हैं, प्रतिष्ठा चाहते हैं, उस नामको लेकर कोई गाली दे तो अपमान मानते हैं! आरोपित नामको आपने अपने मैंके साथ जोड़ लिया। जब आपका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, तो एक वेश मिला, चोटी रखी और उसके साथ संध्यावंदन जुड़ गया। देखो यह शास्त्रीय रीति। अब आप अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मानकरके व्यवहार करते हैं—यह संस्कार ही तो हुआ ना। जो मनमें आया सो खालें, जो मनमें आया सो पी लें, उसको थोड़ा कायदेमें लानेके लिए संस्कार करनेकी जरूरत पड़ती है। किसने किया भाई? आचार्यकी आवश्यकता हुई ना? नामकरण भी आचार्यके द्वारा होता है। चूड़ाकरण भी आचार्यके द्वारा होता है। व्रतबन्ध भी आचार्यके द्वारा होता है। जब कोई गलती हो जाती है तो उसका प्रायश्चित भी आचार्यके द्वारा होता है। जीवनमें गुणाधान और दोषापनयन-रूप जितने भी संस्कार हैं—अच्छे-अच्छे गुणोंको जीवनमें धारण करना और जो दोष दुर्गुण हैं, उनको निकालना—उनको कोई शिक्षा देनेवाला होना चाहिए। मनुष्यको ऐसे ही जंगलमें छोड़ दिया जाये तो उसको रोटी बनाना नहीं आवेगा, हाथसे खाना नहीं आवेगा, वह मुँहसे ही पानी पीयेगा, मुँहसे ही खायेगा। संस्कारकी इतनी आवश्यकता है।

तो ग्रहण मूलक संस्कार हैं—व्रतबन्ध, विवाह आदि। कुछ वेश धारण करते हैं, कुछ नियम धारण करते हैं, कुछ अपने जीवनको मनुष्योचित बनाते हैं। तो कर्मको कायदेमें लाना यज्ञोपवीत संस्कार है और काम-भोगको कायदेमें लाना विवाह संस्कार है। अब त्यागमूलक संस्कार है संन्यास। इसमें रखाई हुई चोटी काट दी, पहना हुआ जनेऊ निकाल दिया, जो पहलेका वेश था उसको छोड़ दिया, यह त्यागमूलक संस्कार है। जो-जो कायदेसे ग्रहण किया था उसको भी छोड़ दिया। इसमें दोषापनयन है। जिसमें दोष दूर होते हैं, वह संस्कार संन्याससे प्रारम्भ होता है; और जिसमें गुण भरे जाते हैं वह संस्कार गर्भाधान-जातकर्मसे लेकर पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, यज्ञोपवीत विवाह तकके संस्कार होते हैं।

हिन्दू संस्कारोंके बारेमें आपकी कितनी जानकारी है, यह तो भगवान् जाने लेकिन बिना मुस्लिम संस्कारके कोई मुसलमान नहीं होता, बिना वपतिस्मा-संस्कारके कोई ईसाई नहीं होता। उनके यहाँ भी संस्कार होता है।

अब आपको यह बात सुनाते हैं कि आपके ज्ञानकी अपूर्णताको दूर

करनेके लिए क्या किया जाता है ? प्रश्न यह है कि क्या आप क्षेत्रज्ञको जानते हैं ? यह देह, इन्द्रिय और मनसे युक्त जो शरीर है वह संघात है। इसमें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें एक चेतना बहती रहती है; और इसमें एक धृति है जो सबको धारण करती रहती है। अब यह जो संघात हैं, इसके जाननेवालेको, क्षेत्रज्ञको क्या आप जानते हैं ? माने अपने बारेमें क्या आपको ज्ञान है ? तो जब आप अपनेको मनुष्य, बालक, रामू, श्यामू जानते हैं तब स्कूलमें जाकर पढ़ते हैं; अपनेको ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य जानते हैं तो संध्या-वंदन करते हैं; अपनेको पति-पत्नी जानते हैं तो भोग करते हैं, और अपनेको संन्यासी जानते हैं तो त्याग करते हैं। अहमर्थके आधारपर जीवनकी व्यवस्था है। हमारी जीवन प्रणाली इदमर्थके आधारपर नहीं है, अहमर्थके आधारपर है। हम यह कहते हैं कि पहले डाक्टरका सर्टिफिकेट ले लो, तब डाक्टरी शुरू करो, सर्टिफिकेट लेनेके पहले डाक्टरी शुरू मत करो। पहले सिपाहीमें भर्ती हो जाओ तब चौराहेपर खड़ा होकर मोटरका नियन्त्रण करो; यह नहीं कि जिसकी मौज हुई सो ही चौराहेपर खड़ा हो गया। अधिकारी पहले, उसके कर्तव्यकी व्यवस्था बादमें। जो जिस योग्य होता है, जिस संस्कारसे सम्पन्न होता है, उसका कर्त्तव्य भी उसी प्रकारका होता है। तो क्षेत्रज्ञका ज्ञान आपको है कि नहीं ? और नहीं है तो आपके ज्ञानमें कमी है, त्रुटि है। आप वित्थको जानते हैं, आप डवित्थको जानते हैं, आप शण्डको जानते हैं, आप अकर्मको जानते हैं, परन्तु आप अपनेको जानते हैं कि नहीं ? तो सब ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तो आपने आचार्यकी सहायता ली है लेकिन अपने आत्माका ज्ञान ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आचार्यकी सहायता क्यों नहीं लेते?

आपकी बुद्धि, आपका ज्ञान, आपका विचार हीनांग है, उसमें एक प्रकारकी कमी है। तीन प्रकारके संस्कार होते हैं। गुणाधान, दोषापनयन और हीनांगपूर्ति। मैल लगी हो तो उसे साबुनसे छुड़ा दो, इसका नाम हुआ दोषापनयन। जहाँ कोई दाग-वाग हो वहाँ उसे पाउडरसे या रंगसे ऐसा कर दो कि वह छिप जाय-इसका नाम गुणाधान हुआ। और कोई अंग कम हो, छोटा हो तो ? आजकल तो आप जानते ही हो ब्यूटी हाऊसमें सब ठीक कर दिया जाता है। यह हीनांगपूर्ति है।

ऋग्वेदमें वर्णन आया है कि एक स्त्री युद्ध कर रही थी, उसकी जाँघ

ही कट गयी। तब उसने अश्विनीकुमारका आह्वान किया और उन्होंने लौहकी जांघ बनाकर रातोंरात उसको जोड़ दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह फिर युद्धभूमिमें थी। और लोहेकी जांघ पहनकरके उसने युद्धमें विजय प्राप्त की। शल्यचिकित्साका ऐसा बढ़िया-बढ़िया वर्णन है ऋग्वेदमें।

तो यह क्या हुआ? कि यह हीनांगपूर्ति है। किसीकी नाक चपटी होती है तो उसको उठा देते हैं; यह हीनांगपूर्ति हो गयी। इसीप्रकार तुम्हारे ज्ञानमें एक हीनता है। वह हीनता क्या है? कि अपने आपको ठीक-ठीक नहीं जानना। जो अपनेको ठीक-ठीक नहीं जानेगा, वह अपने कर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानेगा, अपने त्यक्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानेगा, अपने प्राप्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानेगा जिसको अपने घरका ही पता नहीं है वह दूसरेके घरको क्या जानेगा? तो अपनेको जाननेके लिए जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे आचार्यसे दूसरे ढंगसे प्राप्त किया जाता है।

आचार्यसे ज्ञानप्राप्तिका ढंग क्या है? कल हमको किसीने लिखकर दिया था। श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज गीताके अठ्ठारहवें अध्यायमें, पन्द्रहवें अध्यायमें 'आचार्योपासनं' पर क्या बढ़िया गुरुकी महिमा लिखते हैं। निवृत्तिनाथजी महाराजके प्रति उन्होंने यह भाव प्रकट किया है—

'हमारे गुरुदेव जिस धरतीपर चलें उसकी मैं माटी बन जाऊँ। वे जो जल पियें, वह जल मैं बन जाऊँ, वह गिलास मैं बन जाऊँ, वह पिलानेवाला मैं बन जाऊँ।' इस प्रकार बड़ी श्रद्धा भक्ति प्रकट की है। इस श्रद्धा-भक्तिमें दो बात हैं—

एक तो अपना अहं जहाँ कठोर हो गया है, बिना समझे बूझे झूठी बातोंका अहंकार जोड़कर वह कठोरता समाप्त होनी चाहिए। पैसा है बैंकमें, तिजोरीमें, और उसके अहंकारसे मरा जा रहा है। बोझ कहाँ है कि कलेजेमें। हे भगवान्! यह क्या सच्ची जीवन प्रणाली है कि चीज कहीं रखी हो और उसके भारसे कोई मर रहा हो? अपने स्वरूपके ज्ञानके बिना जो जीवन प्रणाली होती है, वह बिल्कुल गलत होती है। यह क्या सच्ची जीवन प्रणाली है कि तुम्हारी प्रेयसी पेरिसमें रह रही है और तुम यहाँ उसके लिए हाय-हाय करके जीवन व्यतीत कर रहे हो? यह क्या मानवोचित सच्ची जीवन प्रणाली है? कभी किये हुए पापकी याद कर रहे हो, तो कभी

किये हुए पुण्यकी याद कर रहे हो, तो कभी अनहुए भोगोंकी याद कर रहे हो—यह क्या कोई सच्ची जीवन प्रणाली है? तो यह जो जीवन प्रणालीके कारण मनुष्यमें हीनता है उस हीनताको निकालनेके लिए आचार्यकी आवश्यकता पड़ती है—

आचार्याद्धयैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति। (छां. ४.९.३)

आचार्यवान् पुरुषो वेद। (छां. ६.१४.२)

न नरेण ह्यवरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो ह्यणुरेष धर्मः। (कठोपनिषद्)

बात बड़ी सूक्ष्म है, मामूली आदमीके मुँहसे कही जानेपर यह भीतर घुसती नहीं है, तुम्हारे जीवन प्रणालीमें जो हीनता है, उसको दूर करना पड़ेगा, उसको निकालना पड़ेगा। इसलिए 'आचार्योपासनम्'।

श्रीमद्भागवतमें बताया कि *असंकल्पात् जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्। अर्थानर्थेक्षयात् लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥ एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।*

तुम्हारे मनमें काम हो, तो संकल्प त्याग करो। संकल्प माने सम्यक्त्वकी कल्पना, अच्छाईकी कल्पना कि यह औरत अच्छी है कि यह मर्द अच्छा है। ऐसे जो संकल्प हैं—अच्छाईकी कल्पना जो होती है, उसे काटो। और यदि यह जो जिद तुम्हारे मनमें है कि यह काम ऐसा ही होवे, इसको छोड़ दो, तो क्रोध नहीं आवेगा। यह जो तुम्हारा ख्याल है कि छः बजे शामको हमारे पतिदेव घरमें आने ही चाहिए वर्ना सारी रातको हम आग लगा देंगे; या यह जो तुम्हारा ख्याल है कि हमारी श्रीमतीजीको ऐसी साड़ी पहननी ही चाहिए और न पहनें तो घरमें आग लगा देंगे, दिलमें आग लगा देंगे; *क्रोधं कामविवर्जनात्।* जब तुम अपनी बात रखनेकी जिद नहीं करोगे, अपनी कामनापर अड़ोगे नहीं, तब क्रोध नहीं आयेगा। *क्रोधं कामविवर्जनात्।*

अर्थानर्थेक्षयात् लोभं—क्या अर्थ है क्या अनर्थ है—इसका विचार करनेसे लोभ अर्थात् इकट्ठा करनेकी वासना छूट जाती है। इकट्ठा करनेकी वासनामें सबसे बड़ी बदक़िस्मती यह है कि वह आदमी अपने बच्चोंको अयोग्य समझता है। वह समझता है कि हमारे लड़के तो आगे कुछ कर नहीं सकेंगे, हम उनके लिए कर जायें। तो अपनी जिन्दगीको तो वह खाली कर देता है रिक्त कर देता है, स्वयं खाये नहीं, पहने नहीं, तरीकेसे रहे नहीं और

अगली पीढ़ीके लिए इकट्ठा करनेमें अपने जीवनको नष्ट कर देता है। सबसे बड़ी बदकिस्मती इसमें यही है—ईश्वरपर विश्वास नहीं, प्रारब्धपर विश्वास नहीं, अपने लड़केके पुरुषार्थपर विश्वास नहीं, समाजपर विश्वास नहीं, परिस्थिति पर विश्वास नहीं, अपने अहंकारके चक्करमें पड़कर मनुष्य मर रहा है।

भयं तत्त्वावमर्शनात्। अगर किसीसे डर लगे तो तत्त्वका, असलियतका विमर्श करना चाहिए। ये धमकानेवाले जो होते हैं, ये सब प्राय: गीदड़-भभकी बन्दर-घुड़की देनेवाले होते हैं, उनमें कोई सार नहीं होता। अगर उनके सामने खड़े हो जाओ तो भाग जायेंगे। प्राय: धमकानेवाले लोग लोगोंकी बुजदिलीसे, कमजोरीसे फायदा उठानेवाले होते हैं। जब वे समझेंगे कि हमारा फायदा नहीं होगा, तो वे खुद ही भाग जायेंगे। हमने यह सब बहुत देखा है। तो डरो मत, असलियतकी जाँच करो, तो भय मिट जायेगा।

अब कहते हैं कि एक-एक दोषकी दवा आपको कहाँ तक बतावें? एक रामबाण दवा आपको बताते हैं।

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

यदि मनुष्यके मनमें अपने आचार्यके प्रति भक्ति होवे तो कामकी दवा भी वही है, क्रोधकी दवा भी वही है, भयकी दवा भी वही है—'आचार्योपासनम्'। हमलोगोंके गाँवमें पहले वैद्य-डाक्टरका मिलना तो बड़ा मुश्किल होता था—वैद्य भी दो मीलसे बुलाना पड़ता और डाक्टर तो नौ दस मीलपर रहते थे, कोई इंजैक्शन लगाना बड़ा मुश्किल। गाँवका नाई फोड़ा काट देता था, डाक्टरके पास कौन जाये? हमारे अपने फोड़े हुए तो हमने नाईसे कटवाये हैं। यहाँ तो सेप्टिक हो जाता है, गाँवमें कुछ नहीं हुआ, दो तीन फोड़े चिरवाये थे। हमारे बाबाका तो बहुत बड़ा फोड़ा काटकर ठीक कर दिया। इसलिए बादमें घरमें लोग अमृतधारा रखने लगे। हैजा हो तो अमृतधारा, अपच हो तो अमृत धारा, बुखार हो तो अमृतधारा, जुकाम हो तो अमृतधारा, रामबाण औषधि। एक सौ आठ रोगोंपर चलती थी। अरे अब वह तो सब पिछड़ गयी बात। तो यह जो आचार्योपासन है यह अमृतधारा है। तुम्हारे घरमें तकलीफ हो, परिवारमें तकलीफ हो, धनकी तकलीफ हो, कामकी तकलीफ हो, क्रोधकी तकलीफ हो, लोभकी तकलीफ हो, अमृतधाराकी एक खुराक लो—'आचार्योपासनम्'।

(७) **शौचं**—शुच् धातु एक तो पवित्रताके अर्थमें है, जिससे 'शुचि' शब्द बनता है; एक 'दीप्ति'के अर्थ में है; प्रकाशमान। एक शुच् धातु शोकके अर्थमें है—शोचति। एक शुच धातु शृङ्गारके अर्थमें है। एक शुच् धातु क्लेदनके अर्थमें है—पसीना होना। शुचिः आषाढ़ः-आषाढ़ महीनाको भी 'शुचि' ही बोलते है। क्यों? स्वेदन-पसीना होनेका हेतु होनेके कारण, क्लेदनका हेतु होनेके कारण; शरीरमें-से पसीना निकलता है।

तो शौचं अर्थात् पवित्रताकी कई पद्धतियाँ है:—मिट्टीसे पवित्रता, पानीसे पवित्रता, आगमें सेंकके पवित्रता इत्यादि कई चीज होती हैं जो मिट्टी लगानेसे ही पवित्र होती है, कोई पानीसे धोनेपर शुद्ध होती है। परन्तु जैसे भुलवेमें (सकोरामें) पानी पीते हैं ना, तो न तो वह मिट्टी लगानेसे साफ होवे क्योंकि मिट्टी तो खुद ही है और न पानीसे धोनेपर शुद्ध होवे क्योंकि पानी तो उसके रोम-रोममें बिंध गया। फिर उसकी शुद्धि कैसे होगी? बोले—अगर उसको फिरसे आगमें पका दिया जाये, जैसे कुम्हारने पकाया था, जबतक कि उसमें जो पानी समाया हुआ है, वह सबका सब जल न जाये, तो वह शुद्ध हो गया ***ऊर्णा वातेन शुद्ध्यति***—यह रेशमी और ऊनी कपड़े कैसे शुद्ध होते हैं? कि हवामें झटक दिया और शुद्ध हो गये।

किसी वस्तुकी शुद्धि कालसे होती है, जैसे सूतक-पातक लगता है ना, दस दिन बीत गया तो शुद्ध! पानी धरतीमें बरसा, नौ दिन बीत गया तो शुद्ध! गाय ब्याई, दस दिन हो गया उसको ब्याए तो शुद्ध। कोई देशसे शुद्धि होती है जैसे हरिद्वारमें पहुँचे और पवित्र। भस्मसे शुद्धि होती है, मन्त्रसे शुद्धि होती है। तो पृथ्वीसे, जलसे, अग्निसे, वायुसे शुद्धि होती है। यह भूतके विकार अपने मूलभूतके द्वारा शुद्ध होते हैं। शब्दसे शुद्धि, स्पर्शसे शुद्धि—कई प्रकार हैं। कहते हैं कि अगर गन्दी चीजपर नजर पड़ जाये तो झट अपना कान छू लो तो शुद्ध हो जाओगे।

हमने धर्मशास्त्र बहुत पढ़ा था। हमारे गुरुजी महाराजने हमको बहुत छोटी उम्रमें धर्मशास्त्र पढ़वा दिये थे। गुरुजीको कोई शोध करनी थी; तो चूँकि हमारा संस्कृतज्ञान बचपनमें ही बहुत अच्छा था इसलिए उन्होंने बताया कि ये-ये ग्रन्थ धर्मशास्त्रके तुम पढ़ो और उसमें इस विषयपर जो श्लोक आवें, उनपर निशान लगाते जाओ। इसलिए धर्मशास्त्रपर हमने बहुत ग्रन्थ

पढ़े थे। हमको धर्मशास्त्र सम्बन्धी बहुत नियम मालूम हैं। पर यहां धर्मशास्त्रका प्रसंग नहीं है। यहाँ प्रायश्चित करनेका काम नहीं है; यहाँ तो ब्रह्मज्ञान विषयक योग्यता-सम्पादनके प्रसंगमें 'शौचम्' है।

धर्ममें वस्तुसे, गंगाजल, तुलसी आदिसे पवित्रता आती है। मार्जन आदि क्रियासे पवित्रता आती है। भगवान्के नाम- स्मरणसे—हरिस्मरणसे पवित्रता आती है।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यंतरो शुचिः। यह भक्तिकी पवित्रता है। इसको धर्मात्मा लोग नहीं मानते लेकिन भगवान्के नामसे, स्मरणसे पवित्रता आती है।

योगदर्शनमें पवित्रताका एक विलक्षण रूप बतलाया हुआ है।

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

यह जो अपवित्रमें पवित्रबुद्धि हो रही है, वह विवेककी कमी है। जो थूक मुँहसे बाहर जानेके बाद अपवित्र होता है, वही भीतर रहकर पवित्र क्यों है? यह मलमूत्र शरीरके भीतर हैं तो पवित्र और बाहर गया तो अपवित्र क्यों? किस आधारपर यह विवेक किया गया है? असलमें दुनियामें अगर कोई भी चीज पवित्र हो सकती है, तो वह तभी तक हो सकती है, जबतक वह मैं के रूपमें रहे। इदंके रूपमें होते ही वस्तु अपवित्र हो जाती है।

कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।

पण्डित लोग इस शरीरको अपवित्र मानते हैं क्यों? क्योंकि शरीरमें शौच आधेय है, स्वरूपतः नहीं है। आधेय-शौच माने पवित्रता रोज-रोज बनानी पड़ती है—बारम्बार हाथ धोना पड़ता है, बारम्बार मुँह धोना पड़ता है, बारम्बार साबुन लगाना पड़ता है। बढ़िया-से-बढ़िया, शुद्ध भूमि हो, शुद्ध मकान हो लेकिन शरीरमें से निकली हुई कोई चीज आप रख दीजिये तो वह भूमि, वह मकान अपवित्र हो जायेगा, क्योंकि अपवित्रता प्राणीके शरीरमेंसे निकलती है। तो योगियोंका यह कहना है कि यह जो अशुचि शरीरमें शुचि बुद्धि हो गयी है यह तुम्हारे पापका फल है—विभ्रम है। जब पवित्रताके नियम अपने जीवनमें धारण करते हैं तो अपने शरीरकी तरफ दृष्टि जाती है। शरीरमें क्या है? वही हड्डी, वही पीव, वही माँस, वही चाम, वही बाल, वही नाखून, वही थूँक, वही विष्ठा, वही मूत्र, जिसको सब अपवित्र मानते हैं, वही

सब जब चामकी पुड़ियामें बँध गया तो इसमें पवित्र बुद्धि क्यों? यह विचार जग जाता है। तो योगी बोले— *स्वाङ्गजुगुप्सा*—यह देह अच्छी चीज है— यह कल्पना जब कटने लगे तब समझना कि तुम्हारी पवित्रता अब फलवती होने लगी है। सबसे बढ़िया पवित्रता यही है कि इस देहको कभी मैं नहीं समझना। बोले-फिर क्या देहको फेंक दें? नहीं, फेंको मत। देह फेंका नहीं जाता है। *स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसङ्गः।* अपने शरीरकी अपवित्रता जानकर इससे असंग हो जाओ, इसको अपना स्वरूप मत मानो। इसको छुओ मत। आजकल सामाजिक लोग स्पृश्य-अस्पृश्य विचारको तो बहुत बुरा मानते हैं, पर आपको यह बात सुनावें कि पहले जमानेमें हमको अपने बचपनकी याद है, हमको महीनेमें तीन दिन अपनी माँके पास जानेको नहीं मिलता था। उसका कम्बल अलग होता था, उसके सोनेकी जगह अलग होती थी। तो माँको क्या हम अपवित्र समझते थे? माँके प्रति क्या मातृबुद्धि नहीं होती थी? क्या उसमें माँके प्रति घृणा हो जाती थी? नहीं, नारायण! यह बात बिल्कुल नहीं है। माँ खुद ही कहती थी—दूर रहना, छूना नहीं वर्ना तुम हमको छूकर जाओगे, फिर रसोईमें घुस जाओगे, फिर बाबाको छू दोगे।

योगीका अभिप्राय यह है कि यह शरीर छूनेके योग्य नहीं है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

पवित्रताका ख्याल आनेसे, अपने शरीरके भीतर जो गन्दगी है, वह प्रत्यक्ष होने लगी और दूसरोंको छूना मना कर दिया, इसलिए नहीं कि दूसरे गन्दे हैं, इसलिए कि यह शरीर गन्दा है। अभी हमारे वाराणसीमें ऐसे ब्राह्मण मिलेंगे जो कहेंगे—'ठहरो अभी मैं शौचालयसे आया हूँ दूर रहना, मैं स्नान कर लूँ तब तुमसे बात करता हूँ। अभी मैं छूने लायक नहीं हूँ। अथवा वह चीज जो तुम माँगने आये हो ना, वह ठाकुरजीकी पूजामें रखी है, मैं बिना स्नान किये वहाँ जाने लायक नहीं हूँ।' नये लोगोंके लिए तो यह जरा दूसरे ढंगकी बात है! पर *परैरसंसर्गः* दूसरेको नहीं छूते हैं। यह असंसर्ग क्या? एकान्तमें अलग रहनेकी आदत पड़ती है। यह क्रिया गन्दी है, यह वस्तु गन्दी है, यह भाव गन्दा है, उस गन्दगीसे अपनेको विवेक करके अपने आपको अलग करना। तो अशुचिमें जो शुचि बुद्धि हो रही है, अपवित्रमें पवित्र बुद्धि, अनित्यमें नित्य बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि, अनात्मामें आत्मबुद्धि जो

हो रही है उसको दूर करनेके लिए पवित्रताका भाव धारण करनेकी आवश्यकता है। यही है 'शौचम्'।

शौच कहाँ है? अब देखो इसका दो टूक बम-गोला फेंकता हूँ। असलमें जो द्वैत है—द्वितीय, वही अशुद्ध है और जिस अज्ञानके कारण द्वैत सत्य मालूम पड़ता है, वह अज्ञान सबसे गन्दा है। तो 'शौचम्' का अर्थ क्या हुआ कि वह ज्ञान प्राप्त करो जो अज्ञानकी गंदगीको मिटा दे, जिससे द्वैत भस्म हो जाये। जैसे शंकरजी के शरीरमें सतीकी चिताका भस्म लगा है, वैसे तुम हो शिव और तत्त्वज्ञानके द्वारा द्वैत प्रपंचरूप मुर्देको भस्म कर दो— सतीका भस्म माने मायाका भस्म। यह माया ब्रह्माश्रित ही तो होती है ना, इसलिए यह सतीरूप है। यह सती-माया तत्त्वज्ञानके पूर्व सच्ची रहती है और तत्त्वज्ञानके अनन्तर भस्म हो जाती है। तो यह जो मायाका, अविद्याका भस्म शिवब्रह्मके शरीरमें लगा हुआ है, यही शौच है। यही है पवित्रता। यदि आप विद्याके द्वारा, तत्त्वज्ञानके द्वारा, अविद्या और अविद्याके कार्यरूप प्रपंचको भस्म करके अपने शरीरमें इस प्रपञ्चकी प्रतीतिको ऐसा देख सकते हो जैसा महाशिवके शरीरमें भस्म, तो समझना तुम अब पवित्र हो गये! ब्राह्मण लोग भस्म लगाते हैं, पर दूसरे लोग भस्म लगानेमें डरते हैं। यह देखो, इसमें भी सिद्धान्तकी बात है। जिन लोगोंके सिद्धान्तमें द्वैत प्रपञ्च ज्ञानाग्निमें भस्म हो जाता है, वे तो भस्म लगा सकते हैं और जिनके मतमें ज्ञानाग्निसे प्रपञ्च सत्य ही रहता है, वे जिन्दा मिट्टीका चन्दन लगावेंगे, वे भस्म-मृत्तिकाका चन्दन नहीं लगावेंगे। उनके लिए मलयागिरि ठीक है, केसरका चन्दन ठीक है, रंगका चन्दन ठीक है, गोपी चन्दन ठीक है, व्रजरज ठीक है; पर वे सब अभस्म मृत्तिका हैं; जिन लोगोंके सिद्धान्तमें ज्ञानाग्निसे प्रपञ्चका दाह हो जाता है, वे बाधित भस्ममृत्तिका लगावेंगे। चन्दन लगानेमें भी दृष्टि वहीं पर रहनी चाहिए।

तो शौचम् माने? मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हूँ, मेरे अन्दर कोई गड़बड़झाला नहीं है; यह द्वैत प्रपञ्च ही गड़बड़झाला है। इस प्रकार जो आत्मचिन्तन है उसको शौचम् बोलते हैं। अद्वितीय आत्मा ही परम पवित्र है, उसका चिन्तन ही परम पवित्र है।

(८) स्थैर्यम्—स्थिरता, शरीरकी स्थिरता? क्या करोगे शरीरको

स्थिर करके? नाड़ी चल रही है, साँस चल रही है, मनीराम चल रहे हैं। धर्मात्मा लोग एक आसनसे बैठकर स्थिरतासे हवन करते हैं। भक्तलोग मन-ही-मन भगवान्‌के साथ नाचते हैं शरीरसे स्थिर रहते हैं। योगी लोग श्वासको स्थिर करते हैं और मनको स्थिर करते हैं।

गुरुवेदान्तवचनैर्निश्चितार्थे दृढस्थितिः।
तदेकवृत्त्या ततः स्थैर्यं नैश्चल्यं न तु वर्त्मनः॥

शरीरकी निश्चलताका नाम निश्चलता नहीं है। गुरु और वेदान्तके वचनसे तत्त्वमें जो अपनी दृढ़ निष्ठा है, उसका नाम स्थिरता है।

एक बात आपको यह सुनानेकी है कि यह जो वेदान्तवाद है, उसमें कहीं भी समसमन्वय नहीं है। माने सब साधन समान हैं—ऐसा इसमें नहीं है। साधनोंमें भी तारतम्य है, उसको समझना पड़ता है। यदि आपको जीवन स्थिर बनाना हो तो शास्त्रोक्त आचारका पालन करें; और यदि आपको शरीर स्थिर करना हो, तो हठयोगके आसनोंका अभ्यास कीजिये। अब आप लोग हमारा मोटा पेट देखते होंगे, तो आप सोचते होंगे कि हमारा आसनके साथ भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? हम पहले आसन करते थे, हमने भी सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, मयूरासन, उष्ट्रासनादि तैंतीस चौंतीस आसनोंका अभ्यास किया था और तब पेट भी नहीं बढ़ा था।

योगदर्शनमें बताया कि यदि आपका शरीर हिलता हो, तो आप दो बात अपने ध्यानमें रख लीजिये—एक तो 'प्रयत्न शैथिल्य और दूसरी अनन्तसमापत्ति। प्रयत्न शैथिल्य माने जिस समय आप आसन स्थिर करके बैठें, उस समय 'अब हमको कोई काम करना है'—यह संकल्प मनमें नहीं रहे; जैसे पन्द्रह मिनट या घण्टे भरके ध्यानके बाद दूकानपर जाना है या ठाकुरजीकी पूजा करनी है या घर-गृहस्थी सम्भालना है, यह संकल्प नहीं रहे। जिस समय बैठें यह ख्याल करके बैठें कि अब तो मैं आसनपर बैठा हूँ, यदि ईश्वर हमें अपने पास बुला ले, या हमारी ऐसी समाधि लग जाये जो कभी न टूटे, तो बाल बच्चोंकी, घर द्वारकी कोई फिकर नहीं है, अब तो हम बैठते हैं। यह टोना-टोटका है, जादूका खेल है; आप यह संकल्प करके बैठ जाइये, आपका शरीर बिल्कुल नहीं हिलेगा।

हम तो श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके साथ रहे हैं ना भाई, वे तो

आसनपर बैठ जाते थे तो बारह घण्टे उनको पाँव बदलनेकी जरूरत ही नहीं होती थी। हमारे शङ्कराचार्य ब्रह्मानन्द जी महाराज नौ-दस घण्टे भरी सभामें ज्यों-के-त्यों बैठे रहते थे। और हमारा आसन जो सिद्ध हुआ, वह लेटने वाला हुआ! लेकिन आपको यह बता देता हूँ कि हमको सिद्ध तो है लेटनेवाला आसन, पर जब हम भागवत-सप्ताहके लिए बैठते हैं ना, तो बिना अभ्यासके ही हमारा आसन सिद्ध हो जाता है। उस समय चार घण्टे बैठे रहनेपर भी हमें आसन बदलनेकी जरूरत नहीं पड़ती है। तो उसमें एक दूसरा टोना-टोटका और है। और वह है—अनन्त समापत्ति, अर्थात् अपने हृदयमें शेष भगवान्‌का ध्यान करें। कुण्डली बाँधे हुए शेष बैठे हैं। उनकी गोदमें नारायण और शेष भगवान् अपना फन फैलाये सिरपर धरती लिए आपके शरीरके भीतर बैठे हैं। अगर वे हिल जायें तो धरती हिल जाये। तो आप बिल्कुल शेषका ध्यान करके बैठें, शरीर बिल्कुल नहीं हिलेगा।

अच्छा अब आपको सुनाते हैं कि अगर मन आपका प्रकृतिकी किसी भी वस्तुका चिन्तन करेगा तो मन हिलेगा और मन हिलेगा तो शरीर हिलेगा, क्योंकि शरीर और मन तो एक ही है। प्राण हिलेगा तो शरीर हिलेगा। तो कई लोग देहको वशमें करके ही देहको स्थिर करते हैं, कई लोग प्राणको वशमें करते हैं, कई लोग मनको वशमें करते हैं और कई लोग कहते हैं कि विचार भी एक विक्षेप है। विचार क्या करना? शान्ति रखो। और कई लोग द्रष्टा होकर बैठते हैं। परन्तु वेदान्तकी दृष्टि इन सबसे न्यारी है। आपको मालूम होना चाहिए, वेदान्त दर्शनके चौथे अध्यायमें इसके लिए सूत्र ही है—*आसीनः सम्भवात्।* बैठकर वेदान्त विचार करना चाहिए, क्योंकि चलते-चलते वेदान्त-विचार करनेमें गिर जानेका डर है और लेटकर वेदान्त-विचार करनेमें निद्रा आनेका डर है, इसलिए बैठकर वेदान्त-विचार करना चाहिए, उसमें स्थिरता आनी चाहिए। तो यह स्थिरता कैसे आवे? आलम्बनकी स्थिरतासे स्थिरता आवे—यह दूसरी चीज है और सत्यके ज्ञानसे अपनेमें स्थिरता आवे यह दूसरी चीज है। आलम्बनकी स्थिरतासे अपने आप साँस बन्द हो जायेगी, विचार उठना बन्द हो जायेगा। स्वरूपकी स्थिरता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञानकी स्थिरता दूसरी है। स्थैर्य माने स्थिरता। यदि आपको विश्राम करना है और उसमें आपका शरीर स्थिर न रहे, तो उसमें कैसे विश्राम

पायेंगे? एक आदमीको कहीं जाना हो और वह कभी बांयें चले, कभी दाहिने चले, कभी पीछे लौट जाये, कभी सामने चला जाये, तो मंजिल पर कैसे पहुँचेगा? एक किसानको अन्न पैदा करना हो और एक ही खेतमें कभी गेहूँ बो दे फिर जोत दे और बाजरा बो दे, फिर जोतकर गन्ना बो दे, तो उसमें कौन-सी फसल होगी? तो फल-प्राप्तिके लिए भी स्थिरता अपेक्षित होती है। एक साधन स्वीकार करें तो उसको दृढ़तासे पकड़ें। नैरन्तर्य और सत्कारा-सेवित होनेपर ही साधन दृढ़-भूमिवाला होता है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

एक लम्बे समय तक साधन चाहिए। योगवासिष्ठमें आया है कि यह संसारकी वासना चिराभ्यस्त है, इसलिए चिरकाल तक अभ्यास करनेकी अपेक्षा है। अनादिकालसे, पूर्व-पूर्व जन्मसे संसारमें ही तो भटकते रहे हैं, इसीमें राग करते रहे हैं, इसीमें द्वेष करते रहे हैं, इसीको अच्छा-बुरा समझते रहे हैं, जब तक डटके, स्थिरतासे, इसका मुकाबला नहीं करेंगे, तब तक यह वासना मिट नहीं सकती।

दीर्घकालचिराभ्यस्ताराम-संसार-वासना।
न चिराभ्यासयोगेन विनेयं शाम्यति क्वचित्॥

अच्छा अनादिकालका न लें, एक आदमी आता है, उलाहना देता है कि महाराज हमको इतने दिन भजन करते हो गया, पर कोई फायदा नहीं हुआ। पूछा—भाई, कितनी देर भजन करते हो? बोला—महाराज दो घंटे करते हैं, बहुत है। और दुकानका काम कितने घण्टे करते हो? आठ घण्टे। और बच्चे, स्त्री और खानपान, शौचादिके काममें कितनी देर? चार घण्टे। कौनसा अभ्यास दीर्घकालिक रहा? तो भगवद्भजनके अभ्यासमें भी दीर्घकालिता आनी चाहिए। एक दिन किया, एक दिन छोड़ दिया, ऐसा नहीं। उसकी धारा बननी चाहिए चित्तमें। और उसमें श्रद्धा रहनी चाहिए कि इससे हमारा कल्याण होगा।

सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रः।

एक मन्त्रका कोई बारह बरस जप करे और उसके मनमें शंका बनी रहे कि यह मन्त्र शुद्ध है कि अशुद्ध है तो क्या उसे मन्त्र सिद्ध होगा? हमको मालूम है, एक महात्मासे किसीने पूछा कि हम किस मन्त्रका जप करें?

उन्होंने लिखके बताया। तो लिखते समय असावधानी हो गयी, 'नमः शिवाय'की जगह 'नमो शिवाय' लिख दिया। संस्कृतमें 'नमो शिवाय'का अर्थ उल्टा होता है। वह तो 'नमः अशिवाय' हो, तभी 'नमो शिवाय' होगा। उसके मनमें यह बात बनी कि मन्त्र तो 'नमः शिवाय' है, मैं जानता हूँ। पर हमारे गुरुजीने 'नमो शिवाय' लिख दिया, तो उसीका जप करना चाहिए। अब वे गुरुजीसे दुबारा पूछने गये नहीं। 'नमो शिवाय' जपें भी और उसके अशुद्ध होनेका ख्याल भी मनमें खटके। तो *'सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रः।'* मन्त्र जो होता है वह निश्चयात्मक वृत्ति बनानेके लिए होता है, संशयात्मक वृत्ति बनानेके लिए नहीं होता है. सन्देह तो डावाँडोल करता है। एक आदमी नदीमें तैर रहा हो, बह रहा हो और उसको यह न मालूम हो कि हमको दाहिने किनारेपर लगना है कि बाँयें किनारे पर लगना है, तो उसकी क्या स्थिति होगी? यदि उसकी उभयवृत्ति बनी रहेगी कि उस किनारे लगें कि इस किनारे लगें, तो वह बेचारा धारामें बहता ही रहेगा। तो गुरुमें, मन्त्रमें, साधनमें; इष्टमें स्थिरता होनी चाहिए। वेदान्तके मार्गमें चलें तो पहले यह निश्चय कर लें कि मुक्ति है भी कि नहीं? और मुक्ति साधन-साध्य है कि स्वतः सिद्ध है? यदि साधनसे सिद्ध है तो उत्पन्न होगी फिर नष्ट हो जायेगी और यदि स्वतः सिद्ध है तो उसके लिए साधनकी जरूरत क्या है? साधनकी जरूरत नहीं है तो उसका ज्ञान होना चाहिए कि मैं मुक्त हूँ, अर्थात् अपरोक्ष साक्षात्कार होना चाहिए। और अपरोक्ष साक्षात्कार तो आँख बन्द करनेसे होता नहीं है, उसके लिए प्रमाणजन्य वृत्ति चाहिए। और, प्रमाणजन्य वृत्तिमें भी जो विषयके संयोगसे होती है सो नहीं चाहिए; जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं है, ऐसा प्रमाण चाहिए। ऐसे विषयमें तो शब्द ही प्रमाण होता है और शब्द बताता है कि तुम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो, बन्धन तुममें है ही नहीं। इसलिए वेदान्तमें स्थैर्यका अभिप्राय यह है कि प्रमाण-प्रमेयके सम्बन्धमें बिलकुल निस्सन्देह होकर अपने स्वरूपका साक्षात्कार करना चाहिए।

अब 'स्थैर्य' का दूसरा भाव बताते हैं। क्या चल है और क्या अचल है। इसपर आप विचार करो। वेदान्तकी रीति बड़ी विलक्षण है—यह कहते हैं कि जिससे सबकी सिद्धि होती है वही अचल है। सबकी सिद्धि किससे होती है? कि अपने आपसे होती है। हम होवें तब मालूम पड़े कि मुक्ति है,

कि बन्धन है, कि ईश्वर है, कि जीव है, कि जगत् है। हम होवें ही नहीं तो मालूम किसको पड़ेगा? 'मैं'की धुरीपर जीव, ईश्वर, जगत्की त्रिपुटी सिद्ध होती है। यदि स्थिरको ढूँढना हो तो 'स्व'में ही ढूँढना होगा। देखो, एक बार जाग्रत आती है जाती है, स्वप्न आता है जाता है, सुषुप्ति आती है-जाती है; कितने इष्ट-मित्र आते हैं जाते हैं, कितने शत्रु राग-द्वेषादि आते हैं-जाते हैं; कितनी समाधि और कितने विक्षेप आते हैं जाते हैं और तुम ज्यों-के-त्यों रहते हो। तो स्थिरता तो तुम्हारे स्वरूपमें ही है। अचल कुछ है तो तुम्हारा स्वरूप ही है।

कहो कि परमाणुसे बनी हुई सृष्टि स्थिर है, तो जो बनी वह कैसे स्थिर होगी? वह तो पहले नहीं थी, बनायी गयी, धीरे-धीरे वह बिखर जायेगी। जो प्रकृतिके परिणामसे बनी हुई सृष्टि है वह भला कैसे स्थिर रह सकती है? जो चित्तके विकारसे बनी हुई सृष्टि है, स्थिर कैसे रह सकती है? जो अभ्याससे, प्रयत्नसे लगायी हुई समाधि है, वह कैसे स्थिर रह सकती है? जो धर्मसे उत्पन्न किया हुआ स्वर्ग है वह कैसे स्थिर रह सकता है? और जो उपासनासे प्रसन्न होकर ईश्वरके द्वारा दिया हुआ लोक-विशेष है वह कैसे स्थिर रह सकता है? वहाँ तो हमको जाना पड़ता है, रहना पड़ता है। स्थिर है तो केवल आत्मदेव! अपनी अखण्ड आत्मसत्ता ही स्थिर है।

एक महात्माके पास मैं दर्शन करनेके लिए गया था। वे झूलेपर बैठे हुए झूल रहे थे। मैं जाकर नीचे बैठा उनके सामने, तो वे समझाने लगे कि जैसे नदी बहती हो, और हम तटपर बैठे हों, तो बहती हुई नदी जो दिखती है वह नदी चल है और हम अचल हैं। अच्छा, नदीमें एक भँवर उठ रही है। तो पानी तो बहता हुआ मालूम पड़ता है, परन्तु भँवरका पानी बहता हुआ नहीं मालूम पड़ता, तो क्या भँवरमें स्थिरता है? भँवरमें स्थिरता नहीं है। इसलिए संसारमें जो (भँवर स्थानीय) स्थिरता मालूम पड़ती है और जो (नदी प्रवाह स्थानीय) चलता मालूम पड़ती है, वे दोनों आपेक्षिक हैं। संसारमें कहीं भी स्थिरता नहीं है। यह द्वन्द्वात्मक जो स्थिरता है, वह बिल्कुल झूठी स्थिरता है।

यह जो मालूम पड़ता है कि पंखा घूम रहा है और छत स्थिर है, या कि सूर्य चल रहा है और पृथिवी स्थिर है, या यह जो मालूम पड़ता है कि पृथिवी

चल रही है और ध्रुव स्थिर है या सूर्य स्थिर है, ये सब आपेक्षिक हैं। पृथ्वीकी अपेक्षासे सूर्य स्थिर है, सूर्यकी अपेक्षासे ध्रुव स्थिर हैं। ध्रुव भी अपनी धुरी पर घूमता है। आकाशगंगा भी अपने स्थानसे प्रचलित होती है और आकाश भी फट जाता है। आकाशके फटनेसे ही वायु उत्पन्न होती है कहनेका अभिप्राय यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाश, प्रकाशक आत्मदेवके सिवाय दूसरा कोई स्थिर नहीं है। यदि तुम स्थिर और चलका अनुसन्धान करके चलको छोड़ते जाओ—विषय चल हैं, संसारके सगे सम्बन्धी चल हैं, इन्द्रियाँ चल हैं, मनोवृत्तियाँ चल हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि चल है और इन अवस्थाओंमें भासनेवाली चीजें चल हैं और केवल स्वयं प्रकाश आत्मदेव ही अचल और स्थिर हैं, तो इस प्रकार विवेक करनेसे अपनी स्वरूपगत स्थिरताका तुम्हें साक्षात्कार हो जायेगा और यह ज्ञानका साधन हो जायेगा।

(९) आत्मविनिग्रहः-इसमें आत्मविग्रह और आत्मनिग्रह-दोनों लेना है। दो उपसर्ग हैं-एक 'वि' और एक 'नि' और धातु एक है-ग्रह। संस्कृत भाषामें भूत-प्रेत पिशाच को भी ग्रह ही बोलते हैं। तुलसीदासजीका दोहा है—

ग्रह गृहीत पुनि बातबस ता पै बीछी मार।
ताहि पिआइए बारुनी, कहहु कौन उपचार॥

तो ग्रह माने भूत-प्रेत-पिशाच।

रवि, चन्द्र, गुरु, शुक्र—ये भी ग्रह हैं। इनसे तो आप परिचित ही हैं।

आग्रह, विग्रह, परिग्रह, संग्रह—ये भी सब ग्रह हैं।

इनमें सबसे पापी है पूर्वग्रह, क्योंकि वह ज्ञानके मार्गमें चलनेमें बाधा डालता है। पूर्वग्रह माने पहलेकी कोई बात मनमें ऐसी बैठ गयी है, किसीके मरनेका ऐसा दुःख बैठ गया है, किसीके मिलनेकी ऐसी मोहब्बत बैठ गयी है, किसी चीजका ऐसा संस्कार मनमें बैठ गया है कि अब हम इसके उचित-अनुचित या उपादेय-अनुपादेय होनेका विचार करनेके लिए ही राजी नहीं हैं। यह बड़ा भारी ग्रह है। यह जो लोग पुरानी याद करके रोते रहते हैं या पुरानी याद करके अहंकार करते हैं कि हमने यह काम किया, वह काम किया, अपने शुभ कर्मोंकी याद करके गर्व करते हैं, अहंकार करते हैं और अपने अशुभ कर्मों, घटनाओं और वियोगोंका स्मरण करके रोते हैं, वे

असलमें ग्रहके चक्करमें पड़े हुए हैं; उनको ग्रह लग गया है। और वही दुःख देता है।

यह मन भी एक ग्रह है। मन संस्कारोंका ही पुंज है; यह नया रास्ता नहीं बताता। मन पुरानेमें ही उलझा रहना चाहता है। यह मनकी प्रवृत्ति है। यह शक्की है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

सब पुरानी बातें सही नहीं होतीं और सब नयी बातें बुरी नहीं होती हैं—ऐसा भी कोई नियम नहीं है।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

सत्पुरुषका स्वभाव है कि वह परीक्षा कर लेता है कि नया ठीक है कि पुराना ठीक है और फिर जो स्वीकार करने योग्य होता है उसको स्वीकार करता है; और जो मूढ़ है, वह अपने विचारसे नहीं चलता है, 'परप्रत्ययनेय बुद्धि;' उसकी बुद्धिको तो कोई पीछेसे धकेल रहा है, वह किसीका मोहरा बन रहा है।

आप देखो, आपको कितना छोड़ना पड़ा, बदलना पड़ा। जो हमारे बाप-दादाके मित्र थे, उनके बारेमें बचपनमें संस्कार था कि ये हमारे बड़े हितैषी हैं, लेकिन बाप-दादाके मर जानेके बाद वह संस्कार बदल देना पड़ा; और जो हमारे बाप-दादाके समयके शत्रु थे, उन्होंने जब मित्रोंको बदलते देखा तो स्वयं मित्र बन गये।

देखो एक संस्कारकी बात आजकल लोग क्या चाहते हैं? जो बूढ़े हैं वे मरने न पावें, बने रहें और यह कोशिश की जाती है कि नये आने न पावें। इस मनोवृत्तिमें सिवाय पापग्रहके दूसरा कोई कारण नहीं। अरे बाबा, पुराने बूढ़े-बूढ़ोंको मरने दो, नये-नये जवान पैदा होने दो—नये राम, नये कृष्ण, नये शिवाजी, नये राणाप्रतापको आने दो। पुरानेके प्रति जो अतिशय आग्रह है वह बहुत दुःख देता है। तो पूर्वग्रहसे बचना चाहिए।

आग्रह, विग्रह, परिग्रह है, संग्रह सब ग्रहके अन्तर्गत है। अब जरा आत्मविनिग्रह को देखो—आत्माके उपकारीको ही यहाँ आत्मा कहा गया है। जैसे किसीसे कहें-'तुम्हारी आँख यहीं रह गयीं, भई लेते जाओ।' तो क्या मतलब होगा? उसका मतलब होगा कि उसका चश्मा यहाँ रह गया है।

आँखसे देखनेमें चश्मा उपकारी है, इसलिए चश्मेको भी आँख बोलते हैं। इसीप्रकार आत्माके सोचनेमें, विचारनेमें, भोगनेमें मन उपकारी है। इसलिए आत्मा शब्दसे आत्माके उपकारी मनका भी ग्रहण होता है। इसको संस्कृत भाषामें लक्षणा बोलते हैं। जहाँ शब्दके मुख्यार्थका ग्रहण न करके उससे सम्बन्धित गौणार्थका ग्रहण किया जाय, उसे जहत्-लक्षणा बोलते हैं। इस प्रकार जहत्-लक्षणासे 'आत्मविनिग्रह' में आत्मा शब्दका अर्थ मन है।

यह जो मन है, इसका विनिग्रह चाहिए। विनिग्रहमें क्या-क्या बात है? विशेष निग्रह। इसका अर्थ न तो मनको मारना है और न मनको दफनाना है। योगी लोग मनको दफनाते हैं—मनको समाधि दे दी। बाबाजी मरते हैं तो उनको समाधि दी जाती है। और मियाँ साहिब मरते हैं तो उनको कब्रमें दफनाया जाता है। तो दफनाना या समाधि देना दोनोंके माने हैं मनको मारना। तो आत्मविनिग्रहका अर्थ मनको मारना नहीं, विशेष निग्रह करना है। विशेष निग्रह माने मनको सधाना-मन हमारे इशारेको समझे। निग्रह माने काबूमें करना और विनिग्रह माने विशेष रीतिसे काबूमें करना, माने वह खड्ड देखे तो वहाँ रुक जाये, उसमें कूद न पड़े; आँखसे देखे तो बचा ले; बुरे रास्तेसे न जाये; लगाम ढीला रखनेपर भी कायदेसे ही चले।

घोड़ोंके स्वभावके बारेमें आपने सुना होगा, या कभी आपलोग चढ़ते होंगे तो जानते होंगे! वे लगाम खींचनेसे भागते हैं और लगाम ढीली छोड़ देनेसे सीधी चाल चलते हैं। *इन्द्रियाणि हयान्याहुः*—इन्द्रियोंका स्वभाव कैसा है? कि घोड़े जैसा है; इसको जैसे अच्छा अश्ववार-असवार-सवार अश्वको रोकनेवाला, अश्वको साधनेवाला, घोड़ेको सधाता है, जैसे ठीक रास्तेसे ले चलता है—कैसी ऐड़ी लगानेपर घोड़ा किस चालसे चले, सरपट दौड़े कि दुलकी चालसे चले, इसके लिए एड़ीके इशारेको समझने लग जाये, लगामके इशारेको समझने लग जाये, वैसे ही मन हमारे इशारेको समझने लग जाये—यही मनका विनिग्रह है।

अब हमें मनसे करना क्या है? कि मनसे आत्मा-अनात्माके बारेमें विचार करना है, साधन-असाधनके बारेमें विचार करना है, विषयभोगके बारेमें विचार करना है। । सिनेमामें एक तरहका मकान देखकर आये, एक तरहका फर्नीचर देखके आये, अब मन उसीके बारेमें सोच रहा है। जानते हैं

कि हम अपना घर वैसा नहीं बना सकते। एक औरत देखकर आये, अब मनसे उसीके बारेमें सोच रहे हैं, तो मनकी शक्ति भी क्षीण हो रही है, समयका भी अपव्यय हो रहा है, तुम्हारे मनमें वासना भी बढ़ रही है और वह कभी पूरी होनेवाली है नहीं। तो विनिग्रहका अर्थ यह हुआ कि मनसे कह दें कि बेटा, इसके बारेमें मत सोचो और सधे हुए घोड़ेकी तरह जहाँ इशारा किया कि ठहर जाओ, तो वहीं ठहर गया। जहाँ कह दिया चलो, वहाँ चला। मनको मारना—यह अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त नहीं है, मनको अपने संकेतके अनुसार चलाना—यह अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है। मनका वशीकरण होता है, मनकी मृत्यु नहीं होती है। *लालयेत् चित्तबालकम्।* जैसे नन्हें बालकका लालन-पालन किया जाता है—कभी उसको कहते हैं कि यह चीज कर लो तो मिठाई खिलावेंगे, कभी यह भी कहते हैं कि यह काम करोगे बेटा तो जल जाओगे। कभी कहते हैं कि ऐसा काम करोगे तो हम तुमको गोदमें नहीं लेंगे या तो हम तुमको बाँध देंगे। दोनों—भय और लोभ—दोनों वृत्ति चाहिए। और दोनोंसे मनको सधाना चाहिए और मारना किसी हालतमें नहीं चाहिए। जीवन्मुक्तका भी मन मरता नहीं है, ज्ञानीका मन भी रहता है, भक्त लोगोंका भी मन रहता है और आप क्या समझते हैं कि योगी लोगोंमें मन नहीं होता है? अरे योगी लोगोंका भी मन होता है। यह लोगोंके दिमागमें एक झूठी बात बैंठ गयी है कि मन मारा जाता है। उसका वि+नि+ग्रह होता है। विशेष ग्रह और निग्रह। विशेष काममें ग्रहण करके उसको लगाना कि बेटा, तुम यह काम करो। जहाँ लगा दिया, लग गया। ऐसा सधा लेना चाहिए। इसके लिए चार बात वेदान्त-शास्त्रमें बताते हैं—

अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

(१) *अध्यात्मविद्याधिगमः*—शरीरके भीतर यह मनकी रोशनी किस ढंगसे काम करती है? मनकी मशीनरी, मनका यन्त्र किस ढंगसे काम करता है, इस बातको ठीक-ठीक समझना।

क्या आप समझते हैं कि आपके मनमें हरिद्वार होनेसे हरिद्वार वहाँसे उठकर आपके मनमें आगया या आपका मन शरीरसे बाहर उठकर हरिद्वार

चला गया? अरे न आपका मन हरिद्वार गया और न हरिद्वार आपके मनमें आया। आप विषयके ग्रहणकी पद्धति देखो। जैसे शीशेके जहाँ-के-तहाँ रहते ही एक शक्ल इसमें दिख जाये, ऐसे आपकी कल्पनाके आधारपर आपके मनमें कलकत्ता या हरिद्वार दिख गया। मन एक शीशेकी तरह है। इसमें कितनी चीजें आती हैं और कितनी चीजें जाती हैं। मन बिलकुल शीशा है, यह प्रकाश ही है, यह एक रोशनी है। यह जो आँखमें आकर रूप देखता है और कानमें आकर शब्द सुनता है, यह तो मनका वक्रीभवन है मनका बाँकापन है, टेढ़ापन है। यहाँ आकर यह टेढ़ा हो जाता है। मन आँखमें आकर नहीं देखता, कानमें आकर नहीं सुनता, वह तो मन जहाँ है वहीं तदाकार हो जाता है। मन आता-जाता नहीं, मनमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब बदलते रहते हैं, जैसे शीशेमें पड़ते हुए प्रतिबिम्ब बदलते रहते हैं। सड़कपरसे ताँगा गया तो शीशेमें ताँगा दिख गया और सड़कपरसे मोटर गयी तो शीशेमें मोटर दिख गयी। जो सामने आता है, सो मनके भीतर ही दिखता है। पैसा आपके मनमें नहीं घुसता—अगर घुस जाये तो आप्रेशन कराके निकालना पड़ेगा। पैसा मनमें नहीं घुसता और मन भी पैसेमें नहीं घुसता। मनमें जो पैसेकी कल्पना होती है, उसकी हम अपने साथ गाँठ बाँध लेते हैं; किसी स्त्रीके साथ, किसी पुरुषके साथ, किसी धनके साथ, किसी मकानके साथ गाँठ बाँध लेते हैं और आपके मनकी गाँठ भी नहीं है, आपने गाँठ मान रखी है। किसीके बिना आप न रह सकते हों—ऐसा बिल्कुल नहीं है। आपके मनमें यही झूठी कल्पना है कि मैं इसके बिना नहीं रह सकता। एकको यह वहम हो गया था कि मैं दूध नहीं पीऊँगा तो मर जाऊँगा; एकदम झूठा वहम था। इस आदमीके साथ मैं नहीं रहूँगा तो मर जाऊँगा। उसके मर जानेके बाद भी वह रहा-यह देखा मैंने। तो ये मनके भ्रम हैं। यदि मनको वशमें करना है तो आपको पहली बात यह चाहिए कि आप इस बातको समझें कि मन कभी कहीं किसीमें जाता नहीं और न मनमें कभी कहीं कोई किसी भी प्रकारसे घुसता है। अपनी कल्पना ही फुरफुराती रहती है कि यह आया, यह गया। अध्यात्मविद्याधिगमः।

बोले—मनकी मशीनरीको समझना तो थोड़ा कठिन लगता है। अच्छा तो इसमें कूटस्थ साक्षी क्या है-इसको समझो। वह प्रत्येक कल्पनामें तदाकार

होता है इसको समझो; जो तदाकार होनेपर भी असंग रहता है, उसको समझो और जो एक आकार कट जानेपर दूसरा आकार आता है तो पहला आकार बिल्कुल ध्वंस ही हो जाता है—इस बातको समझो। एक बार पत्नी आयी, एक बार पुत्र आया, तो आप यह नहीं समझना कि मनके एक कोनेमें पत्नी बैठी हुई है और दूसरे कोनेमें आकर बेटा बैठ गया। जिस समय मनमें पत्नीका भान हो रहा था, उस समय पत्नीकी परछाईं मनके शीशेमें दिख रही थी और जब पुत्र दिखने लगा तो पुत्रकी परछाईं दिखने लगी, और पत्नी कोई संस्कार नहीं छोड़ गयी है। यह जब हम बादमें सोचते हैं कि पत्नी तो हमारे मनमें रह गयी थी, वह निकली नहीं है, तो वह दूसरी बार पत्नी आती है, वह पहली बार वाली नहीं आती है। यह मनोवृत्ति बिल्कुल क्षणिक है— *अध्यात्मविद्याधिगमः।*

अच्छा हम भी यह सोचते हैं कि रातको हम सोये थे, उसकी अब याद कर रहे हैं। अब वह रातवाली सुषुप्ति किसी प्रकार हमारे मनका दृश्य नहीं हो सकती। रातकी जो सुषुप्ति है, कैसे सोये थे नींदमें, कुछ नहीं सूझ रहा था, केवल शान्ति ही शान्ति, विश्राम ही विश्राम था, यह जो हम इस समय सुषुप्तिका ध्यान करते हैं ना, वह बीती हुई सुषुप्ति हमारे मनमें नहीं आ रही है, इस समय हम नवीन सुषुप्तिकी कल्पना अपने मनमें कर रहे हैं। प्रत्येक त्रिपुटी नवीन होती है। कूटस्थ ही नित्य होता है। त्रिपुटी बिल्कुल क्षणिक होती है। इसमें प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय तीनों क्षणिक हैं। इसका नाम दृष्टि-सृष्टि है।

तो आभासवादकी दृष्टिसे मनीरामका स्वरूप कुछ और है, प्रतिबिम्बवादकी दृष्टिसे मनीरामका स्वरूप कुछ और है, अवच्छेदवादकी दृष्टिसे मनीरामका स्वरूप कुछ और है। यह तो वेदान्तका बड़ा गम्भीर विषय है, हल्के फुल्के मनोविज्ञानके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह कोई बच्चोंका खेल नहीं है कि जो मौज आयी इसके साथ कल्पना कर ली।

अवच्छेदवाद कूटस्थकी प्रधानतासे है।

आभासवाद संस्कारकी प्रधानतासे है।

दृष्टि सृष्टिवादमें प्रत्येक त्रिपुटी क्षणिक ही होती है, प्रत्येक त्रिपुटी नवीन होती है, संस्कारजन्य त्रिपुटी होती नहीं। यह जो ख्याल आता है कि

जो कल देख रहे थे वह आज देख रहे हैं, वह भी आज देख रहे हैं और कलकी याद भी आज ही कर रहे हैं। आजकी यादमें कल है। कलके संस्कारमें कलकी याद नहीं है। आजकी यादमें कल है। अध्यात्मविद्याधिगमः।

(२) यह अधिगम कैसे होगा? तो कोई भी मनुष्य चाहे कि हम एकान्तमें बैठके इसको जान लेंगे, तो नहीं जान सकता। यह ध्यानमें-से नहीं निकलेगा, यह समाधिमें-से नहीं निकलेगा यह तो ***साधु संगतिरेव च।*** इसके लिए जो अध्यात्मविद्याके जानकार हैं, उनसे सीखना पड़ेगा, यह मनीरामका बड़ा विचित्र खेल है। इसमें कलका कुछ याद नहीं है, इसमें बीते हुए क्षणका कुछ याद नहीं है। बीता हुआ क्षण कल्पित होकर भास रहा है; बीते हुए दिन कल्पित होकर भास रहे हैं; बीते हुए व्यक्ति और बीते हुए दृश्य क्षणसहित, इस समय सहित, इस देश सहित, इस व्यक्ति सहित, कल्पित होकर भास रहे हैं। इस बातका ज्ञान बिना साधुओंकी संगतिसे उत्पन्न अपने ज्ञानस्वरूप स्वयंप्रकाश सर्वावभासक कूटस्थ आत्मतत्त्वके विवेकके नहीं हो सकता—***साधुसंगतिरेव च।***

(३) अब यह साधुसंगति कैसे मिले? साधु संगतिमें बाधा केवल वासना ही है। हम यह खाये बिना नहीं रह सकते, यह पहने बिना नहीं रह सकते, पैसे बिना नहीं रह सकते, इनसे मिले बिना नहीं रह सकते, ऐसे कपड़े बिना नहीं रह सकते। यही वासना साधुके पास जानेसे रोकती है। वासना ही बाधा है। वासनासे छुट्टी पाओ तो सत्संग करो।

(४) ***प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।*** प्राणशक्तिका अपव्यय रोको। ये साधन क्रमसे हैं। एक नम्बर है-अध्यात्मविद्याऽधिगम। दूसरा नम्बर है साधु संगति और तीसरा नम्बर है वासना परित्याग और चौथा नम्बर है—प्राणस्पन्दनिरोध। चित्त जयके लिए ये पुष्ट युक्तियाँ हैं।

आत्मविनिग्रहः—यदि आप अपने मनको आज्ञाकारी बालक बनाना चाहते हो, तो 'लालयेत् चित्तबालकम्'। इस चित्त बालकको गोदमें लेकरके खिलाओ, अर्थात् मनका विशेष निग्रह करना है, माने सधा लेना है। उसको शब्दकी ओर जाने दो, पर विशेष शब्दमें आसक्त मत होने दो। उसे रूप देखने दो, पर एक रूपमें आसक्ति मत करने दो। उसको गन्ध सूँघने दो, पर गन्धमें आसक्ति मत करने दो। उसको भोजन करने दो, परन्तु भोजनमें

आसक्ति मत होने दो। उसको लोगोंके बीचमें रहने दो, परन्तु लोगोंमें आसक्ति मत करने दो। एकान्तमें भी रहे और लोगोंमें भी रहे। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके साथ भी रहे और इनके बिना भी रहे। इसको एकांगी मत बनाओ। गाँवमें जब एक आदमी बहुत दिनों तक भैंसको दुहता है ना, तो भैंस इकहत्थी हो जाती है, माने बिना उस आदमीके वह दुही नहीं जाती है। दूसरा कोई बैठे तो पाँवसे मारती है। तो अपने मनको किसी ऐसी आदतसे आदत्त मत होने दो कि वह फिर उस आदतके बिना उस वस्तुके बिना, उस व्यक्तिके बिना, उस क्रियाके बिना उस भोगके बिना तुमको तकलीफ देने लग जाय।

अब आत्मा शब्दका मुख्य अर्थ ले लो। गौण अर्थ छोड़ दो। ***आत्मनि विग्रहः आत्मनि निग्रहः आत्मनि सति स्वयं प्रकाशे विनिग्रहः*** अर्थात् आत्माकी उपस्थितिमें मनका विग्रह और निग्रह दोनों। यह कभी विषयाकार होता है और कभी निर्विषय होता है। कब होता है? कि तुम्हारे देखते-देखते होता है। जैसे बच्चा तुम्हारे सामने कभी सो जाता है, तो क्या तुम उसको सोनेसे रोकते हो? और तुम्हारा बच्चा कभी खेलता है तो क्या उसको खेलनेसे रोकते हो? तो मन चंचलता करता है तो अपने सामने और शान्त रहता है तो अपने सामने उसके खेलनेका मजा भी हम लेते हैं, उसके सोनेका मजा भी हम लेते हैं! और यदि यह आग्रह करेंगे कि यह सोवे ही सोवे, तो वह हमेशा सो नहीं सकेगा; और यह आग्रह करें कि वह खेले ही खेले, तो वह हमेशा खेल नहीं सकेगा। उसके विक्षेप और समाधि, दोनों अवस्थाओंका मजा लेना पड़ेगा! और यह कौन लेता है? कि जब तुम कूटस्थ सत्य आत्मतत्त्वके रूपमें अपने आपको अनुभव करोगे। हर हालतमें तुम तो हो ही—यहाँ यों भी वाह-वाह है यहाँ यों भी वाह-वाह है। ऐसे हो चाहे वैसे हो सब जगह आनन्द-मंगल ही है।

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदये नास्ति सर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः॥

मन समाधि लगावे तो बहुत बढ़िया; मन काम कर रहा है तो बहुत बढ़िया; मन दोनों ही नहीं करता है, कि मत करे, दोनोंको छोड़ दिया। मनकी किसी भी अवस्थापर हमारी आस्था नहीं है कि मनकी ऐसी अवस्था रहेगी तब हमारा कल्याण है और मनकी ऐसी अवस्था हो जायेगी तो हमारा

अमंगल है। मन चाहे बुड्ढा हो चाहे जवान, वह चाहे बच्चा हो चाहे बीमार, हृदयसे सारी आस्था मिट गयी,

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्।

यदि दिनभर सोता रहूँ तो हमारी कोई हानि नहीं है और दिनभर काममें लगा रहूँ तो कोई लाभ नहीं है। न लाभ है न हानि है। लगे रहना होता है तो लगे रहते हैं, सोना होता है तो सोते रहते हैं। नाश और उल्लासकी कल्पना छोड़कर कि इसमें हमारा नाश है और इसमें हमारा ह्रास है, और इसमें हमारा उल्लास है—यह कल्पना छोड़कर अपनी मौजसे रहता हूँ।

अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां
नैतावतास्ति मम चिद्वपुषो विशेषः।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भान्तरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः॥

चाहे शरीर आज चला जाये अथवा चन्द्रमा सूर्यके बराबर इसको उम्र मिल जाये, इन दोनों बातोंमें कोई फर्क नहीं है। घड़ा चाहे आज फूट जाये और चाहे चिरकालतक रहे, घड़ाके फूटने और रहनेसे आकाशके अस्तित्वमें जैसे कोई अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही स्थूल सूक्ष्मादि जो शरीरके नामसे ये कल्पनाएँ फुर रही हैं, ये कल्पनाएँ बनी रहें तो क्या और बिगड़ जायें तो क्या? इससे कूटस्थ सत्य चिन्मात्र आत्मतत्त्वका कोई हानि-लाभ नहीं है।

आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

यदि अपने आपको जान लिया कि यह जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है वही मैं हूँ, तो फिर किसकी इच्छा करता हुआ और किस भोक्ताकी कामनापूर्तिके लिए वह शरीरके पीछे मनके पीछे संतप्त होगा? अर्थात् नहीं होगा।

ज्ञानकी साधन-सम्पत्ति-२

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषाऽनुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषाऽनुदर्शनम्॥ १३.८

श्लोकार्थः—इन्द्रियोंके विषयमें वैराग्य तथा अनहंकार और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-रोग-दुःख—इन दोषोंको बराबर शरीरके पीछे लगे देखना—(यह तो ज्ञान है और इससे जो विपरीत है वह अज्ञान है।) भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञानके साधनके लक्षणोंमें 'स्थैर्यं आत्मविनिग्रहः'—ऐसा बताया। तो शरीरमें भी स्थिरता होनी चाहिए इन्द्रियोंमें भी स्थिरता होनी चाहिए, मनमें भी स्थिरता होनी चाहिए और जो लक्ष्य निश्चय करें, जो साधन निश्चय करें, जो गुरु, मन्त्र, प्रणाली निश्चय करें, उसमें भी स्थिरता होनी चाहिए। स्थिरता न हो, बदलते जायें तो वह तो ऐसे ही है जैसे कोई चौराहेपर खड़ा हो, दस मिनट इस रास्तेपर चला फिर लौट आया, दस मिनट इस रास्तेपर चला फिर लौट आया, तो कहाँ पहुँचेगा? वह तो चौराहेका चौराहेपर ही पड़ा रहेगा। तो एक निश्चय करके, एक स्थानकी प्राप्तिके लिए एक विशेष साधनका आश्रय लेना चाहिए। कहते हैं कि कोई मनुष्य स्टेशनपर टिकट लेनेके लिए गया, तो स्टेशन मास्टरने पूछा कहाँका टिकट दें? वह बोला—यह तो हमको मालूम नहीं है, कहींका भी दे दो। तो जिसको अपने लक्ष्यका ही निश्चय नहीं है वह किस गाड़ीपर चढ़ेगा और कहाँ जायेगा? इसलिए लक्ष्यके निश्चयमें स्थिरता चाहिए, मनको स्थिर करनेके लिए आत्मविनिग्रह चाहिए। स्थैर्यमें विशेष बात यह है कि इन्द्रियोंमें और मनमें भी स्थिरता चाहिए। इसीको आत्मविनिग्रह बताया। अब आत्मविनिग्रहमें अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी जरूरत पड़ती है। तो पहले वैराग्य बताते हैं—

(१.) **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं**—इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य!

जन्ममृत्युजरा व्याधि दुखदोषानुदर्शनम्।
असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदारगृहादिषु॥

नित्यं च समचित्तत्वमिष्ठा निष्टोप-पत्तिषु-ये सब वर्णन वैराग्य है। और **मयि चानन्य योगेन, अध्यात्मज्ञान नित्यत्त्वं**, और **तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम्** यह सब अभ्यास है।

अभ्यास और वैराग्य दोनोंके द्वारा मनीरामको बसमें किया जाता है। यह बात ध्यानमें रहनी चाहिए कि मनको मारना नहीं है, मनको बसमें करना है। अपने बिगड़े हुए बच्चेको कोई कालापानी नहीं भेजना है या उसको फाँसीकी सजा नहीं देनी है उसको सुधारना है, उसको सँवारना है उसको मनाना है। यह मन अपना बच्चा ही है।

अभ्यास-वैराग्यके बारेमें एक बड़ी मजेदार बात योग-दर्शनमें कही हुई है। वे कहते हैं कि पहले तुम अपने मनकी परीक्षा कर लो कि वह क्या चाहता है? माने कौनसा खेल उसको ज्यादा पसन्द है? तो बोले कि उस खेलसे उसको एकदम मत रोको। जरा एक जगह उसके खेलनेकी जगह बनाओ—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। (योगदर्शन १.३५)

नाककी नोंकपर-आँख खुली रहे या बन्द रहे-अपना मनले आओ और जो गन्ध उसको प्यारी लगती हो, (चमेलीकी, गुलाबकी जो सुगन्ध अच्छी लगती हो) उसकी भावना करो। तो नासिकाग्रपर गन्धकी संवित् करनेसे गन्ध तन्मात्राकार वृत्ति हो जायेगी और विषयका चिन्तन बिलकुल छूट जायेगा, स्त्री पुरुष बिलकुल छूट जायेंगे और गंध संवित् होने लगेगी। जब गन्ध-संवित् होने लगेगी तो स्थूल पदार्थोंमें मनका भटकना बन्द हो जायेगा।

जिह्वाके अग्रभागमें रस-संवित् होती है। तुमको कौन-सा स्वाद बहुत पसन्द है? तो आँख खुली हो चाहे बन्द हो, अपनेमनको जिह्वाके अग्रभागमें ले आओ और उस स्वादपर जरा अपना ख्याल ले जाओ।

अगर कोई रूप पसन्द होवे तो आँख बन्द रहे कि खुली रहे, हृदयमें बैठके अपने तालुकी तरफ देखो; जैसे सिनेमाके पर्देपर कोई रूप दिखता है ना, वैसे वह तुम्हारा प्यारा रूप तालूमें दिख रहा है। रूपकी संवित् हो जायेगी।

जिह्वाके मध्यमें स्पर्शकी संवित् होती है और जिह्वाके मूलमें शब्दकी संवित्। तो—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी।

देखने लगे तो देखते ही रह गये—वह पहाड़, हिमालय, पहले हरियाली दिखी, फिर बर्फ दिखने लगी, फिर गंगाजीकी हर-हर धारा बहती दिखने लगी, उसके ऊपर महात्मालोग चलते हुए दिखने लग गये, उसके बाद देवता लोग दर्शन देने लग गये।

इस प्रकार बिना संसारके विषयके मनीरामको गन्ध संवित्में, रस संविद्में, रूप संविद्में, स्पर्श संविद्में या शब्द संविद्में डुबो दो। तो व्यासजी कहते है (पातंजल योगसूत्र पर व्यासका भाष्य है) कि शास्त्र, आचार्य और अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि विचित्र-विचित्र लोक हैं, विचित्र-विचित्र दृश्य हैं, विचित्र-विचित्र झाँकियाँ हैं, परन्तु उनका कभी मनुष्यको अनुभव न हो, केवल सुन-सुनकर ही विश्वास करना पड़े तो उसके मनमें दृढ़ता नहीं आती है। इसलिए हम यह अभ्यास बताते हैं कि इनमें-से कोई-सा भी अभ्यास कर लो, तो गन्धलोकमें, रसलोकमें, रूपलोकमें, स्पर्शलोकमें, शब्दलोकमें तुम्हारा प्रवेश हो जायेगा और ऐसी विचित्र-विचित्र अद्भुत झाँकियोंका, ऐसे स्वादोंका, ऐसे गन्धोंका, ऐसे रूपोंका, ऐसे स्पर्शोंका, ऐसे शब्दोंका तुमको अनुभव होगा कि करणके एक अंशसे भी यदि विचित्र स्थितिका तुमको अनुभव हो जायेगा, तो तुमको अपवर्ग पर्यन्त, कैवल्य पर्यन्तपर विश्वास हो जायेगा कि जो कुछ महात्मा लोग कहते हैं वह बिलकुल सच्चा है।

एक इससे भी बढ़िया बात बताते हैं दूसरे सूत्रमें। वह क्या है? कि—

विशोका वा ज्योतिष्मती—(योगदर्शन १.३६)

अपने हृदयमें यह जो आकाश है—आकाश माने अवकाश, पोल, खाली जगह उससे भी सूक्ष्म बुद्धि-भूमि है और वह बुद्धिर्भूमि ज्योतिर्मयी है, उसमें किसी प्रकारका शोक नहीं है। तो आकाशसे भी सूक्ष्मतम ज्योतिर्मयी शोक रहित भूमिका अपने हृदयमें अनुभव करो, तो ***मनसः स्थिति निबन्धिनी***—मन वहाँ आकर बँध जायेगा, स्थिरताकी प्राप्ति हो जायेगी और स्थिरताकी प्राप्ति हो जाने पर तुमको विचित्र-विचित्र अनुभव होने लगेंगे,

और इतना रस उनमें आयेगा, इतना मजा आयेगा कि बाहरकी जरूरत मालूम नहीं पड़ेगी, बाहरकी जरूरत छूट जायेगी। और तब **आत्मविनिग्रहः** हो जायेगा।

अब इसके लिए वर्णन करते हैं 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्।' आप जानते ही हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः (योगदर्शन—१.१२)

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गीता ६)

हमारे गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णको योग दर्शनका यह सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे अभिमत है, स्वीकृत है, कि मनको वशमें करनेके लिए अभ्यास और वैराग्य चाहिए।

संस्कृत भाषामें अभ्यास माने होता है—दुहराना। जैसे भू धातुका लेट् लकारमें बभूव बनता है, तो उसको अभ्यास बोलते हैं। अभ्यासका अर्थ हुआ कि आप किसी बातको बारम्बार दुहरावें। दुहराते दुहराते आदत पड़ जायेगी। हमारे एक मित्रको उँगलियोंपर नाम लेनेकी आदत थी—

हरिः ॐ तत् सत्। हरि ॐ तत्सत्।

तो हर समय उनका अँगूठा उँगलियोंपर घूमता रहता था। बहुत बढ़िया अभ्यास था उनका। अफसर थे सरकारमें। एकबार सन् ३१-३२ के लगभग मर्दुमशुमारी हुई थी। कांग्रेसने उसका बहिष्कार कर दिया था, तो हमलोगोंने अपने घरोंपरसे सब नम्बर मिटा दिये थे। उसकी जाँच करने वह आये थे। अब उनका मन तो था नहीं कि हमारे घरोंमें जाँच करें, पर डिप्टी कलक्टर साथ था उनके। तो हुआ यह कि वह घोड़ासे गिर पड़े। परन्तु तुरन्त उठकर वह घोड़ेपर चढ़ गये और दो मील तक गये पर जाकर बेहोश हो गये। मैं भी वहाँ था। तो छह घण्टे बेहोशीमें 'हरिॐ तत् सत्' करते रहे। हरि ॐ तत् सत् कहते ही उनका शरीर उछल पड़ता था और एक फुट दो फुट ऊपर जाकर तब नीचे गिरता था। ऐसा बढ़िया अभ्यास था।

अभ्यासमें कर्तृत्व हमेशा बना रहे-यह आवश्यक नहीं है; अभ्यास हो जानेके बाद बिना कर्तापनके क्रियाकी साधारण धारा बहने लगती है। यह समाधिका गुर है।

समाधि कौन लगाता है? द्रष्टा कि कर्ता? द्रष्टा तो लगा नहीं सकता

और कर्ता यदि समाधि लगायेगा तो लगानेवाला कर्ता शेष रह जायेगा और योगका निरोध-सिद्धान्त ही कट जायेगा। इसके उत्तरमें योगी लोग कहते हैं कि पहली अवस्थामें कर्ता समाधिका अभ्यास करता है। उसके बाद जब मनका प्रतिलोम परिणाम प्रारम्भ होता है तो एक धक्का मनको भीतर जानेके लिए लगाकर कर्ता स्वयं उसी मनकी गाड़ीपर बैठ जाता है और अन्तमें जैसे मनका निरोध होता है वैसे कर्ताका भी निरोध हो जाता है। जैसे बाहर मन जाता है, वैसे भीतर जानेकी धारा पैदा करनेके लिए कर्ताकी जरूरत है और अन्तर्मुख धारा प्रवाहित करनेके बाद कर्ताकी जरूरत नहीं है; अपने आप ही अभ्यास अन्तरंगसे अन्तरंग होता जायेगा और समाधि लग जायेगी—न द्रष्टा समाधि लगायेगा न कर्ता समाधि लगायेगा। कर्ताका पूर्वकालीन जो अभ्यास है, वही परिणामको, परिपक्कताको प्राप्त होकर समाधिको लगा देता है।

तो अभ्यास और वैराग्यमें अभ्यास माने दुहराना। दुहराते-दुहराते स्वभाव बन जाये! हमें स्मरण है, बचपनमें हमने कुछ श्लोक याद किये, तो एक आध अशुद्ध याद हो गया। अब हम व्याकरणसे जानते हैं कि अशुद्ध है, उसका सच्चा पाठ, मूलपाठ जानते हैं कि यह अशुद्ध है, लेकिन जब बोलने लगते हैं तो वही अशुद्ध बोल जाते हैं। तो कर्तृत्वपूर्वक अशुद्ध नहीं बोलते हैं, वह तो वैसा प्रवाह ही बन गया है।

तो अभ्यासका मतलब है जीवनमें एक ऐसी सहज स्वाभाविक नवीन धारा उत्पन्न कर ली जाये जो हमारी पुरानी बिगड़ी हुई आदतोंको सुधार करके हमारी इन्द्रियोंको, मनको अन्तर्मुख कर दे यह सँवारना है, यह शृङ्गार है। यदि कोई कहे कि मनको सँवारनेकी, शृङ्गार करनेकी जरूरत नहीं है, तो वह आदमी तो यह कहता है, कि शरीरमें साबुन लगानेकी जरूरत नहीं है, बाल बनानेकी जरूरत नहीं है, नाखून काटनेकी जरूरत नहीं है। परन्तु जैसे शरीरको सँवारनेके लिए नाखून काटनेकी जरूरत है, साबुन लगानेकी जरूरत है, इसी प्रकार मनको भी सँवारनेके लिए शुद्ध अभ्यासकी, अच्छाइयोंकी आदत डालना आवश्यक है। यही जब कर्तृत्व-पूर्वक आदत हो जाती है, तब इनको आदत कहने लगते हैं कि भई! यह हमारी आदत है।

अब जरा वैराग्यकी बात आपको सुनाते हैं। असलमें विवेकका नाम ही वैराग्य है। भगवान् व्यासने 'पातंजल योगदर्शन'के व्यासभाष्यमें वैराग्यका

हेतु बताया है *प्रसंख्यान*। प्रसंख्यान माने गिनती कर लो कि इसमें कितना गुण है और कितना दोष है। किसी एक विषयके दो पहलू देखो— इसके सेवन करनेमें ये-ये गुण हैं और ये-ये दोष हैं। फिर विवेक करके उनकी तुलना कर लो। संसारसे वैराग्य करना—वैराग्य विषय है; करना कि नहीं करना—यह संशय है; नहीं करना चाहिए—यह पूर्वपक्ष है; करना चाहिए—यह उत्तरपक्ष है; और करना ही चाहिए—यह इसका निर्णय है। शास्त्रकी भाषामें इसका नाम अधिकरण है। विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त।

तो आओ अब वैराग्य विषय पर विचार करें। **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्।** ***इन्द्रियैः अर्थयन्त इति इन्द्रियार्थाः विषयाः तेषु वैराग्यम्।*** इन्द्रियोंके जो विषय हैं, माने हम अपनी इन्द्रियोंसे जो सुनते हैं, छूते हैं, देखते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं, उनमें वैराग्य होना। तो वैराग्य जबरदस्ती नहीं होना चाहिए। वेदान्तके जिज्ञासुके लिए काष्ठ-वैराग्य, जड़ताका वैराग्य, अपेक्षित नहीं है। एक सज्जनने नियम लिया कि हमसे कोई स्त्री छू जायेगी तो हम दिनभर व्रत लेंगे। अब बहुत दिनोंके बाद उनकी माँ देखने आयी और कहा-अरे बेटा! महात्माजीने कहा कि हमारा तो नियम है कि कोई स्त्री छू जाये, तो हम दिनभर व्रत रहेंगे। तो उन्होंने माँके छूनेपर भी व्रत किया। इसीका नाम काष्ठ वैराग्य होगा। यह विवेक नहीं है। यह जड़ता है। वैराग्यके मूलमें प्रसंख्यान है, विवेक है। गुण और दोषका अलग-अलग पृथक्-पृथक् विमर्श करके, उनकी तुलना करके तब करना।

अच्छा, वैराग्य माने घृणा भी नहीं है। द्वेष भी नहीं है। वैराग्य माने पश्चात्ताप नहीं, वैराग्य माने ग्लानि नहीं। वैराग्य माने अदर्शन भी नहीं कि उस चीजका अनुभव ही न हो। तब फिर वैराग्य माने क्या होता है? तो,

प्रसंख्यानजन्या हेयोपादेयशून्या प्रज्ञा।

व्यासजी महाराजने कहा कि विवेक करनेके बाद भी यह विषय त्याज्य है इस रूपमें अथवा यह विषय ग्राह्य है—इस रूपमें, किसी भी रूपमें भी वह विषय बुद्धिमें उपस्थित न हो। इसका नाम वैराग्यवती प्रज्ञा है। यह छोड़ना है, यह नहीं छोड़ना है—ऐसा भी बुद्धिमें नहीं आवे।

एक सज्जन गये किसी महात्माके पास कि महाराज हमको कोई सिद्धि

हो जाये, ऐसा मन्त्र बता दो। तो महात्माने मन्त्र तो बता दिया कि यह मन्त्र जपो तो तुमको सिद्धि हो जायेगी, लेकिन मन्त्र जपते समय बन्दरकी याद न आवे। अब महाराज जब वह माला लेकर बैठें तो कहीं बन्दर याद तो नहीं आ गया—यह ख्याल आवे। तो वानराकार वृत्ति उसकी बनी रहे। इस प्रकार विषयका परित्याग करनेके लिए भी वृत्ति विषयाकार ही बनी रहती है; वह वैराग्य नहीं है।

हेयोपादेय शून्य वृत्ति वैराग्य है। उसमें विषयके प्रति न ज्याज्य बुद्धि होवे, न ग्राह्य बुद्धि होवे और भले वह विवेकजन्य होवे कि अमुक विषय ग्राह्य है कि त्याज्य है कि उपेक्षणीय है। अरे रहे तो रहे, न रहे तो नहीं रहे, ऐसी उपेक्षा उस वस्तुके प्रति हो जाये कि उसका कोई मूल्यांकन न रहे, इसका नाम वैराग्य।

अब वैराग्यका विवेक करते हैं। एक अपर वैराग्य और दूसरा पर वैराग्य। अपर वैराग्यको योगदर्शनने वशीकार संज्ञा प्रदान की है—इसकी भी यतमान, व्यतिरेकी, एकेन्द्रिय और वशीकार—ये चार अवस्थाएँ होती हैं। पर वैराग्य पुरुष ख्यातिसे उत्पन्न गुणमात्रके प्रति ही वितृष्णा हो जाना है। अब इनको क्रमसे लेते हैं।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णास्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। (योगदर्शन १.१५)

दृष्ट और सुने हुए विषयोंमें वितृष्णाका नाम वशीकार वैराग्य है।

दृष्ट विषय कौनसे हैं? 'स्त्रियः अन्नपानम् ऐश्वर्यम्' स्त्री-पुरुषका परस्पर आकर्षण, अन्नपान-खाने पीनेकी लालच और ऐश्वर्य—ये ही दृष्ट विषय हैं। हम दुनियाके मालिक बन जायें, हमारी मुट्ठीमें सब रहें, यह ऐश्वर्यकी इच्छा, संभोगकी इच्छा और अन्नपानकी इच्छाएँ, ये दृष्ट विषय हैं। दुनियामें ये प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं। और, मरनेपर स्वर्ग मिलता है, देहरहित अवस्था हो जाती है, प्रकृतिकालय हो जाता है, प्रकृतिपर आधिपत्य प्राप्त हो जाता है—ये सब आनुश्रविक—वेदसे ज्ञात विषय हैं। इन सभी दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें वितृष्णा होना वशीकार वैराग्य है। देखो, यह नहीं कहते हैं कि इन विषयोंसे द्वेष होना या इन विषयोंको देखना ही नहीं। कोई हम पत्थर थोड़े ही हैं कि पहचानेंगे ही नहीं कि स्त्री है कि पुरुष। यह तो जिसकी आँख नहीं होगी वह नहीं पहचानेगा। अदर्शनका नाम, वैराग्य नहीं है।

अब विवेक करो, दृष्ट विषय और आनुश्रविक विषयका। विषय उसको कहते हैं जो बाँध ले—*विषिण्वन्ति इति विषयाः।* अथवा *विषीयन्ते जना एभिः इति विषयाः*—जिनके द्वारा लोग बाँध लिये जाते हैं, वे विषय हैं। कुत्तेको मांस खिलाने लगो या गुड़ खिलाने लगो तो बिना रस्सीके ही वह तुम्हारे घरमें बँध जायेगा। इसी प्रकार मनका यह स्वभाव है कि जहाँ इसको थोड़ा मजा आता है वहीं बँध जाता है। असलमें, विचार करके देखो तो तुम्हारा मन बिलकुल शीशेकी तरह तुम्हारेमें रहता है; वह न किसी विषयमें जाता है और न तो कोई विषय बाहरसे आकर उसमें घुसता है; उसका स्वभाव है विषयको प्रकाशित करना। ये विषय हैं—केवल यह मालूम कराना ही मनका स्वभाव है। मालूम करानेके सिवाय मनका और कोई स्वभाव नहीं; मन सत्त्वात्मक है। यह जब रजोगुण और तमोगुणसे विद्ध होता है। तब यह वासनायुक्त, मलयुक्त अशुद्ध होता है।

मनमें गन्दगीका आना स्वाभाविक है कि आगन्तुक है? विकारका प्रश्न नहीं करते हैं। इसके हमने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ सुने हैं। हमारे पास इस बातका संग्रह है कि मनका स्वरूप जैनमतमें क्या है, बौद्धमतमें क्या है, विशिष्टाद्वैत मतमें क्या है, योग मतमें क्या है, पूर्वमीमांसामें क्या है। भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें मनका स्वरूप कैसा माना हुआ है, इसका संग्रह किया हुआ है। तो एक प्रश्न आपके सामने रखा कि मनमें विषयवासनाका होना स्वाभाविक है कि आगन्तुक है? तो मन तामस अहंकारका कार्य नहीं है, यह बात आप ध्यानमें रखना। यह मिट्टी, पानी आगकी तरह कोई जड़ वस्तु नहीं है; और यह राजस अहंकारका भी कार्य नहीं है; वैकारिक अहंकारसे पंचभूतोंकी सात्त्विक तन्मात्राके अंशसे मनका निर्माण होता है। तो सात्त्विक, तन्मात्रासे और वैकारिक अहंकारसे बने होनेके कारण मनमें गन्दगी, वासना स्वाभाविक नहीं होती, आगन्तुक ही हो सकती है।

यह आगन्तुक वासनाका आखिर आधान कैसे होता है? यह सोचना ठीक नहीं है कि मनका स्वभाव ही है, वासनासे युक्त होना। यह रजोगुण और तमोगुणसे अनुबिद्ध होनेके कारण इसमें वासना और मलका आधान होता है। वेदान्तकी भाषामें बोलें तो रजोगुण तमोगुणसे अनुबिद्ध नहीं बोलेंगे बल्कि पापबिद्ध-असुरबिद्ध बोलेंगे। जब असुरोंने आकरके मनको आबिद्ध

कर दिया, जब पाप माने आकर उसको आविद्ध किया, तब उसमें दुर्वासनाका प्रवेश हुआ। जैसे हमारी आँख रूपको मात्र दिखाती भर है, रूपपर कन्ट्रोल (नियंत्रण) नहीं करती, उसीप्रकार हमारा मन भी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धको मात्र दिखानेके लिए है, उनपर नियन्त्रण या कन्ट्रोल करनेके लिए नहीं है कि अमुक विषय देश-कालमें बना ही रहे।

अब देखो वासना कैसे आती है मनमें? ***सुखानुशायी रागः*** और ***दुःखानुशयी द्वेषः***। कभी मनमें सुखका स्फुरण हो गया तो कभी दुःखका। ऐसा क्यों? तो यह भी एक रोग ही होता है। इनके कई निमित्त बनाये जा सकते हैं। संयोग कहो, पूर्व संस्कार कहो, आदत कहो! किसीको देखके दुःख हो जाता है और किसीको देखके सुख हो जाता है। अपने मित्रको देखके ही कभी सुख होता है कभी दुःख होता है और अपने शत्रुको देखके ही कभी सुख होता है कभी दुःख होता है यह नहीं समझना कि हमारा एक शत्रु यदि हमपर आक्रमण करने जा रहा हो और दूसरा शत्रु उसके ऊपर आक्रमण कर दे तो सुख हो जायेगा। यह इसकी बहुत अद्‌भुत लीला है।

तो, पहले हुए सुखोंके कारणोंकी याद करके उन निमित्तोंके प्रति मनका जो बंधन है उसको राग कहते हैं, इसी प्रकार पिछले हुए दुःखोंका स्मरण करके दुःखके निमित्तोंके प्रति परहेज करनेका, उनको जला देनेका, भस्म कर देनेका जो ख्याल है उसको द्वेष बोलते हैं। ये राग और द्वेष विषयके सम्बन्धकी अपेक्षासे होते हैं; मनका काम तो केवल विषयको दिखाना मात्र ही होता है। अनुकूल वेदन होनेपर सुख होता है और प्रतिकूल वेदन होनेपर दुःख होता है। परन्तु यह आनुकूल्य और प्रातिकूल्य मनका स्वाभाविक नहीं, आभ्यासिक धर्म है।

अतः वैराग्य माने त्याग नहीं है। शारीरिक क्रियाका नाम वैराग्य नहीं है; नहीं छूना—इसका नाम वैराग्य नहीं, वह तो त्याग है। और न देखना-इसका नाम वैराग्य नहीं है। घृणा करना—इसका नाम वैराग्य नहीं है, द्वेष करना—इसका नाम वैराग्य नहीं है, अचिन्तन हो जाना इसका नाम वैराग्य नहीं है। वैराग्य माने प्रसंख्यानसे जनित माने विवेकसे जनित हेयोपादेय शून्य (राग-द्वेषरहित) चित्तकी स्थिति।

व्यास-भाष्यके टीकाकार इस वैराग्यकी चार प्रकारकी वृत्ति मानते हैं:— यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।

(१) **यतमान**—अपने मनमें जो राग-द्वेष बैठा हुआ है, उसमें रागके कारण भी ईश्वर चिन्तन छूट जाता है और द्वेषके कारण भी जिससे राग है उसकी याद आती है और जिससे द्वेष है उसकी भी याद आती है। तो ये राग-द्वेष, दोनों शान्तिको भंग करते हैं—न हमारे हृदयमें शान्ति रहने दें, न समाधि लगने दें, न निरोध होने दें, न ईश्वरका चिन्तन करने दें और न तो द्रष्टाको अपने स्वरूपमें अवस्थित होने दें। वह बारम्बार वृत्ति सारुप्य करा देते हैं। इसलिए इन राग-द्वेषका परित्याग कर देना चाहिए। मनमें जो यह संकल्प है ना कि हम संसारके विषयोंसे राग-द्वेष नहीं करेंगे—

मैं तो गिरिधर हाथ बिकानी, होनी होय सो होउ रे।

चित्तमें शान्ति धारण कर लेना कि अब हम राग-द्वेष किसीसे नहीं करेंगे, इस तरहका संकल्प जब मनमें आता है तब उसको यतमान वैराग्य कहते हैं। ***यतते इति यतमानः।*** जिसमें वैराग्यका प्रयत्न प्रारम्भ हो गया कि अब हम किसी भी ऐसे विषयसे या व्यक्तिसे या स्थानसे या परिस्थितिसे राग-द्वेष नहीं करेंगे जिससे हमारे चित्तकी शान्ति भंग हो जाये, वह चित्तकी यतमान-वैराग्यकी अवस्था है।

(२) **व्यतिरेक**—उसके बाद फिर यह विवेक होता है कि कितना वैराग्य किन-किन विषयोंमें हो गया और कितना अभी बाकी है। तो व्यतिरेक करते हैं, अलगाव करते हैं, पृथक्, विवेचन करते हैं कि इन-इन विषयोंसे तो अब हमें वैराग्य हो गया, लेकिन अभी इनसे वैराग्य करना बाकी है। यह **व्यतिरेक** दशा होती है।

(३) **एकेन्द्रिय**—फिर इसके बाद मनमें विषयकी प्राप्तिकी उत्सुकता होनेपर भी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होना एकेन्द्रिय वैराग्य है। बोले भाई, अभी मनमें तो कभी-कभी दोष आ जाते हैं, लेकिन इन्द्रियाँ तो बिलकुल काबूमें हो गयीं, इसको **एकेन्द्रिय** वैराग्य बोलते हैं।

(४) **वशीकार**—इसके बाद होता है **वशीकार** वैराग्य कि मनमें भी किसी विषयकी प्राप्तिके लिए उत्सुकताका उदय न हो। यह योगीके लिए अपेक्षित है। माने जो लोग अपने मनको एकाग्र करके परमात्माका चिन्तन

करना चाहते हैं उनके लिए वशीकार है। वशीकार क्या है? कि जैसा प्राप्त होवे उसीमें स्वीकार होना। जैसी रोटी मिली भोजन कर लिया, जैसी शैय्या मिली वैसे सो गये। लोगोंका अभ्यास ऐसा होता है कि वे कामको बढ़ाते हैं।

हमारे एक मित्र थे। वे रातमें रोज दूध पीते थे। जब आदमी गरम दूध लेकर जाये तो देखके कहते कि ज्यादा गर्म है, ठंडा कर लाओ। वह बेचारा ठंडा करके ले गया तो बोले—ऐ, ज्यादा ठंडा हो गया है, फिरसे गर्म करके लाओ। अब फिर गर्म करने गया। बोले—तुम बे-शऊर हो, तुम्हें किसने कहा यह काम करनेको, फलाँने क्यों नहीं किया? अब वे दूध पीते समय रोज कोई-न-कोई दुःख बना लेते थे। दूध पिलाने वालेको तकलीफ होये सो तो होये, वे दूध पीने जैसे मजेदार कामको रोज तकलीफ बना देते थे। ऐसे जिनकी नुक्ता-चीनी करनेकी आदत होती है।

हम एक ऐसे आदमीको जानते हैं, जिसके लिए ऐसा कोई आदमी ही नहीं है, जिसकी नुक्ताचीनी वह न करता हो; उसको बिलकुल एक आदमी भी पसन्द नहीं है। काम करे तो खुद करे और दूसरेका हो तो जरूर नुक्ताचीनी निकाल दे। तो यह दुःख बनानेकी कला उसको अभ्यस्त हो गयी है।

तो ***दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य***—वितृष्णामें देखो तृष्णाकी विगतता ही इष्ट है, वैराग्य नामकी किसी नवीन वृत्तिका उदय इष्ट नहीं है। नहीं तो क्या होता, आपको बतावें? जैसे देखो, पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; फिर इनमें प्रत्येकके क्लिष्ट और अक्लिष्ट करके दो-दो भेद हैं। इन सब वृत्तियोंका निरोध किया जाता है। अच्छा, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों प्रकारके क्लेशोंको मिटाया जाता है। यदि इनमें-से वैराग्यकी भी कोई वृत्ति होती तो निरोधके लिए अथवा द्रष्टाके स्वरूपके अवस्थानके लिए वैराग्य वृत्तिका भी निरोध करना पड़ता। परन्तु राग-द्वेषका निरोध तो करना पड़ता है पर वैराग्यका निरोध नहीं करना पड़ता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वैराग्य स्वयंमें कोई वृत्ति नहीं है, नहीं तो समाधिके लिए वैराग्यका भी निरोध करना पड़ता। तो वशीकार संज्ञावाले वैराग्यका अर्थ यह हुआ कि फिर मनमें किसी भी विषयके लिए स्वभावसे ही कोई उत्सुकताका उदय नहीं होता है।

तो ये चार प्रकारके जो वैराग्य हैं—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और

वशीकार—इन चारोंको अपर वैराग्य बोलते हैं। तो बोले-भाई, तत्त्वज्ञानमें इनका क्या उपयोग है? तो बोले—तत्त्वज्ञानमें इनका उपयोग यह है कि दुनियाकी ओर मन ज्यादा न जाये और हम आत्मतत्त्वका विचार करें। फिर बोले—इन चारों प्रकारके अपर वैराग्योंके अतिरिक्त एक-पर-वैराग्य भी होता है। इनमें विषय वितृष्णाको तो बोलते हैं अपर वैराग्य। (अपर माने लघुत्तर), फिर महत्तर वैराग्य पर वैराग्य क्या है? तो योगदर्शनकार कहते हैं—

तत्परं पुरुषख्यातेः गुणवैतृष्ण्यम्। (१.१६)

पर वैराग्य यह है कि एक तो सत्त्वान्यथाख्याति हो जाये माने यह देह, इन्द्रियाँ और मन-अन्तःकरण न मैं हूँ, न मेरा है और मैं इनका द्रष्टा हूँ, ऐसा अपने स्वरूपका ठीक-ठीक विवेक हो जाये और दूसरे प्रकृति और प्राकृतसे विविक्त जो द्रष्टा है, उसकी जब ख्याति हो गयी, तब यह अन्तःकरण न मैं हूँ न मेरा है, इसमें बरतने वाले सत्त्वादि गुण न मैं हूँ और न मेरे हैं—इस प्रकार सत्त्वान्यथाख्याति हो जानेसे गुणोंके प्रति जो वितृष्णा हो जाना है, इसका नाम पर-वैराग्य है। गुण-वितृष्णा माने चाहे रजोगुण बरते चाहे सत्त्वगुण बरते, चाहे तमोगुण बरते, नींद आवे चाहे क्रिया होवे, चाहे समाधि लगे, चाहे सुषुप्ति होवे, द्रष्टा तो द्रष्टा ही है,

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ (गीता १४.२२)

तो दो वर्ग हो गया-एक दृश्य और एक द्रष्टा; और दृश्यकी किसी भी अवस्थासे, धर्मसे, किसी भी परिणामसे, किसी भी विकारसे, दृश्यके होने-न-होनेसे द्रष्टाका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी जो तत्त्वान्यथाख्याति हुई, उससे द्रष्टा अन्तःकरणसे अपने स्वरूपको अलग अनुभव करने लगा; यही द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान है। इस अवस्थानसे प्रकृतिके सभी गुणोंसे ही वैराग्य हो जाता है। सत्त्व भी प्रकृतिका गुण है, रज भी प्रकृतिका गुण है, तम भी प्रकृतिका गुण है,

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

वेदान्त बताता है कि यह जो द्रष्टा है यह अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग द्रष्टा नहीं है; इस द्रष्टासे अलग कोई पुरुष विशेष (ईश्वर) नहीं है;

और जिस दृश्यको छोड़कर तुम अलग हुए हो वह दृश्य तो तुम्हारे अद्वितीय स्वरूपमें केवल चमक है, दमक है, केवल दृष्टिमात्र है, वस्तुतः नहीं है। तो दृश्यके वस्तु तत्त्वका निषेध (माने दृश्यकी वस्तुताका निषेध), पुरुष विशेषके अन्यत्वका निषेध और द्रष्टाके अनेकत्वका निषेध-इन तीनोंका बाध हो जानेपर ब्रह्मज्ञानसे इसी द्रष्टा पुरुषको अद्वितीय ब्रह्म जाननेपर इस द्वैतका जो बाध होता है उसको वेदान्त बोलते हैं, अद्वैत वेदान्त बोलते हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्—अब वैराग्य कैसा? तो पहले वैराग्यका मनमें संकल्प होवे फिर थोड़ा वैराग्य होवे, थोड़ा कम रहे; फिर मनमें तो फुरना होवे पर इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होवे; फिर मनमें फुरना भी न होवे; फिर उस फुरना और अफुरना वाले मनसे अपना अलगाव होवे; और वह अलग किया हुआ जो आत्मा है उसको—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**—उस द्रष्टाको वेदान्तकी रीतिसे परमात्माका स्वरूप समझा जाय; यह गीतामें तत्त्वज्ञानके लिए वैराग्यका वर्णन है। इस प्रसंगमें जो वैराग्यका शास्त्रीय विवेचन है वह आपको सुनाया। अब पुराणोंमें भी वैराग्यका बहुत वर्णन है—बचपनमें चिल्ला-चिल्लाके भर्तृहरिके वैराग्य-शतकके ये श्लोक बोलते थे—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
दाने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

भोगमें रोगका भय है। कुलीनतामें पतनका भय है। धन-संग्रहमें राजा (टैक्स) का भय है। दानमें दीनताका भय है। बलमें शत्रुका भय है। रूपमें वृद्धावस्थाका भय है। शास्त्रमें वाद-विवादका भय है। गुणवान होनेमें दुष्टोंका भय है। शरीरमें मृत्युका भय है। सभी वस्तुएँ भयसे आक्रान्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है।

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित् फलं
त्यक्तं जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकवत्
तृष्णे वैरिणि पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि॥

अनेक देशोंमें, बीहड़ प्रदेशोंमें भटकता फिरा किन्तु कुछ फल नहीं

हुआ। जाति, कुलके अभिमानको त्याग करके सेवा भी की परन्तु वह भी निष्फल रही। मानहीन होके कौवेके समान दूसरेके घरोंमें डरते-डरते भोजन करना पड़ा। इतनेपर भी अरी पापिष्ठे! शत्रु तृष्णे! तू अब भी संतुष्ट नहीं हो रही है। अब वेदान्तकी दृष्टिसे वैराग्यका स्वरूप आपको सुनाते हैं। योगकी दृष्टिसे वैराग्यकी भूमिका दूसरी है और वेदान्तकी दृष्टिसे वैराग्यकी भूमिका दूसरी है। यह चित्त भूमिके अनुसार इनमें भेद होता है। सामान्य पुरुष इस बातको नहीं समझते हैं; जो विवेकी जिज्ञासु हैं उन्हींके ध्यानमें यह बात आती है।

वेदान्तका मुख्य गुर है कि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है और अद्वितीय है। इसलिए असत्में राग या द्वेष होना—सिद्धान्तकी दृष्टिसे गलत है। बन्ध्यापुत्रसे कोई मोहब्बत करे कि दुश्मनी करे, इन दोनों बातोंकी कोई कीमत नहीं होती है। सीपमें जो चाँदी दिख रही है उसका कोई त्याग करे कि उसका कोई ग्रहण करे, इसकी भी कोई कीमत नहीं है। जब सीपमें चाँदी ही नहीं है तो उसमें त्याग और ग्रहणका क्या महत्त्व है? इसीप्रकार, रस्सीमें दीखनेवाला जो साँप है, उससे कोई मोहब्बत करके गलेमें डाले कि उससे कोई द्वेष करके लाठी मारे, इन दोनोंकी कोई कीमत नहीं होती है। तो वेदान्तमें वैराग्यका अर्थ होता है कि अधिष्ठान ज्ञानसे अधिष्ठानकी दृष्टिसे मिथ्यारूपमें प्रतीयमान जो वस्तु है, उस वस्तुके प्रति उपेक्षा होना।

कल किसीने हमसे पूछा था कि 'हेयोपादेयशून्य' का क्या अर्थ है? हेयोपादेय शून्य वृत्ति जो है वह वैराग्य है। हेय माने त्याज्य; जो त्याग करने योग्य है उसको हेय कहते हैं और *उपादातुं योग्यं उपादेयं*—जो ग्रहण करने योग्य है उसको उपादेय बोलते हैं। तो यह संसार ऐसा कुछ है कि न तो यह त्याग करने योग्य है और न तो ग्रहण करने योग्य है। इसमें दुश्मनी जोड़कर कहीं भी किसीसे भिड़ने लायक नहीं है, क्योंकि वह तो जायेगा ही। और कहीं भी मोहब्बत करके उसको पकड़ने लायक नहीं है, क्योंकि वह भी तो नहीं रहेगा। तो असत् जो पदार्थ है, (असत्को पहले अनित्य बोलते हैं, बादमें असत् बोलते हैं) उसमें सुखकी कल्पना राग है और उसमें दुःखकी कल्पना द्वेष है। द्वेषका मूल है दुःखकी कल्पना, और रागका मूल है सुखकी कल्पना। अब जो वस्तु ही असत् है, उसमें क्या सुखकी कारणता और क्या

दुःखकी कारणता। इसलिए संसारको तनिक और गम्भीर दृष्टिसे विचार करनेपर वेदान्तमें जिस वैराग्यका प्रतिपादन है, वह बात समझमें आती है।

तो पहले देखो कि विषयमें दोष है। क्या? कि विषय एक तो अनित्य हैं—परिवर्तनशील हैं। जो आज जवानी है, वही कल बुढ़ापा है, जो आज चाँदकी चमक है वही कलकी छाईं हैं। जिन वस्तुओंको हम बहुत उत्तम समझके जगत्‌में चिपकते हैं वे वस्तुएँ तो टिकाऊ हैं ही नहीं।

अच्छा यह युक्ति भी विषयी लोगोंको नहीं सुहाती है। क्यों नहीं सुहाती? वे कहते हैं—बाबा, चार दिनकी जवानी है, भोग-विलास कर लो, नहीं तो फिर कहाँ मौका मिलेगा? देखो जिस युक्तिसे वैराग्यवान् लोग वैराग्य सिद्ध करते हैं कि 'चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरी रात' उसी युक्तिसे विषयी लोग विषय भोगको सिद्ध करते हैं।

तो इसमें अब दूसरी युक्ति देखो। दूसरी युक्ति यह है कि ये जो संसारके विषय हैं वे स्वयं प्रकाश नहीं हैं। माने ये खुद सुख नहीं देते हैं। जिसके मनमें वासना है उसको सुख देते हैं और जिसके मनमें वासना नहीं है, उसको सुख नहीं देते हैं। अर्थात् ये वासनाकी उपाधिसे सुख देते हैं। माने जब हमारा दिल एक खास तरहके नशेमें आता है, एक प्रकारके वासनाके आवेशसे युक्त होता है, तब तो विषयोंमें सुख मालूम पड़ता है और यदि वासनाका आवेश हमारे हृदयमें न हो तो विषयोंमें सुख मालूम नहीं पड़ता। विषय यदि सुख रूप होता तो वह बच्चेको भी सुख देता, अज्ञानीको भी सुख देता, जंगलीको भी सुख देता, विरक्तको भी सुख देता समाधिस्थको भी सुख देता। परन्तु वह तो केवल वासनावानको ही सुख देता है इसलिए विषय स्वयं सुख रूप नहीं हैं और स्वयं सुखके प्रकाशक भी नहीं हैं।

तो विषय एक तो परिवर्तनशील हैं, दूसरे, हमारी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे प्रकाशित होते हैं, तीसरे उनमें सुख हमारी वासनाकी अपेक्षासे होता है। चौथे-उनकी यदि आदत पड़ जाये तो बड़ी भारी पराधीनता जीवनमें आजाती है। तो ये विषय जीवन निर्वाहके लिए जितने अपेक्षित हैं—माने जितना पानी पीनेसे हम जिन्दा रह सकते हैं, जितना भोजन करके जिन्दा रह सकते हैं जितना कपड़ा पहनके जिन्दा रह सकते हैं, जीवित रहनेके लिए विषयोंकी जितनी आवश्यकता है—उतने तो ठीक हैं, लेकिन इनसे दुश्मनी करके

अपने दिलको बिगाड़ लेना या इनसे मोहब्बत करके अपने दिलको बिगाड़ लेना उचित नहीं है। तो वैराग्य शब्दका अर्थ यह है कि इनमें हेयबुद्धि-उपादेय बुद्धि न हो। यन्त्रसे जैसे कोई चीज दिखती है वैसे शरीर रूप यन्त्रकी उपस्थितिमें इनका भान हो रहा है। एक मशीनी खेल है यह! जैसे दूरबीन-खुर्दबीनसे कोई चीज दिखायी पड़ती है, वैसे इस शरीरकी इन्द्रियोंके छिद्रसे विषयोंकी प्रतीति होती है। अनित्य, सुखरहित विषयोंमें अपनी वासनाके वशीभूत होकर राग और द्वेष-करना और इनके प्रति पराधीन हो जाना—यह अपने स्वातन्त्र्यको खो देना है। न तो विषयोंमें आनन्द हैं, न स्वयंप्रकाशता है, न सच्चा जीवन है और न अपने बिना इनका कोई अस्तित्व है।

अब दूसरी बात देखो। हमारी इन्द्रियोंका सामर्थ्य भी सीमित है। जो मर्यादाके अन्दर रहकर इन्द्रियोंसे विषय-भोग करेगा, वह स्वस्थ भी रहेगा, उसका जीवन निर्विकारिक भी रहेगा और उसकी इन्द्रियोंमें शक्ति भी रहेगी। परन्तु जो निमर्याद उच्छृंखल, बेरोकटोक, विषयोंका भोग करेगा उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायेंगी और शक्ति हीन हो जायेंगी। इन्द्रियाँ क्षीणताकी ओर ही जाती हैं। ये तो असलमें मशीन हैं। मशीनको यदि विश्राम भी मिले और उसको चालू भी रखी जाये, तब तो ये यन्त्र ठीक-ठीक काम करते हैं, अन्यथा तो यन्त्र बिगड़ जाते हैं, उनकी शक्ति जीर्ण हो जाती है।

अब तीसरी बात देखो कि मनकी जो रुचि है, वह बदलती रहती है, सदैव एक-सी नहीं रहती। क्या हमारे मनकी रुचि विषयोंमें हमेशा एक सरीखी रहती है? अगर आप अपनेको धोखेमें नहीं डालें; तो जो लोग वर्णन करते हैं कि हमारा पचास बरससे किसी व्यक्तिसे एकरस प्रेम है, वे या तो खुद धोखेमें होते हैं, या तो दूसरेको ठगनेकी कोशिश करते हैं। जहाँ विषयमें परिवर्तन हो रहा है, इन्द्रियोंमें परिवर्तन हो रहा है, समूची सृष्टिमें परिवर्तन हो रहा है, कालमें दिन और रात, सायं और प्रातः-का वेग प्रवाहित हो रहा है, क्षण-क्षण मिट रहे हैं और नवीन-नवीन क्षण आते जा रहे हैं; उसी कालके पेटमें संसारके सभी विषय होते हैं—कुछ अन्तर्देशमें होते हैं, कुछ बहिर्देशमें होते हैं—तो हमारे मनकी रुचि हमेशा एक सरीखी भला कैसे रहेगी? बचपनमें हमारी मिठाई खानेकी रुचि थी, नमकीन खानेमें नहीं थी। लेकिन अब बीस बरससे जो मिठाई खानेका अभ्यास छूट गया तो अब हमको

नमकीन खानेमें ही रुचि होती है, मिठाई खानेमें रुचि नहीं होती है। तो यह जीभपर भी स्वादकी आदत पड़ जाती है। इसलिए रुचि हमेशा एक सरीखी रहती है, यह बात गलत है।

शरीर एक सरीखा नहीं रहता, रुचि एक सरीखी नहीं रहती, इन्द्रियाँ एक सरीखी नहीं रहती, मनकी रुचि एक सरीखी हमेशा नहीं रहती और ये जो भोक्ताराम हैं इनको यदि सोनेको न मिले, इनको यदि विश्राम न मिले, इनको यदि विषयान्तर न मिले, तो ये भोक्ता बने ही नहीं रहेंगे! आत्माको भोक्ता बिलकुल पकड़के, जोर जबरदस्तीसे बनाया गया है। हम देखते हैं कि कोई आता है तो जो उसके मनमें भरा होता है, उसीकी चर्चा करता है—परिवारकी, धनकी, अपने शरीरके सुख-दुःखकी। हम सोचते हैं कि हे राम! तुम्हारी कहाँ रुचि है इसमें? यह जो आदमी बात कर रहा है, इसके भीतर जो भरा हुआ है, उसको केवल उगलता जा रहा है लेकिन जिसको सुना रहा है, उसकी दिलचस्पीका इसे कोई ध्यान नहीं है। निन्यानवे प्रतिशत बात करनेवाले लोग केवल अपने भीतर भरी हुई चीज उगलते हैं सुननेवालेका ख्याल नहीं करते हैं। भोक्ता उसकी बातके साथ रस-भोग कहाँ करता है? भोक्तारामका तो कोई ख्याल ही नहीं करता है।

अच्छा अब देखो यह भोग क्या है? यह बात संसारी लोगोंकी समझमें नहीं आती है, यह ठीक है, लेकिन जब शुद्ध हृदयसे विचार करते हैं तब समझमें आती है। संसारमें भोग नामकी जो वस्तु है, वह केवल ज्ञान है। जैसे जीभपर खट्टा, मीठा, नमकीन कुछ भी रखते हैं तो केवल मालूम पड़ता है कि यह खट्टा है, यह मीठा है, यह नमकीन है। इस मालूम पड़नेके सिवाय भोगकी और कोई भी अवस्था देखनेमें नहीं आती है। बहुत बढ़िया कोमल वस्त्रका भोग क्या है? उसके कोमल-पनेका ज्ञान ही तो! पहना, उसका ज्ञान हुआ और थोड़ी देरके बाद उसकी बिलकुल याद नहीं रहती। दूसरे लोग खुश होते हैं कि ओहो बहुत बढ़िया कपड़ा पहने हुए हैं और हमको तो उस कपड़ेकी याद ही नहीं रहती है।

केवल ज्ञानमात्र ही भोग है—शब्दका ज्ञान, स्पर्शका ज्ञान, रूपका ज्ञान, रसका ज्ञान, गन्धका ज्ञान—ज्ञानके सिवाय भोग और कुछ होता ही नहीं है। केवल मालूम पड़ना। मालूम पड़ता है कि यह ऐसा है। तो जहाँ पहलेसे

अनुकूलताकी कल्पना होती है, वहाँ सुखाकार ज्ञान होता है और जहाँ पहलेसे प्रतिकूलताकी कल्पना रहती है वहाँ दुःखाकार ज्ञान होता है और जिसको कोई कल्पना नहीं रहती है, उसको सुखाकार दुःखाकार कुछ ज्ञान नहीं होता है। जैसे जिसने नीब्रू या इमली खायी है उसको तो नींबू या इमली देखके या याद करके भी उसकी जीभपर पानी आ जायेगा, परन्तु जिसने कभी नींबू या इमली चखा ही नहीं है, उसके सामने नीबू या इमली रखी रहने पर भी उसकी जीभपर पानी नहीं आवेगा। ऐसा भी देखा है कि जो मिठाई हिन्दुस्तानी लोग खाके बहुत खुश होते हैं, विदेशी लोग उसका एक ग्रास खाके ग्लानिसे भर जाते हैं कि इसमें कितनी शक्कर है। पंजाबी लोग रोटी खाना पसन्द करते हैं, चावल खाना नहीं; और बंगाली लोगोंको चावल पसन्द है। तो इसमें जैसा-जैसा जिसको अभ्यास हो गया है, उसको उसीमें सुख-दुःखका ज्ञान होता है। स्त्री-पुरुषके सुखसे लेकरके संसारमें जितने सुख मालूम पड़ते हैं, उस सबमें यह नियम महर्षि व्यास पातंजल योग-दर्शनके भाष्यमें बोलते हैं कि जितना जितना भोग किया जाता है, उतना-उतना राग बढ़ता है और उतना उतना भोगका कौशल बढ़ता है। *भोगमनुविवर्धन्ते रागास्तेषां कौशलाश्च।* एक बात यह भी कहते हैं कि, *नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति।*

प्राणियोंकी हिंसा किये बिना कोई भोग कर ही नहीं सकता। जब भोग करेगा तब प्राणियोंकी हिंसा कहीं न कहीं जरूर होगी ही होगी। ये वाक्य महर्षि व्यासके हैं, योगदर्शनके भाष्यमें।

ऐसी स्थितिमें जब ज्ञान मात्र ही भोग है, हमारे योगाभ्यासी लोग कहते हैं कि आँख बन्द कर लो (समाधि लगा लो) और (योगकी विभूतिके फलस्वरूप संकल्पमें ही अथवा निःसंकल्पतामें) संसारके जिस लोकमें जैसा भोग होता है, उसके भोगका वैसा ही आनन्द तुम ले सकते हो, जैसा उस लोकमें रहनेवाला व्यक्ति उस वस्तु और इन्द्रियके संयोगसे सुख लेता है। इसमें विषयकी पराधीनता बिलकुल नहीं है। सुख तो विषयमें है नहीं, तुम्हारे ज्ञानमें है। तुम्हारे छूनेका सुख विषय तो कभी लेता नहीं और न तुम्हारा हाथ ही लेता है। सुख तो जितना होता है वह सारा मनमें ही होता है। तो जब मनको ही सुखी बनाना है तो उसके लिए न विलायत जानेकी जरूरत

है और न स्वर्गमें जानेकी जरूरत है। यहीं बैठ जाओ और परमानन्द स्वरूप परमात्मासे मिलो और तुम्हें सुख ही सुख है।

धर्मात्मा लोगोंका कहना यह है कि केवल अधर्मकी क्रिया और अधर्मका भोग छोड़ दो, माने वासना बढ़ानेवाली क्रिया और वासना बढ़ानेवाले भोगोंकी ओरसे अपनेको बचा लो और एक मर्यादामें धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करो तुमको सुख हो जायेगा।

भक्त लोग कहते हैं कि अपने मनको, वासनाको भगवान्‌के साथ जोड़ दो—उन्हीका गाना सुनो, उन्हीका रूप निहारो, उन्हीकी गन्ध सूँघों, उन्हींका रस लो। जीवन निर्वाह मात्रके लिए ही संसारकी बाहरी वस्तु चाहिए, सुखके लिए बाहरी वस्तुकी जरूरत नहीं है। जब सुखके लिए बाहरी वस्तुकी जरूरत नहीं है, तो उसके लिए व्याकुल होनेकी जरूरत नहीं है, राग-द्वेष उसमें करनेकी कोई जरूरत नहीं है। तुमको सुख हो जायेगा।

योगी कहते हैं कि विषयोंकी स्फुरणा ही न हो तो अत्यन्त सुख है। अर्थात् उनके मतमें कल्पनाको मिटाकर सुख है परन्तु भक्तोंका कहना है कि दिव्य विषयकी कल्पना करके सुख है। वेदान्त दोनोंसे विलक्षण है। वह कहता है कि हमेशा कल्पनाका जीवन व्यतीत करना शक्य नहीं है और हमेशा कल्पनारहित जीवन व्यतीत करना भी शक्य नहीं है। ये दोनों अति हैं। उसका कहना यह है कि जिस अधिष्ठानमें ये कल्पनाएँ उठती हैं वह अधिष्ठान वस्तु तो सर्व है और स्वयं प्रकाश है; और वह अधिष्ठान वस्तु परमानन्द स्वरूप स्वयं अपना आत्मा 'स्व' है, और वह अद्वितीय है। इसमें कल्पना फुरफुरा जाये तो भी इसका कुछ नहीं बिगड़ता है और कल्पना फुरफुराये तो भी इसका कुछ नहीं बनता-बिगड़ता है। इसलिए कल्पना होये तो होने दो और न होवे तो मत होने दो, और तुम अपनी जगहपर बिलकुल ठीक रहो! जैसे घरमें कोई मेहमान आते हैं, तो उनके लिए खीर-पूरी बन जाने दो और वे चले गये तो रोटी-दाल-साग घरमें बनने दो। रोटी-दाल भी परमानन्द है और कभी-कभी खीर-पूरी बन गयी तो वह भी परमानन्द है; और कभी एकादशी कर ली वह भी परमानन्द है। तो जीवनकी समूची परिस्थितियोंमें स्वयं प्रकाश और नित्य विद्यमान आनन्दकी जो अनुभूति है, इसको बोलते हैं स्वरूपस्थिति और इस स्वरूपस्थितिके कारण जो अन्य रूपसे प्रतीयमान

कल्पित या अकल्पित स्थितियोंके प्रति उपेक्षा है, उसको बोलते हैं वैराग्य। **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्।** (यह वैराग्य स्वरूपस्थितिमें सहायक है इसलिए ज्ञानका साधन है, ज्ञान है; और बोधके अनन्तर यह जीवनकी सहज निर्विकारिताका द्योतक है।)

वैराग्यके सन्दर्भमें आपको पाँच बात बतायी—(१) विषय अनित्य हैं। (२) विषय आनन्द देते नहीं हैं। (३) विषय स्वाधीन नहीं हैं। (४) इन्द्रियोंमें भोगकी शाश्वत शक्ति नहीं हैं। इसलिए शक्ति क्षीण हो जाने पर दुःखी होना पड़ेगा और (५) मनमें शाश्वत रुचि नहीं है और भोक्ता भी शाश्वत नहीं है।

अपने आपसे अलग जो कुछ भी भासता है, उसके प्रति राग करना या द्वेष करना अपनेको ही संकीर्ण बना देना है। ऐसी स्थितिमें वैराग्यका अर्थ हुआ अपने स्वरूपमें स्थापनके लिए हमारा मददगार। जिज्ञासुके लिए सबसे बड़ा मददगार कौन? अपने स्वरूपमें स्थितिके लिए जो बाहरसे हमारी बुद्धिको भीतर मोड़ता है, उसका नाम है अभ्यास और अपने स्वरूपकी स्थितिसे संसारमें चाहे कल्पित स्थिति होवे चाहे अकल्पित स्थिति होवे, उसकी परवाह नहीं करना, इसका नाम हो गया वैराग्य।

अब लोकमें जिसको वैराग्य कहते हैं उसके बारेमें भी थोड़ी बात आपको सुनाते हैं। आम लोग बहुत ही स्थूल दर्शी हैं। वे तो किसीके सिरपर जटा देखलें तो उसको वैराग्यवान समझ लेंगे, या नंगा देखलें तो उसको वैराग्यवान समझ लेंगे। लेकिन भोगकी सामग्री इकट्ठा करनेके लिए भी जटा रखी जाती है, नंगा रहा जाता है और वैराग्यका बाना धारण किया जाता है— यह बात संसारी लोगोंकी दृष्टिमें कम आती है। असलमें वैराग्य दूसरेमें देखनेके लिए नहीं है। यह वैराग्य तो अपने आपमें देखनेके लिए है।

जब वैराग्यके भाव आते हैं तब मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके विचार उदय होते हैं। विचारोंकी पंक्ति चलती है। भर्तृहरिजी बोलते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

ये संसारके विषय भोग बहुत दिन पास रहें तो भी अवश्य जाने वाले हैं। कितना भी प्रयत्न करो ये स्थिर होकर रहने वाले नहीं हैं। लेकिन यदि ये अपनी स्वतन्त्रतासे चले गये तो मनको अतुलनीय सन्ताप देंगे और यदि स्वयं इनका त्याग कर दिया जाये तो यह त्याग अनन्त एकरस सुख देनेवाला हो जायेगा।

ये विषय मरनेके समय तो छूट ही जायेंगे, इसलिए अच्छा यह है कि जिन्दा रहते ही हम मनसे इनको छोड़ दें! 'व्रजन्तः स्वातन्त्र्याद्'—हमारे रिश्तेदार-नातेदार हमको छोड़ देंगे, हमारे रहते-रहते वे हमारी उपेक्षा करके चले जायेंगे, दूसरेसे प्रेम करने लगेंगे। अरे भाई बेटा जबतक बच्चा रहेगा तभी तक माँसे प्रेम करेगा, जवान होनेपर तो अपनी बहूसे ही प्रेम करेगा। और अपनी बहूसे कबतक प्रेम करेगा? जबतक बेटी-बेटा नहीं आता, धन नहीं आता, इज्जत नहीं आती; उसको तो सब बचाना पड़ता है ना भाई! तो यदि ये स्वतन्त्रतासे चले जायेंगे तो मनको बड़ा भारी परिताप देकरके जायेंगे, और यदि हम इनको छोड़ दें तो छोड़नेका सुख होता है। एकबार हमारी जेबमें-से तीन पैसे कट गये, कुल तीन ही पैसे थे। शंकरजीका दर्शन करने गये थे, काशीमें, तो मन्दिरमें किसीने तीन पैसा काट लिया। बड़ी तकलीफ हुई सोचा तो यह था कि दो पैसेमें कोई चीज लेके लौटेंगे, समझो पान लेके लौटेंगे, दियासलाई लेकर लौटेंगे। अब जब जेब ही नहीं तो तीन पैसेकी तकलीफ हो गयी।

एकबार जेबमें से पाँच आना पैसा निकल गया। गया था रामनगर। लौटनेके लिए दो पैसा देनेकी जरूरत थी, साढ़े चार आना पैसा तो हमारे पास ज्यादा ही था; उससे तो हम सन् १९२६ में भोजन भी कर लेते, दूसरा भी कोई काम कर लेते, और नावपर चढ़के लौट भी आते। लेकिन सब निकल गया तो बड़ी तकलीफ हुई। मैंने सोचा कि मल्लाहसे यह नहीं कहेंगे कि चूँकि हमारी जेबसे पैसा निकल गया इसलिए हम तुम्हारा किराया नहीं दे सकते! तो मैं घूमके, राजघाटसे कोई दस मील पैदल चलके, फिर अपने स्थानपर आया। तकलीफ हो गयी।

एकबार हमारे पास कुल सौ रुपये थे; और हमने जानबूझके एक

आदमीको अट्ठानवे रुपये दे दिये, उसको जरूरत थी। सिर्फ अपने लिए दो रुपया रख लिया, पर मनमें देनेकी बड़ी खुशी हुई।

तो जब अपने मनसे किसीको देते हैं तो बड़ी खुशी होती है और जहाँ मजबूरीसे देना पड़ता है, वहाँ बड़ी तकलीफ होती है। यदि यह दुनिया तुम्हें मजबूर होकरके छोड़नी पड़ी तो यह बड़ी तकलीफ देगी-पर यदि तुम जानबूझके छोड़ोगे तो तुम्हें छोड़नेका, त्यागका आनन्द मिलेगा। तुम त्यागानन्द, वैराग्यानन्दका उपभोग करोगे। भर्तृहरि बोलते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
प्रत्यायान्ति पुनर्गता न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

रोज सूर्योदय होता है, रोज सूर्यास्त होता है, जीवन पल-पल क्षण-क्षण, छीज रहा है, गये हुए दिन फिर लौटकर नहीं आ सकते। और यह काल दुनियाको खा रहा है। पर अपने हृदयकी पीड़ा कहें किससे? क्योंकि लोग प्रमादकी मदिरा पीकर पागल हो रहे हैं; कहीं कोई किसीकी सुननेवाला नहीं है।

वयं येभ्यो जाताः चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मरणपदवीं तेऽपि गमिताः।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः॥

जिनसे हमारा जन्म हुआ-माता, नानी, दादी—वे सब मर गये। जिनके साथ हम बड़े हुए, जिनके साथ खेले, अब उनकी याद ही आती है। दिन-दिन आयु घटती जा रही है। मृत्युके क्षण पास आते जा रहे हैं और हम अपने कर्तव्योंको लम्बा करते जा रहे हैं, अपने भोगोंको न जाने कबके लिए इकट्ठे कर रहे हैं। दूसरोंको न जाने किसके लिए सता रहे हैं। पतन आसन्न है, जैसे कोई बालूका किनारा हो, पेड़ उसपर लगा हो और तरंगकी टक्कर मार-मारकर उस किनारेको तोड़ रही हो, वह पेड़ तब गिरा, अब गिरा ऐसे यह जीवन क्षीण हो रहा है।

सारे जीवनका एक ही अंग नहीं है कि इकट्ठा ही करते जायें; छोड़नेवाला

जीवन भी तो होना चाहिए ना। जैसे इकट्ठा करनेवाला जीवन होता है वैसे त्यागवाला जीवन भी तो होना चाहिए। क्यों भाई, तुम्हारे अर्थशास्त्रमें संग्रह तो है, वितरण नहीं है क्या? यदि वितरण करनेकी विद्या तुमको नहीं आती है तो तुम्हारे सारे जीवनका परिश्रम अन्तमें व्यर्थ हो जायेगा, वह तुम्हारा इकट्ठा किया हुआ किसी काममें लगेगा नहीं।

यह तो भर्तृहरिका नमूना आपको सुनाया। बचपनमें सारा वैराग्य शतक कंठस्थ करके कभी एकान्तमें बैठ जाते तो जोर-जोरसे बोलते थे—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्ध-पद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किन्तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदम्॥

हमारे जीवनमें वह दिन कब आवेगा जब गंगाका तट होगा, हिमालय-पर्वतकी शिला होगी, और हम उसपर पद्मासन बाँधकर बैठे होंगे! और ब्रह्मध्यान करते-करते योगनिद्राकी स्थिति प्राप्त हो गयी होगी। और बूढ़े-बूढ़े अनुभवी हरिण शंकारहित होकरके आवेंगे और अपने सींगसे हमारे शरीरको खुजलावेंगे, और वह समताका आनन्द प्राप्त होगा। वह दिन हमारे जीवनमें कब आवेगा?

भर्तृहरि बोलते हैं—

भोगान भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भोगोंका भोग नहीं हुआ, भोगोंने हमको ही भोग लिया। चने तो खत्म नहीं हुए पर दाँत खत्म हो गये। गेहूँ-जौ तो खत्म नहीं हुए पर पचानेवाली अँतड़ियाँ खराब हो गयीं। हमने शक्कर नहीं खाया, शक्करने हमको खा लिया। (डायबिटिज बन गया) तप तो हुआ नहीं, हम ही तप गये। समय तो पूरा हुआ नहीं, हम ही चलनेको तैयार हो गये। तृष्णा, लालच तो समाप्त हुई नहीं, हम ही बुड्ढे हो गये।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं—संसारके गुण दोषका अनुसन्धान करके, राग द्वेषका अनुसन्धान करके और रागद्वेषमें जो दुःख हैं उनका अनुसन्धान करके अपने आपको, इस बहती हुई संसारकी धारासे पृथक् कर लेना—इसमें न

राग करना न द्वेष करना, इसको मटियामेट करनेका प्रयास भी नहीं करना। जो आदमी आकशकी नीलिमासे रागद्वेष करके उससे अपना शरीर रंगना चाहेगा सो भी मूर्ख है और जो साबुनसे धोके आकाशसे नीलिमा छुड़ाना चाहेगा वह भी मूर्ख है। यह सृष्टि तो अपने ढंगसे अपने प्रवाहमें चल रही है, इसकी सत्ता दीख रही है। इसमें तरह तरहके ज्ञान-विज्ञान आते-जाते रहते हैं। इसमें सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं। इसमें अपनी जो सच्ची प्रतिष्ठा है— स्वरूप प्रतिष्ठा, उसको प्राप्त करना है, और इसके लिए वैराग्यकी अपेक्षा है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं—वासनानुसारी कर्मके फल स्वरूप कर्म करनेके लिए या भोग करनेके लिए हमें जो करण प्राप्त होते हैं, उनको इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियाँ जिनको चाहती हैं वे इन्द्रियार्थ हैं। ***अर्थयन्ते इति अर्थाः*** जिनकी अर्थना की जाती है कि ये हमको मिलें, उनको अर्थ कहते हैं।

अर्थ शब्दका संस्कृत भाषामें एक और बड़ा सुन्दर अर्थ है—***ई अर्थी इत्यर्थः। इण् गतौ***—जो चलता रहे, चलता रहे, टिके नहीं उसका नाम है अर्थ। असलमें सम्पत्ति चलती-फिरती ही ठीक रहती है। वह रखी-रखी सड़ जाती है, तकलीफ देती है जब कोई छीन लेता है। बाजारमें बहता हुआ जो धन होता है, वही अर्थ ठीक रहता है।

तो, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सब असलमें चलते-फिरते रहते हैं, इसलिए इनको अर्थ बोलते हैं। तो आपको पहले वैराग्य शब्दका अर्थ बताया कि जो प्रसंख्यानसे उदय होवे और जिसमें हेयोपादेय शून्य वृत्ति होवे, अर्थात् जिसमें राग-द्वेष, न होवे।

वैराग्य शब्दमें जो 'राग' है ना, वह द्वेषका भी उपलक्षण है। तो घृणा नहीं हो, किसीसे ग्लानि नहीं हो, असूया नहीं हो, ईर्ष्या नहीं हो, स्पर्धा नहीं हो, द्वेष नहीं हो। अपने मनको दूसरेके आकारमें रोक रखनेवाली कोई वृत्ति न होवे। शीशेमें जो आया सो आया, गया सो गया। क्या आवे इसकी चाह न हो और क्या चला जाये इसकी भी चाह न हो। और अपना मन स्वच्छ निर्मल ज्ञानस्वरूप! इस प्रकारका वैराग्य ज्ञान है।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

संन्यासीका जीवन ऐसा होना चाहिए।

आगतं स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्।

कोई आवे तो आवे, जाये तो जाये।

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्मानं च न कुर्याद् यतिधर्मपरायणः॥

यति धर्मपरायण संन्यासी 'आइये आइये' ऐसा न बोले। और 'जाइये'— ऐसा भी नहीं बोले। 'अब यहीं रहिये'—ऐसा भी नहीं बोले। आवे सो आवे, रहे सो रहे, जाये सो जाये। वह तो शीशा है, जो होगा सो दिखेगा। तो यह जो दर्पणवत् स्वच्छ चित्त है, जिसमें किसी भी दृश्यके प्रति आसक्ति नहीं है— जो आया सो दिखा, जो गया सो दिखा और दर्पणने न किसीसे आसक्ति की और न किसीसे द्वेष किया—ऐसा चित्त तो ज्ञान ही है।

हमारे दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे जिसको लोग भोग बोलते हैं, वह ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है। गन्धका ज्ञान ही गन्धका भोग है, उसमें भोक्तापनका अभिमान अज्ञानजनित है। गुलाबकी गन्ध है, कमलकी, चमेलीकी, बेलाकी गन्ध है, वह गन्धकी पहचान न हो सो बात नहीं, परन्तु गन्धका ज्ञानमात्र ही तो भोग है! अब उसमें 'हमने भोगा'—इस बातको लेकर अभिमान क्या करना? और नहीं मिला, तो इसके लिए पछताना क्या? श्री शंकराचार्य बोलते हैं—

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम्।

भोक्तापन माने उपलब्धापन।

तो सहजस्वभावसे भाई वैराग्य ही है और कृत्रिम ढंगसे राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष जीवनकी कृत्रिमताका सूचक है।

अब अनहंकारकी बात सुनो।

(११) **अनहंकार एव च**—पहले 'अमानित्व' और अनहंकार इन दोनोंको अलग-अलग समझो।

अमानित्वं—मानित्व न होना—एक ज्ञान है और अहंकार न होना— यह दूसरा ज्ञान है। तो देखो, मान अन्य धर्म है कैसे? कि देशका मान है, यह साढ़े तीन हाथ (का शरीर); कालका मान है सौ पचास बरस (की उम्र); वस्तुका मान है डेढ़ दो मन (वजनवाला)। तो देश, काल, वस्तुका जो मान है, परिमाण है, उस परिमाणको अपनेमें धारण कर लेना, अन्यके धर्मको अपनेमें आरोपित कर लेना, यह मान हुआ। तुम देश परिच्छिन्न नहीं, काल-

परिच्छिन्न नहीं, वस्तु-परिच्छिन्न नहीं, लेकिन दृश्य धर्मको तुमने द्रष्टामें आरोपित कर लिया—यह मानित्व हो गया। तो जब इस मानित्वका निषेध करोगे तो अमानित्व होगा, और वह अमानित्व ज्ञान है।

अब अनहंकार क्या है? पहले अहंकारको समझो। आत्म धर्मको अनात्मामें स्थापित कर देना—इसका नाम अहंकार है। अनहंको अहं कर लेना अहंकार है। और अहंकारका निषेध अनहंकार है।

अनात्म धर्मको आत्मामें स्थापित करना मान है और आत्मधर्मको अनात्मामें स्थापित करना अहंकार है। ये अध्यासके दो पहलू हैं।

हमारे दादा कितने धर्मात्मा थे, हमारी जाति कितनी ऊँची है, हमने कितने बड़े-बड़े कर्म किये हैं। यह सब अहंकार है। पार्टीके कामको जैसे एक आदमी अपने ऊपर ले ले तो कहता है कि मैंने यह सब किया! यह अहंकार है। अब जब पार्टी टूटने लगी तो खुदके ही प्राण छूटने लगे। पहले पार्टीके बड़प्पनको अपने ऊपर लिया और फिर अपने आपको पार्टीके साथ ऐसा मिला दिया कि उसका शोक, उसका दु:ख अपना हो गया। यह बात देशके साथ भी होती है, जातिके साथ भी होती है, सम्प्रदायके साथ भी होती है, धनके साथ भी होती है। नहीं; आत्मा असंग है। पार्टी बनी उसने बढ़िया काम किया, बहुत अच्छा! और पार्टी बिगड़ी और वह गलत काम करती है तो अपनेको अलग कर लेना चाहिए, उसके साथ मिलना नहीं चाहिए।

जैसे यह शरीर है, जब स्वस्थ है तो यह श्रवण-मनन-निदिध्यासन करता है; और जब यह जरा जीर्ण हो गया, तो कह दो—अरे भाई जा! इसके साथ मरनेके लिए मत राजी हो; जैसे मकान जब टूटने लगता है तो उसको छोड़कर अलग हो जाते हैं, वैसे यह शरीर मकानकी तरह है, जब यह टूटने लगे तो इसको छोड़कर अलग हो जाओ।

तो, दृश्यमें अपने आपको डाल देना, अहंकार है। देखो मैं जानता हूँ, तो शरीर थोड़े ही जानता है, वह तो जड़ है, परन्तु अपने चैतन्यका आरोप शरीरमें करके, यह शरीर मैं हूँ—ऐसे बोलते हैं और शरीरकी लम्बाई चौड़ाईको 'मैं'-में जोड़कर मैं इतना लम्बा हूँ, मैं इतना चौड़ा हूँ, मैं इतना स्वस्थ हूँ''—ऐसा जोड़ते हैं। तो असलमें कहीं भी अहंकारको नहीं लेना है। हंकार, हिंकार, हुंकार—कुछ भी नहीं लेना है। उपनिषदोंमें एक 'हिंकार'

आता है; और किसीको डाँटना फटकारना हो तो हुंकार बोलते हैं; और किसी को हें-हें ज्यादा करते हैं तो हेंकार हो जाता है। तो हुंकार हिंकार हंकार—ये सब अहंकार हैं। संसारमें कुछ भी अहंकार नहीं करना है।

कई अहंकार स्थूल पदार्थको लेकर होता है—जैसे हमारे पास इतनी जमीन है। तो जमीन तो रहेगी, और सम्भव है तुम भी रहोगे, लेकिन तुम दोनोंका सम्बन्ध रहेगा कि नहीं रहेगा यह तो पक्का नहीं है ना! यह जमीन मेरी है और इस जमीनवाला मैं हूँ। यह जो मानसिक सम्बन्ध विशेष है,वह अज्ञानजन्य है। इसी अज्ञानजन्य सम्बन्धको अहंकार बोलते हैं। यह केवल जमीनकी बात नहीं है रुपयेकी भी है। रुपया रह भी सकता है, जा भी सकता है। रुपये रहने और जानेके बारेमें किसी भी प्रकारकी पक्की बात नहीं की जा सकती , पर उसके साथ जो सम्बन्ध है कि मैं रुपयेवाला और रुपया मेरा—इसका नाम हुआ अहंकार।

जो चीज अहं नहीं थी और मदीय (मेरी) नहीं थी,आत्मीय नहीं थी, उसके साथ आत्मा और आत्मीयका सम्बन्ध जोड़ा तो अहंकार हो गया। जो चीज तुमसे छूट सकती है, अलग हो सकती है उसके कारण अपनेमें बड़प्पनका आरोप गर्व है, दर्प है। एक आदमी था; जब वह शीशेके सामने खड़ा होता, तो अपनी नुकीली मूँछोंको ऐंठता था; और उसको ऐसा अहसास होता कि हमारे सरीखा बहादुर और कोई नहीं है। अब देखो वे मूँछे जिसको कैंचीका एक धक्का ही चौपट कर दे, उसमें-से बहादुरी भला कहाँसे निकल आयी? यह हम हँसीके लिए नहीं, सिद्धान्त समझानेके लिए आपको कहते हैं।

मैंने सुना है कि एक आदमीके घरमें तिजोरीकी तिजोरी नोटोंके बंडलोंसे भरी हुई थी—ब्लैकके लाखोंके नोट उन्होंने तिजोरियोंमें जमा करके रखे थे। अब जिस दिन उनको पता लगा कि आज "रेड" आनेवाली है उस दिन उन्होंने क्या किया, आपको बतावें? आप खुद ही समझ लें, क्या गति हुई उन नोटोंकी? उन नोटोंके कारण तो उनमें बड़ा अहंकार था।

हरिद्वारमें एक जगह पूड़ियाँ बन रही थीं। दो-तीन हजार आदमी खानेवाले थे। उन दिनों भोज-नियन्त्रण कानून बना था। जिसके अनुसार ५०-६० आदमी ही भोजमें शामिल हो सकते थे। सो बाहर आकर पुलिस

बैठ गयी। अब महाराज वह २-३ हजार आदमियोंके लिए बनी सब पूरियाँ गंगाजीमें बहा दी गयीं। पुलिसने जाँच की तो वहाँ दस आदमियोंके खाने भरकी पूरी थी। तब जाके जान बची!

तो, ये संसारमें जितनी भी वस्तुएँ हैं, ऐसे ही गंगाजीमें बहानेकी ही हैं। इनके कारण जो थोड़ी देरके लिए मान बैठते हैं कि हम बहुत बढ़िया आदमी, उसको बोलते हैं अहंकार। वह झूठा है। असलमें अनात्मधर्मका आत्मामें और आत्म-धर्मका अनात्मामें अध्यास करनेके कारण जो मैं-की परिच्छिन्नता है या मैं की विशेषता है—ये दोनों ही अहंकार-पदवाच्य होती है। रुपये पैसेकी विशेषता, जाँत-पाँतकी विशेषता, सम्प्रदायकी विशेषता, अपने कर्मकी विशेषता, अपने भोगकी विशेषता, अपनी पत्नी सुन्दर होनेकी विशेषता, अपना बच्चा सुन्दर होनेकी विशेषता अपना मकान सुन्दर होनेकी विशेषता—ऐसी छब्बीस प्रकारकी विशेषताएँ मनमें होती हैं। इन सब बहनेवाली चीजोंमें अहं जोड़ करके, अहंकार होता है। यह 'अहं' स्वभावमें नहीं है, 'कार' पर चढ़ा हुआ है, माने दूसरेपर आरूढ़ है। 'अनहं अहंकार:'-जो अहं नहीं है उसको अहं कर लेना; अहंकार माने किया हुआ अहं—कृत्रिम अहं। 'अहं क्रियते इति अहंकार:'।

यह दर्पणको दर्पण क्यों बोलते हैं—क्या आप जानते हैं? दृप्यते अनेन, जिससे आदमीके अन्दर दर्प हो कि हम बड़े सुन्दर हैं, उसको कहते हैं दर्पण। कोई भी हो, शीशा लिया सामने, तो अगर मुँह टेढ़ा होगा, तो कहेगा कि आँख हमारी बहुत अच्छी है; और आँख अच्छी न हो तो कहेगा हमारी भौंह कितनी अच्छी है। और भौंह भी अच्छी न हो तो कहेगा हमारे कपोल कितने अच्छे हैं; और वह भी अच्छा न हो तो कहेगा हमारे बाल कितने सुन्दर हैं; वह भी अच्छा न हो तो कहेगा हमने टीका कितना बढ़िया लगाया है। शीशा जब हाथमें लेगा तो अपनी कोई न कोई चीज अच्छी जरूर बतावेगा। इसीका नाम अहंकार है।

तो स्थूल वस्तुके आलम्बनसे अहंकार, सूक्ष्म वस्तुके आलम्बनसे अहंकार, सुखके आलम्बनसे अहंकार और इसके अतिरिक्त एक और अस्मिताका-आविद्यक अहंकार—ऐसे चार वर्ग अहंकारके होते हैं। सोना-चाँदी-हीरा-मोती-बेटी-बेटा-मकान-शरीर-अधिकार (कुर्सी) आदि स्थूल

चीजोंको लेकर जो अहं है वह स्थूलालम्बन अहं है। बाहरकी स्थूल वस्तुओंको लेकरके जो अपनेमें बड़प्पन आता है वह बह जानेवाला है। तो फिर सूक्ष्म वस्तुओंको लेकर अहंकार आता है कि देखो हमारे विचार कितने अच्छे हैं, हमारे संकल्प कितने अच्छे हैं, हम जो सोचते हैं वही हो जाता है। अरे भाई, वाह-वाह-वाह! हमारा मन तो देखो बिलकुल सिद्ध है। लेकिन लोगोंको संकल्प सिद्धिका झूठे ही भ्रम होता है। संकल्प सिद्धिका भी एक गणित होता है—जिसके चित्तमें जितने कम संकल्प होते हैं उसके संकल्प उतने ही सिद्ध होते हैं। जिसके मनमें संकल्प बहुत होते हैं वे हल्के पड़ जाते है और जब संकल्पोंको कम करते-करते थोड़ेसे संकल्प रह जाते हैं, तो वे सिद्ध हो जाते हैं। उसमें अभिमान नहीं करना चाहिए कि तुम्हारी शक्तिसे वह तुम्हारा संकल्प सिद्ध हो गया। प्रकृतिमें तो एक घटना घटित हो रही थी, तुमने अपने आप ही 'काकतालीय न्याय' से अपना सम्बन्ध उसके साथ जोड़ लिया।

काकतालीय न्याय ऐसा होता है कि एक ताड़के पेड़पर कौआ बैठा था। जब वह पंख फड़फड़ाके उड़ा, तो उसी समय एक तालका फल भी गिर गया। इसपर कौएने कहा कि देखो हमारे पंखमें कितना जोर है कि इसके धक्केसे टूटके तालका फल गिर गया! असलमें तो वह उसके पंखके जोरसे नहीं गिरा था, वह तो संयोगवश गिरा था, लेकिन उसने अपने आपको झूठ ही उसका कर्त्ता मान लिया! इसीको काकतालीय न्याय कहते हैं।

तो यह संकल्पसिद्धि भी काकतालीय न्यायसे सिद्ध है। प्रकृतिमें घटनाएँ घटित होती रहती हैं, उनके साथ अहंको कभी नहीं जोड़ना चाहिए।

अब बोले—हम बड़े विचारवान हैं; तो ये विचार, युक्तियाँ तो आसमानमें घूमती रहती हैं। जैसे ब्राडकास्ट करनेवाले केन्द्रोंके शब्द, संगीत, ध्वनियाँ आकाशमें घूमती रहती हैं और आपका अपना रेडियो या ट्रांजिस्टर उनको ही पकड़ता भर है; इसी प्रकार संसारमें जो विचार हैं ना—शङ्कराचार्यके विचार, रामानुजाचार्यके विचार, उपनिषद्के विचार, वेदपुराण शास्त्रके विचार, विज्ञानके विचार—ये आकाशमें प्रवाहित होते रहते हैं, और व्यक्तिकी बुद्धिकी सुई जब जहाँ लग जाती है उन्हीं विचारोंको पकड़ने लगती है। तो उन बहते हुए विचारोंको मैं-मेरा नहीं समझना क्योंकि आज दूसरे ढंगके विचार आते हैं, कल दूसरे ढंगके विचार आवेंगे, परसों तीसरे ढंगके विचार आवेंगे:

तुम्हारे दिमागकी सुई हमेशा एक ही स्टेशनसे विचार ग्रहण करेगी यह तो पक्का है नहीं। इस प्रकार, यह जो विचारालम्बन अभिमान है, अहंकार है कि हम बड़े विचारवान् है-यह भी गलत है। ऐसा समझो कि स्थूलालम्बन अहंकार तो अभिनिवेशकी कोटिमें है। और सूक्ष्मालम्बन अहंकार द्वेषकी कोटिमें है। इसके बाद जो आनन्दालम्बन अहंकार है वह रागकी कोटिमें आता है। रागमें रसात्मक वृत्तियोंका, मधुर वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे पानीमें तरंगें बहती हैं, ऐसे वृत्तियोंमें नन्दनवन होता है, स्वर्ग होता है, अप्सराएँ होती हैं, संगीत होता है, एक सुखका प्रस्रवन होता है। जैसे शीतल, मन्द-सुगन्ध वायु चलती है, वैसे वृत्तिकी एक स्थिति ऐसी आती है जिसमें स्थूल विचार नहीं होते हैं, जिसमें सूक्ष्म विचार भी नहीं होते हैं और युक्ति और तर्कका बोझ भी नहीं होता है और आनन्दकी एक धारा प्रवाहित होती है, इसको आनन्दालम्बन बोलते हैं। तो इसमें हमको जो ''बड़ा आनन्द आया''का स्फुरण होता है यह आनन्दालम्बन अहंकार ही है। यह नहीं समझना कि हमको बड़ी भारी योगसिद्धि हो गयी; कि अब हमारे अनुसार स्थूल जगतमें कार्य होने लगा तो हम महाराजा हो गये; कि अब हमारे संकल्पके अनुसार काम होने लगे तो हम सिद्ध हो गये; कि अब हमारे मनमें बड़े उत्तम-उत्तम विचार आते हैं तो हम बड़े विचारवान् ज्ञानी हो गये। यह सब कुछ बात नहीं है, वह तो मनकी ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिनमें ये सब बातें उमड़ती हैं।

अच्छा फिर ऐसी स्थिति आती है कि जब शान्ति ही शान्ति होती है, आनन्दकी फुरना भी नहीं होती है—अस्मिता मात्र, केवल अस्मि-अस्मि, मैं हूँ, इसके सिवाय दूसरी कोई फुरना नहीं होती है, न स्थूल जगत्‌की और न विचारकी! न स्थूलालम्बन, न सूक्ष्मालम्बन, न आनन्दालम्बन! केवल अस्मि-अस्मि-अस्मि। मैं हूँ, मैं जानता हूँ—केवल ज्ञानमात्र, द्रष्टामात्र हूँ। यह भी अहंकार ही है। अभ्याससे साध्य जो अहं है, अथवा परिच्छिन्नरूपमें फुरता हुआ जो अहं है, यह अहं भी (अस्मितामूलक) अहंकार है।

इसप्रकार अहंकारकी चार कक्षा हुई—स्थूलके आलम्बनसे, सूक्ष्मके आलम्बनसे, आनन्दके आलम्बनसे और इन तीनोंके अभावके आलम्बनसे। क्योंकि अभ्यासजन्य है इसलिए निद्रा नहीं है। अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्ति तो

निद्रा होती है, परन्तु यह अभाव-प्रत्ययालम्बना होनेपर भी निद्रा नहीं है, क्योंकि अभ्यासजन्य है। और इसमें अस्मि-अस्मि, हूँ-हूँ,यह स्फुरण है। क्या हूँ-सो नहीं। कैसा हूँ-सो नहीं। क्यों हूँ-सो नहीं; केवल हूँ-हूँ मात्र अहं-अहं-अहं। लेकिन अभी इसमें "कार" आनेकी सम्भावना बनी हुई है अहंकारका बीज इसमें विद्यमान है। तो आपको शास्त्रकी भाषामें इस बातको फिरसे दुहरा देता हूँ।

संसारमें दो तरहके पदार्थ प्रतीत होते हैं—एक प्रातीतिक और एक प्राकृतिक। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज बोलते हैं कि एक संसार होता है और एक जगत् होता है। वे संसार और जगत्को अलग-अलग मानते हैं। उनके मतमें संसार मिथ्या है और जगत् सत्य है।

अद्वैत वेदान्ती संसार और जगत् दोनोंको मिथ्या मानते हैं। ज्ञान होनेपर संसार अप्रतीत हो जाता है और जगत् प्रतीत होता रहता है। भासमान अभासमान करके इसके दो भेद होते हैं। शास्त्रोंकी तो इसमें बड़ी गहरी पैठ है। ऐसा नहीं है कि आओ, एक दिनमें हम आपको ईश्वरकी प्राप्ति कराते हैं, एक मिनट-दो मिनटको चन्दन लगाओ, माला पहनाओ, प्रणाम करो, देखो हम तुम्हारे सिरपर हाथ रखते हैं, तुमको ईश्वरकी प्राप्ति होती है। जो लोग ऐसा बताते हैं कि ईश्वर हमारा ऐसा बच्चा है कि जब चाहें तब कान पकड़के मिला दें, तो खैर, वे लोग तो बड़े 'बुद्धिमान' होते हैं लेकिन इस तरहसे दूसरेके दिये हुए ईश्वरको लेनेवाले लोग बहुत भोले होते हैं, भावुक होते हैं, यह बात पक्की है।

भाई, ईश्वर तुम्हारे इसी शरीरमें तुम्हारे अनजानपनेके कारण खोया हुआ है; मिलता नहीं है; रहता हुआ भी मिलता नहीं है; दिखता हुआ भी मालूम नहीं पड़ता है; उसकी पहचान नहीं होती है। तो उसके बीचमें असलमें आ क्या गया है? कि ईश्वर और तुम्हारे बीचमें यह अहंकार नामकी जो चीज है ना, यह आके खड़ी हो गयी है। जब इसको तुम अपने सामने कर लेते हो, इसको देखने लगते हो तो ईश्वर इसीकी ओटमें छिप जाता है।

जैसे देखो एक स्त्री है, एक पुरुष है और एक सोना है, एक चाँदी है, एक मकान है-ये सब प्रकृतिके बने हुए हैं, सब प्राकृतिक हैं। लेकिन यह मेरा है—यह प्राकृतिक नहीं है। यह तो एक मनका कल्पित सम्बन्ध है। जब

अनेकके साथ कल्पित सम्बन्ध होनेकी सम्भावना होती है तो धर्म, कानून अथवा समाजके द्वारा यह कहा जाता है कि बहुतको मेरा मत समझो एकको ही मेरा समझो। वह तो कानून, धर्म, समाजके द्वारा व्यवस्था बनायी गयी। असलमें प्रकृतिसे बनी हुई जो चीज है वह किसी भी एक व्यक्तिकी न मैं है न मेरी है। यह शरीर भी मैं नहीं है, न मेरा है; और दूसरेके शरीर भी न मैं है न मेरा है। तो शरीर मैं-मेरा नहीं, स्त्री-पुरुष मैं-मेरा नहीं, बेटा-बेटी मैं-मेरा नहीं, सोना-चाँदी मैं-मेरी नहीं है, ये तो सब प्रकृतिसे बने हुए हैं. इसमें फिर दुःख किसको होता है? तो जो मैं-मेरा मानता है उसीको दुःख होता है। जिसके मनमें मैं-मेरा नहीं है उसको दुःख नहीं होता। और मैं-मेरा नहीं मानोगे तो नरक स्वर्गमें भी नहीं जाना पड़ेगा, उसकी भी छुट्टी है।

एक आदमीने हत्या करके लाश बक्सामें बन्द कर दी, और बक्सा लेकर रेलमें यात्रा की। वहाँ रेलमें लेजा के अपना बक्सा रखा और किसी यात्रीसे बोला कि भाई देखो हम दूसरे डिब्बेमें बैठते हैं, तुम ध्यान रखना। बक्सा रखा था दिल्लीमें और दो ढाई दिन बाद मद्रास आ गया, लेकिन वह फिर बक्सा देखने नहीं आया। तो जिस यात्रीको दिखा गया था, उसने समझा कि वह आदमी तो अब रह गया! मद्रासमें उससे पूछा गया कि यह बक्सा तुम्हारा है? तो बोला—हाँ, हमारा है। तुमने इसका लगेज कराया है? बोला—नहीं। तब इसका किराया दो। अब महाराज लगेजका किराया भी दिया और जुर्माना भी दिया। कुलीके सिरपर रखवाके जब आगे चले तो पुलिसने घेर लिया कि इसमें क्या है? अब उसमें निकली लाश। तब बोला कि यह बक्सा मेरा नहीं है, बोले-बाबा अबतक तो तुमने मेरा कहा, लगेज करवाया, पैसा दिया, रसीद ली, अब तुम कहते हो मेरा नहीं है। तो पकड़े गये!

जैसे मेरा कहनेके कारण वह आदमी पकड़ा गया, ऐसे ही इस संसारकी किसी भी चीजको जो मेरी कहता है और जो मैं कहता है, वही इस संसारमें पकड़ा जाता है; मैं-मेरी करनेवाला ही पकड़ा जाता है। इसमें मैं-मेरीके सिवाय कोई रस्सीका बन्धन नहीं है।

यहाँ अहंकार शब्दसे ममकार भी उपलक्षित है। देहादिको अहं नहीं करना और देहके सम्बन्धीको मम नहीं करना। तब अहं-ममसे मुक्त जो

आत्माका स्वरूप है वह क्या है ? कि वह तो स्वच्छ प्रकाश है, वह तो ज्ञान है-**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं**। इसका नाम ज्ञान है।

आपको फिरसे स्मरण करनेके लिए कहता हूँ। यहाँ सब ज्ञान ही है। संसारमें जो वस्तु है—वह ज्ञान है; इसमें जो सुख है यह भी एक ज्ञान है और इसमें जो दुःख है-यह भी ज्ञान है; यह वस्तु मेरी है - यह भी ज्ञान है और यह मैं हूँ यह भी ज्ञान है। पर कैसा ज्ञान है ? कि विपरीत ज्ञान है। ज्ञान तो है, क्योंकि होशमें ही बोलते हैं, बेहोशी तो है नहीं, पर होश कैसा है ? कि जैसे कोई पागल हो जाये, वैसा होश है; जैसे दिमाग खराब हो जाये, वैसा होश है। जो चीज अपनी नहीं है उसको अपनी बोल रहे हैं। जो मैं नहीं है उसको मैं बोल रहे हैं। ज्ञानके सिवाय कोई सुख या दुःख नामकी कोई चीज नहीं होती ? हम झूठ ही कहते हैं कि हम अपना सुख तिजोरीमें रखके आये हैं, अपना सुख स्त्रीमें रखके आये हैं, अपना सुख पुत्रमें रखके आये हैं, अपना सुख कुर्सीमें रखके आये हैं। सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। और उसी प्रकार दुःखकी भी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती; सुख कभी परोक्ष नहीं होता कि हमारा सुख अभी स्वर्गमें है कि ब्रह्मलोकमें है कि गोलोकमें है। सुख सर्वदा अपरोक्ष ज्ञानके रूपमें ही रहता है। माने ज्ञान-स्वरूप आत्माके रूपमें ही सुख रहता है। इसलिए यह मैं—मेरा करके, अहंकारमें लोग फँसे हुए हैं और मैं-मेराका जब निषेध होता है तब हम बिलकुल ज्ञानस्वरूप होकरके बैठ जाते हैं। इसलिए भगवान्‌ने कहा—**अनंहकार एव च।**

अब भगवान् श्रीकृष्ण वैराग्यकी और व्याख्या करके मूलमें ही बताते हैं। इस व्याख्या का अनहंकारके साथ भी सम्बन्ध है और वैराग्यके साथ भी वैराग्यके साथ सम्बन्ध यह है कि संसारमें जो दुःख-दोष है उसको देखो; और अनहंकारके साथ इसका यह सम्बन्ध है कि 'जन्ममृत्युजराव्याधि' के दुःख-दोषसे दुष्ट जो शरीर है, वह अहंकार करने योग्य नहीं है। लोग जो बड़ी छाती तानके चलते हैं, अपनी मांसपेशियोंको दिखाकर चलते हैं कि यह मैं और यह मेरा उनको सोचना चाहिए कि यह विनाशी शरीर भला मैं-मेरा कैसे हो सकता है!

(१२) **जन्ममृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषाऽनुदर्शनम्।**

यह शरीर जन्म लेता है—जायते। जन्ममें ही दुःख है। क्या? कि बड़ी गन्दी जगहमें और बड़ी गन्दी चीजसे इसका जन्म होता है। धर्मात्मा लोग जिस अंगके स्पर्शके बाद हाथ धोना और स्नान करना पसन्द करते हैं, उस अंगसे; और एक गन्दी चीजसे-रज-वीर्यसे, और गन्दे अंगसे—गर्भाशयसे इसका जन्म होता है। इसका उपादान ही गन्दा है। जिस मसालेसे यह शरीर उत्पन्न होता है उस मसालेमें प्रविष्ट होना ही दुःख है। इसीलिए धर्मात्मा लोग चाहते हैं कि फिर कभी ऐसे मसालेमें प्रविष्ट ना होना पड़े तो अच्छा है, फिरसे जन्म न हो तो अच्छा है। गर्भमें रहकर चेतनाका उदय हो जानेपर वहाँके जो सुख-दुःख हैं, वहाँसे निकलनेमें जो योनि-यंत्र-प्रपीडन है, वह दुःख है। मरनेमें शरीरके सारे बन्धन टूटने लगते हैं और शरीरके बन्धन नहीं भी टूटें तो मनके बन्धन तो ऐसे टूटने लगते हैं कि महाराज, हाय, हाय! हमारा घर ही रह जायेगा, छटपटाते हैं कि अब क्या करें, हमने अपना 'विल' (वसीयत) दो बरस पहले ही क्यों नहीं बना दिया! क्योंकि मरनेके साथ तुरन्तका बनाया हुआ 'विल' काम नहीं देता है।

एक साधु थे, हरिद्वारमें! श्री उड़िया बाबाजी महाराजने तो एक बार स्पष्टम्-स्पष्टम् कहा था कि हरिद्वारकी तरफ विरक्तोंको नहीं जाना चाहिए। क्यों? क्योंकि वहाँ जब हर एक साधुका महल दिखता है, कुटिया दिखती है, तो देखनेवालेके मनमें आता है कि जब इतने बड़े-बड़े, पढ़े-लिखे, विरक्त-शिरोमणि अवधूत लोग भी झोपड़ीके नामपर महल बनाते हैं तो हमारा भी एक बन जाये तो इसमें क्या हरज है!

अतः देशमें जाना ही नहीं। वहाँ नदी बहुत अच्छी है, जंगल बहुत अच्छा है, बरफके पहाड़ बहुत अच्छे हैं और उधर विरक्त महात्मा लोग भी रहते हैं, कोई उनकी निन्दामें तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य यह कि वहाँ जिसका नाम अवधूत है उसका महल सबसे बड़ा होता है। इससे वैराग्य शिथिल होता है। हमारे एक महात्मा तो ऐसे बोलते थे—'यह ब्रह्मचारीजीकी बेटी है; यह त्यागीजीका बैंक बैलेंस है; ये विरक्तजीके सम्बन्धी हैं; यह अवधूतजीका महल है।' यह बुद्धि और रहनीमें जो असंगति है, उसका दिग्दर्शक है।

तो हरिद्वारमें एक महात्मा थे। अबसे बरसों पहले लाखों रुपया लगा, समष्टि भण्डारा हुआ, मण्डलेश्वर बने; और उसी रातको कालरा (हैजा)

हुआ और मरने लगे तो छटपटायें क्योंकि कोई उत्तराधिकारी भी नहीं बनाया था, कोई चेला भी नहीं बनाया था; उसी रात खत्म हो गये। उसके बाद उनके दुश्मनोंने उनकी सम्पत्तिपर कब्जा कर लिया। हरिद्वारमें मायापुरमें अभी वह आश्रम है, विरक्त लोग उसमें रहते हैं।

तो मौतके समय शरीरका बन्धन तो टूटता ही है, गाँठ-गाँठ टूटती है, और यह जिन्दगी भरका जो जोड़ा हुआ है यह भी टूटने लगता है। यह मृत्युका दु:ख-दोष है।

और यह जरा-बुढ़ापा, इसके बारेमें तो क्या कहें! 'अरे बुढ़ापा, तोरे मारे हम तो अब नकियाय गये'—'नकियाय गये' देहाती शब्द है, जैसे यहाँ बोर हो गये यह चलता है। यह बुढ़ापा महाराज जिसमें पत्नी भी तिरस्कार करती है; जवान बेटे समझते हैं कि अब तो ये सठिया गये, इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, अब इनको कुछ सूझता नहीं है; पड़ोसी लोग सोचते हैं कि काम तो इनके बेटेसे चलेगा, इनसे प्रेम करके क्या करेंगे। जिन बेटोंको पाल-पोसके बड़ा किया था वे चाहते हैं कि यह बुड्ढा मरता ही नहीं, खूँटा नहीं छोड़ता है, यह मर जाता तो हम घरके मालिक तो बनते; हमारे हाथमें लाख-पचास हजार आता! ऐसा यह जराका दु:खदोष आता है।

शरीरमें व्याधि लगी हुई हैं, यह मिटनेका नाम ही नहीं लेती। संस्कृतके एक पण्डितने कहा कि यह शरीर एक व्याधि मन्दिर है। आपने तो सुना होगा, और वेदान्ती लोग तो बहुत बोलते हैं कि—

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः परमशिवः।

यह देह एक मन्दिर है और इसमें जो जीवात्मा है यह शिव है। अर्थात् यह शरीर शिवजीका मन्दिर है। लेकिन उस पण्डितने कहा कि नहीं-नहीं, यह शिव-मन्दिर नहीं, व्याधि मन्दिर है।

शरीरं व्याधि मन्दिरम्—यह शरीर मन्दिर तो है लेकिन इसका देवता शिव नहीं है, इसका देवता रोग है। स्वस्थसे स्वस्थ आदमीसे पूछो—क्यों भाई हाथ-पाँव ठीक हैं? बोले—'कैसे भी चले जा रहे हैं महाराज आप जानते हो, बुढ़ापा तो आ ही गया, आँखमें भी मोतियाबिन्द-सा हो रहा है, दाँत भी टूट रहे हैं।' यह सब बता देंगे, लेकिन एक ही चीज इस शरीरमें ऐसी है जिसको सब स्वस्थ मानते हैं। वह क्या कि बुद्धि! जरा पूछना

किसीसे भाई, तुम्हारी बुद्धि कैसी है तो वह सबकुछ कह देगा कि हमारा मन बिगड़ गया है, आजकल इन्द्रियाँ काबूमें नहीं हैं, हाथमें दर्द है, पाँवमें दर्द है; लेकिन बुद्धिमें दर्द है, यह बात कोई नहीं मानता है, क्योंकि उसके साथ तो मैं-करके बैठे हुए हैं ना!

तो, सबमें दुःख है—जन्ममें दुःख, मृत्युमें दुःख, जरामें दुःख, व्याधिमें दुःख; इस दुःखरूप दोषको देखना; अथवा जीवनमें जो दुःख आते हैं, उनके दोषको देखना; यह ज्ञानका साधन है—**दुःखदोषाऽनुदर्शनम्।**

अब अनहंकारके साथ इसको जोड़ें तो कैसा बढ़िया इसका अर्थ होगा—जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःख और दोष इनके 'अनु' जो बैठा हुआ है, उसको देखो। 'दोषानां अनु यस्य तस्य दर्शनम्'—यह देखो कि जो जन्ममें रहके जन्मसे परे है; मृत्युमें रहके मृत्युसे परे है, अमर है; जो जरामें रहकर निर्जर है; जो व्याधिमें रहके अरोग है; जो दुःखमें रहके अदुःख है; जो दोषमें रहके अदोष है; जो इनके साथ रहके इनके पीछे बैठा है; वह अनहंकार है। उसमें किसी भी चीजका अहंकार नहीं है—न जन्मवान् अहं, न मृत्युवान् अहं, न जरावान् अहं, न व्याधिमान अहं, न दुःखी अहं, न दोषी अहं। ऐसा जो बैठा हुआ है परमात्मा, उस परमात्माका दर्शन करो तो कहीं अहंकार नहीं होगा, और अपने सिवाय सबसे वैराग्य हो जायेगा।

इसप्रकार यह जो दूसरी अर्द्धाली है वह पहली अर्द्धाली—'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'को सिद्ध करती है और दूसरे अर्थमें 'अनहंकार एव च'—इसके अर्थको सिद्ध करती है। अपने द्रष्टा आत्मा, परमात्माको देखो।

किसीको यदि जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमें दोष दृष्टि न हो, तो उसको मुमुक्षा भी नहीं होगी। मुमुक्षा माने मोक्षकी इच्छा, छूटनेकी इच्छा। छुटकारा तो किसीसे चाहा जाता है। कोई दुःख हो तो उससे छूटना चाहते हैं। जेलखाना हो तो उससे छूटना चाहते हैं। मूर्खता हो तो उससे छूटना चाहते हैं। तो जिसको शरीरमें बारम्बार आना, बारम्बार जन्मना, बारम्बार मरना बुड्ढा होना, रोगी होना, दुःखी होना, नापसन्द नहीं है, इसमें जिसकी दोष दृष्टि नहीं है, वह मोक्षको चाहेगा कैसे? जब मोक्षको चाहें, तब बन्धनके हेतुपर विचार होवे। बन्धनका हेतु तो केवल चित्तकी आसक्ति है और चित्तकी आसक्ति अविद्यासे है, इसलिए अविद्याकी निवृत्तिके सिवाय मोक्षका कोई और उपाय नहीं है।

मैं बन्धन-योग्य हूँ—यह भी अविद्या है और ये विषय (इदम्) बाँधके रखने योग्य हैं—यह भी अविद्या है। ये दोनों अविद्याके ही कार्य हैं। दृश्यको बनाये रखना—यह अविद्या है और अपनेको दृश्यसे जोड़े रखना भी अविद्या है। मैं जुड़ने योग्य हूँ—यह भी अविद्या है। तो जिसको जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःख दोषका अनुदर्शन नहीं है, उसको वैराग्य नहीं होगा और वैराग्य नहीं होनेसे तो वह अहंकारसे ही मारा जायेगा। दुनियामें लोग अहंकारसे ही मारे जाते हैं।

इस श्लोकमें कई आचार्य एक इशारा मानते हैं—'अनहंकार एव च' है ना; तो बोले यह जो 'एव' और 'च' है—अवधारणके लिए एव और समुच्चयके लिए चकार इनपरभी ध्यान दो। व्याकरण शास्त्रमें चकारके अर्थपर बड़ा शास्त्रार्थ है कि कहाँ 'च' देना, कहाँ नहीं देना; कहाँ उसका अर्थ 'भी' होता है, कहाँ उसका अर्थ 'और' होता है; कहाँ उसका अर्थ दोनों होता है। चार अर्थ चकारसे माने हुए हैं। तो यहाँ 'एव' और 'च' दोनोंका क्या अर्थ है? ये जितने साधन यहाँ बताये जा रहे हैं, वे एक-एक अलग-अलग साधन नहीं हैं, ये बीसों मिलकरके तत्त्वज्ञानके साधन हैं। माने जो तत्त्वज्ञानका इच्छुक है, उसको बीसोंपर नजर रखके आत्मानुसन्धान करना चाहिए। यह अनहंकारता पृथक् साधन नहीं है। एक आदमी निरहंकार हो, पर वैराग्य न हो; या वैराग्य तो होवे परन्तु अदम्भित्व न हो, दम्भी हो! दम्भी तो न हो, पर मानी हो! मानी तो न हो परन्तु आचार्योपासना ही न करे। अतः 'एव' और 'च' का अभिप्राय यह है कि जिज्ञासुको ये सारे ही सद्गुण अपने जीवनमें धारण करना चाहिए और इनकी सूक्ष्मताका विवेक करके प्रत्येकके द्वारा आत्माका अनुसन्धान करना चाहिए।

इसको आप ऐसे समझें कि मैं पुस्तक तो पढ़ता हूँ आँखसे, और आँखको समझता हूँ मनसे और मनको मैं देखता हूँ, तो मैं द्रष्टा हूँ। इस तरहसे तो समझ गया; पर यदि मैं कानसे सुनता हूँ और कानका द्रष्टा हूँ-यह न समझे; मैं नाकसे सूँघता हूँ और नाकका द्रष्टा हूँ यह न समझे, तो उसकी जानकारी बिलकुल अधूरी रहेगी ना! तो एक-एक इन्द्रियके ज्ञानमें, विषय और इन्द्रियके भेदसे रहित ज्ञानमात्र मैं हूँ—ऐसा समझना इष्ट है। गन्धका ज्ञान हुआ, गन्ध विषय है; नासिकाके द्वारा ज्ञान हुआ, नासिका करण है और

मन उसमें सहकारी करण है; और मैंने मनकी सहकारितासे नाकसे गन्धको जाना था, तो जाननेवाला ज्ञाता मैं हुआ। इसीप्रकार रसका ज्ञान हुआ, रस-विषय है, जिह्वा उसके लिए इन्द्रिय है, मन सहकारी है और मैं ज्ञाता है। तो ऐसे सब इन्द्रियोंसे विचार करके चोट कहाँ पड़ेगी? कि मैं पर। जिसमें विषयका, इन्द्रियका और मनोवृत्तिका भेद नहीं; गन्धके भेदसे ज्ञान अलग-अलग नहीं हुआ, नाक और जीभके भेदसे भी ज्ञान अलग-अलग नहीं हुआ, सहकारी मनोवृत्तिके भेदसे भी ज्ञान अलग-अलग नहीं हुआ और यह जो ज्ञान अलग-अलग नहीं हुआ, यही ज्ञान देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह बात समझनी पड़ेगी। साधन अनेक हो और उससे साध्य एक जाना जाये—यह भारतीय वैदिक दर्शनकी विशेषता है। चाहे देवी हो काली, चाहे गोरी; चाहे गणेश हों नाटे, चाहे लम्बे, मुँह हाथीका हो कि बड़ा सुन्दर हो; चाहे सूर्य चमचम चमक रहे हों; चाहे विष्णु हो; चाहे शिव हों, आकृति अलग-अलग होनेपर भी धातु एक है। उपासनाकी पद्धति अलग-अलग होनेपर भी उपास्य एक है। इसी प्रकार मनोवृत्तियोंके अलग-अलग होनेपर भी, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके अलग होनेपर भी, जो आत्मदेव हैं वह एक हैं। विषयकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता, इन्द्रियकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता, मनोवृत्तिकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता, देश, काल, वस्तुकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता और सम्प्रदायकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता जातिकी, अनेकतामें ज्ञानकी एकता, दृश्यकी अनेकतामें ज्ञानकी एकता, ज्ञाताकी अनेकतामें भी ज्ञानकी एकता, इस एकताको समझानेके लक्ष्यसे ही अनेकताकी पद्धति स्वीकार की हुई है।

ज्ञानकी साधन-सम्पत्ति-३

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

अब ज्ञानके लिए एक खास हेत्वन्तर, माने एक दूसरा साधन बताते हैं—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

अर्थः—पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें अनासक्ति और अनभिष्वंग तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा समचित्त रहना (ज्ञान है और इससे जो विपरीत है वह अज्ञान है)।

(१३) अ-सक्ति—सक्ति माने सटना, किसीके साथ चिपक जाना। जैसे चिड़ियाकी पाँख गोंदमें चिपक गयी तो अब उड़ेगी कैसे, उसीप्रकार इस जीव पक्षीकी पाँख जो इसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं, वे जब विषयोंमें चिपक गयीं, तो इसकी गति रुक गयी।

तालव्य शकारसे 'शक्ति' होता है, उसका अर्थ सामर्थ्य होता है। और यह दन्त्य सकारसे 'सक्ति' शब्द है, इसका अर्थ संग होता है। सक्ति माने आसक्ति करना।

आसक्ति हृदयमें होती है। आसक्ति हाथका या पाँवका धर्म नहीं है, आसक्ति हृदयका धर्म है और हृदयमें भी इस भ्रमके सिवाय कि हम किसीके साथ सटे हुए हैं और कोई आसक्ति नहीं होती। हमने देखा है कि बीस बरसोंसे पति-पत्नीमें खूब आसक्ति चल रही थी, और एक दिन पतिकी नजर पड़ गयी कि पत्नी बदचलन है; तो वह बीस बरसकी आसक्ति क्षणभरके दुश्चरित्रताके ज्ञानसे मिट गयी और बोले कि तू घरसे चली जा। कहाँ गयी वह

बीस बरसकी आसक्ति? लोग कहते हैं कि हम आसक्ति छोड़ नहीं सकते लेकिन उनकी आसक्तिमें एक झटका बर्दाश्त करनेकी ताकत नहीं है और बेवकूफ मानते हैं अपनेको ऐसा कि हम तो आचन्द्र-दिवाकर आसक्त हैं। कहते हैं और मानते हैं कि जब तक सूर्य, चन्द्रमा रहेंगे तबतक हमारी तुम्हारी आसक्ति है, पर उसमें एक भी झटका सहनेका सामर्थ्य नहीं है। अत: महात्मा लोगोंने यह निश्चय किया है कि यह आसक्ति एक भ्रम है।

एक सज्जन बहरे थे। घरमें बड़े प्रेमसे रहते थे, भगवान्‌का भजन करते थे, उनको रोटी-पानी भी ठीक मिलती थी, लोग उनको हाथ भी जोड़ते थे, उनको बहुत सम्भालके रखते थे। एकदिन भजन करते-करते देवता उनपर प्रसन्न हो गया और उनसे पूछा कि क्या चाहिए? वे बोले कि हमारे कान नहीं हैं, हम सुनने लग जायें। देवताको बड़ी हँसी आयी। उसने कहा कि अच्छा देखो, हम तुम्हे सुननेकी शक्ति तो दे देते हैं, लेकिन घरमें किसीको बताना मत कि हम सुनने लग गये। अब पत्नी तो समझती थी ये सुनते नहीं हैं, बेटा समझता था कि ये सुनते नहीं हैं, बहू समझती थी कि वे सुनते नहीं हैं। वे लोग तो उसको बहरा समझके आपसमें बात करें। पहले दिन उन्होंने पत्नीकी बात सुनी तो सोचा कि यह बिलकुल बेवफा है, हमसे इसका प्रेम नहीं है, यह तो हमारी आलोचना कर रही है। तो उन्होंने वकीलसे मिलके अपना 'विल' बेटा-बहुके नाम बना दिया और उसमें पत्नीके लिए कुछ नहीं रखा। अब दूसरे दिन बेटा-बहुकी बात सुनी तो फिर जाके 'विल' बदला, क्योंकि जो लोग समझते थे ना कि ये नहीं सुनते हैं, वे तो दूसरे ढंगकी बात करते थे! आदमीके मनमें कुछ होता है और बातचीत करता कुछ है!

दुनियादार लोग समझते हैं कि यह आसक्ति कोई ठोस चीज होती है और उसकी अमुक कीमत होती है। सब आसक्तियोंकी एक कीमत होती है भला! किसीकी आसक्ति पाँच रुपयेमें ही टूट जाती है—उसके पाँच रुपये इधरसे उधरकर दिये जायें तो उसकी आसक्ति टूट जाती है। किसीकी सौ रुपयेमें टूटती है, किसीकी लाख रुपयेमें टूटती हैं, किसीकी गाली देनेसे टूटती है, किसीका तिरस्कार करनेसे टूटती है। किसीकी सेवा न करनेसे टूटती है। सबकी आसक्तियोंकी एक कीमत होती है, इसका मतलब है कि आसक्ति दुतरफा नहीं होती, एक-तरफा होती है।

हम आसक्ति और अभिष्वङ्गका अन्तर बताना चाहते हैं। सक्ति माने आसक्ति, और असक्ति माने अनासक्ति। यह जो तुमको भ्रम हो गया है कि हम किसीके साथ आसक्ति करते हैं, यह बिलकुल झूठी बात है। जबतक वह तुम्हारे सामने हँसता है, प्रेमसे बात करता है, मीठी-मीठी बात करता है, तुम्हारे पाँव दबाता हैं, पाँच रुपया देता है, मस्का लगाता है, तभी तक तुम्हारे मनमें आसक्ति है। यह आसक्ति बिलकुल दिखाऊ है। खुद आसक्ति करनेवालेको ही यह पता नहीं है कि एक मनमें भासनेवाली परछाईंको ही हम आसक्ति बोलते हैं और उसके भी बदलते देर नहीं लगती। भाई-भाईमें बड़ा प्रेम, एक स्त्रीका चक्कर पड़ा, दोनोंमें खटक गयी। बाप-बेटेमें बहुत प्रेम, एक स्त्रीका चक्कर पड़ा, थोड़ा पैसेका चक्कर पड़ा, आसक्ति कट गयी।

हमने बहुत सोचा इस विषयमें कि आसक्ति होती क्या है? तो यही मिला कि भ्रमकी बेटीका नाम आसक्ति है, वह भी दूसरेके बारेमें भ्रम नहीं कि वह हमसे आसक्ति करता है—यह तो कभी सोचना ही नहीं—आसक्ति अपने बारेमें ही भ्रमरूप होती है। ऐसा जो मालूम पड़ता है कि हम किसीसे आसक्त हैं, वह भ्रम है। दूसरा तो ढोंगी है उसके चक्करमें तो तुम कबतक पड़े रहोगे, यह तुम जानो।

अच्छा, आसक्ति जब मनमें बनी रहे तो आदमी ज्ञान-ध्यानकी कोई बात नहीं सोच सकता। वहाँ तो छोटी-सी बात मनमें चिपकी हुई है, एक व्यक्तिको लेकर फँसे हुए हैं, धनको लेकर फँसे हुए हैं, मकानको लेकर फँसे हुए हैं, देशको लेके फँसे है, जातिको लेके फँसे हैं, सम्प्रदायको लेके फँसे हैं; वादको लेके फँस जाते हैं, कम्युनिज्म, सेक्लुरिज्म! जो इतनी छोटी-छोटी बातोंको लेकर फँसे हुए हैं, वे अनन्तका चिन्तन कैसे करेंगे? इसलिए परिच्छिन्नमें अपने मनको मत जमाना।

आसक्ति हटानेकी शास्त्रमें बड़ी विलक्षण पद्धति है। आप केवल गन्ध तन्मात्राका चिन्तन कीजिये। अर्थात् यह सोचो कि केवल पृथिवी ही पृथिवी है-चीतेका शरीर भी और देवता का शरीर भी मिट्टीका है, पेड़ पौधा भी मिट्टीका है, पहाड़ मकान भी मिट्टीका है, यह मेरा शरीर भी मिट्टीका है। योगमें इसको 'एक तत्त्वाभ्यास' कहते हैं। किसीको स्त्री-पुरुष मत देखो, बाप बेटा मत देखो, सबको मिट्टीके खिलौने देखो। सबको एक-कालीय देखो।

पंजाबमें एक खन्ना नामकी जगह है वहाँ एक महात्मा रहते थे त्रिवेणी पुरीजी; वृद्ध थे। उनकी विशेषता यह थी कि उनके पास जाकर कोई भी बात कहो, तो वे उसका अर्थ परमात्मामें लगा देते थे। वे ईश्वरके सिवाय और किसीकी बात नहीं करते थे। किसीने कहा—'हम स्कूलमें पढ़ते हैं।' तो बोले—'अच्छा इस कुल' के हो तुम, इस कुलमें पढ़ते हो! उस कुलमें नहीं जाना। इस कुलमें रहना।

एकबार बहुत सुबह जाके मैं उनके पास बैठा, श्री उड़ियाबाबाजीके साथ वे बैठे हुए थे। मैंने इलायचीकी पुड़िया उनको दिखायी और पूछा—यह क्या है? बोले—ब्रह्म हैं। उनके पास तो जैसे फुहारेमेंसे पानी छूटता है ना, वैसे हमारे शरीरमेंसे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि जैसे आनन्दका कोई फुहारा फूट पड़ा हो, आनन्द ही आनन्द! कोई आधा घण्टेतक उनके पास सबेरे बैठा रहा। वे बोले कि मिट्टी और मिट्टीसे बनी सभी चीज अपनी आँखसे ओझलकर दो। ये सब शरीर बिना मिट्टीके कैसे होंगे? यह मकान कैसे होगा? बिना मिट्टीके यह धरती ही नहीं होगी, पेड़-पौधे-पहाड़ ये सब नहीं होंगे बोले—अब एक जल ही जल है, ऐसा ख्याल करो मनमें। मिट्टी नहीं हैं, जल है!

यह आसक्ति जितनी होती है, वह मिट्टीके बने हुए पुतलेको बीचमें रखके ही होती है। ये जो आकृतियाँ बनी हुई हैं मृत्तिकाके सम्बन्धसे, इनको अपने मनसे हटा दो, देखो तुम्हारी आसक्तिका आलम्बन ही नहीं रहेगा। जब तुम मिट्टीके शरीरमें बैठते हो, मिट्टीके खिलौने देखते हो, तब यह खिलौना इस खिलौनाके साथ रहे, ये दोनों खिलौने एक साथ कमरेमें सजाने चाहिए, ऐसी आसक्ति उदय होती है। एक तत्त्वाभ्याससे आसक्तिका लोप हो जाता है। और देखो, यदि स्त्रीमें स्त्री-सामान्यका दर्शन होवे और पुरुषमें पुंस-सामान्यका दर्शन होवे, तो स्त्री-पुरुषकी आसक्ति मिट जावेगी। यह अनैक्यकी कल्पना, अनैक्यकी भ्रान्ति ही आसक्ति उत्पन्न करती है। कहाँ फँसे हुए हो भाई? ईश्वरसे प्रेम है कि दुनियादारीसे प्रेम है?

योग दर्शनमें आया है कि इस शरीरके भीतर एक पोल है, जहाँसे पानी गुजरता है, अन्न गुजरता है—हृदयाकाश! मिट्टीसे सूक्ष्म जल होता है, जलसे सूक्ष्म अग्नि, अग्निसे सूक्ष्म वायु और वायुसे भी सूक्ष्म आकाश है, जिसमें

साँस चलती है, हवा जिसमें भरी रहती है! उस अवकाशसे भी सूक्ष्म बुद्धि-सत्त्व-समझ है, झिलमिल-झिलमिल झलकती हुई समझ है। वह हृदयाकाशमें नहीं है, हृदयाकाश उसमें भासता है। हृदयाकाशसे बुद्धि-सत्त्व सूक्ष्म है। बुद्धि-सत्त्व सात्त्विक तन्मात्रारूप है और आकाश तामस तन्मात्रारूप है। आकाश तो अन्धकार रूप है, नीलिमारूप है और उसमें ज्ञानस्वरूप जो बुद्धि सत्त्व है वह कैसा है? कि उसमें पीछेकी कोई याद न होवे और आगेकी कोई कल्पना न होवे। जरा पाँच मिनट बैठके अभ्यास करके देखो!

विशोका वा ज्योतिष्मती—(योग.१.३६) शोक रहित होकर बुद्धितत्त्वको देखो तो आसक्ति मिट जायेगी; और जबतक अपनेको यह देह मानोगे, तबतक प्रिय और अप्रियका अपघात नहीं होगा—

न वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। (छां. ८.१२.१)

श्रुति कहती है कि जबतक तुम अपनेको स्थूल शरीर मानोगे तब तक प्रिय और अप्रियका अपघात नहीं होगा, कुछ दोस्त रहेंगे, कुछ दुश्मन रहेंगे, कुछ शरीरके अनुकूल रहेगा, कुछ प्रतिकूल रहेगा। इसीलिए 'अनहंकार एव च' पहले कहनेके बाद फिर बताया असक्तिः। इस देहमेंसे अहंकार हटाओ और देहके प्यारेमें आसक्ति मत करो और देहकी प्रिय-अप्रियसे शत्रुता मत करो। देहको मैं मानोगे तो प्रिय-अप्रियके चक्करसे छूटोगे नहीं।

छांदोग्य श्रुति कहती है—***अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।*** जब तुम अपनेको अशरीर जान जाओगे कि मैं यह नाक, हाथ, पाँव, हृदयवाला नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, तो प्रिय और अप्रिय तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे। तो असक्त होनेके लिए-माने किसीके साथ हम सट न जायें, चिपक न जायें, आसक्त न हो जायें, इसके लिए—सब जगहसे गोंद धोना नहीं पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि किसीके दिलमें प्रेम न रहे, तब हम उससे आसक्ति नहीं करेंगे; या कोई हमारा पाँव न दबावे, तब हम अनासक्त हो जायेंगे; या कोई हमको रोटी न दे, तब अनासक्त हो जायेंगे; इसमें दूसरेकी जरूरत नहीं है कि वह कैसे देखता है, कैसे हँसता है, कैसे सुनता है, क्या करता है। ऐसा नहीं कि जब बेटा प्रेम नहीं करेगा तब हम उससे प्रेम छोड़ेंगे; या जब पत्नी प्रेम नहीं करेगी तब हम उससे प्रेम छोड़ेंगे। ऐसे सोचोगे तो मारे जाओगे। उनका प्रेम मिटाना उनका काम है, तुम्हारा काम नहीं है। तुम्हें

अपने दिलको धोना चाहिए—'**नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार।**' अपने हृदयमें जो यह गोंद लगी है कि जिससे मिले उसीके पीछे चल पड़े, इसीको धोना है।

हम लोग कभी कभी मजाक करते थे। वृन्दावनमें हमारे एक पण्डित जी थे, वयोवृद्ध थे, बहुत सत्संग किया हुआ था, लेकिन उनका स्वभाव बड़ा प्रेमिल था। तो जब वे पानीका लोटा हाथमें लेके जंगलमें शौचके लिए निकलते तो समझो किसी आदमीने उनके सामने जरा मुस्करा दिया और बोला कि पण्डितजी! आजकल तो आप ईदके चाँद हो रहे हैं, तो वे लौट आते, बैठ जाते और बात करने लगते। फिर चलते तो कोई दूसरेने कह दिया—पण्डितजी, आप तो अभी चल दिये! आप मुस्कुराते हैं तो बहुत आनन्द आता है। अब तो पण्डितजी फिर बैठ गये। वे निकले शौचके लिए छह बजे और लौटे दस बजे।

तो जब आदमी अपने ही स्वभावको बिगाड़ लेता है ना, जगह-जगह चिपकने लगता है, तो इस आसक्तिको मिटानेके लिए एक तत्त्वपर दृष्टि चाहिए—चाहे गन्ध तन्मात्राके सामान्यपर, चाहे रस तन्मात्राके सामान्यपर; चाहे रूप तन्मात्रा या स्पर्श तन्मात्राके सामान्य पर; अथवा केवल बुद्धितत्त्वपर अथवा केवल ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वपर। इससे आसक्ति छूटती है।

अब अनासक्तिकी एक शाखा और सुनाते हैं।

(१४) अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु—अरे भाई! संसारमें स्त्री तो है ही, पुत्र भी है, घर भी है और सब लोग उसमें रहते ही हैं, तो इनको छोड़े बिना ज्ञान न हो, ऐसी तो कोई शर्त नहीं है। स्वयं शंकराचार्य भगवान्‌ने जो ज्ञानमार्गके आचार्य हैं, अपने भाष्यमें लिखा है कि ज्ञानके अधिकारी तो सब हैं—स्त्री भी है, शूद्र भी है, क्योंकि सबका आत्मा ही ब्रह्म है। अपने आत्माको ब्रह्म जाननेमें कहीं किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

अजे साम्ये तु ये केचिद् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते॥ (मां.का. ४.९५)

इस माण्डूक्यकारिकाके भाष्यमें शङ्कराचार्य भगवान्‌ने बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् (उक्त बात) लिखी है। दूसरेके घरमें घुसना हो और दरवाजेपर लिखा हो कि 'बिना इजाजत अन्दर आना मना है' तो रुक जाओगे, पूछके जाना

पड़ेगा। आज्ञा लेके जाना पड़ेगा, परन्तु यदि अपना घर हो और उसपर लिखा हो कि बिना इजाजत अन्दर आना मना है, तो? तो यह जो ब्रह्म है, यह कोई पराया घर नहीं है, अपना ही घर है, अपना ही स्वरूप है; इसलिए अपने स्वरूपके साक्षात्कारमें सबका अधिकार है। अगर हम शीशेमें अपनेको नंगा देखें तो हमें अपने आपको नग्न देखनेका अधिकार है कि नहीं? हम अपने आपको एकान्तमें नग्न देखते ही हैं। तो अपने निरावरण स्वरूपके दर्शनमें सबका ही अधिकार है, चाहे कोई स्त्री हो, शूद्र हो। वह तो यज्ञोपवीतके साथ जो मन्त्र जुड़े हुए हैं, उनके बारेमें यह विचार है कि उन मन्त्रोंके द्वारा तत्त्वज्ञान कराया जाये कि उन मन्त्रोंके अतिरिक्त पौराणिक पद्धतिसे भाषाकी पद्धतिसे, पंचदशीसे, विचार सागरसे कराया जाये। यह विचार कर्मकाण्डमें मन्त्रोंके सम्बन्धमें है, तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें नहीं है। अर्थके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है।

तो अब ये पुत्र-दार-गृहादि तो हैं ही हैं। पुत्र उसको कहते हैं कि जो पितामें अगर कोई त्रुटि रह गयी हो, तो उसको बिलकुल पूरी कर दे। जिस प्रयोजनसे पिता चल रहा है उसको पुत्र पूरा करे। जैसे एक पीढ़ीसे अगर गंगा धरतीपर नहीं आती हैं तो दूसरी पीढ़ीका यह काम होता है कि गंगाको लानेका प्रयास करे। जैसे समझो सरकारके बाद सरकार आती है, तो एक सरकारने कोई नहर खुदवाना प्रारम्भ कर दिया, बाँध बनवाना प्रारम्भ कर दिया तो उसके बाद जो सरकार आवे उसका भी यह कर्त्तव्य होता है कि उस बाँधको पूरा करे, उस नहरको पूरा करे; उन्नतिका जो काम है, उसको पूरा करे। तो पुत्र उसको कहते हैं कि जो 'पुं' नामक नरकसे पिताकी रक्षा करे।

पुंनाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।

और 'दार' उसको कहते हैं जो भाई-भाईके बीचमें खाई डाल दे—

दीर्यन्ते भ्रातरः एभिः इति दाराः।

यह दार शब्द संस्कृतमें बहुवचन और नित्य पुल्लिंग है। भाई-भाईमें जो झगड़ा लगा दे उसे दार बोलते हैं। इतनी तेज हो कि माँसे भी बेटेको छीन ले, भाईसे भी भाईको छीन ले।

अब गृह क्या?—**गृह्णातीति गृहः** जो बाँध ले, पकड़ ले, वह है गृह। बिना रस्सीके ही बाँध ले—कहीं भी जाओ पर फिर घूमके वहीं आओ। दिन

भर घूमो, शामको सोनेके लिए फिर वहीं आ जाओ। छह महीने बाहर रहो फिर घूमके वहीं आओ। रस्सी तो लगी नहीं है पर पकड़के खींचता है। तो ऐसे ही पुत्र-दार-गृह आदिमें अभिष्वङ्ग होता है। यह ज्ञानका बाधक है। अभिष्वङ्ग क्या है? कि बीमार पड़ा बेटा और छटपटा रहा है बाप! पत्नी मायके गयी और पतिका दिल भी मायके चला गया! स्त्री-पुत्रके सुखी होनेपर सुखी, दुःखी होनेपर दुःखी! अभिष्वङ्ग माने ऐसा तादात्म्य ऐसा सम्बन्ध कि बोला अरे बाप रे, मैं तो मर गया। मर क्यों गये भाई? कि आज हमारे बेटेको ठोकर लग गयी। बेटेको ठोकर लगी और बाप मर गया। इसका नाम अभिष्वङ्ग है। एक शरीरसे जो इतना तादात्म्य है, वही तुमको परब्रह्म परमात्मासे विमुख कर रहा है। इतनी विषयासक्ति! इतनी संसारासक्ति!! जब एक अपने देहमें ही जो अभिमान है, तादात्म्य है वही इतना दुःख और फँसाव दे रहा है फिर यदि अनेक देहोंके साथ तादात्म्य हो गया, एकत्व हो गया, अभिमान हो गया, तो फिर ब्रह्मविचारका तुमको कभी मौका नहीं मिलेगा। एक-एककी ही समस्या हल करनेमें लगे रहोगे।

एक दिन एक आदमीने पूछा कि हमको अपने पूर्वजन्मकी याद क्यों नहीं आती? अरे भाई, इस जन्मके जिन लोगोंकी याद आती है, वही सिरपर बोझ डालनेके लिए काफी हैं, अब पूर्वजन्मकी दस-बीस पत्नी दिखनेमें आ जायें और पूर्वजन्मकी दस-बीस माताएँ, दस-बीस पुत्र देखनेमें आ जायें, तो किसको-किसको गोदमें लेओगे और किसके-किसके पाँव छूओगे? एकके कर्त्तव्य तो पूरे होते नहीं हैं, हज़ारके कर्तव्य कैसे पूरा करोगे? एकका ही बोध बहुत है।

एक किसान था। उसके पास खेत भी था, एक-दो एकड़ जमीन भी घरमें थी, और घरमें दस-बीस सेर अन्न भी था। जब बरसात आयी और बोनेका समय आया, तो लोगोंने सलाह दी—भैय्या, घरमें क्यों बैठा है? खेतकी बुआई कर ले, दस-बीस सेर बीज तेरे घरमें है, खेतमें डाल दे। चार महीनेमें दस-बीस मन निकल आवेगा और तेरे साल भरका भोजन हो जायेगा। उसने कहा—"घरमें दस-बीस सेर हमारी आँखके सामने दिख रहा है, अब उस बीस मनके लिए हम अपने घरका बीस सेर क्यों निकालें? हम बीस सेर ही खायेंगे।"—खाओ बीस सेर, दो महीनेमें खत्म हो जायेगा!

अगर इस बीस सेरको खेतमें डाल देता, तो सालभरका भोजन निकल आता। लेकिन उसको तो वह बीस ही सेर दिखे, वह बीस मन तो दिखे ही नहीं।

तो ये जो संसारी लोग हैं इनको टुकड़ा-टुकड़ा दिखता है, पूर्ण तो दिखता ही नहीं। और जब तक टुकड़ेपर ही नजर बनी हुई है तब तक पूर्ण नहीं मिलेगा।

अभिष्वङ्ग माने दूसरेके दुःखी होनेसे स्वयं दुःखी होना। आप देखना— नन्हें बच्चेके सामने माँको मारनेके लिए घूँसा तानो तो माँ तो मुस्कुरायेगी, लेकिन बच्चा रोने लगेगा। क्यों रोता है? वह समझता है हमारी माँको मारेंगे तो माँको जो चोट लगेगी वह हमारी चोट है। बच्चेका माँके साथ अज्ञानके कारण ऐसा तादात्म्य है कि न वह घूँसेको समझता है, न मजाकको समझता है, न माँके शरीरपर और अपने शरीरपर चोटके अलगावको समझता है। ठीक इसी प्रकार ये संसारी लोग हैं। ये रहते हैं दूसरे कलेजेमें और सोचते हैं दूसरी पसलियोंकी।

तो यह जो अनभिष्वङ्ग है, यह जो तादात्म्यका तोड़ना है, वह व्यक्तिवाद नहीं है, यह असलमें व्यक्तित्वसे छूट कर परमात्माको प्राप्त करनेका उपाय है।

आजकल बाबू लोग कहते हैं कि यह तो बड़ा भारी व्यक्तिवाद हुआ कि किसीसे आसक्ति न करें, किसीसे प्रीति न करें, किसीसे मोह न करें और खाली अपने-अपने व्यक्तित्वमें ही डूब जायें। असलमें अपने व्यक्तित्वको होम करनेके लिए दूसरे व्यक्तित्वोंसे इसको अलग किया जाता है। जब तक अन्य व्यक्तित्वोंसे इसको अलग नहीं कर लोगे, तब तक इसका पूर्ण ब्रह्ममें हवन नहीं होगा। दूसरे व्यक्तित्वोंसे पृथक् कर लेना, यह इस व्यक्तिको अव्यक्तसे एक करनेकी पद्धति है।

तो अभिष्वङ्ग नहीं करना। अभिष्वङ्ग माने तादात्म्य। किसीमें इतना डूब जाना, इतना मशगूल हो जाना, इतना गर्क हो जाना, इतना तन्मय हो जाना, इतना तादात्म्य हो जाना कि अपनी महिमा, अपने माहात्म्यका ही विस्मरण हो जाये और दूसरेके तादात्म्यमें हम तल्लीन हो जायें, इसका नाम है— **अभिष्वङ्ग**।

धातु पाठमें ष्वञ् परिष्वङ्गे धातु है, और 'अभि' होनेके कारण अलिङ्गनार्थक है। सुश्रुत संहितामें बताया—यदि मनुष्यके अन्दर बुद्धि, मेधा,

स्मृति, धृति और अनभिष्वङ्ग रहे तो मनुष्य स्वस्थ रहता है। बुद्धि माने समझदारी रहे, मेधा माने समझे हुएको धारण करनेकी शक्ति रहे—धीर्धारणावती मेधा; स्मृति उज्ज्वल रहे; धृति माने धैर्य रहे, और अनभिष्वङ्ग रहे माने अपनेको खोके दुनियामें किसीसे मिल न जायँ—अपने आपकी पृथक्ता बनी रहे। तब मनुष्य स्वस्थ रहता है। इस प्रसंगमें अनभिष्वङ्ग पदका अर्थ सुश्रुतके टीकाकारने बताया है कि—

फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयः कर्मकरणमनभिष्वङ्गः।

फलनिरपेक्ष बुद्धिसे अच्छा कर्म करना अनभिष्वङ्ग है। उद्देश्यका तो विचार कर लेना चाहिए कि किसलिए काम करते हैं, लेकिन सफलता हमारी मुट्ठीमें रहेगी, यह ख्याल छोड़के अच्छेसे अच्छा काम करते जाओ, उसको अनभिष्वङ्ग बोलते हैं। पुत्रके लिए भी अच्छेसे अच्छा काम करो, पत्नीके लिए भी अच्छेसे अच्छा काम करो, लेकिन उनके साथ इतना मत जुड़ जाओ कि अपना कल्याण ही, अपने स्वरूपका बोध ही लुप्त हो जाये।

महाभारतमें भी 'अनभिष्वङ्ग' पदका प्रयोग अनेक स्थानमें आता है। वहाँ भी उसका अर्थ तादात्म्य ही होता है। अब ज्ञानका एक और साधन बताते हैं:—

(१५) **नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।**

—जीवनमें कभी अपने मनका होता है और कभी विपरीत होता है। अगर दुनियामें एक ही मन होता तो सब तुम्हारे ही मनका होता। अगर तुम्हारी ही बुद्धि होती, तुम्हारे शत्रुकी बुद्धि न होती तो तुम्हारी ही जीत हमेशा होती। लेकिन वह तो ईश्वर-कृपासे तुमको बुद्धि है तो तुम्हारे शत्रुको भी बुद्धि है तुम्हारे संकल्प है तो तुम्हारे सामनेवालेके भी संकल्प है; इसलिए कभी इष्ट होता है, कभी अनिष्ट होता है। तो अपने मनके अनुकूल प्राप्त हो और मनके प्रतिकूल प्राप्त न हो, तब तो सुख होता है और अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होवे और अपने शत्रुके मनके अनुकूल प्राप्त होवे तो बड़ा दुःख होता है। दुःखसे आदमी दब जाता है। जितनी देर दुःख हो, उतनी देर हो ले, बादमें वह इतना असर न छोड़ जाये कि हम उसीसे दबे रहें! कभी गर्मी लगती है तो लग ले, अब उसकी याद करके सर्दी क्यों बिगाड़ रहे हो? कभी सर्दी लगी। तो ठीक है लगी, अब उसकी याद करके अपना स्वास्थ्य क्यों नष्ट कर रहे हो?

एक हमारे अनुभवकी बात है। एक घरमें हम भोजन करते थे; वृन्दावनकी बात है। वैसे शास्त्रकी विधि तो इस सम्बन्धमें ऐसी है—

अपि म्लेच्छकुलाद् भिक्षामाचरेत् सङ्कटे यतिः।
एकान्नं न तु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि॥

मलेच्छके घरसे रोटी माँगके खाले परन्तु एकान्नका, एक मनुष्यके अन्नका भोजन न करे। क्यों? बोले—भाई खिलाने वालेके प्रति आसक्ति होगी। हम दो-तीन साधुओंको जानते हैं। उन्होंने एकके घरमें भोजन शुरू किया, तो थोड़े दिनोंके बाद उस अन्नदाताको ईश्वर कहने लग गये। तो हम जिनके यहाँ भोजन करते थे, उस घरके मालिक बड़े विलक्षण थे; कभी रसोइयेसे रसोई बिगड़ भी जाती थी क्योंकि *'राग रसोई पागड़ी कभी कभी बन जाये।'* एक दिन रसोई बिगड़ी तो उन्होंने उठाके थाली नीचे फेंकी, और डाँटने लगे कि रोटी जल गयी, दाल कच्ची रह गयी। एक उपद्रव मच गया। उनका तो खाना बिगड़ा और हमारा तो भोजन ही गया! अच्छा, दूसरे दिन रसोइयेने बहुत बढ़िया रसोई बनायी। देखनेमें भी अच्छा और नाकमें गन्ध भी अच्छी आ रही थी। लेकिन जब खानेके लिए बैठे तो मालिकने कहा कि तुमको जब इतनी बढ़िया रसोई बनानी आती है तो कल तुमने ऐसी क्यों नहीं बनायी थी? अब यह बात जो आगे बढ़ी महाराज, तो दूसरे दिनका खाना भी जहर हो गया। पहले दिनका तो खराब होनेसे गया और दूसरे दिनका अच्छा होनेसे गया!

एक बार एक मनुष्यने दूसरा ब्याह किया। पहली पत्नी प्रेम तो बहुत करती थी, सेवा भी बहुत करती थी, लेकिन देखनेमें सुन्दर नहीं थी। इसलिए उसको नापसन्द कर दिया और दूसरा ब्याह कर लिया। अब दूसरी आयी तो वह बहुत सुन्दर आयी, क्योंकि लड़कीका रंग-रूप- चाम-कट सब देखकर लाये थे। पर अब उनको यह शंका हो गयी कि यह सुन्दर है, दूसरे लोग इसपर लट्टू हैं, तो पता नहीं कब यह दुश्चरित्र हो जाय। तो उनकी नींद ही हराम हो गयी! जब पत्नी कुरूप थी तब भी नापसन्द करते थे और जब सुन्दर आयीतब भी फिकरसे मरे। ऐसे लोगोंके जीवनमें सुख तो आनेवाला नहीं है। यह जो चित्तका तराजू है इसमें थोड़ी समतोलना चाहिए—**नित्यं च समचित्तत्त्वं,** तब ज्ञान होगा। ज्ञान कब होगा? जब तराजूका पलड़ा एक

ओर ज्यादा नहीं झुकेगा, उसमें समतोलना बनी रहेगी। तो कभी इष्ट होता, कभी अनिष्ट होता है। कभी अपने मनका होता है, कभी अपने मनके खिलाफ होता है, कभी रात होती है कभी दिन होता है, कभी सर्दी होती है कभी गर्मी, कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है, कभी आरोग्य होता है कभी रोग होता है, कभी मृत्यु होती है कभी ब्याह होता है, यह संसारमें लगा हुआ है। तो अपना चित्त ऐसा चाहिए कि जरा दोनों पहलूसे बचके ईश्वरकी ओर चले, परमात्माके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी कोशिश करे।

मनुष्यको यदि परिपूर्ण परमात्माकी प्राप्तिके लिए चलना है, तो सम्पूर्ण वस्तुओंकी उपेक्षा करनी पड़ेगी। तुम चाहो पूर्णको और फँस जाओ अपूर्णमें, तो यह बात चलने वाली नहीं है। इसको आप चार तरहसे ग्रहण करें। जैसे किसीको लम्बी यात्रा करनी है और वह रास्तेके अच्छे दृश्यों और ठहरनेकी अच्छी जगहोंमें फँस जाता है, अर्थात् इष्टोपपत्तिमें फँस जाता है, तो वह लम्बी यात्रा नहीं कर सकता, अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार यदि रास्तेमें कहीं सड़क खराब देखकरके रुक गया या ऊबड़-खाबड़ रास्ता देखकर लौट आया, तब भी वह लम्बी यात्रा नहीं कर सकता। तो, इष्ट देशकी प्राप्तिमें जो अपने लक्ष्यसे च्युत हो जाता है या अनिष्ट-देशकी प्राप्तिमें जो अपने लक्ष्यसे प्रतिहत, प्रतिबद्ध, विचलित हो जाता है, वह लक्ष्यकी प्राप्तिसे च्युत हो जाता है। ऐसे ही एक लम्बा जीवन अध्यात्म-यात्राका व्यतीत करना है; आगे-आगे देखिये होता है क्या!

इब्तिदाए इश्क है रोता है क्या!
आगे आगे देखिये होता है क्या!

अभी तो जिंदगीकी शुरुआत है, जिसको अनन्त ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति करनी है, वह यदि किसी पाँच मिनटके या पाँच बरसके काममें अटक गया, तो अविनाशी जो लक्ष्य है, कालातीत, अनादि अनन्त परिपूर्ण परमात्मा, उससे वह वंचित हो गया। इसलिए इष्ट परिस्थितिमें आसक्त मत हो जाना और अनिष्ट परिस्थितिसे हार मत मान बैठना। कालकी धारामें रात और दिन दोनों आते हैं; उनको पार करते हुए ही हम जिंदा रहते हैं। देशकी धारामें जो पूर्व है वह पश्चिम हो जाता है, जो पश्चिम है वह पूर्व हो जाता है। इसीप्रकार संसारमें जो आगे होता है वह पीछे हो जाता है, जो पीछे होता है वह आगे हो

जाता है। संसारमें कभी रोग होता, कभी स्वास्थ्य होता है, कभी मित्र मिलता है, कभी शत्रु मिलता है: **इष्टानिष्टोपपत्तिषु।** कहीं श्रद्धा मिलती है, कहीं अश्रद्धा मिलती है, कहीं गाली मिलती है, कहीं तारीफ मिलती है। हर गाली देनेवालेसे लड़ जाओ तो लड़ते ही जिंदगी बीतेगी! और हर तारीफ करनेवालेसे चिपकने लग जाओ, तो चिपकनेमें ही जिंदगी बीत जायेगी। अपने लक्ष्यपर कब पहुँचोगे?

हम लोग कल कहीं जा रहे थे। एक मकानसे लोग ऊपर छतपर निकल आये। चौराहा था तो थोड़ी देर वहाँ गाड़ी खड़ी हो गयी। वे लोग हाथ हिलाने लगे तो हमने भी रूमाल हिला दी। अब सड़कपर कुछ लोग हँसने लगे कि ये बाबाजी होकर रूमाल क्यों हिलाते हैं। साथमें एक गृहस्थ बैठे हुए थे, बोले—देखो, महाराज, ये हँस रहे हैं! मैंने कहा—उन लोगोंके पुण्यका फल जाग्रत हो गया है, जो इनको हँसनेका मौका तो मिला, नहीं तो ये बेचारे तो जिन्दगी भर रोते ही रहते हैं। अगर हमको रूमाल हिलाते देखकरके इनको हँसी आ गयी, तो अपने पुण्यका फल भोग लिया इन्होंने।

कहनेका अभिप्राय यह है कि रास्तेमें कभी मित्र भी मिलता है, कभी शत्रु भी मिलता है, कभी गाली मिलती है, कभी प्रशंसा मिलती है, कभी भूखे रहना पड़ता है, कभी खाना मिलता है, कभी आमदनी होती है, कभी घाटा होता है—**इष्टानिष्टोपपत्तिषु।** लेकिन जो सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए जीवनमें अग्रसर हुआ है, वह यदि छोटी वस्तुमें ही फँस गया, तो बड़ी वस्तुकी प्राप्ति कहाँसे होगी? छोटी वस्तुमें जो फँस जाता है, वह बड़ी वस्तुसे ठगा जाता है।

एक स्त्री सड़कपर चल रही थी। उसके हाथमें सोनेका कड़ा था। सो महाराज आगे चलते-चलते क्या हुआ कि सड़कपर किसी आदमीने सोनेकी सिल्ली डाल दिया। उस स्त्रीने देखा तो उसके मनमें आई लालच, उठाई उसने सिल्ली और रख लिया। उठाते ही दो-तीन आदमियोंने उसको घेर लिया, कि तुमको यह रास्तेमें पड़ा हुआ माल मिला है, इसमेंसे हमारा हिस्सा दो। सोनाकी सिल्ली है, यह तो पाँच हजार रुपयेका माल है। अन्तमें यह तय हुआ कि तुम पूरा सोना ले जाओ और हाथका कड़ा निकालके हमको हमारे

हिस्सेका दे जाओ। अब वह जब कड़ा देके, सिल्ली लेके घर आयी तो वह तो पीतलकी थी। ठगी गयी बेचारी।

तो संसारमें ये सब चीजें पड़ी हैं, रास्तेमें मिलती हैं, ये फँसने लायक बिलकुल नहीं हैं। **इष्टानिष्टोपपत्तिषु। नित्यं च समचित्तत्वं**—अब आपको इसका थोड़ा शास्त्रीय पक्ष जो समचित्तताका है, सो बताता हूँ।

श्री उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी कहते थे कि एक गिलास पानीकी कीमत ज्यादा है कि मोतीकी कीमत ज्यादा है? तो सब बनिया यही बतावेंगे कि मोतीकी कीमत ज्यादा है, एक गिलास पानीमें क्या रखा है! लेकिन आदमी ऐसे स्थानमें पड़ जाये जहाँ पीनेको पानी न मिलता हो और एक गिलास पानी मिल जानेसे हम चौबीस घण्टा जिंदा रह जायेंगे और मरुस्थल पार करके हम फिर पानीके देशमें पहुँच जायेंगे और जिंदा रहेंगे, वहाँ आदमी मोती दे देगा और पानी ले लेगा। एक गिलास पानीकी कीमत ज्यादा होगी और मोतीकी कीमत कम होगी।

तो बोलते कि मोतीकी कीमत किसको है? कि जिसको जेवर पहनना है। पानीकी कीमत किसको है? कि जिसको प्यास लगी है। और जिसको न प्यास लगी है और न मोती महनना है, न मोती बेचकर फायदा उठाना है, उसके लिए दोनों पानी हैं। कारणपर जब दृष्टि रखोगे तो कार्यका महत्त्व है। पर जब तत्त्व-दृष्टि है तब दोनों पानी हैं— दोनों जलके ही कार्य हैं— जलमात्र हैं।

तो समत्व कब आता है? जब तत्त्वदर्शन होता है। तत्त्वदृष्टि होनेसे समत्व आता है। जब आदमी नाम और रूपको पकड़ता है कि मैं ब्राह्मण हूँ तो लो करो शूद्रसे दुश्मनी; मैं विरक्त हूँ तो गृहस्थीमें क्या रखा है! तो 'सम चित्तत्वं' का अर्थ है अपने चित्तमें समताका निर्माण करो। गीतामें यह बात बतायी गयी कि गर्मी और सर्दी दोनोंमें सम रहो—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २.२४

एक महात्मा हिमालयमें रहते हैं। उनको सर्दी सहनेका ऐसा अभ्यास है कि खालकी तरह उनकी चाम हो गयी है और बारहों महीने नंगे रहते हैं नीचे प्रायः नहीं आते। एक दो बार ही आये हैं, बड़े महात्मा हैं, उनका नाम

श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज है; सेठ गूजरमल मोदीने उनको अपना गुरु बनाया है। जब वे माघमासमें हरिद्वार आये, तो जबकि हम लोग रजाई ओढ़ते हैं तब उनको पसीना होता था, पंखा हाँकना पड़ता था अर्थात् उनको सर्दी सहनेका तो खूब अभ्यास था परन्तु यहाँकी गर्मी वे बिलकुल नहीं सह सकते थे। हम लोग गर्मी सह सकते हैं, सर्दी नहीं सह सकते। लेकिन अगर जीवनमें तत्त्वका विचार करना है, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है, तो सर्दी और गर्मी दोनोंमें समबुद्धि होनी चाहिए। माने सर्दी मिटानेके लिए इतने चिन्तित न हो जायें कि ब्रह्मविचार छूट जाये और गर्मी मिटानेके लिए इतने चिन्तित न हो जायें कि ब्रह्मविचार छूट जाये। चाहे सर्दी हो चाहे गर्मी, उसमें ब्रह्मविचार बना रहना चाहिए।

वेदान्तमें ज्ञानदृष्टिकी प्रधानता है। अब लो इसके सामने दूसरोंको काटते हैं। पहले कर्मको ही लेते हैं। गीताकी दृष्टिसे जब मनुष्य चलता है तो सम्भव है उसके पाँवसे छूके कोई चीज पवित्र हो जाये और ऐसे भी लोग होते हैं कि उनके पाँवके नीचे कीड़े मरते चलते हैं। लेकिन क्या इन दोनोंका विचार करके आप चलना बन्द कर देंगे? चलना नहीं बन्द करना पड़ता।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ (१८.१०)

गीता कहती है कि कर्म करनेमें कहीं गलती हो गयी तो उस कर्मसे या कर्म करनेवालेसे इतना द्वेष मत करो कि तुम्हारे हृदयकी शान्ति और समता भंग हो जाये और **कुशले नानुषज्जते**—कर्म करनेमें थोड़ी अच्छाई हो गयी तो उसकी इतनी तारीफ मत करने लगो या उसका इतना अभिमान मत कर लो कि ब्रह्म चिन्तन छूट जाये, चित्तकी समता छूट जाये। तो जीवनकी पद्धति क्या है? कि—

त्यागी सत्त्व समाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः

चार बात तुम्हारे जीवनमें रहनी चाहिए:—

(१) **त्यागी**—जैसे हम प्रत्येक क्षणको, प्रत्येक सेकेण्डको छोड़ते चल रहे हैं वैसे प्रत्येक कणको भी छोड़ते चल रहे हैं। क्षण और कण दोनों साथ ही साथ छूटते हैं, अलग-अलग नहीं छूटते हैं। बचपन छूट गया, जवानी छूट गयी, हजारों लोग मिले और छूट गये। हजारों मुहब्बत करनेवाले

मिले और हजारों नफरत करनेवाले मिले, आज उनकी याद भी नहीं आती है। जैसे क्षण छूटता जा रहा है इसी प्रकार यह सृष्टिका कण भी छूटता चला जाये। यह त्याग जीवनकी कला है।

(२) **सत्त्वसमाविष्टः**—कहाँ रहें? कि अपने आपमें रहो, अपने स्वरूपमें रहो, देहादि अनात्म पदार्थोंमें तादात्म्य मत करो।

(३) **मेधावी**—आकाशकी नीलिमामें नीलिमा नहीं है आकाश है, यह मेधा बनी रहे।

(४) **छिन्नसंशयः**—मायाकी यह जो कालिमा है, इस कालिमामें स्वयं प्रकाश ब्रह्म बैठा हुआ है—इसके बारेमें कोई संशय मत रखो—**छिन्न-संशयः**।

जीवन संशयरहित, मेधापूर्ण, शान्त और त्यागसे युक्त होवे—यही जीवनकी कला है। मुर्देकी याद करके अपने दिलको गन्दा मत करो। घरमें जब मुर्दा होता है, तो एक दिन भी घरमें रखना पसन्द नहीं करते हैं, क्योंकि मुर्दा गन्दी चीज है, उसमेंसे दुर्गन्ध आती है, उसमेंसे अपवित्रता आती है। और तुम अपने दिलमें अगर किसी मरे हुएको बसा रहे हो तो अपने दिलमें जीते-जागते परमेश्वरको छोड़करके उसमें मुर्दा भर रहे हो। मर गयी संस्कृतियाँ और मर गये राज्य। हर साल नयी संस्कृति पैदा होती है। यह शताब्दीकी संस्कृति है, यह मध्यकालीन संस्कृति है, यह आदिकालीन संस्कृति है, यह प्राग् ऐतिहासिक संस्कृति है। मर गयीं संस्कृतियाँ और मर गये राज्योंके उत्थान और पतन और मर गये सम्प्रदाय! कितने सम्प्रदायोंका तो नाम भी आज लोगोंको मालूम नहीं है। हमको पहले कम-से-कम सौ सम्प्रदायोंके नाम, उनके सिद्धान्त, उनकी प्रमाण पद्धति, उनकी तत्त्वमीमांसा याद थी। अब भी हमको न जाने कितने आऊल-बाऊल याद हैं अब भी कितने प्रणामी, कितने दादू पन्थी और कितने राधास्वामी, कितने कबीर पंथी हैं। कितने सम्प्रदाय बने और टूट गये, , कितने राजा और मर गये। अपने दिलमें मुर्दा काहेको बसाते हो? दो हजार बरस पुराने एक ग्रन्थमें लिखा हुआ है कि हमारे बाप-दादा जितने धर्मात्मा थे, आज कलके हमारे बेटे उतने धर्मात्मा नहीं हो रहे हैं। हमारे बाबा भी कहते थे कि उनके बाबा जितने धर्मात्मा थे, उतने वह नहीं हैं और हम भी बता सकते हैं कि हमारे बाबा जितने धर्मात्मा

थे, उतने हम नहीं हैं। और हम अपने बेटेके बारेमें बिलकुल साफ कह सकते हैं कि वह हमारे जितना धर्मात्मा नहीं है। यह तो सनातन सत्य है; हमेशासे लोग ऐसे ही कहते आये हैं, उसमें कोई घबड़ानेकी बात नहीं है। पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ीके बारेमें ऐसा ही ख्याल हमेशासे रखती आयी है। उसका भी कोई ख्याल रखनेकी कोई जरूरत नहीं है। मर गये सम्प्रदाय और मर गयीं संस्कृतियाँ। जिसको पहले धर्म मानते थे, उसे अधर्म मानने लगे; जिसको अधर्म मानते थे उसे धर्म मानने लगे। जिन शास्त्रोंके आधारपर निर्णय होता था, उनका लोप हो गया, कोई पूछनेवाला नहीं रहा। तो हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि अपने मनमें मुर्दा मत बसाओ। गयी सो गयी अब राख रही को, मुर्दा तुम्हारे काम नहीं आवेगा। क्षणके साथ कण भी बीत रहा है। जीवनका एक-एक क्षण, एक-एक कण बीत रहा है। जो आगे आनेवाला है वह हाथमें नहीं है।

समचित्तत्वं—अपने तराजूके पलड़ेको बिलकुल बराबर रखो। उसमें क्या भूत और क्या भविष्य! चित्तमें यदि समता बनी रही, तो कल्याण हो गया।

हमसे लोग पूछते हैं कि किस त्योहारको कौन-सी कहानी कहनी चाहिए और कौनसी पूजा करनी चाहिए। अब बाबा हम लोग तो त्योहार और पूजा ही क्या, सबमें परमात्माको देखते हैं—गाली देनेवालेमें, तारीफ करनेवालेमें, अपमान करनेवालेमें, सबमें परमात्माको देखते हैं—समचित्तत्वं।

अच्छा फलमें समता देखो—**समदुःखसुखः**। गीतामें यह शब्द कितनी ही जगह है। भक्तके लक्षणमें है—समदुःखसुखः। गुणातीतके लक्षणमें है— समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः। यह सुख और दुःख फल हैं वकर्मके। बाहरके सुख-दुःखको सुख-दुःख नहीं बोलते हैं। संस्कृत भाषामें मरनेका नाम दुःख नहीं है और पैदा होनेका नाम सुख नहीं है। ब्याहका नाम सुख नहीं है, पैसा आनेका नाम सुख और जानेका नाम दुःख नहीं है। मनमें जो सुखाकार और दुःखाकार वृत्ति होती है, उसीको सुख दुःख बोलते हैं। ये दुनियादार लोग ऐसे छुई-मुई हैं कि दिन भरमें सत्रह बार हँसते और सत्रह बार रोते हैं। हमारे पास कोई-कोई ऐसे आते हैं कि अगर घण्टे भर वे बात करें तो उसमें दो-तीन बार अपने पिछले दुःखोंकी बात

करके रो लेते हैं और दो-तीन बार अपने पिछले सुखोंकी याद करके वे हँसने लगते हैं। हमारे पास एक व्यक्ति ऐसा आता है जो रोने लगता है तो आँखसे आँसू गिरने लगते हैं और उसी बीचमें अगर हम उसको हँसा दें तो खी-खी-खी-खी मुँहसे हँसता है और आँखसे टपाटप आँसू भी गिरते हैं। दोनों काम एक साथ करता है।

मनका कुछ ठिकाना नहीं है।आत्माकी दृष्टि दूसरी होती है **नित्यं च समचित्तत्वं**। वृत्ति कभी सुखाकार होती है और कभी दुःखाकार होती है। जैसे कमल, सूर्य विकासी होता है—दिन आनेपर वह स्वयं खिल जाता है और रात आनेपर बन्द हो जाता है; जैसे कुंई चन्द्रमाके आनेपर रातमें खिल जाती है; वैसे यह जो हृदयकमल है, इसका स्वभाव है खिलना। समयपर खिलता है, समयपर सिकुड़ता है। तो समयपर बिना कोई दुःखका निमित्त हुए ही दुःखकी कल्पना करके रोने लगता है और समयपर सुखका कोई निमित्त हुए बिना ही यह सुखकी कल्पना करके सुखी हो जाता है। रातको सोते-सोते ही कभी ऐसा होता है कि रातमें नींद खुली, कोई अच्छी बात याद आयीऔर हँसी आ गयी। और उसी रातको फिर पाँच दस मिनट सो गये और फिर जगे और कोई बुरी बात याद आयीऔर रोने लगे। अब रातको पलंगपर सोते-सोते न तो कोई सुख मिला और न तो कोई दुःख मिला, यह मन अपने आप ही कभी-कभी सुखाकार परिणामको प्राप्त होता है और कभी-कभी दुःखाकार परिणामको प्राप्त होता है। जब पुराने किये हुए बुरे कर्म फलोन्मुख होते हैं, माने पहलेके किये हुए बुरे कामोंकी याद आती है तो वृत्ति दुःखाकार हो जाती है; और जब किये हुए अच्छे कामोंकी याद आती है तो वृत्ति सुखाकार हो जाती है। यह जैसे संस्कारकी फुरना हो जाती है वैसे सुख दुःख भी हो जाता है। उसमें कुछ तत्त्व नहीं है। उसमें कुछ मूल नहीं है। जब सो जाओगे तो न सुखाकार वृत्ति है, न दुःखाकार वृत्ति है। तो **समचित्तत्वं** का अर्थ हुआ समकर्मत्वं तथा समफलत्वं। देखो उधर—

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। (गीता ५.१८,१९)

अच्छा, अब कर्ताको ले लो—किस पापीसे द्वेष करें और किस पुण्यात्मासे प्रेम करें? बोले—वे पापी पुण्यात्मा तो होंगे 'सारे' सपनेके, तुम अपना दिल जो जला रहे हो, यह कौन-सा फायदा उठा रहे हो?

एक दिन एक सेठकी मोटरपर जा रहे थे। ड्राईवरसे मोटर चलानेमें कोई गलती हो गयी। अब महाराज, मालिकको ऐसा गुस्सा आया कि आँख तो उसकी लाल-लाल हो गयी और होंठ फड़कने लगे। मैंने दबाया, कहा कि भलेमानुस! तुम दूसरेको दुःख तो बादमें पहुँचाओगे दूसरेको दंड तो तुम बादमें दोगे, पहले तो दुःख तुम खुद ही भोग रहे हो। तुमने गलती नहीं की और दुःख तुमको हुआ। तो पहले तुम अपनेको तो दुःखसे बचा लो, फिर दण्डस्वरूप दूसरेको दुःख देना। ड्राईवरके चेहरेपर तो मुसकान आ गयी; समझदार था।

भगवान् तो कहते हैं कि साधु और पापीमें समबुद्धि रखनेवाला विशेष है,

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। ६.९

समचित्तत्वंका ध्यान रखो। गीतामें चित्त शब्दका प्रयोग मन और बुद्धि दोनोंके समुचित रूपके लिए आता है। बारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२.८

मुझमें मन लगा दो और मुझमें बुद्धि लगा दो। तो मनबुद्धि कोई पैसा थोड़े ही है कि धर्मके काममें लगा दोगे तो भला हो जायेगा। हजार रुपया बेइमानीका आया तो उसमेंसे पाँच रुपया निकालके उसका दोष-दुर्गुण कुछ कम कर दिया। हजार रुपयेके पापमें-से पाँच रुपयेका पाप कम कर लिया, वह बात दूसरी है। वह तो ईश्वरके घरमें सब गिनती रहती है। ईश्वरको गणित शास्त्र न आता हो, सो बात नहीं है।

भगवान्ने कहा—**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**—मन मुझमें लगाओ और बुद्धि मुझमें लगाओ। मन मुझमें लगाओ। माने जितने संकल्प उठते हैं जितनी इच्छाएँ उठती हैं, सब भगवान्के लिए उठें। और **मयि बुद्धिं निवेशय**—बुद्धि कैसे लगावेंगे! बुद्धि माने विचार। जब विचार

करें तब भगवान्‌के बारेमें विचार करें। तो दो चीज भगवान्‌ने माँगी, कि अपने संकल्प और अपने विचार मुझमें लगाओ।

इसके बाद श्लोक है—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। (१२.९)

यदि तुम मुझमें चित्त नहीं लगा सकते तो, चित्त माने मन और बुद्धि दोनों हुआ; क्योंकि पहले श्लोकमें दो शब्दसे जो वस्तु कही गयी है, दूसरे श्लोकमें एक ही शब्दसे वही वस्तु कही गयी है। तो गीतामें चित्त माने मन और बुद्धि दोनों हैं इसलिए **नित्यं च समचित्तत्वं**—समचित्तत्वंमें बुद्धि की समता और मनकी समता दोनों आती हैं। मनकी समता कहाँ है? कि—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। (५.१९)

जिसके मनमें समता है—आओ चाहे जाओ, रहो चाहे मत रहो—उसने यहीं सृष्टिपर विजय प्राप्त कर ली।

आगतं स्वागतं कुर्यात् गच्छन्तं न निवारयेत्।

आवे तो स्वागत है, जाये तो कोई रुकावट नहीं है। एकबार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा कि अमुक व्यक्तिको बुला लिया जाये, वे ऐसे (बिना बुलाये) नहीं आते हैं।

बाबा बोले—हम तो ईश्वरको भी नहीं बुलाते हैं।

एकबार किसी आदमीने कोई गलती की, तो बाबासे लोगोंने कहा कि इसको निकाल दें। बाबा बोले—निकाल कैसे दें? यह तो उसीका घर है। हम निकल जाते हैं। अज्ञानी लोग तो इस घरको अपना मानते हैं।

एक महात्माके यहाँ हमलोग गये थे; तो उनके कमरेमें शहदकी मक्खी और ततैयोंने अपने छत्ते बना रखे थे। मैंने कहा कि लगा के किरासिनका तेल, धुआँ करके इन सबको निकाल देते हैं। तो बोले कि देखो भाई, हम तो समझते हैं कि यह कमरा हमारा नहीं है, यह शरीर हमारा नहीं है। तो हमको तो कोई दुःख-वुख होता नहीं, और ये बेचारी ततैया, मधुमक्खी और चींटी तो इस कमरेको अपना समझती हैं, इनकी सच्ची ममता है, तो इसकी अधिकारिणी तो यही हैं।

बाबा, दुनिया तुमको चाहिए तो तुम लो, हमको तुम्हारी दुनियासे कोई मतलब नहीं है। **येषां साम्ये स्थितं मनः।** अच्छा, अब **बुद्धिकी समता** कहाँ

आयी ? कि,—**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। (६.९) दुनियामें पापी भी रहते हैं और पुण्यात्मा भी। प्रवाह रूपसे नित्य, इस अनादि सृष्टिके अबतक कालके हिस्सेमें एक क्षण भी ऐसा नहीं रहा है जिसमें पापी, पुण्यात्मा दोनों न रहे हों। बीज रूपसे रहे तो दोनों रहे, अंकुर रूपसे रहे तो दोनों रहे। अबतक स्थानका ऐसा कोई कोना नहीं निकला है, जहाँ बस्ती हो और भले, बुरे दोनों न हों। तो तुम इसकी सफाई नहीं कर सकते। अपने मनमें समता लाओ, इनका चिन्तन छोड़ दो और परमात्माके चिन्तनमें लगो। इसप्रकार- **विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि**। यह जातिकी समता है। और **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। यह कर्ताकी समता है। और **न द्वेष्ट्य कुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते**। यह कर्मकी समता है। **येषां साम्ये स्थितं मनः** यह द्रव्यकी समता है। **समदुःखसुखः** यह फलकी समता है।

सुख दुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२.३८)

(द्वन्द्वोंसे) बचके ईश्वरकी ओर निकल चलो। अगर उलझके ईश्वरकी ओर निकलोगे, तो अच्छेसे उलझोगे तो भी फँस जाओगे, बुरेसे उलझोगे तो भी फँस जाओगे। तुम भली-बुरी तुच्छ बातोंके चिन्तनको जब छोड़ोगे, इनकी परवाह जब छोड़ दोगे, छोटी बातोंकी परवाह छोड़ोगे, तब बड़ी चीजके बारेमें सोच सकोगे। दुनियामें तो इष्ट, अनिष्ट होते ही रहते हैं, यह भी नहीं रहेगा वह भी नहीं रहेगा। इसके बारेमें सोचके क्यों दिमाग खराब करना? परमेश्वरके बारेमें सोचना।

ईश्वरके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकी, अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा आपके मनमें कितनी है। पहले तराजूको सम बनाओ। दुनियाके बारेमें तराजूको सम करदो, इधर-उधर चित्तको झुकने मत दो। जब संसारके बारेमें बेफिक्र होगये तब ब्रह्मविचार होगा।

मान लो बाढ़ आगयी, तो बाढ़की सहायता करने निकल पड़े। अकाल पड़ा तो अकाल पीड़ितोंकी सहायता करने चल दिये और फिर ठण्ड पड़ी तब रजाई बाँटनेके लिए चले गये। तो सेठोंके लिए तो यह बहुत बढ़िया है। यह धर्म है, इसमें कोई शंका नहीं; लेकिन यदि महात्मा भी परमात्माका चिन्तन छोड़ करके बरसातके दिनोंमें बाढ़ सहायता फंडका काम करेगा,

गर्मीके दिनोंमें दुर्भिक्ष सहायताका काम करेगा और जाड़ेके दिनोंमें वस्त्र सहायताका काम करेगा या किस रोगीको कौन-सी दवा देनी है यही फिकर करेगा, तो उसका ईश्वरका अनुभव और चिन्तन मन्द पड़ जायेगा। अपन तो बात खुल्लमखुल्ला करते हैं।

पुराने साधु ऐसे बोलते थे कि भाई चाहे मालीका बगीचा बह जाये, चाहे कुम्हारका घड़ा फूट जाये, बादलका काम तो बरसना है। अब उससे कुम्हारका घड़ा फूट जाता है तो बादल क्या करें? सूर्यका काम तो तपना है उससे मालीका बगीचा सूख जाता है तो सूर्य क्या करे? तो हमारा काम तो यह है कि—

भववारिधि मृगतृषा समाना।
अनुदिन यह भाषत नहिं आना॥

एक परब्रह्म परमात्माके सिवाय और जो कुछ भास रहा है सो मिथ्या है, इसको छोड़कर और बात हमको आती नहीं, बोलना जानते नहीं।

पहले हम जब विरक्त महात्माओंके दर्शन करने जाते थे तो वे बोलते— बाबा, अपना काम तो बरसना है। बोले—महाराज अनधिकारी होगा तो उसका नुकसान हो जायेगा। बोले—अनधिकारी बचावे अपनेको, मत आवे हमारे पास। अगर उसको यह न सुनना हो कि एक अद्वैत ब्रह्मके सिवाय और कोई चीज नहीं है, यह सुननेमें यदि उसको मालूम हो कि हमारा नुकसान होगा, तो हमारे पास मत आवे। हम कहाँ बुलाने जाते हैं? हमारे यहाँ तो यह द्वैत प्रपंच, दृश्य प्रपंच मिथ्या है। सुननेकी हिम्मत हो तो आओ, न हो तो मत आओ।

ज्ञानकी साधन-सम्पत्ति-४

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्व-मरतिर्जनसंसदि॥ १०॥

अब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्माको जाननेके लिए जरा दिलचस्पी चाहिए, रुचि चाहिए, प्रीति चाहिए। इनमें भूमिका भेद होता है। श्रद्धा, रुचि, प्रीति, भक्ति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग, भाव, महाभाव और दिव्योन्माद—ये सब भेद भक्तिके बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके मानते हैं। जैसे ज्ञानपक्षमें जीवन्मुक्तिकी भूमिकाएँ मानते हैं वैसे भक्ति पक्षमें भी मानते हैं। यहाँ भगवान् ज्ञानाङ्ग जो भक्ति है उस साधनका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ (१३.१०)

अर्थः—मुझमें अनन्ययोगपूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तदेशका सेवन और लोगोंकी भीड़-भाड़में अरति—रुचि न होना (यह तो ज्ञान है और इससे विपरीत अज्ञान है।)

(१६) अब ज्ञान प्राप्तिके लिए भक्तिको भी साधन बताते हैं। यहाँ भक्तिके लिए दो बातें बतायी। भक्ति किसके प्रति हो? तो कहा—मयि, मेरे प्रति। कैसी भक्ति हो? कि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी—दूसरेका योग उसमें न हो और मनसे भी दूसरेका चिन्तन न हो। जैसे एक स्त्री है वह अपने

पतिसे अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषसे मिलती भी नहीं है और मनसे भी परपुरुषका चिन्तन नहीं करती। उसी प्रकार भगवान्‌के प्रति भक्ति हो।

अव्यभिचारिणी शब्दसे यह बताया कि मनमें भी व्यभिचार न हो। और अनन्य योगेनका अर्थ हुआ कि अन्यके साथ योग न हो, मिलना न हो। और 'मयि च'का अर्थ हुआ कि भक्ति केवल परमात्माकी हो।

जब आप कहते हो, 'हे भगवान हमारे बेटेका बुखार अच्छा कर दो, तो आप विचार करो आप भक्त किसके होते हो? भगवान्‌के कि बेटेके? फल तो यही चाहते हो ना कि बेटा अच्छा हो जाये। तो भक्त बेटेके ही हुए।'

भगवान्‌से रोज कहके सोते हैं कि हम तो नींद लेने जा रहे हैं, यह जरा आप तिजोरीकी देखभाल करना। अब भगवान् तो जागकर पहरा देंगे और सेठजी तान दुपट्टा सोवेंगे। यह क्या भक्ति है। इसके विपरीत देखो गोस्वामीजीने क्या किया? गोस्वामी तुलसीदासजीको सवेरे आके किसीने दण्डवत किया और बताया कि महाराज रातको मैं आपके यहाँ चोरी करने आया था, तो कोई धनुषबाणधारी यहाँ पहरा दे रहा था। बोले—ऐसा! धन्य हो तुम। तुमको मेरे रामका दर्शन हो गया। लेकिन मेरे घरमें कोई ऐसी चीज है, जिसके लिए भगवान्‌को पहरा देनेकी जरूरत पड़ती है। तो ले जाओ बाबा तुम। यह सब उठाके ले जाओ, जिससे भगवान्‌को रातको पहरा न देना पड़े।

तो भक्तिका बड़ा मजा है। भक्ति शब्दका अर्थ होता है—भाग, हिस्सा; भगवान्‌का भाग। **भागो भक्तिः**। यह दुनिया किसकी? कि भगवान्‌की। यह मकान, यह स्त्री, यह पुत्र किसका? कि भगवान्‌का। भाग किसका? कि भगवान्‌का। सृष्टिमें जो पदार्थ दिख रहे हैं वे सब भगवान्‌के हैं। जैसे हम पूछें कि यह घड़ा किसका? तो क्या उत्तर दोगे? एक साधुसे किसीने पूछा कि महाराज, आप किसकी रोटी खाते हो? वह साधु पंजाबी था। पंजाबी लोग बड़े मस्ताने होते हैं; बोला—हम तो गेहूँकी रोटी खाते हैं। पूछा—अरे महाराज, हमारा मतलब है आप ब्राह्मणकी, क्षत्रियकी, वैश्यकी, किस-किसकी रोटी खाते हैं। बोले-राम-राम-राम! मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी रोटी नहीं खाता; कहीं मनुष्यकी रोटी खायी जाती हैं? मैं तो गेहूँकी रोटी खाता हूँ।

देखो यह क्या हुआ? कि पदार्थ दर्शन हुआ। रोटी किसकी? कि रोटी

गेहूँकी। तो घड़ा किसका? हाथ लगानेसे तो कुम्हार अपना समझता है और पैसा देनेसे खरीदनेवाला अपना समझता है। लेकिन घड़ा किसका? घड़ा तो माटीका है। तो जो ईश्वर इस सृष्टिके रूपमें प्रकट हुआ है, यह सृष्टि उसीकी है। इसमें हाथ लगानेवालेकी सृष्टि नहीं है, मन लगानेवालेकी सृष्टि नहीं है, इसमें मैं-मेरा करके जो लोग मरे जा रहे हैं, उनकी सृष्टि नहीं हैं। ये अशान्त कामुक लोग जो इधर-उधर दौड़ रहे हैं, यहाँ गये वहाँ गये, उनकी यह सृष्टि नहीं है।

पहले हिन्दू राजा बोलते थे कि यह भारतवर्ष हमारा है। फिर मुसलमान बोलते थे कि भारतवर्ष हमारा है। फिर अंग्रेज बोलते थे कि भारतवर्ष हमारा है। बीचमें कांग्रेस पार्टी बोलती थी कि भारतवर्ष हमारा है। और अब जनता बोलती है कि भारतवर्ष हमारा है। पर भारतवर्ष तो जिस धरतीका अंग है उस धरतीका है और धरती जिस आकाशमें है, उस आकाशका है और आकाश जिस परमात्मामें फुर रहा है उस परमात्माका है। परमात्माका आकाश है, परमात्माकी धरती है, परमात्माके देश हैं, परमात्माके शरीर हैं, परमात्माका मकान है। तो भक्ति माने अपनी नजरको भगवान्‌की तरफ मोड़ना। अपनेको और अपनी वस्तुओंको भगवान्‌का भाग स्वीकार करना भक्ति है। तो—

मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

इसमें मयि च, अनन्ययोगेन, अव्यभिचारिणी-भक्तिका तीन रूप बताया—भक्ति वह है जिसमें विषय केवल भगवान् हों, अन्यके साथ चित्तवृत्ति न जुड़ती हो और टूट-टूटके, थोड़ी देर यहाँ थोड़ी देर वहाँ, न जुड़ती हो। इससे यह होगा कि जब निरन्तर परमात्माका चिन्तन होगा तो सम्पूर्ण विश्वके अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें परमात्माका निश्चय हो जायेगा; और जब यह विचार होगा कि विश्व है दृश्य और मैं हूँ द्रष्टा, तो यह भी निश्चय होगा कि यह द्रष्टा कारणात्मा जो है वह द्रष्टाकी दृष्टि ही है। माने देशात्मा, द्रव्यात्मा, कालात्मा—ये जो तीन रूपमें पृथक्-पृथक् भासते हैं, इनका जो बीज रूप है कारणात्मा, वह द्रष्टाकी दृष्टि ही है। चूँकि द्रष्टा और दृष्टि पृथक्-पृथक् नहीं होते। इसलिए द्रष्टा ब्रह्म ही है, अद्वितीय है ऐसा निश्चय हो जायेगा। द्रष्टाकी अद्वितीयता समझानेके लिए यहाँ भक्तिका निरूपण किया जा रहा है।

बड़े-बड़े भाष्यकारोंने यह प्रश्न उठाया है, कि भक्ति तो भक्त लोग भी करते हैं और यह जिज्ञासु वेदान्ती भी भक्ति करेगा, तो इन दोनोंकी भक्तिमें क्या फर्क हैं? उसीके उत्तरमें बताया है कि—

विविक्तदेशसेवित्त्वमरतिर्जनसंसदि।

ये जो भक्त लोग होते हैं, वे भगवान्‌का विस्तार करते हैं—जैसे पहले एक कृष्णकी भक्ति करेंगे फिर उनके साथ राधारानी आवेंगी, और फिर गोपियाँ रास करने लगेंगी; फिर ग्वाल-बाल आ जायेंगे, फिर गौएं आजायेगी, फिर वृन्दावन हो जायेगा। तो यह श्रीकृष्णका विस्तार होकरके अनेक रूप हो जायेगा। यह भक्तकी भक्ति हुई। और वेदान्तीकी भक्तिमें विस्तार नहीं होता, संकोच होता हैं। जैसे पहले धामका चिन्तन करेंगे, फिर लीलाका, लीलामें भी फिर गोपी और कृष्णका, फिर राधा और कृष्णका, फिर कृष्णका फिर कृष्णकी आँखका, फिर कृष्णकी आत्माका—**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन-संसदि**—की एक व्याख्या ऐसी की हुई है।

यहाँ तेरहवें अध्यायमें प्रयोजन ज्ञान है। उस ज्ञानकी प्राप्तिमें जो बीस सहायक साधन हैं उनको भी भगवान्‌ने ज्ञान कहा है। इस प्रकार यहाँ सोलहवें साधनमें भी—**मयि भक्तिश्च ज्ञानम्।** मुझमें (भगवान्‌में) जो भक्ति है वह भी ज्ञान ही है—**कीदृशी भक्तिः अनन्ययोगेन भक्तिः**—कैसी भक्ति? कि अनन्य योगसे भक्ति। **कथंभूता भक्तिः अव्यभिचारिणी भक्तिः।** किस प्रकारकी भक्ति? कि अव्यभिचारिणी भक्ति।

यहाँ जब भगवान्‌ने मयि शब्दका प्रयोग किया कि मुझमें भक्ति ज्ञान है, तो यह देखना है कि भक्ति और ज्ञानमें परस्पर मैत्री है कि नहीं है।

आजकल लोग ज्ञानको बुद्धिका एक विलास मानते हैं। परन्तु बुद्धिका विलास जो ज्ञान होता है वह तो बौद्ध ज्ञान है अर्थात् बुद्धि भी क्षणिक है और उससे ज्ञात पदार्थ भी क्षणिक हैं। बुद्धिसे जो जाना जाता है, क्षण-क्षणमें नष्ट होता जाता है। बुद्धिकी नवीन-नवीन वृत्ति होती है और ज्ञेयका नवीन-नवीन आकार होता है। आप जानते ही होंगे कि बौद्ध आगम वस्तुको क्षणिक मानता है और विज्ञानात्मक मानता है।

लोग यह सूक्ष्म परीक्षण-निरीक्षण तो जानते नहीं हैं, वे बेचारे यही समझते हैं कि बुद्धिमें जैसे और बातोंके बारेमें समझ है वैसे ब्रह्मके बारेमें भी

एक समझ आ जाती है। लेकिन यह बाह्य पदार्थके अनुभवसे जो समझ पैदा होती है और जो संस्कारकी धारामें चलती रहती है, उस समझका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है। यह ब्रह्मज्ञान तो एक प्रमाणजन्यवृत्ति है जो केवल एक क्षण रहकर अविद्याको निवृत्त करके नष्ट हो जानेवाली है; और फिर जैसे पहले ब्रह्म था, वैसे अब ब्रह्म है, वैसे आगे ब्रह्म है, ब्रह्म तो है ही है।

तो—**मयि भक्तिश्च ज्ञानम्।** भगवान् बताते हैं मुझमें भक्ति भी ज्ञान ही है। हमलोग तो पहले धर्मका सम्बन्ध ज्ञानसे कैसे है—यह बताते हैं; योगका सम्बन्ध ज्ञानसे कैसे है—यह बताते हैं; भक्तिका सम्बन्ध ज्ञानसे कैसे—यह बताते; माने हम समूचे वेदशास्त्र पुराण इतिहास धर्मशास्त्रकी प्रामाणिकताको स्वीकार करके और एक-एक दर्शनको अपनी-अपनी भूमिकामें बैठाकर तब ब्रह्मज्ञानकी चर्चा करते हैं। लेकिन आज तो लोग कह देंगे कि भक्ति तो मूर्खोंका काम है। वे लोग हमारे वेदान्त सम्प्रदायमें नहीं आते हैं। जो कह दें-अरे धर्म-कर्ममें क्या रखा है, सब ब्रह्म ही है, वे वेदान्त सम्प्रदायमें नहीं है। जो कहे आसन-प्राणायाममें क्या रखा है, ईश्वरके नाममें क्या रखा है, वह तो बच्चोंका खिलौना हैं, वह वेदान्त सम्प्रदायमें नहीं है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। (१३.१८)

तेरहवें अध्यायमें आयी यह बात कि मेरा भक्त इसको जानकरके मेरा स्वरूप हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। (१८.५५)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं, येन मामुपयान्ति ते॥ (१०.१०)

अब गीताको कोई माने और कहे कि गीतामें भक्ति नहीं है तो वह अपनेको धोखा देता है और दूसरेको भी धोखा देता है।

भक्तिके स्वरूपकी परीक्षामें पहली बात है कि भक्तिके विषयमें भगवान् हैं—**मयि च भक्ति ज्ञानं;** लेकिन केवल भक्ति होना ज्ञान है—ऐसा नहीं है। बहुतोंके हृदयमें पत्नी-भक्ति होती है, बहुतोंके हृदयमें धनकी भक्ति होती है; बहुतोंके हृदयमें प्रान्तकी भक्ति होती है। वे प्रान्तके लिए राष्ट्रका संहार कर दें; और बहुतोंमें राष्ट्रकी भक्ति होती है, वे राष्ट्रके लिए विश्वका संहार कर दें; बहुतोंमें मानवताकी भक्ति होती है, वे मानवके लिए अन्य प्राणियोंका संहार

बड़े-बड़े भाष्यकारोंने यह प्रश्न उठाया है, कि भक्ति तो भक्त लोग भी करते हैं और यह जिज्ञासु वेदान्ती भी भक्ति करेगा, तो इन दोनोंकी भक्तिमें क्या फर्क हैं? उसीके उत्तरमें बताया है कि—

विविक्तदेशसेवित्त्वमरतिर्जनसंसदि।

ये जो भक्त लोग होते हैं, वे भगवान्‌का विस्तार करते हैं—जैसे पहले एक कृष्णकी भक्ति करेंगे फिर उनके साथ राधारानी आवेंगी, और फिर गोपियाँ रास करने लगेंगी; फिर ग्वाल-बाल आ जायेंगे, फिर गौएं आजायेगी, फिर वृन्दावन हो जायेगा। तो यह श्रीकृष्णका विस्तार होकरके अनेक रूप हो जायेगा। यह भक्तकी भक्ति हुई। और वेदान्तीकी भक्तिमें विस्तार नहीं होता, संकोच होता हैं। जैसे पहले धामका चिन्तन करेंगे, फिर लीलाका, लीलामें भी फिर गोपी और कृष्णका, फिर राधा और कृष्णका, फिर कृष्णका फिर कृष्णकी आँखका, फिर कृष्णकी आत्माका—**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन-संसदि**—की एक व्याख्या ऐसी की हुई है।

यहाँ तेरहवें अध्यायमें प्रयोजन ज्ञान है। उस ज्ञानकी प्राप्तिमें जो बीस सहायक साधन हैं उनको भी भगवान्‌ने ज्ञान कहा है। इस प्रकार यहाँ सोलहवें साधनमें भी—**मयि भक्तिश्च ज्ञानम्।** मुझमें (भगवान्‌में) जो भक्ति है वह भी ज्ञान ही है—**कीदृशी भक्तिः अनन्ययोगेन भक्तिः**—कैसी भक्ति? कि अनन्य योगसे भक्ति। **कथंभूता भक्तिः अव्यभिचारिणी भक्तिः।** किस प्रकारकी भक्ति? कि अव्यभिचारिणी भक्ति।

यहाँ जब भगवान्‌ने मयि शब्दका प्रयोग किया कि मुझमें भक्ति ज्ञान है, तो यह देखना है कि भक्ति और ज्ञानमें परस्पर मैत्री है कि नहीं है।

आजकल लोग ज्ञानको बुद्धिका एक विलास मानते हैं। परन्तु बुद्धिका विलास जो ज्ञान होता है वह तो बौद्ध ज्ञान है अर्थात् बुद्धि भी क्षणिक है और उससे ज्ञात पदार्थ भी क्षणिक हैं। बुद्धिसे जो जाना जाता है, क्षण-क्षणमें नष्ट होता जाता है। बुद्धिकी नवीन-नवीन वृत्ति होती है और ज्ञेयका नवीन-नवीन आकार होता है। आप जानते ही होंगे कि बौद्ध आगम वस्तुको क्षणिक मानता है और विज्ञानात्मक मानता है।

लोग यह सूक्ष्म परीक्षण-निरीक्षण तो जानते नहीं हैं, वे बेचारे यही समझते हैं कि बुद्धिमें जैसे और बातोंके बारेमें समझ है वैसे ब्रह्मके बारेमें भी

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७.६-७)

भगवान्ने बताया कि मैं कौन हूँ? **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा,** माने सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति और पराप्रकृतिका जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है वह मैं हूँ—माने जिसमें जगत्का और जीवका उदय और विलय होता है, भाव और अभाव होता है वह मैं हूँ। संस्कृत दर्शन शास्त्रकी भाषामें भाव नहीं, भावका भान होता है; और अभाव भी नहीं, अभावका भान ही होता है। भाव और अभाव कोई पदार्थ नहीं है, बस इनका भान ही होता है। भावका भान ही भाव है और अभावका भान ही अभाव है। भानसे पृथक् न भाव है न अभाव है। भगवान् आगे कहते हैं कि मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।** जैसे कपड़ामें सूत ओत-प्रोत है, ताना भी सूत और बाना भी सूत वैसे ही यह जीव और जगत् जिस अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप परमात्मामें ओत-प्रोत है वह मैं हूँ।

यह परमात्मा चैतन्य है माने आत्मासे अभिन्न है। मुझसे (आत्मासे) अलग होकर कोई चैतन्य नहीं हो सकता; ऐसा पदार्थ जड़ होगा, दृश्य होगा, परोक्ष होगा, कल्पित होगा, उसकी अज्ञात सत्ता होगी। तो **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।** जिसके सिवाय न जीवकी सत्ता है, न जगत्की सत्ता है, उस परमात्माको बोलते हैं 'मयि'—मुझमें।

तो **मयि भक्तिश्च ज्ञानं।** इस 'मुझमें' जो भक्ति है, माने मुझे जो जाननेकी, अपनानेकी, मुझसे एक होनेकी, मुझसे मिल जानेकी, सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्ति करके परमानन्दकी प्राप्तिकी जो तीव्रतम जिज्ञासा है, भगवत्प्राप्तिकी तीव्रतम जिज्ञासा, वही भगवान्में भक्ति है। यह एक प्रसंग है।

अब दूसरा प्रसंग लो। गीतामें जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णने अपने लिए अहं शब्दका प्रयोग किया है, उसके कई भेद हैं—कहीं तो परात्पर अव्यय पुरुषके लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं, कहीं ईश्वरके लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं, कहीं अन्तर्यामी ईश्वरके लिए, कहीं चतुर्भुज नारायणके लिए, कहीं द्विभुज श्रीकृष्ण शरीरके लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं। आप बारहवें अध्यायमें देखो—आप देखो—**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।**

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः॥ (१२-३,४)

यह प्रत्यक्ष निर्गुणोपासना है। इसका फल क्या बताया?

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। (१२.४)

अर्थात् उन्हें 'मेरी' प्राप्ति होती है। तो जो निर्गुण ब्रह्म है वही अगर श्रीकृष्णका 'मां' न होता वही श्रीकृष्णका 'मैं' न होता, तो निर्गुणोपासनाके फलस्वरूप श्रीकृष्णके 'मैं'की प्राप्ति कैसे होती?

अब पन्द्रहवें अध्यायमें देखो—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोक त्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५.१६-१८)

क्षरसे परे अक्षरसे भी उत्तम यह जो पुरुषोत्तम है, जो लोकत्रयमें प्रविष्ट है, सबका भरण करता है, स्वयं अविनाशी है, अन्तर्यामी ईश्वर है, समर्थ है, वह श्रीकृष्णका अहं है—पुरुषोत्तम। तो **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** **'मयि च'**, पहले ईश्वरको समझो, उसके बाद भक्ति करो।

एक श्रीकृष्ण ऐसे हैं गीतामें, जो अर्जुनसे कहते हैं कि तुम लड़ाई नहीं करोगे तो तुम्हारी बड़ी बदनामी होगी। ये अर्जुनके सखा शरीरधारी श्रीकृष्ण हैं। एक श्रीकृष्ण बोलते हैं:—**भीष्मं च द्रोणं च जयद्रथं च,** और इनको अपने अन्दर मरा हुआ दिखा देते हैं कि देख ले मुर्दा; जिनको मारनेमें तू हिचकता है, वे तो पहले ही मरे हुए हैं। श्रीकृष्णने यहाँ अपनेको विराट्रूपमें दिखा दिया। इससे क्या होगा कि अर्जुनको मारनेपर भी अभिमान नहीं होगा कि हमने मारा। देखो न, ऐसी युक्ति रख दी कि अर्जुन भीष्मादिको मारेंगे और उसके बाद भी अर्जुनको अभिमान नहीं होगा कि मैंने मारा, क्योंकि मरे हुएको मारनेका क्या अभिमान? जो अपनेको कर्ता समझता है सो भी अज्ञानी और जो दूसरेको कर्ता समझता है सो भी अज्ञानी। छठें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (६.३०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (६.३१)

यह है भगवान्‌का सर्वात्मक अहं। ऐसे परमात्माके प्रति जो भक्ति है, वह भक्तिज्ञान है। इससे अन्ययोगसे व्यवच्छेद हो करके माने अन्यताकी भ्रान्ति मिट करके, आत्मा और परमात्मा एक हैं, यह बोध हो करके जो भक्तिका अन्तिम स्वरूप है वह ज्ञान है, माने फिर वह अपना स्वरूप ही है।

अब जरा श्रीकृष्णके मुँहसे एक बात आप और सुन लो! श्रीकृष्णका जगत्‌के साथ और जीवके साथ क्या सम्बन्ध है? जगत्‌के साथ जो सम्बन्ध है, उसका निर्णय हो जानेपर जीवके साथ सम्बन्धका अपने आप ही निर्णय हो जाता है। देखो श्रीकृष्ण नवें अध्यायमें बोलते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ (९.४.५)

ये जितने भूत हैं, वे सब मेरेमें हैं पर मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ। और फिर कहते हैं कि भूत मुझमें नहीं हैं। आप लोग अपना भूत नाम जल्दी कबूल नहीं करोगे, लेकिन जो अपनेको शरीर मानता है, वह चाहे इन्कार करे चाहे स्वीकार करे, उसका नाम भगवान् अगर 'भूत' रखते हैं तो एक यथार्थताका ही वर्णन है। क्योंकि पंचभूतसे बने हुए शरीरको, पंचभूतके पुतलेको जो मैं समझता है वह भूत नहीं तो क्या है? और जब भूत है तो उसको मरा हुआ ही समझो, उसका होना न होनेके बराबर है, क्योंकि अज्ञानियोंके लिए ही उसका होना है। ठूँठमें भूतका होना किसके लिए? कि ठूँठके अज्ञानीके लिए।

आप देखो श्रीकृष्णकी राजनीति! बोलते हैं ये सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, यह तो पहला वचन है। दूसरा वचन क्या है? मुझमें कोई भूत स्थित नहीं हैं। जैसे हम किसीसे कहें कि आकाशमें नीलिमा है, क्योंकि दिखती है; और नहीं है, क्योंकि आकाशके साथ रंगका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

तो आकाशके स्वरूपसे आकाशमें नीलिमा नहीं है और प्रातीतिक दृष्टिसे इन्द्रियोंकी दृष्टिसे आकाशमें नीलिमा है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण परमात्माका क्या स्वरूप है ? बोले—अतत्त्व दृष्टिसे, अज्ञकी दृष्टिसे, मानवोचित दृष्टिसे तो उसमें यह सारा प्रपंच है, वह सम्पूर्ण प्रपंचका आधार है, परन्तु श्रीकृष्ण-तत्त्वकी दृष्टिसे उसमें प्रपंचका किंचित् भी अस्तित्व नहीं है।

अब आप जगत्के साथ 'मयि'का सम्बन्ध निश्चित कर लें। केवल जबतक कि हम परमात्माको जानते नहीं हैं, तबतक यह प्रपंच है और परमात्मामें है; उसको जान लेनेके बाद उसमें प्रपंच नहीं है। ऐसा जो अखण्ड परमात्मा है, उसमें जो भक्ति है उसका नाम ज्ञान है।'—

अखण्डे मयि भक्तिश्च ज्ञानम्।

बोले—महाराज जगत्की तो आपने बता दी, लेकिन जीवका तो रह गया। अरे बाबा, जीवका भी लेलो—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** अभी तो पढ़के आये हो। अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग जीवके रूपमें जो दीख रहा है, वह मैं ही हूँ—यह भगवान्का वचन है। अन्तःकरणके भेदसे ही जीवमें भेद भासता है और अन्तःकरण तो जगत् है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि**—वह तो भूत है। तो जब अन्तःकरण ही अस्तित्व शून्य है, तो अन्तःकरणके भेदसे कल्पित जो जीव-भेद है सो मिथ्या है। इसलिए एक अखण्ड अद्वितीय परमात्मामें जो भक्ति है—**मयि भक्तिश्च ज्ञानम्**—उसका नाम ज्ञान है।

अब इसमें दो बात रह गयीं—एक तो भक्तिका स्वरुप, दूसरे अनन्य योगेन और अव्यभिचारिणी। तो भक्तिका विषय परमात्माके सिवाय दूसरा न हो—यह बात बतानेके लिए अनन्ययोगेन पद है।

योग शब्दकी व्याख्या वेदान्तकी जरा निराली है। वेदान्तमें योग शब्द विपरीत लक्षणसे बोला जाता है। जैसे किसीको कहें कि 'ये बड़े बुद्धिसागर हैं' तो विपरीत लक्षणासे इसका अर्थ होता है कि 'ये महामूर्ख हैं।' 'ये देवताओंके बड़े प्यारे हैं' इसका अर्थ है कि ये पशु हैं। इसीप्रकार योग शब्दका प्रयोग वेदान्तमें विपरीत लक्षणासे होता है।

तमेतं वियोगमेवासन्तं योगमित्याचक्षते।

वियोगको ही वेदान्तमें योग कहा जाता है। वियोग किससे ? प्रकृति और प्राकृतसे, माया और मायिकसे, द्रष्टापुरुषका जो वियोग है वही तो योग

है। द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान योग है माने इतर सारूप्यसे वियोग योग है, दूसरेके साथ न मिलना इसका नाम योग है। तो योगका अर्थ होता है मिलना, परन्तु यहाँ तो योगका अर्थ है प्रकृति और प्राकृतसे बिछुड़ना। योग शब्दका यह पारिभाषिक अर्थ है। गीतामें यह अर्थ मान्य है—**तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्।** (६.२३) दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है।

तो अब बोले—**अनन्य योगेन।** भक्तिमें योग तो है, परन्तु अन्य योग नहीं है। विषयकी अन्यताका निषेध करनेके लिए अनन्ययोग कहा गया है। भक्ति परमात्माके सिवाय और किसीको अपना विषय नहीं बनाती।

भक्तिकी एक विशेषता तो यह हुई और दूसरी विशेषता है—**अव्यभिचारिणी।** भक्ति कभी व्यभिचरित न हो, माने भक्ति कभी तलाक न दे। भक्तिमें दो बात हैं—ऐसी भक्ति वृत्ति जो दूसरेको तो पकड़े नहीं (अनन्यतर) और जिसके आश्रयसे है उसको कभी छोड़े नहीं (अव्यभिचार)। अव्यभिचारिणीसे आश्रयकी अनन्यता सूचित होती है और अनन्ययोगसे विषयकी अनन्यता सिद्ध होती है। जिसके लिए भक्ति है उसको न छोड़ना तो अनन्य योग है और जिसमें भक्ति है उसको न छोड़ना यह अव्यभिचरित भक्ति है। जैसे देखो स्त्री पतिको दो तरहसे छोड़ती है—या तो एक पतिको छोड़कर दूसरा पति कर ले, यह अन्ययोग हुआ; और या घरमें रहते हुए ही पतिसे प्रीति न करे या पतिको छोड़ दे लेकिन दूसरेके घर न जाये; यह व्यभिचार हुआ।

अब भक्ति हमेशा बनी रहे—यह कोशिश जो करेगा, उसकी भक्ति ज्ञान हो जायेगी। देखो, इसकी युक्ति हम बताते हैं, क्योंकि भक्ति महारानी बड़ी विलक्षण हैं। जो यह कोशिश करेगा कि जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, तीनों दशामें भक्ति बनी रहे उसको यह देखके बड़ी निराशा होगी कि जो विषय रूपसे भगवान्‌को ग्रहण करनेवाली भक्ति है, उसको यदि जाग्रत अवस्थामें हम बनाये भी रक्खें , तो सपनेमें दूसरा कोई आजाता है और यदि अत्यन्त अभ्यास करके हम स्वप्नमें भी भक्तिको सिद्ध कर लें, तो सुषुप्तिमें तो भक्ति सो ही जाती है। पातिव्रत धर्मकी इसमें हानि है कि पति तो जाग रहा है और ये श्रीमतीजी सो रही हैं। सुषुप्तिमें आत्मदेव जो भक्ति वृत्तिके साक्षी हैं वे तो जाग रहे हैं और भक्तिजी सो गयी हैं और परमात्मा उनको निहार रहा है।

तो जब कोई यह कोशिश करेगा कि भक्ति अव्यभिचरित हो, माने जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें एक-रस होवे और जबतक पति जगे तबतक जगे, तब वह स्वयं साक्षीरूप होकर ही सफल हो सकता है।

एक बात और है, भाई! किसीके अनुकूल पड़े न पड़े, पर वेदान्तके प्रसंगमें सब बात कह दी जाती है। वह बात यह है कि सगुण साकार ईश्वरके लिए सोना जरूरी होता है। वे देवशयनी एकादशीके दिन सोते हैं और देवोत्थानी एकादशीको उठते हैं। उनका सोना जरूरी है, नहीं तो उनको भी विक्षेप हो जायेगा कि विश्राम नहीं मिला। लेकिन यह निर्गुण ब्रह्म कभी नहीं सोता है। निर्गुण ब्रह्मको चार महीने वाली निद्रा नहीं आती है। उसमें देवोत्थानी-देवशयनीका भेद नहीं होता। तो अव्यभिचारिणी भक्तिका अर्थ है कि जैसे ज्ञान जागता है, अखण्ड देश-काल वस्तुको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार यदि वृत्ति ज्ञानसे अभिन्न हो जायेगी तब तो आश्रयसे व्यभिचार नहीं होगा और यदि ज्ञानसे अभिन्न नहीं होगी तो व्यभिचार होगा ही। माने अपने पतिसे एक हो गयी, तो पतिका जागना ही उसका जागना है और पतिमें सोना है ही नहीं, ऐसा वह पति है।

भगवान् बोलते हैं अपना मन और बुद्धि मुझे दे दो। लेकिन मन और बुद्धि ऐसे घोड़े हैं कि किसीको भी दे दो वापस अपने स्थानपर लौट आते हैं और अपने आश्रय 'मैं' के साथ ही सोते हैं। एक आदमीने अपने घोड़ेको ऐसा सिखा रखा था कि ले जाके दूर देशमें बेचके कीमत ले लेता, घोड़ेको देके चला आता और घोड़ा छुड़ाके फिर मालिकके घर लौट आता। तो ये मन बुद्धि ऐसे हैं कि इन्हें तुम लाख दान करो, ये लौटके आवेंगे और रातको जब सोवेंगे, तब तुम्हारे साथ सोवेंगे! इसलिए सामने वाले भगवान्को मनबुद्धि नहीं दी जा सकती। जो 'मैं' के साथ मिला हुआ भगवान् हैं, उसको जब मन और बुद्धिका अर्पण होगा, तब वहाँसे मन, बुद्धि कहींसे खूँटा तुड़ाकर, नाथ पगहा तुड़ाकर, नहीं जा सकते।

तो भगवान् कहते हैं कि दूसरेसे योग न हो, अन्य योग न हो, ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति मुझमें चाहिए और यह भक्ति ज्ञान ही है। ज्ञान माने आत्मा और परमात्माकी एकताके साक्षात्कारका प्रमुख साधन। ज्ञान माने ज्ञानका साधन। संस्कृत भाषामें प्रकृतिसे अधिक बलवान प्रत्ययबलको मानते हैं।

वह करण अर्थमें है। इस प्रकार ज्ञान माने जाननेका करण, जाननेका औज

ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। तो यह भक्ति कौन है? कि जान
औजार है, भक्तिसे जान सकते हैं—हम इसके सम्बन्धमें थोड़ीसी
आपको (तत्-पदार्थ प्रधान भी) सुनाना चाहते हैं, क्योंकि आजकल
अंडम्-बंडम् सुननेमें आती है।

एक बातपर आप ध्यान दो! यहाँ भक्तिको परमात्माके ज्ञानका कर
साधन बताया गया। तो हम भक्ति न करते और परमात्माको जान भी लेते,
कैसा रहता? भक्तिकी पराधीनता भी न होती और हमको ज्ञान भी हो जात
इसपर आपको बताते हैं कि आपको कोई और ज्ञान भले हो जाता, लेवि
वेदान्तका ज्ञान नहीं होता।

बोले—हमको बौद्ध प्रक्रियासे ज्ञान हो जायेगा—***सर्वं दुःखम्, स***
क्षणिकम्, सर्वं स्वलक्षणम्, सर्वं शून्यम् हम इस प्रक्रियासे विचार कर
हैं, हमको ज्ञान हो जायेगा। तो बोले कि आपको दुःखका कारण मालूम प
जायेगा, क्षणिकता मालूम पड़ जायेगी, स्वलक्षण मालूम पड़ जायेगा, शून
मालूम पड़ जायेगा, लेकिन आप अपनेको नहीं जान सकते। जो शून्यको जा
रहा है वह अपनेको नहीं जान सकेगा। आप यह जान सकेंगे कि य
पंचभूतकी बनी हुई सृष्टि, इसका कारण अहंकार, इसका कारण महत् औ
इसका कारण प्रकृति! और यह भी जान सकेंगे कि प्रकृति कुछ नहीं, शून्य
है। आप शून्यको जान सकेंगे, पर शून्यको जानने वाले स्वको नहीं जान
सकेंगे। वह कैसे दिखेगा आपको? आप यदि यह सोचेंगे कि हम भी शून्य
ही हैं तो हम भी शून्य हैं, यह जो सोचेगा वह शून्य कैसे होगा? वह तं
अशून्य हो गया। ***शून्यं ससाक्षिकमसाक्षिकं वा?*** शून्यका कोई साक्षी है वि
बिना साक्षीका है? यदि बिना साक्षीका शून्य है तो अप्रामाणिक है, सिद्ध हं
नहीं है; और यदि कोई उसका साक्षी है तो शून्यके ज्ञानसे साक्षीका ज्ञान कैसे
होगा?

अच्छा बोले—हम जानते हैं कि सारी दुनिया बदल रही है, सृष्टि
अनेकान्त है। ठीक है, हम यह मानते हैं कि तुमने सृष्टिको अनेकान्त जा
लिया। लेकिन जो अनेकान्तको जानता है उसको जाना कि नहीं?

हम आपका ध्यान वेदान्तकी एक खास विशेषतापर दिलानेके लिए यह बात करते हैं। अपने-अपने हिसाबसे सब ठीक हैं, सांख्यका प्रकृति-पुरुष-विवेक भी ठीक है, और निरोध होनेपर ही द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है—यह योगका मत भी ठीक है। ईश्वर परमाणुओंसे सृष्टि बनाता होगा, यह भी ठीक है। प्रकृति परिणामको प्राप्त होके सृष्टि बनती होगी, यह भी ठीक है। यथास्थान रहें सब। हम एक बात जनाना चाहते हैं कि वेदान्तकी जो यह प्रतिज्ञा है कि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान; यह वेदान्तकी अपनी चीज है, इसमें हस्तक्षेप करनेवाला सृष्टिमें कोई नहीं है। ***'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम् भवति।'*** यह वेदान्तके अतिरिक्त और किसी दर्शनसे सिद्ध नहीं हो सकता।

अब हम आपसे यह पूछते हैं कि यदि आप ईश्वरका विचार छोड़ दें, ब्रह्मपदार्थका और तत्पदार्थका विचार छोड़ दें और केवल अहं पदार्थका विचार करें, केवल त्वंपदार्थका विचार करें, तो क्या होगा, यह आप जानते हैं? भूलमें नहीं पड़ना। कहते हैं कि रमणमहर्षि केवल 'कोऽहम्' अर्थात् 'मैं कौन हूँ' के विचारसे ही आत्मसाक्षात्कार मानते हैं। लेकिन आपकी यह मात्र सुनी हुई बात है, आपने रमण महर्षिके सिद्धान्तको पढ़ा नहीं है। उनकी रमणगीता पढ़कर देखिये—उसका नवाँ अध्याय पढ़िये, बारहवाँ अध्याय पढ़िये, सोलहवाँ पढ़िये— रमण महर्षि तो **मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी** का बड़ा जोरदार प्रतिपादन करते हैं। उनका जो 'सद्दर्शनम्' है उसमें ***स्वयं तदनी भवनं तदीक्षा,*** शरणागतिका वर्णन है। वेदान्तके दृष्टिकोणसे उसका अर्थ सुनाता हूँ।

क्या आप यह अनुभव करते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हूँ? प्रश्न यह है कि यह जो मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है, आसमान है, यह जो देश-काल और वस्तुके रूपमें फैली हुई सृष्टि है, इसको बनानेवाला कुम्हार भी मैं और इसके रूपमें बनने वाली माटी भी मैं अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मैं हूँ—यह अनुभव आप कैसे करते हैं? जरा उस अनुभवकी प्रक्रिया बताइये। नास्तिकताकी कोई दवा नहीं है। मूर्खताकी कोई दवा नहीं है। हम आपको यह सुनाना चाहते हैं कि यदि आप अनुभव करेंगे कि जैसे घड़ेका उपादान कारण मृत्तिका है, वैसे सारी सृष्टिका

उपादान कारण मैं हूँ, तो वह उपादान कारण दृश्य होगा और आप द्रष्टा होंगे दृश्यसे द्रष्टा न्यारा होता है। यदि आप भावना भी करें कि मैं जगत्‌का कारण हूँ, तो जगत्कारणाकार जो वृत्ति बनेगी, उस वृत्तिके आप द्रष्टा ही रहेंगे कभी भी आप अपनेको जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अनुभव कर नहीं सकेंगे।

अच्छा, यह सोचो कि मैं निमित्तकारण हूँ, मैं सृष्टि बना रहा हूँ, मैं कुम्हारके रूपमें बैठा हूँ, प्रजापतिके रूपमें या सगुण ईश्वरके रूपमें बैठा हूँ और सृष्टि बना रहा हूँ, तो जो बनानेकी क्रिया कर रहा है वह तो दृश्य है, आप उसके द्रष्टा हैं। दृश्यरूप उपादान और दृश्यरूप निमित्त, इन दोनोंसे आप पृथक् होंगे और एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी वेदान्तोक्त प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी।

आप सांख्य और योगके अनुसार विवेक करके अथवा चित्तवृत्ति-निरोध करके द्रष्टा हो सकते हैं, परन्तु दृश्य भी मैं ही हूँ, यह ज्ञान आपको योग और सांख्यके द्वारा नहीं हो सकता।

तो आप पहले एक विचार कीजिये कि पृथिवी जलसे ठोस है। पृथिवी कठोर है। यह पृथिवी पिघली हुई चीज (जल) जमके कठोर बनी है। और गर्मीसे पिघलके द्रवता बनी है। तो अग्निसे जल बना है और वायुके घर्षणसे उष्णता (गर्मी) बनी है। और गति बनी है अवकाशमें। आकाशमें गति, गतिमें घर्षणसे उष्णता, उष्णतामें द्रवता और द्रवताके जमनेसे कठोरता। अब जो अवकाश है वह कहाँ हैं? आप विचार करो। तो आकाशमें गति और उष्णता उत्पन्न होनेका जो क्रम है वह क्रम तो हुआ काल और उनके लिए जो स्थान है वह हुआ देश। इसका उपादान कारण क्या है? इसका उपादान कारण है बुद्धि। बुद्धिका उपादान कारण है सबीज सत्ता। सबीजसत्ताको सांख्य लोग 'प्रकृति' बोलते हैं और वेदान्ती लोग उसको अव्याकृत बोलते हैं। माने 'व्याकरण' के पहले जो धातुका रूप है वह अव्याकृत है। जैसे धातु है 'भू' अव्याकृत और भवति, भवतः, भवन्ति, भव्यम्, भवः, भवनम्—ये सब उसके व्याकृत रूप हैं, विशेष आकृति हैं। एक धातुसे विशेष आकृतियाँ निकल आयीं। व्याकृत होनेके पहले जो अव्याकृत है, नाम-रूपकी उत्पत्तिके पहले जो प्रपंचकी स्थिति है, उसको अव्याकृत बोलते हैं। रामः, रामौ, रामाः होनेके

पहले जो रं है वह प्राकृत है। गहराईसे सोचो तो यह 'रं' भी अव्याकृत नहीं है और 'भू' भी अव्याकृत नहीं है। क्योंकि जब दोनों धातुओंमें अन्तर है तो अव्याकृत कहाँ है? व्याकरणने ही यह निर्णय किया कि यह रं धातु है, यह भू धातु है। धातु-पाठ, भी तो व्याकृत ही है। तो 'रं' और 'भू' आदि धातुओंका भेद बननेसे पहले जो शब्दकी स्थिति है, वही व्याकरण की दृष्टिसे अव्याकृत है।

अभिप्राय यह है कि जगत् जिसमें अव्याकृत दशामें रहता है, वह सच्चिदानन्दघन तत्पदार्थ है। यह तत् पदका वाच्यार्थ है, हम तत्पदार्थ उस सच्चिदानन्दघन तत्त्वको कहते हैं जिसकी अव्याकृत दशामें यह प्रपंच रहता है और उसीमें व्याकृत होके प्रकट भी होता है, उसके बाहर नहीं होता है। इस जगत्के कार्य कारण भाव, दोनोंका उत्थान और दोनोंका विलय—जिस अव्याकृत परमेश्वरमें होता है वह तत्-पदका वाच्यार्थ ईश्वर है। अब इधर एक चैतन्य वह ढूँढो जो जगत्के कार्य और कारण, दोनोंकी कल्पनाका अधिष्ठान है। यहाँ भी है, अब भी है, इसमें भी है, इस शरीरमें भी है, अन्तःकरणमें भी है। जरा उसको ढूँढो जो देहेन्द्रिय आदिका साक्षी है, द्रष्टा है। यह त्वं-पदार्थ हुआ।

वेदान्तकी प्रक्रिया देखो—उस अव्याकृतकी उपाधिसे युक्त चैतन्य सच्चिदानन्द और इस अन्तःकरणादिकी उपाधिसे युक्त सच्चिदानन्द इन दोनोंको जब महावाक्यके द्वारा उपाधिका तिरस्कार करके, व्याकृत-अव्याकृतके नाम, रूपका तिरस्कार करके, शुद्ध सच्चिदानन्द अंशमें देखते हैं, तो जो त्वं-पदका अर्थ है, वही तत्-पदका अर्थ है। तत्त्वमसि!

इससे निकला यह कि तत्-पदार्थ (परमेश्वर) त्वं-पदार्थ होनेसे प्रत्यक् चैतन्य, द्रष्टा चैतन्य हो गया; और द्रष्टा-चैतन्य जगत्के व्याकृत अव्याकृत उपाधिसे उपहित चैतन्य सच्चिदानन्द चिद्घन, सद्घन, आनन्दघन परमात्माके साथ एक होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्का विवर्ती अधिष्ठान हो गया; और इसकी अखण्डतामें जगत्की सत्ताका लोप हो गया। बाधित हो गयी जगत्की सत्ता। अब क्या हुआ कि एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी जो प्रतिज्ञा है, वह पूरी हो गयी। नहीं तो तुम द्रष्टा होके न्यारे हो जाओगे। तुम संन्यासी तो रहोगे, लेकिन वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी बेचारे मारे जायेंगे।

माने तुमसे अलग हो जायेंगे। द्रष्टा तो संन्यासी है, द्रष्टा ब्रह्म नहीं है; वह तो महावाक्यसे उसकी ब्रह्मताका बोध होता है। कहो कि नहीं जी, जगत्का कारण तो प्रकृति है और मैं तो द्रष्टा हूँ, तो वेदान्त दर्शनका स्वाध्याय करना—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तनुपरोधात्। (ब्र.सू.)

प्रकृति शब्दका अर्थ वेदान्त-दर्शनमें ब्रह्म ही है। यह सूत्र ही है। इसके लिए अधिकरण है ब्रह्मसूत्रमें।

कहनेका अभिप्राय यह है कि अद्वैत बोध होनेके लिए सम्पूर्ण जगत्के उदय-अस्तका स्थान जानना जरूरी है, उसका अपनेसे अभेद जानना जरूरी है और फिर प्रपंचका बाधित होना जरूरी है। नहीं तो सत्ताकी अद्वयताका बोध नहीं होगा। यह है हमारी वेदान्तकी प्रक्रिया!

आप अपनेको द्रष्टा मानके अगर संतोष करो, तो उसमें हमको क्या आपत्ति हो सकती है? आप अपनेको शून्य मानो, या अपनेको बदलता हुआ मानो—चार्वाक तो अपने को पंचभूतका विकार ही मानते हैं कि चैतन्य चार भूतका विकार है—तो यदि चार्वाक अपनेको चार भूतका विकार माने तो हमको क्या आपत्ति है? यदि बौद्ध अपनेको शून्य माने तो हमको क्या आपत्ति है? और यदि कोई अपनेको जीव पुद्गल ही माने तो उसमें भी हमको क्या आपत्ति है? परन्तु यदि वेदान्तकी प्रक्रिया से तत्त्वका निश्चय करना अभीष्ट हो तो उसमें जगतका कारण जुदा नहीं होना चाहिए और यदि अपने आप जगतके कारणत्वका चिन्तन करने लगोगे तो तुम बारम्बार साक्षी हो जाओगे, कारणत्व अपनेमें निश्चित नहीं होगा। इसलिए पहले अन्य रूपसे ईश्वरका निश्चय करके, उसमें जगत् कारणत्वका समन्वय करके, उसमें फिर तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे लक्षणाके द्वारा एकता करनेकी प्रक्रिया आवश्यक होती है।

ठीक है, यह भी एक प्रक्रिया है। लेकिन जिसको एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान प्राप्त करना है, जिसको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वय ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करना है, उस जिज्ञासुके लिए यह प्रक्रिया है। और जो इसका जिज्ञासु नहीं है, वह तो स्वतन्त्र है! उसको हम वेदान्तकी प्रक्रिया काहेको समझाने जायेंगे? तो,

मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

ज्ञानका साधन हो गया ईश्वरका चिन्तन। आपको सुनाया कि अर्जुनको

द्विभुज मानव शरीर श्रीकृष्णकी जानकारी है। और चतुर्भुज कृष्णकी भी जानकारी है।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन।

और विश्वरूपका भी भगवान्ने दिव्य दृष्टिसे दर्शन करा दिया, उसको विराट्की भी जानकारी है। तो उद्देश्य तो अर्जुनके सामने बिलकुल स्पष्ट है। पर विधेय क्या है? माने परमात्मा अपने किस रूपकी भक्ति कराना चाहते हैं! यह बात समझना है। तो बोले—

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता॥ (१०.८)

अहं सर्वस्य प्रभवः। प्रभवः कारणम्। मत्तः सर्वं प्रवर्तते-मुझसे सब पैदा होता है माने मैं सबका उपादान कारण हूँ। मसाला सब मैं। यह हाथ कान, आँख, नाककी शकल नहीं, चामकी गोराई नहीं, रक्तकी लालिमा नहीं; ये तो गुण हैं, गुणमें वजन नहीं होता। वह जो नाम-रूपकी व्याकृतिसे पूर्वकी जो स्थिति है उस उपादानको देखो। **प्रभवः** माने उपादान कारण। उपादान माने मूल मसाला— ***यदुपादाय कार्यं प्रवर्तते।*** कार्य जिसको लेकर चलता है, वह है उपादान। जैसे घड़ा कुम्हारको तो छोड़ जाता है, लेकिन माटीको नहीं छोड़के जाता, तो घड़ेका उपादान माटी है। उपादान-कारण उसको कहते हैं कि जो कार्यमें अनुगत होवे, जो कार्यका साथ न छोड़े, तो 'मयि'का एक लक्षण तो हुआ सबका उपादान-कारण। दूसरा लक्षण बताते हैं—**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** सबका प्रवर्तक मैं हूँ। माने निमित्त कारण मैं हूँ। जगत्का बनानेवाला कुम्हार भी मैं ही हूँ। अर्थात् जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण जो है वह भगवान्का मैं है। वही बन रहा है, वहो बना रहा है। अथवा यों कहो कि सब वही हो रहा है। असलमें तो चैतन्यमें कुछ करना या होना दोनों नहीं हैं, यदि उसमें करना या होना रहेगा तो चैतन्यकी एकरसता नहीं रहेगी। इसलिए कहते हैं कि करना और होनासे उपलक्षित जो चैतन्य है वही है तत्त्व।

उपलक्षित होना, करना और होना, इन तीनोंसे तीन शास्त्र बने हैं। न्यायशास्त्रमें आरम्भवाद है। वहाँ करना है—ईश्वर परमाणुओंसे सृष्टि करता है। सांख्य शास्त्रमें होना है। वहाँ प्रकृति स्वयं रूपान्तरित होती है जगत्के

रूपमें। इसको परिणामवाद बोलते हैं। श्री रामानुजाचार्य मानते हैं कि *सर्वं अभवत्*—वही सब सृष्टि हो गया। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि न होता है न करता है, केवल है, और अस्ति-भाति रूप है। ऐसा अस्ति है जो भाति है और ऐसी भाति है जो अस्ति है। मिथ्या भाति नहीं है और भानरहित अस्ति नहीं है। जैसे दूसरा चन्द्रमा, ऐसा ईश्वर नहीं है; और ऐसी अस्ति नहीं है जिसमें भान न हो जैसे जड़। जड़से व्यतिरिक्त अस्ति है और प्रतीतिसे व्यतिरिक्त भाति है। माने सच्ची तो भाति है और ज्ञान-स्वरूप अस्ति है। क्षणिकतासे व्यतिरिक्त भाति है और जड़तासे व्यतिरिक्त अस्ति है। ऐसी जहाँ अस्ति और भातिकी एकता है उसको बोलते हैं परमात्मा—

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

भगवान्‌ने कहा विद्वान् लोग जानकर मेरा भजन करते हैं।

अब लो भक्तिके लिए तो बड़ी भारी बात भगवान् बोलते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

यहाँ 'यतः' और 'येन' दो लक्षण हैं भजनीय भगवान्‌के। **'यतः प्रवृतिर्भूतानां'**—जिससे सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है माने जो सबसे अलग रहकर सबका प्रेरक है। और 'येन सर्वमिदं ततम्'—कपड़ेमें सूतकी तरह जो सबमें भरपूर है।

इस श्लोकमें पंचमी और तृतीया दोनों हैं। काशीमें एक बड़े वैयाकरण हुए हैं, हम लोगोंके बचपनमें वे काशी के मान्यतम वैयाकरण थे। पंडित हरनारायण तिवारी उनका नाम था; सबलोग तिवारीजी-तिवारीजी बोलते थे। वे कहते थे कि लोग आजकल क्या व्याकरण पढ़ते हैं, इनको तो यह मालूम ही नहीं कि पंचमी और तृतीयाके अर्थमें क्या भेद होता है। येन, माने जिससे और यस्मात् माने जिससे। हिन्दीमें दोनोंका अर्थ 'से' हुआ। तो बोले—कहाँ येन बोलना चाहिए और कहाँ यतः बोलना चाहिए, यह मालूम ही नहीं और व्याकरणाचार्य हो गये! यहाँ एक ही श्लोकमें दोनों है।

यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

यः स्वयं पृथक् वर्तते—जैसे चुम्बकके सन्निधानसे ही, स्वयं अय-

स्कान्तमणिसे लोहा प्रेरित होता है; (अयस्कान्तमणि माने चुम्बक), जैसे चुम्बकके सान्निध्यसे लोहेमें स्वयं गति होती है; ऐसे 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां', जिससे सारी सृष्टि नाच रही है और जो स्वयं अपनी जगहपर बैठा है, अटल है, और जगत्की प्रवृत्ति हो रही है, और **येन सर्वमिदं ततम्**—येन सूत्रेण, इदं वस्त्रं ततम्—जिस सूत्रसे यह वस्त्रका ताना बाना बना है, भरपूर है, माने जो जगत्का उपादान कारण है; इस सम्पूर्ण जगत्का जो निमित्त और उपादानकारण दोनों है, अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है; **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**। उसकी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा अर्चना करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।

यह जो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इसके बारेमें विचार करना आवश्यक है, नहीं तो ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान तो तुमको होगा। लेकिन जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है उसका ज्ञान नहीं होगा। अगर सूतको नहीं पहचानोगे तो कपड़ेको क्या पहचानोगे? तो इस जगत्-रूप वस्त्रका जो मूल सूत्र है, उसको पहचानना पड़ेगा। इसमें तो भक्ति करनी पड़ेगी। भक्ति-पूर्वक जो तत्पदार्थका अनुसन्धान करता है वह तत्-पदार्थके स्वरूपको जान जाता है और जानकरके त्वं-पदार्थसे अभेद भी जान जाता है। और जिसने तत्पदार्थको ही नहीं जाना वह त्वं-पदार्थको भी क्या जानेगा? इसलिए जो सम्प्रदायहीन, प्रक्रियाहीन, उपनिषद् विरुद्ध वेदान्तका प्रतिपादन करते हैं, वे बुद्धिमान होंगे, उनको सबकुछ होगा, लेकिन वेदान्त-ज्ञान नहीं होगा। यह बात ध्यानमें लानेकी है, क्योंकि जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके साथ, अपने स्वरूपका समन्वय हुए बिना सर्वात्मबोध नहीं हो सकता। और जब सर्वात्मबोध नहीं होगा तो आँख बन्द करके थोड़ी देरके लिए बन जाओ द्रष्टा-साक्षी, हो लो दुनियासे अलग, फिर उसी दुनियामें तुमको पड़ना पड़ेगा। अच्छा, अद्वैत बोधमें क्या है? स्वातन्त्र्य है। माने उसमें अलग रहनेकी जरूरत नहीं है, उसमें तो छूट पट्टी है। कूद पड़ो समुद्रमें, डूबनेका कोई डर नहीं हैं। समुद्र अपना आत्मा हो गया। सरोवर अपना आत्मा हो गया। उसमें कूद करके डरनेकी जरूरत नहीं है। दिनरात व्यवहार करो और दिनरात समाधि लगाओ, समाधि और व्यवहार दोनों एक हो जायेंगे। यह एकात्मबोधका लक्षण है। खुली आँखसे परमेश्वर दिखे, बन्द आँखसे परमेश्वर दिखे।

तं सप्रपंचमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः।
(भाग० ११.१३.३७)

जिसको वस्तुका प्रतिबोध हो गया, वह अपने स्वरूपमें बैठ गया! अब अपनेमें प्रतिभासमात्र जो प्रपंच है उससे क्या डर? मरुस्थलका जिसको बोध है वह मृगतृष्णाके जलमें कभी डूबेगा? जिसको रज्जुमें प्रतीयमान सर्पका ठीक-ठीक बोध है, उसको सर्पके काटनेका जहर चढ़ेगा? जिसको रज्जुका बोध है, माला पहननेका सौन्दर्य उसके अन्दर आवेगा? जिसको सीपका बोध है वह क्या उसकी चाँदीसे धनी हो जायेगा? कहनेका अभिप्राय यह है कि सर्वात्मबोधमें स्वातन्त्र्य है और द्रष्टात्म बोधमें निवृत्ति है। वृत्ति सारूप्य न होने पावे इसके लिए जरा अलग-थलग खड़े रहो, वह दूसरी चीज है। तो

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

इसमें मयि माने ईश्वरका बोध होना चाहिए। जो जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, सच्चिदानन्दघन, अदेश, अकाल, अवस्तु होनेपर भी देश, काल, वस्तुके रूपमें मालूम पड़नेवाला है, उसका बोध होना चाहिए। वह तो विषय हुआ भक्तिका।

'अनन्ययोगेन' का अर्थ है कि उसके सिवाय विषय दूसरा न हो माने किसी भी परिच्छिन्न विषयको भक्तिका विषय न बनाया जाये। मातृभक्ति, पितृभक्ति, पतिभक्ति, पत्नीभक्ति, देश भक्ति, प्रान्तभक्ति, राष्ट्र भक्ति, सम्प्रदाय भक्ति ये सब परिच्छिन्नकी भक्ति है। जब तत्त्वज्ञान प्राप्त करना हो तो छोटेवाले ईश्वरोंकी भक्ति करनेसे काम नहीं चलेगा, बड़े वाले ईश्वरसे एक ही भक्ति करनी पड़ेगी। माने सम्पूर्ण जगत्‌वाला, प्रकृतिवाला, मायावाला, उस ईश्वरकी भक्ति करनी पड़ेगी। अत: अनन्य योगेनका अर्थ है कि जो जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है उससे अन्य जो कार्यात्मक नाम और रूप हैं उनसे भक्तिका योग न हो।

अव्यभिचारिणी माने स्वयं जो वृत्ति है, वह भी अपनेमें परिवर्तित न हो अर्थात् वासना भी न हो और चाञ्चल्य भी न हो। अनन्ययोगमें वासनाकका निषेध है और अव्यभिचारिणीमें चाञ्चल्यका निषेध है। माने विक्षेप और

वासना दोनोंसे मुक्त और केवल भगवान्‌की भक्ति, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण जो परमात्मा है उसका अनुसन्धान, इसका नाम भक्ति है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ (१३.१८)

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (१०.१०)

(१७) अब अगला साधन प्रारम्भ करते हैं— **विविक्त देशसेवित्वम्**— देशमें विविक्तता। विवक्त माने पृथक् कृत। विचिर पृथग्भावे—विचिर धातु पृथक् भावके अर्थमें है। तो विविक्त देशसेवित्वम्‌का अर्थ है एकान्तमें रहनेका अभ्यास। जिनलोगोंको एकान्तमें बैठनेका अभ्यास नहीं होता, उनको अगर किसी दिन कोई बात करने वाला न मिले, तो 'बोर' हो जाते हैं। हमको एक आदमी बताता है—हमारा घर साँय-साँय बोल रहा है, हाय-हाय! कोई नहीं है। घरमें, सूना लगता है, घर काटने दौड़ रहा है। और जिसको ईश्वरके ध्यानका, भजनका अभ्यास होता है उसको अगर ऐसा घर मिल जाता, तो वह कहता—धन्य भाग हमारे, ईश्वरने हमारे ऊपर बड़ी भारी कृपा की, हमको ध्यानका अवसर मिल गया, भजनका अवसर मिल गया!

एकबार मैं वृन्दावनमें सवेरे वेदान्तकी कथा करता था। हमारे यहाँ प्रतिदिन वेदान्तकी कथा चलती है। यह बात श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके समयसे ही चलती आ रही है। तो कोई प्रसंग होगा, मैंने कहा कि परमात्माके ज्ञानके लिए वेदान्तका स्वाध्याय जरूरी है, एकान्त-सेवन उतना जरूरी नहीं है। यह तो आप जानते हैं और नहीं जानते हों तो जानना जरूरी है कि हम एकान्तमें बैठके अपने मनसे जितना ध्यान कर सकते हैं, वह जाने हुए पदार्थका ही ध्यानकर सकते हैं। नितान्त अज्ञात पदार्थका ध्यान नहीं हो सकता। इसका मतलब यह होता है कि ध्यान हमको कोई नई चीज नहीं दे सकता या तो पूर्व जन्मकी जानी हुई हो, या तो इस जन्मकी जानी हुई, सुनी हुई, देखी हुई या सोची हुई हो ध्यान उसीमें हमको स्थिर कर सकता है, अज्ञात वस्तु ध्यानमें प्राप्त नहीं हो सकती।

अब आपको यह बात सुनाते हैं कि परमात्मा आपको संसारमें किसी भी प्रमाणसे, न पिछले किसी जन्ममें न इस जन्ममें, न आँखसे देखा गया है, न नाकसे सूँघा गया है, न जीभसे चखा गया है, न त्वचासे छूआ गया है, न मानसिक कल्पनाके रूपमें आया है। मानसिक कल्पना भी नहीं आई है,

क्योंकि जो भी मानसिक कल्पनामें आ जाता है, उसमें अपने मनकी वासना, अपने मनका संस्कार अपनेमनकी कल्पना जुड़ जाती है। तो जिसने परमात्माके स्वरूपको वेदान्तके द्वारा जाना नहीं है, यदि वह ध्यान करने बैठेगा या उपासना करने बैठेगा तो वह अपनी देखी-सुनी हुईका ही ध्यान होगा। आप देखो, आपको एक बालक ध्यानमें आ जावेगा क्योंकि बालक तो हजारों देखे हुए हैं! उनमें किसीकी आँख थोड़ी चमक जायेगी, चाम थोड़ा चमक जायेगा, उसकी आँखको चमकाके, चामको साफ करके आप एक बालकका ध्यान कर सकते हो परन्तु यह ईश्वर है, ऐसा आपको विश्वास करना पड़ेगा, माननेके सिवाय और कोई चारा नहीं है। अब यदि यथार्थ वस्तुका ज्ञान प्राप्त करके अज्ञानको मिटाना है, तो आपको पहले यथार्थ वस्तुके ज्ञानकी कोशिश करनी पड़ेगी, उसके बाद ध्यानकी जरूरत रहे तो करना पड़ेगा, न रहे तो नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि यदि वह वस्तु अपना आपा ही हुई, और वह मिली हुई ही हो तो उसको जाननेके बाद कुछ करना नहीं पड़ेगा। अन्य वस्तुको जब जानते हैं तब उसको जाके पकड़ना पड़ता हैं, उसके पानेके लिए प्रयत्न करना पड़ता है और फलके लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है; और अपने आपको जब जानते हैं तो न उसे छोड़ना पड़ता है न पकड़ना पड़ता है, न उसके लिए कुछ करना पड़ता है, क्योंकि वह तो स्वयं पहलेसे मौजूद है।

एक सज्जन बीस-पच्चीस बरससे एकान्तमें बैठे हुए थे। उन दिनों देशमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और लोग कहते थे कि बस उनका तो आसन धरतीसे ऊपर उठ जाता है। बम्बईमें ऐसा कोई आ जाये तो देखनेके लिए सब लोग चले जायेंगे, यहाँ कोई वेदान्त सुननेके लिए नहीं आवेगा। वृन्दावनमें तो ऐसे रोज ही आते रहते हैं; कोई पेड़ा बरसाते हैं, कोई रोली बरसाते हैं, कोई राख बरसाते हैं। किसीके घर आके भगवान् हलवामें ही पाँव रख देते हैं। अब हमलोग तो चमत्कारके देशके हैं तो सब समझते रहते हैं, उसको जानते हैं, वह विद्या भी मालूम है। तो वे सज्जन पच्चीस बरससे एकान्तमें बैठें हुए थे, न तो किसी महात्माके पास जायें न तो वेदान्तका स्वाध्याय करें, एकान्तमें बैठे हुए। हमने कहा कि ध्यान तो उतना ही होगा जितना ये जानते हैं, इससे आगे तो ध्यान जायेगा नहीं। जैसे सोनेसे पहले आदमी जहाँ सोता है, जागनेके बाद वहीं जागता है, वैसे ध्यानके पहले बुद्धिकी जितनी जानकारी

रहती है, ध्यानके बाद भी बुद्धिकी उतनी ही जानकारी रहती है। उसी विषयमें वह माँजा जाता है, उसके मनमें उसी विषयमें थोड़ी चमक-दमक आवेगी, जितनी जानकारी है। और यह परमात्माका जो स्वरूप है वह किसी इन्द्रियका, मनका या बुद्धिका विषय तो है नहीं; क्योंकि वह तो बुद्धिका साक्षी है, बुद्धिका द्रष्टा है। इसलिए वह ध्यानका विषय नहीं है, इसको तो तुमको बताने वाला चाहिए। तो मैंने ऐसे उनकी आलोचना कर दी। कह दिया कि बाबा! उन्होंने पच्चीस बरस ध्यान किया तो क्या हुआ, अपने मनको सूक्ष्म बना दिया, इससे 'मैं' ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान थोड़े ही हो गया! जिस एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है, वह विज्ञान उनको थोड़े ही हुआ! इसके लिए तो उनको हमारे पास ही आना पड़ेगा। उसके लिए तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यका जो अर्थ है वह समझना पड़ेगा! पच्चीस बरसका ध्यान उसमें कोई काम नहीं देगा।

किसी भी अज्ञात पदार्थका ज्ञान करना हो तो प्रमाणके द्वारा होगा। प्रमाण माने श्लोक नहीं, प्रमाण माने जिस वस्तुको देखनेके लिए जो करण है वह जैसे रूपको देखनेके लिए आँख करण है, शब्दको सुननेके लिए कान करण हैं, वैसे अपनेको ब्रह्म जाननेके लिए उपनिषद्के तत्त्वमस्यादिमहावाक्य करण हैं, यह बात जाननी चाहिए।

तो **विविक्तदेशसेवित्वंका** अर्थ है कि पहले तो करो विवेक विचिर् पृथग्भावे, और विविक्त जो देश है पवित्र जो 'देश' है, जिसमें द्वैतका लेश भी नहीं है, वहाँ बैठो।

एक महात्मा थे, वे अलग बैठा करते थे। एकबार हम बैठे थे तो वे आगये। हमने कहा कि इनको आसन दो! तो अलग आसन पर हम भी बैठते हैं। पर हमको आसन कोई कालीन नहीं चाहिए, मखमली या रेशमी नहीं चाहिए, हमारा नियम इतना ही है कि जिस आसनपर दूसरे लोग बैठते हैं उसपर न बैठें, अलग बैठें; इसके लिए हमको टाट दे दो, कुशासन दे दो, सबसे नीची जगह पर बैठाओ, लेकिन वह अलग होना चाहिए। तो विविक्त माने- अलगनम्, न लगति इति अलग, क्विप् प्रत्ययान्त है। तो व्यवहारमें भी आसन अलग हो, और भजनके लिए भी आसन अलग होवे। और भीड़भाड़से अलग होकर बैठें और अपने मनमें जो सुने हुए, देखे हुओंकी भीड़ है ना—

दुनियाको देखते-देखते उनकी जो भीड़ आ गयी हैं, उसको निकालो। भीड़ सड़क पर नहीं, भीड़ तो दिलमें है; मुसाफिर खाना तो दिल बन गया है, दस आते हैं दस जाते हैं। अब इसीमें हम अपने प्रीतमसे मिलेंगे तो क्या मजा आवेगा? थोड़ा तो एकान्त कमरा चाहिए ना। तो **विविक्तहृद्देशसेवित्वम्।** विषयसे विविक्त पवित्र जो देश है उसमें बैठना। उपनिषद्में आता है कि आसन कैसा हो? विविक्त देशमें भी ध्यानके लिए—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुका विवर्जिते।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)में एक तो वहाँकी धरती सम हो। नीची होगी तो कहींसे पानी बहकर आजायेगा, ऊँची होगी तो गिरनेका डर रहेगा। दूसरे 'शुचौ'—पवित्र होनी चाहिए, गन्दी नहीं चाहिए। तीसरे ***'बालुकावह्नि विवर्जिते'***—वहाँ कंकड़-पत्थर नहीं होना चाहिए, बालू नहीं होनी चाहिए और आग नहीं होनी चाहिए। क्योंकि स्वाँसके साथ बालूके कण उड़-उड़के भीतर जाते हैं कंकड़-पत्थर गड़ते हैं और आगसे गर्मी बढ़ती हैं। तो विविक्त देशमें भजन करनेके स्थान पर ध्यान रखना चाहिए।

गीतामें भी भगवान्ने कहा—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मानः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ (६.११)

शुचौ देशे—माने पवित्र देशमें, आसनमें भी स्थिरता; वह बहुत ऊँचा न हो, मचानपर बैठकर ध्यान नहीं कर सकते, और बहुत नीचा न हो।

हमको याद है, हम एक महापुरुषसे इस श्लोकका अर्थ सुन रहे थे, तो उन्होंने कहा जब शरीरको सम कहते हैं—**समं कायशिरोग्रीवं**, और मनको सम कहते हैं—**येषां साम्ये स्थितं मनः** और योगमें भी सम होना है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

तो आसन भी सम ही होना चाहिए। उसी 'सम'को **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं** कहा है, आसन भी सम ही होना चाहिए। **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं**—का यह अर्थ अपने आप पढ़कर नहीं सूझता था। हजारों बार गीताका पाठ किया होगा, लेकिन उसका अर्थ 'सम' है यह बात हमको नहीं आयी। जब महात्माके मुँहसे सुना तो समझमें आया कि यह भी सम है।

तो 'शुचौ देशे'में जो शुचौ पद है ना, उसके स्थानपर यहाँ 'विविक्त'

पद है। एक बात का बस ध्यान रखें कि जहाँ भजन करना हो, उस स्थानको अलग ही रखें। उस आसन पर कभी सोवें नहीं, कभी खायें नहां, उस पर बैठकर कभी संसारी वस्तुओंका भोग न करें और संसारी बातचीत भी न करें। यह आप निर्णय कर लें कि इस स्थानपर इस आसनपर बैठनेके बाद, हम ईश्वरके चिन्तनके सिवाय, ईश्वरके ध्यानके सिवाय और दूसरी कोई बात नहीं करेंगे, नहीं सोचेंगे। इस पर बैठेंगे तो मौन हो जायेंगे या इसपर बैठेंगे तो ईश्वरकी चर्चा करेंगे। यहाँ बैठकर हम नौकर पर हुकूमत नहीं करेंगे, पति-पत्नी आपसमें बैठकर बात नहीं करेंगे वहाँ, उतनी जगह वर्जित है, वहाँ बच्चेको नहीं खिलावेंगे, वहाँ कुत्तेको नहीं आने देंगे।

तो **विविक्त-देशसेवित्वं**—विविक्त माने पृथक्कृत माने तत्त्वज्ञानके चिन्तनके लिए ही वहस्थान वह आसन अलग कर दिया गया हो। इसको विविक्त बोलते हैं। तो यह ज्ञानमें मददगार होनेसे इसका नाम ज्ञान है।

अब विविक्तदेशसेवित्वंका अर्थ यह है कि आपको विवेकसे जो वस्तु सिद्ध हो सो विविक्त। विवेक करते-करते आप किस निश्चयपर पहुँचे? यह कि अनात्माको देखनेवाला आत्मा-अपना आपा सबसे अलग है। वही हृदय जिसमें वृत्तियाँ उठती हैं, जिसमें अहं उठता है, जिसमें बुद्धि उठती है, जिसमें विचार जागता है, और सोता है। जिसमें दुनियाकी सारी वृत्तियाँ उठती हैं और सोती हैं वह जो हृदय देश है उसको विविक्त देश बोलते हैं। अत: विविक्त देशसेवित्वं माने ज्यादा करके हृदयदेशमें ही रहें। अगर आपको तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान प्राप्त करना है और आत्मामें परमात्माको देखना है, तो विवेक करके जो अनात्मदेश है, उसका परिवर्जन कर दें और आत्मदेश-सेवी होकर रहें, जब देखो जब आत्मदेशमें ही हैं।

सुरति बिरहुलिया छाई निज देस।
जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत पूरन धनी दिनेश॥

तो बस वहाँ रहनेका अभ्यास करो जैसे दाल जब पकने लगती है तो खुदबुदाती है, जैसे दालमें बुदबुदे उठते हैं वैसे जहाँ अहं-अहं-अहं ऐसा बुलबुला उठता है वह हृदयदेश, विविक्त देश है। विवेकसे अगर यह सिद्ध हुआ कि तुम दृश्य नहीं द्रष्टा हो, तो वह विविक्त देश हो गया। उसमें बैठो। जहाँ ईश्वर-चिन्तनकी, आत्मचिन्तनकी सुविधा हो वहाँ बैठो।

एक बात आपको सुनाते हैं—यह जो लोग समझते हैं कि हम आध्यात्मिक मार्गमें कई लोग मिलके एक साथ प्रवेश करेंगे, चार जने बैठ गये और रोज एक ही ज्ञानपर चारों जने पहुँच गये, रोज चारों निश्चय करते हैं कि यह अनात्मा हुआ और मैं आत्मा हुआ, यह दृश्य हुआ और यह द्रष्टा हुआ और हम चारों दृश्यको छोड़कर द्रष्टा पर पहुँच रहे हैं—यह बात असलमें आध्यात्मिक-उन्नतिमें विघ्न है। अगर पालकी कन्धेपर लेकर चलना हो तो चार आदमी साथ उसमें लग सकते हैं, मुर्दा ढोनेमें भी चार आदमी लग सकते हैं, कोई बोझ न उठता हो तो उसको भी चार आदमी मिलके उठा सकते हैं, पर यह जो निवृत्त होना है, बाहरसे भीतर जाना है, इसमें सबके अन्त:करणकी वासनाएँ अलग-अलग होती हैं और ईश्वर सबसे अलग-अलग ढंगसे मैत्री करता है, किसीके हृदयमें कैसे प्रकट होता है, सबके हृदयमें एक सरीखा प्रकट नहीं होता। इसलिए ईश्वरसे मिलनेमें सबको अलग-अलग साधना, अलग-अलग चिन्तन, अलग-अलग स्थिति प्राप्त करनी पड़ेगी। वे चार जने एक साथ नहीं चलेंगे।

एकबार सुनते हैं कि तीन चार साधक इकट्ठे हुए। उनमें गोस्वामी तुलसीदासजीका भी नाम लिया जाता है, केशवदासजीका नाम लिया जाता है। जो रामचन्द्रिका, रसिकप्रिया, कविप्रिया आदि बड़े-बड़े ग्रन्थोंके रचयिता हैं। उनमें बड़ा प्रेम था। तुलसीदासजी तो सबसे निराले थे, वे अलगसे भगवान्‌का भजन करते थे। पर वे जो अन्य तीन-चार थे, वे बोले कि देखो हम लोगोंको इस जन्ममें भी भगवान् मिलें तो साथ-ही-साथ मिलें और अगर इस लोकमें न मिलें तो हमको परलोकमें भी साथ-ही-साथ मिलें। गोस्वामीजी तो अलग हो गये थे उस पार्टीसे और उन तीनोंको मरनेतक भगवान् नहीं मिले। तो उन्होंने कहा—भाई, जिन्दा रहते तो नहीं मिले, अब मरनेपर एक साथ कैसे मिलें! तो सोचा कि एक साथ ऐसे ढंगसे मरें कि मरनेके बाद भी तीनों साथ रहें। सो तीनों कुँएमें एक साथ गिरे और तीनों भूत हुए।

एक दिन गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज उधरसे निकले, तो वहाँसे राम-नामकी ध्वनि आवे! उन्होंने कहा—यह तो केशवदासकी आवाज मालूम पड़ती है। सो बैठ गये वहाँ। फिर भगवान्‌का भजन करते समय

तुलसीदासजीको मालूम हो गया कि ये तीनों भूत हुए हैं। तब उनको भूतयोनिसे छुड़ानेका उन्होंने अनुष्ठान किया और वे तीनों फिर मुक्त हुए।

अभिप्राय यह है कि सबके अन्त:करणकी स्थिति अलग-अलग होती है, वासना अलग-अलग होती है और अन्तर्मुख होनेमें और बातको समझनेमें अलगाव होता है, जिस चीजको छोड़ना है वह सबकी जो आसक्ति है, जो पाश है, जो बन्धन है सबका अलग-अलग होता है। अत: उस पाशसे मुक्त होनेके लिए सबको अलग-अलग प्रयत्न करना पड़ता है।

(१८) अब अगला साधन बताते हैं—अरतिर्जनसंसदि, माने भीड़-भाड़में रहनेकी रुचि न हो। रति माने रमना नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि जन-संसदमें, भीड़-भाड़में जाना नहीं। कालबादेवी या चौपाटीसे निकलना वर्जित नहीं है, लेकिन वहाँ ऐसे रम जाओ कि वहीं चाट खाओ और वहीं रात बिताओ, वहीं दिन बिताओ और वहीं देखते रहो, ऐसा रम नहीं जाना, उसमें रस नहीं लेना, मजा नहीं लेना। रास्तेसे निकलना अपराध नहीं है, वहाँ फँस जाना अपराध है।

'जन' माने? *जायन्ते इति जना:,* जो पैदा होता है उसको जन बोलते हैं।

जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फलता है वह झड़ जाता है, जो जलता है वह बुझ जाता है, जो पैदा होता है वह मर जाता है। यद्दृष्टं तन्नष्टम्—जो देखा जाता है वह आँखोंसे ओझल हो जाता है, इसीको बोलते हैं जन। यह प्रपंच क्या है, यह संसार क्या है? यह जन संसद है माने इसमें पैदा होनेवाले और मरनेवालोंकी भीड़ है। यह आने-जानेवालोंकी भीड़ है।

सुनते हैं, विदेशसे कोई सज्जन बम्बईमें आये थे। वे जब चर्च-गेटके पास गये तो किसीसे पूछा कि यह क्या है? बताया कि यह चर्चगेट है। अब वहाँ तो हजारों आदमी स्टेशनसे निकल रहे थे और घुस रहे थे। उस भीड़को देख कर वे बोले—ओहो भारतमें ईसापर श्रद्धा करनेवाले इतने लोग हैं? देखो हजारों आदमी चर्चगेटमें जा रहे हैं और चर्चगेटसे निकल रहे हैं, दिन भर यहाँ भीड़ लगी रहती है। तो उन्होंने चर्चगेट स्टेशनको किसी चर्चका गेट समझ लिया।

जो जनता है वह पैदा होती और मरती है, जायस्व म्रियस्वके चक्करमें पड़ी हुई है, बल्कि दिन भरमें दस बार पैदा होती है और दस बार मरती है, उधर राग होता है उधर द्वेष होता है; उधर फँसती है, उधर छूटती है, उधर रोती है उधर हँसती है। असलमें वृत्तियोंका बदल जाना ही जन्म-मृत्यु होना है। महात्मा लोग शरीरसे जन्मनेको जन्मना और शरीरसे मरनेको मरना नहीं मानते हैं। हमारे यहाँ तो संन्यासी होना भी एक जन्म मानते हैं और यज्ञोपवीती होना भी एक जन्म मानते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर उसको द्विजाति बोलते हैं। माने संस्कृत भाषामें जन्म-मृत्यु शब्दोंका अर्थ शरीरकी उत्पत्ति-मृत्यु नहीं है। नवीन भावकी उत्पत्ति और पूर्वभावका नाश, यही जन्म-मृत्यु है। यह हमारे हृदयमें होता ही रहता है। दिन भरमें दसबार मुहब्बत करते हैं, दसबार नफरत करते हैं, दसबार रोते और दस बार हँसते हैं। ये प्रेमी लोग दिन भरमें दसबार मरते और दसबार जिन्दा होते हैं। दिनभरमें दसबार हँस जाते हैं दसबार रो जाते हैं। यह जो कठपुतलीकी तरह नाच रही है दुनिया, इसीको जनसंसद बोलते हैं।

हम समझते थे कि सरकारने जो संसद बनायी है, उसमें लोग गम्भीरतासे रहते होंगे, कोई जोरसे हँसता नहीं होगा, कोई असभ्य भाषण नहीं करता होगा। फिर तो मालूम पड़ा कि उस संसदमें तो लोग जूते तक फेंक देते हैं, कुर्सी तक चला देते हैं और गाली तक दे लेते हैं। माने जहाँ संसद होगी, वहाँ सब भलेमानुस ही जायें—ऐसा नहीं है। चुनी हुई संसदकी जब यह दशा है, तो जो जनसाधारणकी संसद है उसकी तो क्या दशा होगी?

परमहंस श्रीरामकृष्णने कहा कि जैसे कोई पौधा लगाते हैं, तो पहले उसको बाड़के भीतर घेरकर रखते हैं। लेकिन जब वह बड़ा होता है तब उसकी रक्षाके लिए बाड़की जरूरत नहीं होती है, बाड़को हटाके फेंक देते हैं कि वह दूसरेके काममें आवे।

हमारे महापुरुष हमको बताते थे कि किसी सभामें, किसी संस्थामें किसी सम्प्रदायमें मनुष्य अपना त्राण पा सकता है, रक्षा पा सकता है, मदद पा सकता है, लेकिन अन्ततोगत्वा सब घेरोंको तोड़के, उसको परमात्माके साथ मिलना पड़ेगा। परमात्मा किसी घेरेमें नहीं होता है। सभा, सम्प्रदाय, संस्था—ये सब मनुष्यकी उन्नतिमें सहायक हो सकते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा

ऐसी जगह पहुँचना पड़ेगा, जहाँ ये सारे बन्धन, सारी मर्यादाएँ टूट जाती हैं। मर्यादी वैष्णवोंको भी पुष्टिमें जाना पड़ेगा। वैधी भक्तिवालेको भी प्रेम-लक्षणमें जाना पड़ेगा। क्रिया योगीको भी प्रपन्न होना पड़ेगा। सभी सम्प्रदायोंमें एक सरीखी यह बात मान्य की हुई है कि जो घेरा होता है, वह बच्चेके लिए होता है, वह यह ख्याल रखके बनाया जाता है कि बच्चा अकेला घरसे बाहर न चला जाये! लेकिन जब वह बड़ा हो जाता है, तब जानबूझके उसको घरसे बाहर भेजते हैं, उसको विदेश भेजते हैं। तो यह जो जन-संसद है, ये जो प्रपंच है, यह जो दुनियाका बखेड़ा है, इससे परे होनेके लिए इससे अलग होना पड़ता है।

एक बड़े नामी गिरामी पुरुष हैं। मैं जब-जब कलकत्ते गया, तब-तब उनके घरके लोग उनके बारेमें बताते। वे एकान्तमें रहना ज्यादा पसन्द करते हैं, लोगोंसे कम मिलते हैं। लेकिन वे ईश्वरके प्रेमी नहीं हैं, वे तो भोग-रागमें संलग्न पुरुष हैं, परन्तु एकान्तमें रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। तो ऐसे एकान्तसे तो काम नहीं चलेगा। विविक्त-देश-सेवित्म्के साथ 'अरतिर्जन संसदि'का मतलब है कि जब जन-संसदमें प्रीति न हो तब एकान्तमें रहो! यदि प्रेम लगा है लोगोंसे और रह रहे हैं एकान्तमें, तो याद किसकी करेंगे? जिससे प्रेम लगा है उसीकी तो याद करेंगे। और यह भी है कि जन संसदमें तो अरति हो, माने लोग तो अच्छे न लगते हों, लेकिन एकान्तमें कभी न बैठे हों, तो एकान्तमें रहने पर भी उसको दुःख-ही-दुःख रहेगा! न तो भीड़-भाड़में रहनेका मजा उसको कभी आवेगा और न एकान्तमें रहनेका।

अगर भीड़-भाड़में रुचि नहीं है तो ईश्वर-परायण होनेके लिए या भजन-चिन्तन करनेके लिए एकान्तमें रहनेका अभ्यास करना और एकान्तमें रहना जरूरी है और एकान्तमें तो रहें लेकिन मन तो लगा है जन संसदमें, तो एकान्त भी गलत है। इसलिए पवित्र एकान्त देशका सेवन करना और जन संसदमें रुचि नहीं रखना, इसका नाम ज्ञान है।

ज्ञानकी साधन-सम्पत्ति-५

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥ ११॥

अब भगवान् तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए दो साधन और बताते हैं—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥ ११॥

अर्थः- अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थ (प्रयोजन)को समझना—यह (अब तकके बीस साधनोंका समुदाय) ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है।

(१९) **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**—अरे भाई! ज्ञाननित्यत्वम् ही क्यों नहीं बोलते, अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् क्यों बोलते हो? इसमें ज्ञान और अध्यात्म ज्ञानका भेद समझो।

दूरबीन-खुर्दबीनसे, बिजलीकी भट्टीमें वस्तुओंको गलाके या प्रयोगशालामें चीड़-फाड़ करके जो ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं, उनकी भी रुचि ज्ञानमें तो होती ही है। एकको अनेक बनानेका जो ज्ञान है उसको विज्ञान बोलते हैं; और अनेकमें एकको देखनेका जो ज्ञान है, उसको ज्ञान बोलते हैं।

देखो, कान शब्द सुनता है, आँख रूप देखती है, नाक गन्ध सूँघती है, जीभ स्वाद लेती है और त्वचा स्पर्श ग्रहण करती है; तो यह विविध प्रकारका ज्ञान हुआ; और सब इन्द्रियोंमें जो एक ज्ञान है, उसका नाम ज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) है। शब्द आता है और जाता है परन्तु (शब्द) ज्ञान रहता है। गन्ध आता है और जाता है, परन्तु (गन्ध-) ज्ञान रहता है; रूप आते हैं और जाते हैं परन्तु (रूप-) ज्ञान रहता है; स्पर्शका विषय आता है और जाता है परन्तु (स्पर्श-) ज्ञान रहता है। शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, रूप-ज्ञान, रस-ज्ञान, गन्ध-ज्ञान—इनके विषय आते-जाते रहते हैं परन्तु ये सब हैं तो ज्ञान ही; ज्ञान तो ज्ञान ही है। इसलिए ज्ञान एक रस रहता है।

वेदान्तमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानते। अगर ज्ञानकी उत्पत्ति होवे तो उत्पत्तिसे पूर्व उसका अभाव मानना पड़ेगा; फिर ज्ञानकी उत्पत्तिको कौन जानेगा? क्या ज्ञानकी उत्पत्ति अज्ञानसे मालूम पड़ेगी? उत्पन्न ज्ञान अपनेको जान नहीं सकता; अज्ञानसे उत्पन्न ज्ञान जाना नहीं जा सकता, तब पूर्व विद्यमान-ज्ञान ही उत्पन्न ज्ञानको जान सकता है और ज्ञानकी पूर्व विद्यमानताका अर्थ है कि ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। हमारे वेदान्त-दर्शनमें अनुभवकी यही प्रणाली है। दर्शन शास्त्रका यह नियम है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। हमको घटका ज्ञान तो होता है परन्तु घट-ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। ज्ञानमें कर्तृकर्म विरोध नहीं होता—अर्थात् ज्ञान जाने और ज्ञान जाना जाये, ऐसा दोहरा ज्ञान नहीं होता है। दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे नैयायिकोंकी प्रत्यभिज्ञाको वेदान्त-दर्शनमें स्वीकार नहीं करते हैं। ज्ञानका ज्ञान नहीं होता।

तो, ज्ञान तो तुम खुद हो। अपनेको क्या जानोगे? जो तुम अपनेको देहादिके रूपमें जान रहे हो वह झूठा है। जाना हुआ जो ज्ञान है वह मिथ्या है। जो ज्ञान है वही सच्चा है।

अच्छा, ज्ञानकी मृत्यु भी नहीं हो सकती क्योंकि यदि ज्ञान मर जाये तो मालूम किसे पड़ेगा? ज्ञानको मालूम पड़ेगा कि अज्ञानको ? तो ज्ञानकी मृत्यु सिद्ध नहीं हो सकती और ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञान अजन्मा और अमर है। ज्ञान अनादि और अनन्त है।

अच्छा, ज्ञान किसी देशके घेरेमें नहीं रहता। यदि रहता हो तो उस देशके घेरेको कौन सिद्ध करेगा? ज्ञानही तो सिद्ध करेगा ना। देशका घेरा

पराधीन सत्ता है, ज्ञान पराधीन सत्ता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान कालके किसी घेरेमें नहीं रहता कि इतने काल तक ज्ञान रहता है। यदि ऐसा हो तो उस कालके घेरेको कौन सिद्ध करेगा? ज्ञान ही तो सिद्ध करेगा ना। ज्ञानसे काल सिद्ध होता है, कालमें ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञानसे देश सिद्ध होता है, देशमें ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञानसे वस्तु सिद्ध होती है, वस्तुसे ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञान कालमें अनादि अनन्त है; ज्ञान देशमें अनादि अनन्त है। माने, देश और काल यदि अनादि अनन्त हैं, तो वे पराधीन सत्तावाले, सापेक्ष सत्तावाले, अनादि और अनन्त हैं। जबकि ज्ञान निरपेक्ष सत्तावाला अनादि अनन्त है। सापेक्ष सत्तावाले पदार्थ पराधीन होते हैं। वे अपनी सिद्धिमें ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं; पर प्रकाश्य हैं, स्वयं प्रकाश नहीं हैं। स्वतन्त्र सत्तावाला पदार्थ स्वयं प्रकाश होता है। अतः देश-काल-वस्तु अपने अधिष्ठानमें, ज्ञानमें अध्यस्त हैं।

तो, ज्ञान बड़ा विलक्षण होता है। इन्द्रियके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, मनके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, विक्षेप और समाधिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं, ईश्वर और जीवके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं। ईश्वर-जीव दोनों ज्ञान ही से सिद्ध होते हैं। व्याकृत, अव्याकृत दोनों ज्ञान ही से सिद्ध होते हैं। अज्ञानकी सिद्धि भी ज्ञान हीसे होती है। इसका मतलब है कि ज्ञान अभेदरूप है। और यह भी खास बात है कि मैं ज्ञान हूँ। ज्ञानमें भेद नहीं और मैं ज्ञान! तो लो! मैं अद्वितीय ज्ञान स्वरूप हूँ।

इसके लिए साधन ज्ञान क्या है? कि—**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**—जरा देहके भीतर जो ज्ञान है उसपर अपनेको टिकाइये। ***आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मम्।*** संस्कृतमें अधि उपसर्ग जो जुड़ता है वह अधिकरणके अर्थमें जुड़ता है। जैसे 'काश्यां' बोलना हो तो अधिकाशि बोलेंगे। अयोध्यायां इति अध्ययोध्या। तो आत्मनि इति अध्यात्मम्। बाहर कोई चीज है इसका ख्याल मत करो। शरीरके भीतर यह ज्ञान कैसे जाहिर होता है—इसका ख्याल करो। आँखसे कैसे देखता है? कानसे कैसे सुनता है? नाकसे कैसे सूँघता है? जीभसे कैसे चखता है? त्वचासे कैसे छूता है? और बिना इन इन्द्रियोंके भीतर ही भीतर सपना कैसे देखता है? फिर सुषुप्ति होनेपर निर्विशेष रूपमें कैसे उसको प्रकाशता है? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय जो कोष हैं, इन कोषोंके भेद होनेपर भी एक ही ज्ञान पाँचोंमें कैसे रहता है?

पाँच भूत होनेपर भी पाँचोंका प्रकाशक एक ही ज्ञान कैसे है? तीन अवस्था होनेपर भी तीनोंका प्रकाशक एक ही ज्ञान तुरीय कैसे है? यह सब अध्यात्म ज्ञानका विचार है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं—जरा अपने शरीरमें जो क्रिया प्रक्रिया हो रही है, इसको देखो—यह खून कैसे दौड़ रहा है, साँस कैसे चल रही है, हाथ कैसे उठ रहा है, संकल्प कैसे हो रहा है? हृदयाकाशमें बैठकर बुद्धि सत्त्व कैसा विशोक और ज्योतिर्मय है? यह बुद्धि सत्त्व आकाशसे भी सूक्ष्म शोकरहित और ज्योतिर्मय कैसे है, हमारे हृदयाकाशमें? जरा इसकी तलाश करो। मोटरकी तलाश बहुत होगयी, कुत्तेकी, भेड़की तलाश बहुत हो गयी, लड़की-लड़केकी तलाश बहुत हो गयी, धनकी तलाश बहुत हो गयी, जरा अपने भीतर जो रोशनी है, उसकी तो तलाश करो। दीया तले अन्धेरा! लार्ड कर्जन मूँछ कैसी बनाते थे, यह तो आप लोगोंको मालूम है, लेकिन भीतर बैठकर परमात्मा तुम्हारे अन्त:करणको कैसे नचा रहा है, इसके बारेमें जानकारी नहीं है। तो इसमें लगना पड़ता है, यह लगनका काम है, यह जिज्ञासुका काम है। जो सेठ लोग पैसा कमानेमें लगे हुए हैं उनको हमारा कोई उलाहना थोड़े ही है, वे अपने इष्टकी प्राप्ति करें। जो भोगमें लगे हुए हैं वे भोगकी प्राप्ति करें। जो कर्म करनेमें लगे हुए हैं, सेवा करनेमें लगे हुए हैं, धर्म करनेमें लगे हुए हैं वे कर्म करें, सेवा करें, धर्म करें। अभी उनका ज्ञान देहसे बाहर काम कर रहा है। लेकिन जो लोग अपने बुद्धि-सत्त्वको देहके भीतर ही काम करते देखना चाहते हैं, जो अपने हृदयके भीतर परमात्माको देखना चाहते हैं, उन्हें अनात्मासे आत्माका विवेक करके नित्य ही आत्मज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्।

(२०) अन्तिम साधनके रूपमें अब कहते हैं—**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।** अर्थात् इस अध्यात्मज्ञानमें लगनेकी जरूरत क्या है—जिज्ञासुको इसपर भी विचार करना चाहिए। क्योंकि—

प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

प्रयोजनको उद्देश्यमें न रखकर तो मन्दबुद्धि मनुष्य भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। फिर तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका भी जो प्रयोजन है वह भी जिज्ञासुके सामने स्पष्ट होना चाहिए। एक सेठकी हम तारीफ करें तो उससे

पाँच रुपये मिल जाते हैं; एक मिनिस्टरकी सेवा करें तो परमिट मिल जाता है; और यह दिन रात ब्रह्म-ब्रह्म आत्मा-आत्माका विचांर करें तो इससे क्या मिलेगा? कुछ मिलता है कि नहीं मिलता है?

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

तत्त्वज्ञानका जो अर्थ है—अर्थ माने प्रयोजन-तत्त्वज्ञानसे क्या फायदा होता है, उसका दर्शन, उसका विचार उसकी आलोचना, उसकी दृष्टि, वह सचमुच क्या होता है, उसको बार-बार समझना है—**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।** दुनियाँमें जो चीज जानी जाती है, उसका ज्ञान हेय होता है या उपादेय होता है। माने वह अगर बुरी हुई तो ज्ञानके बाद छोड़ी जाती है (हेय) और अच्छी हुई तो पकड़ी जाती है (उपादेय)। यही ज्ञानका फल संसारमें देखनेमें आता है। ऐसा भी है कि किसी वस्तुके ज्ञानसे उस वस्तुकी विविधताको प्रकट करके भोक्ताके भोगकी विविधता भी प्राप्त की जाती है। संखियाके ज्ञानसे विषसे बचनेकी तरकीब भी जानी जाती है और उसके आयुर्वेदिक शोधनसे दवा भी बनायी जाती है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध जो विषय हैं उनके ज्ञानसे भोक्ताकी भोग-सामग्री और भोगका विस्तार होता है। जैसे गन्ध-ज्ञानसे तरह-तरहके इत्र नाकके लिए बनाये जाते हैं; रस-ज्ञानसे जीभकी तृप्तिके लिए तरह-तरहके व्यंजन बनाये जाते हैं; रूप-ज्ञानसे नेत्रकी तृप्तिके लिए तरह-तरहके रंगीन दृश्य बनाये जाते हैं। परन्तु तत्त्व-ज्ञान हेयोपादेय रहित है, क्योंकि यह तो अपना ज्ञान है और अपना आपा न कभी छोड़ा जा सकता है और न पकड़ा जा सकता है। दूसरे तत्त्वज्ञान व्यक्ति या व्यक्तित्वका ज्ञान नहीं है और न वह किसी भोक्ताका शृंगार है। अतः तत्त्वज्ञानका फल सभी लौकिक, पारलौकिक ज्ञानोंके फलसे विलक्षण है।

तत्त्व उसको बोलते हैं जो अनारोपिताकार है। माने कोई भी नाम और रूप आरोपित करनेके पहले जो वस्तुकी स्थिति है उसको तत्त्व बोलते हैं। जैसे सोनेका कंगन बना, हार बना, बाजूबन्द बना, लेकिन सोनेमें यदि आकारका आरोप न करें—भले उसमें बाजूबन्द बाजूबन्द रहे, हार हार रहे, कंगन कंगन रहे, आकारकी कल्पना किये बिना हम समझें कि यह (सोना) क्या है, तो उसको तत्त्वज्ञान बोलेंगे। स्वर्ण तत्त्वको समझना। घड़ेके रूपमें मिट्टीको पहचानना, यह तत्त्वज्ञान नहीं है, घड़ा, सकोरा, भोलुआ छोड़करके

जो मिट्टीको पहचानना है, वह मिट्टीका असली रूप है। तो अब यह जो जगत् आकार बना हुआ है, इस जगत्के रहते—जगत्को मिटाके नहीं—स्त्री-पुरुषके रहते, पशु-पक्षी-मनुष्यके रहते, दानव-मानवके रहते, सबके रहते, इसमें इन सब आकारोंसे विनिर्मुक्त, इन आकारोंकी कल्पनासे रहित, जो इसका स्वरूप है वह तत्त्व है। वह तत्त्व क्या एक ही है सबमें? हाँ,

यद्विज्ञानात् सर्वं विज्ञातं भवति।

जिसका विज्ञान होनेपर सर्वका विज्ञान हो जाता है। वही स्त्री है, वही पुरुष है, वही पशु है, वही पक्षी है, वही आकाश है, वही अग्नि है, वही जल है, वही वायु है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्च चन्द्रमाः।
तच्छुक्रश्च तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥

उसीको ब्रह्म या तत्त्व बोलते हैं। तत्त्वके ज्ञानसे क्या होगा? उसके ज्ञानसे हम क्या फायदा उठा सकेंगे? उसपर भी विचार करना। यह जो हिन्दुको मुसलमानसे और मुसलमानको हिन्दुसे तकलीफ है, यह जो शैवको वैष्णवसे और वैष्णवको शैवसे तकलीफ है, यह जो जनसंघी कम्युनिस्टसे तकलीफ पाते हैं और कम्युनिस्टजन संघियोंसे, यह तकलीफ मिट जायेगी। **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।** यह जो प्रान्तीयताको लेकर शत्रुता है, राष्ट्रीयताको लेकर शत्रुता है, जातीयताको, साम्प्रदायिकताको लेकरके शत्रुता है, पारिवारिकताको लेकरके शत्रुता है, अपना पराया लेकरके जो दिलमें जलन है, वह सब तत्त्वज्ञानसे मिट जायेगी। जिन छोटे-छोटे बन्धनोंमें बँधकरके तुम छटपटा रहे हो, दुःख भोगते भी हो, और उसको छोड़ते भी नहीं हो, उन सबसे तुम मुक्त हो जाओगे। यदि तत्त्वका ज्ञान हो जाये तो तुम नरक और स्वर्गके बन्धनसे छूट जाओगे, जन्म और मरणके बन्धनसे छूट जाओगे, पुनर्जन्म और लोकान्तरके बन्धनसे छूट जाओगे; और इस दुनियामें जो दुःख हैं अपने परायेके भेदसे अच्छे-बुरेके भेदसे पाप-पुण्यके भेदसे, सुख-दुःखके भेदसे अनुकूल-प्रतिकूलके भेदसे, राग-द्वेषके भेदसे, उस सबसे छूट जाओगे। **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।**

आत्मालाभात्परं न किंचित् विद्यते—आत्मलाभसे बढ़करके दूसरी कोई वस्तु नहीं होती है। *यद्ज्ञात्वा न शोचति न वाञ्छति*—यदि परमात्माका

ज्ञान हो जाये तो शोक और मोहसे मुक्त हो जाये। *मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाति*—जिसने परमात्माको जान लिया वह हर्ष और शोकसे मुक्त हो गया। यह तत्त्वज्ञान जीवन्मुक्तिका, सद्योमुक्तिका विलक्षण सुख इसी जीवनमें आस्वादन करनेके लिए है। दुःख तुमको छू ही ना सकेगा। माने यह तत्त्वविद्या क्या है? यह तत्त्वज्ञान ऐसा है कि यह जो तुमने ऐसी पोशाक पहन रखी है कि जिसको दुःख छू लेता है, सुख छू लेता है, चाहे जो तुम्हें चपत लगा देता है, चाहे जो चोट पहुँचा देता है, चाहे जो तुम्हारे दिलके घरमें आग लगा देता है, चाहे जो एक अंगूठा दिखाकर या आँख टेढ़ी करके देखकर तुम्हारे दिलमें आग लगा देता है, ऐसा जो तुम्हारा दिल नाजुक हो गया है, ऐसे जो दिनरात चोट खानेवाला दिल लिये-लिये दुनियामें तुम घूमते हो, वह यह तुम्हारा दिल तत्त्वज्ञानसे ऐसा हो जायेगा कि दुनियाँका कोई सुख-दुःख तुमको छू न सकेगा, सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्ति हो जायेगी, सम्पूर्ण बन्धनोंसे, सम्पूर्ण राग-द्वेषोंसे मुक्ति हो जायेगी और वह भी जिन्दा रहते। हाथ कंगनको आरसी क्या? अरे, तत्त्वज्ञानमें वह लाभ है जो लाभ दुनियामें और कहीं है ही नहीं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

× × × ×

अमानित्वादि साधनोंके प्रसंगमें एक-दो बात जाननी और आवश्यक हैं। श्री रामानुजाचार्यजी महाराज इस प्रसंगमें ऐसा कहते हैं कि जब पहले क्षेत्रका निरूपण किया गया, तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दो विभाग कर दिया गया। क्षेत्रमें महाभूत, अहंकार, महत्तत्त्व प्रकृति दस इन्द्रियाँ, मन, विकार—ये सब गिनाये इनका कहना है कि क्षेत्रमें और सब तो अनात्मबुद्धिसे परित्याग कर देने योग्य है पर क्षेत्रमें ही भगवान्ने कुछ ऐसा साधन-सामर्थ्य बताया है कि यदि उसको अपनाओगे तो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। **अमानित्वं अदम्भित्वं अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्** इत्यादि—जो साधन हैं, वे सब न तो क्षेत्रज्ञके धर्म हैं, और न परमात्माके धर्म हैं। ये धर्म रहते तो हैं क्षेत्रमें, परन्तु जैसे खेतकी माटी उर्वरा होवे, खादसे युक्त होवे, स्निग्ध होवे तो वह अन्नकी

उत्पत्तिमें बहुत उपयोगी होती है, वैसे ही जिस क्षेत्रमें अमानित्व, अदम्भित्व आदि सद्गुण रहते हैं वह क्षेत्र तत्त्वज्ञानके लिए उपयोगी होता है। इसलिए ये क्षेत्र धर्म होनेपर भी व्यक्तिमें इन गुणोंका होना आवश्यक है। यह भी रामानुजाचार्यजी महाराजका अभिप्राय है। ये हैं तो क्षेत्रमें ही और इनका निरूपण करना क्षेत्रका ही निरूपण करना है, परन्तु इन सद्गुणोंका होना परमात्माकी प्राप्तिमें मददगार है।

श्रीशंकराचार्य भगवान्‌का अभिप्राय इसके सम्बन्धमें यह है कि धर्म, उपासना और योग—ये तीनों ज्ञानके परम्परा साधन हैं। परम्परा साधन हैं माने ये न तो ज्ञानके बहिरंग साधन हैं, न अन्तरंग और न साक्षात् साधन हैं।

शंकराचार्यका दृष्टिकोण तो बड़ा विलक्षण है; उसको तो जो सामान्य रूपसे परिच्छिन्न अहंमें आसक्त व्यक्ति हैं वह नहीं समझ सकता है।

धर्म परिच्छिन्नताका आभूषण है; माने वह एक अन्तःकरणसे पाप-वासनाको धोनेमें और पुण्यवासनाको जाग्रत करनेमें सहायक होता है, और अन्ततः अन्तःकरणको शुद्ध करता है। पर धर्म होता है वस्तु अथवा क्रियाके द्वारा, इसलिए बहिरंग है।

उपासनामें यह विशेषता है कि वह वस्तु या क्रिया-प्रवण नहीं है, वह ईश्वर-प्रवण है। तो उपासना मनुष्यकी मनोवृत्तिको गोदानमें या होमकी क्रियामें नहीं लगाती; वह भीतर ही परमेश्वरके ध्यानमें, प्रेममें, स्वरूपके चिन्तनमें लगाती है। इसलिए उपासना अन्तरंग क्रिया-प्रधान है। जहाँ धर्म बहिरंग द्रव्य और क्रिया-प्रधान है, वहाँ उपासना अन्तरंग क्रियाप्रधान और अन्तर्यामी-प्रधान है। वह भी अन्तःकरणमें बाह्य-वस्तु और कर्मकी प्रधानता नहीं, अन्तरंग ईश्वरकी प्रधानता उत्पन्न करती है।

योगाभ्यासकी विलक्षणता है कि वह चित्तको शान्त करता है। वह बहिरंग द्रव्य और क्रियाकी प्रधानताको और अन्तरंग द्रव्य और क्रियाकी प्रधानताको—दोनोंको मिटाकरके वृत्तिको शान्त करता है। इसलिए अन्तःकरणके शोधनमें धर्म, उपासना और योगका उतना ही उपयोग है जितनेसे विवेक-वैराग्य षट्सम्पत्तिकी उत्पत्ति होवे। धर्म अवैध वस्तुओं-व्यक्तियोंके प्रति अर्थात् प्रीति, आसक्ति और पापवासना मिटानेमें वैराग्यमें मुख्य हेतु है। उपासना ईश्वर और जगत्‌के विवेकमें हेतु है। योग शमदमादि

साधन सम्पत्तिमें हेतु है। यह सब सीधा-सीधा हिसाब है इसका। योगके द्वारा जो चित्तमें शान्ति आती है उससे शमदम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान परिपुष्ट होते हैं। समाधानमें समाधि पर्यन्त योगका समावेश है। समाधान माने समाधि, योगकी समाधि। अब धर्म, उपासना, योगके फल हैं ये विवेक, वैराग्य, शमदमादि, इसलिए विवेक आदि अपेक्षतया अन्तरंग साधन हैं और धर्म, उपासना और योग परम्परा साधन हैं। शांकर मतमें विवेकादिको श्रवणादिकी अपेक्षा बहिरंग साधन मानते हैं। बहिरंग इसलिए भी क्योंकि ये औजारको शुद्ध करने वाले हैं। जिस औजारसे (बुद्धिसे) परमात्माका अनुभव होता है, उस औजारकी (बुद्धिकी) सफाईमें ये लगते हैं। माने बुद्धिको लगाना है आत्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानमें। तो बुद्धिमें यदि अशान्ति रहेगी अदान्ति रहेगी, कर्म--प्रवणता रहेगी, अश्रद्धा रहेगी, चंचलता रहेगी तो बुद्धि परमात्मामें नहीं लग सकेगी। इसलिए बुद्धिका मुँह बाहरसे भीतरकी ओर मोड़नेमें, मदद करता है। और जो कहते हैं कि ये परमात्माके स्वरूपज्ञानमें मदद करते हैं, वे इनको अन्तरंग साधन बोलते हैं।

श्रवण-मनन-निद्धिध्यासन अन्तरंग साधन हैं। परमात्मा सविशेष है कि निर्विशेष है, उसके ज्ञानसे मुक्ति होती है कि नहीं होती है—संशय, विपर्ययादिको निवृत्त करके अज्ञानको निवृत्त करनेवाला है श्रवण। मनन और निदिध्यासन श्रवण ज्ञानको ही पुष्ट करते हैं। श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य जो वृत्ति है वह वेदान्तमें साक्षात् साधन है।

तो, साक्षात्कारमयी वृत्ति साक्षात् साधन है; निदिध्यासनमयी वृत्ति विपर्ययका निवर्तक है; मननमयी वृत्ति संशयका निवर्तक है; श्रवणमयी वृत्ति तात्पर्यनिश्चयात्मक और अज्ञानकी निवर्तक है; शमदमादि सम्पत्ति अन्तःकरणके दोषकी निवर्तक है और उस दोषकी निवृत्तिमें कर्म, उपासना, योग मददगार हैं। औपनिषद सम्प्रदायकी यह स्थिति है।

अब यह प्रश्न है कि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है कि घड़ेकी पहचानसे अग्निकी पहचान नहीं होती और अग्निकी पहचानसे घड़ेकी पहचान नहीं होती। अग्निका ज्ञान घटके अज्ञानका निवर्तक नहीं है और घटका ज्ञान अग्निके अज्ञानका निवर्तक नहीं है। दूसरे शब्दोंमें घड़ेका ज्ञान घड़ेके अज्ञानको मिटावेगा और अग्निका ज्ञान अग्निके अज्ञानको मिटावेगा। तो प्रश्न यह है कि

यह जो हमें संसारित्वकी प्राप्ति हो रही है, यह घड़ेके अज्ञानसे हो रही है कि अग्निके अज्ञानसे हो रही है? तो, न घड़ेके अज्ञानसे हो रही है, न अग्निके अज्ञानसे हो रही है। बोले—अपने अज्ञानसे हो रही है। बोले—नहीं, अपना अज्ञान तो किसीको है ही नहीं। किसी-न-किसी रूपमें सब अपनेको जानते हैं। अच्छा तब ईश्वरके अज्ञानसे हो रही है! बोले—नहीं, भला ईश्वरका अज्ञान संसारमें लगानेवाला कैसे होगा? फिर? तो आत्माको ईश्वर रूप न जाननेके कारण, हम संसारी हो रहे हैं! माने आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अज्ञान हमको संसारी बनाये हुए है। संसारी बनाये हुए है—इसका अर्थ है कि हम अपनेको पापी समझते हैं और रोते हैं; पुण्यात्मा समझते हैं और अभिमान करते हैं; अपनेको सुखी-दुःखी समझते हैं और अपनेको नरक-स्वर्गमें जाने-आनेवाला समझते हैं; अपनेको परिच्छिन्न अहं समझते हैं। यह क्या है? कि यह भ्रान्तिका विलास है।

वेदान्त शास्त्रका यह कहना है कि भ्रान्तिसे जो दुःख-दारिद्र्य प्राप्त हो रहा है, वह तब मिटेगा जब भ्रान्ति मिटेगी। और भ्रान्ति तो ज्ञानसे ही मिटती है। भूल लाठी मारनेसे नहीं मिटती। यदि कोई परवलका साग कुन्दरुका साग समझके खाता हो, तो खानेसे भूल थोड़े ही मिटेगी? वह तो ज्ञान होना चाहिए कि यह कुन्दरु नहीं परवल है, यथार्थज्ञान होना चाहिए। तो यह संसारमें जितना दुःख हो रहा है, वह अज्ञानसे हो रहा है, यह बात श्रुतिने स्पष्ट रूपसे बतायी—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेताश्वतर. १.८)

परमात्माका ज्ञान होनेसे इन सब बन्धनोंसे छूट जाओगे!

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। (श्वेताश्वतर. ३.८)

उसको जान जाओगे तो मृत्युका अतिक्रमण हो जायेगा।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति। (नृ.पु. २.६)

जो उस परमात्माको जान लेता है वह अमृत हो जाता है।

इसका मतलब यह हुआ कि जब ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है तो अमृतत्व अप्राप्त क्यों है? बोले—अज्ञानसे। जब ज्ञान होते ही हम बन्धन-मुक्त हो जाते हैं, तो अज्ञानसे ही बन्धन है।

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसका अर्थ हुआ कि अज्ञानका ही बन्धन है।

जो वस्तु अज्ञानसे प्राप्त है, वह किसके अज्ञानसे प्राप्त है ? अपने अज्ञानसे। बोले—अपना अज्ञान तो किसीको है नहीं; अपना ज्ञान तो सबको किसी न किसी रूपसे है। लेकिन समझता क्या है ? कोई अपनेको औरत समझता है तो कोई मर्द समझता है। ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो बिना सींग-पूँछके भी अपनेको पशु समझते हों। किसीकी समझपर कोई आक्षेप नहीं है। अपना नाम कोई कुछ रखले तो क्या आपत्ति है ? हमारे गाँवके पास नेउर, झींगुर, घसीटा नामके आदमी हैं। तो अपना नाम कोई कुछ रख ले और बोले कि मैं अपनेको जानता हूँ कि मगरू हूँ, झगरू हूँ, लँगड़ू हूँ, तो अपनेको मंगरू-झगरू-लँगड़ू जाननेसे मुक्ति थोड़े ही होगी। अपनेको हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्र जाननेसे मुक्ति नहीं होगी; अपनेको मुक्त जाननेसे मुक्ति होगी।

देखो विचार करो। जो अपनेको कालके पेटमें रहके मुक्त मानेगा वह अज्ञानी सिद्ध होगा। क्योंकि काल कभी उसको बद्ध बनावेगा, कभी मुक्त बनावेगा। जो देशके पेटमें रहकर अपनेको मुक्त मानेगा, वह रहेगा तो जेलखानेमें (देशके घेरेमें) और अपनेको मुक्त समझेगा। जो देश, काल, वस्तुके घेरेमें अपनेको रखते हुए अपनेको मुक्त समझेगा वह तो भ्रान्त है। तो देशातीत, कालातीत, वस्त्वातीत, माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, परिणामरहित, सजातीय—विजातीय—स्वगत भेदसे शून्य, ब्रह्मरूपसे जो अपनेको जानेगा सो मुक्त होगा। अपनेको ब्रह्मरूपसे जाने बिना, किसी भी मतमें, जीवन्मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि उसको डर लगेगा कि हम यह काम करेंगे तो बँध जायेंगे, इनसे मिलेंगे तो बँध जायेंगे, इनको देखेंगे तो बँध जायेंगे, इनको सुनेंगे तो बँध जायेंगे, वह तो बद्ध रहेगा। और द्वैत यदि बना रहा, तो तुम्हारा दुश्मन बना रहा, उससे तुम्हें लड़ाई करनी पड़ेगी। यदि कहो कि जब द्वैतकी उपस्थितिमें भी मुक्त नहीं हो सकते, तो चलो आँख बन्द कर लें! तो शुतुर्मुगकी तरह आँख बन्द कर लेनेसे कि चलो हम दृश्यकी ओर देखेंगे ही नहीं, इससे मुक्त नहीं हो सकते। जबतक दृश्यके अधिष्ठानके ज्ञानसे, अपनेको सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद रहित, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म नहीं जानोगे तबतक बन्धनकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

तब प्रश्न आया कि फिर यह अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव इनका नाम ज्ञान क्यों है? इनमें-से एक ज्ञान है कि सब ज्ञान है? और इनमें-से कौन-सा ज्ञान प्राप्त करनेके बाद मुक्ति हो जायेगी? तो भाई ये कोई भी ज्ञान नहीं हैं। ज्ञानके सहकारी कारण होनेसे इनको ज्ञान कहा गया है। ये असली ज्ञानमें-ब्रह्मज्ञानमें मददगार हैं इसलिए इनका नाम ज्ञान है। जैसे वेदमें वर्णन है कि ***आयुर्वै घृतं***—घी आयु है। तो यद्यपि घृत और आयु एक नहीं हो सकते तथापि आयुकी पुष्टिमें, वृद्धिमें मददगार होनेके कारण घीको आयु कहा गया है। यह शास्त्रकी पुरानी भाषा है। इसी प्रकार ये अमानित्व, अदम्भित्व अहिंसा इत्यादिको ज्ञानमें मददगार होनेके कारण ज्ञान कहा गया है।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

यदि अभिमानी बनोगे, तो एक घेरेमें रहना पड़ेगा। अभिमानी—जैसे कि एक हिन्दू है; वह मुसलमान, ईसाई आदिके घेरेसे बाहर है; मानवताके एक हिस्सेका नाम हिन्दुत्व है, एक कोणका नाम हिन्दुत्व है। हिन्दूमें भी ब्राह्मणत्व अभिमान है। ब्राह्मण चातुर्वर्ण्यका अंश ही तो है ना! और समझो तिवारी, दूबे, यह ब्राह्मणोंका एक हिस्सा ही तो हुआ न! शैव, वैष्णव आदि—ये पंचदेवोंके उपासकोंका एक कोना ही तो हुआ ना! तो जो अभिमान करेगा, वह एक हिस्सेमें बँट जायेगा। इसलिए मानित्व अज्ञान है और अमानित्व अर्थात् सारा मान छोड़करके आत्मदृष्टि होना, इसका नाम ज्ञान है।

अदम्भित्वम्—किसके सामने अपना बड़प्पन जाहिर करते हो? दूसरेके सामने ना? तो तुम उससे अलग हो गये। दम्भ हो गया। **अहिंसा**—किसको दुःख पहुँचाते हो? किसको सताते हो? दूसरेको ना? अतः हिंसा अज्ञान है, अहिंसा ज्ञान है। क्षान्ति-क्षमा करना। सब क्षम्य हैं क्योंकि कोई पराया नहीं है। अतः क्षान्ति ज्ञान है और इसके विपरीत जो है वह अज्ञान है। जब कोई गाली दे रहा हो, अपमान कर रहा हो, तुम्हारा अपराध कर रहा हो, उत्तेजित कर रहा हो, उस समय भी मनकी शान्ति भंग न हो। इसका नाम क्षान्ति है। क्षान्तिमें वजन ज्यादा है और शान्ति हलकी है। क्षान्तिमें सहिष्णुता है, मुकाबला करनेवाली है, इसलिए उसमें वजन ज्यादा है जबकि शान्ति हर समय रहनेवाली है इसलिए उसमें बोझ नहीं है। जैसे देखो हमारी नाकका हमारे ऊपर कोई

बोझ नहीं है क्योंकि वह हर समय साथ रहती है, लेकिन जुकामका बोझ होता है, चदरेका बोझ होता है, क्योंकि ये कभी-कभी होते हैं।

आचार्योपासनम्— ज्ञान है और इसके विपरीत जो है सो अज्ञान है। आचार्यकी स्थिति कहाँ है इसको जरा अपनी बुद्धिसे सोचो और वहाँ जाके बैठो! ***चौकी तहां हमार!*** यह ज्ञान है। आचार्योपासनम् का यह अर्थ नहीं कि गुरुजीका यदि एक मन रुईका आसन बना हुआ है तो तुम उनतालीस सेरका बनवा लो और उनके बगलमें बैठ जाओ। आचार्योपासन माने गुरुकी वृत्ति जहाँ टिकी हुई है उसके पास ले चलकर तुम अपनी वृत्तिको टिकाओ। नहीं तो संसारमें भटक जाओगे अभिमान होगा। अश्रद्धालु होना अभिमानका लक्षण है। जिसके हृदयमें संसारमें किसीके प्रति श्रद्धा नहीं है कि कोई ऊँची स्थितिमें है, वह स्वयं अपनेको ऊँची स्थितिमें बैठानेकी आशा नहीं कर सकता। संसारमें जब कोई दूसरा उस ऊँची स्थितिमें पहुँच ही नहीं सका, तो उसमें तुम ही कहाँसे पहुँच सकोगे? तो यह मानना पड़ेगा कि हमारे गुरु, हमारे आचार्य, अमुक स्थितिमें पहुँचे हुए हैं! और यदि तुम्हारी स्थितिमें और कोई नहीं पहुँचा, ऐसा अभिमान भी करो और ज्ञान प्राप्त करनेकी क़ोशिश भी करो—यह नहीं होगा!

इसी प्रकार **शौचं स्थैर्यं आत्मविनिग्रहः**—से लेकर 'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक सब साधनोंके बारेमें, विचार कर लेना चाहिए।

ज्ञेय ब्रह्म— १. न सत्तन्नासदुच्यते

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

भगवान्ने श्लोक ७ से ११ तक बीस साधनों का वर्णन किया-अमानित्वम् अदम्भित्वम्से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् तक। क्योंकि ये साधन ज्ञान प्राप्तिमें सहायक हैं इसलिए इनको 'ज्ञान' भी कहा और इनसे जो विपरीत हैं उनको भगवान्ने 'अज्ञान' कह दिया। परन्तु इन बीस ज्ञानोंसे जो एक ज्ञान होता है वह तो इनसे अलग ही है। इसी अध्यायमें आगे भगवान्ने बताया है कि—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३.२४-२५)

इसमें 'आत्मनि पश्यन्ति' मुख्य है—केचित् आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्यन्ति। कोई अपने हृदयमें ही अपने ही ज्ञानसे अपने-आपको ही देखते हैं। देखते हैं माने जानते हैं—यह तो हुआ फल और ध्यानेन, सांख्येन योगेन कर्मयोगेन—ये हुए साधन। इसका अर्थ हुआ कि सब साधनोंका फल है 'पश्यन्ति'—देखना, जानना। साधनका फल उपलब्धि होता है।

आप कर्म करके आये तो आपको मिला क्या? जो मिला वही उस

कर्मका फल है। व्यापार किया तो लाभ हुआ, कि घाटा हुआ, कि धोखा हुआ! लाख रुपया मिला, तो उसका ज्ञान हुआ कि नहीं? ज्ञान नहीं हुआ तो मिला क्या? घाटा हुआ या धोखा मिला—इसका भी ज्ञान ही तो हुआ ना? तो कर्मका फल ज्ञान है। इसी प्रकार उपासनाका, योगका—सब साधनोंका फल ज्ञान ही है। यदि ज्ञानका फल कर्म या उपासना या योग मानो तो फिर उनका फल फिर ज्ञान मानना पड़ेगा। सबका अन्तिम फल ज्ञान ही है, यही बात माननी पड़ेगी। ज्ञान, अनुभव, उपलब्धि यही सबका अन्तिम फल है। फल होता है जो अपना स्वरूप हो।

प्रत्येक कर्मका एक प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन सिद्ध होनेपर मिलना चाहिए अपनेको ही—पैसा प्रयोजन होगा तो वह भी हमको ही मिलना चाहिए; कर्म करें हम और फल मिले दूसरेको, यह नहीं चलेगा। समाधि प्रयोजन हो तो वह भी और भगवद्दर्शन प्रयोजन हो तो वह भी मिलना तो हमको ही चाहिए। मुक्ति प्रयोजन हो तो वह भी अपनेको ही मिले तभी प्रयोजन सिद्ध होगा।

तो प्रयोजन क्या हुआ? ***अवगतं सत् आत्मनि इष्यते।*** जिसकी उपलब्धि होनेपर, वह उपलब्धि अपने आपमें ही रहे, अपने आपसे जुदा न होवे, उसको प्रयोजन बोलते हैं। मुक्ति मिलके हमारी ही रहे, हमसे बिछुड़े नहीं, इसके लिए, मुक्तिके लिए प्रयास करते हैं। अब साधन-ज्ञानका फल कौन होवे? तो ज्ञानसे तो ब्रह्म मिलता है, मुक्ति मिलती है। अरे भाई! ब्रह्म मिले, मुक्ति मिले, पर अपनेसे बिछुड़े नहीं। माने आत्मतया मिले, मिलनेके बाद वह मुझमें रहे, ज्ञानका ऐसा फल ही चाहते हैं ना कि सकल अनर्थकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति होवे!

इसको हम बारम्बार दुहरा देते हैं, क्योंकि लोग संसारके विचारमें इतने लगे रहते हैं कि यह बात भूल जाती है। जो चीज पहलेसे मौजूद होती है और केवल न-जाननेसे ही अनमिली होती है, वह दरअसल मिली हुई होती है। जो चीज जानने भरसे मिल जाती है वह पहलेसे मिली हुई है और जो न जाननेसे ही बिछुड़ी हुई है, वह भी पहलेसे मिली हुई है। तो यह जो परमात्मा है ऐसा कोई शरीरका कण नहीं है, जिसमें परमात्मा मिला हुआ ना हो। ऐसा कोई जीवनका क्षण नहीं है जिसमें परमात्मा मिला हुआ न हो! सब

कण और सब क्षण परमात्मामें अध्यस्त हैं। सब स्थान परमात्मामें अध्यस्त हैं। जैसे रज्जुमें सर्प वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च जो है वह अपनेसे अभिन्न परमात्मामें अध्यस्त है। केवल अज्ञान ही उसकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है। यदि वह बैकुण्ठमें होता, यहाँ न होता, तो उपासना करके हम वहाँ पहुँच जाते। यदि अभी वह पैदा न हुआ होता तो हम रसायन विज्ञानके द्वारा कर्म करके उसको पैदा कर लेते। यदि वह कहीं छिप गया होता तो हम योगाभ्यासके द्वारा चंचलताका निषेध करके एकाग्रतामेंसे उसको ढूँढ़ निकालते। लेकिन न तो वह किसी दूसरे स्थानमें गया है, न दूसरे किसी वस्तुके रूपमें हुआ है और न तो अभी अनपैदा है। परमात्माके बारेमें चार बात लागू नहीं होती। क्या? परमात्मा उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य या आप्य नहीं है।

उत्पाद्य-जैसे घड़ा पैदा किया जाता है वैसे परमात्मा उत्पाद्य नहीं है।

विकार्य-जैसे घड़ा पकाया जाता है वैसे परमात्मा पकाया नहीं जाता।

संस्कार्य-जैसे वेदमन्त्र पढ़के घड़ेमें स्वस्तिक बनाके कलश होनेका संस्कार किया जाता है वैसे परमात्माका संस्कार नहीं किया जाता है। और

आप्य-जैसे घड़ा अपने घरमें न हो तो दूसरेके घरसे लाया जाता है वैसे परमात्मा आप्य—प्राप्तव्य नहीं है।

यह तो अपने आपका नाम ही परमात्मा है। न यह उत्पाद्य है, न विकार्य है, न संस्कार्य है, न आप्य है, न विनाश्य है। इसलिए जानने मात्रसे माने अज्ञानकी निवृत्ति मात्रसे ही इसकी प्राप्ति होती है। ऐसे ब्रह्म तत्त्वका वर्णन भगवान् 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'से करते हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३.१२)

अर्थः- जो जाननेयोग्य है उसको मैं तुमसे कहूँगा, जिसको जानकर अमृत हो जाता है। वह ब्रह्म अनादिमत् है। उसको न सत् कह सकते हैं न असत्।

संस्कृत भाषामें ज्ञेय शब्दका दो अर्थ होता है—एक तो जाननेयोग्य और दूसरे ज्ञानका विषय होना जैसे त्रिपुटीमें। जैसे ज्ञानकी त्रिपुटीमें, मैं जानने वाला (ज्ञाता) हूँ, आँख जाननेका औजार (ज्ञानका करण) है और

घड़ी जानी जा रही है (ज्ञेय है); इसी प्रकार मैं ज्ञाता, बुद्धि-आदि ज्ञान और ब्रह्म ज्ञेय यह ब्रह्मज्ञानकी त्रिपुटी है। क्या इस अर्थमें यहाँ ज्ञेय शब्दका प्रयोग है? नहीं, क्योंकि ज्ञानका जो विषय होता है वह अन्य होता है, परन्तु ब्रह्म तो ज्ञाताका स्वरूप ही है। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीमें जो प्रमेय शब्दका अर्थ ज्ञेय होता है, वह यहाँ नहीं है। तब यहाँ ज्ञेय शब्दका अर्थ है—जानने योग्य *ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयम्।* जीवनमें जानने योग्य यदि कोई वस्तु है तो केवल यही है। हमारे ज्ञानकी कर्तव्यताका सूचक यहाँ ज्ञेय पद है। ज्ञानकी विषयताका सूचक ज्ञेय पद नहीं है।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदा० २.४.५-६)

इस श्रुतिमें जो द्रष्टव्य पदका अर्थ है (देखनेयोग्य) उसी अर्थमें यहाँ ज्ञेय पदका प्रयोग है। ***न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः*** (केन० २.५)—यदि इसी जीवनमें उस परमात्माको नहीं जान लोगे, तो सत्यानाश हुआ। माने तब तो तुम जो जानोगे, जो पाओगे उसका सत्यानाश ही हो जायेगा। इसलिए इसी जीवनमें परमात्माको जानो।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि—ज्ञानेश्वर जी महाराजने इस प्रसंगमें कहा है कि यहाँ उपायका सूचक ज्ञेय शब्द हैं।

यतो ज्ञानं विनान्येनोपायेन नोपलभ्यते।
ततो ब्रह्माभिधेयं तद्वस्तु ज्ञेयमितीर्यते॥

क्योंकि ज्ञानके बिना अन्य उपायसे यह ब्रह्म उपलब्ध नहीं होता। इसलिए उस ब्रह्म नामकी वस्तुको ज्ञेय कहते हैं। ब्रह्म धर्म्य नहीं है, ब्रह्म उपास्य नहीं है। ब्रह्म आत्मस्वरूप होनेके कारण केवल ज्ञानगम्य है। **ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं**— यह ब्रह्मका निरूपण करते समय आगे कहा गया है। इसलिए उसको ज्ञेय बोलते हैं।

ज्ञेयं यत् तद्—ज्ञेय कैसा है? कि नो यद् तद्—दोनों है। ये शब्द उसकी अनिर्वचनीयताके सूचक हैं।

यद् ज्ञेयं तत् प्रवक्ष्यामि। प्रवक्ष्यामि शब्दका भी दो अर्थ होता है। संस्कृत भाषामें। वक्ष्यामि दो धातुसे बनता है। एक तो वच धातुसे—जिससे 'ब्रवीति' बनता है—भविष्यत्कालिक क्रिया बनती है प्रवक्ष्यामि=प्रवचन

करूँगा, प्रकृष्टं वक्ष्यामि। और दूसरे वह-प्रापने धातुसे भी भविष्यकालिक क्रियामें प्रवक्ष्यामि पद बनता है। 'योगं क्षेमं वहाम्यहम्' में जो 'वहामि' है वह, तो वह वर्तमान कालमें है। और वक्ष्यामि—भविष्यत् कालमें है। अत: प्रवक्ष्यामिका अर्थ हुआ कि 'सिर पर लेकर, ढोकर तुमको पहुँचा दूँगा।'

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि—अरे अर्जुन मैं हाथमें उठाके ब्रह्म तुमको दे दूँगा। सिरपर ढोके ले आऊँगा और तुमको दे दूँगा। कैसा ब्रह्म? कि *यत् ज्ञेयं तत्। केवलं ज्ञानगम्यं। वेदान्तवेद्यं विभुं।* केवल वेदान्त वेद्य जो प्रभु है उसका साक्षात्कार कराऊँगा।

तो बोले—बाबा, जाननेसे होगा क्या? देखते हैं बड़े-बड़े दिमागवालोंको, वे भूखे मरते हैं, रोते हैं। बोले—यह ब्रह्मज्ञान बड़ा विलक्षण है-'**यज्ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते**'—जिसको जानोगे तो तुम अमृतका आस्वादन करोगे।

यहाँ आपको यह भी ध्यान दिलाता हूँ कि खाने-पीनेके अर्थमें 'अश्नुते' नहीं है। खानेके अर्थमें जो धातु है ना, उससे अश्नाति बनता है। यहाँ जो मूल धातु है, अश्नुते व्याप्नोति—अमृतं अश्नुते अर्थात् तुम अमृतमें व्यापक हो जाओगे, माने अमृत तुम्हारा स्वरूप हो जायेगा। तुम अमृत स्वरूप हो जाओगे, स्वयं अमृत हो जाओगे। दुनियाके लोग तुम्हारा ध्यान करके अपना मंगल करेंगे, तुम्हारा स्मरण करके अपना भला करेंगे। तुम्हारा नामोच्चारण करके लोग अपना कल्याण करेंगे, वह हो जाओगे तुम।

अमृतं अश्नुते—शंकराचार्य जीने इसका अर्थ किया: अमृतत्वं अश्नुते न पुन: म्रियते।

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। इसमें ज्ञात्वापर फिर जोर दो। जिसको जानकर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। इसका अर्थ है कि अमृतत्वकी जो अप्राप्ति है, वह अज्ञानसे है। ऐसा जो हमको मालूम पड़ता है कि हम जन्म-मृत्युवाले हैं, हम सुख-दु:खवाले हैं, हम जाने-आनेवाले हैं, हम राग-द्वेषवाले हैं, हम परिच्छिन्न हैं, हम संसारी हैं—वह अज्ञानसे मालूम पड़ता है। क्योंकि जानने मात्रसे ही अमृत हो जाते हैं।

श्रीकृष्णके बेटे प्रद्युम्नको शंबरासुर चुरा ले गया। शंबर कहो, डम्बर कहो, आडम्बर कहो, दम्भ कहो, माया कहो, एक ही अर्थ है। 'शं'का जो आवरण कर ले, उसका नाम शंबर। जो शान्तिरूप परम कल्याणरूप परमात्माको,

शं को वरण माने आवृत कर दे, उसका नाम शम्बर माया। तो माया प्रद्युम्नको चुरा ले गयी। रति उसको पालती थी। अरे दस बरस तक तो वह बालक समझता था कि मैं शम्बरासुरका बेटा हूँ। इसलिए हमको दैत्य-धर्मका पालन करना चाहिए। एक दिन मायावतीने बताया कि तुम शम्बरासुरके नहीं श्रीकृष्णके बेटे हो।

तो जैसे जब तक प्रद्युम्नको ज्ञान नहीं हुआ कि मैं श्रीकृष्णका बेटा हूँ, तब तक वह अपनेको शम्बरासुरका बेटा मानते रहे। तथा जैसे किसी राजकुमारको कोई जंगली डाकू उठाके ले गया, और वह डाकुओंमें पलता रहा और समझता रहा कि मैं भी डाकुओंका बेटा हूँ; लेकिन जब पहचान लिया गया, बता दिया गया, कि अरे तू तो बादशाह है, तो जाननेमात्रसे ही वह राजकुमार हो गया, बादशाह हो गया। वैसे ही यह जो जीव है यह शरीरके आडम्बरमें, शम्बरमें फँसकर भूल गया है; वह समझता है कि मैं तो पापी-पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ, मैं तो नारकी-स्वर्गी हूँ, मैं तो परिच्छिन्न हूँ, मैं तो संसारी हूँ, जबकि असलमें यह है शहनशाह।

जैसे नशेमें कोई शराबी अपनेको कुछका कुछ समझने लगे ऐसी स्थिति हो गयी है। परन्तु जहाँ अपनेको पहचाना वहाँ अमृतत्वकी प्राप्ति हुई।

देखो, अब यह क्षेत्रज्ञका निरूपण है। यह जो क्षेत्रज्ञ है, इस खेतका किसान वह परमात्माका स्वरूप है। पहले क्षेत्रका निरूपण किया, पर क्षेत्रज्ञका निरूपण करनेसे पहले बीस साधनोंका बीचमें निरूपण किया। साधन सम्पन्न होकरके जब जानोगे तब यह ज्ञान तुम्हारे लिए फलीभूत होगा।

बोले— भाई, तब क्या साधन सापेक्ष्य है ज्ञान? तो बोले— हाँ, अपेक्षा है। ज्ञानवृत्ति माने ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होनेमें साधनकी अपेक्षा है, पर फल उत्पन्न करनेमें माने मुक्ति देनेमें साधनकी अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मसूत्रका सर्वापेक्षा अधिकरण यह कहता है कि हाँ ज्ञान पैदा करनेमें तो ध्यानकीभी जरूरत है, उपासनाकी भी जरूरत है, वर्णाश्रम धर्मकी भी जरूरत है; पर ज्ञान पैदा होनेपर मोक्ष होनेके लिए साधनकी जरूरत नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो यही बतावेगा कि तुम अज्ञानसे अपनेको बद्ध मान रहे थे, अज्ञान मिट गया, तुम तो मुक्त पहलेसे ही हो।

कई महापुरुषोंका यह कहना है कि वृत्ति ज्ञान या साक्षात्कारमयी वृत्ति

उत्पन्न होनेमें साधनकी जरूरत नहीं है। वह तो ऐसे ही होता है जैसे सोते हुए आदमीको नाम लेके कहा जाये कि 'देवदत्त उठो,' तो देवदत्त उठ गया। अब आप बताओ कि पहले देवदत्त जाग लिया, तब उसने तुम्हारी आवाज सुनी—समझी, या कि पहले सुन समझ लिया तब जगा? अगर जगके उसने तुम्हारी बात समझी कि ये हमको जगा रहे हैं, तब तो बिना समझे ही वह जग गया और यदि समझके जगा तो वह सोया ही नहीं था तब तो उसने पहले समझा। माने सुनके समझा कि समझके सुना? समझ और श्रवणमें पहले क्या था? वेदान्तमें इसका विचार है। तो इसमें विवरणकारका पक्ष है कि शब्द शक्ति अचिन्त्य है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मस्तन्मोहहानतः।

यह तत्त्वमस्यादि महावाक्यमें ठीक वैसी शक्ति है कि भले तुम मत समझो, लेकिन जहाँ सोते हुएको जाकर यह विषय करेगी, वहाँ वह धक्का मारेगी कि अविद्या चूर-चूर हो जायेगी। शब्द शक्ति अचिन्त्य है। वाचस्पति मिश्रका मत है कि नहीं विवेक पूर्वक समझदारी पहले चाहिए। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्ति अविद्याको निवृत्त करती है, केवल तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही नहीं। तो यह विवरण प्रस्थान और भामती प्रस्थानके दो पक्ष यहाँ ग्रहण करते हैं। **यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।**

चाहे तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे अज्ञान मिटे, चाहे तद्जन्य वृत्तिसे मिटे, वहाँ तो कर्म, उपासना, योग है नहीं। तो बोले— श्रवण, मनन निदिध्यासनमें होवे? कि वहाँ भी नहीं है।

अच्छा तो जिज्ञासामें होवे? बोले कि नहीं जिज्ञासामें तो जाननेकी इच्छा होगी, वहाँ कर्म-उपासना-योग कहाँ है? पापके कारण मनुष्य दुनियामें फँसा हुआ है, तो कर्म-उपासना-योगके फलस्वरूप पापका नाश हुआ और ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा जागृत हुई, उस इच्छाके जागरणमें कर्म, उपासना, योगका महत्त्व है। इच्छाका जागरण होनेपर श्रवण किया, संशय होनेपर मनन किया, विपर्यय होनेपर निदिध्यासन किया, तो श्रवणमें भी कर्म नहीं, मनन भी कर्म नहीं, निदिध्यासनमें भी कर्म नहीं, तत्त्वमस्यादि महावाक्यमें भी कर्म नहीं और तद्जन्य वृत्तिमें भी कर्म नहीं। साक्षात्कारसे पाँच पीढ़ी पहले कर्म रहता है। इसलिए—**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।**

इसको तो जानो और अमृतत्व प्राप्त करो। यहाँ और कुछ पक्ष लगानेकी जरूरत नहीं है। विष्णु पुराणमें एक बहुत बढ़िया प्रसंग है। वहाँ बताते हैं कि एक ज्ञान पक्ष है, एक ध्यान पक्ष है सगुण परमात्माकी प्राप्तिमें ध्यानपक्ष स्वतन्त्र है और निर्गुण परमात्माकी प्राप्तिमें ज्ञान पक्ष स्वतन्त्र है। वहाँ ध्यान और ज्ञानको लेकर एक कथाके माध्यमसे तुलनात्मक विचार किया हुआ है—ध्येय ब्रह्म और ज्ञेय ब्रह्म। ध्येय ब्रह्म ध्यानोत्पाद्य है और ज्ञेय ब्रह्म स्वतः सिद्ध है।

यहाँ ज्ञेय ब्रह्म है, ध्येय ब्रह्म नहीं; और यह तदाकार वृत्तिसे उत्पाद्य नहीं है स्वतः सिद्ध है। अब इसीका वर्णन आगे करते हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

पहली बात कही—ज्ञेयं। इस जीवनमें यह आत्मा अवश्य ज्ञातव्य है—*'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः'*। यदि अपने जीवनको सफल करना चाहते हो तो परमात्माको जानो। यदि इसी जीवनमें नहीं जाना तो महान विनाश है, माने जन्म और मृत्युके चक्करसे नहीं छूट सकते। जायस्व म्रियस्व—पैदा होवो और मरो यही तुम्हारी गति होगी।

दूसरी बात बतायी, उसको जानोगे कैसे? बोले—जाननेका मुख्य साधन श्रवण है—**प्रवक्ष्यामि**—मैं प्रवचन करूँगा, तुम श्रवण करो। श्रोतव्यः। यह परमात्मा, यदि संशय हो तब तो मन्तव्य है, यदि विपर्यय हो तब निदिध्यासितव्य है, नहीं तो केवल श्रवण मात्रसे ही इसका साक्षात्कार हो जाता है, इसलिए प्रवक्ष्यामि।

देखो इसका गुर भी बता देता हूँ। अन्य वस्तुका जब ज्ञान होता है, तो जाननेके बाद भी उसको पाना बाकी रहता है। ध्यान करना पड़ता है, उपासना करनी पड़ती है, चलना पड़ता है, धर्म करना पड़ता है, बुलाना पड़ता है। परन्तु यदि अपरिच्छिन्न अनन्त स्वरूपभूत ब्रह्मका ज्ञान होगा, तो ज्ञानके अनन्तर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा। जानना और पाना, जहाँ दोनों एक है, उसका नाम आत्मा होता है। और जहाँ जानना और पाना अलग-अलग हो उसका नाम अनात्मा होता है। तो जहाँ जानना ही पाना है, वहाँ अपने आपको कोई आलेमें तो रखके या कहीं विदेशमें छोड़के तो जानने आये नहीं, इसलिए जो तुम्हारा अपना आपा है उसका ज्ञान और प्राप्ति दोनों दो नहीं हैं।

इसलिए श्रवण मात्रसे ज्ञान होता है। सोते हुए मनुष्यको कहा—अरे देवदत्त उठ! और देवदत्त उठ गया! कोई परामर्शकी जरूरत नहीं, विचारकी जरूरत नहीं, समझदारीकी ज़रूरत नहीं! वह चोट लगी शब्दकी—*'मेरे सतगुरु मारया तीर, निकस गयो पार।'* मेरे सद्गुरुने ऐसा शब्दका तीर मारा कि एक ही चोटमें सारी अविद्या ध्वस्त हो गयी। इसलिए भगवान्ने कहा—***प्रवक्ष्यामि त्वं श्रृणु! आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः*** अर्थात् *अनात्मा न द्रष्टव्यः।* श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने यह प्रश्न उठाया कि 'आत्मा द्रष्टव्य है' यह कहनेका क्या अभिप्राय है? क्या घट, पटादिके समान आत्मा दृश्य है जो द्रष्टव्य है? बोले—अरे नहीं। 'आत्मा देखने योग्य है' का मतलब है कि 'अनात्मा देखने योग्य नहीं है'। ***अमृतत्वस्तु नाशास्ति वित्तेन अरी मैत्रेयी!*** धनसे अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तब? जैसे संसारमें धनवालोंकी गति होती है। वही गति तुम्हारी भी होगी। धनसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। बोले—***आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः***। जब तुम अपने आपको जान जाओगे तो अनात्मा कोई रहेगा ही नहीं ***स सर्वं भवति***—वह सर्व हो जाता है। अतः **अहं प्रवक्ष्यामि**। मैं प्रवचन करता हूँ, तुम श्रवण करो। ब्रह्म श्रवणैक गम्य है।

अब तीसरी बात देखो—

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते—ज्ञानका फल बता दिया। बोले—केवल ज्ञानका फल ही अमृतत्वकी प्राप्ति है। धर्ममें अनुष्ठान करो, फिर मरो तब स्वर्गमें जाओ, तब अमृत प्राप्त करो। उपासनामें दिव्य देह प्राप्त करो, इष्टदेवके लोकमें जाओ, उसकी कृपा प्राप्त हो, अनुग्रह भाजन बनो, पराधीन हो, इष्टदेव कृपा करें तब उनके चरणामृत, अधरामृतकी प्राप्ति होवे। और यहाँ?—**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**—जाना और अमृत हो गये मोक्षरूप जो अमृत है, वह तुम स्वयं हो।

अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित (अथवा ब्रह्मात्मैक्यकी ज्ञाततासे उपलक्षित) जो आत्मा है, उसीका नाम मोक्ष है, अज्ञात आत्माका नाम ईश्वर है और ज्ञात आत्माका नाम ब्रह्म है। अपनेको नहीं जानते हो तो ईश्वर तुमसे दूर है और अपने आपको जानते हो तो तुम्हारी आत्माका नाम ईश्वर है।

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते-फल भी बता दिया। अब देखो इसमें एक बात—

किसको जानना! यह यत्-तत् शब्दसे बताया है। एक अर्द्धालीमें दो बार 'यत्' पद है, आप ध्यान देना। **ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।**

यह दैवी भाषा है। यत् तत्का अर्थ है—*अनिर्देश्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं यत् तत् निर्विशेषमित्यर्थः।* जो अनिर्देश्यं, अलक्षणं इत्यादि निर्विशेष ब्रह्म तत्त्व है, उसको जानो।

तो (i) मनुष्यका कर्त्तव्य है परमात्माका ज्ञान। (ii) वह परमात्मा यद्यपि निर्विशेष है तथापि (iii) महावाक्यके द्वारा सद्गुरुके उपदेशसे वह जाना जाता है और (iv) उसके जान लेनेपर अमृतत्व, मोक्ष, स्वतः सिद्ध मोक्ष प्राप्त हो जाता है जो नित्य प्राप्त ही है, बस अप्राप्तिका भ्रम दूर हो जाता है—

आधे श्लोकमें इतने पदार्थोंकी ओर यहाँ इंगित है, इशारा है।

ज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है और कोई काम ज्ञान नहीं करता। घटका ज्ञान घटके अज्ञानको निवृत्त करता है; और केवल घटके ही अज्ञानको निवृत्त करता है, पटके अज्ञानको निवृत्त नहीं करता। जिस विषयका ज्ञान होता है, उस विषयके अज्ञानको निवृत्त करता है। इसी प्रकार ब्रह्मका ज्ञान केवल ब्रह्मके अज्ञानको निवृत्त करता है। और ब्रह्म वह वस्तु है जो हमसे अलग हो तो वह ब्रह्म ही नहीं होगा, (अपरिच्छिन्न नहीं रहा) कट गया। और, हम उससे अलग होंगे तब भी वह ब्रह्म नहीं होगा क्योंकि हमसे अलग होकर ब्रह्म जड़ हो जायेगा। हम हैं चेतन और हमसे अलग ब्रह्म होगा जड़। यदि हम ब्रह्मसे अलग हैं तो हम परिच्छिन्न हैं, क्षणिक चेतन हैं। और हमसे अलग होनेपर ब्रह्म जड़ होगा। ब्रह्मके बिना हम मर जायेंगे और हमारे बिना ब्रह्म बेहोश हो जायेगा। हमसे अभिन्न हुए बिना ब्रह्म चेतन नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य प्रत्यक् होता है, अपना आत्मा होता है, द्रष्टा होता है। जो प्रकाशक होता है वही चैतन्य होता है। और प्रकाशक केवल अपना आत्मा है। ब्रह्म अगर आत्मासे अलग होगा तो वह जड़ होगा और उसको जाननेवाला अपना आत्मा होगा। और ब्रह्मसे यदि आत्मा अलग होगा तो आत्मा कट-पिट जायेगा, देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न हो जायेगा। इसलिए ब्रह्म क्या है-यह बताना पड़ेगा।

बोले—ब्रह्म निर्विशेष है। तो कहा कि यह तुमने निर्विशेष कहाँसे

जोड़ दिया? सविशेष ही क्यों न हो? तो भगवान्‌ने कहा **अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। 'न सत् तत् नासदुच्यते'**—उसको न सत् कहते हैं न असत् कहते हैं। इसीका नाम निर्विशेष है। यदि ब्रह्म सत् होता, तो असद्से विशेष होता और यदि असत् होता तो सत्से विशेष होता। विशेष माने भेद, अलगाव, वस्तुकी विशेषता। तो बोले—ब्रह्म सत्से अलग नहीं है क्योंकि असत् नहीं है और असत्से भी अलग नहीं है क्योंकि सत् नहीं है। 'न सत् तन्नासदुच्यते'। अतः ब्रह्म निर्विशेष है।

—कैसे है ब्रह्म? कि **अनादिमत्परम्**। इस अनादिमत्परंको लेकर भाष्यकारोंमें मतभेद है। वैष्णवोंने अर्थ किया **अनादि मत्परं ब्रह्म**—क्योंकि अनादिमत् कहनेसे, मतुप्-प्रत्ययके जिस अर्थकी सूचना मिलती है वह अर्थ बहुव्रीहि समाससे अपने आप ही निकल आता है: न आदिर्यस्य तत् अनादि, जिसकी आदि नहीं वह है अनादि। अनादिमत्‌का भी यही अर्थ होगा। इसलिए मत्‌को अनादिके साथ न जोड़कर परंके साथ जोड़ो: अनादिमत्परं ब्रह्म।

दूसरे अर्थ करते हैं: अनादिः अस्यास्ति इति अनादि मत्। इसका अनादितत्त्व है इसलिए ब्रह्म अनादिमत् है। बोले—नहीं, ये दोनों अर्थ ही यहाँ नहीं हैं। फिर क्या है? बोले—आदिमत् माने आदि-अन्तवाला, जगतः आदि अस्यास्ति इति आदिमत्-जन्म मृत्युशील जगत्-इसको बोलते हैं आदि मत्। यह जगत् जिसमें नहीं है उसको बोलते हैं अनादिमत्। यह आदिवाला जगत् जिस ब्रह्ममें नहीं है वह फिर कैसा होगा? जगत्से परे होगा? बोले—नहीं वह परम् है। परम्‌का अर्थ तो आप जानते हैं प्रत्यक् होता है।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

तो, ब्रह्म अपना आत्मा है; और ब्रह्म होनेसे देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे शून्य है; और **न सत्तन्नासदुच्यते**—वह वचनका विषय नहीं है—ऐसा कहकर इसका प्रवचन किया जाता है। उसके प्रवचनकी रीति है—***अवचनेन प्रोवाच*** मुँह बन्द करके बोला जाता है। अचिन्तनसे उसका चिन्तन होता है।

'**अनादिमत्परं ब्रह्म**'का अर्थ वैष्णव लोग करते हैं:

अहं परं यस्मात् तत्मत्परं ब्रह्म।

ब्रह्म कैसा है? कि मत्परं है। मत्परंका अर्थ है कि ब्रह्म तो सामने है और मैं उससे परे हूँ; अर्थात् श्रीकृष्ण बोलते हैं कि मैं हूँ परे जिससे, ऐसा ब्रह्म है, ब्रह्म अक्षर है और मैं पुरुषोत्तम हूँ।

देखो इस अर्थका भी क्या मजा है! पर यह मजा तो देवभाषा संस्कृतका है। संस्कृत भाषामें एक एक शब्द कामधेनु है। जो चाहो सो अर्थ निकाल दें। कहो इसमें रुपये-पैसेकी बात निकाल दें, कहो मोक्षकी बात निकाल दें। इसीसे संस्कृत भाषाका कहना है कि जिसका जितना अधिकार होता है, जिसका जितना अनुभव होता, है, उतना ही अर्थ वह उसमेंसे प्राप्त कर सकता है। जिज्ञासु हो तो ब्रह्म मिले अर्थार्थी हो तो अर्थ मिले। सर्वकामप्रद है।

ईश्वरका जब निरूपण करना होता है तो किसी न किसी कक्षामें अज्ञानको स्वीकार करना पड़ता है। ईश्वर कितना बड़ा? बोलना पड़ेगा हम नहीं जानते। ईश्वरकी कितनी उम्र? नहीं जानते। ईश्वरका कितना वजन? नहीं जानते। यह जगत् और जगत्के कारणके सम्बन्धमें कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके अन्तमें अज्ञान स्वीकार करना पड़ता है। बोले—अच्छा तुमको अज्ञान क्यों है? बोले—हम नहीं जानते। अज्ञान कहाँसे आया? हम नहीं जानते। अज्ञान कब आया? कि हम नहीं जानते। असलमें अज्ञानसे कालकी, कालके अवयवकी सिद्धि होती है कालके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती; देशके अवयवकी सिद्धि अज्ञानसे होती है, देशके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती; वस्तुके अवयव अज्ञानसे सिद्ध हैं, वस्तुके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। तो अन्ततोगत्वा होता क्या है? कि जिसके बारेमें अज्ञान है, और जिसको अज्ञान है, उन दोनोंकी एकताका जब ज्ञान होता है तब अज्ञान मिट जाता है।

किसके बारेमें अज्ञान है? कि देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मके बारेमें अज्ञान है। किसको अज्ञान है? कि स्वयं प्रकाश चिदात्माका अज्ञान है। हे! भगवान! यह स्वयं प्रकाशमें अज्ञान कहाँ? अपने आश्रय विषय-सहितको अज्ञान जानो। किसके बारेमें अज्ञान है, यह अज्ञानका विषय हुआ। ब्रह्म हमारे अज्ञानका विषय है। और किसको अज्ञान है, यह अज्ञानका आश्रय हुआ, मुझको अज्ञान है, इसलिए मैं अज्ञानका आश्रय हूँ। तो हमको अपनी ब्रह्मता, अपनी अनन्तताके बारेमें अज्ञान है। तो, महावाक्यके श्रवणसे

और उसके विचारसे, जहाँ आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होगा, वहाँ ज्ञान होते ही अज्ञान मिट जायेगा। अज्ञानके आश्रय और विषय—दोनोंकी एकताका ज्ञान होनेपर, अर्थात् असलमें जो अज्ञानका आश्रय है वही अज्ञानका विषय है (जिसको अज्ञान है, उसीके बारेमें अज्ञान है), यह ज्ञान होनेपर कि अज्ञानका आश्रय विषय दोनों मैं हूँ, दोनोंकी एकताकी चपेटमें अज्ञान बिलकुल ध्वस्त हो जायेगा।

ज्ञानके प्रकाशमें अज्ञान कभी सिद्ध नहीं होता। फिर कहाँ सिद्ध होता है? अज्ञान दशामें ही अज्ञान सिद्ध होता है।

अविद्याऽपि अविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्याऽविद्येयं न कथञ्चन विद्यते।
तद्ब्रह्मदृष्ट्याविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति।

अविद्या भी अविद्याका आधार लेकर ही कल्पित होती है। ब्रह्म दृष्टिसे तो अविद्या न कभी थी, न है और न तो होगी।

इसी अविद्याको निवृत्त करनेके लिए, जो मालूम पड़ती है, महावाक्यके अर्थके विचारकी जरूरत पड़ती है। और इन गुरु लोगोंको महाराज, ऐसी-ऐसी युक्ति आती है कि किसीको भी ज्ञान करवा दें! एक बात आपको बताते हैं। भगवान्की यदि वैध उपासना की जाये, और तदाकार वृत्ति हो जाये, तो भगवान् सामने आते हैं। देखो, बिना हुए जब इतनी बड़ी दुनिया केवल तदाकार वृत्तिसे ही सामने आयी—यह पत्नी, यह पुत्र, यह धन और यह कारखाना हमारे तन्मय हो जानेसे ही हमारे सामने आये—तो यदि ऐसी तन्मयता भगवान्में हो जाये तो भगवान् भी सामने आ सकते हैं। और भगवान् दस,-बीस-पचास बरस भी सामने रह सकते हैं और दो मिनट दर्शन देके चले भी जा सकते हैं। जिन लोगोंने कभी ध्यान, उपासना या योग नहीं किया है, वे जो केवल तर्कवितर्क करनेवाले नास्तिक लोग हैं ना, उनके बहकावेमें नहीं आना। जो लोग उपासना करते हैं उनको भगवान्का दर्शन होता है। यदि कोई कहता है कि नहीं होता है, तो यही समझना कि उसने उपासना कभी की नहीं है, वह उपासनाके मार्गमें कभी चला नहीं है। उपासना करनेवालेके सामने अलौकिक दृश्य प्रकट होते हैं, वैकुण्ठ प्रकट होता है, गोलोक प्रकट होता है। ऐसे-ऐसे दिव्य दृश्य आते हैं, दिव्य झाँकी आती है, इसको संसारी

लोग बिलकुल समझ नहीं सकते हैं, यह उनकी बुद्धिके बिलकुल परे है। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि योगसे सिद्धि नहीं होती है तो समझना कि उसने कभी योग नहीं किया है, क्योंकि अगर योगाभ्यास कर लो तो पन्द्रह दिनके भीतर ही किसी न किसी सिद्धिका दर्शन हो सकता है। रूपसंवित् हो सकती है, शब्द संवित् हो सकती है रस संवित् हो सकती है, गन्ध संवित् हो सकती है—और वह भी बस पन्द्रह दिनके अभ्याससे। अतः जो कोई कहे कि योगाभ्याससे कोई सिद्धि नहीं होती है, तो यही समझना कि उसने कभी योगाभ्यास नहीं किया; और यदि कोई कहे कि भक्ति करनेपर भी कभी भगवान्‌का दर्शन नहीं होता है तो यह समझना कि उसने भक्ति नहीं की है। उसके अन्दर कोई कमी है—यह मैं नहीं बताता हूँ, लेकिन यह कहता हूँ कि उसने भक्ति की नहीं है। भक्ति करनेसे भगवान्‌का दर्शन अवश्य होता है। लेकिन हमने यह देखा कि भगवान् आके जो दो मिनटमें बता जाते हैं, जो वृत्ति बना देते हैं, जो ज्ञान करा देते हैं, उसका भी परिमार्जन करनेके लिए, संशोधन करनेके लिए, दृढ़ करनेके लिए, सत्संगकी जरूरत होती है। भगवान्‌के मिलनेके बाद भी सत्संग और सद्‌गुरुकी जरूरत रहती है और महावाक्यार्थके विचारकी आवश्यकता रहती है। भगवान्‌के प्रभावसे जो वृत्ति बनती है ना, उस वृत्तिको दृढ़ करनेके लिए, गाढ़ करनेके लिए सत्संगकी जरूरत रहती है।

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फलकर फलु दरसु तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

भरद्वाज जी कहते हैं कि हमारे सब पुण्योंका फल यह मिला कि सीता-राम-लक्ष्मणका दर्शन हुआ और रामचन्द्रके दर्शनका फल यह है कि हमको भरतजीका दर्शन हुआ। तो भगवान्‌के दर्शनसे भी बड़ा सन्तका दर्शन है।

× × ×

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

पहले बतायी ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता 'ज्ञेयं'। फिर बताया श्रवणसे उसका ज्ञान होता है—'प्रवक्ष्यामि'। और उसके ज्ञानका फल बताया—अमृतत्वकी प्राप्ति 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते'।

वेदान्तशास्त्रमें एक तो प्रक्रिया-ग्रन्थ होते हैं जैसे 'विचार सागर',

'पंचदशी'। प्रक्रिया ग्रन्थका अभिप्राय होता है कि वेदान्तपर श्रद्धा करनेवाला शिष्य किस प्रक्रियासे, किस ढंगसे, विचार करे कि उसको ब्रह्मात्मैकत्वका निश्चय होवे। ब्रह्मात्मैकत्वका निश्चय करनेके लिए विचारका प्रकार-विशेष— उसीको बोलते हैं प्रक्रिया ग्रन्थ, जैसे विचार सागर और पंचदशी।

वेदान्तमें एक सिद्धान्त ग्रन्थ होते हैं। जैसे 'अष्टावक्र गीता' या 'योग वासिष्ठ'। उसमें विचारकी प्रक्रिया नहीं हैं; उसमें तो बस बमगोला फेंका हुआ है कि आत्मा ब्रह्म है।

इन दोनोंके सिवाय वेदान्त शास्त्रमें एक प्रमाण-मीमांसा होती है। वह सिद्धान्तके निरूपणसे भी निराली है और पंचदशी, विचारसागरादिमें जो प्रक्रिया बतायी हुई है, उससे भी निराली है; वह है प्रामाण्य व्यवस्थापन।

तो, प्रमाण क्या है? कि जैसे रूप लाल है कि काला है कि नीला है, इसमें प्रमाण है आँख—नेत्रके सिवाय लाल, काला, नीलाका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अन्य प्रमाणसे अनधिगत और अन्य प्रमाणसे अबाधित, वस्तुका बोधक जो करण विशेष होता है यह प्रक्रिया विशेष होती है, उसको प्रमाण बोलते हैं। जैसे कानसे हम शब्द सुनते हैं तो केवल कानसे ही सुनते हैं, दूसरी किसी भी इन्द्रियसे नहीं सुनते हैं। तो अन्य प्रमाणसे माने नेत्र घ्रा[illegible] रसना आदिसे अनधिगत और नेत्र, घ्राण, रसना आदिसे अबाधित, शब्द-रूप विषयका बोधक होनेसे श्रोत्र प्रमाण है। और श्रोत्र, रसना आदिसे अज्ञात और अबाधित रूप-विषयका बोध करानेके कारण नेत्र प्रमाण है। इसी प्रकार जो आत्मा और ब्रह्मकी एकता है, वह अपरिच्छिन्न अद्वय वस्तु-विषयक होनेसे किसी भी नेत्र, रसना, घ्राणादि इन्द्रियोंसे अज्ञात है और इनके द्वारा अबाधित है। अद्वितीय परिपूर्ण अविनाशी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न जो ब्रह्मतत्त्व है वह न नासिकासे ज्ञात होगा, न बाधित होगा—न नासिका उसे बतावेगी और न काटेगी—न जीभ उसको बतावेगी न काटेगी, न आँख उसको बतावेगी न काटेगी, न कान उसको बतावेगा न काटेगा; और न मन उसको बतावेगा न काटेगा, न बुद्धि उसको बतावेगी न तो काटेगी, क्योंकि अद्वय वस्तु बुद्धिका विषय ही नहीं है। तो जो वस्तु बुद्धिके द्वारा ज्ञात ही नहीं होगी, वह बुद्धिके द्वारा काटी कैसे जायेगी? आँखसे जो दिखेगा, वही आँखसे कटेगा, बुद्धिसे जो दिखेगा सो बुद्धिसे कटेगा; और जो बुद्धिका प्रकाशक है, बुद्धिका अधिष्ठान

है, जिसके बिना बुद्धिका अस्तित्व ही नहीं है, वह वस्तु किसी भी बौद्ध प्रत्ययके द्वारा—अस्ति-प्रत्यय अथवा नास्ति-प्रत्ययके द्वारा—अज्ञात और अबाधित ही रहेगी। उस वस्तुका बोध केवल **नेति-नेति**के द्वारा सम्पन्न होता है। कैसे? कि निषेधके अनन्तर जो अवशिष्ट तत्त्व है वही तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य अखण्डाकार वृत्तिके द्वारा ब्रह्मतत्त्व है—इसके अतिरिक्त वह और किसी भी प्रकारसे ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा और ब्रह्मके ज्ञानमें केवल द्वैत-बाधक ब्रह्मात्मैक्य-बोधक वाक्य ही प्रमाण है, इसके सिवाय और इसका प्रमाण नहीं है।

यह जो प्रामाण्य व्यवस्थापन है वेदान्त शास्त्रमें, हिन्दीमें इसका मूल रूपसे एक ही ग्रन्थ है—'वृत्ति प्रभाकर'; उसमें भी दूसरे प्रमाणोंके खण्डनपर जितना जोर दिया हुआ है, वेदान्तकी व्यवस्थापर उतना जोर दिया हुआ नहीं है। 'वृत्ति प्रभाकर'के सिवाय इस विषयका कोई दूसरा मौलिक ग्रन्थ हिन्दीमें नहीं है और जो 'तत्त्वानुसन्धान' है, वह तो संस्कृतके 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ'का अनुवाद है।

तो, बौद्ध प्रत्ययसे जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव करना चाहते हैं, उनको इसमें असफलता ही मिलती है क्योंकि यह आत्मतत्त्व किसी भी बौद्ध प्रत्ययसे—बुद्धिके उदयसे, बुद्धिके विलयसे, बुद्धिकी शान्तिसे, बुद्धिकी अवस्था-विशेषसे, बुद्धिके शाबल्यसे—किसी भी प्रकार जाना नहीं जा सकता। यह न बुद्धिका विषय है और न बुद्धिके द्वारा बाधित है। इसलिए इस आत्मसत्ता, अखण्ड सत्ताके सम्बन्धमें केवल वेदान्त ही प्रमाण है। वेदान्तियोंके सिरपर पहला बोझ यही रहता है कि वे दूसरे प्रमाणोंका खण्डन करके वेदान्तके प्रामाण्यको व्यवस्थित करें। यह नहीं कि आप फूलमाला और चन्दन लेकर कहीं पहुँच गये और गुरुजीकी पूजा की। आँख बन्द कर लिया और ब्रह्म हो गये। इस तरहसे ब्रह्म बननेवाले तो रोज बनते-बिगड़ते रहते हैं। वे तो चार दिन ब्रह्म रहेंगे, चार दिन पीछे उनका ब्रह्मपना कट जायेगा। यह कोई ध्यानकी प्रक्रिया नहीं है, यह कोई योगकी प्रक्रिया नहीं है, यह कोई विवेककी प्रक्रिया नहीं है यह कोई उपासनाकी प्रक्रिया नहीं है। यह वेदान्त तो *'तीन लोकसे मथुरा न्यारी'* वाली चीज है। तो आओ, **यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते**—जिसके जानते ही अमृतत्वका साक्षात्कार होता है उस ब्रह्म तत्त्वका निरूपण करें।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे कि जब ब्रह्मका निरूपण ही नहीं हो सकता तो उसको दूसरेको कैसे समझाते हैं? तो कहते थे पहले तुम यह निरूपण करके बताओ कि ब्रह्मका निरूपण कैसे नहीं हो सकता। पहले तुम अपने इस वचनकी स्थापना तो करो कि ब्रह्मका निरूपण नहीं हो सकता, और नहीं हो सकता तो कैसे नहीं हो सकता?

बोले—आँखसे अद्वितीय ब्रह्मको देख नहीं सकते, इसलिए ब्रह्मका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि बुद्धिसे उसका अनुमान होवे, तो जो अनुमानका विषय होगा वह ब्रह्म अनन्त ही नहीं होगा। फिर अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, उपमान—कोई भी प्रमाण अनन्त ब्रह्मके ज्ञानमें सक्षम नहीं हो सकता क्योंकि ये सब तो अनुमानके ही कच्चे-बच्चे हैं। असलमें, समस्त प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारकी त्रिपुटीका जो साक्षी है, उस साक्षीको बिलकुल बम गोलेकी तरह, बम फेंकके, ब्रह्म बता देना यह वेदान्तका काम है।

जिनको निषेध नहीं होता, माने **नेति-नेति** का ज्ञान ही जिनको नहीं होता, जो मनकी किसी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, बुद्धिकी किसी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, भावकी किसी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, अभ्यासकी किसी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, आने-जानेवाली किसी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, वे तो कालमें ब्रह्मको बताते हैं। जो भीतर-बाहरकी स्थितिको ब्रह्म बताते हैं, उनका ब्रह्म देशमें है। जो ऐसा-वैसाको ब्रह्म बताते हैं, उनका ब्रह्म तो वस्तु है। असलमें यह विषय, यह विषय-देश, यह विषय-काल और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटी, और त्रिपुटीका साक्षी व्यवहारमें यह द्रष्टा-सब व्यावहारिक हैं। द्रष्टा और स्रष्टा दोनों व्यावहारिक हैं। भीतर द्रष्टा और बाहर स्रष्टा या भीतर ही द्रष्टा स्रष्टा दोनों, व्यावहारिक हैं। समझो कि त्वं-पद वाच्यार्थको हम द्रष्टा बोले और तत्-पद वाच्यार्थको स्रष्टा बोले। तो जहाँ तक वाच्यार्थ है वहाँ तक माया है। और त्वं-पद लक्ष्यार्थ और तत्-पद लक्ष्यार्थ दोनों एक ही है, वही एक ब्रह्म है, यह वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय हैं। जो ब्रह्म है वह मायासे परे है इस बातको समझानेके लिए उसे यहाँ 'परं' कहा गया है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

परंब्रह्म माने सबसे परे जो ब्रह्म हैं। गाँवमें 'परे' माने गाँवके परे,

पेड़के परे, नदीके परे, माने उस पार। तो देखो इसमें देशका संस्कार काम कर रहा है। जब बोलते हैं कि *'एक बरसके परे'*, तो इसमें कालका संस्कार काम कर रहा है। और जब बोलते हैं—अरे तुम कपड़ेको नहीं देख रहे हो, वह घड़ेके परे रखा हुआ है—तो इसमें वस्तुका संस्कार काम कर रहा है। कहते हैं कि 'यह तो दो सौ बरसके भीतरकी संस्कृति है, इसके परे वालेकी बात करो' तब हम कालके भीतरकी बात करते हैं। और जब कहते हैं—यह तो भारतीय संस्कृति है, जरा एशियाई संस्कृतिकी दृष्टिसे देखो—तो यह देशकी बात हो गयी। संस्कृतिकी बात कालकी बात है और हिन्दू, मुसलमान, सम्प्रदायकी प्रवृत्तिकी दृष्टिसे है; पशु और मनुष्य—यह जातिकी प्रवृत्तिकी दृष्टिसे है; स्त्री और पुरुष—यह लिंग भेद है; और गरीब और अमीर-यह वर्ग भेद है। तो यह वर्ग भेद, समाज भेद, जाति भेद, सम्प्रदाय भेद, देश भेद, काल भेद, वस्तु भेद—ये सब तो भेदके ही निरूपण हैं। फिर परं ब्रह्म माने क्या? तो,

अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्र स्मात् च, कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद् वद। (कठो. १.२.१४)

(नचिकेता यमराजसे कहता है)—धर्म, अधर्म (भाव देशमें) कृत, अकृत या कार्य कारण (भाव वस्तुमें) और भूत-भव्य-भाव (कालमें) इनसे जो परे हैं, उस सत्यका वर्णन करो। तो परे माने क्या?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

इन्द्रियोंसे परे उनके विषय हैं। विषयोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त है, अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुषसे परे कुछ नहीं है, वही सीमा है, वही परागति है।

गीतामें जहाँ-जहाँ केवल ब्रह्म शब्द आया है, वहाँ-वहाँ उसका प्रकृतिसे थोड़ा-थोड़ा सम्बन्ध है, और वहाँ जगत्के कारणके रूपमें ब्रह्मका वर्णन है; लेकिन जहाँ ब्रह्मके पहले 'परं' लग गया, वहाँ कार्य-कारण भावका निषेध हो जाता है। जैसे—

ब्रह्मभूयाय कल्पते। (१४.२६) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा। (१८.५४)

यहाँ जो ब्रह्म शब्द है ना, उसमें परम, सनातनम् कुछ नहीं है। तो अभी यह पूरा ब्रह्म नहीं हुआ। कब पूरा हुआ? कि

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

—अब पूरा ब्रह्म हुआ। और निर्विशेष ब्रह्मके वाचक ऐसे स्थल हैं जैसे— **यान्ति ब्रह्म सनातनम्।** (४.३१) **अक्षरं ब्रह्म परमम्** (८.३) गीतामें एक महद् ब्रह्म भी है। लेकिन वह तो बहुत छोटा ब्रह्म है— वह प्रकृतिका वाचक है या प्रकृत्योपाधिकका :

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिनगर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः **सम्भवन्ति याः।**
तासां ब्रह्म महद् योनि अहं बीजप्रद पिताः॥ (१४-३.४)

यहाँ महद् ब्रह्मयोनि माने प्रकृत्ति है और बीज-प्रद पिता ब्रह्म प्रकृत्योपाधिक ईश्वर है। असली ब्रह्म न माता है, न पिता है, वह दोनोंसे निराला है।

यह इसलिए आपका ध्यान खींचा कि आप कहीं गीतामें केवल ब्रह्म शब्द देखकर ऐसा न समझ लें कि सर्वत्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अद्वितीय-अविनाशी परिपूर्ण परमात्माका ही वर्णन है। महद् ब्रह्म शब्द चौदहवें अध्यायमें आपको बता ही दिया। और **ब्रह्मभूयाय कल्पते** में भी ऐसा ही है और **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् अमृतस्याव्ययस्य च।** (१४.२७)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना॥ (४.२४)

यह भी विलक्षण है। एक ब्रह्म वह है जहाँ ब्रह्मभाव है, जहाँ कारण भाव है, जहाँ आना-जाना है; और एक ब्रह्म वह होता है जहाँ ब्रह्म भाव नहीं, कारणभाव नहीं। तो 'यान्ति ब्रह्म सनातनम्' और यहाँ 'अनादिमत्परं ब्रह्म'में यह परं ब्रह्म है। माने प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है।

अब यहाँ विशेष लो! 'परम्' माने पुरुषान्न परं किंचित्। 'परं' माने प्रत्यक् चैतन्य और 'ब्रह्म' माने श्रुत्युक्त अद्वय तत्त्व—'यत् परम् तद् ब्रह्म। यद् ब्रह्म तद् परम्'। यहाँ आत्मा और ब्रह्मकी एकता हो गयी।

बोले—जगत्का क्या हुआ? कि जगत्का निषेध कर दिया। कैसे? कि **अनादिमत्।** आदिमत् जो जगत् है वह ब्रह्ममें नहीं है: अनादिमत्। जगत्की सत्ता बाधित, अपवादित निषिध्य, नेति नेति। अनादिमत् माने नेति नेति, परम माने त्वम् और ब्रह्म माने तत् और यत्-तद्के द्वारा दोनोंका समानाधिकरण्य, माने असि।

अब बोलो भाई कि उस ब्रह्मको क्या कहें? सत् कहें या असत्? तो बोले—'न सत्तन्नासदुच्यते' उसको न तो सत् कह सकते हैं न असत्। एक बातपर विचार करो कि यहाँ ब्रह्मके सत् या असत् होनेका निषेध है, कि उसके प्रवचनका निषेघ है? अर्थात् 'न सत्तन्नासदुच्यते'में 'न' का अन्वय 'सत्' और 'असत्'के साथ है या 'उच्यते'के साथ है? क्या यह कहना अभीष्ट है कि 'तत् उच्यते'—न सत् न असत्; अथवा यह कहना अभीष्ट है कि तत् सत् इति न उच्यते तथा असत् इति न उच्यते? माने केवल प्रवचनका निषेध आपको श्लोकमें दिखता है कि ब्रह्म बोलने योग्य नहीं है, उसको सत् और असत् नहीं कहा जाता? या कि ब्रह्मको बोला तो जाता है परन्तु सत् या असत्-नहीं कह सकते? तो संस्कृत भाषा यहाँ स्पष्टम्-स्पष्टम् बोलती है कि यहाँ नकारका अन्वय केवल उच्यतेके साथ है, सत् और असत्के साथ नहीं है। 'तत् न उच्यते'— वह कहा नहीं जाता है। क्या नहीं कहा जाता है? कि 'न सत् इति उच्यते, न असद् इति उच्यते। केवल वह कहा नहीं जाता है सत् और असत्के रूपमें। वह 'है' भी नहीं और 'नहीं है' भी नहीं—यह अभिप्राय नहीं है।

गीताकी दृष्टिमें परमात्मा सत् और असत् दोनों है:

> **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**
> **प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥**
> **तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।**
> **अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥** (९.१८-१९)

भगवान् बोलते हैं—हे अर्जुन! सत् और असत् दोनों मैं ही हूँ। 'गतिर्भर्ता'—इस श्लोकमें द्वादश लक्षण हैं भगवान्के; और 'तपाम्यहमहं'—इस श्लोकमें अमृत भी मैं और मृत्यु भी मैं, अस्ति भी मैं और नास्ति भी मैं, सत् भी मैं असत् भी मैं—ऐसा भगवान् कहते हैं।

गीतामें हम तीन दृष्टिकोणोंकी स्थापना करते हैं—एक भक्त-दृष्टिकोण, दूसरा भगवद्-दृष्टिकोण और तीसरा तात्त्विक-दृष्टिकोण। उसमें भक्त-दृष्टि और भगवद्-दृष्टि दोनोंको नहीं जोडते हैं। भगवान परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय हैं-ऐसा श्रीवल्लभाचार्य जी महाराज कहते हैं और परस्पर-विरुद्ध धर्माधिष्ठान हैं—ऐसा शंकराचार्य भगवान् बोलते हैं। भक्तकी दृष्टिसे भगवान् क्या हैं? तो अर्जुनका वचन है—

त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत्। (११.३७)

ग्यारहवें अध्यायमें स्तुति करते हुए अर्जुन बोलते हैं—सत् भी भगवान् हैं असत् भी भगवान् हैं। असत् भी भगवान् हैं और सद्, असत् दोनोंसे परे भगवान् हैं। अस्ति भी भगवान्, नास्ति भी भगवान् और अस्ति, नास्ति दोनोंका प्रकाशक दोनोंका जो अधिष्ठान है सो भी भगवान्। अर्जुनकी ईश्वरके बारेमें ऐसी दृष्टि है कि ईश्वर सर्व है। अभी विराट् रूपसे देखा ना, तो उसमें जिन्दा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन हैं और मुर्दा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन हैं। भीष्म, द्रोणका शरीर जो जिन्दा है ना, वह भी विराट्का अवयव है और उनका मुर्दा मरा हुआ शरीर भी विराट्का अवयव है, और दोनोंका होना न होना भी विराट् ही है। तो अर्जुनने जैसा देखा, ठीक वैसा ही ग्रहण किया। बोले—जिन्दा भी वही, मुर्दा भी वही और जिन्दा मुर्दामें जो पंचभूत है सो भी वही। तो यह सारी सृष्टि जिस समय जिन्दा रहती है वह भी वही; जब सारी सृष्टि मुर्दा हो जाती है तब भी वही; और भगवान् न जिन्दा होता है, न मुर्दा होता है, दोनोंसे विलक्षण रहता है। भगवान् किसीके जिन्दा-मुर्दा होनेसे जिन्दा-मुर्दा नहीं होता। तो यह हुई अर्जुनकी दृष्टि। सदसत् तत्परं यत्।

श्रीकृष्णने नवें अध्यायमें अपनी उपासनाके लिए बताया—**सदसच्चाहमर्जुन**। अर्जुन! सत् और असत् मैं ही हूँ। सबमें ब्रह्म दृष्टि करो। यह उपासना है। श्रुतिके वचन हैं—***अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत*** अन्न ब्रह्म है ***भूरसि भूमिरसि***—पृथिवी भी ब्रह्म है।

सलिलमासीदाप्रचेता इदं—जल भी ब्रह्म है।

अग्निमीले पुरोहितम्—अग्नि भी ब्रह्म है।

वायोस्त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासिः—वायु भी ब्रह्म है।

कं ब्रह्म खं ब्रह्म—आकाश भी ब्रह्म है।

आकाशस्तल्लिङ्गम्—ब्रह्मसूत्र कहता है आकाश भी ब्रह्म है।

प्राणो ब्रह्मेत्युपासीत्। मनो ब्रह्मेत्युपासीत। विज्ञानं ब्रह्म। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

इसका अर्थ हुआ सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह सर्वात्म भावकी दृष्टि है। यह उपासनाकी दृष्टि है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टि इससे निराली है। यह तो उपासनाकी दृष्टि हुई कि सब ब्रह्म है। *अहं, मनुरभवं सूर्यश्च*—ऋषि वामदेव बोलते हैं—मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही मनु हूँ। जैसे वाक् बोलती है—*अहं ब्रह्मासी संगमनि वसूनां* सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि मैं ही हूँ, वैसे भगवान् बोलते हैं—**सदसच्चाहमर्जुन**। शत्रुको शत्रु मत समझो, उसमें भगवान् देखो। मित्रको मित्र मत समझो, भगवान् देखो, धर्म-अधर्म, जन्म और मृत्यु मत देखो, भगवान् देखो। अपनी दृष्टिको भगवदात्मक बनाओ।

भक्त और भगवान्-दोनोंकी दृष्टि विधान प्रधान है। भक्त बोलता है—सत् भी वही, असत् भी वही, सदसत्से परे भी वही। भगवान् बोलते हैं—मैं ही सत् मैं ही असत्। अब यह तत्त्वज्ञान कैसे हो? तो ध्यानमें बैठनेका नाम तो तत्त्वज्ञान नहीं है। ऐसा है बाप जी! कि तत्त्वज्ञानकी गति न्यारी है। बुद्धिमें दो प्रकारकी वृत्ति होती है। यदि घड़ा होवे तब तो बुद्धिमें 'घटः अस्ति'—यह प्रत्यय होता है और 'अस्तीति सत्'—अस्ति को सत् कहते हैं। और यदि घड़ा न होवे तो 'घटो नास्ति'—घड़ा नहीं है—ऐसा बुद्धिमें प्रत्यय बनता है। तथा 'नास्तीत्यसत्'—नास्तिको ही असत् कहते हैं। तो घड़ेको नेत्रसे देखकर बुद्धि-वृत्तिमें या तो घटकी भाव वृत्ति (सत्-वृत्ति) बनती है कि घड़ा है और या अभाव-वृत्ति (असत्-वृत्ति) बनती है कि घड़ा नहीं है। इस प्रकार हम कभी घटको सत् बोलते हैं, कभी असत् बोलते हैं।

अब ईश्वरको इनमें-से हम कैसे बोलें? जैसे घड़ा है, वैसे ईश्वरको वृत्तिसे देखकर क्या हम बोलें कि ईश्वर है? अथवा, वृत्तिसे यह देखकर कि ईश्वर नहीं है, ऐसा बोलें कि ईश्वर नहीं है?

तो हमलोगोंका ऐसा कहना है कि सबसे ज्यादा भावुक और श्रद्धाप्रधान व्यक्ति कोई सृष्टिमें है तो वह नास्तिक है। क्यों? क्योंकि उसकी खोज तो पूरी नहीं हुई; उसने अपना अभाव तो देखा नहीं, और ईश्वरका अभाव मान लिया; तो उसके जैसा भोला, श्रद्धालु दुनियामें और कौन हो सकता है? तुम अपना अस्तित्व तो स्वीकार करते हो और परमात्माका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, यह भावुकताके सिवाय और क्या हो सकता है!

अच्छा यह तो हम अपने अनुग्रहकी भाषामें नास्तिकका वर्णन करते हैं। आप देखो कि 'घड़ा' है इसमें भी 'है' बोला जाता है और घड़ा नहीं है इसमें भी 'है' बोला जाता है। ये 'है' किसके होनेसे बोले जाते हैं? यदि मैं नहीं होता तो 'घड़ा है' यह किसको मालूम पड़ता? और 'घड़ा नहीं है'-यह भी किसको मालूम पड़ता? इसलिए आत्मानुगत जो वृत्ति है वही विषयके अस्तिपने और नास्तिपनेका निश्चय करती है। माने पहले मैं होगा, पहले आत्मा होगा और आत्मा ही 'घड़ा' नहीं है या घड़ा है—इस वृत्तिका साक्षी होगा। आत्माके होनेसे ही घड़ा है यह वृत्ति भी होगी और घड़ा नहीं है यह वृत्ति भी होगी।

अच्छा, अपना आपा न होवे, माने अपना अभाव अगर कोई कल्पित करे, तो 'मैं' नहीं हूँ। यह वृत्ति किसको मालूम पड़ेगी? उसमें भी तो आत्माका अस्तित्व रहेगा ना! हम होंगे तभी तो यह निश्चय करेंगे कि हम नहीं हैं। इसलिए अनुभवके क्षेत्रमें, अनुभवकी प्रणालीमें, अनुभवके निरूपणकी जो शैली है उसमें, मैं नहीं हूँ, यह अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता।

अहं नास्मि इति न कश्चित् प्रतीयात—शंकराचार्य भगवान् कहते हैं किसीको यह अनुभव कभी नहीं हो सकता कि मैं नहीं हूँ। आत्मासे अनुगत होकर ही अस्ति या नास्ति प्रत्यय होता है-सृष्टि अस्ति, सृष्टिर्नास्ति। प्रपञ्चास्ति और प्रपञ्चो नास्ति—यह जो प्रपञ्चके अस्तित्व और नास्तित्वकी वृत्ति है, वे दोनों आत्माके सम्मुख बनती और बिगड़ती रहती हैं और मैं नहीं हूँ यह वृत्ति कभी हो नहीं सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे हम प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा जान करके किसी वस्तुके सत् होनेका निश्चय करते हैं और किसी वस्तुके असत् होनेका निश्चय करते हैं तो यह सत्पना और असत्पना दोनों विषय नहीं हैं और 'मैं हूँ'—ऐसा प्रत्यय तो हो-ऐसा प्रत्यय नहीं हो

सकता ऐसे भी यदि कोई कहे कि एकबार हमको यह अनुभव हो गया कि मैं नहीं हूँ,. तो वाह-वाह! आपको अनुभव हो गया कि मैं नहीं हूँ, पर अभी तो आप हैं ना, तो उस, नहींमें भी आप मरे नहीं थे। अगर उस 'मैं नहीं हूँ' अनुभवमें आप मर गये होते, तो उस अनुभवको बतानेके लिए इस समय जिन्दा कैसे होते? आजतक कोई मरा नहीं है। बोले-भाई, शायद आज ही मैं मर जाऊँगा। तो अभी आजतक तो आपने अपनी मौत देखी नहीं, अब आगे आप अपनी मौत देखेंगे, इसकी कल्पना क्यों करते हैं? बोले—हम दूसरोंको मरते देखते हैं। कि दूसरोंका मरना आप कहाँ देखते हैं? जरा देहसे अपने मैं को विविक्त करो, मनसे अलग करो! जिसको जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ होती हैं, उसको देखो! जब आपने अभी अपने आपको देखा ही नहीं, तो मैं मर जाऊँगा यह निश्चय आपने कैसे कर लिया? पहले अपनेको आप देख तो लीजिये, पहचान तो लीजिये, फिर आप अपने बारेमें स्वच्छन्द हैं, स्वतन्त्र हैं, आप अपनी मौतका निश्चय कीजिये, परन्तु अपने बारेमें जानकारी तो प्राप्त कर लीजिये कि आप कौन हैं?

अब देखो, उपनिषद्में परमात्माका स्वरूप बतानेकी शैली जो है वह बोलते हैं—

दूरमथो विदितादविदितादधि।

ब्रह्म विदितसे और अविदितसे, दोनोंसे परे हैं। सत्ताकी दृष्टिसे जिसको अस्ति (सत्)-नास्ति (असत्) बोलते हैं, ज्ञानकी दृष्टिसे उसीको विदित अविदित बोलते हैं। आनन्दकी दृष्टिसे उसीको सुख और दुःख बोलते हैं या दुख और दु:खाभाव बोलते हैं। दु:ख और दु:खाभावमें आनन्द स्वरूप स्थित है। सत् और असत्में सत्-स्वरूप स्थित है।

तो अब आप निश्चय करो कि दूसरेके बारेमें आप अस्ति-नास्तिका निर्णय दे सकते हो कि 'यह है' और 'यह नहीं है;' और अपने बारेमें नास्तिका निर्णय कभी नहीं दे सकते, क्योंकि जब नास्तिका निर्णय देओगे तो उसके साक्षी तुम तो होगे ही।

यह बात हमने व्यष्टिकी उपाधिको रखकरके आपको सुनाई। यदि समष्टिकी उपाधिकी दृष्टिसे देखें तो उसके जो परे है उसके बारेमें अस्ति-

नास्ति कहनेके लिए तो कोई औजार है ही नहीं तुम्हारे पास! और व्यष्टि समष्टि दोनों जिसको भास रही है; जिसकी दृष्टिमें व्यष्टि और समष्टि दोनों अस्ति-नास्ति हैं, दोनों हैं-नहीं हैं; और जिसकी दृष्टिमें दोनों व्यष्टि और समष्टि दुःख और दुःखाभाव नहीं हैं; वह सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म स्वयं आप हो।

प्रश्न यह है कि किस वाणीसे आप अस्ति, नास्ति बोलोगे? वैखरी वाणीसे आप अस्ति, नास्ति बोलोगे? वैखरी वाणीसे बोलोगे, मध्यमा वाणीसे बोलोगे, पश्यन्ती वाणीसे बोलोगे? परा वाणीसे बोलोगे? अरे बाबा ***न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्।*** आप बृहदारण्यक उपनिषद्का यह मंत्र ध्यानमें बैठा लें। वेदान्त वाक्की जिज्ञासा नहीं है। यह वाणी क्या है-यह बतानेके लिए वेदान्त नहीं है। **वक्तारं विद्यात्**-जो वाणीकी उपाधिसे भीतर बैठकर बोल रहा है, उसको जानो। वक्तारं विद्यात् वक्ताको जानो। यह बतानेके लिए वेदान्त है।

यह बात भक्तिके ग्रन्थोंमें बड़ी विलक्षण है। हमको याद आ जाती है, क्योंकि शांकर वेदान्तके ग्रन्थ जैसे हमारे अपने हैं ना, वैसे भक्ति सिद्धान्तके ग्रन्थ भी हैं।

यत्पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग-
स्त्रीणां स्वधर्मइति धर्मविदास्त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

(भाग० १०.२९.३२)

इस श्लोकको व्याख्यामें विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है कि गोपियाँ कहती हैं-प्यारे श्यामसुन्दर! जो तुम बोल रहे हो उसमें तो शंका है कि ठीक है कि गलत है; लेकिन तुम बोलनेवाले सच्चे हो इसमें हमको कोई शंका नहीं है। इसलिए हम तुम्हारी वाणीके द्वारा प्रतिपादित अर्थसे प्रेम नहीं करतीं, हम इस वाणीके वक्तासे प्रेम करती हैं, क्योंकि उसके सच्चा होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है। तुम कहते हो कि यह धर्म है और यह अधर्म है, तो तुम्हारी वाणीके द्वारा प्रतिपादित उस धर्माधर्मके निर्णयमें तो हमको सन्देह है, परन्तु इस वाणीके वक्ता जो तुम हो, उसमें तो हमको कोई सन्देह नहीं है! अतः हम तो तुममें प्रेम करती हैं।

अब आपको क्या सुनावें? **न सत्तन्नासदुच्यते**—यदि बुद्धिके पेटमें कोई सत् आता है, तो देखो बुद्धि परिच्छिन्न होती है और प्रत्येक व्यक्तिकी अलग-अलग होती है। अगर प्रत्येक व्यक्तिकी अलग-अलग बुद्धि भी न हो, समष्टिकी बुद्धि हो, महत्तत्त्व हो तो, उस महत्तत्त्वकी बुद्धिके पेटमें भी जो आवेगा, उसका भी जो विषय होगा, वह परिच्छिन्न होगा। क्योंकि वह बुद्धि भी स्वयं परिच्छिन्न है, स्वयं दृश्य है। बुद्धिके पीछे बैठकर जो बुद्धिको प्रकाशित कर रहा है—देशाकार बुद्धि, कालाकार बुद्धि, द्रव्याकार बुद्धि, अभावाकार बुद्धि, शान्त बुद्धि—सम्पूर्ण बुद्धियोंका जो साक्षी, स्वयं प्रकाश अधिष्ठान है, उसको बुद्धिकी वृत्तिसे अस्ति, नास्ति कैसे कहा जा सकता है? इसलिए बुद्धिके विषय, बुद्धिकी वृत्ति और बुद्धिकी अवस्था, बुद्धिके स्वभाव, और बुद्धिके उपादान अर्थात् जिस मैटरके द्वारा बुद्धि बनी है वह भी, नेति नेतिके द्वारा उसका निषेध कर देनेके बाद जो शेष रहता है। ***अशेष-विशेष-निषेधावशेष*** रूप (अशेष विशेषका निषेध कर देने पर जो अवशेष रहता है सो) उसको बुद्धि सत् कैसे बोले? उसको बुद्धि असत् कैसे बोले? स्वयं बुद्धि ही सत्-असत्से अनिर्वचनीय है, और बुद्धिका विषय भी सदसत्से अनिवर्चनीय है। तब जो बुद्धिके अगोचर रहकर बुद्धिका प्रकाशक, बुद्धिका अधिष्ठान है, उसको सत् और असत् कैसे कहेंगे? तो भक्त-दृष्टिसे सत्-असत् और उससे परे जो कुछ ज्ञाताज्ञात है, वह सब परमात्माका स्वरूप है। और, भगवद्-दृष्टिसे सत्-असत् सब भगवद्रूप है। (उसमें ज्ञाताज्ञात नहीं लगेगा क्योंकि भगवद् दृष्टिसे सब ज्ञात ही होता है, उसमें अज्ञात कुछ नहीं होता है। और तत्त्वदृष्टिसे, स्वदृष्टिसे, जो कुछ सद्वृत्ति या असद्वृत्तिका विषय है जो आत्मसत्ता अनुगत और व्यावृत्त जो आत्मसत्ता वृत्तिमें आकरके है या नहीं बोलता है या वृत्तिसे अलग रहकर है या नहींको देखता है। यह जो आत्माका व्यावृत्त या अनुवृत्त स्वरूप है इससे भी विलक्षण है यह ब्रह्मतत्त्व! प्रत्यक् होनेसे चैतन्य है और अधिष्ठान होनेसे अद्वितीय है। यह जो अद्वितीय चैतन्य स्वरूप ब्रह्म है, यह **न उच्यते**। यह वाणीका विषय नहीं है, फिर उसको 'सत्' या 'असत्' शब्दका वाच्य कैसे बोलें?

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन० ५)

मनसे जिसका मनन नहीं किया जाता मन जिससे प्रकाशित होता है, उसको तुम ब्रह्म जानो!

ननु महतापरिकरबन्धेन कण्ठरवेण उद्घुष्य ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि इति। न अनुरूपमुक्तं न सत्तन्नासदुच्यते इति (न, अनुरूपम् एव उक्तम्।)

(शांकर भाष्य)

शांकरभाष्यमें पूर्वपक्षीका कथन है—बड़े जोरसे कमर कसकर यह घोषणा की गयी कि अब मैं ज्ञेयका प्रवचन करूँगा। घोषणा करनेके बाद बात यह निकली कि 'न सत्तन्नासदुच्यते'—वह ज्ञेय न सत् है और न असत् है अथवा न सत् कहने योग्य है, न असत् कहने योग्य है। ज्ञेयका अच्छा प्रवचन किया कि वह कहने योग्य ही नहीं है। घोषणाके अनुरूप बात नहीं हुई।

आचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं-नहीं, यहाँ यह बात बिलकुल अनुरूप है। क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मका निरूपण **नेति-नेति** यह नहीं, यह नहीं करके होता है। बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें, चौथे अध्यायमें, छठें अध्यायमें, एक अध्यायके दो-दो ब्राह्मणोंमें नेति-नेति, यह कहके यह बात कही जाती है, कि—इति न, इति न; ब्रह्ममें प्रकार नहीं है। 'इति शब्देन प्रकार वचना' ऐसा है कि वैसा है। कीदृग् ब्रह्म? ब्रह्म कैसा है? पंचदशीकारने कहा—***यद् अनीदृक् अतादृक् च।*** तत्त्व कैसा है? जो इदृक् भी नहीं है, तादृक् भी नहीं है माने ऐसा भी नहीं है वैसा भी नहीं है। ऐसा और वैसा, यह तो मनमें कल्पना होती है।

नीलकंठजीने गीताकी इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि यह तो बिलकुल ऋग्वेदकी ऋचामें जो बात कही गयी है वही इस श्लोकमें कही गयी है। ऋचामें क्या है? बोले—

न सदासीन्नोऽसदासीत्तदानीम्।

जगत्के मूल तत्त्वमें न अस्ति है न नास्ति है, न सत् है न असत् है। देखो, जो चीज दीखती है उसके बारेमें अस्ति और नास्तिका प्रयोग होता है—बुद्धि-प्रत्यय-विषयत्व होनेपर ही अस्ति पदका अथवा नास्तिपदका प्रयोग होगा-घट अस्ति, घटो नास्ति। जो बुद्धिके, वृत्तिके पेटमें आयेगा, दिखेगा, उसको कहेंगे कि 'है' या 'नहीं है'। घड़ा दिखेगा तो कहेंगे है और घड़ा नहीं दीखेगा, तो कहेंगे 'नहीं है।' अर्थात् बुद्धिके विषयमें ही अस्ति-

नास्ति शब्दका प्रयोग होता है। विषय उसको कहते हैं जो इन्द्रियोंसे मनसे, वृत्तिसे मालूम पड़ता है। तो अगर ब्रह्म बुद्धिसे दिखता, बुद्धिका विषय होता तो कहते कि 'ब्रह्म है' या 'ब्रह्म नहीं है'। लेकिन यहाँ तो यह दशा है कि जब बुद्धि नहीं रहती है तब भी ब्रह्म तो रहता ही है, जैसे सुषुप्तिमें। सुषुप्तिमें बुद्धि सो जाती है, तो उस समय वह किसी भी वस्तुको अस्ति अथवा नास्ति नहीं करती है। सुषुप्तिमें बुद्धि नहीं रहती उसको भी साक्षी जानता है और जाग्रत-स्वप्नमें बुद्धिके रहनेको भी साक्षी जानता है। अत: बुद्धि परमतत्त्व नहीं है, साक्षीभास्य है। ***अस्ति सुषुप्तिर्नाम कश्चना अवस्था विशेषः।***

सुषुप्ति नाम बुद्धिकी एक अवस्था-विशेष। (अभाव)का है। ***या हि जाग्रतस्वप्नाभ्यां विलक्षणा।*** जो (अवस्था विशेष) जाग्रत और स्वप्नसे विलक्षण है। वह अवस्था-विशेष किसके द्वारा देखा गया? जिसने सुषुप्तिको देखा नहीं अब (जाग्रत् अवस्थामें) उसकी स्मृति करके उसका वर्णन कर रहा है।

बोले—अच्छा, सुषुप्तिमें बुद्धि रहती है कि नहीं, यह बताओ। यदि बुद्धि नहीं रहती है तो अब स्मृति कैसे होती है? और यदि बुद्धि वहाँ रहती है तो सुषुप्ति वहाँ हुई ही कहाँ? इसका उत्तर है कि सुषुप्ति दशामें केवल साक्षी रहता है। साक्षी ही सुषुप्तिको देखता है, सुषुप्तिको प्रकाशित करता है।

न तत्र माता न पिता वहाँ माता-पिता नहीं होते।

न वेदा न देवाः वहाँ न वेद होते न देवता होते।

तत्र माता अमाता भवति। पिता अपिता भवति। देवा अदेवा भवन्ति। सुषुप्ति तो ऐसी है ना! तो बोले—भाई, बुद्धिकी सुषुप्तिको देखता तो है साक्षी, परन्तु जब स्मरण करते हैं तो क्या स्मृति भी साक्षीकी है? बोले—नहीं, वह तो बुद्धिकी है। तो बोले—यह क्या बात कि साक्षीका दर्शन और बुद्धिकी स्मृति। यज्ञदत्तने देखा और पुष्यमित्रने स्मरण किया? मोहनने देखा और सोहनने स्मरण किया! बोले—नहीं, तादात्म्यसे ऐसा हो जाता है। जब हमको यह ज्ञान नहीं होता कि बुद्धि और साक्षी दोनों अलग-अलग हैं तो जब हम जाग्रत दशामें जागते हैं तो बुद्धि और साक्षी तादात्म्य करके साक्षीके देखे हुएको बुद्धि स्मरण करती है और बुद्धिकी स्मृतिको साक्षी अपने आपमें आरोपित करता है, और कहता है कि मुझे स्मरण हो रहा है कि मेरी एक

सुषुप्ति दशा हुई थी और मैंने सुषुप्ति देखी थी; क्योंकि सुषुप्तिमें अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती।

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यह जो साक्षी है, यह जाग्रत-स्वप्र-सुषुप्तिसे विलक्षण है, अतीन्द्रिय है, अमना है अप्राण है। *अप्राणो ह्यमना: शुभ्र: ।*

संस्कृत भाषामें एक ऐसी ही प्रक्रिया है : जैसे 'प्रकाशते सविता'— सूर्य प्रकाश रहा है। तो कोई प्रकाश-दानकी क्रिया सूर्य नहीं कर रहा है, उसका सहज स्वभाव है प्रकाशना, और लोक दृष्टिसे उसमें प्रकाशकत्व अध्यारोपित है। *अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चम् प्रपञ्च्यते।* अध्यारोप और अपवादके द्वारा वस्तुको समझानेके लिए उसमें प्रकाशकत्वका आरोप होता है। सूर्य अपनी ओरसे घट, पट, मठ किसीको प्रकाशता नहीं है। इसीलिए ज्ञानं, जो ज्ञानस्वरूप आत्मदेव है उसका स्वरूप ही प्रकाश है, उसमें प्रकाशनकी क्रिया नहीं है। सहज स्वरूपसे वह प्रकाश है। अब उसमें चाहे घट बने चाहे घट फूटे, चाहे बुद्धि बने चाहे बुद्धि फूटे, चाहे सुषुप्ति रहे कि न रहे।

अब प्रश्न तो मुख्य यह है कि बुद्धिका लीनरूपसे जो अवस्थान है उसके भी जब हम साक्षी हैं, तब ऐसी स्थितिमें बुद्धिकी अस्ति-नास्ति दोनों वृत्तियाँ—जो ऐन्द्रियक पदार्थोंके सम्बन्धमें होती हैं (घटो अस्ति घटो नास्ति)—अपने साक्षीके सम्बन्धमें कैसे हो सकती हैं—अर्थात् नहीं हो सकती कि साक्षी *'अस्ति प्रत्ययविषयो वा नास्ति प्रत्ययविषयो वा'*। तो साक्षी क्या है? कि अप्राण है, अमना है और अबौद्ध है। बुद्धिसे पीछे रहकर बुद्धिको प्रकाशता है और उसमें प्रकाशकत्व केवल उपचार मात्र है, माने उसको लखानेके लिए प्रकाशकत्वका अध्यारोप करके उसका निरूपण करते हैं।

अब देखो वेदान्तियोंकी युक्ति! वे कहते है कि अबौद्ध जो वस्तु है वह बौद्ध प्रत्ययके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती, इसलिए उसको लखानेके लिए औपनिषद वाक्यकी जरूरत है। जबतक कोई उस बुद्धिके परे वालेको बुद्धिसे यह नहीं कहेगा कि अरी ओ बुद्धि! तेरा बाप, तेरा प्रकाशक, स्वयं प्रकाश तो तेरे परे चमक रहा है और तुझको चमका रहा है, अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्तिके द्वारा इस अबौद्ध, अतीन्द्रिय, अमना, अप्राण, अद्वितीय वस्तुको नहीं लखायेगा, तबतक इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। अबौद्ध

होनेके कारण ही इसमें कोई ऐन्द्रियक प्रत्यय या मानस प्रत्यय या बौद्ध प्रत्यय या बुद्धिकी सुषुप्ति—बुद्धिकी समाधि, बुद्धिकी सुषुप्ति, बुद्धिका अभाव, बुद्धिका लय, बुद्धिकी वृत्ति, बुद्धिकी अवस्था इस ब्रह्मज्ञानमें समर्थ नहीं है। इसके लिए स्वानुभूति शब्दका प्रयोग भी नहीं किया जाता। क्यों? बोले—भवके पीछे है यह। भव शब्दका अर्थ बुद्धि है, मन है, इन्द्रिय है। भवन्ति—होनेवाली जो चीजें हैं, वे हैं भव। बुद्धि होती है और मिटती है। मन होता है और मिटता है। इन्द्रियाँ होती हैं और मिटती हैं। विषय होते हैं और मिटते हैं। इनके अनु (पीछे)इनके पश्चाद् भागमें विराजमान जो स्वयं प्रकाश स्वतः सिद्ध आत्मदेव हैं, ये अनुभवके विषय नहीं हैं, अनुभाव्य नहीं हैं।

किसीने पूछा आत्माका अनुभव किसको होता है? हम पूछते हैं—किसने कहा कि आत्माका अनुभव होता है? सारे अनुभव और सारे अनुभवोंका निषेध जो देख रहा है उसका नाम आत्मा है, उसका नाम ब्रह्म है। वह देशको देखता है इसलिए ओर-छोरसे रहित है। वह कालको देखता है इसलिए आदि अन्तसे रहित है। वह वस्तुओंको देखता है, इसलिए उनके भाव और अभावसे विनिर्मुक्त है। ऐसा अदेश, अकाल, अद्रव्य, अनिन्द्रिय, अप्राण, अमना, अबौद्ध और सबके अभावका साक्षी; जिसके कारण अभावास्ति—अभाव है, ऐसा प्रत्यय बनता है; और अभावोनास्ति—ऐसा प्रत्यय भी बनता है; यह अस्ति और नास्ति प्रत्यय—दोनोंके भावाभावका जो साक्षी है; वह अनुभव-स्वरूप है, अनुभवका विषय नहीं है; उसमें अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्यकी त्रिपुटी नहीं है।

वाचस्पति मिश्रकी बोलीमें इसको ऐसे बोलते हैं—

प्रपञ्चभावाभावानुकूलशक्त्यवच्छिन्न प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, ब्रह्ममें विवर्त प्रपञ्च हैं।

प्रपञ्चके भावाभावके अनुकूल—माने सृष्टि और प्रलयके अनुकूल—जो **शक्ति माने माया; उस** मायासे अवच्छिन्न जो ब्रह्म, उस अवच्छिन्न देशमें प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न जो ब्रह्म उसका विवर्त रूप यह प्रपञ्च है। माने सम्पूर्ण ब्रह्ममें यह प्रपञ्च नहीं है, अखण्ड ब्रह्ममें प्रपञ्च नहीं है, अद्वय ब्रह्ममें प्रपञ्च नहीं है, केवल मायावच्छिन्न ब्रह्ममें ही प्रपञ्च भास रहा है।

अस्थूलमनणुमदीर्घम्। ब्रह्म कैसा? श्रुति बोलती है—अस्थूलम्—

'नास्ति स्थूलं जाग्रत् प्रपञ्चजातं यस्मिन् तत् अस्थूलम्'—जिसमें यह स्थूल जाग्रत प्रपञ्च नहीं है, ऐसा है ब्रह्म। और—अनणु—*'नास्ति अणुः स्वप्नप्रपञ्चो यस्मिन् तत् अनणुः'*—जिसमें स्वप्न प्रपञ्च नहीं है उसका नाम है अन् अणु। ब्रह्म अनणु है।

ऐसा यह परब्रह्म परमात्मा।

वेदकी पद्धति ही यह है कि विशेषका प्रतिषेध करके, अशेष विशेषका प्रतिषेध करके, जो अवशेष रहता है वही आत्मा है। यह बात आप समझ लो कि सम्पूर्णका निषेध करनेके बाद एक अपना आपा, अपना आत्मा ही रहेगा, क्योंकि हम अन्यका ही निषेध कर सकते हैं, स्वका निषेध करनेमें समर्थ नहीं हैं।

नेदं तदिति निषेधेनैव निर्दिश्यते वाचोऽगोचरत्वात्।

यह वह नहीं है—इस निषेधके द्वारा ही श्रुति परमात्माका निर्देश करती है क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है। वाणी तो जिसको देखती है उसीको बोलती है; और यह जो ***दूरमथो*** *विदितादविदितादधि* जिज्ञास्य ब्रह्म हमारा कौन है? कि विदित और अविदित दोनोंसे दूर है। अविदित न होनेसे नास्ति प्रत्ययका विषय नहीं है और विदित न होनेसे अस्ति प्रत्ययका विषय नहीं है जिसको 'है' बोलते हैं वह भी अन्य है, और जिसको 'नहीं' बोलते हैं वह भी अन्य है। और 'है-नहीं' बोलनेवाली जो वृत्ति है उस वृत्तिके पीछे बैठकरके उस वृत्तिको जो प्रकाशित कर रहा है, वह साक्षी है। साक्षीको, है-नहीं दोनों नहीं बोल सकते।

अब यह प्रश्न हुआ कि यह साक्षी सबमें अलग-अलग है कि एक ही है? मालूम तो यह पड़ता है कि सब अन्तःकरणोंके पीछे साक्षी है। परन्तु मेरे अपने अन्तःकरणमें सहस्रों वृत्तियाँ उठती है, उन सबका साक्षी तो एक मैं ही होता हूँ। इसी प्रकार समस्त अन्तःकरणोंकी अनन्त वृत्तियोंके पीछे उनका साक्षी एक ही होता है लेकिन उनके अभिमानी अलग-अलग होते हैं।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढं आविशन्ति न पण्डितम्॥

शोक स्थान सहस्र आये और गये, दिन भरमें दस बार रोये हँसे, दिन भरमें सैकड़ों बार डरे और उत्साही बने। ये किसमें आते हैं? कि इनका सम्बन्ध मूढ़ पुरुषसे है, पण्डित पुरुषसे नहीं है। माने ये अज्ञान-सिद्ध हैं, मोह सिद्ध हैं, पाण्डित्य सिद्ध नहीं हैं। शोक और भयकी हेतुता संसारमें जहाँ-जहाँ सिद्ध होती हैं, वहाँ-वहाँ मूढ़तासे सिद्ध होती है, पाण्डित्यसे सिद्ध नहीं होती है। एक तो बेचारा शोकसे रोया, माने आनन्दसे वंचित हुआ; दूसरे उसको मूढ़ कहा माने उसको चित्से भी वंचित बता दिया। जो आनन्दसे वंचित है वह ज्ञानसे भी वंचित है; और जब आनन्द तथा ज्ञानसे वंचित है तो जन्ममरणके चक्करमें बारम्बार पड़ेगा ही, तो वह सत्से भी वंचित है। अर्थात् जो शोक करता है वह सच्चिदानन्दसे ही वंचित है। अविद्याके कारण ही वह अपनेको दुःखी, अज्ञानी और जन्ममरणवाला मान रहा है।

अब कहते हैं—ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हो तो सहीपर जिसको अस्ति न कह सकते हों। यदि ब्रह्म अस्ति ही न हो तो वह ज्ञेय कैसे होगा? एक ही वस्तुको ज्ञेय भी कहना और उसको अस्ति-नास्तिसे अनिर्वाच्य भी कहना—यह बात नहीं बनती है। बोले—देखो भाई हम उसको अस्ति इसलिए नहीं बोलते। क्योंकि वह अस्ति-बुद्धिका विषय नहीं है; और नास्ति भी इसीलिए नहीं बोलते क्योंकि वह नास्ति-बुद्धिका विषय भी नहीं है। आप पहले इस बातपर ध्यान दें कि बुद्धिका विषय और बुद्धिका आश्रय क्या है? नये-नये वेदान्त सुननेवालोंको यह बात समझमें नहीं आती है तो आप देखो यह है फूल; नेत्रसे फूल मालूम पड़ता है, तो यह फूल हुआ नेत्रका विषय; और नेत्रके द्वारा फूल है, ऐसा जिसको मालूम पड़ता है वह है फूलका आश्रय—मैं स्वयम्। देखो बुद्धि वृत्ति बनती है ना! तो बुद्धिके साथ मैं हूँ ज्ञाता, और आँख है ज्ञानका करण और यह फूल है नेत्र द्वारा बुद्धिका विषय। अब नेत्र और बुद्धि-वृत्तिका आश्रय कौन है? कि आश्रय मैं है। तो परमात्माको जो ढूँढ़ना है वह इस नेत्रके विषय फूलमें नहीं ढूँढ़ना है, नेत्रके आश्रय मैं-में ढूँढ़ना है। तो फूल यहाँ होगा तो फूलको कहेंगे अस्ति; और फूल यहाँ नहीं होगा, हटा दें, तो फूलको बोलेंगे नास्ति तो फूल है और फूल नहीं है, लेकिन आँखके पीछे बैठकर जो देखनेवाला है, फूलके होनेसे वह हो नहीं जाता और फूलके नहीं होनेसे वह नहीं हो जाता हो, सो बात नहीं है। फूलके

है और नहींसे जैसे आँखवालेपर कोई असर नहीं पड़ता, ऐसे ही बुद्धिके होने और न होनेका, उसके पीछे बैठनेवाले पर कोई असर नहीं पड़ता।

तो आप यह विचार करो कि जो वस्तु बुद्धिके द्वारा 'है' मालूम पड़ती है और फिर 'नहीं' मालूम पड़ती है, वह तो अन्य हुई, और 'मैं हूँ'—यह बुद्धिके पीछे है। बुद्धि जब सो जाती है—सुषुप्तिमें, तब भी यह मैं रहता है। क्या सुषुप्तिमें कोई मर जाता है? सुषुप्तिमें कोई नहीं मरता जो कल था, वही सुषिुप्तिके बाद उठता है।

नास्ति माने अभाव। वेदान्ती लोग अभावको पदार्थ नहीं मानते हैं। प्राचीन नैयायिक भी अभावको पदार्थ नहीं मानते थे, पर बीचमें नैयायिकोंकी एक ऐसी परम्परा निकल आयी जो अभावको पदार्थ मानने लगे। विशेषण विशेष्य भाव उन्होंने निकाला—**घटाभाववद्भूतलम्**। यह भूतल कैसा है? कि घटाभावसे युक्त है। बोले—घटाभाव अगर पदार्थ न होता, तो 'घटाभाववद् भूतलं' क्यों बोलते? तो अभावको उन्होंने पदार्थ माना। अभाव वे चार प्रकारका मानते हैं—प्रागभात्र, प्रध्वन्साभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव, माने वस्तु अपनी उत्पत्तिसे पहले नहीं थी। प्रध्वंसाभाव माने वस्तु अपने विनाशके बादमें नहीं रहेगी। ये दो प्रकारके अभाव कालिक हैं।

अस्मिन् देशे घटो नास्ति—यहाँ घड़ा बिलकुल नहीं है, इसको अत्यन्ताभाव बोलते हैं। यह दैशिक अभाव है।

घड़ी घड़ा नहीं है और घड़ा घड़ी नहीं है—अर्थात् घड़ीमें घड़ेका अभाव है और घड़ामें घड़ीका अभाव है। इसको अन्योन्याभाव बोलते हैं। यह वस्तुगत अभाव है।

वेदान्ती बोलते हैं: काल परिच्छेद, देश परिच्छेद, वस्तु परिच्छेद। प्रागभाव, प्रध्वंसाभावको एकमें कर दो तो काल परिच्छेद आ गया। देश परिच्छेदमें अत्यन्ताभाव आ गया और वस्तु परिच्छेदमें अन्योन्याभाव आ गया। माने वेदान्तियोंके देश परिच्छेद, कालपरिच्छेद, वस्तु परिच्छेदमें नैयायिकों जैसा चार प्रकारके अभावका समावेश हो जाता है।

वेदान्ती कहते हैं कि अभाव अपने अधिष्ठानसे भिन्न होता ही नहीं है। इससे अद्वैतकी सिद्धि होती है। जैसे सर्पका अभाव रज्जुसे भिन्न नहीं है, रज्जु ही है; इसी प्रकार प्रपञ्चका अभाव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ब्रह्म ही है और ब्रह्म

तो वही है, जिसमें प्रपञ्चका अभाव है। बोले—जब प्रपञ्चका अभाव ब्रह्ममें है तब प्रपञ्च क्या हुआ? कि मिथ्या हुआ, क्योंकि जो अपने अभावके अधिकरणमें भासता है वह मिथ्या होता है। ***स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्***—अपने अभावके अधिकरणमें भासना ही मिथ्यात्व है।

सर्प अपने सर्पाभावके अधिकरण रज्जुमें भास रहा है, इसलिए सर्प मिथ्या है।

प्रपञ्च प्रपञ्चाभावके अधिकरण ब्रह्ममें, भासता है, इसलिए प्रपञ्च मिथ्या है।

अनन्तमें सान्त वस्तु भास रही है, इसलिए सान्त वस्तु मिथ्या है। जैसे झरोखेमें-से जब रोशनी आती है और उसमें कण-कण-कण त्रसरेणु भासते हैं तो जिस रोशनीमें त्रसरेणु दीखते हैं उस रोशनीमें त्रसरेणुका अभाव है और जिस अवकाशमें त्रसरेणु भासते हैं उस अवकाशमें भी त्रसरेणुका अभाव है। आकाश अनन्त है और उसीमें ये कण-कण-कण भास रहे हैं। तो जिस अनन्तमें असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड त्रसरेणुवत् भास रहे हैं, वह अनन्त ही ब्रह्माण्डोंका भी अधिष्ठान है और ब्रह्माण्डोंके अभावका भी अधिष्ठान है। ब्रह्माण्डोंका बनना और बिगड़ना दोनों उसीमें दिखता है तो ये असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड जिस अनादि अनन्त परिपूर्ण अद्वितीय वस्तुमें भास रहे हैं उसीमें इनका अभाव भी है। इसलिए अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मिथ्या हैं। क्योंकि अनन्तमें सान्त भास रहा है, और सान्तका अभाव अनन्तमें है, इसलिए अनन्तमें सान्त मिथ्या है।

एकमें अनेक भास रहा है और इस अनेकका अभाव एकमें है, इसलिए एकमें अनेक मिथ्या है।

स्वमें अन्य भास रहा है, अन्यमें स्व नहीं भास रहा है, और अन्यका अभाव स्वमें है, इसलिए स्वमें अन्य मिथ्या है।

चेतनमें जड़ भास रहा है, जड़का अभाव चेतनमें है, इसलिए चेतनमें जड़ मिथ्या है।

परम प्रेमास्पद आनन्दात्मामें दुःख भास रहा है, दुःखके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान आत्मा है, इसलिए आत्मामें दुःख मिथ्या है।

मृत्युका अभाव आत्मामें है, इसलिए अपने अभावके अधिकरण आत्मामें भासनेके कारण मृत्यु मिथ्या है।

असत् साधिष्ठान है; असत् अपने अधिष्ठान सत्में भास रहा है, इसलिए असत् मिथ्या है।

इस प्रकार सत्में असत् मिथ्या है, चित्में जड़ मिथ्या है, आनन्दमें दुःख मिथ्या है, एकमें अनेक मिथ्या है, अनन्तमें सान्त मिथ्या है, अद्वितीयमें द्वैत मिथ्या है, और प्रत्यक्में पराक् मिथ्या है। ब्रह्ममें जीव और जगत् मिथ्या है। इसलिए विषयके सम्बन्धमें जो विवेक है, वह इन्द्रिय द्वारा है, वृत्ति द्वारा है और आत्माके सम्बन्धमें जो विवेक है, वह अतीन्द्रिय वस्तुका विवेक है विषयका विवेक नहीं है, इन्द्रियका विवेक नहीं है, बुद्धिका विवेक नहीं है, यह तो साक्षीका विवेक है।

अब अपने प्रश्नको लो! प्रश्न है कि अन्तःकरण भेदसे साक्षीमें भेद हो सकता है कि नहीं? यह आक्षेप किया है सांख्यवादी लोगोंने। वेदान्तीका कहना है कि हे सांख्यवादियो! तुम अन्यके द्वारा अन्यके भेदका निरूपण कैसे करते हो? सांख्यवादी कहते हैं—चूँकि जन्म सबका अलग-अलग होता है, मृत्यु सबकी अलग-अलग होती है, अन्तःकरण सबके अलग-अलग होते हैं; प्रत्यय सबके अलग-अलग होते हैं, प्रवृत्तियाँ सबकी अलग-अलग होती हैं, एकके सुखी होनेसे सब सुखी नहीं होते, एकके दुःखी होनेसे सब दुःखी नहीं होते इसलिए सबमें पुरुष (साक्षी) अलग-अलग हैं। तो बोले—यह बताओ कि ये जितने हेतु तुमने बताये, वे प्रकृतिमें रहते हैं या पुरुषमें? जन्म-मरण प्राकृत पदार्थका होता है कि तुम्हारे द्रष्टाका? प्रवृत्ति और निवृत्ति अन्तःकरणमें होती है कि द्रष्टामें? सुख-दुःख अन्तःकरणमें होता है कि द्रष्टामें? तुम्हारे हेतु तो रहते हैं प्रकृतिमें और उनसे तुम द्रष्टाका भेद सिद्ध करने जाते हो, तो यह बिलकुल अपने सिद्धान्तके विपरीत तुम बोल रहे हो, असंगत है।

तब बोले कि अच्छा भाई द्रष्टाकी एकता, साक्षीकी एकता, स्वयंप्रकाशकी एकता हम किस प्रमाणसे जानें? बोले—अतीन्द्रियमें जो प्रमाण होता है उससे जानो। अनन्तकरणमें जो प्रमाण होता है उससे जानो। अविषयमें जो प्रमाण होता है उससे जानो। अपरिच्छिन्नके विषयमें जो प्रमाण

होता है उससे जानो। वह प्रमाण क्या है? तो क्या तुम आँखसे अपरिच्छन्नको देखना चाहते हो? मानस वृत्ति विशेषसे उसको देखना चाहते हो? मानस अवस्था विशेषसे उसको देखना चाहते हो? अतीन्द्रियके विषयमें ऐन्द्रियक प्रमाणकी कल्पना ही वृथा है। वेदान्ती कहते हैं कि इस अद्वितीय अनन्त अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वका यदि तुमको अनुभव करना है, तो आओ हमारी शरणमें! हम देते हैं प्रमाण। इसमें आँख प्रमाण नहीं है, कान प्रमाण नहीं है, नाक प्रमाण नहीं है, जिह्वा प्रमाण नहीं है, त्वचा प्रमाण नहीं है। इसमें मन प्रमाण नहीं है। इसमें बुद्धि प्रमाण नहीं है, इसमें साक्षीका जो विषय है सो प्रमाण नहीं है। इसमें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयका व्यवहार ही नहीं है।

अव्यवहार्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्। (मांडूक्य० ७)

वेदान्तियोंका कहना है—

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् अवेदविद्को उस ब्रह्मका बोध नहीं हो सकता। ***त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि***—हम औपनिषद पुरुषके सम्बन्धमें पूछते हैं—माने यह परमात्मा उपनिषदैक गम्य है, वेदान्तैक वेद्य है। इसलिए शंकराचार्य जीने कहा—***इदं तु ज्ञेयमतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वात्*** अर्थात् यह ज्ञेय तो अतीन्द्रिय होनेसे एक मात्र शब्द प्रमाणके द्वारा ही जानने योग्य है।

जब आँखसे कोई चीज नहीं दिखती है तब मनसे अनुमान करते हैं। अन्धेरेमें कोई आदमी आया और आँखसे नहीं दिखा, तो नेत्र-ज्योतिने काम नहीं दिया, माने वहाँ सौर-ज्योति, आग्नेय-ज्योति दोनों निकम्मी हो गयीं; तब मनसे पूछा—कौन होगा जो इस समय आता होगा? अनुमान किया। बोले—ठीक अनुमान नहीं हुआ। तो अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, उपमान—सबके सब व्यर्थ गये। प्रत्यक्ष नहीं हुआ, प्रत्यक्षके बिना अनुमान नहीं हुआ, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, उपमानादि प्रमाण नहीं हुए। अब पूछा—कौन है भाई? तो दूरसे ही उसने कहा—मैं। शब्दको सुनते ही कहा—अरे मोहन, सोहन, तुम हो! तो जहाँ नेत्र ज्योति काम नहीं देती, जहाँ मनो ज्योति काम नहीं देती, वहाँ वाग्ज्योति काम देती है, वहाँ शब्द-प्रमाण होता है। तो, **न सत्तन्नासदुच्यते** में यहाँ केवल उक्ति मात्रका निषेध है, सत्ता-असत्ताका निषेध नहीं है।

अब प्रश्न यह आया कि अच्छा अब इसमें तुम युक्ति बताओ कि ब्रह्मको सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता। तो शंकराचार्य भगवान् बोलते हैं—

उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्म नोच्यते इति।

सत्-असत् आदि शब्दोंसे ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता, यह युक्तिसे भी सिद्ध है। वह युक्ति क्या है, यह तो थोड़ी देरमें सुनायेंगे।

पहले यह सुनाते हैं कि जिसका जहाँ तादात्म्य होता है वह उसको प्रमाण मानता है। एक आदमी कहता था कि हम भगवान्‌को भगवान् तब मानेंगे जब भगवान् अपने हाथसे हमारे मुँहमें खानेको कुछ डाल दें! दूसरा आदमी कहता है कि नहीं, भगवान् आके हृदयसे आलिंगन करें तब हम उसको भगवान् मानेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि पहला आदमी जीभमें बैठा हुआ है, और दूसरा आदमी चाममें बैठा हुआ है। तो उनके लिए तो सबसे बड़ा प्रमाण जीभ या चाम ही है। जो आँखमें बैठा हुआ है, उसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण आँख है। जो मनमें बैठा हुआ है उसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण मन है, और जो बुद्धिमें बैठा हुआ है उसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण बुद्धि है। नहीं तो महाराज! द्रष्टा बनके ईश्वरको दृश्य बनानेमें ही जिन्दगी मिट्टी कर देते हैं, कि हम तो द्रष्टा हैं, हम तो परमात्माको दृश्य बनाके देखेंगे। अब परमात्माको दृश्य बनाना ऐसा ही है जैसे सम्राट्‌को नौकर बनाना। अनन्तको दृश्य बनावेगा तो अनन्तको देखनेके लिए कोई करण तो उसके पास है नहीं, फिर कैसे दृश्य बनावेगा? बोले—अर्जुनकी तरह दिव्य चक्षुसे विराट्‌का दर्शन कर लेंगे। तो विराट् ही ईश्वर नहीं है। यह ठीक है कि विराट्‌को देखनेके लिए दिव्य चक्षु है, लेकिन दिव्य चक्षुकी गति बस विराट् तक ही है। उपासनाकी गति ब्रह्मलोक तक है। वैकुण्ठ, गोलोक आदि उपासनाके ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। एक ही ब्रह्मलोक है, उसीको ब्रह्माकी उपाधिसे ब्रह्मलोक बोलते हैं, नारायणके लिए वैकुण्ठ लोक बोलते हैं, शिवके लिए कैलाश लोक बोलते हैं। उपासनाकी गति हिरण्यगर्भ पर्यन्त है। योगकी गति कारणात्मक ईश्वर पर्यन्त है।

दिव्य चक्षुकी गति विराट् पर्यन्त है—इस बातको ऐसे समझो कि यदि इन्द्रियोंको बहुत फैला दिया जाय तो ऐसा हो सकता है कि आँखसे सृष्टिका

समग्र रूप दीख जाये, और त्वचासे सृष्टिका समग्र स्पर्श कर सकें। यदि ईश्वरकी कृपासे हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति इतनी बड़ी हो जाये तो आँखसे हम विश्वके समग्र रूपको, त्वचासे समग्र स्पर्शको, नासिकासे समग्र गन्धको, रसनासे समग्र रसको और कानसे समग्र शब्दको ग्रहण कर सकेंगे। ईश्वरकी कृपासे यह हो सकता है। परन्तु एक बात है कि ईश्वर कृपा करके भी नाक़से रूप दिखावे और कानसे गन्ध सुँघावे, यह नहीं कर सकता। ईश्वरकी मर्यादा ही ऐसी है कि जिस इन्द्रियके लिए जो विषय नियत है उसी विषयको हम उस इन्द्रियसे देख सकते हैं। तो हमारी पाँचों इन्द्रियोंको ईश्वर ऐसी शक्ति दे सकता है जिससे हम समग्र स्थूल सृष्टिका अनुभव कर सकें। इसीका नाम विराट् दर्शन है।

ईश्वर हमारे मनको भी ऐसी शक्ति दे सकता है कि हम तैजसात्मा हिरण्यगर्भसे तादात्म्य प्राप्त करके समग्र सूक्ष्म सृष्टिका अनुभव कर सकें—उसीसे ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, साकेत लोक, गोलोक, शिवलोक सबका अनुभव हम कर सकते हैं।

ईश्वर चाहे तो हमारी चित्तवृत्तिको निर्विषय करके कारणात्मासे एक कर दे और हम मायोपाधिक निराकार सविशेष सगुण ईश्वरका स्वरूपावस्थानके द्वारा दर्शन कर सकते हैं। लेकिन अद्वितीय ईश्वर, जिसका वर्णन उपनिषद् करते हैं, जिसमें कार्य-कारण भाव नहीं है, जिसमें व्यावृत्ति-अनुवृत्ति, व्यापक-व्याप्य भाव नहीं है, जिसमें अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, जिसमें ज्ञान-ज्ञेय भाव नहीं है जिसमें भोक्ता-भोग्य भाव नहीं है, ज्ञाता-ज्ञेय भाव नहीं है, कर्ता-कर्म भाव नहीं है—ऐसा जो अद्वितीय प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वका बोध है वह केवल श्रुति-प्रमाणसे ही हो सकता है, किसी भी अन्य प्रमाण या पद्धतिसे नहीं हो सकता।

तुरीय तत्त्वका बोध अलग चीज है और तुरीयावस्थाका साक्षात्कार अलग चीज है। तुरीयावस्थाकी प्राप्ति योगाभ्याससे हो सकती है और हिरण्यगर्भकी अनुभूति उपासनासे हो सकती है। एक-एक ब्रह्माण्डमें रहने वाले जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं; वे तो हिरण्यगर्भके अवयवमें कल्पित हैं; हिरण्यगर्भ तो बड़ा विशाल है। सम्पूर्ण प्रकृतिमें जो सूक्ष्म-समष्टि है उसमें जो चैतन्य है उसको हिरण्यगर्भ बोलते हैं; सम्पूर्ण कारण समष्टिमें जो चैतन्य

है उसको ईश्वर बोलते हैं; और समस्त स्थूल समष्टिमें जो चैतन्य है उस चैतन्यको विराट् बोलते हैं। ये एक-एक ब्रह्माण्ड तो जैसे गूलरके पेड़में बहुत सारे गूलरके फल होते हैं, वैसे हैं। अश्वत्थमें, पीपलके पेड़में फलके समान ये ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं। समग्र पीपल विराट् है; उसमें जो सूक्ष्म है वह हिरण्यगर्भ है; उसमें जो कारण है वह ईश्वर है और उसमें जो कारण-स्थूल, सूक्ष्मके विभागसे विरहित है, वह तुरीय तत्त्व है। उस तुरीयतत्त्वका साक्षात्कार वेदान्तका विषय है।

वेदान्ती सगुण साकार ईश्वरके दर्शनका विरोध नहीं करता। वह तो ईश्वरका बड़ा अनुग्रह है कि किसीको सगुण साकारका दर्शन हो। कोई वैकुण्ठमें, गोलोकमें जाये तो ईश्वरकी बड़ी कृपा! किसीने निराकार ईश्वरका अनुभव किया, तो उसपर ईश्वरकी बड़ी कृपा! लेकिन वेद जिस वस्तुका प्रतिपादन करता है, वह ब्रह्मका स्वरूप है। वेद कर्मके द्वारा सेव्यका प्रतिपादन नहीं करता, उपासनाके द्वारा उपास्यका प्रतिपादन नहीं करता, ध्यानके द्वारा ध्येयका या समाध्यादिके द्वारा अवस्थेयका प्रतिपादन नहीं करता; वेद तो वस्तुतत्त्वका निरूपण करता है।

तो श्री शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि सत् और असत् आदि शब्दोंसे ब्रह्मका निरूपण नहीं हो सकता, यह बात हम उपपत्ति, युक्तिके द्वारा बताते हैं। युक्ति क्या है? बोले—हम शब्दोंका विभाग करते हैं। प्रयोगशालामें तत्त्वोंका विश्लेषण करके जैसे आजकल वैज्ञानिक लोग रासायनिक दृष्टिसे कोई एक सौ दसके आसपास द्रव्य बताते हैं, इसी प्रकार हम शब्द राशिका विश्लेषण करके यह निर्णय करते हैं कि शब्द इतने (चार-पाँच) प्रकारसे अपने अर्थका निरूपण करते हैं :

सर्वो हि शब्दो अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणश्च श्रोतृभिः जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षः अर्थं प्रत्याययति नान्यथादृष्टत्वात्। भगवान् शंकराचार्य ऐसी युक्ति देते हैं कि जिसने सारी सृष्टि देखी न हो, वह ऐसा बोल नहीं सकता। कहते हैं—सारी सृष्टिमें जितने भी शब्द अर्थको प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त किये जाते हैं और जिन शब्दोंको सुनकरके श्रोता कुछ समझता है, वे सबके सब शब्द जातिके द्वारा, क्रियाके द्वारा, गुणके द्वारा और सम्बन्धके द्वारा एक अपेक्षासे संकेतका ग्रहण करवा

करके अर्थका प्रत्यायन करते हैं अन्यथा नहीं। माने शब्दोंकी भी एक रीति है अर्थ बतानेके लिए; दूसरी तरहसे वे अर्थ नहीं बताते हैं, इसी तरहसे अर्थ बताते हैं, क्योंकि कहीं देखा ही नहीं गया—अदृष्टत्वात्।

एक शब्द बोलते हैं—गाय। यह गाय है, यह घोड़ा है, इनमें 'गाय' या 'घोड़ा' जिस पशुका बोध कराते हैं, वे जातिसे बोध कराते हैं। गाय एक जाति है, घोड़ा एक जाति है। किसीको बोलते हैं-पचति, पठति-यह पढ़ रहा है, यह रसोई पका रहा है। यहाँ कैसे बताया? बोले—क्रियासे (पचति, पठति क्रिया है)। किसीको बताया-शुक्लः कृष्णः=यह काला है यह गोरा है। यह कैसे बताया? बोले—गुणसे। किसीको बताया—धनीगोमान्-यह बड़ा धनी है, इसके पास बहुत गौएँ हैं। तो यह कैसे बताया? बोले—धन और गौओंके सम्बन्धसे। परन्तु ब्रह्ममें न जाति है, न गुण है, न क्रिया है और न सम्बन्ध है न रूढ़ि है।

जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धके संकेतके अतिरिक्त एक पाँचवा संकेत रूढ़िका भी होता है। जैसे कोई अपने बेटेका नाम करोड़ी मल रख ले, तो चाहे करोड़ पैसे भी उसके पास न हों, पर उसका नाम तो करोड़ीमल ही है; करोड़ीमल शब्दका यहाँ रूढ़ अर्थ वही गरीब व्यक्ति होगा। इसीप्रकार चाहे किसीके पास करोड़ रूपये हों, पर नाम हो छदामीमल, तो वहाँ छदामीमल शब्दका अपने अर्थके साथ रूढ़िके अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध नहीं है। वहाँ करोड़ीमल, छदामीमल नाम केवल उस व्यक्तिके बोधके लिए संकेत है; इसको रूढ़ि बोलते हैं। तो, कोई भी शब्द जब किसी अर्थका निरूपण करता है, तो जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, रूढ़ि—इन्हींसे करता है; और ब्रह्ममें न जाति है, न गुण है, न क्रिया है, न रूढ़ि है, न सम्बन्ध है। इसलिए यदि संसारके शब्द परमात्माका निरूपण करें—तो कैसे निरूपण करेंगे? निषेधमुखसे निरूपण करेंगे जैसे—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर्गुणं यतो वाचो निवर्तन्ते। न सत्तन्नासदुच्यते इत्यादि।

ब्रह्म सत् असत् शब्दसे निर्देश्य नहीं है। तो फिर 'ब्रह्म है' यह बात कैसे मालूम पड़े? अरे भाई, यह जो 'है' है वह तो ऐसा है कि जो उसको देख लेता है, जो उसको पहचान गया, उसके लिए उसके सिवाय और कोई

है ही नहीं रहता; और जो नहीं पहचानता और वह आँख, नाक, कानसे ब्रह्मको देखना चाहता है, वह तो कभी उसको देख ही नहीं सकेगा। जरा, अपने आँख, कान, नाककी जो असमर्थता है, उसको भी तो समझना चाहिए ना! तुम्हारी इन्द्रियोंमें अन्तःकरणमें सामर्थ्य ही कितना है! तो न सत्तन्नासदुच्यते।

जैन सिद्धान्तमें तीन रत्न माने जाते हैं—सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प और सम्यक् समाधि। इनसे अनेकान्तरूप जो वस्तु-तत्त्व है, उसका साक्षात्कार होता है। अनेकान्तरूप माने ऐसा भी, ऐसा भी, ऐसा भी! जगमग-जगमग-जगमग—जैसे हीरेमें कभी लाल कभी पीली चिलक निकलती है, वैसी ही वस्तु-तत्त्वकी अनेकान्तरूप चिलकें है; और उस चिलकका जो अनुभव है वही चित्तकी पवित्रताका है।

बौद्ध-सिद्धान्तमें युक्तिसे—*सर्वं शून्यं सर्वं शून्यं* द्वारा निष्प्रपञ्चताका, प्रपञ्चाभावका, जो अनुभव है, वह भी अनुभवका विषय है। किन्तु इसमें अनुभवका स्वरूप अज्ञात रहेगा।

योग और सांख्यके सिद्धान्तमें अभ्यासजन्य चित्त-वृत्तियोंका निरोध किया जाता है निर्बीज, निर्विकल्प, असम्प्रज्ञात समाधिके द्वारा और उस समय द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थानरूप कैवल्य सिद्ध होता है परन्तु वहाँ दूसरा द्रष्टा नहीं है—यह अनुभव नहीं होनेके कारण, दूसरे द्रष्टा होनेका संस्कार उस निर्बीजमें भी बीजरूपसे विद्यमान रहता है।

वेदान्तीका कहना है कि वेदान्त (उपनिषद्) जिस तत्त्वका निरूपण करते हैं वह वेदान्तातिरिक्त और किसी साधनके द्वारा, किसी युक्तिके द्वारा, किसी उपायके द्वारा कभी जाना नहीं जा सकता, वह तो केवल वेदान्तकी वस्तु है। श्रुत्यैक समधिगम्य है। *वेदान्तवेद्यं विभुम्* वह वेदान्त वेद्य है, यह गोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है। बोले-अब कोई युक्ति लो। हम जैसी युक्ति और जो सिद्धान्त आपको सुना रहे हैं ना, इसका जब हम निष्कर्ष सुनावेंगे तब बड़ा मजा आवेगा। तो इन्होंने शब्दोंके प्रकार निश्चित कर दिये हैं वह आपको सुनाया था। जब कहते हैं यह पुरुष है, यह स्त्री है, यह लिङ्गभेदसे वर्णन है। यह हिन्दू है, यह मुसलमान है यह सम्प्रदाय-भेदसे वर्णन हुआ। यह पशु है, यह मनुष्य है,

यह जातिभेदसे वर्णन हुआ। यह ड्राईवर है, मोटर चलाता है यह क्रियाके द्वारा वर्णन है। किसीका सम्बन्धके द्वारा वर्णन करते हैं। यह अमुक मेमसाहिबाके पति हैं—मेमसाहिबा जानी हुई हैं, उनके पतिका परिचय सम्बन्धसे करा दिया। इस तरहसे शब्दोंकी भी जाति होती है जिनके द्वारा वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है। तो परब्रह्म परमात्मामें न गुण है—शुक्ल-कृष्ण, (काला, सफेद) मीठा-खट्टा, ये सब गुण नहीं है; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, पर, अपर, योग, विभाग—ये कोई गुण ब्रह्ममें नहीं हैं। इसलिए गुणवाचक शब्दोंके द्वारा परमात्माका वर्णन नहीं हो सकता। और न ब्रह्म कोई पाठक, पाचककी तरह, ड्राईवरकी तरह क्रिया करनेवाला है अत: क्रियावाचक शब्दोंके द्वारा भी ब्रह्मका वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्ममें जाति नहीं है—*निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं अप्राणो ह्यमनः शुभ्रः।* ऐसे-श्रुति उसका वर्णन करती है। सम्बन्धके द्वारा भी उसका वर्णन नहीं हो सकता।

बोले—सामने कुछ दिखायी पड़ता हो तो इशारा कर दें अ ब स। संस्कृत भाषाके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमें शब्दको अर्थका संकेत मानते हैं, केवल रूढ़ि ही मानते हैं;परन्तु संस्कृत भाषामें हम लोग शब्द और अर्थका सम्बन्ध सारी सृष्टिका विचार करके *औत्पत्तिकः शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः* मीमांसक लोग शब्दमें-से अर्थ निकाल लेते हैं। जैसे-गच्छति इति गौ; पंकतः जायते इति पंकजः। तो जातिसे, गुणसे, क्रियासे सम्बन्धसे सब वस्तुओंका निर्वचन सम्भव हो जाता है परन्तु ज्ञेय ब्रह्म नहीं। क्योंकि यह जो परमात्मा है, वह एक है, और अद्वय है, इन्द्रियोंका अविषय है और सबका अपना आत्मा है। इसलिए शब्दके साथ इसका वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं बनता है। और इन्द्रियोंका अविषय है इसलिए ब्रह्मका कोई इशारा भी नहीं बनता। और अपना आपा ही है इसलिए शब्द-ज्ञानके बिना भी यह अपरोक्ष ही रहता है। *न च सम्बन्धि एकत्वात् अद्वयत्वाद् अविषयत्वाद् आत्मत्वात् च न केनचित् शब्देन उच्यते इति युक्तम्।* (भाष्य) एक और अद्वय होनेके कारण अविषय होनेके कारण, आत्मा होनेके कारण किसी भी शब्दके द्वारा परमात्माका निर्देश नहीं हो सकता। अत: यह कहना युक्त है कि ब्रह्म किसी भी सदसत् शब्दसे कहा नहीं जा सकता। श्रुति भी कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्द-ब्रह्म वह है जहाँसे मन सहित वाणी उसको प्राप्त न करके लौट आती है। (तैत्तरीय० २.४.९) वेदके ***वाक् सूक्त*** का एक मन्त्र आपको बताता हूँ। उसमें कहा है कि वक्ताका सबसे बड़ा प्रेमी, सबसे बड़ा सखा, सबसे बड़ा हितकारी वेद है।

यस्तत्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाचि भागोऽस्ति।

जिसने अपनेसे प्रेम करनेवाले, सच्चा सखा—वेदको छोड़ दिया उसको वाणीसे बोलनेका कोई अधिकार नहीं है। यह वेदका मन्त्र है।

तो वेदने आनन्दके वर्णनके लिए बताया क्या? ***यतो वाचो निवर्तन्ते।*** जरा इस तन्त्र सूक्तका अभिप्राय देखो परमात्मा नायक है और वाक् उसकी प्रेयसी है। परन्तु वाक् तो वैखरी भी है, मध्यमा भी है, पश्यन्ती भी है, परा भी है, अनेकरूपा है, अनेक वर्णा है। माने उसके रंग भी अनेक, उसके ढंग भी अनेक हैं। 'वाच:' माने बहुत सी वाणियाँ। ये सब वाणियाँ परमात्मासे मिलनेके लिए चलीं, तो शंका हुई कि हम अकेले कैसे जायें? कोई पुरुष लेके साथ चलें! तो बोलीं कि अगर पुरुषको साथ लेके चलेंगी तो शायद हमारे पतिदेव हमारे ऊपर शंका करें, इसलिए उन्होंने एक नपुंसकको साथ लिया। वह नपुँसक कौन है? बोले कि मन। मन प्रेमका ढोंग तो बहुत रचता है लेकिन भोग नहीं कर सकता, इसीसे नपुँसक है। वह प्यार भी बहुत दिखाता है और द्वेष भी बहुत दिखाता है, लेकिन भोक्ता तो मनके साथ जो आत्मा है वही होगा। चैतन्यसे अनारूढ़ जो मन है वह भोक्ता नहीं हो सकता। जबतक आत्मा मनके साथ एक नहीं होगा, माने मनकी वासनाको अपनी वासना स्वीकार नहीं करेगा, तबतक भोगकी शक्ति जागृत नहीं होगी, मनके साथ आत्माके तादात्म्यापन्न हुए बिना भोग नहीं हो सकता, इसीसे भोगमें बलात्कार नहीं हो सकता।

तो वाक् माने वाणियाँ श्रृंगार कर-करके मनको साथ लेकरके (मनसा सह) परमात्माको ढूँढने निकलीं, परन्तु अप्राप्य—उस परमात्माके पास नहीं पहुँच सकीं इसलिए *निवर्तन्ते* बोलना बन्द हो गया और मनसा सह मन भी निवृत्त हो गया माने सोचना भी बन्द हो गया। और तब ***आनन्दं ब्रह्मणो***

विद्वान् न बिभेति कुतश्चन आनन्दस्वरूप जो ब्रह्म है उसको जानकर विद्वान् कहीं किसीसे डरता नहीं।

अभेदे षष्ठि है। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् यहाँ जो सम्बन्ध विभक्ति है वह राहो शिर:के समान केवल विकल्पमात्र है। ब्रह्मण: आनन्दं नहीं, ब्रह्म एव आनन्दम्। ब्रह्मण: शब्दका यहाँ अर्थ है—ब्रह्मैव। अब देखो वेद ब्रह्मके बारेमें और क्या कहता है—

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन०६)

यह चिन्मात्र ब्रह्मका वर्णन है। *यत् इदं इदं भवन्त: उपासते न तद् ब्रह्म*—जिसको तुम यह-यह कहकर उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। जो वाचासे अनभ्युदित है और वाणी जिससे अभ्युदित होती है, जो वाणीका विषय नहीं है, वाणी जिससे प्रकाशित होती है, वह स्वयं प्रकाश ब्रह्म है। तो परमानन्द ब्रह्म है यह 'यतो वाचो निवर्तन्ते' में बताया और स्वयं प्रकाश ब्रह्म है यह 'यद् वाचानभ्युदितं' में बताया। **न तत्र वाग्गच्छति**—वाणीकी क्रियाका विषय ब्रह्म नहीं है। ***न विद्मो न विजानीम:***-बुद्धिका विषय भी ब्रह्म नहीं है। तब शब्द वहाँ कैसे चलेगा? अत: *अविषयत्वात् अद्वयत्वात् आत्मत्वात्* शब्दका प्रवेश ब्रह्मके वर्णनमें नहीं है-इस प्रकार युक्ति भी हुई, श्रुति भी हुई।

अब इसका निष्कर्ष आपको बताते हैं। जो पक्के वेदान्ती होते हैं वे तो इसके निष्कर्षपर पहुँच जाते हैं और जो कच्चे होते हैं वे नहीं पहुँचते हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि किसी भी शब्दके द्वारा परमार्थ वस्तुका प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसका मतलब है कि आत्मा, ब्रह्म, सत्य, अमृत, परमार्थ तत्त्व, इत्यादि शब्दोंके द्वारा भी वह जो असली वस्तु है, उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता। समझानेके लिए उसको आत्मा बोलेते हैं, ब्रह्म बोलते हैं, सत्य बोलते हैं, ऋत बोलते हैं, तत्त्व बोलते हैं। माने हम समझानेके लिए उसका कोई-सा भी नाम रख लेते हैं। अर्थात् कोई भी शब्द संकेत वृत्तिसे ही परमात्माका बोध कराता है। जिस किसी शब्दकी जो भी हम परिभाषा बना लें, उसी संकेतसे हम बोध्य वस्तुको जान पाते हैं। जैसे हमने नाम रखा परमात्माका पूर्णतत्त्वका; क्या? बोले—कि 'खिंग' या 'डित्थ'। तो अब

डित्थ शब्दकी परिभाषा बनाकर बतानी पड़ेगी—कि जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न हो, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित हो, अद्वय हो, अविषय हो, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न हो, उस वस्तुको डित्थ बोलते हैं। माने कल्पित वृत्तिसे ही शब्दके द्वारा उसका बोध होता है। उसके लिए पारिभाषिक शब्द बनाना पड़ता है।

अच्छा अब इसके साथ इसका भी एक निष्कर्ष बताते हैं। इसका निष्कर्ष यह भी है कि परमात्माकी विश्वासपूर्वक उपासनाके लिए आप उसका कोई भी नाम रख सकते हैं। क्योंकि जब सब नाम कल्पित हैं तो नाममें वर्गीकरण करना कि यह नाम सच्चा और यह नाम झूठा, ठीक नहीं है। उसका नाम खुदा भी है, उसका नाम गॉड भी है, उसका नाम राम भी है, उसका नाम कृष्ण भी है! *'अब हौं कासों बैर करौं'*—क्योंकि जब उसका ब्रह्म नाम ही सच्चा नहीं है, जिज्ञासुको समझानेके लिए कल्पित रीतिसे है; आत्मा नाम ही सच्चा नहीं है, जिज्ञासुको समझानेके लिए है; उस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वय तत्त्वको समझानेके लिए ही उसकी एक कल्पित संज्ञा आत्मा है; तब फिर हम किस नामसे बैर करें! ***कल्पितव्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः*** योगवासिष्ठमें आया कि गुरु शिष्यके व्यवहारके लिए ये जो परमात्माके नाम हैं, ये जो संज्ञा है, उनकी कल्पना की जाती है। जैसे ब्रह्म, आत्मा, तत्त्व, परमात्मा आदि संज्ञा व्यवहारके लिए कल्पित हैं, वैसे उपासनाके लिए भी उसके अनेक नाम, अनेक संकेत कल्पित हैं। नामको लेकर लड़ाई मत करो। वस्तुको समझनेकी कोशिश करो। यह देखो कि जो शब्द तुम उच्चारण कर रहे हो वह उसी वस्तुके बोधके लिए है कि नहीं है?

ज्ञेय ब्रह्म-२. सर्वमावृत्य तिष्ठति

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

लोकमें उस ब्रह्मके सब ओर हाथ-पैर हैं। वह सब ओर नेत्र, शिर और मुखवाला है। वह सब ओर कानवाला है। लोकमें वह सबको ढँककर बैठा है।

बारहवें श्लोकमें ज्ञेय ब्रह्मका जो स्वरूप बताया कि **न सत्तन्नासदुच्यते**- उसको न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं—वह जिज्ञासुके दृष्टिकोणसे बताया कि वाणीसे उच्चारण करके उसको नहीं बोल सकते। अब तेरहवें श्लोकमें उपासकके दृष्टिकोणसे उसी ब्रह्मका वाणीसे बोलकरके वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्मके पाणि-पाद सर्वत्र हैं, उसकी आँख, सिर और मुँह चारों ओर हैं, उसके कान सब जगह हैं और वह सबको ढक करके रह रहा है, सबको घेरे हुए है। ईशावास्योपनिषद्‌में जो ***ईशावास्यमिदं सर्वम्*** में आवास्यम् पदका अर्थ है—आच्छादनीयम्, वही अर्थ यहाँ **आवृत्य** पदका है। न सत्तन्नासदुच्यते—यह परमार्थ ब्रह्मकी ओर संकेत है। एक तो देखो यह घड़ी है। घड़ी का होना (अस्ति) और न होना (नास्ति) ये दोनों अस्ति और नास्ति वनिष्ठ हुए; और अस्ति-नास्ति जो शब्द हैं वे मुँहसे बोले गये; और बुद्धिसे होने-न होने शब्दोंके अर्थका विचार किया गया। अब परमात्मा कैसा? बोले-न वस्तुका होना-न होना परमात्मा है, न शब्दका होना-न होना परमात्मा है और न विचारका होना-न होना परमात्मा है। अस्ति वस्तु, अस्ति शब्द, अस्ति विचार, नास्ति वस्तु, नास्ति शब्द और नास्ति विचार इनका जो स्वयंप्रकाश साक्षी है, इनके द्वारा अज्ञात और इनके भावाभावसे उपलक्षित जो परमार्थ वस्तु है, उसका संकेत किया 'न सत्तन्नासदुच्यते' से।

बोले-भाई, दुनियामें जो चीज होती है उसको 'है' बोला जाता है और जो नहीं होती है उसको 'नहीं' बोला जाता है। तुम यह बताओ कि परमात्मा है या नहीं है? यदि वह है तो यह बताओ कि वह परमात्मा कहाँ है, क्या है, कैसा है, कब है? यह 'है' और 'नहीं' की गड़बड़ झालामें क्यों डालते हो?

बोले— देखो जी परमार्थको लखानेके लिए मैंने तो तुमसे बड़ी गम्भीर बात कही थी कि ये अस्ति, नास्ति—दोनों जिसको मालूम पड़ते हैं सो परमात्मा है, माने तुम परमात्मा हो। लेकिन यदि तुम व्यवहारमें ही परमात्माको देखना चाहते हो, तो आओ हम तुमको व्यवहारमें दिखावें। इस १३वें श्लोकमें व्यावहारिक सत्यका प्रतिपादन है। १२वें श्लोकमें पारमार्थिक सत्यका प्रति-पादन है।

इस श्लोकमें व्यावहारिक सत्यका प्रतिपादन है—यह कैसे मालूम पड़ा? ऐसे मालूम पड़ा कि इसमें 'लोके' शब्द बिलकुल सीधा सीधा ही पड़ा है:

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।

'लोके' माने व्यवहारे, व्यवहार-दशायाम्। इस व्यवहार दशामें परमात्मा क्या है? तो बोले—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

परमात्मा सब जगह पहुँचा हुआ है। पाद गतिके लिए ही तो होता है। तो परमात्माकी गति कहाँ है? बोले—

तद्दूरे तद्वन्तिके।

दूर भी वही है और पास भी वही है।

तदेजति तन्नैजति।

वह सोपाधिक रूपसे हिल रहा है और निरुपाधिक रूपसे हिल नहीं रहा है, माने परमात्माका नृत्ययुक्त पाद-विन्यास सर्वत्र परिपूर्ण है। परमात्मा ठुमक रहा है। और परमात्माके इस नृत्यकी गतिपर, पाद-विन्यासकी गतिके साथ सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु, ग्रह-नक्षत्र और अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नृत्य कर रहे हैं ! वेद-मन्त्र ऐसे ही परमात्माका वर्णन करते हैं—

यद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
भीषास्माद् पवते वातः भीषोदेति सूर्यः॥

जिसके भयसे यह वायु बह रहा है; जिसके भयसे सूर्य तपता है तब तो परमात्मा चलता होगा? वेद-मन्त्र कहता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेता० ३.१९)

परमात्माका पाँव नहीं है फिर भी वह बड़े वेगसे चलता है; उसको हाथ नहीं है फिर भी सबको पकड़े हुए है। माने जितनी आकर्षण और विकर्षणकी शक्तियाँ सृष्टिमें काम कर रही हैं, और जितनी सृष्टिमें जितनी अगति, गति, प्रत्यागति हो रही हैं, वह सब, सबमें, सब जगह वही है।

व्यवहारमें परमात्माको देखना हो, तो उसकी सत्ताके बिना पत्ता नहीं हिलता, उसकी गतिके बिना मति नहीं चलती है। परमात्मा कहाँ? कि सब जगह उसके पाँव हैं। यह नहीं समझना कि परमात्मा इस समय यहाँ नहीं है, कहींसे चलके आवेगा। अरे यहीं उसके पाँव हैं, यहीं वह खड़ा है, भला! ***सर्वतः पाणिपादं तत्।*** बोले—फिर तुम उसके पास क्यों नहीं जाते? कि भई किसीके द्वारा पकड़े हुए हैं, किसीकी मुट्ठीमें हैं—***अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्*** यह परमात्माका व्यावहारिक रूप है।

यह विराट्का वर्णन नहीं है, तत्त्वका वर्णन है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोणसे वह तो 'लोके' पदको पकड़ लो और **लोके सर्वतः पाणिपादं तत्। लोके सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं तत्।** सब जगह उसकी आँख है। उसको जो देखता है वही देखता है। ***पश्यन्तं योऽनुपश्यति।***

अपनेको देखनेवाले परमात्माको जो देखता है। अपनेको माने जिस देहको, इन्द्रियको, मनको, अन्तःकरणको तुम मैं समझकरके अज्ञानमें बैठे हो, इसको देखनेवाला कौन है? कि इसको तो ईश्वर देख रहा है। कि तुम कौन हो? तो न देह, इन्द्रिय, मन तुम हो और न इसको देखनेवाला जो ईश्वर है, सो तुम हो! फिर तुम कौन हो? बोले—इसको और इसको देखनेवाले ईश्वरको, दोनोंको जो देखता है सो तुम हो। ***पश्यन्तं योऽनुपश्यति।*** देहेन्द्रियादिके द्रष्टाको भी जो देख रहा है, विशेष द्रष्टाको भी जो देख रहा है, विशेष ज्ञाताको भी जो जान रहा है, सर्वज्ञको भी जो जान रहा है, वह तुम हो!

आपको वेदान्तका वह श्लोक सुनाया होगा—

ईश्वरास्ति त्वं निर्णेता त्वं ततोऽसि महेश्वरः।
गुरोरपि त्वं निर्णेता त्वं ततोऽसि गुरोर्गुरुः॥

ईश्वर है या नहीं, इसके निर्णय करनेवाले तुम हो, इसलिए तुम महेश्वर हो। गुरुतत्त्वके निर्णेता भी तुम्हीं इसलिए गुरुओंके गुरु तुम हो!

यह हमारा गुरु बनने लायक है—यह गुरुकी परीक्षा लेकरके, गुरुकी महत्ताको समझ करके, कौन निर्णय करता है? बोले—भाई मैंने ही निर्णय किया कि यह गुरु बड़ा योग्य है, महान है, गुरु बनने लायक हैं। तो बोले—गुरुकी परीक्षा लेनेवाले तुम गुरुके भी गुरु हुए! उससे ज्यादा जानते हो—इसलिए 'त्वं गुरोर्गुरुः'।

देखो, अधिकांश लोगोंकी बुद्धिमें ऐसा निश्चय जरूर रहता है कि गुरुजी ईश्वरके बारेमें ठीक जानते होंगे, जीवके बारेमें ठीक जानते होंगे, लेकिन व्यवहारके बारेमें तो मैं जैसा जानता हूँ, गुरु जी वैसा नहीं जानते हैं। अथवा अमुक विषयमें तो मैं गुरुजीसे अधिक जानता ही हूँ। अरे जब तक कोई परमार्थको नहीं जानता तब तक वह व्यवहारको क्या जानेगा? आप बुरा मत मानना। मनोविज्ञानका यह सत्य है कि श्रेष्ठता सदैव प्रत्यक् चैतन्यनिष्ठ होती है, अन्यनिष्ठ कभी नहीं होती है। हम ईश्वरसे भी छिपानेकी कोशिश करते हैं! यह आप अपने व्यवहारमें देखोगे *ईश्वरास्ति त्वं निर्णेता त्वं ततोऽसि महेश्वरः।*

ईश्वर है कि नहीं? ईश्वरको ढूँढ करके-कण-कणमें ढूँढ़ करके, प्रत्येक वस्तुके उपादान और निमित्तके रूपमें ढूँढ़ करके-ईश्वरके अस्तित्वका निश्चय करनेवाला कौन? बोले—मैं : मैंने निश्चय किया कि ईश्वर है। अरे भाई जिसको तुमने तौल लिया, उस ईश्वरसे बड़े हो तुम!

तो, **सर्वतः श्रुतिमल्लोके,** सब जगह उसका सिर है, सब जगह ईश्वरका मस्तिष्क काम कर रहा है और सब जगह उसका मुँह है। **पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः** वह बिना आँखके देखता है। बिना कानके सुनता है। **सर्वतः श्रुतिमल्लोके**—सब जगह उसका कान है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वरको चलनेके लिए पाँवकी जरूरत नहीं है, क्योंकि सर्वत्र परिपूर्ण है; पकड़नेके लिए हाथकी जरूरत नहीं है, क्योंकि सारी शक्ति उसीकी है। देखनेके लिए

उसको आँखकी जरूरत नहीं। एक आँखसे, एक गोलकसे देखनेवालेकी देखनेकी शक्ति सीमित होती है—वह तो यन्त्रकी शक्ति है। चाहे मनुष्यकी आँखसे देखे चाहे राडारसे देखे। तो जो ज्ञान गोलकके द्वारा होगा, वह तो गोलककी शक्तिके अनुसार होता है, परन्तु सब गोलकोंमें जहाँसे ज्ञानका प्रकाश होता है वह शक्ति गोलक-पराधीन नहीं है। सूर्यकी शक्ति सीमित है, अग्रिकी शक्ति सीमित है, चन्द्रमाकी शक्ति सीमित है, वायुकी शक्ति सीमित है, कुबेरकी शक्ति सीमित है, मैं-तुम-यह-वहकी शक्ति सीमित है। परन्तु उन समस्त सीमित शक्तियोंको आवृत करके जो शक्ति विद्यमान रहती है, वह असीम है, वह असीम मुखवाला, असीम नेत्रवाला, असीम पादवाला, असीम पाणिवाला, असीम कानवाला, अपने असीम ज्ञान और असीम शक्तिसे सबको घेरकर, अपनेमें लपेट कर बैठा है—

लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।

किन्हीं सज्जनके पास सोनेकी देवी, शक्तिमाता थीं, और सोनेके ही शंकर भगवान् थे, स्वर्ण-लिंगके रूपमें और थे सोनेके नारायण, सोनेकी लक्ष्मी। वे पूजा करते-लक्ष्मीकी कि ॐ लक्ष्मै: नम:। दुर्गाजीकी ॐ दुर्गायै: नम:। नारायणकी—ॐ नारायणाय नम:। शंकर भगवान्‌की—ॐ नम: शिवाय। एक दिन रातको आया चोर और सबको समेटके ले चला। भगतजीने कहा—अरे यह देखो शक्ति, यह देखो नारायण, इनकी चोरी क्यों करते हो? चोर बोला— चुप रहो; यह सब कुछ नहीं, न लक्ष्मी हैं न नारायण हैं। यह सब सोना है। लक्ष्मीको, नारायणको, दुर्गाको, गणेशको सबको ढकके एक चीज जो उसमें बैठी हुई है, वह सोना है, और हमको चाहिए सोना।

जैसे सब आकारोंको, सब विकारोंको, सब नामोंको ढकके सुवर्ण बैठा हुआ है, उसी प्रकार ब्राह्मण एक वर्ण है, क्षत्रिय वर्ण है, वैश्य वर्ण है, शूद्र वर्ण है और इसमें जो मनुष्य है ना वह सुवर्ण है।

अच्छा, आपको ब्रह्म होनेमें कितनी देर लगती है? मैं समयकी सीमा आपको बताता हूँ। आप हिन्दू हैं ना; कोई सज्जन पारसी भी हो सकते हैं, कोई मुसलमान भी हो सकते हैं। हिन्दूको अपनेको मनुष्य समझनमें जितने परिश्रमकी, जितने कालकी आवश्यकता है, उतना ही परिश्रम और उतना ही काल एक जीवको अपनेको ब्रह्म समझनेके लिए आवश्यक है, इससे बिलकुल

ज्यादा नहीं। जैसे मनुष्य भ्रमवश अपने मनुष्यत्वको भुला करके अपनेको केवल हिन्दू, केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय, केवल वैश्य, केवल शूद्र समझने लग जाये, तो जैसे उसने मनुष्य होनेपर भी मनुष्यके एक अंशमें तादात्म्य कर लिया, इसी प्रकार परिपूर्ण ईश्वरके साथ एक होनेपर भी हम अपनेको जीव समझते हैं। एक हिन्दूको मनुष्य होनेके लिए किसी संस्कार विशेषकी आवश्यकता नहीं, केवल सम्प्रदाय विशेषका जो संस्कार है, उसको थोड़ी देरके लिए अपवाद कर देने मात्रकी ही आवश्यकता है। मैं संन्यासी हूँ— ऐसा संस्कार हमारी बुद्धिमें डाला गया है; यह अध्यारोपित संस्कार है, गेरुआ कपड़ाके कारण, चोटी कटानेके कारण, जनेऊ निकालनेके कारण; हमारे अन्दर *त्वं संन्यासी*—एक संस्कारका अध्यारोप कर दिया गया। ये संस्कार पहले हमको बहुत परेशान करते थे। दंडी स्वामी आते, बोलते— हमारे लिए भिक्षाका प्रबन्ध करो, ब्राह्मण बनानेवाला होना चाहिए। मैंने कहा—जाओ मैं दंडी ही नहीं हूँ, अब बोलो! हमको जगद्गुरुजीने कहा— गिनो आसा सोटा, कितने हैं! हमारे पास दंड था ना, तो जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वतीने कहा कि रोज नोट कर लिया करो कि ये सोने चांदीके छत्र चँवर सिंहासन आसा सोटा हैं, ये सब ठीक हैं कि नहीं, क्योंकि ये तुम्हारे ही काम आनेवाले हैं; सम्हालो इसको। मैंने कहा—मैं दंडी रहूँगा तब ना ये हमारे काम आवेंगे। तो दंडीको अदंडी होनेमें कितनी देर लगी? दंड यमुना जीमें गया और अदंडी हो गया।

तो यह जो अपनेमें जीवत्वका अध्यारोप है, यह बिलकुल अज्ञानमूलक भ्रान्ति-संस्कारजन्य है। इसकी निवृत्तिमें कितनी देर लगती है? बोले—बस एक हिन्दू अपनेको मनुष्य समझ ले, इतनी देर। एक दंडी स्वामी अपनेको मनुष्य समझ ले, इतनी देर!

भगवान्‌का विरोधी मैं, गृहस्थका विरोधी मैं—यह विरोधी भाव हो गया! तो अविरोध भावके उदयके लिए सम्पूर्ण विशेषोंका अपवाद करके, अपनेको निर्विशेष देखो। तो यह तुम्हारी निर्विशेषता कैसी है? बोले— *सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वं भेदजातं आवृत्य तिष्ठति*—सम्पूर्ण भेदको ढककरके तुम्हारा कैवल्य, तुम्हारा ऐक्य, तुम्हारा ब्रह्मत्व प्रकाशित हो रहा है।

यह तो 'लोके' शब्दको पकड़ करके मैंने व्याख्या सुनायी। अब दो

दृष्टिकोण हैं—एक तो शंकराचार्य भगवान्‌का है, वह सर्वोपरि है; उसका तो पूछना ही क्या? दूसरा दृष्टिकोण भागवतोंका है।

शांकर सम्प्रदायमें 'लोक' शब्दका (या किसी भी शब्दका) अर्थ अगर पृथक् रीतिसे किया जाये, तो उसको अपराध नहीं माना जाता। शंकराचार्यने जैसा अर्थ किया है उससे विपरीत अर्थ तो मधुसूदन सरस्वतीने कितनी जगह किया है, श्रीधर स्वामीने किया है, नीलकण्ठने किया है, शंकरानन्दने किया है, परन्तु मूल सिद्धान्त जो आत्मा और ब्रह्मकी एकता है वह नहीं छूटना चाहिए। हमारा प्रक्रियामें भेद हो, शब्दोंके अर्थमें भेद हो, दूसरे ढंगसे हम श्लोककी संगति लगा दें, वह सब ठीक, पर निष्कर्ष वही निकलना चाहिए।

तो अब देखो शंकराचार्य भगवान्‌की शैली-

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचम् प्रपंच्यते तथा हि सम्प्रदायविदां वचनम्।

वे कहते हैं—सम्प्रदाय वेत्ताओंका यह वचन है कि जब वस्तु सीधी समझमें नहीं आती है तब उसको अध्यारोप और अपवादसे कहते हैं। जैसे देखो, अरुन्धती नामक ताराका दर्शन करानेके लिए क्या करते हैं कि पहले स्थूलारुन्धतीका दर्शन कराते हैं फिर उसके पासमें सूक्ष्मारुन्धतीका दर्शन होता है। इसी प्रकार ध्रुवका दर्शन करानेके लिए पहले सप्तर्षियोंको दिखाते हैं। हम जब बच्चे थे ना, तो हमारे बाबा रातको जब हम उनकी खाटपर लेटते तो बताते थे—देखो, यह बृहस्पति है; अच्छा इस समय यह यहाँ क्यों है, बता सकते हो? बोले अमुक राशिपर, कर्क राशिपर बृहस्पति है, तो कर्क आजकल कब आया? कर्क राशिपर ही सूर्य है तो प्रात:काल ही सूर्योदयके साथ ही बृहस्पति उदय हुआ और सूर्यास्तके समय साथ ही है सूर्यके। बिलकुल साथ होगा तो अस्त हो जायेगा। और कुछ थोड़ा आगे पीछे होगा तो दिखेगा बोले-शुक्र यहाँ कहाँ?—ऐसे बताते थे। ध्रुव कौन सा है बताओ? तो पहले सप्तर्षिकी पहचान करवाके और फिर कहते कि वह जो चारपाईकी तरह चार तारे हैं ना, उनसे वह एक लकीर खींचो, देखो वह ध्रुव दिखायी पड़ता है।

तो, यह ध्रुवका दर्शन हुआ। इसी प्रकार शाखा-वृक्ष न्यायसे दूजका चन्द्रमा दिखाते हैं-वृक्षकी अमुक शाखासे दो हाथ ऊँचेका अध्यारोप करते हैं और फिर जब चन्द्रमा दिख जाता है तो कहते हैं अब वृक्ष भी छोड़ दो, दो हाथ भी छोड़ दो। इसीका नाम अध्यारोप-अपवाद है।

न सत्तन्नासदुच्यते यह जो परमात्माका स्वरूप है, वाङ्मनसागोचर, वाणी और मनका अविषय अपना स्वरूप, जिसके लिए सत्-असत् शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, उसको दिखानेका तरीका क्या है? कि अध्यारोप और अपवाद। इसलिए 'सर्वतः पाणिपादं तत्'—यह अध्यारोप न्यायसे पहले उस परब्रह्म परमात्मामें पाणिपाद, अक्षि, सिर, मुख, श्रुति और इनमें इसकी व्यापकताका अध्यारोप करके और फिर इनका अपवाद करके परमात्माका स्वरूप लखानेके लिए 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' यह श्लोक प्रवृत्त हुआ है।

अब एक दूसरी प्रक्रिया इसकी है अन्वय व्यतिरेककी, कार्यका कारणसे अभिन्न होनेकी प्रक्रिया। इसकी चर्चा करनी शेष है। सीधी बात है—यदि तुम्हे आत्माको ब्रह्म रूपसे जानना है, तब तो करो सबका निषेध-विषयोंका निषेध, वासनाओंका निषेध, कर्तृत्त्वका, भोक्तृत्व-निषेध, परिच्छिन्नत्वका निषेध, जीव-ईश्वरका निषेध, प्रकृति-प्राकृतका निषेध—और देखो कि स्वयं साक्षी रूपसे जो तुम हो, उसको वेदान्त ब्रह्म बताता है-'तत्त्वमसि'।

और यदि किसीने ऐसा कहा कि जब ब्रह्म न अस्ति है न नास्ति है तो ब्रह्म है ही नहीं, तो उसको कहते हैं कि आओ, तुम्हें लोक व्यवहारमें ब्रह्म बताते हैं।

लोक व्यवहारमें ब्रह्म क्या है? कि भागवत लोग, भगवद्भक्त जैसे अपने कार्य कारणात्मक सिद्धान्तका निरूपण करके सर्वत्र ब्रह्मको देखते हैं, वही प्रक्रिया सर्वत्र ब्रह्मको देखनेकी है। यह क्या है? कि भूषणकी आकृति चाहे कुछ भी हो, सब आभूषणोंमें सोना एक ही है। सोनामें एक स्त्री बनाओ, एक पुरुष बनाओ, एक गाय बनाओ, एक बैल बनाओ, एक वानर बनाओ, एक शेर बनाओ। तो व्यक्तिकी दृष्टिसे देखो तो स्त्री अलग, पुरुष अलग, गाय अलग; जातिकी दृष्टिसे भी सब अलग-अलग; इन्द्रियोंकी दृष्टिसे नाक अलग, कान अलग, मुँह अलग, आँख अलग, हाथ अलग, पाँव अलग; परन्तु सोना सबमें अन्वित है। नाकमें भी वही, आँखमें भी वही, कानमें भी वही, गाय-बैलमें भी वही, स्त्री-पुरुषमें भी वही, सिंह-व्याघ्रमें भी वही और कीट-मसक-दंश-वानर-ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि जितने भी नामरूप स्वर्णमें खचित हैं, उन सबमें स्वर्ण एक ही है।

सब खचित, कल्पित, क्लृप्त, निर्मित, कृत्रिम नाम-रूपोंमें धातुरूपसे स्वर्ण अनुगत है, लेकिन नाम-रूप ही स्वर्ण है, यह बात नहीं है। अपनेमें कल्पित नामरूपसे स्वर्ण व्यतिरिक्त है, माने स्वर्णका व्यतिरेक भी है। यही उपादानका स्वरूप है। उपादान कारण कहते ही इसीको हैं, जिसमें हजार घड़ा बना दो, हजार सकोरा बना दो, हजार भुलवे बना दो, लेकिन (उपादन कारण) जो मिट्टी है वह सबमें अनुगत है, मिट्टीके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। और मिट्टी सबसे व्यतिरिक्त है। इस अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे, इस अनुवृत्ति-व्यावृत्तिकी युक्तिसे यदि देखें तो सब आकृतियोंमें और सब नामोंमें; नाम सबके अलग-अलग (यह औरत, यह मर्द) और जातियाँ सबकी अलग-अलग (यह पशु, यह मनुष्य) मनुष्योंमें भी दाढ़ीवाला और तुर्की टोपीवाला बना तो मुसलमान हो गया और चोटी जनेऊवाला बना तो सवर्ण हिन्दू हो गया; परन्तु धातुकी दृष्टिसे सब सोना है। सबमें सोना अनुगत है। जैसे स्वर्णके पटपर कल्पित आकृति और कल्पित नाम हैं, इसी प्रकार शुद्ध तत्त्वभूत परब्रह्म परमात्मामें कल्पित आकृति और कल्पित नाम वाली यह सारी सृष्टि है। तब अन्वयकी दृष्टिसे बोलेंगे कि—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

जितने भी लोकमें पाणि-पाद हैं वे सब ब्रह्मके ही हैं जैसे स्वर्णसत्त्वपर कल्पित मूर्तियोंमें सबके सब पाणि-पाद सुवर्ण रूप ही हैं, सब आँख, सिर, मुख सुवर्ण रूप ही हैं, सब कान सुवर्ण रूप ही हैं, वैसे परब्रह्म परमात्मामें कल्पित यह सम्पूर्ण विश्व, सारे हाथ, सारे पाँव, सारी आँख, सारे सिर, सारे मुख, सारे कान, सारे नाम सारे रूप, धातु रूपसे ब्रह्मरूप ही हैं क्योंकि सबमें परमात्माका अन्वय है। परमात्मा धातु है, परमात्मा उपादान है, परमात्मा तत्त्व है, इसलिए **सर्वमावृत्य तिष्ठति**। आवृत्य व्याप्य—सबको आवृत करके वही बैठा हुआ है। माने तत्त्व दृष्टिसे देखो तो सब ढँक जायेंगे, सब मिट जायेंगे, केवल वहीका वही रहेगा। इसलिए लोक व्यवहारमें भी सर्वरूपसे परमात्मा ही प्रकट हो रहा है। इसका नाम भागवती व्याख्या है। यह शाङ्कर वेदान्तकी माने, औपनिषद शैली नहीं है। यह भगवद्भक्तोंका दृष्टिकोण है—सर्वरूपमें परमेश्वर। भागवतमें इसकी युक्ति दी हुई है।

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण तद् यत्तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा॥

(भाग० ११.२८.२१)

जो चीज पहले नहीं थी और बादमें नहीं रहेगी वह बीचमें भी नहीं है; बीचमें वह नाममात्र ही है। जैसे स्त्रीकी मूर्ति, पुरुषकी मूर्ति, गाय-बैलकी मूर्ति सोनेमें पहले नहीं थी और सोना गला दो तो वह मूर्ति नहीं रहेगी; इसलिए मध्यमें भी जिस समय सोनेमें स्त्री-पुरुष, गाय, बैल, पेड़, वानर दीख रहे हैं, उस समय भी वे सोनामें नहीं हैं, केवल नाम ही उनका रख दिया गया है कि यह गाय है, यह औरत है, यह मनुष्य है, वस्तुतः सब सोना ही है।

बोले—इसकी युक्ति क्या है? कि इसकी एक युक्ति तो यह है कि 'भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यद् तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा'—श्रीकृष्ण भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि जो जिससे उत्पन्न होता है वह कार्य अपने उपादान कारणसे भिन्न नहीं होता। पंचभूतमें जो चीज बनेगी वह पंचभूतात्मक ही होगी। मनमें जो चीज बनेगी, जो सपना दिखेगा वह मनोरूप ही होगा। इसी प्रकार परमात्मामें यह सृष्टि बनती है तो परमात्मरूप ही है। दूसरी युक्ति यह है कि जिससे जो वस्तु प्रकाशित होती है, उससे वह न्यारी नहीं होती। जैसे लाल, पीला, नीला जितने रंग हैं वे सूर्यसे ही प्रकाशित होते हैं, तो सूर्यसे न्यारा किसी भी रंगका अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार चित्स्वरूप जो द्रष्टा है प्रत्यक् चैतन्य, उससे सब प्रकाशित होते हैं, इसलिए उससे भिन्न कोई नहीं है; और उसी उपादान अधिष्ठान ब्रह्ममें सब प्रकाशित होते हैं इसलिए उससे भिन्न कोई नहीं है।

यह बात ब्रह्मसूत्रमें ***'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'*** (२.१.१४) इस अधिकरणमें बतायी गयी है कि परमात्मासे यह प्रपञ्च अनन्य है अर्थात् पृथक् नहीं है। क्यों? बोले—***'आरम्भणशब्दादिभ्यः' वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।***

तरंग बुदबुद आदि नामधेय हैं और आप अर्थात् जल, बस इतना ही सत्य है। घट, सराव आदि नामधेय हैं और 'मृत्तिका इति एव सत्यं' है। ज्वाला विस्फुल्लिंगादि नामधेय हैं और अग्नि, बस इतना ही सत्य है। झंझावात,

शीतल-मन्द-सुगन्ध वात, प्राण वायु, अपानवायु उदान वायु, समान वायु—ये सब नामधेय हैं और 'वायु इत्येव सत्यम्'। घटाकाश-मठाकाश आदि नामधेय हैं, और आकाश, इतना ही सत्य है। और स्वाप्निक स्त्री, पुरुष आदि नामधेय हैं, और मन, 'इत्येव सत्यम्'—मन इतना ही सत्य है। इसी प्रकार परमात्मामें प्रतीयमान यह सम्पूर्ण प्रपञ्च—भासनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, हिन्दू, मुस्लिम, पशु-मनुष्य, देवता, दानव, मानव और ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, पंचतन्मात्रा ये सब नामधेय मात्र हैं। और *ब्रह्म इत्येव सत्यम्* ब्रह्म यही सत्य है।

तो सम्पूर्ण नामधेयमें और रूपधेयमें अनुगत होनेके कारण वही ब्रह्म जो क्षेत्र और क्षत्रज्ञसे विलक्षण है, जो क्षर और अक्षरसे विलक्षण है, जो सद्-असदादि शब्दोंका अभिधेय नहीं हैं, जो परब्रह्म परमात्मा है, वही सत्य है और बाकी सब जो हैं उसमें कल्पित हैं, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वही सबका हाथ, वही सबका पाँव, वही सबकी आँख, वही सबका सिर, वही सबका मुँह, वही सबका कान और वही सर्व है। यह भागवत-दृष्टिकोण है। वेदस्तुतिमें आया—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो
निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथै
वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

(भाग० १०.८७.३७)

यस्मात् इदं अग्रे न आस न भविष्यत् अतो निधनात् अनुमितं अन्तरा एकरसे त्वयि मृषा विभाति—क्योंकि यह प्रपञ्च सृष्टिसे पूर्व नहीं था और न प्रलयके पश्चात् रहेगा, अतः केवल मध्यमें ही एकरस आप ब्रह्ममें मिथ्या प्रतीत हो रहा है। वेदस्तुतिमें सनन्दनजीने, उद्धव-गीतामें श्रीकृष्णने उद्धवसे, और शुकदेवजीने राजा परीक्षितको यह युक्ति दी कि परमात्माके सिवाय यह प्रपञ्च अलगसे कुछ नहीं, परमात्मा ही यह प्रपञ्च है। तो बोले—फिर प्रपञ्चमें जो दुःख है, जो जन्म है, जो मृत्यु है, सो कैसे? बोले—यह जन्म-मृत्यु तो आकृतियोंकी होती है, नामोंकी होती है, जो अधिष्ठान स्वरूप, उपादान स्वरूप परमेश्वर है उसकी जन्म-मृत्यु नहीं होती है। सोना नहीं मरता है,

उसमें बनायी हुई जो मूर्ति है वह गढ़ी और मिटायी जाती है। सोना जो उपादान कारण है वह आकृतियोंसे व्यतिरिक्त भी तो है न!

श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य और श्रीकण्ठाचार्य शैव, शाक्ताचार्य, गाणपत्याचार्य और सौराचार्य—ये जितने अपने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके, विशिष्टाद्वैतके अवान्तर भेद रूप सिद्धान्तको माननेवाले आचार्य हैं अथवा द्वैतवादी आचार्य हैं, वे सब यही मानते हैं कि सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर ही है माने परमेश्वरसे पृथक् यह सृष्टि नहीं है। सर्वरूपमें परमात्मा ही भास रहा है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। (मुंडक० २.२.११)
स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात्।
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्।
ब्रह्मैवाधस्तात् ब्रह्मैवोपरिष्टात्।
अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्टात्॥ (छांदोग्य० ७.२५.१-२)

इन श्रुतियोंकी व्याख्या तो सभीको करनी पड़ती है! आप देखना इन श्रुतियोंमें एक बार ब्रह्म शब्दका प्रयोग है एक बार 'सः' शब्दका प्रयोग है, एक बार आत्मा शब्दका प्रयोग है और एक बार 'अहं' शब्दका प्रयोग है और श्रुति बाकी ज्यों-की-त्यों है। नीचे-ऊपर दाँये-बाँये, आगे-पीछे सब ब्रह्म है, सब वही है, सब आत्मा है, सब मैं ही है। तो इसका क्या अर्थ हुआ? जब लक्षण एक हो गया तो 'ब्रह्म' पद, 'आत्मा' पद 'सः' पद और 'अहं' पद—इन चारोंका अर्थ, लक्ष्यार्थ एक हो गया!

लक्षणैक्यात् लक्ष्यैक्यम्।

लक्षण एक होनेके कारण लक्ष्य एक हो गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई नहीं है।

यह भागवत दृष्टिकोण है। औपनिषद दृष्टिकोणसे इसका भेद जल्दी समझमें नहीं आता है। भागवत दृष्टिकोण माने पाञ्चरात्रका सिद्धान्त, महाभारतमें नारायणीयका सिद्धान्त, शाण्डिल्य दर्शनमें भक्तिका सिद्धान्त और, श्रीमद्-भागवतमें जिस सिद्धान्त पर बहुत बल दिया हुआ है, सो। यह कार्य-कारणका जो अभेद है, यह भागवत सिद्धान्त है। इसमें कारण कार्यमें अन्वित भी है और कार्यसे व्यतिरिक्त भी है। अतः इस सिद्धान्तमें कारण प्रधान है

और कार्य गौण है। तो गौण मुख्य संप्रत्यय इस सिद्धान्तमें बना रहता है। परमात्माका जो प्रपञ्चरूप है वह गौण है और जो कारणरूप है सो मुख्य है। जिसका अन्वय है वह मुख्य है और जिसमें अन्वय है वह गौण है। जो व्यतिरिक्त है सो मुख्य है और जो अन्वित है सो गौण है।

अद्वैत सिद्धान्तको स्वीकार करनेवाले महापुरुषोंकी प्रक्रिया जुदा है अर्थात् कार्य-कारणरूप-भाव-प्रक्रिया उनकी नहीं है। वेदान्तमें कार्य-कारणरूप भावकी प्रक्रियाको अध्यारोप मानते हैं। हम कार्य-कारणवाली प्रक्रिया सब मानते हैं, लेकिन जहाँ भागवत-धर्ममें इस कार्य-कारण प्रक्रियाको वास्तविक मानते हैं, वहाँ वेदान्तमें इसको अध्यारोपित मानते हैं। तो

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते।
तथा हि सम्प्रदायविदां वचनम्।

श्रीशंकराचार्य भगवान्ने कहा कि हमारे सम्प्रदायके जो जानकार हैं; वे प्रपञ्चके अध्यारोप और अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मको समझाते हैं।

सम्प्रदायका मतलब कोई फिरका, कोई मत, कोई मजहब नहीं। सम्प्रदाय माने ज्ञानकी परम्परा ईश्वरकी दृष्टिमें जैसा यह प्रपञ्च अपने स्वरूपमें कल्पित है, नारायणकी दृष्टिमें जैसे यह प्रपञ्च है, ब्रह्माकी दृष्टिमें जैसा यह प्रपञ्च है, वसिष्ठकी दृष्टिमें जैसे यह प्रपञ्च है, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पाद, गोविन्दपाद, भगवत्पाद, शंकराचार्यकी दृष्टिमें जैसा यह प्रपञ्च है, इसको ज्ञानका सम्प्रदाय बोलते हैं। सम्प्रदाय शब्द संस्कृतमें बड़ा उत्तम शब्द माना जाता है।

आपको यह कई बार सुना चुका हूँ कि जहाँ जड़से सृष्टि मानी जायेगी वहाँ सम्प्रदायका कोई महत्त्व नहीं होगा, क्योंकि वहाँ तो एक जड़का विकास हुआ तो दूसरा बना, दूसरेका विकास हुआ तीसरा बना, अन्ततोगत्वा जड़से चेतनका विकास हुआ माने ज्ञान बादमें आया और जड़ता पहले थी। अतः जड़ सृष्टिवादमें सम्प्रदायका कोई महत्त्व नहीं होगा। लेकिन जहाँ सर्वज्ञ ईश्वरसे, चेतनसे, ब्रह्मसे, स्वयं प्रकाशसे, द्रष्टासे सृष्टि मानी जायेगी, वहाँ सम्प्रदायका बड़ा भारी महत्त्व होगा, क्योंकि वहाँ जो आदि पुरुष होगा वह सर्वज्ञ होगा और उसने जैसा ज्ञान दान किया, वैसा सम्प्रदाय चला।

दाय माने क्या होता है? दाय माने हक होता है। मिताक्षराका दाय भाग

याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें बड़ा प्रसिद्ध है। बापकी सम्पत्तिपर बेटेका जो स्वाभाविक अधिकार है उसको दाय बोलते हैं। वर्णन आता है—

यथा चरेद् बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्।

'जैसे पिता स्वयं बालकका हित करता है वैसे हे प्रभो! आप स्वयं हमारा हित करें।' श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—***मुक्तिपदे स दायभाक्*** जैसे पिताकी सम्पत्ति पुत्रको मिलती है, पिताकी सम्पत्तिमें जैसे पुत्रका दाय होता है, हक होता है, ऐसे गुरुकी सम्पत्तिमें शिष्यका दाय होता है। तो धनका दाय दाय है; और आनन्दका दाय प्रदाय है; और ज्ञानका जो दाय है वह सम्प्रदाय है। सम्यक्, प्रकृष्ट दाय =संप्रदाय= विधिपूर्वक गुरूपसदन पूर्वक, माने विधिपूर्वक गुरुकी शरणमें जाकर जो गुरुसे ज्ञानकी दीक्षा, ज्ञानकी शिक्षा ली जाती है उसको बोलते हैं सम्प्रदाय। यह ऐसा दाय नहीं है कि बाप सोता हो और बेटा उठाकर ले जाये। यहाँ तो भली-भाँति उपसन्न होकर, शरणागत होकर, गुरुसे यह दाय प्राप्त किया जाता है। और नारायणसे लेकर अस्मद् गुरुपर्यन्त यह विधिपूर्वक बिलकुल मर्यादाके अनुसार प्राप्त हुआ है।

तो सम्प्रदाय-वेत्ता कहते है—*अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चम् **प्रपञ्च्यते*** अध्यारोप और अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें प्रपञ्चका निरूपण किया जाता है। नये ढंगके लोगोंके लिए इस प्रक्रियाको समझना थोड़ा कठिन पड़ता है। हमलोग तो पुराने ढंगके लोग हैं। अत: हमारे लिए तो अध्यारोप और अपवाद ऐसा है कि जैसे बच्चे गुड़ियोंसे खेलते हैं कि यह तुम्हारी कन्या है, यह हमारा वर है, तो आओ दोनोंकी भाँवर डालदें, ब्याह कर दें। जैसे बच्चे गुड़ियासे खेलते हैं, वैसे हमलोग अध्यारोप और अपवादके साथ बचपनसे खेलते हैं। बाल्यावस्थासे हमारा काम ही अध्यारोप और अपवादका है। यह प्रश्न हमारे मनमें बचपनमें न उठता हो, सो बात नहीं है। अब समझो कि हमारे पिताकी मृत्यु तो हमारे सात बरसकी उम्रमें हो गयी और शिष्योंके यहाँ जो कर्मकाण्ड कराना पड़ता था, वह मैं कराता था। तो आपको सुनाते हैं, हम लोग गाँवमें कैसे करते थे। गोबरकी तो गौरी बनाते और सुपारीका गणेश बनाते; सुपारीपर रक्षा लपेट दिया, उसपर कुँकुम डाल दिया और बोल दिया-***श्रीगणाधिपतये नमः गणेशं*** *स्थापयिस्यामि* अब वह

सुपारी तो गणेश हो गयी और वह जो गोबरपर धागा लपेटा था, वह साक्षात् गौरी हो गयी। आवाहन किया, षोडशोपचार पूजा करवायी, दक्षिणा चढ़वायी, प्रार्थना करवायी। तो देखो यजमानको तो गौरी-गणेशकी पूजाका पुण्य प्राप्त हो गया, पुरोहितजीको सुपारी और दक्षिणा प्राप्त हो गयी; और बादमें यह बोलकर कि— *'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ, स्वस्थानं परमेश्वर'* विसर्जन कर दिया। तो वेदान्तमें जिसको अध्यारोप और अपवाद कहते हैं, उसीको पूजा कालमें धर्मकी दृष्टिसे आवाहन और विसर्जन कहते हैं।

अच्छा, हम धर्मकी समूची व्याख्या अध्यारोप-अपवादकी दृष्टिसे बिना किसी दुविधाके—और केवल हिन्दू धर्मकी नहीं विश्व-सृष्टिमें जितने धर्म उदय हुए हैं और आगे उदय-विलय होंगे उन सब धर्मोंकी व्याख्या अध्यारोप और अपवादकी दृष्टिसे बिलकुल सुसंगत रूपसे कर सकते हैं; उसमें हमारे मनमें कहीं कोई दुविधा, संशय नहीं है। अच्छा, आजका दिन मंगलवार हनुमानजीका दिन क्यों है यह आप जानते हैं? काल एक है, निरवयव है; उसमें बरस-महीनेका भेद नहीं है, दिन-रात्रिका भेद नहीं है; परन्तु आजका जो काल है—सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्त पर्यन्त—इस कालका नाम मंगलवार है—यह कालमें मंगलवारका अध्यारोप है; और आज हनुमानजीकी पूजा करनेसे यजमानको विशेष लाभ होता है, यह भी अध्यारोप है। लेकिन पूजा करने वालेको इष्टदेवताकी प्रसन्नताके भावसे अध्यात्मकी प्रसन्नता, माने अपने चित्तकी प्रसन्नता उपलब्ध होगी—यह इस अध्यारोपका फल है। फल प्राप्त हो जानेपर कालमें मंगलवारका भी अपवाद हो जायेगा और आत्मामें हनुमानजीका भी अपवाद हो जायेगा।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते।

यह कालकी बात हुई। अब देशकी बात लो। क्या हम लोग नहीं जानते हैं कि गंगाके दाहिने मगध और गंगाके बाँयें वाराणसी; दोनों देशोंमें तत्त्वत: अभेद है? इसको हम समझते हैं, परन्तु शास्त्रकी इस बातको भी स्वीकार करते हैं कि काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है, मगधमें मरनेसे नहीं। क्योंकि—

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते।

अनन्त देशमें काशीका अध्यारोप है और प्रयोजन पूरा हो जानेपर

उसका सहज अपवाद है। लेकिन कबीरको यह अध्यारोप-अपवाद बहुत नहीं भाता था, इसीलिए वे बोले—

ज्यों कबिरा कासी मरे तो रामहि कौन निहोरा।

यह देशकी बात हुई।

अब वस्तुकी बात आपको बताते हैं। जब गायके बछड़ा होने लगता है और जिस समय गाय दो मुखवाली हो जाती है—एक मुख गायका और एक मुख बछड़ेका उसके शरीरसे बाहर निकल आता है—उस समय कहते हैं कि गाय इतनी पवित्र होती है कि उसी समय यदि कोई उस गायका दान कर दे, तो उसको कोटि यज्ञका फल होता है। क्योंजी, बछड़ा वही, गाय वही, उस जन्म क्रियामें ऐसी कौन-सी विशेषता आगयी? तो इसीको 'अध्यारोपापवादाभ्यां' बोलते हैं। देशकी विशेषताएँ, कालकी विशेषताएँ, वस्तुकी विशेषताएँ, व्यक्तिकी विशेषताएँ आत्मामें अध्यारोप करके कर्ताके लिए अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन बताया जाता है। यहाँ जूठा खाओ, तो पाप लगता है, लेकिन जगन्नाथपुरीमें पाप नहीं है; क्यों नहीं है? क्योंकि वहाँ उच्छिष्ट भोजनमें जो शास्त्रीय दोष बताया गया था उसका देश-विशेषमें अपवाद कर दिया गया। दोष-अदोष दोनों शास्त्रीय अध्यारोप-अपवाद है। समूचे धर्मकी व्याख्या हम आपको सुना सकते हैं। और हमको यदि उस क्रियाके बारेमें, उस वस्तुके नामके बारेमें, उस जातिकी मान्यताके बारेमें पता न हो तब भी बता सकते हैं।

अच्छा अब देखो भक्तिमें अध्यारोपापवाद। अभी कहो तो एक अध्यारोप कर दें, तुरन्त!

ऐसे हि जनम समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि सेवत पुरुष बिराने।

हाय-हाय! अनादि कालसे हम भगवानसे बिछुड़े हुए हैं! बेटेके लिए आँसू आते हैं, स्त्रीके लिए आँसू आते हैं, शरीरके लिए आँसू आते हैं, धनके लिए आँसू आते हैं, पर जिस भगवान्‌से बिछुड़े हुए हैं, उस भगवान्‌के लिए दो बूँद हमारी आँखमें आँसू क्यों नहीं आते? यह हृदय फट क्यों नहीं जाता? तो जब वियोगके भावकी कल्पना करके भगवान्‌के लिए रोओगे तो मालूम

पड़ेगा कि हाय-हाय! भगवान्से वियोग है—और दो मिनटके बाद कहो कि आहा! भगवान् तो हमारे सामने हैं—

सशंखचक्रं सकिरीटिकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।

तो क्या हुआ? आगये ना,

वंशीविभूषित करान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखात् अरविन्दनेत्रात *कृष्णात्परं*, **किमपि तत्त्वमहं न जाने॥**

यह जो भक्तके हृदयमें वियोगकी कल्पना करके तड़पना है, यह अध्यारोप है। वियोगका अध्यारोप है और फिर इस वियोगका जो अपवाद है वह भगवान्का संयोग है। भगवान् क्या कहीं चले जाते हैं? या भगवान् कहींसे आके मिलते हैं? भगवान्का संयोग और वियोग होता नहीं है, परन्तु संयोग और वियोगके भावके द्वारा मनुष्यके हृदयका निर्माण किया जाता है। यह हृदयके निर्माणकी एक प्रकिया है, एक युक्ति है। इसी प्रकार परमात्मा न कार्य होता है, न कारण होता है।

अब ***अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते।*** उस प्रसंगको श्रवण करो। ब्रह्म कारण नहीं है और यह प्रपञ्च कार्य नहीं है। बोले—क्यों नहीं है? श्रुति तो स्पष्ट ही कारण रूपसे ब्रह्मका निरूपण करती हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।

(तैत्ति० ३.१)

ब्रह्मसूत्र कहता है—***जन्माद्यस्य यतः;*** (१.१.२) श्रीमद्भागवत कहता है **जन्माद्यस्य यतः**; और तुम कहते हो कि परमात्मामें कार्य-कारण भाव ही नहीं है। तो देखो समझना चाहिए इस बातको। कार्यकारण-भाव बिना कालकी कल्पनाके नहीं हो सकता। जो पहले होता है उसको कारण बोलते हैं और जो पीछे होता है उसको कार्य बोलते हैं, कारण-कार्यमें पहले पीछेका भाव नियत होना जरूरी है। *नियतपूर्ववृत्तित्वं* ***कारणत्वम्***—किसी भी वस्तुकी उत्पत्तिके पूर्व जिसकी मौजूदगी जरूरी हो उसको बोलते हैं कारण।

अच्छा अब यह पूर्व-वृत्ति और पश्चाद्-वृत्ति ये कालके दो भेद हैं कि नहीं? वे तो हैं। तो हम आपसे यह पूछते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हुई इसपर तो आप विचार करते हैं, पर कालकी उत्पत्ति कैसे हुई इसपर आप

विचार क्यों नहीं करते हैं? आप घड़ेके बारेमें तो विचार करते हो कि मिट्टी पहले है और घड़ेकी शक्ल बादमें है, लेकिन कालमें 'पहले' कहाँसे आया और 'बादमें' कहाँसे आया इसपर क्यों नहीं विचार करते? यह घड़ेके भीतर है और यह घड़ेके बाहर है—यह भीतर-बाहरका भेद (देश) पहलेसे हुए बिना घड़ा बन सकता है क्या? नहीं बन सकता। और आकाश पहलेसे हुए बिना भी घड़ा नहीं बन सकता। आकाश दूसरी चीज है और देश दूसरी चीज है। तो, पहले और पीछेका भेद हुए बिना माने काल हुए बिना, देश हुए बिना, आकाश हुए बिना घड़ा नहीं बन सकता। तो जब घड़ा और मिट्टी दोनोंके बननेके पूर्व आकाश भी चाहिए, देश भी चाहिए, काल भी चाहिए, तो अभी परमेश्वर तक तो तुम पहुँचे ही नहीं, उसको कारण कैसे निश्चय करोगे? कहनेका अभिप्राय यह है कि यह वस्तुका भेद ही तब मालूम पड़ता है जब देश-भेद, काल-भेद उसके साथ जुड़े हुए हों—माने युगपत् ही देश-भेद काल-भेद और वस्तु-भेदकी प्रतीति होती है। इसका अर्थ ही हुआ कि स्वप्नका देश और स्वप्नका काल और स्वप्नका द्रव्य जैसे युगपत् प्रतीत हो रहा है, इसी प्रकार यह जाग्रत प्रपञ्च भी युगपत् प्रतीत हो रहा है। यह तो ब्रह्म तत्त्वकी पूर्णताके अज्ञानसे ही कार्य-कारण-भावकी कल्पना है नहीं तो कार्य-कारण-भावकी कल्पना नहीं है।

अच्छा अब देखो—कार्य-कारण-भावकी कल्पनाका कारण तो अज्ञान है, ठीक है, परन्तु अज्ञानका कोई कारण है या नहीं? यदि अज्ञानका कोई कारण हो तो वह ज्ञात है या अज्ञात है? यदि अज्ञानका कारण जाना हुआ (ज्ञात) होगा तो अज्ञान ही नहीं होगा; और यदि अज्ञानका कारण ना जाना हुआ (अज्ञात) हो तो वह (कार्य) अज्ञानसे क्या विलक्षण हुआ, वह भी तो अज्ञान ही हुआ ना! तो अज्ञानका कारण अज्ञान, अज्ञानका कारण अज्ञान अनवस्था दोषके चक्करमें काहेको पड़ते हो? यदि एक अज्ञानकी उत्पत्ति दूसरे अज्ञानसे हुई, तो प्रथम अज्ञान और द्वितीय अज्ञानमें क्या अन्तर है? यदि अन्तर नहीं है तो आत्माश्रय दोष हुआ माने एक ही अज्ञानमें कार्य-कारणकी कल्पना हुई; और यदि दो अज्ञान हुए तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ; तीन अज्ञान हुए तो चक्रिकापत्ति दोष हुआ; और चार अज्ञान हुए तो अनवस्था हुई। और यदि ज्ञानसे अज्ञानकी उत्पत्ति हुई—ऐसा मानो तो वदतोव्याघात

हुआ। तो अज्ञान केवल भासता है, उसका कोई कारण नहीं है। और अज्ञानका भासना भी कब तक? जबतक कि अज्ञान जिसके बारेमें है और जिसको है—अर्थात् अज्ञानके विषय और आश्रय—उन दोनोंके एकत्वका ज्ञान नहीं होता। अज्ञानके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती; जिसके बारेमें अज्ञान है और जिसको अज्ञान है, वे दोनों एक हैं, जब यह ज्ञान होता है तब अज्ञान निवृत्त हो जाता है और उस अद्वितीय ज्ञानस्वरूप आत्माका नाम ब्रह्म हो जाता है।

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेष-चितिरेव केवला।
पूर्वसिद्ध तमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

आश्रय और विषयके रूपमें भासित होनेवाली केवला निर्विभाग चिति निर्विशेष ज्ञान ही है। पहले पश्चिममें जो अन्धकार सिद्ध था, सूर्योदय होनेपर न तो वह दिखायी पड़ता है, न उसका कोई आश्रय होता है। ऐसे 'संक्षेप शारीरक'में इसका निरूपण है।

श्रुतिमें जो कार्य-कारण भावका वर्णन है वह जिनकी दृष्टिमें प्रपञ्चमें कार्यकारण भाव भासता है, उनकी दृष्टिका अनुवाद है। यदि किसीको आकाशमें हरा-पीला-लाल रंगका इन्द्रधनुष दिखायी पड़ रहा हो और उससे हम बात करें कि ये जो तुम रंग देख रहे हो, वे असलमें नहीं हैं, वे तो सूर्यकी किरणोंके विद्यमान जल-कणोंमें प्रतिबिम्ब होनेसे उत्पन्न हुए हैं, तो क्या सूर्यकी किरणोंमें और उन रंगोंमें कार्यकारण भावका निरूपण करनेपर ही वहाँ रंगकी उत्पत्ति हुई है? रंग उत्पन्न नहीं हुआ है, वह तो आँखसे दिखता है; वहाँ जाकर अगर उस हरे रंगसे कपड़ा रंगना चाहो या उस पीले रंगको समेटके लाना चाहो या उस लाल रंगको चूर्ण बनाके रखना चाहो, तो वह लाल-पीला-हरा रंग कहीं द्रव्य रूपसे, वस्तुरूपसे थोड़े ही प्राप्त होगा। वह तो केवल ऐन्द्रियक प्रतीति मात्र है। तो जैसे यह कार्य-कारण-भाव सूर्यकी किरणोंका वैलक्षण्य वर्णन करनेके लिए है, उसी प्रकार श्रुतिमें जो कार्य-कारण-भावका वर्णन है कि ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति हुई, वह ब्रह्मकी अद्वितीयताका वर्णन करनेके लिए है। गीतामें भी ऐसा ही है-

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (गीता १०.८)

कालमें विद्यमान पूर्वापर भाव, द्रव्यमें विद्यमान कार्य कारण भाव और देशमें अन्तर्वहि:का भाव, इसके वर्णनका अभिप्राय क्या है?

किसीने कहा कि सृष्टि परमाणुसे हुई—बहिरङ्ग उपादानसे; तो किसीने कहा कि बहिरङ्गसे नहीं अन्तरङ्ग उपादानसे सृष्टि हुई, प्रकृतिसे। उपादानोंकी एक लड़ी हम आपको बता देते हैं।

१. शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि यह सृष्टि **निरुपादान** है, इसका कोई उपादान नहीं है।

२. चतुर्भूतवादी चार्वाक और परमाणुवादी वैशेषिक-नैयायिक कहते हैं, कि बहिरङ्ग पदार्थसे, सृष्टि हुई है। चार्वाक चार भूतोंसे (वायु, अग्नि जल और पृथिवीसे) सृष्टि मानते हैं और न्याय-वैशेषिक परमाणुओंसे सृष्टि मानते हैं। ये लोग **बहिरङ्ग उपादान** वादी हैं। परन्तु चार्वाक निमित्त कारण नहीं मानता है जबकि नैयायिक और वैशेषिक निमित्त कारण मानते हैं।

३. (i) सांख्य और योग अन्तरंग उपादानवादी (कारणवादी) हैं। ये लोग प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं। अन्तरङ्ग उपादानवादी इसलिए हैं क्योंकि बुद्धि और पुरुष दोनोंके बीचमें प्रकृति है।

(ii) ईश्वरसे सृष्टि हुई, यह भी अन्तरंग कारणवाद है।

(iii) कर्मसे सृष्टि हुई यह भी अन्तरंग कारणवाद है। क्योंकि कर्मका संस्कार अन्तरंगमें ही रहता है।

(iv) विज्ञानसे सृष्टि हुई यह भी अन्तरङ्ग कारणवाद है।

(v) दृष्टिसे सृष्टि हुई यह भी अन्तरंग कारणवाद है। ईश्वर, प्रकृति, चित्त, कर्म, विज्ञान दृष्टि-ये सब अन्तरंग कारणवाद हैं। काल, नियति, यदृच्छा, स्वभाव-ये भी अन्तरंग कारणवाद हैं।

(४) और यह जो वेदान्तका ब्रह्मवाद है, इसमें ब्रह्मकी अद्वितीयताका निरूपण करनेके लिए, प्रपञ्च आत्मस्वरूपसे भिन्न नहीं है इसका निरूपण करनेके लिए, प्रपञ्चके भिन्नत्वका निषेध करनेके लिए कार्य कारण भावका निरूपण आता है। इसमें अभिन्न निमित्तोपादान कारणवाद है। इसमें दो धारायें हैं—(१) सम्पूर्ण वैष्णव शैव सौर गाणपत्य जिनको हमने पहले भागवत कहा था, सब भगवद्-अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादी हैं; ये कार्यकारण

भावको वास्तविक मानते हैं। और (२) अद्वैत वेदान्ती इस अभिन्ननिमित्तोपादानरूप कार्य-कारण-भावको अध्यारोप मानते हैं। माने ये ब्रह्मको विवर्ती अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं। परब्रह्म परमात्मा ज्योंका त्यों रहता हुआ कार्य कारण भावसे केवल प्रतीत होता है, वस्तुतः कार्यकारण भाववाला होता नहीं।

इसका अर्थ यह हुआ कि यह सर्वत्र पाणिपादादिके रूपमें (हाथ पाँव जितने मालूम पड़ते हैं ना, सबके रूपमें), सबकी आँख, सबके सिर, सबके कानके रूपमें, सबके मुँहके रूपमें और सर्वके रूपमें यह जो प्रपञ्च व्यवहार गोचर हो रहा है, व्यवहारका विषय हो रहा है, वह वस्तुतः ब्रह्म है और उसमें प्रपञ्च प्रतिभासित है। माने प्रपञ्चकी केवल प्रातिभासिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता प्रपञ्चकी नहीं है। फिर भी इसी प्रातिभासिकी सत्तासे ही ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्ता सिद्ध की जाती है। तो पारमार्थिक ब्रह्म-सत्ताकी अपेक्षा किंचित् न्यून सत्ताकत्वेन इस प्रपञ्चकी स्थिति है। इसलिए सर्वत्र अपने विवर्तभूत प्रपञ्चमें अधिष्ठान ही प्रतीत हो रहा है; जैसे अध्यस्त सर्पमें रज्जु ही रज्जु विद्यमान है।

किसीको साँप दीख रहा हो और जानकार जानता है कि वह रस्सी है तो उनके बीच वार्तालाप कुछ ऐसा होगा। अज्ञानी—देखो वह साँपका मुँह दिखा! ज्ञानी-यह तो रस्सी है। अज्ञानी—वह साँपकी आँख देखो। ज्ञानी—वह भी रस्सी है। अज्ञानी-देखो, वह साँपकी पीठ! ज्ञानी-वह रस्सी है। अज्ञानी—नहीं जी, देखो वह साँपका पेट! वह साँपकी पूँछ! वह लपलपाती हुई जीभ! ज्ञानी—वह सब रस्सी है।

जैसे अध्यस्त वस्तु अधिष्ठानसे किंचित् भी पृथक् नहीं होती, इसी प्रकार यह जीवोंके पाणिपाद, यह उनके अक्षि, शिर, मुख, कान और यह सम्पूर्ण प्रपञ्च जो सर्पवत् लोक-प्रतीतिका गोचर हो रहा है; वह अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे बिलकुल विलक्षण नहीं है, यह बात बतानेके लिए —

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

श्लोक है। तो यह जो क्षेत्रज्ञसे अभिन्न अक्षर ब्रह्म-तत्त्वका बोध है; अक्षराभिन्न क्षेत्रज्ञ तत्त्व और क्षेत्रज्ञाभिन्न अक्षर तत्त्वका जो बोध है, उसका

निरूपण अगले श्लोकमें (सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्— इत्यादिसे) और स्पष्ट रूपसे करते हैं।

एक बात आपको आज याद दिला देते हैं। यह जो ब्रह्म है यह कहीं बाहर-भीतर नहीं है, कहीं दूर नहीं है, और कहीं परोक्ष नहीं है। यह बात गीताके इस निरूपणमें बिलकुल स्पष्ट है। आप इसी अध्यायके इस श्लोकको ध्यानमें रखलो—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (१३.१५)

इसमें जिस दिन हमारी दृष्टि इस **अचरं चरमेव च** पर पड़ी थी कि 'अचर भी वही है और चर भी वही है'—माने अचर जो माटी (धरती) है वह भी वही है, (और उसपर चलनेवाला चर) मनुष्य भी वही है; अचर पेड़ भी वही है और उसपर चहकनेवाली चर चिड़िया भी वही है; और वही है **बहिरन्तश्च भूतानां**; जिस दिन यह बात ध्यानमें आयी ना, अरे उसी वक्त सारा दुःख मिट गया। दुःख क्यों मिटा? इसलिए मिटा कि दुःखके रूपमें भी परमेश्वर ही है। इसलिए दुःख नहीं मिटा कि दुःख भासता नहीं, या कि दुःखका कोई आकार विकार नहीं, या कोई नाम रूप नहीं; दुःख इसलिए मिट गया कि दुःखके रूपमें भी परमेश्वर ही है।

एक आदमीने आके पीछेसे एक चाँटा मारा। बड़ा भारी अपमान मालूम हुआ, क्रोध हुआ। लेकिन जो आँख घुमाके देखा तो वह अपना बड़ा भारी मित्र था। सारा गुस्सा पानी हो गया। चिकोटी किसने काटी? कि हमारे प्यारेने। चपत किसने लगाया? कि हमारे प्यारेने। तो वह एक परमेश्वर दुःखके रूपमें भी **अचरं चरमेव च**—जड़के रूपमें भी वही है। चलता फिरता भी वही है। बाहर भी वही है, भीतर भी वही है। असलमें बाहर भीतर है ही नहीं, वही है। 'चलता फिरता' है ही नहीं वही है। 'आगे पीछे' है ही नहीं वही है। 'मैं तुम' है ही नहीं वही है। केवल अपना आत्मा है।

(३) यह जो यहाँ तेरहवें अध्यायमें परमात्माके निरूपणका प्रसंग है, अद्भुत है, विलक्षण है। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने संकेत किया कि यहाँ अध्यारोप और अपवादकी प्रणालीसे परब्रह्म परमात्माका निरूपण है। जैसे द्वितीयाका चन्द्रमा दिखाना हो तो कहते हैं वह देखो सबसे ऊँचा पेड़ और

उसमें सबसे ऊँची शाखा और उसी शाखासे दो हाथ ऊपर चाँदीके हँसियेकी तरह, चन्द्रमा भी देख लिया; पर तुम्हारी एक बात तो बिलकुल झूठी मालूम पड़ी। कहाँ पेड़ धरतीपर और कहाँ चन्द्रमा आसमानमें, वह जो वृक्षकी शाखासे दो हाथकी दूरी तुमने बतायी वह तो बिलकुल झूठी। बोले—भाई मेरे, हमारा अभिप्राय दो हाथकी दूरीमें नहीं था, हमारा अभिप्राय तो चन्द्रमाके दर्शनमें था। इसलिए हजारों मीलकी दूरी होनेपर भी, दो हाथकी दूरीका अध्यारोप करके चन्द्रमाकी प्रतीतिमें हमारा अभिप्राय था। मोटी नजरसे दो हाथ दूरी मालूम भी पड़ती है। सो प्रतीतिके अभिप्रायसे दो हाथकी दूरीका अध्यारोप करके हमने तुम्हें चन्द्रमाको दिखा दिया। अब यदि तुम दो हाथको पकड़के बैठ जाओगे तो हमारे अभिप्रायके विपरीत ग्रहण करोगे। तो अब लो हम अपवाद कर देते हैं। चन्द्रमा वह जो तुमको दिख रहा है, अरे वह तो आकाशमें है बाबा, उससे तो लाखों मील दूर यह वृक्ष और इसकी शाखा है; दो हाथसे चन्द्रमाकी दूरीका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको बोलते हैं अध्यारोप करना और फिर अपवाद करना।

तो जब **अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते** से यह बात कही गयी कि परमात्मा सच्छब्द वाच्य भी नहीं है और असच्छब्द वाच्य भी नहीं है; माने उसका निरूपण अस्ति और नास्ति, (है और नहीं) इन दोनों वस्तुओंके रूपमें, दोनों शब्दोंके रूपमें या तत्तद् वृत्तियोंके रूपमें नहीं हो सकता; क्योंकि यह परमात्मा तो दोनों प्रकारकी वस्तुओंके भावाभाव, भावाभाव शब्द और भावाभावाकार वृत्ति-इनकी साक्षी स्वयं है परिपूर्ण है; अरे यह तो अपना आत्मा ही है; तो प्रश्न उठता है कि फिर वह परमात्मा है भी, इसीमें क्या प्रमाण है? इसको समझानेके लिए **सर्वतः पाणिपादं तत्** का अध्यारोप किया गया और उससे अगले श्लोक में—**सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं, सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥** उसका अपवाद कर दिया गया। अर्थात् पहले जो सब इन्द्रियोंसे, विषयोंसे ब्रह्मका सम्बन्ध बताया गया था उसका अपवाद कर दिया, निषेध कर दिया।

तो अब आओ **सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्** इसके बारेमें एक दो बात आपको सुनावें। हमारे वैदिक दर्शनको छोड़कर और कोई ऐसा अवैदिक दर्शन नहीं है जो जगत्का उपादान कारण परमात्माको मानता

हो। उपादान कारण माने मैटर। जिस मसालेसे घड़ा बना है वह मृत्तिका है; मृत्तिका, मार्तिक, मैटर—वह मैटर है।

बहुतसे तो ऐसे हैं जो कहते हैं जगत्को बनाने वाला कोई परमात्मा है ही नहीं; निमित्त कारण भी परमात्माको नहीं मानते हैं, जैसे चार्वाक। वे चार भूतोंको उपादान कारण तो मानते हैं, लेकिन बनानेवाला कोई कुम्हार नहीं मानते हैं।

जैन सृष्टिको अनादि और नित्य मानते हैं, इसमें बनानेवालेकी कोई जरूरत नहीं है। इसीसे आत्मा अपने आपको शुद्ध करके इससे अलग हो जाता है, उज्ज्वल हो जाता है, आलोकाकाशकी नोकपर पहुँच जाता है।

आजकल जो जैन धर्मके प्रचारक लोग हैं ना, वे लोग ही स्वयं प्रकाश परिच्छिन्न जीवत्वका प्रतिपादन करते हैं। साधारण लोग इस बातको नहीं समझेंगे कि वे सर्वथा ही वेदका और वेदान्तका विरोध करते हैं। जब वे लोग कहते हैं कि आत्मा विषयोंका प्रकाशक है, इन्द्रियोंका प्रकाशक है, विषयोंसे इन्द्रियोंसे न्यारा है, मनसे भी न्यारा है, पुद्गलसे भी न्यारा है, बुद्धिसे भी न्यारा है, उज्ज्वल चमचम और स्वतन्त्र है; तब आप यह बात बिलकुल समझ लेना, कि उनके आत्माके स्वतन्त्र होनेका मतलब है कि आत्मा ईश्वर रहित है। उनके यहाँ ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है। जगत्का न निमित्तकारण ईश्वर है न उपादान कारण ईश्वर है लेकिन आत्मा स्वतन्त्र है, यह बात बोलते हैं। और जब वे कहते हैं कि स्वयं प्रकाश और द्रष्टा है तो परिच्छिन्न स्वयं प्रकाश और परिच्छिन्न द्रष्टा है यह कहते हैं; क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपनेको शुद्ध कर-करके स्वतन्त्र और स्वयं प्रकाश उज्ज्वल रूपमें अवस्थित होता है।

जब आप ये बातें सुनोगे तो मालूम पड़ेगा कि वे वेदान्तका निरूपण कर रहे हैं, क्योंकि वे आत्माको स्वतन्त्र कह रहे हैं, आत्माको द्रष्टा बता रहे हैं, आत्माको स्वयं प्रकाश बता रहे हैं। लेकिन वह दर्शन बिलकुल अवैदिक है और अवेदान्तिक है। क्यों? क्योंकि उनकी आत्माकी स्वयं प्रकाशता और स्वतन्त्रता ऐसी है जैसे जुगनू अलग-अलग जगमगाते हैं।

बौद्ध दर्शनमें तो आत्माका उच्छेद ही मानते हैं। वे कहते हैं कि वह आत्मा जो जुगनूकी तरह स्वयं प्रकाश और स्वतन्त्र मालूम पड़ता है, वह भी असलमें अन्त:करणके सम्बन्धसे ही वैसा मालूम पड़ता है; अन्त:करण

क्योंकि कालके पेटमें है, परिवर्तनशील है, वृत्तियाँ उसकी क्षणिक हैं, तो वृत्तियोंके सम्बन्धसे ही आत्मामें स्वयंप्रकाशता और स्वतन्त्रता आदि भासती हैं। इसलिए असलमें तत्त्व शून्य ही है न अन्त:करणमें चमकनेवाला जीव है।

ये तीनों—चार्वाक, जैन और बौद्ध अवैदिक दर्शन हैं। ये जगत्के उपादान कारणके रूपमें तो दूर जगत्के निमित्त कारणके रूपमें भी ईश्वरको नहीं मानते।

अवैदिक दर्शनोंमें ईसाई और मुस्लिम, दर्शनकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। विचारकी दृष्टिसे दोनों एक हैं और आचारकी दृष्टिसे दोनों अलग-अलग हैं। प्रमाणकी दृष्टिसे ईसाई इंजीलको मानते हैं और मुस्लिम कुरानको मानते हैं, लेकिन दोनों पौरुषेय प्रमाणको ही प्रमाण मानते हैं—एक काल विशेषमें निर्मित प्रमाणको ही स्वीकार करते हैं। अमुक आचार्यके प्रति अमुक कालमें ईश्वरने जो इल्हाम दिया और अपने पहले हुक्मनामोंको मंसूख किया, बस वही प्रमाण है। यद्यपि वे ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं, यह बात सही है और ईश्वरकी प्रेरणासे ही इंजील और कुरानका आविर्भाव हुआ, यह भी मानते हैं, परन्तु इस जगत्का उपादान कारण परमात्मा है—यह बात नहीं मानते हैं।

हम केवल वेदकी विलक्षणता बतानेके लिए यह प्रसंग आपको सुना रहे हैं। इस तरहसे देखो चार्वाकमें, जगत्का उपादान निमित्त कारणकी कल्पना ही नहीं है। वे तो चार भूतोंको नित्य मानते हैं और उसमें अमुक मात्रामें संयोग होनेपर प्राणियोंकी सृष्टि हो जाती है और चेतना भी प्रकट हो जाती है—चेतना भी चार भूतोंका ही कार्य है—ऐसी उनकी मान्यता है।

जैन सिद्धान्तमें जीव-द्रव्य और अजीवद्रव्य—ये दो द्रव्य नित्य माने जाते हैं। जीव जब अजीव द्रव्यसे अपनेको अलग कर लेता है, वह आश्रव और संवर कर्मोंसे जब अपने आपको पृथक् जान लेता है, और सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प, सम्यक् समाधिके द्वारा उज्ज्वल हीराके समान बिलकुल स्वयं प्रकाश, स्वतन्त्र और कर्मसे असम्बद्ध हो जाता है, तब वह तीर्थंकरकी पदवी प्राप्त कर लेता है। सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतक केवल चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। पच्चीसवें—छब्बीसवें तीर्थंकर अभी दूसरी, तीसरी भूमिकामें हैं, तीर्थंकरकी भूमिकामें पहुँचे हुए नहीं हैं। यह कलिकाल

मुक्तिका युग नहीं है। साधना करनी पड़ती है, पर कलिकालके बाद मुक्ति होगी। उनके यहाँ स्त्रीकी मुक्ति नहीं होती।

अब कहीं हमारे सुनने वाले ना समझ हुए तो कहेंगे कि स्वामी जी कह रहे थे कि स्त्रीकी मुक्ति नहीं होती। अरे, हमारे मतमें स्त्री, पुरुषकी मुक्ति होती नहीं है, वे तो नित्यमुक्त-स्वरूप ही हैं, ब्रह्म हैं। उसमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। हमें कहना यह था कि वैदिक दर्शनोंकी विशेषता अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा यह है। वैदिक दर्शनोंमें भी वेदान्त दर्शनकी विशेषता बताना हमारा अभीष्ट है।

न्याय और वैशेषिक परमाणुको जगत्का आरम्भक मानते हैं और सांख्य और योग जगत्को प्रकृतिका परिणाम मानते हैं। पूर्व मीमांसक जगत्को अनादि और नित्य मानते हैं और कर्मानुसार जीवको योनिकी प्राप्ति मानते हैं। लेकिन वेदान्त दर्शनकी विशेषता यह है कि वह ईश्वरको इस जगत्का उपादान मानता है। आप यह बात अगर नहीं पकड़ेंगे, तो वेदान्तका सिद्धान्त समझमें आवेगा ही नहीं। आप द्रष्टा हो सकते हैं, बिलकुल ठीक। आप स्वयं प्रकाश हो सकते हैं, आप स्वतन्त्र हो सकते हैं, आप जगत्से मुक्त होकर आलोकाकाशमें जा सकते हैं, आपको वैकुण्ठ मिल सकता है, साकेत मिल सकता है, गोलोक मिल सकता है। अगर आप प्रेमा भक्ति करें तो आपको कृष्णकी प्राप्ति हो सकती है। वैधी भक्ति करें तो रामकी प्राप्ति हो सकती है और परा भक्ति आपके अन्दर आ जाये तो निराकार ईश्वरसे एक हो सकते हैं। समाधि लग जाये तो आप उसके द्रष्टा हो सकते हैं। उन-उन साधनोंसे उन-उन फलोंकी प्राप्ति होती है, इसमें हमको कहीं शंका नहीं है जैसा साध्य है वैसा साधन है। पर वेदान्त जिस परमात्माका निरूपण करता है वह जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसका अर्थ है कि यह जो आप मकान देख रहे हैं, पशु-पक्षियोंका शरीर देख रहे हैं, यह तो माटी-पानी-आग-हवा देख रहे हैं, इसका मूल मसाला परमात्मा है, ब्रह्म है।

आप अब जान गये होंगे कि वेदान्त दर्शनमें और अन्य दर्शनोंमें क्या फर्क हुआ? जहाँ परमात्माको मानने वाले दूसरे दर्शनोंने परमात्माको जगत्से निकालकर बिलकुल अलग कर दिया, वहाँ वेदान्तने घड़ेमें माटीकी तरह, बूँदमें पानीकी तरह, चिनगारीमें आगकी तरह, साँसमें हवाकी तरह, घटाकाशमें

महाकाशकी तरह, सपनेमें मनकी तरह और सुषुप्तिमें आत्माकी तरह ईश्वरको इतना व्यावहारिक बना दिया कि न तो ईश्वरको देखनेके लिए आँख बन्द करनेकी जरूरत है, न ध्यान करनेकी जरूरत, न समाधिमें जानेकी जरूरत है, छूट पट्टी है। आप गाली देते हैं तो ईश्वरको, हाथसे पकड़ते हैं तो ईश्वरको, रोते, रुलाते हैं ईश्वरके साथ, मारते-मरते हैं ईश्वरमें। जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें ईश्वरका प्रतिपादन वेदान्त दर्शनकी अपूर्व विशेषता है। न यह न्याय वैशेषिकमें है, न यह सांख्य योगमें है, न यह पूर्व मीमांसामें है और अवैदिक दर्शनोंकी तो कथा ही छोड़ देते हैं।

अवैदिक दर्शनोंमें निमित्तकारणके रूपमें माननेवाले मुसलमान और ईसाई हैं और बाकी जो हैं वे ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। अवैदिक दर्शनकी विशेषता है ईश्वरको न मानना, और मानना तो निमित्त रूपमें ही मानना। ईसाई और मुसलमान—दोनों ही ईश्वर मानते हैं और हम भी ईश्वर मानते हैं, लेकिन उनका ईश्वर रहता है सातवें आसमानमें और वैदिक दर्शनका ईश्वर रहता है धरतीपर। वह घड़ेमें माटी होके रहता है, वह चिड़ियाका पंख होकरके रहता है, वह पशुके चार पाँव होके रहता है, वह कोयलकी कुहू-कुहू होके रहता है, वह मोरका नृत्य होकर रहता है, वह बादल होकर रहता है।

तो अब देखो, अभिन्ननिमित्तोपादानकी यह बात श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य—ये चारों वैष्णवाचार्य मानते हैं। निम्बार्कोंमें निम्बार्कको मूलरूपसे आचार्य माननेवाले और हरिदासी, दोनों मानते हैं; और विष्णु स्वामी और वल्लभाचार्य दोनों मानते हैं। मध्वाचार्य और चैतन्य महाप्रभु दोनों मानते हैं। रामानुजाचार्य और रामानन्द दोनों मानते हैं। और सब शैव, सब शाक्त, सब गाणपत्य, सब सौर और सब वैष्णव यह बात मानते हैं कि जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। माने वही पृथिवी, वही जल, वही अग्नि, वही वायु, वही आकाश है। हम सब लोगोंके शरीरमें केवल अन्तर्यामीके रूपमें ही नहीं, जीवके रूपमें भी वही है और शरीरके रूपमें भी वही है।

यदिदं दृश्यते जगत् किंचित् यदिदं श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वम् व्याप्य नारायणः स्थितः॥

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज इस श्रुतिको बारम्बार उद्धृत करते हैं :

बाहर भी वही भीतर भी वही। इसीसे जब ब्रह्मसूत्रमें ब्रह्मका पहला लक्षण बताया गया: ***जन्माद्यस्य यतः***—जिससे सृष्टिका जन्म होता है (माने जो सृष्टिका निमित्त कारण है), जिसमें जगत्की स्थिति होती है (माने वही जगत्का आधार भी है, उसीमें जगत् है, जैसे बूँद पानीमें रहती है) और जिसमें जगत् लीन होता है (अर्थात् जो जगत्का उपादान कारण है) अर्थात् जो जगत्का निमित्त कारण, जगत्का उपादान कारण और जगत्का अधिष्ठान है, (उसको आधार शब्दसे भी हम बोलते हैं, वह परमात्मा है, ब्रह्म है— ***जन्माद्यस्य यतः*** (ब्रह्मसूत्र १.१.२)

आप वेदान्त—दर्शन पढ़ने जायें और अपनेको जगत्से न्यारा करके बैठ जायें और बोलें कि बस हमको हो गया वेदान्तका ज्ञान कि हम तो जगत्से न्यारे हैं, दृश्यसे न्यारे हैं, तो अभी वेदान्तका ज्ञान नहीं हुआ। जब तक जगत् आपसे न्यारा और आप जगत्से न्यारे, तब तक आप द्वैत सिद्धान्तका अनुसरण कर रहे हैं। अद्वैत सिद्धान्तमें तो द्रष्टा और दृश्यका जो भेद है वह चकनाचूर करना पड़ता है। इस भेद-भ्रान्तिको मिटाना पड़ता है, तब अद्वैत वेदान्त होता है। ठीक है आप किसी सम्प्रदायकी रीतिसे सिद्ध हो सकते हैं परन्तु वेदान्तकी दृष्टिसे जिसको ब्रह्म-पराकाष्ठा-बोलते हैं वह चीज नहीं है।

इसमें वेदान्तके किसी आचार्यका मतभेद ही नहीं है कि इस जगत्का उपादान ब्रह्मके सिवाय कुछ और है। यह बात कोई भी वेदान्तका व्याख्याता बोलता ही नहीं है। क्या भास्कराचार्य, क्या विज्ञान भिक्षु। हाँ, प्रक्रियामें भेद है।

निम्बार्काचार्य बोलते हैं—परमात्माकी शक्तिका विक्षेप है जगत्। श्रीवल्लभाचार्य जी बोलते हैं—परमात्माका संकल्प है जगत्। श्रीरामानुजाचार्य जी बोलते हैं—चित् और अचित् दोनों परमात्माके विशेषण हैं। श्रीमध्वाचार्यजी बोलते हैं—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्माने अपने आपसे अपने आपमें बनाया है। शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य मानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका परिणाम है। भास्कराचार्य जी कहते हैं—'औपाधिक द्वैताद्वैत है।' श्रीनिम्बार्काचार्यजी कहते हैं—स्वाभाविक द्वैताद्वैत है। बलदेव विद्याभूषण कहते हैं—अचिन्त्य द्वैताद्वैत है। लेकिन इसमें किसीको सन्देह ही नहीं है कि

कारण कार्यमें सर्वत्र अनुगत है, उपादान कार्य-कारणमें सर्वत्र अनुगत है; इसलिए कण-कण, ज़र्रा-जर्रा, अणु-अणु परमात्माका स्वरूप ही है। इसमें कहीं मतभेद नहीं है।

अच्छा अभी तक मैंने शङ्कराचार्य भगवान्‌का नाम नहीं लिया, क्योंकि उपनिषद्‌की व्याख्या करनेके लिए उनका नाम लेना जरूरी होता है। अपने आचार्योंमें कोई अग्नि भगवान् हैं, कोई शेष भगवान् हैं, कोई वायु भगवान् हैं, कोई अनन्तकालीय है, कोई वैष्णव नरावतार हैं, वह सब ठीक है। हम वह भी जानते हैं कि वैष्णव नरावतार होनेसे, कैसे सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। शेष होनेके कारण शेषीको अपनेसे विलक्षण बताते हैं। शेषके मालिक तो नारायण हैं, शेषी हैं। अत: जब शेषावतार हुआ तो वह अपने मालिक नारायणका ही प्रतिपादन करेगा। अब जरा यह तो शिवावतार श्रीशंकराचार्य जी महाराज उनकी बात सुनो। माण्डूक्य हैं, उपनिषद्‌में आत्माका नाम शिव है- *प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:।*

यह जो कैवल्यावतार शिवावतार हैं भगवान् शंकराचार्य, वह जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादान कारणत्वकी संगति बड़ी विलक्षण लगाते हैं। एक बार एक अच्छे वैष्णवाचार्य हमको हरद्वारमें मिले। वे कह रहे थे, यह जगत् ब्रह्मका परिणाम ही है। आप जानते हैं बौद्ध लोग जगत्‌को चित्तका परिणाम मानते हैं, उसको वे विज्ञान बोलते हैं। बौद्धोंमें ही कोई-कोई शून्यका परिणाम मानते हैं। उसको वे विज्ञान उपासक लोग ब्रह्मका परिणाम मानते हैं। तो उन वैष्णवाचार्यने हमसे कहा—जब तुम्हें अद्वितीयता ही इष्ट है कि एक अद्वितीय ब्रह्म है, तो ब्रह्मका परिणाम इस जगत्‌को मान लेनेमें तुमको क्या आपत्ति है? मैंने उनसे कहा कि ब्रह्म यदि जड़ होता तो एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें परिणामको प्राप्त होता। चेतन यदि एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जायेगा तो साक्षी कैसे रहेगा, वह चेतन कैसे रहेगा? चेतन तो अवस्थाओंके बदलनेका साक्षी है वह तो स्वयं बदलेगा नहीं। तो चेतनका परिणाम यह जगत् है, यह बात नहीं कही जा सकती। लेकिन सम्पूर्ण वेदान्त यह कहता है कि ब्रह्म चैतन्य ही इस जगत्‌का कारण है; तो दोनोंकी संगति क्या लगेगी? यही कि ब्रह्म जगत्‌का परिणामी कारण नहीं है, विवर्ती कारण है। विवर्ती माने विरुद्ध वर्तनशील। वि माने विपरीत और वर्त माने वर्तना; जो चीज अपने स्वभावके

विपरीत बरत रही हो, उसको विवर्त बोलते हैं। जैसे आप पूर्व मुँहसे खड़े हैं और आपकी परछाईं शीशेमें पश्चिम मुखसे खड़ी है। यह तो ठीक है कि आपकी शक्ल शीशा दिखा रहा है, लेकिन आपको पूर्व मुँहकी जगह जो पश्चिम मुँह बता रहा है, यह वास्तविकतासे विपरीत दिखा रहा है कि नहीं? आपकी नाक आँख उसने ठीक बतायी, आपका शरीर उसने ठीक बताया, काला गोरा बताया, लेकिन यह उसने विपरीत बताया कि नहीं कि आप खड़े हैं पूर्व मुँहसे और शीशा बता रहा है पश्चिम मुँहसे। तो यदि आपको यह समझदारी नहीं होगी कि शीशेमें बतायी हुई दिशा गलत है, तो आपको यह भ्रम होने लगेगा कि क्या मैं सचमुच पश्चिम मुँहसे हूँ? इसीको विवर्त बोलते हैं: विरुद्धं वर्तनं विवर्तः। स्वरूप-विपरीतं वर्तनम्। तो यह क्या है?

अतात्त्विकोऽन्यथा भावः विवर्त समुदाहृतः।

विवर्त किसको कहते हैं? कि तत्त्वमें तो कोई फर्क पड़े नहीं और व्यवहार बिलकुल उल्टा मालूम पड़े। तो यह जैसे परब्रह्म परमात्मा है, इसके चैतन्य होनेमें तो कोई सन्देह नहीं, क्योंकि देखो शरीर बच्चा हुआ, जवान हुआ, बुड्ढा हुआ, बाल काले हुए, सफेद हुए और मैं एक रहा। और, इन्द्रियाँ अनेक हैं और मैं एक हूँ। तो मैं एक इन्द्रियोंकी अनेकताको प्रकाशित कर रहा हूँ। मैं अपरिवर्तनशील, परिवर्तनशील अन्तःकरणादिको प्रकाशन कर रहा हूँ। तो यह क्या मैं बदलके बन गया हूँ? बिना बदले बदला हुआ दिख रहा हूँ, इसीको विवर्त बोलते हैं।

तो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी कल्पना जो परमात्माके प्रति है वह ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध करनेके लिए है। यदि ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध नहीं होगी तो ब्रह्मका स्वातन्त्र्य भी सिद्ध नहीं होगा। तो हम लोग ब्रह्मका प्रति-पादन देखो कैसे करते हैं? आपको एक श्लोक श्रीमद्भागवतका सुनाते हैं।

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरस्य यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासु हृदयानि चरन्ति येन संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥

'जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका हेतु है और स्वयं अहेतु है; जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहकर भी इनसे बाहर है, (माने जो जाग्रतमें वैश्वानर, स्वप्नमें तैजस, सुषुप्तिमें प्राज्ञ और जो तीनोंमें तीनोंसे विलक्षण तुरीय है';)

देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय जिसकी शक्तिसे जीवन पाकर कार्य करते हैं; उसे तुम परमतत्त्व जानो।'

यह श्री शुकदेवजीने परीक्षितसे कहा है।

ब्रह्मके निरूपणकी पहली युक्ति हुई—सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति प्रलयका कारण और स्वयं अकारण; दूसरी युक्ति हुई जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें वैश्वानर, तैजस, और प्राज्ञ रूपसे उपस्थित और ***बहिश्च***—तीनोंमें एक होनेके कारण तीनोंसे विलक्षण तुरीयः ***तुरीयं त्रिषु संततम्।*** और चौथी युक्ति हुई सम्पूर्ण कार्य-करण संघातका जीवन। दूसरे शब्दोंमें सबके पाणिपाद आदि इन्द्रियों आदिवाला और उन सबसे विलक्षण—

सर्वतः पाणिपादं तत् इत्यादि तथा **सर्वमावृत्य तिष्ठति।**

यह अध्यारोप, अपवाद हुआ।

सर्वतः पाणिपादं तत् इस श्लोककी व्याख्या दो तरहसे करते हैं, हमारे अद्वैत वेदान्ती। श्लोककी व्याख्यामें भी उनको स्वातन्त्र्य होता है। यदि 'आत्मा ब्रह्म एक है और ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, केवल भान मात्र है'—इस सिद्धान्तको स्वीकार कर लें तो अद्वैत सिद्धान्तमें प्रवक्ताको स्वातन्त्र्य होता है, कि वह चाहे जिस प्रक्रियासे, जिस शैलीसे वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करे। वस्तु अद्वितीय होनी चाहिए। वह कहीं सातवें आसमानमें नहीं होनी चाहिए और वह भीतर घुसी हुई भी नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जो अन्तर्देशमें है और बहिर्देशमें नहीं है, वह परिच्छिन्न है; और जो सातवें आसमानमें है, यहाँ नहीं है, वह भी परिच्छिन्न है; और जो केवल समाधि कालमें है सो भी परिच्छिन्न है; जो केवल कारण दशामें है सो भी परिच्छन्न है। तो न केवल ब्रह्म कारण दशामें है, बल्कि कार्य भी वही है; न केवल वह अन्तर्देशमें है, बल्कि बर्हिदेशमें भी वही है, न केवल समाधि कालमें है, बल्कि विक्षेप कालमें भी वही है। असलमें देश, काल, वस्तुका जो भेद है, वही उसमें कल्पित है, इसलिए—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

व्यंकट ब्रह्मानन्द बोलते हैं कि 'सर्वतः पाणिपादं'का अर्थ है कि सर्वतः जो पाणि हैं, पाद है, वे प्रवर्तनीय हैं, और इनका संचालन वही कर

रहा है। 'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'—सबका सिर वही हिला रहा है। हमारे श्रोताका सिर हिलता है या वक्ता बोलते समय हाथ हिलाता है, तो हाथ हिलानेवाला, सिर हिलानेवाला कौन? कि वही! यह मुस्कुरानेवाला कौन? कि वही। आँखें चलती हैं, कौन चलाता है? होठोंपर मुस्कान आती है, कहाँसे आती है? सिर हिलता है, कहाँसे हिलता है? मुँह खिलता है, कौन खिलाता है? अरे वही।

कोई कैदी है परमात्मा कि उसको लाठी मारकरके एक कोनेमें भगा दें कि ऐ! देखना तुम दिलमें ही रहना, बाहर मत निकलना? बोले—देखो सोना हो तो गोलोकमें जाके सोना यहाँ मत सोना—उसके ऊपर रोक लगानेवाले तुम कौन होते हो भाई? 'ऐ! तुम विक्षेप कालमें क्यों आ गये? चलो समाधि कालमें! तुम दृश्य हो गये? बनो द्रष्टा।' अब यह परमात्माको जबरदस्ती दृश्य बनाना, कि द्रष्टा बनाना, कि गोलोकमें भेजना, कि हृदयकी गुफामें भेजना कि ऐसे— वैसेमें उसको बाँधना—यह हुक्म चलानेवाले तुम कौन होते हो? बोले—जो हरी पोशाक न पहने सो परमात्मा ही नहीं। बोले—नहीं, नहीं, हरी नहीं सफेद। एक सन्त कहेगा सफेद पोशाक पहने सो परमात्मा, दूसरा सन्त कहेगा हरी पोशाक पहने सो परमात्मा, तीसरा सन्त कहेगा—नहीं पीली पोशाक पहनता है। एक बोले कि वह तो निराकार है बिलकुल नंगा ही रहता है, कोई पोशाक पहनता ही नहीं है। आर्यसमाजियों का कहना है कि वह बिलकुल निराकार है, सो पोशाककी जरूरत ही नहीं। मुसलमान लोग हरी पोशाक पहना दें, वे भी निराकार मानते हैं। ईसाई लोग सफेद पोशाक पहना देंगे! असलमें जो पोशाक पादरी पहनेगा, जो मौलवी पहनेगा, वही उसकी पोशाक हो जायेगी। हमारे भक्त लोगोंको पीली पोशाक अच्छी लगे तो परमात्माको भी पीली पहना दें! परन्तु यह कहना कि हे परमात्मा तुम पीली पोशाक नहीं पहन सकते, या पीली ही पहनो दूसरी नहीं पहन सकते, यह बिलकुल गलत है।

तो **सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।** जितने पाणिपाद आदि हैं, जितने अक्षि, शिर, मुख आदि हैं ये सब उसीके हैं, केवल अपना ही मत समझो कि हमारा उसका ही है, या हमारा उसका नहीं है। सब उसके हैं—**सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।**

'सर्वमावृत्य'का अर्थ है 'सर्वं बाधित्वात्'। यह व्याप्य व्यापक भाव भी बड़ा विलक्षण होता है। इसको समझो। एक व्यापकता होती है जैसे घड़ेमें मिट्टीकी। घड़ा कैसा है? कि मिट्टीका बना है, मोटे पेट वाला और छोटे गले वाला है। ऐसे ही तो हम लोग भी घड़े हैं। छोटा घड़ा और बड़ा घड़ा दोनों ही होते हैं। तो जैसे घड़ेमें माटी—एक व्यापकता यह है।

दूसरी व्यापकता है—जैसे तरंगमें पानी।

तीसरी व्यापकता है जैसे लोहके गोलेमें आग।

चौथी व्यापकता है जैसे चिनगारीमें आग।

पाँचवीं व्यापकता है—जैसे सांसमें वायु।

छठीं व्यापकता है, जैसे घटाकाशमें महाकाश।

सातवीं व्यापकता है, जैसे स्वप्नमें मन, अथवा मनोराज्यकी वस्तुमें मन, मनोरथकी वस्तुमें मन।

देखो यह सब मिट्टी, पानी, आग, हवा, मन—इनकी व्यापकता है। परन्तु एक आठवीं व्यापकता भी—भ्रान्तिकी व्यापकता। यह इन सब व्यापकताओंसे विलक्षण होती है। भ्रान्तिकी व्यापकता है जैसे भ्रान्ति-सिद्ध सर्पमें रज्जुकी व्यापकता। असलमें यहाँ सर्प कोई दूसरी चीज नहीं है जिसमें रज्जु व्यापक हो। यहाँ तो तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें जो रज्जु है वही भ्रान्तकी दृष्टिसे सर्प है। उसमें रज्जु व्यापक नहीं है। वस्तु एक ही है—ज्ञानीकी दृष्टिमें रज्जु है सर्प नहीं है और अज्ञानीकी दृष्टिमें सर्प है, रज्जु नहीं है। इसलिए वहाँ सर्प और रज्जुका व्याप्य व्यापक भाव नहीं है। प्रतीयमान सर्पको 'यह रज्जु है' यह बोध करानेके लिए यहाँ व्याप्य-व्यापक भावका अध्यारोप है। कैसे कहा कि ओ जिज्ञासु! जिसको तू सर्प देख रहा है सो तो रस्सी है। अब जिज्ञासुने सुना तो पहले दौरमें यह समझा कि जिसको मैं साँप देख रहा हूँ वह तो साँप है ही है, लेकिन वह रस्सीमें लिपटा होगा जिसको मैं नहीं देख रहा हूँ। फिर जोरसे कहा अरे बाबा जरा गौरसे देख तो। गौरसे देखा तो बोला-अरे महाराज यह तो रस्सी मालूम पड़ती है। कहा-मालूम क्या पड़ती है वह तो रस्सी ही है। तो बोले फिर वह सर्प कहाँ गया? तो देखो, नितान्त अज्ञान कालमें सर्प ही है, रस्सी नहीं। और नितान्त ज्ञान-कालमें रस्सी ही है, सर्प नहीं औरमध्य-

कालमें जब महात्माके वचनसे रज्जुका परोक्ष ज्ञान हुआ है, उस समय चित्तमें व्याप्य, व्यापक भावकी कल्पना हुई कि सर्पमें रज्जु व्यापक है। इस प्रकार—

सर्वतः पाणिपादं तत् **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।**

इसमें ये पाणि, पाद, अक्षि, शिर, मुख आदि संसार है। अज्ञानीकी दृष्टिमें यह संसार सत्य है। अज्ञकी दृष्टिमें केवल संसार सत्य है, परमात्मा नहीं है, और ज्ञानीकी दृष्टिमें केवल परमात्मा सत्य है, संसार नहीं है। और मध्यवर्तीकी दृष्टिमें अपनी दृष्टिसे तो संसार है और गुरुजीकी दृष्टिसे परमात्मा है। तो समन्वय क्या किया कि गुरुजी वाला परमात्मा हमारे देखनेवाले संसारमें व्यापक होगा, और संसार व्याप्य होगा। व्याप्य-व्यापक-भाव जो है वह अध्यारोप सिद्ध है और जब इसका अपवाद कर दिया जाता है, तब मूल वस्तुमें व्याप्य व्यापकता मिथ्या हो जाता है। तेजोबिन्दु उपनिषद्में यह वचन आया है 'व्याप्य-व्यापकता मिथ्या'।

इस जगत्के साथ परमात्माका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। अरे यह तो स्वरूप ही है। इसमें सम्बन्धकी क्या कल्पना, केवल परमात्मा है। ***ब्रह्मैवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।*** **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।** परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए **सर्वतः पाणिपादं तत्**-इसका अध्यारोप करके और इसमें व्यापक रूपसे परमात्मा हैं-यह निश्चयकर **सर्वमावृत्य तिष्ठति।** असलमें सर्व नहीं है वही है। ***वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।*** वेद-मन्त्र कहता है-जैसे ठूंठ अपनी जगहपर खड़ा रहता है, उसे कोई चोर समझता है, कोई भूत समझता है, कोई सिपाही समझता है। न वह चोर है, न भूत है, न सिपाही है। महात्मा बोले—बाबा जिसको तू भूत, चोर, सिपाही समझता है वह तो ठूंठ है, स्थाणु है। तो भलेमानुसने समझा कि ठूँठपर भूत बैठा हुआ है, ठूँठके साथ चोर चिपका हुआ है, बन्दूक लेकर छिपा हुआ है। बोले—अरे ना-ना, तू ठूँठको ही चोर, सिपाही, भूत समझ रहा है! तो भ्रान्ति सिद्ध जो व्यापकता होती है वहाँ व्याप्य व्यापक भाव वास्तवमें सत्य नहीं होता वस्तुको समझानेके लिए अध्यारोपित होता है। तो **सर्वमावृत्य तिष्ठति** सबको ढक करके अर्थात् बाधित करके अर्थात् **सर्वं वाधित्वा तिष्ठति।** यह परमात्मा बैठा है।

कानपुरमें जे० के० वालोंने एक बहुत बढ़िया मन्दिर बनवाया। हमने

भारतवर्षकी बहुत यात्रा की है; उस ढंगका, उस शैलीका दूसरा मंदिर देखनेमें नहीं आता है; करोड़ो रुपया खर्च किया है, और तरह-तरहके रंग-रंगके पत्थर काटकर पोशाक बनायी हैं। आँख-नाककी सारी जगह बीचमें बनी हुई हैं। श्रीकृष्णकी मूर्ति बहुत बढ़िया है। एक दिन उन्होंने कहा कि स्वामीजी! कोई ऐसा श्लोक बता दीजिये कि हम इसके दरवाजेपर ऊपर लिखवा दें, मैं सो गया। हमको सपनेमें श्लोक बहुत फुरते हैं, फरा-फर संस्कृतके श्लोक! ऐसे जाग्रत्में लिखना हो तो देर लगती है—अनुष्टुप् छन्द लिखना हो तो एक मिनटमें एक श्लोक बने और बड़े छन्द हों तो पाँच-पाँच मिनट भी लग जायें, लेकिन सपनेमें बिलकुल फराफर बिना एक मिनटकी देरीके श्लोक निकलते हैं; सपनेमें न जाने कौन बनाता है। तो जब मैं सो गया तो सपनेमें तो एक श्लोक आया इस श्लोककी भाषा दो हजार वर्ष पुरानी है—माने श्रुतिमें जैसी भाषा और जो छन्द होते हैं ऐसा ही श्लोक है। उस मन्दिरमें वह श्लोक लिखा है। श्लोक यह है—

आयान्तु सर्वे पुत्राः ये पृथिव्यां पश्यन्तु देवं अभितो भ्राजमानम्।
अमृतं ज्योतिर्मयद् दिवो दीप्तं तिष्ठत् तदस्मिन्दहरेऽसंवृतं संचकास्ति॥

'जो पृथिवीके पुत्र हैं वे यहाँ आवें और इस अत्यन्त प्रकाशमान देवताका दर्शन करें।' जो स्वर्ण ज्योतिका अतिक्रमण करके, अन्तरंग बहिंरगका अतिक्रमण करके जो अमृत ज्योति स्थिर है, अमर है, अपना स्वरूप है, वह इस दहरमें, इस हृदय मन्दिरमें बिना किसी आवरणके प्रकाशित हो रही है।'

सर्वमावृत्य तिष्ठति। *'ष्ठा' गति निवृत्तौ*-तिष्ठतिका अर्थ होता है, जिसमें किसी प्रकारका चलन-हलन न हो। 'कल् गतौ' धातु भी है, कलति भी होता है संस्कृतमें। जो अपनी जगहसे बिलकुल चले ही नहीं उसको बोलते हैं तिष्ठति। परमात्मा यह तिष्ठति-अर्थात् समाधिमें प्रवेश नहीं करता और विक्षेपसे भागता नहीं; यह अन्तर्देशमें प्रवेश नहीं करता और बर्हिदेशसे भागता नहीं। सर्वम् माने बहिः अन्तः। बहिरन्तर्प्रकाशमानं सर्वम्। परोक्ष-अपरोक्षतया भासमानं सर्वम्—परोक्ष और अपरोक्षके रूपमें भासमान सर्वम्; इदन्तया अहन्तया भासमानं सर्वम्; कार्य कारणतया भासमानं सर्वम्-कार्य-कारणके रूपमें, बाहर और अन्तरके रूपमें भासमान सर्वम्-कार्य और कारणके रूपमें बाहर और अन्तरके रूपमें इदन्ता और अहन्ताके रूपमें आत्मा और

अनात्माके रूपमें सर्वं आवृत्य तिष्ठति। वल्लभ सम्प्रदायके आचार्य इस श्लोकका अर्थ यह निकालते हैं कि परमात्मा साकार है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सन्नासदुच्यते

ब्रह्मका निरूपण प्रारम्भ किया, न उसको सत् कह सकते न असत्। तो वह साकार है कि निराकार? श्रीकृष्णने कहा बिलकुल साकार है। कैसे? कि—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः माने सर्वेषु सूत्रेषु—सब सूत्रोंमें जिनका पाणि है और जिनका पाद है। उन्हींका हाथ है और उन्हींका पाँव है। सबकी आँख उन्हींकी आँख है, सबका सिर उन्हींका सिर है, सबका मुख उन्हींका मुख है, सबकी श्रुति उन्हींकी श्रुति है। और **सर्वं वंशं आवृत्य तिष्ठति**-सम्पूर्ण वंशको आवृत करके वही स्थित है! लेकिन जैसे वल्लभ आचार्यका वंश है ना, वैसे ही नारायणका वंश है। सम्पूर्ण नारायणका वंश है, सम्पूर्ण ब्रह्माका वंश है, नहीं-नहीं मायाके द्वारा जो ईश्वर प्रकट करता है, वह सम्पूर्ण ईश्वरका वंश है; ईश्वरके वंशमें ईश्वर व्याप्त है।

बोले—भाई ईश्वरमें यह वंशी वंश कहाँ से? तो बोले-यही तो व्याप्य व्यापकता है, यही तो इसकी महिमा है, माने एक को यदि आप समझ लो ना, यदि आप अपने आचार्यको भावसे ज्यों-का-त्यों परमेश्वरका रूप समझ लो, तो आप भावसे श्रीकृष्णको भी परमेश्वर समझ सकते हो और तब भावसे सम्पूर्ण जगत्के मूलको भी परमेश्वर समझ सकते हो। और यदि विवकके द्वारा आप अपनेको आत्मा, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परमात्माके रूपमें समझ लो, तब भी सबको आप परमात्मा समझ सकते हो। तो आओ अब निषेधके द्वारा, जरा अपवादके द्वारा यह परमात्मा कैसे हैं, इसकी चर्चा करें।

ज्ञेय ब्रह्म-३. परस्परविरुद्ध धर्माधिष्ठानत्व

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

संगति-बारहवें श्लोकमें जिस निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण किया कि वह सत् अथवा असत्, किसी भी शब्दके द्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता, उसीका सरलतासे प्रत्यक्ष करानेके लिए तेरहवें श्लोकमें उसमें पाणिपाद आदि कर्मेन्द्रियोंका, अक्षि, श्रुति आदि ज्ञानेन्द्रियोंका और शिर-मुख आदि अंगोंका अध्यारोप करके यह बताया कि सृष्टिमें सर्व विशेषोंके और विशेष्योंके रूपमें वही ब्रह्म विराजमान है। अब चौदहवें श्लोकमें उस अध्यारोपका अपवाद करते हैं और पुन: निर्विशेष, निर्धर्मक, एवं परस्पर विरुद्ध धर्माधिष्ठानके रूपमें ब्रह्म तत्त्वका निरूपण करते हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४॥

अर्थ:—क्या विरोधाभास है कि इस ब्रह्मतत्त्वमें कोई भी इन्द्रिय नहीं है परन्तु इसीमें सर्व इन्द्रियाँ, प्राण, मन और गुणोंका आभास हो रहा है। सर्वको धारण करता हुआ भी सबसे असक्त है तथा स्वयं निर्गुण होता हुआ समस्त गुणोंका भोक्ता भी यही है। अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका आश्रय अथवा परस्पर-विरुद्ध धर्माधिष्ठान यही है।

परमात्माका जो स्वरूप इस श्लोकमें बताया गया वह अद्‌भुत है। ऐसा परमात्मा आपको कहीं परलोकमें जानेपर मिलनेवाला नहीं है, यहीं मिलेगा। आँख बन्द करनेपर कोई दूसरा मिलता हो और खुली आँखसे कोई दूसरा मिलता हो—ऐसा नहीं है। हमारे सिद्धान्तमें खुदा और शैतान दो नहीं हैं एक ही वस्तु पापीको शैतान और पुण्यात्माको खुदा दिखती है। और जो पाप और पुण्य दोनोंसे वर्जित है उसको अपनी आत्मा दिखती है। वस्तु एक ही है। द्वैतका नामो-निशाँ नहीं है। व्यवहारमें जो इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियवान है वही परमार्थमें ब्रह्म है; जब उन इन्द्रियों और इन्द्रियवानोंका उनके अधिष्ठान और साक्षीमें निषेध कर दिया जाता है। इसी प्रकार जो सर्वभृत् है परमार्थतः वही सर्वसे असक्त है और व्यवहारमें जो गुणोंका भोक्ता है वही परमार्थतः निर्गुण सिद्ध होता है।

आओ, अद्वैतकी इस भूमिको हम इसी अध्यायके क्रमसे समझें।

आप देखें कि इस अध्यायके प्रारम्भमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके निरूपणकी प्रतिज्ञा की है। क्षेत्र माने खेत और क्षेत्रज्ञ माने खेतको जाननेवाला। इस संसारको, प्रपञ्चको खेत बोलते हैं। क्योंकि इसमें जैसा बीज बोओगे, वैसा काटोगे। धर्मका, अधर्मका बीज बोते हैं और उसका सुख-दुःख फल काटते हैं। अतः धर्माधर्म रूप बीजका सुख-दुःख फल देनेवाला होनेके कारण इस प्रपञ्चको क्षेत्र बोलते हैं। क्षेत्रमें आपने देखा कि वहाँ बिलकुल समष्टि क्षेत्रका वर्णन है। जहाँ प्रारम्भमें तो कहा कि **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**

यह शरीर क्षेत्र है, परन्तु जब क्षेत्रका निरूपण करना हुआ तो बोले—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

माने व्यष्टि, समष्टि दोनों क्षेत्र हैं। व्यष्टि माने छोटा क्षेत्र और समष्टि माने बड़ा क्षेत्र। अष्टि माने संस्कृतमें बीज होता है: *अस्यते क्षिप्यते अंकुरः अन्याः इति अष्टिः।* अष्टि माने जो अंकुरको बाहर फेंकता है—अर्थात् बीज। और विशेष अष्टि=व्यष्टि जैसे आमका बीज, अंगूरका बीज, पशु शरीरका बीज, मनुष्य शरीरका बीज—यह व्यष्टि हुआ। और संघीभूत जो अष्टि है, जिसमें सब बीज मिले हुए हैं, उसको समष्टि बोलते हैं। तो समष्टि और व्यष्टिका उदाहरण? जैसे एक मनुष्य व्यष्टि और सब मनुष्य समष्टि; और एक गाय व्यष्टि और सारी गाय समष्टि। लेकिन ये समष्टियाँ तो पृथक्-पृथक्

जाति हो गयीं—मनुष्यकी जाति अलग, गायकी जाति अलग, भैंसकी जाति अलग, घोड़ेकी जाति अलग। तो यह नहीं-जाति और व्यक्ति नहीं। व्यक्ति माने विशेष अभिव्यक्ति। गोत्व एक जाति है और उसकी विशेष अभिव्यक्ति एक गाय व्यक्ति है। और बहुत-सी गायोंको मिलाकरके, उन गायोंमें जो एकता है, जो नित्य है, एक है, अनुगत है उसको जाति बोलते हैं। तो अब गायका बीज, भैंसका बीज, घोड़ेका बीज, मच्छरका बीज, कीड़ेका बीज, मकोड़ेका बीज, मनुष्यका बीज, देवताका बीज, दानवका बीज—सब बीजोंकी जो अव्यक्त दशा है, जहाँ ये बीज अलग-अलग नहीं होते, उसको समष्टि बोलते हैं।

तो यह व्यष्टि बीज और समष्टि बीज दो प्रकारका होता है। जैसे व्यष्टियोंकी जाति हो गयी ना, वैसे देश समष्टि और द्रव्य समष्टि होगी, और एक काल समष्टि भी होती है-सृष्टिसे लेकर प्रलय तक। जिसमें क्षण, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, मन्वन्तर, कल्प हैं—ये सब काल समष्टि हैं। तो काल समष्टि भी क्षेत्र है और पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-यह जो देश समष्टि है, वह भी क्षेत्र है। फिर देखो, इस मकानमें ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण है, फिर धरतीपर पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, फिर सौरमण्डलमें पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण है; तो देशमें भी व्यष्टिपना और समष्टिपना होता है, और कालमें भी व्यष्टिपना और समष्टिपना होता है, लेकिन ये दोनों-व्यष्टि-समष्टिपना, केवल द्रव्यकी उपाधिसे ही मालूम पड़ते हैं। यदि वस्तु होवे तो व्यष्टि-वस्तुमें व्यष्टि-देश और व्यष्टि-काल, और समष्टि-वस्तुमें समष्टि-देश और समष्टि काल; बिना वस्तुकी उपाधिके देश और कालका ज्ञान नहीं होता है।

अब एक वेदान्तका सीधा प्रश्न आपके सामने रखते हैं। क्या आपको यह मालूम पड़ता है यह पृथिवी मैंने बनायी है? यह समुद्र मैंने बनाया है? ये सूर्य चन्द्रमा मैंने बनाये हैं? यह मुझे मेरी आँखसे, नाकसे, कानसे—मेरी इन्द्रियोंसे, मेरे अन्त:करणसे इनके जो गुण भासते हैं, उनसे इनके आश्रयभूत द्रव्यका जो हम अनुमान करते हैं, यह बात दूसरी है—इनका मालूम पड़ना हमारी इन्द्रियोंसे, हमारे अन्त:करणसे या हमसे होता है—पर इनका मालूम पड़ना एक बात है और इनका होना दूसरी बात है। यह धरती हमको मालूम पड़ती है और हमारी इन्द्रियाँ न हों, मन न हो, हमारी जाग्रत्-स्वप्नावस्था न

हो तो यह मालूम नहीं पड़ेगी; जाग्रत्में भी मालूम पड़ेगी, स्वप्नमें भी मालूम पड़ेगी। परन्तु क्या आपको यह लगता है कि सचमुच हमने अपने मनसे ही यह धरती बनायी है ? यह धरती, जल, अग्नि, वायु, आकाश, देश-समष्टि, काल-समष्टि, द्रव्य-समष्टि और अव्याकृत (जिसमें देशकाल वस्तुका भेद नहीं है, जिसमें विशेष आकृति किसीकी नहीं है, वह अव्याकृत अज्ञान)—इन सबको मैंने बनाया है—क्या ऐसा आपको लगता है ? अगर नहीं लगता है तो आप विचारसे भागनेकी कोशिश मत कीजिये। क्षेत्रज्ञको दो तरहका मानकर विचार कीजिये—एक व्यष्टिका क्षेत्रज्ञ और एक समष्टिका क्षेत्रज्ञ। यदि आपको ऐसा मालूम पड़ता हो कि हाँ—छाती ठोंककर बोल सको कि मैंने यह धरती बनायी है, तो हे भगवान्! तुमने यह देह तो बनाया नहीं, धरती कहाँसे बनायी ? और जब छाती ठोंककर बोलोगे कि मैंने बनायी है तो अपनेको तुम व्यष्टि मानकर समष्टिका निर्माता मानोगे। परन्तु कोई भी देहधारी मनुष्य समष्टिका निर्माता नहीं हो सकता। जबतक अपनेको देहसे घिरा हुआ, देहमें परिच्छिन्न मानते हो—इसी हाथको अपना हाथ मानते हो इसी पाँवको अपना पाँव मानते हो, इसी जीभ, आँख, नाक, कान त्वचाको अपनी त्वचा मानते हो, इसी एक मनकी नींदको अपनी नींद मानते हो, यदि नहीं मानते तो दुनियामें सबको नींद आती है, फिर आपको शान्ति क्यों नहीं मिलती है ? एक मनके काम, क्रोध, लोभको अपना काम, क्रोध, लोभ मानते हो, शरीरमें होनेवाली समाधिको अपनी समाधि मानते हो और हजारों योगी जो हजारों बरससे समाधि लगाये बैठे हैं उनकी समाधिको अपनी समाधि नहीं मानते तब तक एक देहमें जो अहं भाव है उसको पकड़ करके तुम पृथिवीको बनानेवाले अपनेको नहीं मान सकते। यदि कहो कि हम अपनेको बनानेवाले नहीं मानते, हम तो इतना ही मानते हैं कि हमको भान होता है; तो जिस वस्तुका भान होता है, उस वस्तुका अस्तित्व भी तो हो सकता है, उसपर विचार क्यों नहीं करते ?

क्षेत्रज्ञका विचार करनेके लिए साधन सम्पत्ति चाहिए। इसीलिए **अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्** इत्यादि यह साधन सम्पत्ति बतायी। और यह जो क्षेत्रज्ञका विचार है, आप इन श्लोकोंमें देख रहे हैं—**सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्**—यह समष्टि क्षेत्रज्ञ है। यदि पाँच-

पाँच फुटके भीतर रहनेवाले लोग अपने देहको मैं माननेवाले लोग ऐसे सोचने लगें कि **सर्वतः पाणिपादं तत्** मैं हूँ, **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्** मैं हूँ,**सर्वतः श्रुतिमल्लोके** मैं हूँ, **सर्वमावृत्य तिष्ठति** मैं हूँ, तो वे केवल ख्याली पुलाव पकायेंगे, उनकी साधना बिलकुल मनोराज्यपर अवलम्बित हो जायेगी।

अरे भाई! जरा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ठीक-ठीक विवेक करो। इसके लिए दो प्रक्रिया हैं। या तो अपने शरीरके पंचभूतको-व्यष्टि पंचभूतको (जो इस शरीराकार परिणामको प्राप्त हुआ है) समष्टिसे एक करो और या तो व्यष्टिका विचार अलग करो और समष्टिका विचार अलग करो—ये दो प्राणाली वेदान्तकी प्रक्रियाकी है। या तो पहले ही मिट्टी, पानी, आग, हवाकी जितनी तौल शरीरके भीतर आयी हुई है, यह बाहरके पंचभूतसे न्यारी नहीं है, न शरीरकी मिट्टी न्यारी है,न पानी न्यारा है, न अग्नि न्यारा है, न वायु न्यारा है, न आकाश न्यारा है। तो या तो पहले अपने इस शरीर रूप अहं पदार्थके आस्पदको पंचभूतमें मिलाओ, यह एक प्रक्रिया हुई और या तो पंचकोशका विवेक शरीरके भीतर करो और पंचभूतका विवेक बाहर करो, यह दूसरी प्रक्रिया है।

यदि पंचभूतका विवेक बाहर करनेमें डर लगता है तो विवेक शक्ति अभी और चाहिए। इसकी दो पद्धति हैं। या तो पहले शरीरके पंचभूतको, व्यष्टि पंचभूतको समष्टि पंचभूतमें मिला दो और तुम यह अनुभव करो कि सम्पूर्ण पंचभूत मेरी दृष्टिमात्र है, स्वप्नवत्—मैं पृथिवीसे बड़ा हूँ, पृथिवीसे बड़ा मेरा मन है, जलसे बड़ा मेरा मन है, अग्निसे बड़ा मेरा मन है, वायुसे बड़ा मेरा मन है और आकाशसे बड़ा मेरा मन है। लेकिन मैं यह देह और इसके भीतर मन मेरा—यह बात नहीं चलेगी।

अच्छा जब तुम कहते हो कि मन मेरा, तो तुम क्या ऐसा सोचते हो कि दुनियामें जो भी मन है सो सब मेरा है? अच्छा जब एक अन्तःकरणको ही तुम कहते हो कि यह अन्तःकरण मेरा, यह मन मेरा, यह बुद्धि मेरी, यह चित्त मेरा, यह अहंकार मेरा, तो मेरा वाला मैं कौन? तो यह मत भूल जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, और अन्तःकरणको मेरा बोल रहा हूँ। इसको भूलकर यदि मनको मेरा बोलोगे, तो यह बिलकुल झूठा स्वाद है, स्वप्न है; क्योंकि मन मेरा और मैं मनवाला—जब यह तुम बोलते हो तो देहको ही मैं बोलते हो।

तुम चार्वाक मतके अनुसार ऐसा बोल रहे हो कि चार भूतके विकारसे बना हुआ यह देह मैं हूँ और इस देहमें जो मन है वह मेरा है। तुम्हारा मैं देह है और इस देहको मैं करके तुम मनको मेरा बोल रहे हो। तो जैसे मार्क्सवादी, डारविनवादी या चार्वाक सिद्धान्तवादी कहते हैं कि यह शरीर मैं है और इसमें एक मनीराम पैदा हो गये हैं और वह मेरे हैं, और वही 'यह पत्नी है, यह बहन है, यह भाई है, यह धरती है, यह सूर्य है, यह आकाश है', इसको देख रहे हैं; वैसी ही तुम अपनेको स्थूल देह मानकर सूक्ष्म मनको मेरा समझ रहे हो।

तो या तो इस भूतमें-से मनको हटाओ, और चैतन्यमें मनको स्थापित करो और यदि देहमें मैं को रखना है तो इसे चारों भूतमें मिलाओ और देखो इसका साक्षी कौन है। तो दो पद्धति हैं। देखो यह मैं जैसे बच्चोंके लिए वेदान्त होता है, वह वेदान्त आपको सुना रहा हूँ, यह वेदान्तका बहुत गूढ़ सिद्धान्त नहीं है। लेकिन जब कोई बच्चोंकी बातमें ही अटक जाये, मनोराज्य ही करने लगे, तब उसको क्या करना चाहिए? वह मनोराज्य करे कि धरती मेरे मनमें भास रही है, मेरा स्वप्न है। ठीक है तुम्हारे मनमें भासती है, यह तो ठीक है लेकिन चूँकि तुम देह हो, चूँकि तुम परिच्छिन्न हो, तुम्हारा मैं परिच्छिन्न है, इसलिए तुम एक मनमें, एक परिच्छिन्न मनमें जो धरती भास रही है, उसीकी कल्पना कर रहे हो, सचमुच धरती वस्तुकी कल्पना नहीं कर रहे हो।

यह जैसे मैं हाथ मोड़ता हूँ, हाथ उठाता हूँ; यह जो उठनेवाला वजनदार हाथ है, इसको अन्नमय कोश बोलते हैं। ऐसे ही उठनेवाला पाँव, हिलनेवाला पेट और लोहारकी धोंकनीकी तरह साँस लेनेवाला यह जो पंचभूतका विकार है, यह अन्नमय कोश है। मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश-इन पाँचोंसे बना हुआ, इन पाँचोंके एक हिस्सेमें कल्पित यह शरीर है। इन पाँचोंको छोड़करके इस शरीरमें और कुछ नहीं है।

पाँच कैसे हैं? तो यह यन्त्र-सिद्ध पंचत्व नहीं है। पाँच इंद्रियोंसे जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय ग्रहण करते हैं, उन पाँचों विषयोंके आश्रयरूप भूतोंको पाँच भूत मानते हैं! हमारे पाँच इन्द्रिय हैं इसलिए पाँच विषय मानते हैं। अगर हमारे पाँच इंद्रियाँ न होतीं, तो पाँच विषय न होते।

और पाँच विषय न होते तो भूत पाँच हैं—यह निश्चय भी नहीं होता। इसलिए इस देहरूप यन्त्रके द्वारा, ऐन्द्रियक यन्त्र द्वारा यह सिद्ध होता है कि पाँच भूत हैं।

तो यह जो अन्नमय कोश हैं—यह उठनेवाला और गिरनेवाला हाथ, और जैसे हड्डी, मांस, चाम इस हाथमें हैं वैसे सारे शरीरमें हैं; तो वह सारा अन्नमय शरीर पंचभूतका बना हुआ है।

हाथको उठाने और गिरानेकी जो शक्ति है, उसको प्राण बोलते हैं। इस शक्तिका नाम प्राणमय कोश है।

पर हाथ उठता-गिरता कैसे है? अपने आप तो उठता-गिरता नहीं है; जब हम उठाने-गिरानेका संकल्प करते हैं तब उठता-गिरता है। तो वह संकल्प मनोमय कोश है।

तो शरीरमें जो मैटर है वह अन्नमयकोश है। इसमें जो क्रियाशक्ति है वह प्राणमय कोश है और इसमें जो संकल्प शक्ति है वह मनोमय कोश है। और जो कर्त्तापनका अभिमान है—उठानेवाला, संकल्प करानेवाला, शक्तिवाला, वह कौन? कि उसको विज्ञानमय कोश कहते हैं?

बारम्बार उठाने और गिरानेमें, पूजा नमस्कार करनेमें और दंड-बैठक करनेमें, उठापटक करनेमें मजा किसको आता है? भोक्ता कौन? तो अन्नमय शरीरमें जो चैतन्य है, वही सुख-दु:खके हेतुभूत पाप-पुण्यके संस्कारोंकी बीजरूपता और फलात्मकताकी उपाधिसे भोक्ता होता है। इस भोक्ताको आनन्दमय कोशसे युक्त आनन्दमय पुरुष बोलते हैं। जो निरुपाधिक चैतन्य है वह शुद्ध साक्षी कूटस्थ आत्मा है।

आप तैत्तिरीय उपनिषद् पढ़ें, तब मालूम पड़ेगा कि कोश दूसरी चीज है और पुरुष दूसरी चीज है। जो चैतन्य इस पाँवसे लेकरके सिरतक साढ़े-तीन हाथके शरीरको, दो मनके शरीरको, सौ-पचास बरस रहनेवाले शरीरको मैं करके बैठा हुआ है, उस चैतन्यका नाम इस अन्नमयकोशमें अन्नमयपुरुष है। और जो चैतन्य उठाने-बैठानेकी क्रियाको अपनी क्रिया मान रहा है वह प्राणमय पुरुष है। जो चैतन्य अपनेको संकल्पका करनेवाला मान रहा है, मनके कामको अपनेमें आरोपित मान रहा है वह मनोमय पुरुष है। जो चैतन्य विज्ञानमयकोशमें बैठकर मान रहा है कि मैं कर्त्ता हूँ, वह विज्ञानमय

पुरुष हैं। यह चैतन्य ही अपनेको कर्त्ता मानता है। जब पत्ता हवासे उड़कर इधर-उधर जाता है, तो पत्तेमें कर्तृत्व नहीं होता है, परन्तु मनुष्य जब हाथ उठाता है, या यहाँ-से-वहाँ चलता है, तब उसमें कर्तृत्व होता है। पाँव चलता है और वह अपनेको चलनेवाला मानता है। हाथ करता है और वह अपनेको करनेवाला मानता है। वाणी बोलती है और वह अपनेको बोलनेवाला मानता है। यही चैतन्य जो आपका मैं है बैठकर पादसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको गन्ता, हस्तसे तादात्म्यापन्न होकरके अपनेको छोड़ने-पकड़नेवाला; जीभसे तादात्म्यापन्न हो करके अपनेको वक्ता, रसनासे तादात्म्यापन्न होकर रसयिता, ज्ञानेन्द्रियोंसे तादात्म्यापन्न होकरके अपनेको ज्ञाता, कर्मेन्द्रियोंसे तादात्म्यापन्न होकरके अपनेको कर्त्ता और मन तथा बुद्धिसे तादात्म्यापन्न होकरके अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानता है।

यह आपका मैं है तो शुद्ध, चैतन्य, ज्ञानमात्र, पर यह जो शरीरमें अटका हुआ है, उसके एक अटकनेकी परम्परा है—व्यष्टिमें भी और समष्टिमें भी। यह चैतन्य जो मिट्टीमें अटका हुआ है, वह सबके शरीर सहित, वातावरणमें पचास कोटि योजनमें जो पृथिवी भरी हुई है, उस पृथिवीसे तादात्म्यापन्न 'भूः-पुरुष' है। फिर जिस अन्तरिक्षमें पृथिवी रहती है, उसमें तादात्म्यापन्न 'भुवः-पुरुष' है और उस अन्तरिक्षके वातावरणसे विमुक्त विराजमान पुरुष 'स्वः पुरुष' है। वह अकार, उकार, मकारसे लक्षित विश्व, तैजस, प्राज्ञ पुरुष है।

जब आप समष्टिसे—समष्टि मिट्टी, समष्टि पानी, समष्टि आग, समष्टि वायु, समष्टि आकाश, इनसे—तादात्म्यापन्न जो पुरुष है, उसके बारेमें विवेक करो, तो जैसे शरीरके भीतर चैतन्य शरीरके पञ्चभूतसे न्यारा है, शरीरकी क्रियाशक्तिसे न्यारा है, शरीरके संकल्प शक्ति, विज्ञान शक्ति और आनन्द शक्तिसे न्यारा है, वैसे ही चैतन्य सारी सृष्टिमें मिट्टी, पानी, आग, वायु, आकाश, इनसे न्यारा है; इनसे तादात्म्यापन्न होकर तद्-तद् रूपोंमें भासता है, ऐसा विवेक करना चाहिए।

तो क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका हो गया—एक तो **इच्छा-द्वेष-सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतनाधृतिः** को धारण करनेवाला क्षेत्रज्ञ और एक **महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च** को धारण करनेवाला क्षेत्रज्ञ। इसमें क्षेत्रज्ञकी उपाधिका जब अपवाद करेंगे; अपवाद करना माने यह मिथ्या है—ऐसा समझना नहीं;

अपितु यह समझना कि इनसे मैं न्यारा हूँ और जैसे शरीरके पञ्चकोशसे मैं न्यारा हूँ, वैसे ही समष्टिके पञ्चभूतसे समष्टि क्षेत्रज्ञ न्यारा है। तब तत्त्वमस्यादि महावाक्य बताते हैं कि ये दोनों क्षेत्रज्ञ चैतन्य एक ही हैं—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**। गीतामें 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' बोलते हैं और छान्दोग्य श्रुतिमें ***तत्त्वमसि*** बोलते हैं। बृहदारण्यकमें अहं ब्रह्मास्मि बोलते हैं। ऐतरेयमें ***प्रज्ञानं ब्रह्म*** बोलते हैं। माण्डूक्यमें ***अयमात्मा ब्रह्म*** बोलते हैं। केवल क्षेत्रकी उपाधिसे विविक्त जो चैतन्य है, वह चैतन्य उपाधिके गुण-धर्मोंको न व्यष्टिके, न समष्टिके, कहीं भी, कभी भी, कोई धारण नहीं करता। व्यष्टि-समष्टिके गुण, उसके धर्म, उसकी अवस्था, उसके स्वभाव, उसके कर्म, उसके आकार, उसके नामको चैतन्य कहीं भी धारण नहीं करता। चैतन्य असंग रहता है। तो समष्टिमें जो असंग चैतन्य पहलेसे मौजूद है और व्यष्टिमें असंग चैतन्य जो पहलेसे मौजूद है, ये दो नहीं हैं, एक है, ऐसा तत्त्वमस्यादि महावाक्य बताते हैं। तो तुमने यदि अपनी चेतनताका विवेक कर लिया, पंचकोशसे चेतनको न्यारा कर लिया, तो सम्पूर्ण अध्यस्तोंके लिए अधिष्ठान रूप चेतन और स्वयं प्रकाश चेतन, यह एक ही है—यह बात महावाक्यसे मालूम पड़ जाती है। ***अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।***

जो अखण्ड सच्चिदानन्द है वह महावाक्यके द्वारा लक्षित होता है।

तो जबतक समष्टिमें चैतन्य न्यारा और व्यष्टिमें चैतन्य न्यारा, जैसे पेटमें आकाश न्यारा और इस मकानमें आकाश न्यारा, घड़ेके भीतर घिरी हुई पोल न्यारी और मकानमें घिरी हुई पोल न्यारी, ऐसा मालूम पड़ता है, तब तक पोल पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हुआ। पोल ऐसी चीज है कि न वह घड़ेमें घिरी है और न मकानमें घिरी है, वह तो अवकाश मात्र है। इसी प्रकार अवकाशका भी जो अधिष्ठान है, परिपूर्ण अधिष्ठानमें भानात्मक जो अवकाश है, उससे भी विलक्षण है वह ब्रह्म। और उस ब्रह्मसे पृथक् यह देहसे घिरा हुआ चैतन्य नहीं है। तो ब्रह्ममें देश भी भानात्मक, काल भी भानात्मक, द्रव्य भी भानात्मक। ब्रह्ममें बाहर या भीतर ऊपर या नीचे, पहले या पीछे, स्व या अन्य, सजातीय या विजातीय या स्वगत रूपसे प्रपञ्चका कोई अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म देशमें रखा हुआ नहीं है, कालकी नित्यतामें नित्य नहीं है। ब्रह्म कालके अधिष्ठान रूपसे नित्य है, इसलिए अविनाशी है; वह देशके अधिष्ठान

रूपसे पूर्ण है, इसलिए परिपूर्ण है; और द्रव्यके बीजात्मक सत्तात्मक रूपका अधिष्ठान है इसलिए वह सन्मात्र है। तो सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दात्मक और देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न और सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित ब्रह्म ही अपना आत्मा है। तब ब्रह्मसे अन्य जो भासमान है उसका बाध हो गया। वह भासमान होते हुए भी ब्रह्मसे अन्य नहीं है।

तो पहली प्रक्रिया है त्वं पदार्थके शोधनके लिए कोशापवाद; और तत् पदार्थके शोधनके लिए पंचभूतापवाद। कोशापवाद और भूतापवाद हो जानेपर अखण्ड चैतन्यकी एकता और इस अखण्ड चैतन्यके आत्मस्वरूप होनेके कारण अपनेसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है नहीं- यह ज्ञान। और, यदि पहले ही पहुँच गये कि हम तो सब हैं, तो जो युक्ति वेदान्त तुमको समझानेके लिए दे रहा था, उससे मुकर गये। पहले अध्यारोप करो, फिर अपवाद करो, तब अध्यारोप और अपवाद दोनोंका अधिष्ठान और दोनोंके साक्षी तुम हो। जहाँ साक्षी अलग और अधिष्ठान अलग होता है, वहाँ दो चीज होती है। जबतक ऐसा मालूम पड़ता है कि सर्पका अधिष्ठान रज्जु है और मैं साक्षी हूँ, माने रज्जुसे दस हाथ दूर खड़ा होके मैं देख रहा हूँ और रस्सी साँप दिख रही है, तब तक तुम द्रष्टा हुए और सर्प दृश्य हुआ; और बहुत करके किसीने बताया कि भई नहीं, सर्प नहीं, रज्जु है, तो बोले-रज्जुमें साँप लिपटा होगा, क्योंकि हमको तो साँप ही दिखता है। तो

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है, द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है।
जहाँ होय चेतन आधारा, तहाँ न द्रष्टा होवे न्यारा॥

(विचार-सागर)

दृश्यसे द्रष्टाको न्यारा बनानेकी जो युक्ति है, वह एक अपवादकी युक्ति है; और अध्यारोपका अपवाद करनेके बाद जो शेष वस्तु है वह अद्वय है, ब्रह्म है।

अब आओ आपको श्लोकका अर्थ सुनावें —

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

इसमें जो विरोध है उसको देखो, इसका वर्णन होता ही ऐसे है। नवें अध्यायमें भी ऐसा ही है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

नवें अध्यायमें एक ही श्रीकृष्ण, एक ही प्रयत्नमें दो बात बोलते हैं: '**मत्स्थानि सर्वभूतानि**'—ये सारे भूत मुझमें हैं, माने सबका अधिष्ठान मैं हूँ; और '**न च मत्स्थानि भूतानि**' मुझमें कोई भूत नहीं है। आजकलका कोई कुतार्किक हो महाराज तो जीभ पकड़ ले कि क्यों ऐसी बात बोलते हो? लेकिन समझो कि अज्ञानीकी दृष्टिसे सारे भूत भगवान्में हैं—भगवान् कारण होनेके कारण कार्यमें अनुस्यूत हैं; और जैसे घड़ा मिट्टीमें कल्पित है वैसे ही यह विश्व भगवान्में कल्पित है, अब **न च मत्स्थानि भूतानि।**

कार्य कारणमें कल्पित होता है। व्याप्य व्यापकमें कल्पित होता है। आधेय आधारमें कल्पित होता है। व्यष्टि समष्टिमें कल्पित होती है। व्यक्ति जातिमें कल्पित होती है। कालके अवयव महाकालमें कल्पित होते हैं। देशके पूर्व, पश्चिमादि अवयव दिक् तत्त्वमें कल्पित होते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि आदि द्रव्य पदार्थ सत्तामें कल्पित हैं। घटाकार पटाकार आदि जो ज्ञान है वे चित् तत्त्वमें कल्पित हैं। स्रक्, चन्दन, वनितादि विषय आनन्दमें कल्पित हैं। पूर्व, पश्चिमादि देशमें कल्पित हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान कालमें कल्पित हैं। कार्य और कारण सत्तामें कल्पित हैं। मैं और तुम चेतनमें कल्पित हैं। तो, **सर्वेन्द्रियगुणाभासं** कल्पित हैं—माने जिसमें कल्पित है, उससे भिन्न नहीं है। कल्पितका अर्थ यह नहीं कि हमने कल्पना की है। जैसे हमने शालग्राममें नारायणकी कल्पना की है वैसे हमने ब्रह्ममें जगत्की कल्पना नहीं की है; कल्पित है माने जिसमें कल्पित है उससे भिन्न नहीं है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं—अब देखो इन्द्रिय किसको कहते हैं? *इन्दयन्ति समर्थयन्ति शब्दादीन् विषयानिति इन्द्रियाणि*—जो शब्द आदि विषयोंको सत्तावाला करके दिखावें, उनको बोलते हैं इन्द्रिय। इन्द्रियोंमें बड़ा सामर्थ्य है। सचमुच ये इन्द्र हैं। क्या इन्द्र हैं? कि ये एक अभूत वस्तुको सत्ता करके दिखानेमें सामर्थ्यशील हैं। अच्छा, इन्द्रियोंमें दो विभाग—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। अब इनका गुण क्या है? तो आप देखो एक होता है विषय, एक होता है गुण, एक होता है इन्द्रिय, एक होता है उनका देवता और एक होता है उनका अभिमानी।

जैसे शब्द है विषय और श्रवण है कानका गुण। कानका यह गुण है कि वह शब्द सुने। तो एक हुआ शब्द, एक हुआ सुनना और एक हुआ कान। अब ऐसा हो सकता है कि शब्द होवे और कान न सुने। कभी मन दूसरी जगह हो तो सुनाई नहीं पड़ता। इसलिए शब्द होना और उसको सुनना, इसमें चार चीज हुईं— शब्द, कान, श्रवण-क्रिया और मनोयोग- शब्दका अभिमानी कौन? कि जो जो कानके द्वारा मनोयोगपूर्वक शब्द सुन रहा है, अर्थात् यही मैं जो सुन रहा है वही अभिमानी है। यह पाँचवीं चीज हो गयी। एक छठी चीज और है- श्रोत्रका देवता। श्रोत्रका देवता है दिक्। इसको ऐसे समझो कि शब्द जहाँ हो रहा है—बाहर-भीतर कहीं भी—वहाँसे दिशाके द्वारा श्रोत्र नाड़ीके साथ सम्बद्ध होता है, इसलिए दिशाको श्रोत्रका देवता बोलते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणकी कल्पनाका आधार दिक् है। यह जैसे आजकल बताते हैं ना, कि हवापर चढ़के शब्द आता है, लेकिन हवा चलती कहाँ है? बोले—आकाशमें चलती है। कि नहीं, आकाशसे तो हवा पैदा होती है और चलती दिशामें—पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, उत्तरसे दक्खिन ऊपरसे नीचे, दिशामें हवा चलती है। तो आकाशमें हवा पैदा होती है और दिशामें चलती है और शब्द बिना दिशाकी सहायताके कानमें नहीं पहुँच सकते।

अब आपको रूपकी बात बताते हैं यह फूलका सफेद रंग—यह रूप है। यह तुलसीके पत्तेका हरा रंग रूप है। यह गुलाबका गुलाबी रंग रूप है। यह रूप है इसको विषय बोलते हैं। फूल आँखका विषय नहीं है, इसका रंग आँखका विषय है। इसकी गन्ध नाकका विषय है, इसका स्वाद जिह्वाका विषय है और इसका स्पर्श त्वचाका विषय है। फूलमें एक ही विषय नहीं है।

अच्छा फिर देखो—आँखका देखना आँखका गुण है, देखना भी मनोयोगपूर्वक होता है, और देखनेमें मददगार कौन है? कि सूर्य देखे चाहे सूर्यके प्रकाशमें, चाहे चन्द्रमाके प्रकाशमें, चाहे दीपकके प्रकाशमें और चाहे बिजलीके प्रकाशमें;प्रकाश चाहिए, प्रकाश होनेपर ही रूप आँखमें घुसेगा, प्रकाश नहीं होगा तो रूप आँखमें नहीं घुसेगा। अच्छा तो क्या हुआ? रूप विषय है, देखना गुण है, नेत्र इन्द्रिय है, सूर्य इसका देवता है और मनके

सहयोगसे ही आँख देखती है, और मैं देखनेवाला ही इस रूप-दर्शनका अभिमानी है।

देखो, मन जब कानमें जाता है तो शब्द सुनता है, आँखमें आता है तो रूप देखता है, नाकमें आता है तो गन्ध सूँघता है; लेकिन नाक गन्ध ही सूँघती है, आँख रूप ही देखती है, कान शब्द ही सुनता है। इन्द्रियाँ एक-एक काम करती हैं और मन सबमें रहकर सबके साथ सहयोग देता है। यह मन और इन्द्रियका भेद हुआ।

अब मनमें और विषयमें क्या भेद हुआ? देखो इस गुलाबके फूलमें क्या-क्या है? गन्ध है, रस है, रूप है और स्पर्श है। है तो शब्द भी, पर सुनाई नहीं पड़ता। फूलमें तो पाँचों हैं और मनमें भी ये पाँचों आते हैं तो मनमें और विषयमें भेद यह हुआ कि गुलाबके फूलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचों पंचीकृत हैं अर्थात् स्थूल रूपसे इकट्ठे मिले हुए हैं और मनमें ये अपंचीकृत हैं। अपंचीकृत हैं माने मन जब स्पर्श ग्रहण करेगा तो शब्द ग्रहण नहीं करेगा, जब शब्द ग्रहण करेगा तो स्पर्श नहीं, जब स्पर्श ग्रहण करेगा तो रूप नहीं और जब रूप ग्रहण करेगा तो गन्ध नहीं, जब गन्ध ग्रहण करेगा तो रस नहीं।

युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्।

एक साथ सारे ज्ञान मनमें नहीं होते, अलग-अलग होते हैं। इसलिए पंचभूत तो मनमें भी है और विषयमें भी है, परन्तु विषयमें पंचीकृत है, पाँचों मिले हुए हैं, स्थूल हैं और मनमें ज्ञानात्मक अपंचीकृत हैं।

अच्छा मनमें और इन्द्रियोंमें क्या भेद है? बोले—इन्द्रियोंमें पंचभूत अपंचीकृत है और एक-एक इन्द्रियमें एक-एक हैं क्योंकि एक इन्द्रिय एक ही विषयको ग्रहण कर सकती है, दो विषयको ग्रहण नहीं कर सकती और मन पाँचोंको बारी-बारीसे ग्रहण कर सकता है इसलिए मनमें पाँचों भूत हैं और अपंचीकृत हैं। इस प्रकार इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनमें विशेषता हुई।

अब देखो, हम विषय नहीं हैं क्योंकि वे अनेक हैं हम एक हैं; वे जड़ हैं, दृश्य हैं और हम चेतन हैं, द्रष्टा हैं; वे हमारे लिए हैं, हम उनके लिए नहीं हैं क्योंकि उनके बिना भी हम रहते हैं। हम इन इन्द्रियोंके गोलक भी नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियों के गोलक अनेक हैं, जड़ हैं और दृश्य हैं। हम इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रिय तो हमारे करण हैं, बढ़ईके लिए जैसे उसका बसूला

होता है उसी प्रकार। हम इन्द्रियोंके गुण-सुनना, देखना आदि भी नहीं हैं क्योंकि वे सब हमारे द्वारा और हमारे लिए होती हैं। हम इन्द्रियोंके देवता भी नहीं हैं क्योंकि वे अनेक हैं।

अच्छा हम मन भी नहीं हैं, क्योंकि मनमें कभी कुछ आता है, कभी कुछ आता है और एक मैं ही उसको देखता हूँ। अच्छा तब मैं बुद्धि हूँ? बोले नहीं, बुद्धिके लिए भी ऐसे ही विषय हैं। मनमें मन्तव्य विषय है। मन उसका इन्द्रिय है, करण है। उसमें चन्द्रमा देवता है। बुद्धिमें बौद्ध विषय हैं, बुद्धि उनका इन्द्रिय है, करण है। बुद्धिका देवता सूर्य है। चन्द्रमा देवताका अर्थ आप लोग न समझते हों तो फिरसे बता देते हैं। अन्नसे मन बनता है और चन्द्रमाकी किरणोंसे जो अमृत बरसता है वही अन्नमें आता है। चन्द्रमामें आह्लादक प्रकाश है, और मनमें भी प्यारा प्रकाश है तो चन्द्रमासे अभिवृष्ट जो अमृत है वह अन्नमें जाता है और अन्नके द्वारा ही मनका जीवन होता है। इसलिए मनका देवता चन्द्रमा है।

यह प्रक्रियाकी बात आपको सुना रहे हैं; वैसे हम बहुत कम इनकी चर्चा करते हैं। तो देखो अब क्या हुआ कि रूपको देखना, आँखका गोलक, आँख इन्द्रिय, सूर्य देवता और मनका सहयोग और अभिमानी मैं उसमें मैं-के बिना कुछ नहीं हो सकता है। इन सबसे न्यारे रह करके मैं इनके द्वारा रूपको देखता हूँ। तो,—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

सब इन्द्रिय और सब इन्द्रियोंके गुण जिसके द्वारा आभासित होते हैं वह स्वयं प्रकाश आत्म चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ है। यह व्यष्टि क्षेत्रज्ञ हुआ है। अब समष्टिको इसीमें देखो—

सर्वेषां प्राणिनां यानि इन्द्रियाणि ये च तेषां गुणाः तान् आभासयति इति सर्वेन्द्रियगुणाभासं—सभी प्राणियोंकी जो इन्द्रियाँ हैं और उन इन्द्रियोंके जो गुण हैं; उनके विषय हैं, उनके देवता हैं, उनके गोलक हैं, उनमें मन है, उन सबको जो आभासित करनेवाला है, वह सर्वेन्द्रियगुणाभास है, अर्थात् समष्टि क्षेत्रज्ञ ईश्वर।

एक शरीरको आभासित करनेवाला क्षेत्रज्ञ जीव है और सर्व क्षेत्रोंको आभासित करनेवाला ईश्वर है; और क्षेत्रसे न्यारा करनेपर यह (जीव) भी

स्वयं प्रकाश शुद्ध चैतन्य और वह (ईश्वर) भी स्वयं प्रकाश शुद्ध चैतन्य; और महावाक्य कहता है दोनों दो नहीं, एक हैं।

जीवसे अन्य होनेपर तो ईश्वर चैतन्य ही नहीं रहेगा, दृश्य हो जायेगा, जड़ हो जायेगा; और ईश्वरसे भिन्न रहनेपर जीव परिच्छिन्न, नन्हा-मुन्ना-सा हो जायेगा। तो जीव कटा-पिटा परिच्छिन्न न होवे, इस दृष्टिकोणसे और हम मर न जावें इसलिए, और वह ईश्वर हमसे अलग होके हमारे विरहके दुःखमें कहीं बेहोश न हो जाये, जड़ न हो जाये इसके लिए, महावाक्य बताता है कि दोनों एक होके जिन्दा रहो, अलग रहके जिन्दा नहीं रह सकते, दोनों एक हो ही!

सर्वेन्द्रिय-गुणाभासंसे सारे ही प्रपञ्चका अध्यारोप करके ब्रह्मको बताया—बुद्धि और बोधव्य। यहाँ बुद्धिमें भी बोध है। 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्'में एक व्यक्तिकी सब कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि और संसारके सब व्यक्तियोंकी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि; और इनकी अंकुरावस्था और इनकी बीजावस्था; इन सबका जो आभासक है, उस चेतनको बोलते हैं 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं'। इनसे पृथक् करके उस चेतनका विवेक कर लो।

बोले—फिर तो चेतनमें इन्द्रियवत्व हुआ, चेतन इन्द्रियवाला हुआ, माने सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त हुआ चेतन ! तो बोले—नहीं, **सर्वेन्द्रिय विवर्जितं**—वह असंग, उदासीन, कूटस्थ है। 'सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्'का अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, उनके गुण, उनके विषय, उनके धर्म, उनकी अवस्था उनके स्वभाव, उनके देवता, उनके सहयोगी मन और उसका अभिमानी और उनसे मजा लेनेवाला भोक्ता, सबसे विलक्षण वह चैतन्य है। **सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्।** उसमें यह सब झगड़ा है ही नहीं।

परिच्छिन्न दृश्य होता है। कालमें परिच्छिन्न—एक मिनटकी कोई चीज होवे तो दिखके मिट जाती है; और देशमें यदि कोई परिच्छिन्न वस्तु होवे तो थोड़ी दूरमें दिखती है; और वस्तुमें कोई परिच्छिन्न वस्तु होवे तो एक आकारमें एक गुणवाली दीखती है। लेकिन यह जो तुम हो वह न तो कोई गेहूँ के दानेके समान बीज हो और न तो तुम्हारी कोई लम्बाई-चौड़ाई है। लम्बाई-चौड़ाई दृश्य है और वह गेहूँका बीज भी दृश्य है। और न तो तुम्हारी कोई उम्र है। अपनेको उम्र-कालकी कल्पनासे अलग कर लो, अपनेको

स्थानकी कल्पनासे—लम्बाई-चौड़ाईसे अलग कर लो और अपनेको नाम-रूपसे अलग कर लो। ऐसे स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान साक्षी ब्रह्म तुम हो। इसमें न सर्व है न इन्द्रियाँ हैं, न इन्द्रियोंका विषय है। न उनकी अवस्था है, न गुण है, न धर्म है, न स्वभाव है:

सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।

भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं कि **सर्वतः पाणिपादं तत्-सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**को सुनकर यह ख्याल होता है कि उस ज्ञेय वस्तुमें भी पाणिपाद है, अक्षि, शिर, मुख और श्रुतियाँ हैं। उपाधिभूत जो पाणिपाद आदि इन्द्रियाँ हैं उनका अध्यारोप किया जानेके कारण कोई ऐसा समझ लेगा कि परमात्माके ही पाणिपादादि हैं, तो उसका निषेध करनेके लिए माने उस अध्यारोपका अपवाद करनेके लिए यह श्लोक प्रवृत्त हुआ—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

सब इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि और इनके द्वारा जितना भी श्रवण, दर्शन, अध्यवसाय, संकल्प आदि बनते हैं। असलमें अन्तःकरणसे ही बहिष्करणकी उपाधि बनती हैं। इन सबके साथ परमात्मा प्रकाशित होता है। यदि परमात्माका प्रकाश न हो तो बुद्धि निश्चय न करे। परमात्माका प्रकाश न हो, तो मन संकल्प न करे। परमात्माका प्रकाश न हो तो कान सुने नहीं, आँख देखे नहीं, नाक सूँघे नहीं, जीभ चखे नहीं, त्वचा छूए नहीं, पाँव चले नहीं, हाथ पकड़े नहीं। यदि परमात्माका प्रकाश भरपूर न हो, तो न इन इन्द्रियोंके विषय सत्तालाभ कर सकते हैं, न इन्द्रियाँ स्फुरित हो सकती हैं और न तो कुछ मालूम ही हो सकता है। इसलिए सम्पूर्ण विषयोंके रूपमें, इन्द्रियोंके रूपमें, अन्तःकरणोंके रूपमें एक परमात्मा ही व्यापृत न होनेपर भी व्यापृत-सा दिखायी पड़ रहा है।

ध्यायतीव लेलायतीव। (बृहदा० ४.३.७) वह मानो ध्यान कर रहा है, वह मानो चंचल हो रहा है। तो यह जो बृहदारण्यक श्रुति है वह 'इव' करके जो परमात्माका वर्णन करती है, उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो सब विषयोंवाला परमात्मा हो, पर विषयोंवाला नहीं है; इन्द्रियोंवाला परमात्मा हो, परन्तु इन्द्रियोंवाला नहीं है; मन-बुद्धिवाला परमात्मा हो, पर मन बुद्धिवाला नहीं है। सबके साथ रहकरके वह सबसे न्यारा है। बोले—भाई क्यों वह सब

इन्द्रियोंके काम करते रहनेपर भी स्वयं काम नहीं करता है? तो बोले— **सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्** उसमें कोई इन्द्रिय ही नहीं है।

आप देखते हैं कि जब जाग्रत् अवस्था होती है तब इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि सब काम करते हैं, और सब विषय होते हैं। जब स्वप्नावस्था होती है, तो एक नई दुनिया पैदा हो जाती है। सपनेमें जो पृथिवी होती है, वह यह पृथिवी नहीं होती है, यह जल नहीं होता है, यह अग्नि नहीं होती है, यह वायु नहीं। यह दृष्टान्त है। सपनेमें जो तूफान आता है, पेड़ टूटके गिरने लगते हैं और बसें उड़ने लगती हैं, परन्तु उसमें इस सृष्टि की हवा नहीं चलती है। वहाँ भी आग लगती है, वहाँ भी बाढ़ आती है, वहाँ भी मधुर संगीत सुनाई पड़ता है और तड़ातड़ भयंकर प्रलयकी आवाज होती है। वहाँ भी अपने रिश्तेदार नातेदार होते हैं, सगे सम्बन्धी होते हैं, दुश्मन होते हैं। और फिर स्वप्नावस्थाको भी छोड़ देते हैं, सुषुप्तिमें जाते हैं। सुषुप्तिमें कोई भी इन्द्रिय क्रियाशील नहीं रहती है, न बुद्धि, न मन, न इन्द्रियाँ और फिर भी अपना आत्मा तो रहता ही है, इन्द्रियोंके न रहनेसे अपना आत्मा न रहता हो-ऐसा तो है नहीं। हम तो सुषुप्तिके आर-पार होते हैं और सुषुप्ति बिलकुल बिन्दु सरीखी होती है। हम तो स्वप्नके आर-पार होते हैं और स्वप्न तो बिलकुल इन्द्रधनुषी रंग होता है। हम तो जाग्रत्के आर-पार होते हैं, पर यह जाग्रदवस्था तो नाटकका एक पर्दा होती है। जैसे नाटकके पर्दे पर कोई दृश्य दिखे वैसे जाग्रत दिख रहा है; जैसे आकाशमें इन्द्रधनुषी रंग दिखे वैसा स्वप्न दिख रहा है; जैसे एक जलका बिन्दु होवे, न उसमें वजन मालूम पड़े, न उसमें गति मालूम पड़े, न उसमें स्वाद मालूम पड़े, न उसमें रूप मालूम पड़े, न स्पर्श मालूम पड़े, एक फुहिया जैसी सुषुप्ति है; और आत्मा तो आर-पार करके सबको छेदे हुए है।

तो यह इन्द्रियोंका उत्थान और पतन, यह इन्द्रियोंका उदय और विलय यह इन्द्रियोंकी क्रियाशीलता और निष्क्रियता, ये हमारी इन्द्रियाँ ही देशको नापती हैं; ये हमारी इन्द्रियाँ (मन-बुद्धि) ही कालसे नापती हैं कि इतने बरस हो गये, देशको नापती हैं कि इतना मील लम्बा चौड़ा है; ये हमारी इन्द्रियाँ ही वस्तुओंको नापती हैं

— यह सब एक आत्मामें ही प्रतीतिका व्यापार हो रहा है। असलमें, एक ही आत्मवस्तु इन इन्द्रियोंके कारण अनेक रूप भास रही हैं!

एक सज्जन बोले कि हमारा जो मैं है, अहं है, वह तो अध्यस्त है और परब्रह्म परमात्मा अधिष्ठान है। आप ब्रह्मके बारेमें अगर ऐसा सोचते हैं कि हमारे मनसे जो इस समय मालूम पड़ रहा है सो ब्रह्म है, तो आप मनकी कल्पनामें ही ब्रह्मपनेका अध्यारोप कर रहे हैं। आप ब्रह्मके बारेमें अगर ऐसा सोचते हैं कि प्रत्यक्ष रूपसे ब्रह्म सृष्टिके रूपमें मुझको भास रहा है तो वह भी मनकी कल्पना है। तो जो ब्रह्म दीख रहा है वह कल्पित ब्रह्म है। और यदि ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म दीख तो नहीं रहा है, परन्तु हमारे अन्त:करणके पीछे हमारे अहंके पीछे, हमारी बुद्धिके पीछे एक परोक्ष ब्रह्म बैठा हुआ है- देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय विजातीय स्वगतभेदसे शून्य, परिपूर्ण अद्वय अखण्ड अविनाशी एक ब्रह्म हमारे पीछे बैठा हुआ है और मैं उसमें कल्पित हूँ। तो वह भी ब्रह्मकी कल्पना ही कर रहे हैं। वह ब्रह्म नहीं है जिसको आप अपने पीछे सोचते हैं और वह भी ब्रह्म नहीं है जिसको आप अपने आगे सोचते हैं। यह जो ब्रह्मको आगे सोचना है या ब्रह्मको पीछे सोचना है, यह सोच आपमें अध्यस्त है। असलमें सब अधिष्ठानोंके अधिष्ठान आप हैं, अधिष्ठानकी कल्पना करनेवाले भी आप हैं, और अध्यस्तसे सम्बद्ध जो अधिष्ठान है, वह अधिष्ठान भी आपकी कल्पना है। स्वयं आप ही हैं-आप अपनेको अधिष्ठान कह लो, अध्यस्त कह लो, उपाधि कह लो, उपहित कह लो, प्रपञ्च कह लो, स्वप्न कह लो जाग्रत् कह लो, आपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अपने आपेका नाम ब्रह्म है, अपने पीछे रहनेवालेका और अपने आगे रहनेवालेका नाम ब्रह्म नहीं है। और, ऐसे अपने आपेका नाम ब्रह्म है जिसमें आगे पीछे नहीं है।

तो ऐसी जो यह अद्वितीय ब्रह्म वस्तु है, वह आप हैं। आप डरना नहीं। आप स्वतन्त्र उज्ज्वलतम जीवन जैन-साधनाके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, तीर्थंकर हो सकते हो, यह बात भी बिलकुल सच्ची है। आप बौद्धोंके शून्य-विज्ञानके द्वारा परिच्छिन्न आत्माका उच्छेद करके 'शून्य' हो सकते हो—शून्याकार कल्पनामें स्वयं शून्य हो सकते हो, यह बात भी ठीक है। आप अपनेको चार्वाक सिद्धान्तके अनुसार देह मानकरके इतने जड़ हो सकते हो कि चार भूतोंमें मिल जाओ सब सिद्धान्त ठीक हैं—चार्वाक सिद्धान्त भी ठीक है, जैन सिद्धान्त भी ठीक है, बौद्ध सिद्धान्त भी ठीक है। हमारा किसीसे वैर-विरोध

नहीं है। यदि आप द्रष्टा होना चाहते हो तो योग-पद्धतिसे वृत्तियोंका निरोध करके आप उसके द्रष्टा हो जाओ। यदि आप निरोध नहीं करना चाहते हो तो सांख्यशास्त्रके द्वारा विवेक करके अपनेको द्रष्टा जान लो। यदि आप स्वर्गमें जाना चाहते हो तो पूर्वमीमांसाके अनुसार धर्म-कर्म करके स्वर्गमें चले जाओ। और गोलोक-वैकुण्ठमें जाना चाहते हो तो तत्-तत् लोकाधिपतिकी उपासना करके तत्-तदाकार वृत्ति प्राप्त करो और उस लोकमें जाओ। यह उपासकोंकी रीति है। परन्तु वेदान्तने जो एकके विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा की है और आत्मारूपसे जिस अद्वितीय ब्रह्म तत्त्वका जो निरूपण किया है, उसकी अर्थात् आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है, यदि यह अनुभूति, यह साक्षात्कार आप प्राप्त करना चाहते हो तो यह बिना वेदान्तके होनेवाला नहीं है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थका ज्ञान हुए बिना यह ऐक्य बोध प्राप्त नहीं हो सकता, किसी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए एक ही मार्ग है और वह मार्ग है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक करके क्षेत्रज्ञको ब्रह्मस्वरूप जानना। यह जो देहेन्द्रियादि रूप व्यष्टि क्षेत्र है और यह जो समष्टि क्षेत्र है पंचमहाभूतादि रूप उनमें एक ही अखण्ड चैतन्य परिपूर्ण है और उस अखण्ड चैतन्यमें सृष्टि बिलकुल नहीं है, न पैदा हुई, न है और न लय होगा-सृष्टि, स्थिति, प्रलय उसमें नहीं है सृष्टि केवल विवर्त मात्र है। इसीके लिए बताया—**सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**।

अब देखो यह मालूम पड़ता है कि आप आँखसे देखते हो, परन्तु आँखसे देखते नहीं हो। देखना तो आपका सहज स्वभाव है। यह आँख तो ऐसे ही है जैसे चश्मा लगा लिया जाय। जो जेठकी दुपहरीमें कड़ी धूप नहीं देख सकते वे अपनी आँखपर चश्मा लगाते हैं और उसको (धूपको) हरी, नीली या काली देखते हैं। ऐसे ही इस अद्वितीय ब्रह्मके दर्शनमें यह बाधक होकर ही ये इन्द्रियाँ उपस्थित हुई हैं। वे अन्यथा दर्शन करा रही हैं— है कुछ, और मन बता रहा है कुछ; है कुछ और इन्द्रियाँ बता रही हैं कुछ। पूर्णताका बोध करानेमें इनमेंसे कोई समर्थ नहीं है।

दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।

आप एक बार इन देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और अहं-पदवाच्यार्थ, इन सबसे अपनेको अलग कर दो। अहं-पद-वाच्यार्थ माने परिच्छिन्न संसारी कर्ता-भोक्ता जो अपना मैं मालूम पड़ता है, सो। इस अहं-पद-वाच्यार्थसे

अपनेको पृथक् कर लो—डण्डेसे नहीं, हथौड़ेसे नहीं, बसीलेसे नहीं-विवेक विज्ञानसे इनसे अपने आपको अलग कर लो। जो लोक परलोकमें आने जाने वाला संसारी है, वह परिच्छिन्न अहं बिन्दु है। देहेन्द्रियोंकी उपाधिसे जो अपनेको कर्त्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न मैं मान रहा है वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे न्यारा हूँ। मन-इन्द्रियोंके द्वारा जो देश, काल भासता है, वह मैं नहीं हूँ; जो इनके द्वारा वस्तुएँ भासती हैं वह मैं नहीं हूँ। सबसे अलग स्वप्रकाशरूपमें अपने आपका विवेक करो। लक्ष्यार्थका विवेक करो और देखो कि यह लक्ष्यार्थ देश-काल-वस्तुका, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदोंका, सबका अधिष्ठान है, सबका प्रकाशक है और अद्वितीय है।

वेदान्त निवृत्ति नहीं है, वेदान्त गुहा प्रवेश नहीं है। उपनिषद्में एक प्रश्न उठाया कि—

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः ?

हे भगवान् यह ब्रह्म किसमें रहता है? इसका उत्तर बड़े विचित्र ढंगसे दिया है—

स्वे महिम्नि यद्वा न महिम्नीति। (छां० ७.२४.२)

यह परब्रह्म परमात्मा अपनी महिमामें, अपनी बृहत्तामें, अपनी विशालतामें अपनी अद्वितीयतामें प्रतिष्ठित है। अथवा कहो कि अपनी महिमामें भी प्रतिष्ठित नहीं है क्योंकि अन्य ही अन्यमें प्रतिष्ठित होता है और ब्रह्म तो अद्वैत है। इसलिए यह प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठेय भावरूप भेदकी कल्पना इसमें क्यों करें?

जब ब्रह्मके सामने दूसरा कोई है ही नहीं तो वह व्यापक भी नहीं है; और ब्रह्मसे पीछे, ब्रह्मसे बड़ा, कोई नहीं है तो ब्रह्म किसीकी गोदमें भी नहीं है। यह आत्मा रूप ब्रह्म न किसीकी गोदमें है और न किसीको अपनी गोदमें लेता है। यह माँकी तरह प्रपञ्चको अपनी गोदमें बैठाता नहीं और बच्चेकी तरह किसी और की गोदमें बैठता नहीं, क्योंकि यह न किसीका बच्चा है, न किसीकी माँ है। न इससे कोई बड़ा है न इससे कोई छोटा है।

सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्—श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने इस प्रसंगकी व्याख्या ऐसे की है कि परमात्मा हृदयमें रह करके सब इन्द्रियोंसे समस्त विषयोंको देख रहा है—**सर्वेन्द्रियगुणैः आभासो**

यस्य तत् सर्वेन्द्रिय-गुणाभासम्। इन्द्रिय-गुणा इन्द्रिय-वृत्तयः इन्द्रिय वृत्तिभिरपि विषयान् ज्ञातुं समर्थ इत्यर्थः। और **सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्** माने बिना इन्द्रियोंके भी देख रहा है—**विना एव इन्द्रिय वृत्तिभिः स्वत एव सर्वं जानाति इत्यर्थः।** जैसे देखो जीव जाग्रत्‌में इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको देखता है और सुषुप्तिमें जब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तब विषयोंको नहीं देखता है। परन्तु परमात्माका ज्ञान ऐसा है कि ये इन्द्रियाँ रहें कि न रहें, देखना तो उसका सहज स्वभाव है। ये जितनी इन्द्रियाँ हैं, सब उसीकी रोशनीमें प्रकाशित होती हैं।

तमेव भान्तं अनुभाति सर्वम्। (मुण्डकोपनिषद्)

सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्—अब एक बात सुनाते हैं आपको। किसी भी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनके लिए दूरबीन या खुर्दबीनकी जरूरत कब पड़ती है? जब वह वस्तु इतनी सूक्ष्म हो कि हमारी आँखसे दीखती न हो, तब उसको देखनेके लिए हम खुर्दबीनका प्रयोग करते हैं - क्षुद्रवीक्षणयन्त्र। खुर्द माने छोटा-छोटा, जैसे खुदरा माल होता है वैसे और कोई चीज हमसे इतनी दूर हो कि हमारी आँखसे न दिखती हो तो दूरवीक्षण यन्त्रका, दूरबीनका प्रयोग करते हैं। अब आप सोचो कि परमात्मामें ऐसी कौन-सी सूक्ष्म वस्तु या दूर वस्तु है जिसको देखनेके लिए परमात्माको अपनी आँख पर खुर्दबीन या दूरबीन लगानी पड़े? उपकरणकी जरूरत तब पड़ती है जब करणसे काम नहीं चलता। जिस चीजको हम हाथसे नहीं तोड़ सकते उसको तोड़नेके लिए हथौड़ा मारते हैं; जिसको हम हाथसे नहीं काट सकते उसको काटनेके लिए आरी चलाते हैं; जिसको दाँतसे नहीं तोड़ सकते उसको तोड़नेके लिए सिल-लोढ़ेका प्रयोग करते हैं। अब आप यह देखो कि परमात्माके भीतर, बीचमें यह संसार नहीं है कि परमात्मा तो चारों ओर भरपूर हो और बीचमें थोड़ी-सी जगह उससे खाली कर ली जाये कि हे संसार तुम आओ हमारे कलेजेपर बैठकर रहो। परमात्माके बीचमें संसारके रहनेकी कोई जगह नहीं है। और परमात्माके बाहर भी संसार नहीं है कि अपने छाती पर तो बैठा लिया परमात्माको और बोले कि बाहर हे संसार तुम रहो। यह देशका संस्कार जो है ना, यह बड़ा विरोधी संस्कार है। परमात्माके भीतर भी यह दुनिया नहीं है और परमात्माके बाहर भी दुनिया नहीं है।

एक शीशेको आप आकाशकी तरफ करके रख दो, तो उसमें नीलिमाकी परछाई पड़ेगी। पर वह शीशेमें जो नीलिमा दिख रही है वह शीशेके भीतर है कि शीशेके बाहर है? न वह नीलिमा बाहर आकाशमें है, न शीशेके भीतर है। यह नहीं समझना कि शीशेमें तो नीलिमा नहीं घुसी है, लेकिन बाहर है तब तो दिख रही है! वह बाहर है नहीं, आकाशमें भी ढूँढकर देख लो, नहीं है। तो यह जो प्रपंच है, यह न तो ईश्वरके भीतर है और न तो ईश्वरके बाहर है और न तो ईश्वरके पहले है और न ईश्वरके बाद है। क्योंकि ईश्वरके पहले और बादमें अगर प्रपंच होवे, तो ईश्वर ही मर जायेगा पहले। आपके ध्यानमें आयी बात कि नहीं? ईश्वर पैदा होने-से पहले अगर कोई चीज थी फिर बादमें ईश्वर पैदा हुआ, तो ईश्वर पहले था ही नहीं मर गया ईश्वर! और ईश्वरके बाद अगर कोई चीज़ बनी तो ईश्वर नहीं रहा तब बनी कि ईश्वरके रहते बनी? नहीं रहा तब बनी, तब तो ईश्वर मर ही गया और ईश्वरके रहते बनी और बिगड़ गयी, तो सपनेकी तरह आयी और चली गयी, उसका ईश्वरके जीवनमें क्या महत्त्व रहा? इसलिए ईश्वर सर्वदा है और प्रपञ्च उसीमें सपनेकी तरह बनता बिगड़ता रहता है। और यह प्रपंच न ईश्वर है न ईश्वरसे भिन्न है। न ईश्वर-रूप वस्तु यह प्रपंच है, न ईश्वरसे भिन्न रूप यह प्रपंच है। न ईश्वरके पहले है न बादमें है, न बीचमें है। न ईश्वरके बाहर है न भीतर है, क्योंकि ईश्वरमें बाहर-भीतर-देश अध्यस्त है, क्योंकि ईश्वरमें पहले पीछे अर्थात् काल अध्यस्त है, क्योंकि ईश्वरमें बहुत्व अध्यस्त है। अध्यस्त वस्तुके साथ अधिष्ठानका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता। और अधिष्ठानमें अध्यस्त वस्तु केवल दृष्टि मात्र ही होती है। अधिष्ठानके सिवाय अध्यस्त वस्तु कोई और नहीं होती।

बोले—(ब्रह्ममें जगत्‌का) यह अध्यास ही क्यों करते हो? यह अध्यारोप काहे को करते हो? तो करते नहीं हैं यह; यह अध्यास तो अनादि है-अज्ञानके कारण है और अज्ञानका कारण भी अज्ञान ही होता है। अज्ञानका कारण ज्ञान थोड़े ही होता है! अरे भाई, प्रत्येक वस्तुमें 'यह कहाँसे आ गया?" यह प्रश्न पूछते-पूछते जो आखिरी उत्तर मिलता है ना कि हम नहीं जानते, इसीका नाम अज्ञान है। तो यह जो प्रपंच दिख रहा है परमात्मामें, यह न परमात्मा है, न परमात्मासे पृथक् है। और आत्माका ही परमात्मा नाम है।

तो यह किसके पहले किसके पीछे है, यह हम आपको बताते हैं। परमात्माके पहले और परमात्माके पीछे नहीं है, परमात्माके बीचमें भी नहीं है; परमात्माके न जाननेके बादमें है और परमात्माके जाननेके पहले है। प्रपञ्चका काल परमात्माको जाननेके पहले है और न जाननेके बादमें है, और यह न जाननेके बीचमें है। प्रपञ्च अज्ञानदेशके अन्तर्वर्ती है, अज्ञान-काल ही प्रपञ्चका उदय-विलय काल है और अज्ञानकी जो वस्तुरूपता है वही प्रपञ्चकी वस्तुरूपता है। और जो वस्तु अज्ञानसे होती है वह अज्ञानकालमें भी नहीं रहती है। आप यह नियम लिख लो, अपने दिलमें नोट कर लो, कि जो वस्तु अज्ञानसे 'है' मालूम पड़ती है वह जिस समय 'है' मालूम पड़ती है उस समय भी नहीं होती है- जैसे रज्जुमें सर्प; और, ज्ञानसे जो वस्तु मिटती है, वह मिटनेके पहले भी नहीं रहती है क्योंकि यदि होती तो कर्मसे मिटती, ज्ञानसे नहीं मिटती।

तो वेदान्तका यह अभिप्राय है कि परमात्मामें यह जो द्वैत प्रपञ्च है यह केवल परमात्माके स्वरूपके अज्ञानसे है, इसलिए भासता हुआ भी नहीं है और यह ज्ञानसे बाधित हो जाता है इसलिए भी भासता हुआ नहीं है, केवल परमात्माका ज्ञान ही प्राप्तव्य है और परमात्माका ज्ञान अन्यरूपसे प्राप्तव्य नहीं है स्वरूपसे प्राप्तव्य है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

अच्छा मान लो हम अन्यरूपसे परमात्माको जानें तो क्या हर्ज है? बोले- अन्यरूपसे जाननेसे तुम्हारा बन्धन नहीं कटेगा, मृत्यु नहीं छूटेगी। यदि यह कहो कि हम परमात्माको जान गये-वह गोलोकमें रहता है, तो जान नहीं गये भाई, मान गये, विश्वास कर गये। अच्छा हम यह जान गये कि परमात्मा हमारे पीछे रहता है, तो अन्य रूपसे जान लिया ना। अच्छा हम जान गये कि हमारे जन्मसे पहले परमात्मा था और उसने हमको पैदा किया। हे भगवान्! जिस परमात्माको तुम पहले जानते हो कि पहले था, वह तो तुमसे अलग था; और जिस परमात्माको तुम जानते हो कि बादमें रहेगा वह भी तुमसे अलग होगा; और जिसको तुम अपनेसे दूर जानते हो वह भी अलग है। जिसको तुम अपनेसे अलग जानते हो, वह भी अन्य है। तो अन्यको जाननेके बाद क्या तुम्हारी मृत्यु छूट जायेगी? नहीं छूटेगी। क्या तुम्हारा बन्धन छूट जायेगा? नहीं छूटेगा। दूसरेको जानोगे तो तुम्हारे कर्तव्य समाप्त नहीं होंगे,

उल्टे दूसरेको जानोगे तो उसको पाने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा, उस परोक्ष ज्ञानके विषयको अपरोक्ष करनके लिए साधन करना पड़ेगा, ज्ञान मात्रसे तुम्हारी मुक्ति नहीं होगी! परन्तु वेदान्त तो बताता है—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।

उसको जान लेनेसे ही मृत्युका अतिक्रमण होता है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

सारे बन्धनकी निवृत्ति उसके ज्ञान मात्रसे होती है। तो जब अपने आपके रूपमें परमात्माको जानोगे तो वह दूर देशमें नहीं होगा इसलिए विमान पर चढ़के जाना नहीं पड़ेगा; वह भविष्यमें होनेवाला नहीं होगा इसलिए उसकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। वह अन्य रूपमें नहीं होगा, अतः पकड़के रखना नहीं पड़ेगा कि भई नजर रखो नहीं तो कहीं चला जायेगा, छूटके गिर पड़ा। जब परमात्मा अपना आत्मा ही है तो यह फिक्र करनेकी जरूरत नहीं है कि आज तो तदाकार वृत्ति नहीं हुई, आज तो समाधि नहीं लगी, आज तो परमात्माकी याद नहीं आयी। हजार बार परमात्माकी याद नहीं आवे, वह तो तुम्हीं हो।

तो यह जो वेदान्त है यह तदाकार वृत्ति बनानेके लिए नहीं है, स्मृति करनके लिए नहीं है, अन्यरूपसे जानकरके प्रयत्न करनेके लिए नहीं है, अन्य रूपसे उपासना करनेके लिए नहीं है। यह ध्यान लगाके गुफामें प्रवेश करनेके लिए नहीं है। यह तो स्वतः सिद्ध अद्वितीय परमात्माकी प्रमा है। जैसे आँखसे रूपकी प्रमा होती है वैसे तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्तिसे परमात्माकी प्रमा होती है। यथार्थ ज्ञान होता है। माने अज्ञानकी भ्रान्ति मिटती है, जिज्ञासा पूरी नहीं होती, जिज्ञासा मिट जाती है। और अज्ञान मिटता नहीं क्योंकि अज्ञान तो पहलेसे ही कहीं नहीं था, अब भी नहीं है, आगे भी नहीं होगा। बिना हुए अज्ञानको मान करके मैं अज्ञानी-अज्ञानी चिल्ला रहा था, मैं अपनेको अज्ञानी-अज्ञानी रो रहा था। यह मत समझना कि आज हमारा अज्ञान मिट गया! अरे! अज्ञानकी भ्रान्ति मिट गयी! कल एक सज्जनने कहा कि "बस बस हो गया, इतना स्पष्ट हो गया गीतामें, कि जाग्रत हो, स्वप्न हो, सुषुप्ति हो, नरक हो, स्वर्ग हो, मरो जीओ, कुछ हो, बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् हो गया कि कोई बन्धन नहीं है, पूर्ण स्वातन्त्र्य है। अधिष्ठान अध्यस्तकी

अपेक्षासे कल्पित है।' सचमुच वेदान्तका ज्ञान हो जाये तो बन्द आँख करनेसे परमेश्वर दिखता है, यह भ्रम मिट जायेगा। क्योंकि बन्द आँखसे परमेश्वरको देखना माने अन्धकारको, अज्ञानको स्वीकार करके अन्धेरेमें, गुफामें ही परमेश्वरको टटोलना; और खुली आँखसे परमेश्वरको देखना माने आँखके घेरेमें, जेलखानेमें, प्रपञ्चमें परमात्माको ढूँढना। परमात्मा वह है जिसमें न आँखका जेल है और न अंधकारकी गुहा है। इस स्वयंप्रकाशमें न बाहर है, न भीतर है।

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

तो आप किसी दूसरे परमात्माकी कल्पना मत करना, यह क्षेत्रज्ञका वर्णन है। यह शरीररूपी खेतको जाननेवाला जो मैं है, उसका वर्णन है. तो देखो आप आँख नहीं हो, क्योंकि आँख बन्द रहे तब भी आप हो और खुली रहे तब भी आप हो। आँख मन्दी हो तब भी आप हो और आँख खूब तेज हो तब भी आप हो। कानी आँख हो तब भी आप हो, अन्धी आँख हो तब भी आप हो। मांद्य, तैक्ष्ण्य आँखमें कुछ भी हो, परन्तु आप तो एक हो। नेत्रकी वृत्ति हो न हो, पर आप तो हो ही हो। तो आप आँख नही हो। और जैसे आँख नहीं हो, वैसे ही नाक भी नहीं हो, जीभ भी नहीं हो, वैसे ही त्वचा भी नहीं हो, वैसे ही आप कान भी नहीं हो। ये सब अनेक हैं और आप एक हैं। और मन और बुद्धि कभी सोते हैं और कभी जागते हैं, कभी दुश्मनका संकल्प करते हैं, कभी दोस्तका संकल्प करते हैं। कभी नहीं संकल्प करते हैं, कभी निश्चय करते हैं कभी नहीं करते हैं। इसलिए आप मन-बुद्धि भी नहीं हों।

एक बात कहो तो बिलकुल बमगोला मारूँ ? आप उसे मानना चाहे मत मानना। यह जरूरी नहीं है कि आप उसको मान लो। वह बमगोला यह है कि यदि आपको अपने आत्माके ब्रह्म होनेका निश्चय न हो, आपकी बुद्धि ने निश्चय न किया हो, तब भी आप ब्रह्म ही हैं। बुद्धि अगर निश्चय करके रखे भी तो सुषुप्तिमें तो बुद्धि सो जाती है। यदि आप अपनी पूँजी एक ऐसे नौकरके हाथमें सम्हला दें कि जो उसको जहाँ-का-तहाँ छोड़के सो जाये, तो ऐसे नौकरके बिना हमारी पूँजी सुरक्षित नहीं रहेगी—ऐसा मानना बिलकुल व्यर्थ है। बुद्धिसे आप हजार निश्चय करो, सुषुप्तिकालमें यह निश्चय आदि

छोड़के सो जाती है। तो भला बताओ यह न ब्रह्मको याद रखे न ब्रह्माकार वृत्ति रख सके और हमेशा बनी रहेगी इसका भी ठीक नहीं है। यह तो निश्चयकी उपाधिसे ही ज्ञानका एक नाम बुद्धि कल्पित किया गया है। सुषुप्तिमें न निश्चय रहता है, न निश्चयाकार वृत्ति रहती है। तो बोले—आओ मनमें स्मृति करें! कि मन अगर तुम्हारी ही स्मृति करता तो उसका नाम मन काहेको होता तो बिना किसी इन्द्रियकी मददके, बिना मनकी मददके, बिना बुद्धिकी मददके, बिना ध्यान समाधिकी मददके, बिना ईश्वर परमेश्वरकी मददके तुम जो हो जैसे हो, जहाँ हो, वैसे ही तुम परिपूर्ण अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा हो।

बोले—महाराज, महावाक्यकी तो जरूरत है ना? तो लो, अब दूसरा बमगोला लो! महावाक्यकी कोई जरूरत नहीं है। फिर किसकी जरूरत है? तो यह जो हमने कह दिया, बस इतनेकी ही जरूरत थी, सो पूरी हो गयी। अगर हमारा यह बोलना महावाक्य नहीं है तो दुनियामें तुम्हारे लिए कोई महावाक्य नहीं है, क्योंकि मैं महावाक्य ही तो बोल रहा हूँ और क्या बोल रहा हूँ! अगर हमारे बोले हुएको तुम महावाक्यके रूपमें नहीं पहचानते हो, तो किताबमें पढ़के तुम महावाक्यको कैसे पहचानोगे?

महावाक्यका अर्थ होता है आत्माको परमात्मा बतानेवाला वाक्य। केवल जगत्को बतानेवाला वाक्य है और केवल ब्रह्मको बतानेवाला भी वाक्य है—

'अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्'—ये सब वाक्य हैं, महावाक्य नहीं है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—यह वाक्य है, महावाक्य नहीं है। 'आप्तमिदं मृत्युर्न'। यह जो प्रपञ्च है इसको मौतने अपने पंजेमें ले रखा है-यह भी वाक्य है। और, *नहि द्रष्टुर्दृश्येरविपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्*-द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता, यह भी वाक्य है। *अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं* श्रोतृ *अमतं मन्तृ*-यह द्रष्टाका निरूपण करनेवाला वाक्य है महावाक्य नहीं है। महावाक्य यह है—यह तुम्हारा मैं, यह तुम्हारा आत्मा, यह तुम्हारी स्वयंत्ता, यही देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-यही है; तुम्हारा आत्मा तुम्हारा मैं ही, तुम्हारा अपना आपा ही ब्रह्म है। इसका नाम महावाक्य है। माने अपने मैं

को, अपने आत्माको अद्वितीय ब्रह्म बतानेवाला, निष्प्रपञ्च ब्रह्म बतानेवाला जो वाक्य होता है, उसको महावाक्य बोला जाता है। फिर चाहे किसी भी भाषामें बोलो। मैं अभी हिन्दीमें महावाक्य बोल रहा था! अभी आपको महावाक्यकी जरूरत है? कि बिलकुल नहीं है।

एक बात और सुना देते हैं इस बारेमें! आप आज भले मत मानो और आज भले मत जानो, यह जो मैंने सुना दिया है ना कि आत्मा ब्रह्म है, यह श्रवण आपके पास तब तक सुरक्षित रहेगा जबतक आपकी अविद्या दूर नहीं हो जायेगी-माने आपको मुक्त करके, आपकी अविद्या दूर करके, आपको ब्रह्म बनाके, तब यह हमारे मुँहसे बोला हुआ वाक्य स्वयम् बाधित होगा, निवृत्त होगा। यह आपको ब्रह्म बनाये बिना आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यह आपके पीछे लग गया। यह आपके अन्त:करणको और आपके संसारको बाधित करके अद्वितीय आत्माके बोधसे बाधित करके तब स्वयं बाधित हो जायेगा, उसके पहले यह महावाक्य मिथ्या होनेवाला नहीं है।

अच्छा अब आओ—पहले पहल वेदान्त भी मैंने ही बोला था, आज भी वेदान्त मैं ही बोल रहा हूँ मेरी वाणीका नाम, मेरी भाषाका नाम वेदान्त है। अच्छा अब आओ—बोले—एक ओर तो बोलते हो सर्व विषयोंका प्रकाश, सर्व इन्द्रियोंका प्रकाश, सब इन्द्रियोंके गुणोंका प्रकाश मुझमें हो रहा है और दूसरी ओर बोल रहे हो कि मुझमें कोई इन्द्रिय नहीं है, यह सब क्या है?

'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्'—यह परस्पर विरोध है। देखो, जो अपनेसे अलग वस्तुको देखना हो तो इन्द्रियकी जरूरत पड़ती है। अपनेसे दूर वस्तुको देखना हो तो इन्द्रियकी जरूरत पड़ती है। दूर हो वस्तु, देर हो वस्तुमें, अलगाव होवे वस्तुमें माने दूजापन हो, तब इन्द्रियकी जरूरत पड़ती है। जिसमें दूरी है ही नहीं, जिसमें दूरी कल्पित है और जिसमें दूजा कल्पित है, उसको देखनेके लिए इन्द्रियकी जरूरत नहीं पड़ती। और आत्मामें यह जो देश,काल, वस्तुका अध्यारोप किया हुआ है ना, इसका भी मतलब है। जैसे सर्प जब रज्जुमें अध्यस्त होगा, तो अध्यस्त सर्पसे रज्जु बड़ी होगी कि नहीं होगी? पहले भी थी, बादमें भी रहेगी, माने कालमें भी बड़ी होगी; स्थानमें भी बड़ी होगी और वस्तुमें भी रज्जु सच्ची होगी और सर्प

झूठा होगा। अध्यस्तसे अधिष्ठानमें क्या विलक्षणता होगी? अधिक स्थानरूपता जो है वह अधिष्ठानमें रहेगी। अधिष्ठान माने 'अधिकं स्थानं अधिष्ठानम्'।

तो अब देखो जिसमें देश,काल और वस्तु अध्यस्त हैं, तो देशसे जो बड़ा होगा उसमें देशका अध्यास होगा। देशके पहले था और देशके बाद रहेगा। जितनी दूरीमें पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण दिशा-विदिशा, ऊपर और नीचेकी कल्पना होती है, उससे बड़ा होगा, तब ना उसमें देशकी कल्पना होगी। मतलब यह हुआ कि वह परिपूर्ण है। देशकी कल्पनाका आश्रय होनेके कारण देशसे बड़ा है, देशातीत है। और भूत-भविष्य-वर्तमान-रूपकालकी कल्पनाका आश्रय होनेके कारण कालसे बड़ा है, माने अविनाशी है। और इदं-त्वं-अहं-तत् आदि द्रव्योंकी कल्पनाका अधिष्ठान होनेके कारण, सम्पूर्ण सबीज द्रव्योंसे बड़ा है। इसका अभिप्राय हुआ कि उसके एक कल्पित अंशमें ही देश,काल और वस्तुकी प्रतीति हो रही है, वस्तुतः देश,काल, वस्तु, उसमें नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसमें, इन्द्रियोंकी सिद्धि कहाँसे होगी? इन्द्रियोंकी जरूरत उसमें कहाँसे पड़ेगी? इसीसे कहा- **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।**

अब आओ-**असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।** वह ज्ञेय ब्रह्म असंग है। असक्तंका अर्थ असंग है। आसक्तमें जो सक्त है, उसका अर्थ होता है किसीके साथ सट जाना। सक्त माने सटा हुआ। दो कागज एकमें सटा दिये तो सक्त हो गये। अब कागज तो बेचारे जड़ हैं, मसालेसे चिपका दिये जाते हैं; इसी प्रकार एक लोहेको दूसरे लोहेमें चिपका देते हैं। तो यह क्या हो गया? कि सक्त हो गया। पर यह मनुष्य जब किसीसे चिपकता है ना, यह सटानेसे नहीं चिपकता है। यह नहीं है कि जब ब्याह हुआ तो कोई मसाला लेके दोनोंकी पीठ एकमें जोड़ दी जाये, कि दोनोंका पेट एकमें जोड़ दिया जाये, कि दोनोंका हाथ एकमें जोड़ दिया जाये, तब सक्त होंगे, ऐसा नहीं। यह जो बेटी-बेटा है, भाई-बन्धु है, रिश्तेदार-नातेदार है, दोस्त-दुश्मन है, सबमें मनसे ही सक्ति होती है, मनसे ही सटना होता है। जैसे सपनेमें नया रिश्तेदार मिल जाता है। वैसे जाग्रत्‌में भी मिल जाता है। हमने बहुतसे मित्र बनाये और बहुतसे मित्र तोड़े। बचपनमें तो कितने मित्र आये; मालूम होता था कि जिन्दगी भर नहीं छूटेंगे। सचमुच उनसे आसक्ति हो गयी। लेकिन अब? अरे अब तो उनकी याद भी नहीं आती है। छह महीनेमें भी याद नहीं

आती है, बरस दो बरसकी तो बात ही क्या! याद उनकी कुरेदनी पड़ती है। यह जो वर्तमानकालमें मालूम पड़ता है ना कि इसके बिना हम नहीं रह सकते, यह झूठी सक्ति है। ये आत्मदेव असक्त हैं, किसीके साथ सटना नहीं जानते, हम जिसके बहुत गुणोंका वर्णन करके या अपनेमें सोचके कहते हैं कि बहुत भलेमानुस हैं। उसके हमें ज्यादा नहीं, तो जितने गुण मालूम होते हैं उतने दोष भी मालूम होते हैं। अब सोचो आसक्ति कहाँसे होगी? कहो तो गुणका अध्यारोप कराके उससे आसक्ति करा दें, कहो तो दोषका अध्यारोप कराके उससे विरक्ति करा दें।

तो यह जो परमार्थ तत्त्व है ना, यह किसी नाम और रूपसे, किसी आकृति से सक्त नहीं होता, सटता नहीं।

आपको पहले जरा आसक्तिका भेद सुनाता हूँ। यह जो विषय भोगमें आसक्ति है, यह असलमें विषयमें आसक्ति नहीं है, इन्द्रियोंमें आसक्ति है। पहले इसको तोड़ते हैं। जैसे पंचकोशको बोलते हैं कि अन्नमय कोश तुम नहीं हो, प्राणमय काश हो- ऐसे इन्द्रियासक्तिको पहले तोड़ो; क्योंकि असलमें हमें तो जीभका स्वाद चाहिए। कौन-सी चीज बनाई गयी है या कौन बनानेवाला है इसकी इतनी अपेक्षा नहीं है, वह तो जब मनमें धर्मका संस्कार होगा तब हम कहेंगे कि किसने बनाया और कौन-सी चीज बनायी और कैसे बनाया। तभी अगर ठीक अनुकूल होगा तब तो हम खायेंगे, नहीं तो नहीं खायेंगे। लेकिन यदि धर्मका संस्कार न हो तो यह देखे बिना कि चीज क्या है, किसने बनायी हैं, कैसे बनायी है, यह ख्याल किये बिना चखेंगे, जीभका स्वाद लेंगे। तो असलमें, नारायण! हम जीभके प्रेमी हैं उस चीजके प्रेमी तो बिलकुल नहीं है। जीभपर डालनेपर भी अच्छी न लगे तो थूँक देंगे। यह बात संसारके सब विषयोंके बारेमें बिलकुल एक सरीखी है। हम विषयके प्रेमी नहीं हैं, बस इन्द्रियोंको जैसा भोग भोगनेकी आदत पड़ गयी है-आदते लाचार हैं-अपनी आदतसे लाचार हैं। यह अभ्यास-जन्य, संस्कार-जन्य विवशता है।

अच्छा, अब कहो कि हम अपनी इन्द्रियोंके वशमें हैं, तो इन्द्रियोंके वशमें हम नहीं हैं। यदि मालूम पड़ जाये कि हमारी इन्द्रिय आज गलत रास्तेमें ले जाती है, मन कहे कि मर जाओगे, जीभ बताती है बहुत स्वादु है,

लेकिन बुद्धि कहे कि इसमें जहर पड़ा हुआ है, तो तुरन्त छोड़ दोगे। न तुम विषयोंके वशमें हो, न तुम इन्द्रियोंके वशमें हो। आसक्ति कहाँ है? आजतक हजारों छोड़े और हजारों पकड़े, भला आसक्ति कहाँ है?

तो असंगता एक तो होती है यह कि हम दूसरेके साथ भले रहें परन्तु आसक्ति न हो-खायें और आसक्ति न हो, जीभ बनी रहे और आसक्ति न हो, मन बना रहे और आसक्ति न हो, बुद्धि बनी रहे और आसक्ति न हो-जैसे जलमें कमल रहता है, परन्तु जलसे उसकी आसक्ति नहीं है, असंग है, जल उसमें लगता नहीं, चिपकता नहीं। यह बाहरी दृष्टान्त है, बहुत मामूली। पानीको गरम कर दो तो पानी गरम लगता है, पर पानी ऐसा असंग है कि थोड़ी देरमें गर्मीको छोड़ देगा, ठंडा हो जायेगा लेकिन आत्माकी असंगता ऐसी नहीं है।

अब एक प्रकार असंगताका और देखो। आकाशमें रातका अन्धेरा आता है तो आकाश अन्धकारमय मालूम पड़ता है कि आकाशमें अन्धेरा छा गया। पर आकाश क्या कोई अन्धेरेसे आसक्त है? नहीं अच्छा, आकाशमें सूर्यकी रोशनी आयी, या शीतल चाँदनी फैली और ठंडी-ठंडी हवा चली तो क्या आकाश किसीसे आसक्त होता है? नहीं लेकिन जैसी आकाशकी असंगता है, वैसी भी आत्माकी असंगता नहीं है।

फिर आत्माकी कैसी असंगता है? बोले-जैसे आकाशमें, नीलिमा है और आकाश नीलिमासे अनासक्त है, वैसी है आत्माकी असंगता। नीलिमा भास रही है आकाशमें ही आकाश अनासक्त है क्योंकि आकाशमें नीलिमा है ही नहीं। यह द्वैताभावमूलक अनासक्ति (असंगता) है। असलमें नीलिमा है ही नहीं, भासती है। तो अपनेसे अन्य रूपमें जो चीज भासती है, असलमें वह है ही नहीं। इसलिए आत्मा असक्त है।

अच्छा बोले—तब काटके फेंक दो दुनिया को! अरे हे राम, आत्म देवका स्वभाव काटके फेंकनेका नहीं है, इनका तो चमकानेका स्वभाव है, काटके फेंकनेका थोड़े ही है। तब कैसे हैं? कि **सर्वभृच्चैव**। यह ब्रह्म कैसा? बोले—**सर्वभृच्चैव असक्तं**। '**असक्तं चैव सर्वभृत्**'। यह सबको धारण करता हुआ भी अनासक्त है और अनासक्त होता हुआ भी सबको धारण करता है।

देखो रज्जु जो है वह सर्पसे किंचित् भी सम्बन्ध न रखते हुए भी अपनेमें सर्पको प्रतीत करा रही है, होने दे रही है; रज्जु सर्पके विरुद्ध नहीं है। और सर्पके प्रतीत होते हुए रज्जुका उसमें किंचित् भी सम्पर्क नहीं है। तो फिर रज्जु कैसी है? **असक्तः सर्वभृच्चैव,** ***यथा रज्जुर्न संशयः।*** जैसे रज्जु सर्पसे अनासक्त है और सर्पको धारण करनेवाली है, इसी प्रकार यह ब्रह्मात्मा, प्रपञ्चको धारण करनेवाला प्रपञ्च भृत् है और प्रपञ्चसे अनासक्त भी है।

उपनिषद्में परमात्माका वर्णन करते हुए कहा गया है ***ध्यायतीव लेलायतीव।*** परमात्मा ध्यान करता हुआ-सा है, चलता हुआ-सा है। ध्यायति इव, लेलायति इव। लेलायनम् चलनम्। जैसे आगकी लपट उठती-सी लगती है, ऐसे भगवान् सर्व आकार-प्रकार-विकार-संस्कारके रूपमें होता हुआ-सा है। ध्यानम्का अर्थ है ध्यायति इव, ध्यानमिव करोति अर्थात् मन बुद्धि अन्तरङ्ग करणोंके जितने काम हैं, उनको करता हुआ-सा है; और लेलायति इव अर्थात् बहिरिन्द्रियोंके जितने कर्म हैं, उनको करता हुआ-सा है। बहिरिन्द्रियोंके अध्यारोपके लिए लेलायतीव है और अन्तरिन्द्रियोंके अध्यारोपके लिए ध्यायतीव है। ध्यान भीतर होता है और लेलायन बाहर होता है और 'इव' शब्दसे सूचित किया कि परमार्थतः न ध्यान है न चलन है। इव माने सादृश्य। माने परमात्मामें संकल्प और क्रिया दोनों प्रातीतिक ही हैं वास्तविक नहीं हैं। तात्त्विक नहीं है, आभासिक हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं-*'सर्वस्य प्रपञ्चस्य तद्ग्राहकानां इन्द्रियाणां तद् गुणानां च आभासः यस्मात् तत् सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्।'* वह क्षेत्रज्ञाभिन्न परब्रह्म और ब्रह्माभिन्न क्षेत्रज्ञ कैसा है? कि सम्पूर्ण प्रपञ्च, उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ और उनके कारणभूत गुण अथवा उन इन्द्रियोंके गुण जिससे भासते हैं वह सर्वेन्द्रियगुणाभासरूप ब्रह्म है। सारा प्रपञ्च किससे भास रहा है? सारी इन्द्रियाँ किससे भास रही हैं? सत्त्व, रज, तम-ये तीनों गुण किससे भास रहे हैं? अथवा विचार, संकल्प, अहंकरण, स्मरण, श्रवण, स्पर्श, दर्शन, रसन, आघ्रण-ये किससे प्रतीत हो रहे हैं? वचन, आदान, गमन, विसर्ग किससे प्रतीत हो रहे हैं? बोले- *'सर्वस्य प्रपञ्चस्य सद्ग्राहकानाम् इन्द्रियाणां तद्गुणानां च आभासः यस्मात्।'* ये सबके सब आभास मात्र हैं। इनका भान जिससे होता है, ये जिसको मालूम पडते हैं वह है आत्मा।

आप जानते हो भ्रम भी किसीको मालूम पड़ता है। ऐसा समझो कि कोई भ्रान्त न हो और भ्रम हो–ऐसा हो सकता है क्या? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता कि भूलने वाला तो कोई न हो और भूल हो जाय! यही तो बौद्धोंसे प्रश्न करते हैं श्रीशंकराचार्य भगवान्, कि तुमने कहीं ऐसा भ्रम देखा है कि अवस्तुमें तो भ्रम हो और अद्रष्टाको भ्रम हो? कहीं ऐसा सर्पभ्रम हुआ है जहाँ रज्जु आदि अधिष्ठान न हो? और क्या कहीं ऐसा भ्रम हुआ है कि भ्रमका कोई ज्ञाता न हो। ज्ञाताको ही भ्रम होता है और वस्तुमें ही भ्रम होता है। अवस्तुमें भ्रम नहीं होता और ज्ञान रहितको भ्रम नहीं होता। भ्रम माने विपर्यय ज्ञान, ज्ञानका उलटा रूप है। जब ज्ञान है तभी न उलटा-सुलटा होगा, ज्ञान नहीं होगा तो उलटा सुलटा कहाँसे होगा? तो बुद्धिका अधिष्ठान हुए बिना भ्रम हो जाय और रज्जुका अधिष्ठान हुए बिना ही सर्प-भ्रम हो जाय, ऐसा भ्रम तो कहीं देखनेमें नहीं आता है। तो यह जो परिच्छिन्न प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है–प्रपञ्च माने यही जो दुनियाका बखेड़ा है–यह जो जादूका खेल दिखायी पड़ रहा है, अरे देखो भाई यह खेल किस चिदाकाशमें दीख रहा है? किस चिदाकाशको दिख रहा है? तो जिस चिदाकाशमें दिख रहा है और जिस चिदाकाशको देख रहा है ये दोनों दो नहीं हैं, बिलकुल एक हैं और उस अखण्ड चैतन्यमें यह सारा प्रपञ्च, सारी इन्द्रियाँ और सारे गुण बिना हुए ही भास रहे हैं। यह भ्रम नहीं करना कि वह प्रातीतिक इन्द्रियोंसे भी अहंता ममता करता है–

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

न उसमें प्रपञ्च है, न उसमें इन्द्रियाँ हैं, न अन्तरिन्द्रियाँ हैं न बहिरिन्द्रियाँ हैं।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।

सटना या आसक्ति एककी दूसरेसे होती है, एक चीज दूसरी चीजमें सटती है। जुड़वें बच्चे पैदा होते हैं तो कभी-कभी उनकी नली आपसमें जुड़ी होती

है, डाक्टर लोग आप्रेशन करके उसको अलग करते हैं, क्योंकि बच्चे दो हैं। एक ही चीज अपने आपसे आसक्त नहीं होती है और दूसरी चीज है ही नहीं, तो आसक्ति कहाँसे हो? रज्जु सर्पसे आसक्त नहीं हुआ करतीं। यह भी देख लो आप कि स्वप्नके दृश्यसे स्वप्न-द्रष्टा आसक्त नहीं हुआ करता। जैसे स्वप्नके दृश्य बदलते हैं वैसे ही तो जाग्रत्के दृश्य भी बदल रहे हैं, इसमें आसक्तिका हेतु कहाँ है?

दूसरी बात असंगताका दृष्टान्त दिया जाता है जलकमलवत्। '**तद् यथा पुष्करपलाशे आपो नाश्लिष्यन्ते**' उपनिषद्में ही है। तो वहाँ जल है, जलमें कमल है, पर कमल आसक्त नहीं है। परन्तु यहाँ जो ब्रह्मको अनासक्त बताया गया, इसका अभिप्राय यह है कि अद्वितीय ब्रह्ममें कोई द्वैत प्रपञ्च है ही नहीं इसलिए यहाँ आसक्ति है ही नहीं। जैसे आकाश नीलिमासे आसक्त नहीं है, क्योंकि नीलिमा है ही नहीं; अथवा जैसे रज्जु-सर्प पुष्प-माल्यादिसे आसक्त नहीं है; इसी प्रकार एक क्षेत्रज्ञाभिन्न ब्रह्म और ब्रह्माभिन्न क्षेत्रज्ञ कहीं भी आसक्त नहीं है। कहो कि सृष्टि ही नहीं है, तो आपको गीताकी पद्धति सुनाता हूँ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः। *(९.४)*

नवें अध्यायमें आपने अध्ययन किया—**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।** मेरा ऐश्वर्य देखो। जैसे जादूगर बोलता है ना, तमाशा देखनेवालो! देखो मेरे जादूका चमत्कार। वैसे उस मदारीने खंजड़ी बजायी, देखो मेरे जादूका चमत्कार! क्या जादूका चमत्कार है? देखो मायाका खेल। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'-अब मैं एक अनेक रूपसे दिखायी पड़ने जा रहा हूँ। इन्द्रके पास ऐसी माया है, ऐसा जादूका खेल है कि है तो एक, परन्तु दीखता है अनेक। एक योगीके पास ऐसा योगैश्वर्य है कि वह है तो अकेला, परन्तु हो जाता है सैकड़ों। यह योगैश्वर्य देख। क्या योगैश्वर्य है? कि **मत्स्थानि सर्वभूतानि**-यह पृथिवी मुझमें देख, यह जल मुझमें देख, यह अग्नि मुझमें देख, यह वायु मुझमें देख, यह आकाश मुझमें देख! जैसे श्री कृष्णने अर्जुनसे कहा **पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः** अरे ओ अर्जुन! देख मुझमें, मेरे हजारों रूप देख, मेरे सैकड़ों रूप देख।

यह मायावी है। यह इन्द्र है। इन्द्र और कृष्णका वर्णन देवता रूपसे और उपास्य रूपसे लगभग एक सरीखा ही मिलता है। श्रीकृष्णके पास भी उद्यान है, इन्द्रके पास भी उद्यान है। कृष्णके पास गोपियाँ हैं, इन्द्रके पास अप्सराएँ हैं। इन्द्रके पास देवता हैं, कृष्णके पास गोप हैं। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते। देख मेरी माया। मत्स्थानि सर्वभूतानि, यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मुझमें देख ले। ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मुझमें देख ले। कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश मुझमें देख ले-**मत्स्थानि सर्वभूतानि।**

बोले- कि महाराज, आप यह सब बन रहे हो? बोले— न, 'न चाहं तेष्ववस्थितः'-नहीं मैं उन सबमें नहीं हूँ। तो ये सब आपमें ही हैं? ना बोले-जैसे सपनेमें जितने दृश्य दिखायी पड़ते हैं, जितने प्राणी दिखाई पड़ते हैं-दस करोड़ भी दिखाई पड़ सकते हैं-तो वहाँ दस करोड़ जीव होते हैं कि नहीं? क्या उन सबका पूर्व जन्म रहता है? क्या उनका अगला जन्म होनेवाला है? क्या वहाँ जो पाप और पुण्य करते हैं, वह उनको लगता है? उन हजारों-हजारों स्वप्न पुरुषोंमें भासमान जो पृथक्-पृथक् जीव हैं, वे बिलकुल नहीं- **न चाहं तेष्ववस्थितः।** उनमें पृथक्-पृथक् परमात्मा अवस्थित नहीं है और **न च मत्स्थानि भूतानि** पश्य मे **योगमैश्वरम्** देख-देख, मेरे अन्दर वे भूत बिलकुल नहीं हैं।

अब कृष्णसे किसीने पूछा कि **मत्स्थानि सर्वभूतानि** और **न च मत्स्थानि भूतानि**-ये परस्पर विरुद्ध क्यों बोलते हो? अज्ञानी दृष्टिसे देखो तो सब भूत परमात्मामें हैं और जिसने परमात्माको जान लिया है उसकी दृष्टिसे देखो तो 'न च मत्स्थानि भूतानि'। अज्ञ दृष्टिसे 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और तज्ज्ञ दृष्टिसे 'न च मत्स्थानि भूतानि'। अब लो—

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।

यहाँ तेरहवें अध्यायमें है—सर्वभृत् और वहाँ नवें अध्यायमें है- भूतभृत्। *भूतानि बिभर्ति इति भूतभृत् सर्वं बिभर्ति इति सर्वभृत्। भृ-धारणपोषणयोः* यह भृत् बना।

सर्वभृच्चैवासक्तं। अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सृष्टिमें स्त्री-पुरुषमें परस्पर विवाह होता हुआ देखा जाता है। उनसे सन्तान होती हुई देखी जाती है। उनके माँ-बापकी परम्परा है। उनके मकान-दुकान हैं। उनका विस्तार है,

उनका अपना-पराया है। उनमें परस्पर हिंसा देखनेमें आती है, लड़ाई-झगड़ा देखनेमें आता है। धनादि भी देखनेमें आता है, उसका लोभ भी देखनमें आता है। परन्तु यह परमात्मा ऐसा है कि **सर्वभृत्**-सबको अपनेमें धारण करता है। माने अज्ञानीकी दृष्टिसे सब उसीमें प्रतीत होता है। परन्तु स्वयं यह परमात्म-चैतन्य प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें आसक्त नहीं होता है-**सर्वभृच्चैव असक्तं। असक्तमपि सर्वभृत्** वह असक्त-अनासक्त होकर भी सबको धारण करता है और सबको धारण करता हुआ भी अनासक्त है। क्योंकि तत्त्ववित्की दृष्टिमें आत्मा असंग है, चैतन्य असंग है।

क्या आपको अपनी असंगताका अनुभव नहीं होता? किस-किससे आपने पहले दुश्मनी जोड़ी और फिर उससे मैत्री कर ली-जरा विचार करके देखो। किस-किससे मैत्रीकी और फिर उससे मैत्री तोड़ ली? आपके घरमें जितने नोट आये, क्या आपने उनको मुट्ठीमें दबाकर रखा? अनासक्त नहीं रहे उनसे क्या? आपके घरमें जितना अनाज आया, उससे क्या आसक्त हुए आप? आपने जितने मकान बदले उनसे क्या आसक्ति आपकी बनी रही? अरे जैसे पहले वाले मकान छूट गये, जैसे पहले वाले दोस्त छूट गये, जैसे दादा-दादी, नाना-नानी, माँ-बाप छूट गये, वैसे ही आज जो है वह भी छूटेगा और आप जिसके नाना-नानी हैं वह भी छूटेगा और आप जिसके दादा-दादी हैं वह भी छूटेगा। आप जिसके सम्बन्धी बने बैठें हैं, वह भी छूटेगा। असंगता तो चेतनका स्वभाव है। जैसे सड़कपरके दृश्यको छोड़ता जा रहा है, सिनेमाके दृश्यको छोड़ता जा रहा है जैसे स्वप्नका दृश्य छोड़ता जा रहा है, वैसे दोनों हाथ झाड़के; चैतन्य कहीं आसक्त होता ही नहीं। अच्छा थोड़ी देरके लिए रो लो, उस रोनेको क्या आप चौबीसों घण्टे रख सकते हो? दो दिन बाद रोओगे? छह दिन बाद रोओगे? छह महीने बाद रोओगे? अरे याद नहीं आती मरनेवालोंकी। बचपनमें हम जिन मित्रोंके लिए रोये थे, दस बरस बाद ही उनकी याद भूल गयी। याद ही नहीं आती। यह चैतन्यकी असंगता है।

प्रपञ्चका विस्मरण होता जा रहा है। प्रपञ्चका दर्शन होता है, अनुकूल प्रतिकूल होनेपर स्मरण होता है और थोड़े दिनोंके बाद विस्मरण हो जाता है। यह जो सारा प्रपञ्च विस्मरणके गर्तमें, अदर्शनके गर्तमें डूबता जा रहा है, यह

माया ही तो है! वह कौन-सा गड्ढा है जिसमें देखी हुई चीजें चली गयीं? वह कौन-सा गड्ढा है जिसमें स्मरणकी हुई वस्तुएँ चली गयीं? तो सबको धारण करते हुए भी तुम सबसे असंग हो। असलमें जैसे सिनेमाके पर्देपर आते हुए दृश्य चले जाते हैं, कोई चोटीला चोट करनेवाला दृश्य हुआ, तो थोड़े दिनों तक उसकी याद आती है, फिर भूल जाता है। इस चेतनने किसका संग किया, न नोटसे संग किया, न रिश्तेदारसे संग किया, न मकानसे संग किया, न अपने शरीरसे संग किया, यह भी तो छूटता ही जा रहा है।

त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम्।

यह शरीर हमको छोड़ रहा है, हम भी इसको छोड़ रहे है। अरे बेटा! तुम हमारे बिना रह सकते हो, तो हम भी तुम्हारे बिना रह सकते हैं। अरे देह! तू मुझे छोड़ रहा है, तो ले मैं भी तुझे छोड़ रहा हूँ। यह जो द्रष्टा होता है, साक्षी होता है, चैतन्य होता है, वह किसी भी वस्तु को, उसके आकारको, उसके विकारको, उसके प्रकारको, उसके संहारको धारण करके नहीं बैठता। असंगता चेतनका सहज स्वभाव है, उसका सहज स्वरूप है। भ्रम होता है कि हम किसीसे आसक्त हो गये हैं।

उपादान कारण क्या अपने कार्यसे बँधता है? मृत्तिका घटसे आबद्ध है क्या? माने जितनी मृत्तिकासे घट बनाया गया, वह घटके पूर्व जो मिट्टीका लौंदा है, वह हमेशा क्या घड़ा बनके रहनेको बाध्य है? फोड़ दो, फिर मिट्टी। उपाधिसे उसमें गोलपना, चतुष्कोणपना, त्रिकोणपना आकाशमें कल्पित होता है। तब? प्रतीति क्या हमेशा विकृतिके रूपमें रहनेको आबद्ध है? अच्छा प्रकृति हमेशा साम्यावस्थामें रहनेके लिए बाध्य है क्या? माने प्रपञ्चमें कोई अवस्था ऐसी नहीं है जो किसी आकार-प्रकार-विकार-संस्कारमें आबद्ध होकरके ही रहे। तब यह सन्मात्र जो वस्तु है, वह कहीं, आबद्ध होकर कैसे रह सकती है! घट:सन् पट:सन्-घट है, पट है, इनमें जो 'है', सत्ता है' वह तो सर्वमें अनुगत है और स्वयं घटपटसे व्यावृत है; माने वह सत्ता घट पटसे अलग भी है और घट पटमें अनुगत भी है। इसका मतलब है कि सन्मात्र सत्ता घटपट नहीं है। घट-पट सन्मात्र सत्तामें कल्पित हैं।

इसी प्रकार यह प्रपञ्चकी जो प्रतीति है, भान है, वह चिन्मात्रमें कल्पित है। यह चिन्मात्र जो है यह किसी आकृति, प्रकृति, विकृति, संस्कृतिमें

आबद्ध नहीं है। यह जो सत्ता और चिन्मात्र है यह किसी आधि-व्याधि-समाधि-उपाधिमें कहीं आबद्ध नहीं है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि परमात्मा-निर्गुण है, जिसमें कहीं गुण है ही नहीं; कहीं बन्धन नहीं है। ईश्वर सृष्टि बनानेके लिए बँधा हुआ नहीं है, बद्ध होगा तो ईश्वर ही नहीं होगा। प्रकृति हमेशा विकृत होनेके लिए आबद्ध नहीं है और हमेशा निर्विकार रहनेके लिए भी आबद्ध नहीं है। कालसे ही उसमें विकारिता भासती है और असलमें परब्रह्म परमात्माका अविनाशीपना समझानेके लिए ही ब्रह्ममें कालकी कल्पनाकी गयी है। काल असलमें है नहीं। उसकी परिपूर्णता समझनेके लिए ही उसमें देशकी कल्पनाकी गयी है। देश असलमें है ही नहीं। इतने बड़े देशका जो आश्रय है, इतने बड़े कालका जो आश्रय है वह परिपूर्ण है, अविनाशी है। बीजात्मक सत्ताकी कल्पना परमात्मामें निर्बीज वस्तुको समझानेके लिए की गयी है-*अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।*

निर्गुणं-परमात्मा कैसा? कि निर्गुण, कहीं बँधा हुआ नहीं। इसको कर्मकी डोरी नरकमें नहीं ले जा सकती। क्योंकि जिस देशमें नरककी कल्पनाकी गयी है वह देश इस परमात्मामें कल्पित है, देशके अधिष्ठानके रूपमें वह वहाँ पहले मौजूद है। कर्मका सूत्र इसको नरकमें नहीं ले जा सकता। जो जहाँ न हो वह वहाँसे आवे और वहाँ न हो तो यहाँसे जाये। यह तो अद्वितीय अखण्ड व्यापक अनावृत है, इसको वासनाका सूत्र पकड़ कर नहीं ले जा सकता। इसको भ्रान्ति और अज्ञान भी वस्तुतः देशान्तर, कालान्तर, भावान्तर, जन्मान्तरमें ले जानेमें समर्थ नहीं है। बिना गये ही, गया-सा प्रतीत होता है।

ये हमारे अवच्छेदवादी और दृष्टिसृष्टिवादी जो वेदान्ती हैं वे यह नहीं मानते हैं कि देह छूटनेपर चैतन्य कहीं जाता है; जानेकी दृष्टि हो जाती है, जानेकी जो वासना है, उस वासनासे उपरक्त होकर जानेकी दृष्टि हो जाती है। जैसे स्वप्नमें हम दूसरे गाँवमें जानेका अनुभव करते हैं ऐसे मृत्युके अनन्तर भी चैतन्यमें भावान्तर ही उदय होता है, तदवच्छिन्न जो चैतन्य है वह कहीं जाता आता नहीं। आत्मामें न पुनर्जन्म है न लोकान्तर गमन है; न आत्मामें कर्तृत्व है, न आत्मामें भोक्तृत्व है। ये सारे-के-सारे अभिमान बिलकुल झूठे हैं।

तो यह ब्रह्माभिन्न क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रज्ञाभिन्न ब्रह्मतत्त्व कैसा है? कि निर्गुणं- इसमें गुण नहीं है। सत्त्व, रज, तम गुण नहीं हैं। सांख्यके आचार्य गुणके मुख्य प्रतिपादक हैं। असलमें गुणका प्रतिपादन वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है; वेदान्तमें तो गुणोंकी सत्ता ही नहीं मानते हैं। वेदान्तमें पर-सिद्धान्तकी रीतिसे गुणोंका प्रतिपादन है, स्व-सिद्धान्तकी दृष्टिसे नहीं।

हे भगवान्! कैसे होते हैं गुण? तो बोले- तमोगुण काला होता है, रजोगुण लाल होता है और सत्त्वगुण सफेद होता है। भले मानुस! यह तो ऐन्द्रियक प्रतीति है, इसका नाम गुण कैसे होगा? फिर बोले- यह स्थूल देह तमोगुण है, इसमें जो क्रिया है वह रजोगुण है और इसमें जो ज्ञान है, वृत्ति है, वह सत्त्वगुण है। परन्तु उनसे प्रश्न यह है कि ये गुण हैं कि गुणोंके कार्य हैं? यह देह तो तमोगुणका कार्य है तमोगुण तो नहीं है। क्रिया है यह, रजोगुण नहीं है, यह तो रजोगुणका कार्य है। और जो वृत्ति है वह सत्त्वगुणका कार्य है। जरा उन कारणात्मक तीनों गुणोंको लाकर दिखाओ!

हम जानते हैं कि वेदान्तमें सांख्यके गुण-प्रतिपादनको और प्रकृति-प्रतिपादनको केवल अनुमान कहा जाता है। अनुमान नामसे ही वेदान्तियोंने सांख्य सिद्धान्तका वर्णन किया है। यह अनुमान क्या है? तो बोले देहको देखकरके देहके कारण तमोगुणका अनुमान होता है; और क्रियाको देख कर क्रियाके कारण रजोगुणका अनुमान होता है और वृत्तिको देखकरके वृत्तिके कारणके रूपमें सत्त्व गुणका अनुमान होता है। वेदान्ती कहते हैं-ना भाई, सांख्यवादियो! जरा आओ हमें अनुभव कराओ, हम सत्त्व, रज, तमका अनुभव करना चाहते हैं। तो बड़ा ही विलक्षण सांख्यका सिद्धान्त है वे कहते हैं-***गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यद् एतत् दृश्यते किंचित् तत् मायेव सुष्ठुकम्।*** गुणोंका जो परमरूप है वह दृश्य नहीं होता और जो दीखता है वह तो गुणोंका कार्य है, यह तो माया है। इसका अर्थ हुआ कि आत्मामें गुणोंका अस्तित्व कल्पित है।

अब आपको बताते हैं गुणोंका अनुभव कैसा? **निर्गुणं** का अर्थ समझनेके लिए यह जरूरी है। जब हम अपनेको मूढ़ अनुभव करते हैं-किंकर्तव्यविमूढ़-हड्डी, मांस, चामका पुतला तो मैं हूँ, लेकिन हमको किस रास्तेसे चलना

चाहिए, क्या काम करना चाहिए, यह नहीं सूझता है, उस समय मालूम पड़ता है कि मूढ़ोऽहं- मैं मूढ़ यह तमोगुणके साथ तादात्म्यापन्न अवस्था है।

किसी समय हम कल-कारखाना खोलनेके लिये बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं- मालूम पड़ता है कि हम सबसे बड़ा शिकार खेलेंगे अगर एक मिल हम बना लेंगे। एक कारखाना अगर हमने खोल लिया तो हमारे बराबर और कौन? जब एक खोलते हैं तो मालूम होगा एकमें क्या रखा है भाई, बिड़लाके तो सैकड़ों हैं, टाटाके तो सैकड़ों है, अभी तो हम बहुत छोटे रह गये। जब बिड़ला टाटाके सरीखा खोल लेंगे, तब? बोले-अरे भाई अमेरिकनोंके सामने तो ये लोग भी कुछ नहीं हैं, अभी हमारी कोई स्थिति नहीं हैं, अभी हम सबसे बड़े नहीं हुए। इसको घोर अवस्था बोलते हैं। यह क्षिप्तकी विक्षिप्त दशा है। हम यह करें तो बड़े होंगे यह भोगें तो बड़े होंगे, हम यह कारखाना खोलें तो बड़े होंगे। असलमें तुम्हारे जीवनके लिए जाड़ेसे बचानेके लिए जितना वस्त्र चाहिए, मरनेसे बचानेके लिए जितना भोजन चाहिए और रोगसे बचानेके लिए जितनी दवा चाहिए, उतना ही तुमको संसारमें अपेक्षित है; सारी दुनियाकी वस्तु उठाके घरमें नहीं रख सकते-इस दवातमें समुद्रका पानी नहीं अँट सकता। तो यह जिद्दकी जब अत्यन्त घोर दशा हो जाती है तब मनुष्य कहता है कि यह भी कर लें, यह भी कर लें। इस विक्षिप्त दशाके अभिमानको बोलते हैं घोर दशा यह रजोगुणके साथ तादात्म्यकी अवस्था है।

तो मूढ़ दशाका अपने आपमें आरोप करना तमोगुणके साथ तादात्म्य है और विक्षिप्त दशाका, घोर दशाका अपने साथ आरोप कर लेना, उसके साथ स्वयं तादात्म्यापन्न हो जाना, इसको रजोगुणी दशा बोलते हैं।

अब चित्तकी एक शान्त अवस्था होती है। करनेसे या भोगनेसे चित्त शान्त नहीं होता; करने-भोगनेसे थकनेपर चित्त शान्त होता है या करने-भोगनेका संकल्प छोड़ देनेपर चित्त शान्त होता है, आप देख लेना। तो तुम कौन-सी शान्ति चाहते हो? थकानसे बाद वाली ना! एक महात्मा दृष्टान्त देते हैं-दो आदमी एक साथ यात्रा कर रहे थे। एकको लगी प्यास। उसने कहा-ऐ, हमको प्यास लगी है, यह कुआँ है, देखो हम पानी पीयेंगे। दूसरेने कहा-हमको तो प्यास है नहीं, हम तो पानी पीयेंगे नहीं, हम तो गचपर

बैठकर भगवान्‌का ध्यान करेंगे। तुम्हें पानी पीना है तो करो कोशिश। तब वह बेचारा गाँवमें गया, वहाँसे लोटा और डोरी माँगके ले आया। लोटेको माँजा धोया, उसके बाद पानी खींचा, पीया, पीकर बोला- भाई अब हम भी तृप्त हो गये। तो जिस आदमीको प्यास नहीं लगी थी, वह जिस अवस्थामें था शान्त बैठा था; और जिसको प्यास लगी थी वह लोटा-डोरी ले आया, माँजा धोया, पानी खींचा पिया, उसके बाद उसकी प्यास बुझ गयी, और बिना प्यासके पहला मनुष्य जिस स्थितिमें पहलेसे ही था, उसी स्थितिमें खुश था। माने जिसको प्यास थी उसको तो बड़ी कोशिश करनी पड़ी और जिसको प्यास नहीं थी वह तो पहलेसे ही उसी सन्तोषकी दशामें बैठा हुआ था। तो जिसको प्यास लगती है उसको प्रयत्नशील होना पड़ता है।

यह शान्ति क्या है? जब चित्त शान्त हुआ, उसके साथ मैं करके बैठ गये कि मैं शान्त हूँ। यह सत्त्वगुणके साथ तादात्म्यापन्नताकी अवस्था है।

बोले- बस, बस, अब वेदान्त आगया, चित्त शान्त हो गया। भलेमानुष, इसका नाम वेदान्त नहीं है। यह तो सत्त्वगुणकी एक अवस्था है। सुषुप्ति तो अपने आप आजाती है। और शान्ति अभ्यास करनेसे आती है। समाधि अभ्यास करनेसे आती है। यह भी सत्त्वगुणकी एक अवस्था है। यह भी हमेशा नहीं रह सकती, टूट जायेगी। जो भी तुम प्रयत्न करके बनाओगे, वह बिगड़े बिना रहेगा नहीं।

यह मूढ़ दशाका अभिमान, तमोगुणका कार्य होनेसे तमोगुण है। और विक्षेपका अभिमान रजोगुणका कार्य होनेसे रजोगुण है। कार्य ही हैं ये। और शान्ति दशा, समाधि दशा सत्त्वगुणका कार्य होनेसे सत्त्वगुण है।

अब 'निर्गुणं' का अर्थ क्या है? देखो, गुण माने सत्त्व, रज, तम- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-पाताल, मर्त्यलोक और स्वर्ग, ब्रह्मा, विष्णु महेश,- मूढ़ता, विक्षेप और शान्ति-सृष्टि, स्थिति और प्रलय-विराट्, हिरण्यगर्भ, और ईश्वर, (तत्त्वोपाधिक ईश्वर और प्राज्ञ ईश्वर) अकार, उकार, मकार। और गुण माने देह, प्राण और बुद्धि; और गुण माने विश्व, तैजस्, प्राज्ञ। तो

येनैवासृजत् घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः।

यह अथर्ववेदके शान्ति-सूक्तका वचन है। कहते हैं-संसारमें जो आपके दुःखका कारण हो रहा है, वही हमारे सुखका कारण हो जाय। यह युक्ति

आप जानते हैं कि नहीं? नहीं जानते हैं तो बता देते हैं। एक आपका मित्र है, आप उसके ऊपर बहुत विश्वास करते हैं और उसने आपको धोखा दिया। **'येनैव असृजत् घोरं'** उस मित्रने धोखा देकरके आपको दुःख पहुँचाया, अशान्त कर दिया आपके चित्त को। अब कहते हैं-***'तेनैव शान्तिरस्तु नः'*** उस मित्रसे ही तुम शान्ति ले लो। कैसे? बोले, सोचो-ईश्वरने बड़ी भारी कृपा की, हम तो मित्रके प्रति आसक्त हो गये थे, उससे प्रेम कर बैठे थे, उसके विश्वासमें बँध गये थे, ईश्वरने बड़ी कृपा की कि उसकी पोल पट्टी खुल गयी, हम भ्रान्तिसे मुक्त हो गये। अब उसकी आसक्तिमें नहीं बँधेंगे। जिस मित्रने हमारे मनमें दुःखकी सृष्टिकी थी उसी मित्रसे जब हम असंग हो गये, अनासक्त हो गये, उसकी पोलपट्टी खुल गयी, तो हम बन्धनसे मुक्त हो गये।

येनैवासृजद् घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः।

तो ये संसारमें जो गुण हैं, वे कभी अपनेको मूढ़ बना देते हैं, कभी घोर बना देते हैं, कभी शान्त बना देते हैं। तब निर्गुणं क्या हुआ? कि चित्तकी शान्तिसे मैं शान्त नहीं हूँ, चित्तके विक्षेपसे मैं विक्षिप्त नहीं हूँ, चित्तकी मूढ़तासे मैं मूढ़ नहीं हूँ। और, गुणकी जो व्याख्या आपको बतायी-सत्त्व, रज, तम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, विश्व, तैजस, प्राज्ञ- उस सम्बन्धमें आपको यह मालूम है कि नहीं कि विश्व, तैजस, प्राज्ञ बड़े होते हैं या कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश? हम आपको बता देते हैं। ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक एक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग होते हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका एक वैश्वानर, एक विराट् होता है। विराट्के अवयवमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। उसके एक-एक रोएंमें करोड़-करोड़ ब्रह्मा, विष्णु, महेश रहते हैं।

यस्य समन्ततः अनन्तानि ब्रह्माण्डानि समुज्वलन्ति।

आप हिरण्यगर्भको बड़ा जानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु महेशको बड़ा जानते हैं? ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक-एक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग होते हैं और हिरण्यगर्भके संकल्पमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और कोटि-कोटि-ब्रह्मा, विष्णु, महेश होते हैं। निर्गुणंका अर्थ है कि गुणके भेदसे यह जो संज्ञा भेद है—ब्रह्मा, विष्णु, महेशका या विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरका या विश्व, तैजस, प्राज्ञका यह हमारे स्वरूपमें बिलकुल नहीं है। तो आपके स्वरूपमें शान्ति-

विक्षेप-मूढ़ता नहीं है, देह-इन्द्रिय और बुद्धि नहीं है, सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म-कारण नहीं है अकार-उकार-मकार नहीं है—आत्मा निर्गुण है। निर्गुणं माने शुद्ध ब्रह्म। निर्गुण अर्थात् जो गुणोंसे निष्क्रान्त है, गुणोंके साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

निरादयः निराक्रान्ताद्यर्थे पंचम्याः।

पंचमी समास होता है निर्गुण शब्दमें। बोले—अच्छा, आत्मामें वह गुण बिल्कुल नहीं है, तो यह जो दिख रहा है यह किसको दिख रहा है? तो कहते हैं—**गुणभोक्तृ च,** अर्थात् प्रतीयमान जो गुण हैं उनका उपलब्धा भी वही है। असलमें अपने स्वरूपमें गुणोंका अस्तित्व नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण गुणोंकी प्रतीति अपने स्वरूपमें ही हो रही है। ईश्वर भी हमको ही प्रतीत होता है। हिरण्यगर्भ भी हमको ही प्रतीत होता है। विराट् हमको ही प्रतीत होता है। विराट्के अवयवके रूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हमको प्रतीत होते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हमको ही प्रतीत होते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हमको ही प्रतीत होते हैं। उनमें स्थूल-सूक्ष्म-कारणका भेद हमको प्रतीत होता है। उसमें स्वर्ग, नरक, मर्त्यलोक हमको प्रतीत होता है। उसमें अच्छे-बुरे-मध्यस्थका भेद हमको प्रतीत होता है-**गुणभोक्तृ च**। उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हमको प्रतीत होते हैं। उसमें देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि हमको प्रतीत होते हैं। उसमें व्यष्टि, समष्टि हमको प्रतीत होती है। उसमें देश, काल हमको प्रतीत होती है। उसमें देश, काल हमको प्रतीत होते हैं। नाम है गुणभोक्तृ। *भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वं।* यह भी बात एक ध्यान देनेकी है।

अच्छा आप स्वादका भोग लगाते हैं। लेकिन यह खट्टा है, यह मीठा है, यह मधुर है- इस ज्ञानके सिवाय आपको स्वाद कहाँ आता है? स्वादका ज्ञान ही स्वादका भोग है। जीभसे यह जान लेनेके सिवाय कि यह खट्टा है, यह मीठा है और आपको क्या भोग आता है? जैसी आदत पड़ जाती है ना, वैसी चीज मिलने पर वह पिघलती है।

यह जीभमें छेद होते हैं। वही रसनेन्द्रियके गोलक होते हैं। हमारे आयुर्वेदके, आचार्य तो मानते हैं कि केवल जीभके नोंकपर ही छिद्र होते हैं। अब वैज्ञानिक लोगोंका ऐसा कहना है कि सारी जीभपर ही ऐसे छेद होते हैं।

लेकिन उससे भी आगे एक विज्ञान है, उससे यह सिद्ध होता है कि सारे शरीरमें रसको ग्रहण करनेवाले जो छिद्र हैं वे रहते हैं, परन्तु वे स्पष्ट नहीं है। वैज्ञानिक आविष्कारसे यदि संभव हुआ तो ऐसा भी हो सकता है कि अंगुलीसे छूएँ, तो चाम बता दे कि यह खट्टा है कि मीठा है कि नमकीन है। क्योंकि जो रसग्राहक इन्द्रिय है वह समूचे शरीरमें व्यापक है केवल जिह्वामें ही परिच्छिन्न नहीं है। सभी इन्द्रियाँ पूरे शरीरमें व्यापक होती है।

तो भोग क्या होता है, हम यह पूछते हैं। बोले- आपको तो यह मिठाई बहुत अच्छी लगती है, लेकिन पाश्चात्य लोगोंको तो शर्कराप्रचुर मिठाई अच्छी नहीं लगती। आपको मिर्च- मसाले बहुत अच्छे लगते हैं, आपकी जीभको आदत पड़ी है। जो उसमें प्रियता आयी है वह तो आदत पड़नेसे आयी है। और आदतके अनुसार हम अपनेको सुखी, दुःखी मानते हैं, लेकिन इन इन्द्रियोंसे तो केवल ज्ञान ही होता है। तो असलमें भोग माने क्या? भोग माने ज्ञान-विशेष। और इन्द्रियोंकी विशेषताको यदि छोड़ दें तो भोग-विशेषका ज्ञान-विशेष नहीं, केवल ज्ञानम्-ज्ञानम्। जितना भोग है- दुःखका भोग, सुखका भोग, स्वादका भोग, गन्धका भोग, सब ज्ञान ही तो है। पता ही तो लगता है ना कि यह गुलाबका इत्र है, यह चमेलीका इत्र है और यह माटीका इत्र है। केवल ज्ञान ही तो होता है ना। ज्ञानके सिवाय भोग क्या है?

तो ये ज्ञानस्वरूप परमात्मा भोगके रूपमें भी प्रतीत ही हो रहे हैं। भोग भी ज्ञानात्मक ही है। और ये सर्वथा ही निर्गुण है। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च**। ये निर्गुण होनेपर भी गुणोपलब्धा हैं और गुणोपलब्धा होनेपर भी निर्गुण हैं। माने गुणको जानते हुए भी इनमें गुणकी सत्ता नहीं है और गुणकी सत्ता न होनेपर भी प्रातीतिक गुणज्ञान हो रहा है, ऐसे हैं ये आत्मदेव साक्षात् परब्रह्म परमात्मा।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।

कहो—यह तो परमात्माका लक्षण हुआ, क्षेत्रज्ञका नहीं। तो बोले—बस यही बतानेके लिए तो गीता शास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है कि जो क्षेत्रज्ञ है वही ब्रह्म है।

सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च। परमात्मा सबको धारण करता है। जो सबको धारण करता है उसको समझानेके लिए यह कहते हैं कि जो-जो

वस्तु भासती है उसमें यह है, यह है। इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे आकाशमें कभी आँख दबानेसे या और किसी कारणसे अनेक चन्द्रमा दिखने लगते हैं; तो दीखने वाले अनेक चन्द्रमाओंमें यह बुद्धि होती है कि यह भी चन्द्रमा है, यह भी चन्द्रमा है; माने असली जो चन्द्रमा है, उस चन्द्रमामें जो सद्बुद्धि होती है वही प्रत्येक चन्द्रमामें अनुगत होती है। तो ऐसे बोलते हैं कि एक चन्द्रमा है यह तो है अपना ज्ञान; उस ज्ञानके कारण जो जो भी चन्द्रवत् दिखता है उसमें भी यह चन्द्रमा है, यह चन्द्रमा है यह बुद्धि होती है। इसी प्रकार सत्ता तो परमात्माकी है ही, परन्तु जो जो वस्तु दिखती है उसमें, उसीकी सद्बुद्धि अनुगत होती है। तो *विमतं सति कल्पितम्।* यह जो विवादास्पद वस्तु है, दिखाई पड़ने वाली, वह सत्तामें ही कल्पित है।

प्रत्येकं सदनुविद्धधी बोध्यत्वात्।

क्योंकि सब जगह यह है, यह है- घड़ा है, कपड़ा है- सबमें है-है-है, यह देखनेमें आता है। जैसे कई चन्द्रमा दिखाई पड़े तो सबमें यह चन्द्रमा है, यह बुद्धि होती है, परन्तु एक चन्द्रमा मूल होता है और बाकी सब प्रतीति मात्र होते हैं। इसी प्रकार आकार रहित सत्ता, आकार रहित तत्त्व तो अबाध्य है, यथार्थ है और उसकी अनुगति मिथ्या प्रतीयमान पदार्थोंमें हो रही है। प्रपञ्चमें है—है है, ऐसा जो मालूम पड़ता है वह एक है। एक सत् 'घटः सन् पटः सन्' इत्यादिके रूपमें एक ही सत्ता अनुगत हो रही है। यहाँ तक कि अभावमें भी 'है' की अनुगति देखनेमें आती है। 'घड़ा नहीं है' में भी 'है' जोड़ते हैं। अभावका बोध करानेके लिए भी 'है' पदका प्रयोग करते हैं; इसलिए 'सर्वं सदास्पदम्'- चाहे भाव हो चाहे अभाव हो, सब सत्तामें ही कल्पित होता है, ***निरधिष्ठानत्वायोगात्,*** क्योंकि कोई भी वस्तु निरधिष्ठान नहीं होती है और सबका अधिष्ठान सत्मात्र ही होता है।

अब आपको एक वेदान्तियोंकी बहुत प्रसिद्ध युक्ति सुनाते हैं। वे कहते हैं कि भ्रमाधिष्ठान और प्रमाधिष्ठान एक ही होता है। देखो चन्द्रमा जब मालूम पड़ा तो उसको बोलेंगे प्रमा और दूसरा चन्द्रमा जब मालूम पड़ा तो उसको बोलेंगे भ्रम; लेकिन प्रमा और भ्रम दोनों हमारे अन्त:करणमें होते हैं। तो भ्रमवाले अन्त:करणका जो साक्षी और अधिष्ठान है, प्रमावाले अन्त:करणका भी वही साक्षी और अधिष्ठान है। इसलिए भ्रमाधिष्ठान और प्रमाधिष्ठान-ये

दो नहीं हैं। जिसको यथार्थ ज्ञान हो रहा है उसीको अयथार्थ ज्ञान हो रहा है। ज्ञानमें यथार्थ और अयाथार्थका भेद नहीं है; ज्ञान दोनोंका प्रकाशक है और स्वयं प्रकाश है। ज्ञान तो ज्ञान ही है, चाहे झूठा हो चाहे सच्चा हो। इसलिए आत्माके अस्तित्वमें कभी शंका नहीं होती। जो चीज आत्माको मालूम पड़ती है वह यदि योग्य स्थान पर मालूम पड़े, तब तो है और अयोग्य स्थान पर मालूम पड़े तब नहीं है। अपने अभावके अधिकरणमें मालूम पड़े तो नहीं है और ऐसे अधिकरणमें मालूम पड़े जहाँ वह है तो है। वस्तुके बारेमें ऐसा है कि वह अपने अभावके अधिकरणमें भास रही है। जो भी वस्तु अपिरिच्छिन्न ब्रह्ममें परिच्छिन्न रूपसे भास रही है, वह अयोग्य अधिकरणमें भास रही है। माने अपरिच्छिन्न जो है वह परिच्छिन्नताके अभावका अधिकरण है, इसलिए परिच्छिन्न वस्तु मिथ्या है। यह जड़ वस्तु जो भास रही है वह चेतन अधिकरणमें भास रही और चेतन अधिकरण तो जड़के अभावका भी अधिकरण है, इसलिए जड़ वस्तु उसमें मिथ्या है। एक जो है वह अनेकके अभावका अधिकरण है; उसमें अनेकता भासती है तो मिथ्या है।

अब परम प्रेमास्पद आत्मा प्रेम स्वरूप है, यह दुःखके अभावका अधिकरण है। इसमें जो दुःख भास रहा है सो मिथ्या है। तो आनन्दस्वरूप आत्मामें दुःख मिथ्या भास रहा है। चित्स्वरूप आत्मामें जड़ मिथ्या भास रहा है। सत् स्वरूप आत्मामें असत् मिथ्या भास रहा है। देशसे अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें यह लम्बाई-चौड़ाई मिथ्या भास रही है, पूर्व-पश्चिम मिथ्या भास रहा है। कालके अभावके अधिकरणमें यह वर्ष-संवत्सर-मास-पक्ष आदि मिथ्या भास रहे हैं। और आकारके अभावके अधिकरण सत्में ये जितने आकार-प्रकार भास रहे हैं ये मिथ्या भास रहे हैं। और अहं, त्वं, तत्, इदम्, आदिके अभावके अधिकरणमें यह अहं, इदं, त्वं, तत् आदि वाच्यार्थभूत मिथ्या भास रहे हैं। इसलिए सम्पूर्ण मिथ्याओंको धारण करता हुआ भी यह न तो मिथ्या रूप पदार्थोंसे आसक्त है और न तो सगुण है—**निर्गुणं**—यह निर्गुण है।

गुण शब्दका अर्थ आपको बताया था कि विषय भी गुण हैं। आप जानते ही हैं गन्ध गुण है पृथिवीका, रस गुण है जलका, रूप गुण है तेजका, स्पर्श गुण है वायुका, शब्द गुण है आकाशका, ये सब गुण हैं। तो परमात्मा कैसा है? कि निर्गुण है। **निर्गुणं** माने **अशब्दं अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम्।**

न उसमें शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है। निर्गुणं है। गुण माने इन्द्रियाँ। तो निरीन्द्रिय है। गुण माने अन्तःकरण। वह निरन्तःकरण है। अन्तः करण ही उसमें नहीं है। गुण माने सत्त्व, रज, तम। उसमें सत्त्व, रज, तम नहीं है। गुण माने गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति। उसमें प्रकृति भी नहीं है। अशेष विशेषके निषेधके अनन्तर जो शेष है वह कौन है? अपना आत्मा है। उस निषेधका साक्षी, उस निषेधका द्रष्टा, उस निषेधका अधिष्ठान, उस निषेधका प्रकाशक आत्मा है। श्रुति कहती है कि यह जो तुम्हारा आत्मा है, यह कोई बिन्दु नहीं है, यह कोई स्फुलिंग नहीं है—बिन्दु हो तो देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न हो। यह कोई कण नहीं है, यह कोई अणु नहीं है, यह कोई चिद् बिन्दु भी नहीं है। यह तो देशका आश्रय परिपूर्ण है, काल का आश्रय अविनाशी है, वस्तुका आश्रय सन्मात्र है और इसके मिथ्यात्वका ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। क्योंकि मिथ्यात्वका ज्ञान होगा तो किसको होगा? मिथ्यात्व भी इसी ज्ञानस्वरूप आत्मामें प्रकाशित होगा और आत्मासे प्रकाशित होगा। इसलिये यह अमिथ्या है, यह अबाध्य है, किसी भी युक्तिसे, किसी भी प्रमाणसे, किसी भी तर्कसे, किसी भी प्रक्रियासे 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान कभी किसी को नहीं हो सकता और वेदान्त इसी, स्वप्रकाश चिदात्माको **अद्वितीयं ब्रह्म** बताता है।

निर्गुणं गुणभोक्तृ च—आत्मा निर्गुण है और यह गुणोंका भोक्ताभी है। भोक्ता शब्दका अर्थ आपको कल सुनाया था। भोक्ता माने केवल उपलब्धा ही होता है। यह महाराज संसारी लोग न भोग समझें, न योग समझें। इनको तो अपना देह सूझता है और देहके सम्बन्धी सूझते हैं और देहके लिये जो उपयोगी पदार्थ हैं, वे सूझते हैं।

अच्छा भोग कहाँ होता है? भोग कहीं शरीरसे बाहर होता है? बड़ी मोटी बात है कि कोई भी भोग शरीरके बाहर नहीं होता। अच्छा, शहरमें एक-एक कुत्तेपर दो-दो सौ पाँच-पाँच सौ रुपया महीनामें खर्च करते हैं, नौकर भी रखते हैं, मांस भी खिलाते हैं। और देशमें हजारों मनुष्योंके बच्चे ऐसे हैं जिनको पाँच रुपया महीना फीस देनेको नहीं मिलती है। एक बात ही तो है ना, अपना-अपना रुझान है। अब वहाँ कुत्तेका भोग कहाँ होता है? गाँवमें ऐसे कुत्ते होते हैं, बेचारे गरीब, उनकी हड्डी दिखती रहती है,

खानेको नहीं मिलता है। उनको अगर हाथमें झूठ-मूठ डंडा लेकर दिखाओ ना, तो पूँछ दबाके कायँ-कायँ बोलते हैं। तो यह बताओ कि यह जो दु:खका भोग हुआ, वह मारनेवाले आदमीमें दु:खका भोग हो रहा है कि डंडेमें दु:खका भोग हो रहा है कि कुत्तेकी आँखमें दु:खका भोग हो रहा है? आखिर वह जो कुत्तेको दु:ख हो रहा है,वह कहाँ हो रहा है? वह कुत्तेके दिलमें हो रहा है। तो ये दु:ख और सुख जो हैं ये न शब्दमें रहते हैं, न स्पर्शमें रहते, न रूपमें रहते, न रसमें रहते, न गन्धमें रहते, न गालीमें रहते, न तारीफमें रहते हैं ; छूनेमें भी नहीं रहते; खाने-पीनेमें भी ये सुख-दु:ख नहीं रहते हैं। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें अनुकूल-प्रतिकूलकी जो कल्पना हो गयी है, उसमें रहते हैं। यह शब्द हमारे अनुकूल और यह शब्द हमारे प्रतिकूल! मानलो हमको कहीं भोजन करना पड़े और हमारे सामने ही चार आदमी बैठकर मांस खाते हों, कोई प्याज खाता हो, कोई शराब पीता हो, तो यद्यपि हमारे साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, हम तो गंगाजलसे बनी हुई, दूधमें बनी हुई पूरी खा रहे हैं, लेकिन चित्तमें ग्लानि हो जायेगी। क्यों ग्लानि होगी, क्यों दु:ख होगा? क्योंकि उस मांसमें, प्याजमें, शराबमें हमारा अनुकूल संस्कार नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि जैसा संस्कार हमारे चित्तमें पड़ा हुआ है, उसीके कारण हमारा मन किसी शब्दको सुनकर, किसी स्पर्शको प्राप्त कर, किसी रूपको देखकर, किसी रसको चखकर, किसी गन्धको सूँघकर सुख-दु:ख मोहाकार परिणामको प्राप्त होता है। सुख, दु:ख और मोह-ये तीनों आकार हमारे मनके हैं, विषयके नहीं हैं। यह बात आप पहले अपने मनमें बिठा लो। कोई गाली दे, तो चित्तमें दु:ख होता है। वहाँ चित्त ही दु:खाकार परिणामको प्राप्त होता है। कोई तारीफ करे तो चित्त ही सुखाकार परिणामको प्राप्त होता है। और कहीं अत्यन्त आसक्ति हो तो चित्त ही मोहाकार परिणामको प्राप्त हो करके मूढ़ हो जाता है। इसका मतलब यह है कि सुख-दु:ख और मोह—ये बाहर नहीं होते, हमने जिस शब्दको सुखकर, दु:खकर, मोहकर मान रखा है, जिस स्पर्शको, जिस रूपको, जिस रसको, जिस गन्धको सुखकर; दु:खकर, मोहकर मान रखा है, उसीसे चित्तमें सुख, दु:ख या मोहकी परिणति हो जाती है ।

ये आदिवासी जंगली लोग कानमें कितना जेवर पहनते हैं; शरीरपर कितना गोदना गुदवाते हैं, और गलेमें कितनी माला, कितना मूँगा और कितनी मोटी-मोटी गुरिया पहनते हैं; और शरीरको कैसे नंगा रखते हैं; और इसीको अपने सुखका हेतु समझते हैं। कहते हैं कि वे बेवकूफीसे समझते हैं, लेकिन भले बेवकूफीसे समझते हों, उनको उससे सुख होता है कि नहीं होता? होता है। लेकिन एक शहरकी लड़कीको अगर वैसा ही गोदना और वैसा ही गुरिया और वैसा ही मूँगा पहनना पड़े और वैसे ही नंगे रहना पड़े तो उसकी क्या दशा होगी? तो असलमें वस्तुमें सुख, दुःख और मोह नहीं होता, मनुष्यके मनमें जैसे संस्कार पड़ जाते हैं उसके अनुसार उसकी वृत्तिका परिणाम हो जाता है—सुखाकार, दुःखाकार और मोहाकार।

अब आपको यह बताते हैं कि वस्तुका भोग नहीं होता है। न भोग वस्तुका होता है, न स्थानका होता है, और न समयका होता। अरे कैसा सुहावना समय है, प्रातःकाल है, शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चल रही है। उसीकालमें एक बीमार आदमी, एक भूखा आदमी तड़फड़ा रहा है—हाय-हाय, उसको ठंड लग रही है, वह तो मृत्युके सन्निकट जा रहा है। समय कोई सुखप्रद, कोई दुःखप्रद नहीं होता। स्थान सुखप्रद-दुःखप्रद नहीं होता, कोई वस्तु सुखप्रद-दुःखप्रद नहीं होती, कोई व्यक्ति सुखप्रद दुःखप्रद नहीं होता। यह तो मनका जैसा लगाव है ना, वैसा ही है। अपने प्यारेको देख हमारे होंठ खिल जाते हैं। वही दूसरेके पास जाता है तो आदमी अपनी नाक भौंह सिकोड़के मुँह फेर लेता है। एकको वह दुश्मनके रूपमें भासता है। एकको मित्रके रूपमें भासता है। तो कहनेका अभिप्राय यह है कि असलमें बाहरकी वस्तुका भोग नहीं होता, बाहरके स्थानका भोग नहीं होता, बाहरके कालका भी भोग नहीं होता, बाहरके व्यक्तिका भी भोग नहीं होता और बाहरकी क्रियाका भी भोग नहीं होता, भोग किसका होता है? अनुकूल-प्रतिकूल आकारमें परिणित जो हमारा चित्त है, उस चित्तका ही भोग होता है।

भोग चित्तका ही होता है, भोग बाहरका होता ही नहीं। तो सात्त्विक चित्त सुखाकार परिणामको प्राप्त होता है। जिसका चित्त सात्त्विक होता है, बात-बातमें उसको सुख ही होता है। दुःख आया तो ये कहते हैं—अरे भाई चार दिन बाद दुःख होना था, आज ही हो गया तो ऐसा ही सही। बुखार

आया तो कहेंगे—चलो भाई बड़े साधु महात्मा तो तपस्या करते हैं, अपने शरीरको गर्म करते हैं, पंचाग्नि तापते हैं, आज ईश्वरने अपने आप ही हमारे लिए पंचाग्नि भेज दी आओ ताप लें। चलो आज काम धन्धेसे छुट्टी मिली, आँख बन्द करके भगवान्‌का ध्यान ही करेंगे।

अच्छा, क्या मनुष्य सुखाकार वृत्ति, दुःखाकार वृत्ति और मोहाकार वृत्तिका भोग करता है? नहीं, भोग नहीं करता, केवल देखता है। यह भ्रम है कि हम भोग करते हैं। जीभपर एक बार नमक डाला। जीभने बता दिया कि यह स्वाद नमकीन है। जीभने यह थोड़े ही कहा कि तुम सुखी हो गये। एकबार चटपटा मसालेदार कोई पदार्थ जीभपर आ गया, तो जीभने बताया कि यह मसालेदार है, इसमें हींग है कि नहीं, सौंफ है कि नहीं, जीरा है कि नहीं। तो वह मालूम पड़ता है, लेकिन वह सुख-दुःख नहीं देता।

कहते हैं कि कोई सज्जन विदेशसे आये थे। हरी मिर्चके छोटे-छोटे टुकड़े काटकर तश्तरीमेंउनके सामने रख दी, उन्होंने समझा कि यह भी कोई सब्जी है, चम्मचसे उठाकर एक चम्मच मुँहमें डाला, अब आँसू आने लगे, आँखसे पानी गिरे, तो उन्होंने पोंछ लिया रुमालसे, दूसरेने पूछा कि यह क्या हुआ? बोले हुआ कुछ नहीं, हमें अपने बापके मरनेकी याद आ गयी। दूसरेने भी एक चम्मच उठाकर अपने मुँहमें डाल लिया, वह भी समझता था कि सब्जी है, तो उसकी आँखमें भी आँसू आ गये। दूसरेने पूछा—क्यों? तुम्हारी आँखमें आँसू क्यों आये? बोले—हम यह सोच रहे थे कि तुम भी अपने बापके साथ अगर मर गये होते, तो आज हम तुमको रोते नहीं देखते।

मतलब क्या है कि यह सुख, दुःख, मोह-यह चित्तकी बनावट है- और आत्मा केवल इसका ज्ञाता है, ग्रहीता नहीं। प्रकाशक और ग्रहीतामें फर्क होता है। जैसे देखो हीरा चिलकता है और शीशा परछाईंको पकड़ लेता है। सूर्यमें हम लोगोंकी परछाईं नहीं पड़ती है, सूर्य हम लोगोंको प्राकाशता है। पर शीशेमें हमारी परछाईं पड़ती है। तो अन्तःकरण वह चीज है जो विषयोंकी परछाई भीतर ग्रहण करके सुखाकार-दुःखाकार परिणामको प्राप्त होता है। और आत्मा जो है वह प्रकाश है जो परिणामको प्राप्त नहीं होता, केवल प्रकाशक और साक्षी है। साक्षी होना और स्वयं प्रकाश होना, इसका भी विवेक होता है। तो अन्तःकरण विषयको ग्रहण करता है और

उसके साथ-साथ सुखाकर,दु:खाकार, मोहाकार परिणाम प्राप्त होता है। कोई नशीली दवा खिला दो तो अन्त:करण मोहाकार परिणामको प्राप्त हो गया, बेसुध हो गया, तमोगुणकी वृद्धि हो गयी। रजोगुणकी वृद्धि हुई तो दु:खाकार हो गया। सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई सुखाकार हो गया। लेकिन आत्मदेव केवल जानकारी रखते हैं कि यह देखो यह चित्त सुखाकार हुआ, यह दु:खाकार हुआ, यह मोहाकार हुआ, वे स्वयं न मूढ़ होते हैं, न सुखी होते हैं, न दु:खी होते हैं। कहो कि आत्मा ही सुखी, दु:खी और मूढ़ हो गया, यदि ऐसा मानें तो क्या हर्ज है? हर्ज यह होगा कि तब पहले मैं सुखी हुआ, फिर मैं दु:खी हुआ, फिर मैं मूढ़ हुआ, इसमें जो सुखीपना, दु:खीपना और मूढ़पना बदलता रहता है, इनके बदलनेका साक्षी कौन होगा? सुखीको बनते और बिगड़ते किसने देखा? दु:खीको बनते और बिगड़ते किसने देखा? मूढ़को बनते और बिगड़ते किसने देखा? जिसने देखा, वह तो उससे न्यारा है।

अच्छा, बोले—भाई, वृत्तियोंके इन परिणामोंको भी देखनेके लिए भी तो कोई औजार चाहिए। बोले—नहीं, आत्मा तो केवल देखता है परन्तु जैसे मनुष्य जीवनमें रूप देखनेके लिए आँखकी और शब्द सुननेके लिए कानकी जरूरत पड़ती है, वैसे आत्माको यह सुखाकार-दु:खाकार-मोहाकार वृत्तिको जाननेके लिए, सुखीपना, दु:खीपना और मूढ़पनाका साक्षी रहनेके लिए, किसी करणकी, किसी औजारकी जरूरत नहीं है; यह बिना औजारके ही साक्षी होता है, माने यह स्वयं प्रकाश है।

देश, काल, वस्तुका भेद भी अन्त:करणके द्वारा गृहीत होता है, इसलिए कल्पित है; और उस देश-कल्पना, काल-कल्पना और वस्तु-कल्पनाका साक्षी है आत्मा; और आत्मा बिना देशके, बिना कालके, बिना वस्तुके भी साक्षी है; इसलिए आत्मा स्वयं प्रकाश है; और यह स्वयं प्रकाश जो आत्मदेव हैं ये देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं हैं क्योंकि देश-काल-वस्तुके भावाभावके साक्षी हैं। इसलिए '**गुणभोक्तृ च**', गुणोपलब्धा है। इन्हें सुख, दु:ख, मोह आदिका केवल भान ही होता है ये सुखी, दु:खी, मोही नहीं होते। इनको अन्त:करणोंका केवल भान ही होता है, ये अन्त:करणी नहीं होते। इनको देश, काल, वस्तुका केवल भान ही होता है, ये देशी, काली और वस्तुमान् नहीं होते। तब? बोले—कि उनके भावाभावके साक्षी हैं और

उनको जाननेके लिए इन्हें किसी करणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये स्वयं प्रकाश हैं। और ये स्वयं प्रकाश अदेश, अकाल, अवस्तुके अधिष्ठान होनेसे स्वयं ब्रह्म हैं। यही बात वेदान्त बताता है।

तो आपको फिरसे इस श्लोकका एक अभिप्राय सुनाता हूँ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

सब इन्द्रियाँ माने बाह्य इन्द्रियाँ और आन्तर इन्द्रियाँ। आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा—ये बाह्य इन्द्रिय हैं; और भीतर जो हैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं वे आन्तर इन्द्रियाँ हैं। असलमें इन्द्रियोंमें बाह्य और आन्तरका जो भेद है यह भी तबतक है जब तक इस भेदका खण्डन समझमें नहीं आ जाता। आप विचार करके देखो कि आँख देखती है कि आँखमें आयी हुई चक्षुर्वृत्ति देखती है? कभी-कभी आँख खुली रहती है और मन दूसरी जगह चला जाता है, तो दिखाई नहीं पड़ता—

अन्यत्रमना अभूव नापश्यन्। अन्यत्रमना अभूव नाश्रृण्वन्।

हमारा मन दूसरी जगह चला गया, नहीं देखा; हमारा मन दूसरी जगह चला गया हमने नहीं सुना। तो असलमें यह जो कनेरके फूलकी तरह कान लगाया हुआ है और यह जो गुलाबकी तरह आँख जोड़ी हुई है, यह जो चामकी पत्तीकी तरह जीभ मुँहमें घुसेड़ी हुई है, इनसे विषयका ज्ञान नहीं होता, चक्षुर्वृत्ति, श्रोत्रवृत्ति, रासन वृत्तिसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ वृत्तिरूप हैं और वृत्तिरूप होनेके कारण ही जब यह हमारी बाहरी आँख बन्द रहती है, बाहरी कानसे कुछ नहीं सुनाई पड़ता, बाहरी जीभसे कोई स्वाद नहीं आता उस समय भी स्वप्नमें हमको शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गन्धका ज्ञान होता है; वहाँ तो बाहर कुछ नहीं होता है, सब भीतर ही होता है। तो असलमें, इन्द्रियाँ जो हैं वे सूक्ष्म शरीरकी अंग हैं, स्थूल शरीरकी अंग नहीं हैं। यह तो आपने सुना ही होगा पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि-इन सत्रहों तत्त्वोंसे बना हुआ लिङ्ग शरीर होता है, वह सूक्ष्म शरीर होता है, वह स्थूल नहीं होता।

तो असलमें मन, बुद्धि, अहंकार चित्त, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्तपादादि कर्मेन्द्रियाँ—ये सब जितनी इन्द्रियाँ हैं, वे सब यहाँ सर्वेन्द्रिय

शब्दसे ग्रहण की जाती है। यहाँ ग्राहक मात्र उपलक्षित है। जो भी दूसरेको ग्रहण करनेवाला है—दूसरेको समझने और पकड़नेवाले जितने भी साधन हैं हमारे पास, उन सबको बोलेते हैं इन्द्रिय। और इन इन्द्रियोंसे जो गृहीत होता है, जो इनके विषय होते हैं, उनको बोलते हैं गुण। हाथसे जो पकड़ा गया, आँखसे जो देखा गया, कानसे जो सुना गया, वह गुण है। गुण क्यों है? वह जरा हमारे कानको अपने साथ खींचकर पकड़ता है, हमारी आँखको पकड़ता है कि हमको देखो, अतः गुण है, बन्धन है। तो ग्राह्य-ग्राहक दोनों सर्वेन्द्रिय और गुण शब्दसे ले लिया।

अब परमात्मा कैसा है? ***सर्वेन्द्रियवत्*** अर्थात् ***ग्राहकवत्*** और ***गुणवत्*** अर्थात् ***विषय वत् आभासते इति*** **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्।** वह परमात्मा तो एक है परन्तु शरीरमें रहकर सम्पूर्ण 'सर्वेन्द्रियवत्' अर्थात् 'ग्राहकवत्' और 'गुणवत् आभासते इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'। ग्राह्योंके रूपमें, बाहर और भीतर सर्वत्र, जो भी ग्राह्य-ग्राहकात्मक प्रपञ्च है इसके रूपमें, वह परमात्मा ही भास रहा है। विषयके रूपमें भी वही और इन्द्रिय अन्तःकरणके रूपमें भी वही—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारके रूपमें भी वही भास रहा है। ***किं वत्? स्वप्नवत्।*** जैसे एक द्रष्टा चैतन्य पुरुष स्वप्नमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके रूपमें भी और गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द इन विषयोंके रूपमें भी और हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियोंके रूपमें भी, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके रूपमें भी और स्वप्नमें मालूम पड़नेवाले पृथक्-पृथक् रागी-द्वेषी अन्तःकरणवाले व्यक्तियोंके रूपमें भी जैसे एक ही द्रष्टा भासित होता है, वैसे एक ही परमात्मा जाग्रत अवस्थामें भी ग्राह्यरूपमें और ग्राहक रूपमें-दोनों रूपमें भासित हो रहा है—***सर्वेन्द्रियवत् गुणवत् आभासते इति सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्।*** इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रियके रूपमें भास रहा है: विषय नहीं है, पर विषयके रूपमें भास रहा है कैसे? बोले—स्वप्नके समान। जैसे स्वप्नमें एक ही द्रष्टा सर्वरूपमें भासता है, एक ही परमात्मा सर्वरूपमें भास रहा है।

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। परमात्मा और कैसा? बोले—उसमें वस्तुतः इन्द्रिय और गुण कुछ भी नहीं है।

देखो, कहीं पानी हो और उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो मालूम पड़ता है कि पानीके भीतर सूर्य है। लेकिन क्या वहाँ पानीके भीतर सूर्य

है? नहीं वहाँ मालूम पड़ता है कि सूर्य पानीके नीचे है और कम्पायमान हो रहा है—

कम्पते अधस्थ इव भासते।

तो जैसे—वहाँ सूर्य नीचे मालूम पड़ता है, भीतर मालूम पड़ता है और काँपता हुआ-सा मालूम पड़ता है, लेकिन सचमुच ऐसा होता नहीं; उसी प्रकार यह शरीर और प्रपञ्चमें कुछ बाहर भीतर नहीं है? इसमें जो भीतर चैतन्य भासता है, बाहर नहीं, यह स्वप्नमें जैसे भीतर भासता है बाहर नहीं, बिलकुल ऐसा ही है। इसमें न बाहर है और न भीतर है।

बोले—फिर '**सर्वम् ब्रह्म**' यह बात कैसे कही जाती है? ऐसे कही ाती है कि ब्रह्म जो कुछ प्रतीत होता है, उससे विलक्षण है जैसे टोकरीमें बेर रक्खे जाते हैं, वैसे ब्रह्ममें बेरकी तरह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रखे हुए हैं—ऐसा सर्वभृत् ब्रह्म नहीं है, ऐसा सबको धारण करनेवाला, ब्रह्म नहीं है। माने ब्रह्म आधार और जगत् आधेय-ऐसा आधार-आधेय भाव नहीं है।

ब्रह्ममें जगत् समवाय सम्बन्धसे भी नहीं रहता। जैसे घड़ेमें रूप कहाँ रखा है? बोले—घड़ेमें। तो घड़ेमें रूप जैसे समवाय सम्बन्धसे रहता है, कार्य-कारण रूपसे, ऐसे यह सृष्टि ब्रह्ममें रखी हुई नहीं है।

न तो सृष्टि ब्रह्ममें आधार-आधेय भावसे है—टोकरीमें बेरकी तरह अथवा जैसे आकाशमें अलग-अलग तारे-ग्रह-नक्षत्र रखे हुए हैं, ऐसे, और न कार्य-कारण भावसे या समवाय सम्बन्धसे; जैसे व्यक्ति और जातिका, गुण और गुणीका समवाय सम्बन्ध होता है वैसे प्रपञ्च और ब्रह्मका समवाय सम्बन्ध नहीं है! बोले—तब ***सम्बन्धं विनैव सर्वभृत्त्वं*** *ब्रह्मण:*—बिना किसी सम्बन्धके ही ब्रह्म सर्वभृत् हैं। कैसे? कि जैसे मृगतृष्णामें भासनेवाले जलके साथ कोई सम्बन्ध न होनेपर भी मृगतृष्णाके साथ जलका सम्बन्ध भासता है। वैसे ही **सर्वभृच्चैव असक्तं**। वैसे वह सर्वभृत् होकर के भी सर्वसे रहित ही है।

तो अब बताते हैं कि—

निर्गुणं गुणभोक्तृ च। गुण शब्दसे गुणका कार्य वैषम्यावस्था और गुणकी साम्यावस्था—दोनों ग्रहण करना है। तो परमात्मामें न कार्य कारण भाव है, न धर्म-धर्मी भाव है, न आधाराधेय भाव है, न नियन्तृ-नियम्य भाव

है, न भोक्तृ-भोग्य भाव है, न आश्रय-आश्रित भाव है, क्योंकि सत्यका मिथ्याके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

एकबार हमारे गाँवके पास नेहरूजी आये थे। कोई सन् तीस-इकतीसकी बात है। लाहौरमें कांग्रेसने उन दिनों पूर्ण स्वतन्त्रताकी घोषणा कर दी थी। केवल स्वायत्त शासन मात्र नहीं चाहिए हमें पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिए, इसकी घोषणाकी गयी थी। तो बड़ी उत्सुकता थी कि नेहरूजी कैसे हैं, क्या बोलते हैं जाकर देखें। गये, तो वे बोल रहे थे-कि 'अंग्रेज' लोग असत् पक्ष पर हैं और हमलोग सत् पक्षमें हैं! हम न्यायपर हैं और वे अन्यायपर हैं, हम सत्यपर हैं वे असत्यपर ... ' और यह सब प्रतिपादन करके उन्होंने अन्तमें कहा कि सत्य और असत्यका समझौता नहीं हो सकता।

यह जो समझौतेकी वृत्ति है इसके बारेमें, आपको क्या सुनावें, हमलोग जब समन्वयकी दृष्टिसे बोलते हैं तो न्याय और वेदान्तका समन्वय कर देते हैं? कैसे कर देते हैं कि देखो भाई पहले स्थूल सृष्टिके निषेधके लिए परमाणुका प्रतिपादन किया और कारण स्वयं कार्यके रूपमें परिणत हुआ है, इसकी जगहपर ईश्वरने जगत् बनाया है यह बात बतायी, तो चैतन्य की स्थापना हो गयी। एक कक्षामें देखो उपादान कारण और निमित्तकारण दोनोंका ही उन्होंने समर्थन कर दिया। तो वेदान्तके एक रास्तेमें तो न्याय है और एक जगह उपकारी है। बोले—सांख्य भी उपकारी है क्योंकि आत्माको द्रष्टा बताता है। मीमांसा भी उपकारी है क्योंकि आत्माको देहातिरिक्त बताता है। हम लोग कहते हैं, कि सब दर्शन वेदान्तके बड़े उपकारी हैं। बोले—उपासना भी बहुत उपकारी है, क्यों कि उपासना करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और ईश्वरके बारेमें विचार करनेका अवसर मिलता है। हम तो समन्वयवादी हैं, सबका तो हम करते हैं। लेकिन उन-उन मतवादियोंसे जब पूछने जाते हैं कि हे न्यायीजी! तुम यहाँ बैठनेको तैयार हो, जहाँ हम बैठाते हैं? तो बतायेंगे, ना वेदान्त सिद्धान्त बिलकुल गलत है, हम सच्चे हैं। और वेदान्तसे पूछो कि हे वेदान्ती जी तुम उनको स्वीकार करनेको, परमाणुवादको, आरम्भवादको स्वीकार करनेको तैयार हो? तो कह देगा कि बिलकुल नहीं। तो समन्वय-जो समझौतेका काम है, वह तो बीच-बचाव करनेवाले लोग करते हैं। लेकिन जब जजको फैसला देना पड़ता है तो समझौता

करवाना जजका काम नहीं है उसको तो कानूनके अनुसार दो टूक निर्णय देना होता है।

तो बोले—भाई चार अन्धे हाथीको देखते हुए आये। एकने हाथीको बताया खम्बा सरीखा; एकने बताया मूसल सरीखा, एकने बताया चट्टान सरीखा; एकने बताया सूप सरीखा। अब इन चारों अन्धोंमें-से किसीने समूचे हाथीको देखा? नहीं देखा। अच्छा तो किसी भी मतवादीसे पूछो कि तुम केवल कान देखकर सूप सरीखा बता रहे हो, तुमने हाथीको नहीं देखा। तो क्या वह मानेगा? वह कहेगा नहीं हम हाथीको देख आये हैं। वह सूप सरीखा ही होता है। किसीको कहो कि तुमने हाथीका केवल पाँव ही छुआ है, तो वह मानेगा? नहीं। मतवादी लोग तो अपने अपने मतका आग्रह कर-करके बैठे हुए होते हैं।

आपको मालूम होना चाहिए, कि परमाणु विद्या दूसरी है। प्रकृति विद्या दूसरी है, समाधि विद्या दूसरी है। यह आजकलकी जो यान्त्रिक विद्या है, यह जड़ विद्या दूसरी है। भौतिक आविष्कार दूसरी चीज है, वैज्ञानिक आविष्कार दूसरी चीज है। और यह जो अद्वैत विद्या अपरिच्छिन्न विद्या है, ब्रह्म विद्या है, यह बिलकुल दूसरी चीज है। इसमें आत्मा ही परमार्थ सत्य वस्तु है और यह परिच्छिन्न आत्मा नहीं, ब्रह्मात्मा है; यह आत्मा असलमें ब्रह्म है।

तो आप केवल चित्तके, एक चित्तके परिणामके साक्षी नहीं हैं। असलमें चित्तकी कल्पना जिस दृष्टिमें हुई है, उस दृष्टिके द्रष्टा आप हैं। आप वह द्रष्टा हैं जिसमें हजार आदमी दिख रहे हैं और हजारों आदमियोंमें अन्तःकरण हैं-ऐसी कल्पना हो रही है। तो जिस दृष्टिसे हजार आदमी दिखते हैं और हजारों आदमियोंमें चित्तकी कल्पना होती है, उनमें शत्रु-मित्रकी कल्पना होती है और उनमें अनुकूल-प्रतिकूलकी कल्पना होती है, उस दृष्टिके आप द्रष्टा हैं। औजार वाले आप बिलकुल नहीं हैं। इसलिए जितने उपास्य-उपासक भेद हैं, नियम्य-नियन्तृ भेद, शेष-शेषी भेद, आश्रय-आश्रित भेद, भोक्तृ-भोग्य भेद, ज्ञातृ-ज्ञेय भेद हैं-ये जिस परमात्माके ज्ञानसे बाधित हो जाते हैं; माने ये भास तो रहे हैं, लेकिन मिथ्या आभास मात्र हैं। वह परमात्मा आप हैं। इसमें जीवन्मुक्त पुरुष भी बाधित हो जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष भी इसमें सच्चा

नहीं है। बोले- तब जीवन्मुक्तिपर इतना जोर क्यों दिया था? इसलिए दिया था कि जीवन्मुक्तकी लालचसे तुम जिज्ञासु बनो। यदि तुम्हें ज्ञान हो गया तो अब तुम जीवन्मुक्त व्यक्तिके शरीरसे भी तादात्म्य स्थापित मत करो कि मैं यह जीवन्मुक्त हूँ। तुम ब्रह्म हो। तुम बद्ध नहीं हो, तुम मुक्त नहीं हो, तुम जीवन्मुक्त नहीं हो। तुम महात्मा बनकर मत बैठो। महात्मा और दुरात्मा दोनों ही तुम्हारे अन्दर बिलकुल आभास मात्र, बिलकुल भानमात्र हैं, अपने स्वरूपमें। बोले- भाई हम महात्मा बननेके लिए ही तो ज्ञानके मार्गमें चले थे। बोले कि हाँ तब तुम अपने देहकी पूजा करवाने चले थे। तुम अपनेको ब्रह्म जाननेके लिए कि मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ- इसके लिए नहीं चले थे। अपनेको देहधारी, महात्मा व्यक्तिके रूपमें जानने मानने होनेके लिए चले थे। ज्ञान होने पर तो व्यक्तित्वका ही निषेध हो गया! उसके साथ ही पहले-पीछेके सारे शुभाशुभ कर्म ही बाधित हो गये!

तदधिगमे उत्तरपूर्वार्घयो: अश्लेषविनाशौ: तद्व्यपदेशात्।

(ब्रह्मसूत्र ४.१.१३)

ज्ञेय ब्रह्म-४. सर्व वही परन्तु अविज्ञेय!

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

अर्थ :—वह ब्रह्म भूतोंके बाहर भी है और भीतर भी है; अचर भी वही है और चर भी वही है; वही दूर भी है और पास भी है। परन्तु वह सूक्ष्म होनेके कारण ही अविज्ञेय है।

यह त्वचा-पर्यन्त जो अविद्या-कल्पित शरीर है, इस शरीरको जब हम मैं मानकर बैठ जाते हैं कि यही हम हैं, तो इस शरीरके बाहर-भीतरका ख्याल हो जाता है-बाहर पुस्तक है और इस शरीरके भीतर हृदय है-यह बाहर और भीतरकी कल्पना एक घेरा बनानेके बाद होती है। यह बात तो आपके ध्यानमें आती है कि मकानकी दीवारकी दृष्टिसे हम लोग भीतर बैठे हैं और सड़क मकानके बाहर है। लेकिन यह दीवार किस ख्यालसे है? बम्बईके ख्यालसे सड़क भी भीतर ही है; और देशके ख्यालसे बम्बई और नासिक, कलकत्ता और मद्रास दोनों देशके भीतर ही हैं। और आकाशकी दृष्टिसे सारे ब्रह्माण्ड आकाशके भीतर है। तो यह बाहर-भीतरका जो ख्याल होता है, इसकी कोई सीमा नहीं होती, एक सीमा कल्पित करके तब बाहर और भीतर मानना पड़ता है। कल्पित रेखा बनाये बिना बाहर और भीतरका भेद नहीं बन सकता।

और यह जो धर्म होते हैं न, सम्प्रदाय होते हैं, ये सब कालके घेरेमें होते हैं। तेरह सौ बरसके पहले यह सम्प्रदाय नहीं था, अब हो गया या तीन हज़ार बरसके पहले यह सम्प्रदाय नहीं था, फिर हो गया। अरे, ये संस्कृतियाँ जो बनती हैं, बिगड़ती हैं, ये सब भी कालके घेरेमें होती हैं। यह संस्कृति बड़ी पुरानी है, यह बिलकुल नयी है—आज जो नयी है वही दो हजार बरस बाद पुरानी हो जायेगी; दो सौ बरस पहले जो नयी थी वही आज पुरानी हो गयी है।

इन्हीं बातोंको लेकर, सबेरे-सबेरे एक बात मनमें आयी थी कि भाई, आगे चलकर ऐसा शासन आनेवाला है कि यह-यह-यह नहीं रहेगा। तो हमने कहा—पहले भी तो यह नहीं था! तब भी हम ब्रह्म ही थे और जब यह नहीं रहेगा तब भी हम ब्रह्म ही रहेंगे, तो फिकर क्यों? अरे फिकर भी नहीं रहेगी भाई। फिकर भी एक भान-मात्र ही है।

तो '**बहिरन्तश्च भूतानां**'—ये बाहर भीतर क्या है? आप एक घेरा बनायें, बिना उसके बाहर और उसके भीतरकी कल्पना नहीं कर सकते। यह जो परब्रह्म परमात्मा है, वह सब घेरोंसे बाहर है, घेरोंको तोड़कर है। सब घेरोंका आधार है, सब घेरोंका अधिष्ठान है, सब घेरोंका प्रकाशक है, तो उसमें बाहर और भीतर कहाँ से?

एक बार एक बड़े सेठके घर गये, बड़ा बंगला और घरमें बड़ा मैदान। वे दिखाने लग गये। नटराजकी एक मूर्ति दिखायी, तो बोले—चौरानबे हजारमें मैंने यह मूर्ति खरीदी है। करोड़ रुपयेमें उनका हाल सजाया हुआ था। वहीं एक नक्शा (ग्लोब) रखा हुआ था। वह गोल-गोल घूमता था। उनसे पूछा कि क्या कहाँ है, क्या कहाँ है, तो उन्होंने बताया कि यह हिन्दुस्तान है। मैंने पूछा—इसमें बम्बई कहाँ है? तो बोले—यह बिन्दी जो लगी हुई है पश्चिमी तटपर समुद्रके किनारे, यह बम्बई है। तो मैंने पूछा—इसमें तुम्हारा मकान कहाँ है? बोले कि इसमें हमारा मकान नहीं है। मैंने कहा—देखो बम्बईके नकशेमें तुम्हारा इतना बड़ा महल और बगीचा है ही नहीं! और वे तो अपने महलको बड़ा भारी समझते थे।

तो यह जो आपका शरीर है, यह भले छोटी नजरसे देखो तो बहुत

बड़ा दिखेगा—कितना तो गोरा है और कितना सुन्दर है और इसमें कितनी विद्या-बुद्धि भरी हुई है और आपके समान भला दूसरा कौन है, आप बहुत चमकते हैं; लेकिन यदि इसी शरीरको आप सारे हिन्दुस्तानकी दृष्टिसे देखें और फिर सारी धरतीकी दृष्टिसे देखें, और फिर सारे ब्रह्माण्ड मण्डलोंकी दृष्टिसे देखें, सारे आकाशकी दृष्टिसे देखें, और अन्ततोगत्वा स्वयं प्रकाश, निर्विकार, अपरिणामी, परिपूर्ण, अविनाशी परमात्माकी दृष्टिसे देखें जिसमें देश, काल नहीं, तो यह आपका चिकना-चुपड़ा मैं और यह आपका मेरा कितने वजनका होगा? अनन्तमें इसका वजन कितना है? अनन्तमें इसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है? हिन्दुस्तानमें तो बम्बईकी एक बिन्दी भी है भला, परन्तु आकाशके नक्शेमें बम्बईकी बिन्दु भी नहीं है। तो यह जिस मैंको, जिस शरीरको हमलोग मैं- मेरा मानकर फँसे रहते हैं, यह तो 'गोविन्दाय नमो नमः' बोलने लायक है।

बहिरन्तश्च भूतानां—भूतोंके बाहर भी है और भीतर भी है। अचर भी है और चर भी है। सूक्ष्म होनेके कारण ही वह अविज्ञेय है। वह दूर भी है और पास भी है। क्या काव्यमय वर्णन है। एक ही वस्तुको बाहर भी बताना और भीतर भी, चर भी बताना और अचर भी, क्या परस्पर विरुद्ध, विरोधाभास हुआ! अब यह लाउड-स्पीकर बाहर है, भीतर नहीं है और भीतर जो दिल है वह बाहर नहीं है, पर वह बाहर-भीतर दोनों है, यह खम्भा अचर है और आप चर हैं। पर खम्भा आप नहीं हैं और आप खम्भा नहीं हैं। जो चर है सो अचर नहीं और जो अचर है वह चर नहीं, लेकिन वह दोनों है। **दूरस्थं चान्तिके च तत्**- यहाँसे लंदन दूर है, बम्बई पास है; यह बम्बई है तो लन्दन नहीं है, लन्दन है तो बम्बई नहीं है; और वह दोनों है फिर पहचान क्यों नहीं पाते हैं? पहचान इसलिए नहीं पाते हैं कि वह अतिशय सूक्ष्म है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

जो झटसे कह दिया जाय, वह छन्द अनुष्टुप् है; जो टुपसे बोल दिया जाय, वह अनुष्टुप् है। न आव देखा न ताव, टुपसे बोल दिया। यह छन्दोंका अभिप्राय होता है। यह आप लोग जो मंगलाचरण बोलते हैं न,

विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।

यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये॥

इसको शार्दूलविक्रीडित छन्द बोलते हैं- शेरकी गर्जना। यह में-में बोलनेके लिए नहीं है और वह जो बोलते हैं- **'महिम्नः पारं ते'** वह शिखरिणी छन्द है। जैसे आप श्रीखंड खाते हैं, हिन्दीमें उसीको शिखरण बोलते हैं। और—

'भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं' इसको मालिनी छन्द बोलते हैं। जैसे मालिनी फूलसे माला गूँथती है, वैसे ही यह मालिनी है। ये छन्दोंके भी भेद होते हैं। तो अनुष्टुप छन्द जो है, यह बड़ी-बड़ी बात टुपसे बोल देते हैं। अब देखो, गीताके इन अनुष्टुप् छन्दोंमें कितनी बड़ी बातें बोल दी गयी हैं।

बाहर और भीतर तत्त्वमें नहीं होता। बाहर और भीतर-यह तात्त्विक वस्तु नहीं है। इसको एक अपेक्षासे माना जाता है। चामको यदि अवधि नहीं बनावेंगे, एक कल्पित रेखा यदि चामकी नहीं बनावेंगे तो शरीरके बाहर-भीतर नहीं होगा; और दीवारको कल्पित रेखा नहीं मानेंगे तो घरके भीतर और बाहर नहीं होगा; और हिन्दुस्तान, पाकिस्तानकी यदि कल्पित सीमा नहीं होगी तो राष्ट्र ही नहीं होंगे। क्या हिन्दुस्तान, पाकिस्तानके भीतर बीचमें कोई नयी नदी आ गयी जो पहले नहीं थी? कि कहीं पहाड़ पैदा हो गया? कि कोई समुद्र आ गया? न समुद्र, न नदी, न पहाड़, जैसा पहले भूभाग था, वैसा ही आज भी है। और बोले—यह हिन्दुस्तान, वह पाकिस्तान, वह राष्ट्रके बाहर और यह राष्ट्रके भीतर। कहीं-कहीं ऐसी सीमा रेखा भी है कि सड़कके एक तरफ पाकिस्तान, दूसरी तरफ हिन्दुस्तान। एक ही मकान आधा पाकिस्तानमें आधा हिन्दुस्तानमें। माने भीतर बाहरका भेद कल्पित होता है। इस बातको आप समझ लो। पहले शङ्कराचार्य भगवान्ने यही बात समझायी है।

बहिस्त्वक्पर्यन्तं देहमात्मत्वेन अविद्यया
कल्पितमपेक्ष्य तमेवावधिं कृत्वा बहिः उच्यते।
तथा प्रत्यगात्मानमपेक्ष्य देहमेवावधिं कृत्वाऽन्तरुच्यते।

यह चाम तक जो शरीर है उसको अविद्या कल्पित मैंके रूपमें, आत्माके रूपमें मान करके और उसीको सीमा मान करके अवधि मान करके, तब उससे बाहर वालेको बाहर कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्यगात्माकी दृष्टिसे

देहको ही अवधि बना करके जिसको भीतर कहते हैं; देहके भीतर ही भीतर भी है।

अब बाहर और भीतरके बीचमें एक कोई अन्तराल भी होना चाहिए। जरा सीमा रेखा बनाओ तो बड़ा ही मजा आवेगा। कहाँ तक मैं और कहाँ तक मैंसे न्यारा? असलमें प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तत्त्व और उसमें सात्त्विक तन्मात्रासे बना हुआ मन और इन्द्रिय-वृत्तियाँ- इनको अन्दर बोलते हैं- और इन्द्रिय- गोलक और इन्द्रियोंके विषय—माने तन्मात्राओंके तामस अंशसे बना हुआ शरीर और विषय—इनको बाहर बोलते हैं। जो देखे जाते हैं उनको बाहर बोलते हैं, जो देखनेमें औजारका काम देते हैं उनको अन्तर् बोला जाता है और जो देखनेवाला है वह न बाहर है न भीतर है। बाहर-भीतर दोनोंकी कल्पनाका प्रकाशक है।

अच्छा जरा भूतकी तरफ ध्यान दो तो बाहर-भीतरका और भी रहस्य खुल जायेगा। जो वस्तु भूत है, माने जो बीत गये, जो विगत है, अतीत है, माने इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त है, वह कहाँ है? बोले- मनमें है। स्मृतिरूपसे जो मनमें उपस्थित हो और जो वर्तमानमें मालूम पड़े, उसीको तो भूत बोलेंगे। जो भूत है सो वर्तमान नहीं हो सकता, परन्तु आँखसे जब देखते हैं कि यह हरा-हरा तुलसीका पत्ता है तो आँखसे देखकर, मनमें खूब समझकर तब वाणीसे बोलते हैं कि यह तुलसीका पत्ता है। भूतमें देखे हुए, समझे हुएको हम वर्तमानमें बोलते हैं। पहले देखना होगा, समझना होगा, फिर बोलना होगा; मन तीनों काम एक साथ नहीं कर सकता। मतलब यह है कि हम जो दुनियामें बोलते हैं, वह भूतकी ही चर्चा करते हैं। भूत क्या होता है? एक आदमी मर गया, अब वह भूत होकर किसीको लगता है; तो यह दुनिया असलमें भूत है और आपको लग रही है।

यह वेदान्तका नियम है, यह दर्शनशास्त्रकी मर्यादा है, कि जो साक्षात् अपरोक्ष अनुभवका विषय हो रहा है, वह स्मृतिका विषय नहीं है और जो स्मृतिका विषय है वह साक्षात् अपरोक्ष अनुभव नहीं है। एक ही वस्तुके बारेमें, एक ही कालमें, एक ही हृदयमें स्मृति और अनुभव एक-साथ नहीं रह सकते। हमारे हृदयमें एक-साथ ही दोनों पाँव नहीं रख सकते—भूत भी और वर्तमान भी। स्मृति अतीतकी होती है। कल देखा आज याद कर रहे हैं।

वहाँ देखा यहाँ स्मरण कर रहे हैं। और अनुभव तो इसी समय हो रहा है। ये जो आत्मदेव हैं ये स्मृतिके विषय तो कभी होते ही नहीं, कि हम आत्माका स्मरण कर रहे हैं। जिसको कभी देखा ही नहीं उसका स्मरण कैसे करोगे? अनुभव होकर जो परोक्ष हो जाता है उसका स्मरण होता है। इसीसे स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते हैं। धर्मशास्त्रमें भी जो स्मृतिको प्रमाण मानते हैं, वह श्रुतितः प्रमाण मानते हैं। माने श्रुतिके अनुसार स्मृति हो, तब प्रमाण मानते हैं और श्रुतिके अनुसार न हो तो स्मृति प्रमाण नहीं है।

यह जरा प्रसंगान्तर हो गया। अब आप इसी प्रसंगको देखो, भूत और वर्तमान क्या हैं? जो स्मृतिका विषय है वह भूत है और जो अनुभवका विषय है वह वर्तमान है। परन्तु जब अनुभवके विषयका भी हम वर्णन करने लगते हैं तो वर्णन करते समय वह भूत हो जाता है। आत्मा क्या है? बोले- अनुभव ही आत्मा है। अनुभवका विषय तो बदलता रहता है—अभी घड़ीका अनुभव हुआ, तस्वीरका अनुभव हुआ, फिर पुस्तकका अनुभव हुआ। अनुभवके विषय तो तीन हो गये, परन्तु अनुभव एक है। अनुभव स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ।

अब जरा 'भूत' की बात देखो। जब भूत ही कल्पित है तो उस भूत शरीरके भीतर-बाहर भी कल्पित है—उस भूत शरीरके भीतर अन्तःकरण भी कल्पित है और उसके बाहर हाथमें कोई तलवार हो तो वह भी कल्पित है। सपनेमें एक आदमी दिखे, जिसका हृदय द्वेषसे भरा हुआ हो और वह हाथमें तलवार लेकर मेरी ओर आ रहा हो, तो उसके हृदयके भीतर द्वेष और बाहर—हाथमें तलवार, ये क्या वास्तवमें उस आदमीके भीतर और बाहर हैं? यह जो हमारे हृदयमें शत्रु है वह हमारे मनकी कल्पना है और उसमें शत्रुका अन्तर्हृदय और बाहर तलवार भी कल्पित है। अब उसमें बाहर-भीतर कौन है? उस शत्रुका परमात्मा कौन है? मालूम है आपको? शत्रुके ईश्वर तुम हो, तुमने शत्रुरूप भूतको अपने हृदयमें बनाया, उसमें अन्तःकरणकी कल्पना की! उसके हाथमें तलवारकी कल्पना की! उस शत्रुके कर्ताके रूपमें, उसके बाहर-भीतरके कर्ताके रूपमें, हाथके तलवारके रूपमें तुम ही ईश्वर हो। **बहिरन्तश्च भूतानाम्**- और फिर कह दिया—हम जानते हैं यह मिथ्या है। क्यों मिथ्या है? इसलिए कि यह तो दृश्य है और पहले नहीं था, बादमें नहीं

रहेगा, स्वप्नवत् मध्यमें दृश्यमान है। तब यह मतलब हुआ कि तुमने उसको बनाया नहीं और वह बना नहीं, बस प्रतीयमान है।

अधिष्ठान स्वरूप तुम सत्य हो वह सत्य नहीं है। जबतक भूतको सच्चा समझोगे तबतक उसके बाहर-भीतर तुम। और जब भूतको मिथ्या समझ लोगे तो तुम स्वयं अनुभव-स्वरूप ब्रह्म! परन्तु जब अपनेको ब्रह्म समझोगे, तब उसको मिथ्या समझोगे। अपनेको जब स्वयं प्रकाश द्रष्टा समझोगे तब उसको मिथ्या समझोगे। मिथ्या-मिथ्याकी भावना करनेसे उसको मिथ्या नहीं समझोगे, अधिष्ठानका बोध होनेसे ही अध्यस्तका बाध होता है। अधिष्ठानके बोधके बिना अध्यस्तका बाध नहीं होता। तो—

बहिरन्तश्च भूतानाम्—यह संस्कृत भाषाकी महिमा है कि सब प्राणियोंको भी भूत कहा जाता है, पंचभूतोंको भी भूत कहा जाता है और पंचमहाभूतोंको भी भूत कहा जाता है; और सच पूछो तो सम्पूर्ण विश्व सृष्टिको ही भूत कहा जाता है। यह भू धातुसे त प्रत्यय हो गया—*अभूः इति भूतः।* जो पहले हुआ, पैदा हुआ, उसका नाम भूत है। पृथिवी भी पैदा हुई, जल भी पैदा हुआ, अग्नि भी पैदा हुआ, वायु भी पैदा हुआ, आकाश भी पैदा हुआ, मन भी पैदा हुआ, महत्तत्त्व भी पैदा हुआ, पैदा होनेसे ये सब भूत हैं।

जो चीज पैदा होती है, वह अपने उपादानसे भिन्न नहीं होती है। जैसे घट माटीसे भिन्न नहीं, प्लास्टिकके खिलौने प्लास्टिकसे भिन्न नहीं, और खांडके खिलौने खांडसे भिन्न नहीं। इसी प्रकार ये जो प्राणीरूप भूत हैं वे पंचभूतोंसे भिन्न नहीं हैं।

भवन्ति इति भूतानि—भूतको भूत क्यों कहते हैं? क्योंकि वे होते हैं, वे हैं नहीं! यह भेद मालूम है न? मिट्टी 'है' है और घड़ा 'होता है'। आकाश 'है' है और वर्षा होती है। आत्मा है और ये सब भूत होते हैं, दिखते हैं और मिट जाते हैं।

भूतोंका बाहर-भीतर कैसे? बोले- सपना सरीखा। सपनेमें हनुमानजीका दर्शन हुआ। वे महाराज बड़े विशाल, बड़े कृपालु! बोले— देखो जी, भगतजी, तुम रामचन्द्रका भजन किया करो। कैसे किया करें महाराज? कि

कैसे दिखें? तो सपनेमें ही हनुमान जीने अपना नाखून लगाकर हृदय फाड़ दिया और दिखया कि देखो ये रामचन्द्र हैं।

आप देखो कि आपके सपनेमें एक बड़ा भारी जंगल है, नदीका तट, हनुमानजीका मन्दिर, उसमें प्रकट हनुमानजीकी मूर्ति और उसमें छाती फाड़कर भीतर रामजी दिखा रहे हैं। आप बताओ कि द्रष्टाकी दृष्टिके सिवाय वह जंगल, वह मन्दिर, वह हनुमानजीका प्राकट्य होना और वे भीतर रामचन्द्र जो दिखते हैं—वे सब क्या हैं? कुछ नहीं। वहाँ भीतर-बाहर—सब द्रष्टाकी दृष्टि है। वहाँ पूर्वापर भाव नहीं है—पहले जंगल था, फिर हनुमानजी हुए, बादमें उसमें रामचन्द्रका दर्शन हुआ, ऐसा पूर्वापर भावरूप काल वहाँ नहीं है? उसमें अन्तर्बहिर्भाव- रूप देश नहीं है; और वहाँ वृक्ष-रूप, मन्दिर-रूप पदार्थ और उनमें हनुमानजीरूप व्यक्ति नहीं है। वहाँ सर्वरूपसे तुम्हारी दृष्टि ही दिख रही है। उसमें सच्चा कौन है? सच्चा देखनेवाला है। देखने वालेके सिवाय वहाँ और कुछ नहीं है। और जैसे स्वप्नमें देखनेवालेके सिवाय और कुछ नहीं होता, ऐसे इस समय भी जिस परमात्माको जिस परमात्मामें यह सृष्टि दिख रही है, बस वही है, अन्य कुछ नहीं है। यदि आप अपनेको केवल द्रष्टा समझोगे तो कहोगे कि हम इस सृष्टिको देख रहे हैं; और यदि आप अपनेको परमात्मा जान लोगे तो यह भी बोलोगे कि मुझमें यह सृष्टि दिख रही है। आपको आपमें, आप ही सृष्टिके रूपमें दिख रहे हैं। द्रष्टा भी आप, अधिष्ठान भी आप और दृश्यके रूपमें विवर्त भी आप स्वयं।

स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धं।

स्वयं आप तत्त्व हैं और स्वयं अपनेको जान रहे हैं।

खूब जाना है कि अनजाना बने बैठे हैं।
आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हैं॥
मैं कहूँ, तुम कहूँ, वह कहूँ, बस यह ही कहूँ।
है तो सब एक ही बस नाम रक्खे बैठे हैं॥

वस्तु एक है, नाम सबके सब झूठे हैं। **बहिरन्तश्च भूतानां।**

वेदान्तकी जितनी प्रणाली है विचार करनेकी, उसमें वस्तुको समझानेका बहुत प्रयत्न किया गया है। कार्य-कारण भावमें घट और मृत्तिका हैं—

मृत्तिका तत्त्व है और घट उसमें कल्पित है। घटको सच्चा नहीं मानते हैं। यह तो आपने छांदोग्य उपनिषद्‌में पढ़ लिया है :

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—मिट्टी ही सच है, घड़ा सच नहीं है। इत्येवका मतलब ही यह होता है। इसी तरहसे जल,बुद्- बुद, तरंगादि जो हैं उनके लिए ***आपः इत्येव सत्यं***— बृहदारण्यक उपनिषद्‌में यह उदाहरण आया है। स्फुलिंग ज्वाला आदि जो हैं, उसमें '*अग्निरित्येव सत्यम्*'। कार्यकारणभावके सब दृष्टान्त हैं— '*वायुरित्येव सत्यं। अग्निरित्येव सत्यं। आपः इत्येव सत्यं। मृत्तिकेत्येव सत्यं*'। तो कार्यकारण भावका विवेक करके, यह बात बतायी जाती है कि कार्य कारणमें कल्पित होता है।

तो मृत्तिकाके एक देशमें कल्पित घट—सारी मृत्तिकामें तो घड़ा नहीं होता। मृत्तिकाके जीवनके एक कालमें कल्पित घट, बननेके पूर्व नहीं था और फूटनेके बाद नहीं रहेगा। माने घट काल परिच्छिन्न है; और घट देश भी परिच्छिन्न है; क्योंकि घट सराव आदि की आकृतिसे पृथक् भी है अतः घट अन्योन्याभावसे भी ग्रस्त है। घट अत्यन्ताभावसे भी ग्रस्त है, क्योंकि अन्य देशमें घट नहीं है। और घट प्रागभाव और प्रध्वंसाभावसे भी ग्रस्त है। तो अभाव चतुष्टयसे ग्रस्त होनेके कारण 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' मृत्तिका सच्ची है और घट मिथ्या है।

मिथ्याकी बात एक और ले लो। एक राजाके दरबारमें शास्त्रार्थ हुआ— घट सत्य है कि मिथ्या है? वेदान्ती कह रहे थे कि मृत्तिकामें घट मिथ्या है, कल्पित है, क्लृप्त है; प्रतिपक्षी नैयायिक आदि कह रहे थे कि मृत्तिकामें घट सत्य है। वे लोग अनौपनिषद हैं, अवेदान्ती है, क्योंकि वे 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिको नहीं मानते हैं। शास्त्रार्थमें वह तार्किक पण्डित जीत गया कि घड़ा भी सच्चा है, लेकिन राजा था वेदान्ती। उसने निर्णय दे दिया कि हमारे राज्यके सब घड़े आप (तार्किक) ले जायँ परन्तु मिट्टी हमारी, हमारे राज्यसे बाहर नहीं जा सकती। मिट्टी राज्यसे बाहर ले जानेपर तो रोक है, घड़ेको ले जा सकते हैं। भला क्या मिट्टीके बिना घड़ा जा सकता है? नहीं जा सकता।

अच्छा यह बात भी आपको मालूम होगी कि असलमें मृत्तिका घटका

उपादान नहीं है, क्योंकि मृत्तिकामें घटका कोई संस्कार ही नहीं होता है। घड़ेको पीस दो, फिर मिट्टीकी मिट्टी। यह नहीं कि उसमेंसे एक घड़ा फिर पैदा होगा। यह घड़ा अपना बीज छोड़कर मृत्तिकामें लीन नहीं होता है। जैसे गेहूँका तना नष्ट होता है, पर गेहूँका बीज छोड़करके—ऐसे घड़ा अपना बीज छोड़ करके मृत्तिकामें लीन नहीं होता। देश न हो, काल न हो, पानी न हो, हवा न हो, गर्मी न हो, आकाश न हो तो मृत्तिका रूप मैटरमें कहीं भी घट नहीं बन सकता।

तो कार्यकारण भावका प्रतिपादन करके यह बताते हैं कि घटमें मृत्तिका अन्वय है और मृत्तिकामें घटका व्यतिरेक है। घड़ा होगा तो उसमें मिट्टी जरूर होगी, लेकिन घड़ा न होनेपर भी मिट्टी रहती है। इसलिए मृत्तिका और घट अभिन्न तत्त्व हैं—ऐसा वेदान्ती लोग सिद्ध करते हैं।

अब यह बात सुनावें कि वेदान्ती घट और मृत्तिकाका विचार कुछ ज्यादा करते हैं, परन्तु देश और कालका विचार नहीं करते हैं। विचार न करनेका कारण है। कारण यह है कि द्रव्यके बिना देश और कालकी प्रतीति नहीं होती। जिसने घटके पूर्व लोंदेके रूपमें स्निग्ध मिट्टीको देख लिया, उसके मनमें उस स्निग्ध मृत्तिका रूप लोंदेमें, कारणताकी कल्पना हो गई और उसके बाद जो आकृति बनी उसमें कार्यका संस्कार हो गया। असलमें, स्निग्ध मृत्तिका पिण्डरूप जो आकृति थी, वह भी मृत्तिकामें कल्पित थी और पृथुबुध्नोदनाकार कम्बुग्रीवके रूपमें जो घटकी कल्पना मृत्तिकामें हुई वह भी कल्पित आकृति है। यह एक आकृतिमें-से तो दूसरी आकृति निकली है। आकृति आकृतिमें कार्यकारणभाव नहीं होता। बाप कारण है और बेटा कार्य है—ऐसा नहीं है। क्योंकि बाप और बेटेमें उपादान उपादेय भाव नहीं है। पञ्चभूत ही दोनोंका उपादान है। तो वह जो मिट्टीकी गोल पिण्डी थी वह भी मिट्टी थी और घड़ा भी मिट्टी है। यह तो अकारणमें ही कारणकी कल्पना होकर अकार्यमें ही कार्यकी कल्पना हो गयी। असलमें दोनों मृत्तिका-ही-मृत्तिका हैं। इसी प्रकार, जगत्की कारणावस्था और कार्यावस्थाका उल्लेख करके जो हम कारणसे अनन्य होनेके कारण, कार्यसे कारण अभिन्न है ऐसा सिद्ध करते हैं, यह बात बिलकुल गलत है। असलमें पर ब्रह्म परमात्मामें कारणता भी कल्पित है और कार्यता भी कल्पित है। यह कार्यको देखकर

हम कारणकी कल्पना कर लेते हैं—माने पूर्वापर भावकी कल्पना कर लेते हैं। असलमें आकृतिमें कारण-कार्यभाव नहीं होता। कारण भी एक आकृति है, आकृतियोंकी समष्टि है। जैसे सोनेमें सिल्ली देखी तो बोले सिल्ली कारण है और कंगन बना तो कार्य है। हे भगवान्! वह सिल्लीकी जो गोल या चौकोर या पत्तीकी तरह जो आकृति है, क्या उस आकृतिमें-से कंगनकी आकृति निकली? नहीं निकली। और कहो कि सिल्लीकी आकृतिसे निर्मुक्त जो स्वर्ण है और कंगनकी आकृतिसे निर्मुक्त जो स्वर्ण है, वह तो वही है, तो स्वर्णमें कार्यकारण भाव कहाँ रहा? वह तो मनुष्यके मनमें जो नासमझीकी कमजोरी है, उससे वह सोनेके द्रवको कारण समझता है और साँचेमें ढालनेपर जो कंगन आदिकी शक्ल बन गये उसको कार्य समझता है। असलमें वह द्रवावस्था भी सोनेमें कल्पित है। और कल्पित आकृतिसे कल्पित आकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती और न ही वास्तविक आकृतिसे वास्तविक आकृति उत्पन्न होती है; क्योंकि आकृति कोई वस्तु ही नहीं है, तत्त्व नहीं है आकृति। आकृतिसे आकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती। तत्त्वमें दोनों ही आकृतियाँ कल्पित हुईं, इसलिए कार्यकारण भाव ही बिलकुल सोलहों आने गलत है। इसलिए जो लोग कार्यकारणभावकी दृष्टिसे जगत् और परब्रह्म परमात्माका अभेद बताते हैं वह भी एक प्रकारका अध्यारोप है—'जन्माद्यस्य यतः'।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।

इस अध्यारोप श्रुतिके द्वारा ही जिस कार्यकारणभावका निरूपण वेदान्ती करते हैं, इसका भी परब्रह्म परमात्मामें अपवाद ही होता है। इसीसे जितने सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव, वैष्णव हैं—ये जितने द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी हैं, इन्होंने जगत् और ब्रह्मका कार्यकारण भाव होनेके कारण जो अभेद माना है, वह अभेद अद्वैत वेदान्तमें स्वीकृत नहीं है।

अच्छा अब एक दूसरी बात आपको सुनाते हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १६ ॥

यह कोई दूरकी कौड़ी लानेकी चीज नहीं है। यह साक्षात् अपरोक्ष जो तुम हो, वह तुम ही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-परब्रह्म-परमात्मा-अद्वितीय तत्त्व

हो—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। इसमें न तो प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार है, न तो बुद्धि-बौद्धका व्यवहार है। यह तो बुद्धिका अपवाद करके; ध्यानजन्य जो एकाग्रता है उस एकाग्रताका अपवाद करके; बुद्धि और बुद्धिजन्य जो बोध है, उसका अपवाद करके; और अन्तःकरणकी पवित्रता, अपवित्रता या समाधि-विक्षेप ही नहीं, अन्तःकरणका ही अपवाद करके; जो तुम स्वयंप्रकाश द्रष्टा हो, उसको ब्रह्म बताना—यह वेदान्तका दृष्टिकोण है।

अच्छा लो एक आधार आधेयकी बात इसी प्रसंगमें आपको सुनाते हैं। जैसे मृत्तिका आधार है और घट आधेय है, वैसे श्रुतिमें भी ऐसा मिलेगा और पुराणमें भी मिलेगा कि परमात्मामें सृष्टि और सृष्टिमें परमात्मा। परमात्मामें सृष्टि—इसका मतलब कि परमात्मा आधार और सृष्टि आधेय। और सृष्टिमें परमात्माका मतलब है कि सष्टि आधार है और परमात्मा आधेय है। परन्तु क्या दूसरी बात जँचती है? घट आधेय है और मृत्तिका आधार है-यह बात जो जँच जाती है, लेकिन मृत्तिका आधेय है और घड़ेकी आकृति आधार है—यह बात नहीं जँचती है। पीतल धातुमें थाली बना दी गयी तो थाली आधेय है और पीतल धातु आधार है, यह तो ठीक है लेकिन पीतल धातु आधेय है और थालीकी आकृति आधार है—यह कल्पना कैसे आयी? यह कहाँसे आयी? परमात्मामें ऐसे आधार-आधेय भावका स्पष्ट रूपसे खण्डन गीता करती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

इसका अर्थ देखो, ऐसे होगा—'मत्स्थानि सर्वभूतानि घटादीनि, पृथिव्यादीनि, मनुष्यादीनि' सारे भूतादि जो हैं—घटादि, पृथिवी आदि, मनुष्यादि—वे 'मत्स्थानि भवन्ति', मुझमें कल्पित हैं। मैं आधार हूँ और ये आधेय हैं। लेकिन 'न चाहं तेष्ववस्थितः'—**तेषु अहं न अवस्थितः। 'तेषु आधेय भूतेषु आधाररूपः अहं आधेयरूपो न भवामि।'** वे आधेय हैं और मैं आधार हूँ, अतः मैं उनमें नहीं हूँ।

देखो रज्जुमें सर्प कल्पित है, सर्पमें रज्जु कल्पित नहीं है। जब सर्प है नहीं, तब उसमें रज्जु होगा कहाँ से? यह भ्रमका अपूर्व दृष्टान्त है। आजकल लोग डरते हैं बोलनेमें क्योंकि वोटका जमाना है। जब संसारकी रीतिसे

विचार करनेवालोंकी समझमें संसार स्वप्नवत् है, यह बात समझमें नहीं आती तो वक्ता लोग भी कहते हैं कि जब इतने लोगोंकी समझमें नहीं आती तो हम भी संसारको स्वप्नवत् क्यों बोलें, डर जाते हैं। बोले कि भाई स्वप्नवत् नहीं, रज्जु-सर्पवत्। अब रज्जु-सर्पवत् दृष्टान्त भी पुराना पड़ गया; तो अब जरा नया दृष्टान्त ढूँढ़कर, निकाल कर ले आवें! जहाँ अनुभव बहिर्मुख लोगोंके वोटसे पराजित हो जाता है, वहाँ असलमें वास्तविक अनुभव ही नहीं है। जो लोग रज्जु-सर्प और स्वप्नके दृष्टान्तसे भागते हैं और जो रागवान् मिथ्या शब्द सुनकर अपना कान बन्द कर लेते हैं, वे संसारी हैं; उनको ही मिथ्या शब्द सुनकर डर लगता है कि हमारी औरत मिथ्या, हमारा धन मिथ्या और हमारा मकान मिथ्या! हाय-हाय! हमारे पास क्या रहेगा? देखो, उनके लिए बड़े आश्वासनकी बात है। असलमें, आप देखो, आप कभी देश, कालके सहित वस्तुका विचार करना। यह जो घट-देश, घट-काल है। वह क्या है? आप जानते हैं देश निरवयव होता है कि सावयव? अवयव माने हिस्से। तो प्रश्न यह है कि यह जो हम बोलते हैं यह दाहिने पूर्व है, बायें पश्चिम और सामने उत्तर है—ये अवयव हमारी अपेक्षासे, बुद्धिसे देशमें कल्पित हुए कि असलमें देशमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण कुछ होता है? यह तो आपको मालूम है कि यहाँसे जो पूर्व हम कह रहे हैं, वही उस खम्भेसे पश्चिम हो जाता है। तो यह बीचवाली जगह पूर्व है कि पश्चिम है? बोले—खम्भेसे पूर्व है, हमसे पश्चिम है, नीचे वाली मञ्जिलसे ऊपर है और ऊपर वाली मंजिलसे नीचे हैं। अर्थात् अपनेमें न यह ऊपर है, न नीचे है, न दाहिने है न बायें हैं। यह देशमें ऊपर नीचे, दाहिने, बाँये सब कल्पित है। इसलिए देश निरवयव है और वह जो निरवयव देश है, उस निरवयव देशमें—माने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन, ऊपर, नीचेके भेदसे विनिर्मुक्त दिक् तत्त्वमें जो स्वयं निरवयव ब्रह्ममें आरोपित है, उसमें यह घट-देश क्या है? पूर्व है कि पश्चिम है, उत्तर है कि दक्खिन है, बाहर है कि भीतर है? अच्छा वह देशका कौन-सा हिस्सा है? तो देश-हीन घट क्या होगा? आप बताओ कि अन्तर्देश और बहिर्देशसे विनिर्मुक्त कोई घट नामकी वस्तु होगी? नहीं होगी। अच्छा अब कालमें विचार करो. भूत, भविष्य, वर्तमान ऐसा बोलते हैं—अभी जो वर्तमान है, जिसको मैंने अभी वर्तमान कहा था, वह भूत हो गया कि नहीं? वह तो कालमें ऐसे ही

ष्पत हुआ, जिसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्खिन देशमें हुआ। और जिसका म
ष्य बोल रहा हूँ, वह थोड़ी देर बाद वर्तमान हो जायेगा कि नहीं? और
मानके बाद भूत हो जायेगा कि नहीं? और फिर भूत होनेके बाद वह फिर
कर आवेगा कि नहीं? नहीं आवेगा। तो जब वर्तमान ऐसा भूत होता जा
है जो फिर प्रतीतिका विषय न हो, जिसका फिर अपरोक्ष होवे ही नहीं
भविष्य ऐसा वर्तमान होता जा रहा है; तो असलमें निरवयव कालमें भूत,
ष्य, वर्तमान कल्पित हैं। सूर्यकी दृष्टिसे, पृथिवीकी दृष्टिसे, हमारी दृष्टिसे,
ारी दृष्टिसे अनन्तकालमें अवयव कल्पित होते हैं।

अच्छा, तो जो निरवयव काल है उसमें घड़ेकी उम्र कितनी? घड़ा
र सौ वर्ष भी रहता हो तो अनन्तकालमें सौ वर्ष कितना होता है? यह
कहना कि कोई लेशमात्र लेशाविद्या होती है। निरवयव कालमें, बेहिस्से
नमें लेशाविद्या नहीं होती है, काललेश नहीं होता है। असलमें जब हमें
। पदार्थ दिखायी पड़ता है न, तो उसके पहले अनादि भूतके रूपमें और
मे अनन्त भविष्यके रूपमें ब्रह्म ही विवर्तित होकर काल दिखायी पड़ता
और ओर-छोर- रहित पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिनकी कल्पनाके अधिष्ठानमें
ही विवर्तित होकर देश प्रतीत होता है। इसी प्रकार सन्मात्र वस्तुमें ब्रह्म
विवर्तित होकरके घट-पट-मठ-मनुष्य-पशु-पक्षी आदिके रूपमें प्रतीत
। है। तो जैसे यह पूर्व-पश्चिम केवल एक आपेक्षिक प्रतीति हैं, वैसे
-भविष्य भी केवल आपेक्षिक प्रतीति है, वैसे घटकी कार्यावस्था और
णावस्था और घटकी नहीं, प्रपंचकी कार्यावस्था और कारणावस्था, यह
ाण्ड-घटकी, और ब्रह्माण्ड घटकी ही नहीं, प्रकृति-घटकी, इस माया
की, जो पूर्वावस्था और उत्तरावस्था है, वह प्रतीतिमात्र है; इसमें कार्य-
ण नहीं है। अखण्ड तत्त्वके बोधसे कार्य कारणसे अभिन्न है, यह बात
सिद्ध होती, बल्कि यह सिद्ध होती है कि कार्य-करणका द्वैरूप्य ही
ल्पत है और केवल प्रतीति मात्र है।

अतीत काल और भविष्य काल और बहिर्देश और अन्तर्देश-ये कल्पित हैं।
कल्पित वस्तु जो होती है वह अकल्पित तत्त्वसे जुदा नहीं होती है।
लिए जो कुछ देश, काल, वस्तुके रूपमें भास रहा है, वह परमात्मा ही
देश, सर्वकाल, सर्ववस्तुके रूपमें भास रहा है और अज्ञानसे अन्य मालूम

पड़ता है। माने परमात्माको हम पहचानते नहीं, इसलिए वह अन्य मालूम पड़ता है।

अचरं चरमेव च। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो कुछ अचर और चर अनुभवमें आ रहा है वह सब ब्रह्म ही विवर्तरूपमें प्रतीत हो रहा है। ऐसा बढ़िया वर्णन है श्रुतिमें—

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्सु इहैव निहितं गुहायां।

ये जो टुकुर-टुकुर देखनेवाले हैं न—दो-दो आँखवाले, एक आँखवाला, बिना आँखवाला भी- पश्यत्सु; यह जो अलग-अलग अपनी-अपनी टोकरी लेकर और उसमें अपने आपको ढँक करके जो लोग बैठे हुए हैं न; इहैव— इसी देशमें और इसीकालमें, (इह शब्दका दो बार प्रयोग है) उन ही से कहते हैं कि अरे ओ देखनेवालो! तद् इह—वह तुम देखनेवालोंमें ही छिपा हुआ है। इहैव—इसी देशमें, इसी कालमें इसी समय और यहीं और अभी और इन्हीं देखनेवालोंमें, अपने आपमें वह छिपा हुआ है।

देखो क्या बढ़िया बात है—**अचरं चरमेव च**। अभी हमको याद दिला रहे थे कि पेड़ भी वही है, 'अचरं' हुआ। उसपर चिड़िया भी वही है, 'चरं' हुआ। धरती भी वही है अचरं और उसपर चलने-फिरनेवाले मनुष्योंके रूपमें भी वही है 'चरं'। माने चराचर जो है, वही है। एक चीज चलेगी तब दूसरी चीज स्थिर मालूम पड़ेगी। बिना चलके स्थिर नहीं मालूम पड़ता और बिना स्थिरके चल नहीं मालूम पड़ता। पर एक ऐसी वस्तु है जिसको चल और स्थिर दोनों चीजें मालूम पड़ती हैं। देखो, कगार स्थिर मालूम पड़ता है और नदी चलती मालूम पड़ती है; और नावमें बैठे हों तो नाव स्थिर मालूम पड़ती है और तट चलता मालूम पड़ता है। हम तटपर बैठे हों तो नाव चलती है और नावपर बैठे हों तो तट चलता है। ऐसी प्रतीति होती है। लेकिन नाव और तट दोनोंपरसे उतर जाओ पृथ्वीपरसे उतर जाओ, और नावपर से उतर जाओ, जरा आकाशपर आरूढ़ हो जाओ, सोचो कि मैं आकाश हूँ, तो देखोगे कि पृथिवी भी चल रही है, नाव भी चल रही है। और आकाश उसको बोलते हैं, जिसमें अवकाश होता है। लेकिन जिस ठोस तत्त्वमें, निरवकाश तत्त्वमें आकाश कल्पित है, जरा तुम अपनेको वह जान लो, कल्पनासे जान लो, तो कैसा मालूम पड़ेगा? जरा अनुसन्धान तो करो!

हम बचपनमें एक श्लोक बोलते थे। पुराना है, पर उसको जोर-जोरसे बोलते थे। हम लोगोंको, संस्कृत पढ़नेवालोंको आप जानते हैं, श्लोक रटना पड़ता है। तो जोर-जोरसे बोलते हैं तो जल्दी रट लेते हैं—

सति कार्यत्वे कारणता स्यात् कारणसत्त्वे कार्यत्वं स्यात्।
कार्यकारणाभावे कस्मात् जीवेशौ वा तत्त्वमसि॥

जब कार्य होता है तब कारणकी कल्पना होती है। और कारण होवे तब कार्य होता है। जिसने मिट्टीके लोंदेको देखा उसके लिए घड़ा बना। जिसने घड़ेको बनते हुए देखा, उसने कहा—घड़ेकी पूर्वावस्था—इसमें मिट्टीका लोंदा है! लेकिन घड़ेको कार्य माननेवाला और मिट्टीके लोंदेको कारण माननेवाला दोनों मिट्टीको नहीं जानते हैं। मिट्टी न लोंदा है न घड़ा है। लोंदा और घड़ा नहीं था तब भी मिट्टी थी और दोनों फूट गये तब भी मिट्टी है। मिट्टी तो तत्त्व है। तो कारण होवे तो कार्य होवे। और कार्यता होवे तब कारणता होवे। कार्य कारणके अभावका जो अधिष्ठान है—स्वयं प्रकाश दृङ्मात्र वस्तु, उसमें जब कार्यकी उपाधि नहीं है तो जीव कहाँसे? अन्तःकरण नहीं है तो जीव कहाँसे? और उसमें कारण माया, प्रकृति नहीं है तो ईश्वर कहाँसे? वह कार्योपाधिक कल्पित जीव और कारणोपाधिक कल्पित ईश, कार्यकारणकी उपाधिके अपवादके अनन्तर, दोनोंके अधिष्ठान स्वयंप्रकाश अद्वितीय ब्रह्म तत्त्वकी सिद्धि!

तो, अध्यारोपसे जीव-ईश्वरकी सिद्धि होती है और कार्य कारणाभाव—दोनोंका जहाँ बाध हो गया अधिष्ठान-ज्ञानसे, जहाँ कार्य-कारणकी उपाधि नहीं रही, वहाँ उपाधिके कारण होनेवाला जो औपाधिक भेद है वह कहाँसे होगा? तो कालमें भी कारणकाल और कार्यकालकी कल्पना है और देशमें भी कारणदेश-समष्टि देश और कार्य देश-व्यष्टि देशकी कल्पना है। तो देशमें व्यष्टि और समष्टिका भेद कल्पित है और कालमें प्रलयकाल और सृष्टि कालका भेद कल्पित है, पूर्वकाल और उत्तरकालका भेद कल्पित है। उसको भी कारण-कार्य बोलते हैं। द्रव्यमें भी, मिट्टीमें भी कार्य-द्रव्य और कारण-द्रव्य बिलकुल कल्पित है, क्योंकि स्वयंप्रकाश साक्षी जो वस्तु है, आत्मवस्तु, उसमें कार्य-कारण केवल प्रतीति मात्र है, वास्तविक नहीं है;

और वह स्वयं प्रकाश साक्षी अद्वितीय—ब्रह्म है, उसमें द्वैतका कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिए '**अचरं चरमेव च**'

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

जितने भूत हैं, जो पहले भूत हो गये हैं, अब भूत होते जा रहे हैं और आगे चलकर भूत हो जायेंगे, वे सब-के-सब 'भूत' शब्दसे गृहीत होते हैं। यों तो भूत शब्दका अर्थ होता है ***भवन्तीति भूतानि*** अर्थात् होना, होना, होना। तो जो होनेवाली चीज होती है उसके बाहर भीतर होती है—है, अस्ति, सत्। कोई भी चीज जब होगी, तब उसकी सत्ता अवश्य होगी। जब बच्चा होगा, तो उसका बीज होगा; जब घड़ा होगा, तो मिट्टी है, तब होगा। सत्ताके बिना कोई भी वस्तु नहीं होती। ये जितने भूत हैं, उनमें यह है-है-है जो मालूम पड़ता है उसीमें भूतोंका होना-होना-होना मालूम होता है। ऐसे समझो कि 'है' के बिना 'होना' नहीं और 'मैं' के बिना 'यह' नहीं। 'यह' मालूम ही तब पड़ेगा जब 'यह' के भीतर 'मैं' होगा। और कोई भी वस्तु परिणामको तब प्राप्त होगी, बदलेगी तब, जब त्रह होगी। है सो होगा। पहले 'मैं' होगा तब 'यह' होगा।

तो भूत शब्दका अर्थ है ***भवन्ति इति भूतानि। सति उत्पत्तिं स्थितिं प्रलयं च लभन्ते इति***। जो सद्वस्तुमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयको प्राप्त होते हैं, उनको भूत बोलते हैं।

मनुष्यके मनमें यह बात बैठी है कि जो वस्तु होती है, वह एक संस्कार छोड़ जाती है। जैसे एक घड़ा यहाँ मेजपर रखा गया और हटा लिया गया; तो क्या उसने मेजपर अपना संस्कार छोड़ा? मनपर तो छोड़ा परन्तु मेजपर तो उसने कोई संस्कार नहीं छोड़ा। तो व्यवहारमें यह बोलेंगे कि घड़ा यहाँ था, अब नहीं है; परन्तु यह घड़ेका जो अभाव है, उस अभावका मेजके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; असलमें घड़ेका अभाव मेज ही है। अभाव जो होता है वह अपने अधिष्ठानसे भिन्न होता ही नहीं—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। कोई भी अभाव अपने अधिष्ठानसे अलग नहीं होता। यह ठीक है कि घड़ा संस्कार छोड़ गया परन्तु कहाँ छोड़ गया? अधिष्ठानपर छोड़ गया क्या? नहीं, मेजपर तो उसका कोई संस्कार नहीं छूटा; मनमें वह घड़ेका संस्कार

छोड़ गया। मनमें घड़ा आनेका भी संस्कार है कि आया था और घड़ा जानेका भी संस्कार है। तो घड़ेके आने-जानेका संस्कार मानसिक हे, मेज रूप अधिष्ठानमें बिलकुल नहीं है।

अब मान लो एक दूसरा आदमी यहाँ आकार खाली मेजको देखे। तो उसको यह मेज देखकर ये दोनों ज्ञान नहीं होंगे कि पहले यहाँ घड़ा था और अब नहीं है। अधिष्ठानपर छोड़ जाता, तो जिसको यह बिलकुल अज्ञात है कि यहाँ घड़ा आया और गया; उसके मनमें भी घड़ा आने और जानेका संस्कार होना चाहिए था, परन्तु संस्कार तो अधिष्ठानमें बिलकुल है ही नहीं, सिर्फ मनमें है।

अब यह बात आप दूसरे ढंगसे देखो। मेजपर घड़ेका रखा जाना और उठा लेना, इसका जैसे मेजके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही मिट्टीमें घड़ेकी शक्ल बन जाना और बिगड़ जाना, इसके साथ भी मिट्टीका कोई सम्बन्ध नहीं है। मेजपर घड़ा—इस दृष्टान्तमें जो मेज केवल घड़ेका अधिष्ठान ही थी, उपादान नहीं थी। अब हम यह बात जो आपको सुना रहे हैं उसमें मिट्टीसे बनी धरती घटका अधिष्ठान भी है और मिट्टी घड़ेका उपादान भी है। उपादान माने—*यत् उपादाय घटो निर्मीयते*—जितनी मिट्टीको लेकरके घड़ा बनाया जाता है, उतनी मिट्टी उस घड़ेका उपादान है; घड़ेका उपादान सारी धरती नहीं है। कुम्हारके घरमें जो मनों मिट्टी रखी है वह भी घड़ेका उपादान नहीं है। एक घड़ेके अन्दर उसके वजनके रूपमें जो सेर-दो-सेर माटी है वही उसका उपादान है। यह बात अगर ध्यानमें नहीं हो तो अब बैठा लो। कार्यमें अनुगत जो कारणका अंश है, उतना ही उपादान होता है। न कुम्हार उपादान है, न कुम्हारके घरमें जो दूसरी माटी है, वह उपादान है और न घड़ा बनाते समय कुम्हारने जिसको छीलकर अलग कर दिया, वह मिट्टी घड़ेका उपादान है। घड़ेके पेटमें घड़ेके गलेमें, घड़ेकी पेंदीमें जितने वजनकी मिट्टी है बस वही घड़ेका उपादान है। सेरभर वजनका घड़ा बननेके पहले भी घड़ा सेर-भर मिट्टी था और बादमें भी सेर-भर मिट्टी है। तो जिस मिट्टीमें घड़ा बनाया और फोड़ दिया गया, उसमें घड़ा अपना संस्कार छोड़ गया क्या? जिसने इसी मिट्टीसे घड़ा बनते देखा था और फूटते देखा, उसके मनमें तो यह ख्याल होगा कि इस मिट्टीमें घड़ा बना और बिगड़ा, लेकिन

जिसने घड़ेको बनते और बिगड़ते नहीं देखा वह जब उस मिट्टीको देखेगा तो उसके मनमें यह बात नहीं आवेगी कि यह घड़ेका उपादन-रूप मृत्तिका है या इसीसे घड़ा-रूप कार्य बना और नष्ट हुआ। तो इसका मतलब यह हुआ कि घड़ेकी जो आकृति हैं, कल्पित शक्ल है, वह बिना वजनकी है; उपादानसे अलग घड़ेका काल नहीं है—उपादानके कालके अन्तर्गत ही उसका काल कल्पित हुआ है बल्कि उपादन तो हजारों वर्षका है, मिट्टी तो हजारों वर्षकी है, कार्यकालमें ही उसमें उपादान-रूपता कल्पित हुई थी। तो कार्यकाल और उपादानकाल असलमें एक ही है, दो नहीं है। इससे बड़ा विलक्षण नतीजा निकलेगा। मिट्टीमें उपादान-कालता और कार्य-कालता, ये दोनों दो नहीं है। यावत्काल मिट्टी घटाकार प्रतीत होती है तावत्काल ही उपादानता मिट्टीमें है। और यावत्काल उपादनता है, तावत्काल घटाकारता है। जैसे स्वप्नमें जितनी दृष्टि है उतनी सृष्टि है, सृष्टि और दृष्टि अलग-अलग कालमें नहीं है; इसी प्रकार मृत्तिकाके एक देशमें ही घटकी आकृति बनी है। तो यावत्देशमें घटकी आकृति है, तावत्देशमें ही उपादानता है और यावत्कालमें घटाकृति है तावत्कालमें ही उपादानता है। और यावत् घटाकृति है तावत् ही उपादानता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कार्य और कारण दोनों ही मृत्तिकामें कल्पित हुए हैं। यह नहीं है कि कारण सत्य हो और कार्यता मिथ्या हो। कार्य-कारणभाव दोनों युगपत् होते हैं और युगपत् ही तत्त्वकी दृष्टिसे वे मिथ्या होते हैं, उसमें भाव और अभाव दोनों ही आरोपित होता है, दोनों ही कल्पित होता है। मृत्तिकामें घट अपना कोई संस्कार नहीं छोड़ता है।

अच्छा मान लो कि बीजरूप जो मृत्तिका है, उसमें संस्कार रहता है, तो मृत्तिका उपादानका कारण जो पानी है उस पानीमें संस्कार नहीं रहता है। अच्छा कोई कहे कि पानीमें संस्कार रहता है, तो पानीके उपादान कारण आगमें संस्कार नहीं रहता है; आग भस्म कर देती है। अच्छा आगमें यदि संस्कार रहता है तो वायुमें संस्कार नहीं रहता है। और यदि वायुमें संस्कार रहता है तो आकाशमें बिलकुल ही नहीं रहता है। यदि कदाचित् आकाशमें भी संस्कार रहता हो, वातावरणमें क्षणिक संस्कार भासता हो, तो द्रष्टामें तो बिलकुल संस्कार नहीं रहता है। जो चेतन है, जो चिन्मात्र वस्तु है उसमें तो बिलकुल संस्कार नहीं रहता है। इसलिए भूतके सम्बन्धमें जो यह कार्य-

कारण-भाव है वह केवल अध्यारोप है माने मूल तत्त्वको समझानेकी एक प्रक्रिया है, एक शैली है, एक ढंग है। मूल तत्त्वमें न कार्यता है और न कारणता है और न उसका संस्कार है। तो संसारमें जो भौतिक बीज होते हैं—वैसे अंगूरके बीज, आमके बीज, साँपके बीज, बिच्छूके बीज—उनको आगमें जला दो, तो आगमें जल जाते हैं। लेकिन यह चेतनमें जो बीजता आरोपित है, वह कैसे जलती है? देखो, मिट्टीमें भी जो बीजरूपता है वह भी संस्कारजन्य नहीं है, संस्काराध्यारोपजन्य है और संस्काराध्यारोपजन्य भी नहीं है सत्ताके स्वरूपके अज्ञानसे ही संस्कारवत्ता अध्यारोपित है। अरे यह जड़-चेतन सबके बारेमें एक ही बात है। तो यह जो चेतन है इसके स्वरूपके अज्ञानसे ही उसमें संस्कारवत्ता अध्यारोपित है।

जो लोग इस चेतनको जुगनूकी तरह एक स्थानमें मानते हैं उन नास्तिकोंको हम लोग तीन कोटिमें मानते हैं। देखो भाई! अब हम वेदान्तकी व्याख्या कर रहे हैं, इसका ध्यान कर लेना, हम कोई नास्तिक-सिद्धान्तकी व्याख्या नहीं कर रहे हैं। पहली कोटि उन सिद्धान्तवादियोंकी है जो लोग जीवात्माको द्रव्यके रूपमें परिच्छिन्न मानते हैं—कण-कण-कण मानते हैं। उनको भी हम नास्तिक ही मानते हैं। जैसे गेहूँके बीज होते हैं वैसे सब शरीरमें एक बीजरूप जीव रहता है; इसको चार्वाक कल्पना बोलते हैं। अब दूसरोंका नाम हम बतावें और आपलोग उसको कुछ अच्छा न मानो, तो आपके संस्कारपर चोट करना ठीक नहीं।

दूसरी कोटि उन नास्तिकोंकी है जो लोग जीवको स्थानका बच्चा मानते हैं—माने स्थान आधार है और जीव उसमें आधेय है, माने आकाशमें जैसे जुगनू उड़ता है, वैसे जीव उड़ करके एक जगहसे दूसरी जगह जाता है। उनके मतमें असलमें स्थानमें ही जीव पैदा हुआ है, स्थानमें ही रह रहा है और स्थानमें ही मिट जायेगा; वह जीव देशका बच्चा है। आकाशमें जो भी चीज उड़ती है, चलती है, फिरती है, उसके शरीरमें आकाशका उपादान जरूर होगा, देशका उपादान जरूर होगा।

तो आत्मद्रव्यको परिच्छिन्न मानना, हर देहमें अलग-अलग मानना—यह असलमें जीवको देहका बच्चा, पंचभूतका बच्चा मानना है। इसीको भौतिक प्रक्रिया बोलते हैं. अपने यहाँ चार्वाक और विदेशमें मार्क्स, हैकले,

डार्विन, जितने हैं सबके सब भौतिक प्रभावसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं और जीवको आने-जानेवाला मानते हैं। यदि आकाशमें सम्पूर्ण जीव न हो, देशकी कल्पनामें ही जीवका उत्थान और पतन न हो, देशका बच्चा जीव न हो तो देशको आधार बनाकार उसमें मक्खीकी तरह उड़ता हुआ जीव कैसे रहेगा?

तीसरी कल्पना है कालकी प्रधानतासे। क्षणमें पैदा हुआ है जीव। जीवमें जो क्षणिकत्व मानना और जीवको क्षणिक मानना—ये भी असलमें जीवको शून्य मानना ही है, सत्ता शून्य मानना ही है, क्योंकि हर क्षणमें वह मरता है। इस प्रकार जीवका क्षणिकत्व (कालिकत्व), जीवका गमनागमन (देशिकत्व) और जीवका बीजके रूपमें भौतिकत्व—यह चैतन्य जीवके सम्बन्धमें तीन नास्तिक कल्पनाएँ हैं।

हमने एक महात्मासे , कभी बचपनमें पूछा था—कि 'यह जो हमारे वैदिक धर्म और उपासनामें (वैदिक दर्शनमें नहीं) जीवको जाने-आनेवाला मानते हैं, यह क्या है ? यह इसलिए याद आयी कि पहले हमने जो जीवको चैतन्यरूप कहा है, उसका तो आने-जानेवाला माननेसे खण्ड नहीं हो जाता है—क्योंकि चैतन्य तो देशका प्रकाशक है इसलिए देशसे परिच्छिन्न होकर उसमें गमनागमनकी प्रक्रिया किसी तरहसे बैठती नहीं है। यह इसलिए सुनाता हूँ कि आपलोग वेदान्तका विचार करते हैं तो उसमें कभी-कभी एकाध बात, एकाध चुटकुला छोड़ देना चाहिए।'

दृष्टि-सृष्टिवादमें तो देश, काल, वस्तु-ये सब अवस्तु रूप ही हैं। इसलिए जीवका परिच्छिन्नत्व दृष्टि ही है स्वप्नवत्, और उसका स्वर्ग-नरकादिमें जो गमनागमन है वह भी दृष्टि ही है स्वप्नवत्। और उसका जो कालमें जन्म-मरण है, वह भी स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नमें कोई जनमता-मरता नहीं, आता-जाता नहीं और द्रव्यरूपसे होता नहीं; परन्तु जैसे स्वप्नमें वैसा भासता है, ठीक इसी प्रकार जीवमें सौगत-क्षणिकत्व और आर्हन्त-दैशिकत्व और चार्वाकीय भौतिकत्व—ये तीनों दृष्टि ही हैं; इनमें दृष्टिके सिवाय जो दृङ्मात्र वस्तु है, उस वस्तुमें ये तीनों (क्षणिकत्व, दैशिकत्व और भौतिकत्व) नहीं हैं।

अच्छा, यह तो दृष्टि-सृष्टिकी बात हुई, अवच्छेदवादकी रीतिसे भी न जीवमें भौतिकत्व है, न **दैशिकत्व** है, न कालिकत्व है। अवच्छेदवादकी

प्रक्रियामें अन्त:करणावच्छिन्न जो शुद्ध चैतन्य है, उसमें विवर्तरूप जो अनत:करण है—व्यवहारकालमें भासमान जो अन्त:करण है—उसीमें स्वर्गकी कल्पना होकरके सुखानुभूति, उसीमें नरककी कल्पना होकर नरकानुभूति, उसीमें ब्रह्मलोकानुभूति, वैकुण्ठानुभूति, इत्यादि सब होती हैं। माने अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य न भौतिक है, न गमनागमनशाली है, न क्षणिक है। बल्कि अन्त:करणवाच्छिन्न चैतन्यमें विवर्तभूत जो अन्त:करण है, वह अन्त:करण ही, यथास्थान रहते हुए ही स्वर्गकी कल्पना करके हजारों वर्ष स्वर्ग भोग लेता है, नरककी कल्पना करके हजारों वर्षका नरक भोग लेता है और वैकुण्ठकी कल्पना करके नारायणसे बातचीत कर लेता है और वही सृष्टि-स्थिति-प्रलयका दर्शन अपने अवच्छिन्न चैतन्यमें कल्पित होकर वही कल्पना कर लेता है।

भौतिकत्वकी बात यह है कि वह तो भौतिक होगा तब भी उसका जन्म-मरण होगा और गमनागमन होगा और गमनागमन होगा तब भी भौतिक होगा और जन्म-मरण होगा और जन्ममरण होगा तब भी गमनागमन होगा और भौतिक होगा। इसीसे इन तीनों पक्षोंको वेदान्तियोंने एक कक्षामें निक्षिप्त कर दिया है। क्योंकि कालिकत्व होगा तब भी दैशिकत्व और भौतिकत्व होगा, दैशिकत्व होगा तब भी कालिकत्व और भौतिकत्व होगा और भौतिकत्व होगा तव भी दैशिकत्व और कालिकत्व होगा। इसलिए जिनसे इन तीनोंका भान होता है उस अन्त:करणसे अवच्छिन्न चैतन्यमें अन्त:करण ही विवर्तमात्र है और दैशिकत्व, कालिकत्व, भौतिकत्व तो विवर्तमात्र है ही।

अब आधार-आधेयकी बात हुई कि गमनागमन कहाँ? तो दृष्टि-सृष्टिकी रीतिसे तो दृष्टिमात्र ही है और अवच्छेदवादकी दृष्टिसे स्वावच्छिन्न चैतन्यमें विवर्तभूत जो अन्त:करण है वह उस अन्त:करणकी कल्पना है।

अब आभासवादकी दृष्टिसे और देखें। बोले कि वृत्ति बड़ी निर्मल है—प्रकृति सत्त्वप्रधान अवस्था, अन्त:करणकी वृत्तिकी है। और उस निर्मल वृत्तिमें शुद्ध चैतन्य आभासित होता है। तो शुद्ध चैतन्यमें तो न क्षणिकत्व है, न जन्म मरण है, न गमनागमन है, न परिच्छिन्नत्व, न भौतिकत्व है, न द्रव्यत्व है, न दृश्यत्व है। शुद्ध चैतन्यमें दृश्य द्रव्यत्व नहीं, क्षणिकत्व नहीं और

दैशिकत्व नहीं है, परन्तु परिच्छिन्न सत्त्वात्मक अन्तःकरणमें शुद्ध-चैतन्यका जो आभास है उस आभासका अन्तःकरणके साथ तादात्म्य होनेके कारण— माने अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान न होकर उस आभासको ही मैं समझनेके कारण—इस आभासका ही नरक-स्वर्गादिमें गमनागमन होता है और इसीका देहके साथ तादात्म्य करके औरोंसे अपनेको अलग समझता है। यह आभास अपने शुद्ध स्वरूपका अज्ञान होनेके कारण अपनेको आभासरूप समझ लेनेके कारण, इन सबका अपने आपमें आरोप कर लेता है।

तो भाई यह जन्म-मरण कब तक? जबतक तुम अपनेको शुद्ध चैतन्य नहीं जानते। यह नरक, स्वर्गादिमें गमनागमन कब तक? जब तक अपनेको शुद्ध चैतन्य नहीं जानते। यह समाधिकाल, विक्षेपकाल और अपने अन्तकालका भेद कब तक? अपने उच्छेदका भय कि मैं मर जाऊँगा, मेरा नाश हो जायेगा, यह भय कबतक? जबतक तुम अपने स्वरूपको नहीं जानते।

ठीक है, इस स्वरूपका ज्ञान अन्य-अन्य मतावलम्बियोंने भी माना है। जैसे योगियोंने यह जो केवल द्रष्टा है इसका स्वरूपावस्थान माना है— उज्ज्वल हीरेकी तरह चमचम चमकता हुआ आत्म द्रष्टा! लेकिन वह जो परिच्छिन्नताकी पंख वहाँ लगी हुई है—अनेक द्रष्टा हैं, एक पुरुष विशेष है, एक प्रकृति है—यह सब तो कल्पनाजालके साथ तादात्म्य ही है न! और इस कल्पनाजालके साथ तादात्म्य अपने ब्रह्मत्वके ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होता, इसलिए वेदान्त सिद्धान्त इस प्रत्यक् चैतन्यको ब्रह्म बताता है।

एक यह भी बात कर लें कि आत्मा ब्रह्म है, ऐसा मानना तो श्रद्धा हुई। लेकिन आपने किस शास्त्रके अनुसार श्रद्धाको पाप निश्चय किया है? श्रद्धा तो उस अन्तःकरणमें होती है, जिसमें अभिमान कम होता है, संशय कम होता है, जिसमें दूसरोंके दुःख, बेइमानी, छली, कपटी, होनेकी कल्पना कम होती है। जिसमें दोषदृष्टि कम होगी वह श्रद्धालु होगा, जिसमें अभिमान कम होगा वह श्रद्धालु होगा, जिसमें संशय कम होगा वह श्रद्धालु होगा, तो उसका अन्तःकरण तो शुद्ध होगा, उसको आपने पापी कबसे माना? किस प्रमाणसे निश्चय किया कि श्रद्धालु पुरुष पापी होता है? बोले—उसमें अज्ञान है। अज्ञान न होता तो श्रद्धालु कैसे होता? अज्ञान ही पाप है। ठीक है, बहुत बढ़िया बात है तो उसीके निवारणके लिए तो वह प्रयत्नशील है बेचारा।

उसकी श्रद्धा तो यही है न कि वह अपने अन्दर जो अज्ञान है उसके निवारण के लिए प्रयत्नशील है। जिसको अपनी इन्द्रियोंसे नहीं देख पाता है, अपने मनमें जिसका ध्यान नहीं कर पाता है अदृष्ट होनेके कारण, प्रत्यक्ष न होनेसे जिसके बारेमें बुद्धि अनुमान करनेमें असमर्थ है, जब यह उसने देखा कि अर्थापत्ति काम नहीं देती, अनुपलब्धि काम नहीं देती, अनुमान काम नहीं देता, उपमान काम नहीं देता, जब उसने देखा कि प्रत्यक्ष काम नहीं देता, तो ऐसे स्थान पर प्रमाणके रूपमें केवल शब्द ही उपस्थित होता है, इसके सिवाय, दूसरा क्या उपाय है ? माने जो अनुभवी पुरुष हैं जो ज्ञानके स्वरूपको बताते हैं, उनके वचनपर विश्वास ही उपाय है।

एक तो पौरुषय ज्ञान होता है, जैसे डॉक्टरका ज्ञान है—रोगकी जाँच कर ली, ओषधिकी जाँच कर ली, इस रोगमें यह ओषधि भीतर जायेगी, यह-यह काम करेगी, यह पौरुषेय ज्ञान हुआ। और स्वरूपके सम्बन्धमें एक गृहीत ज्ञान होता है और एक ग्रहणाग्रहणका प्रकाशक ज्ञान होता है। तो अपने स्वयं प्रकाश प्रकाशक ज्ञानको अद्वैत ब्रह्म बतानेवाला यह वेदान्त है। पहले प्रमाणाप्रमाणका निश्चय कर लेनेके बाद वेदान्तका पता चलता है।

अच्छा तो **भूतानां**—यह जिसको भवन्ति—'हुए' बोलते हैं न, तो उस हुएके भीतर जो आधाररूपसे, उपादान रूपसे स्वयं प्रकाशरूपसे बैठा हुआ है और उसके बाहर विषयरूपमें भी जो स्वयंभू स्वयं प्रकाश सर्वात्माके रूपमें दिख रहा है, वह एक ही है। बोले—यह तो व्याप्य-व्यापक भाव हो गया, भूतके भीतर भी वही,भूतके बाहर भी वही। तो भूत हुआ व्याप्य और वह तत्त्व हुआ व्यापक। तो बोले कि तुम यही बता रहे हो न कि सम्पूर्ण भूतोंमें जो बाहर-भीतर व्यापक है सो परमात्मा है ? परन्तु यह व्याप्य तो बच गया! जिसमें व्यापक है वह क्या है ? जैसे देखो एक लोहेका गोला उठाया और आगमें डाल दिया तो आग उसमें व्याप्त हो गयी। अग्नि व्यापक और लोहेका गोला व्याप्य। लोहेके गोलेमें बाहर भी लाल-लाल, छू दो तो जल जाय और भीतर भी आग। तो लोहेके गोलेमें बाहर अग्नि, भीतर अग्नि, पर वह लोहेका गोला क्या? तो **भूतानां अन्तः भूतानां बहिश्च बहिरन्तश्च भूतानां** परन्तु **भूतानि किं भवन्ति?** भूत क्या है? भूतोंमें बाहर-भीतर व्यापक तो वह है,, पर भूत क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देना चाहिए कि भूत

क्या है ? दूसरी बात यह है कि बाहर वह और भीतर वह, बीचमें क्या जिसने बाहर-भीतरका भेद बनाया? शंकराचार्य भगवान्ने यह प्रश्न उठाया—
***बहिरन्तश्च इति उक्ते मध्ये अभावे प्राप्ते इदं उच्यते—*अचरं चरमेव च।**
बाहर भी, भीतर भी वही तो बीचमें क्या? दोनोंका अभाव बीचमें होगा या बीचमें भूत होगा? बोले बीचमें जो अचर या चर भूत हैं वे देहाभास भी रज्जु-सर्पके समान उसी आत्माके स्वरूप हैं।

असली व्यापकताको लोग ठीक-ठीक नहीं समझते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी जो व्यापकता है, वह बुद्धिमें आरूढ़ हो जाती है। श्रौत व्यापकता समझनेके लिए थोड़ा विचार करना पड़ता है। कैसे? जैसे एक व्यापकता देखो आपको बतायी—अग्निकी लोहेके गोलेमें यह मूर्त—संयोगित्व रूप व्यापकता है। यहाँ विभुत्व क्या है ? कि मूर्त संयोगित्वरूप विभुत्व है। एक स्थूलके साथ सूक्ष्मका सम्बन्ध हो गया। स्थूल क्या है ? कि लोहेका गोला और उसमें अग्निकी उष्णता क्या है ? कि सूक्ष्म है। उष्णता अग्नि नहीं है, उष्णता तो अग्निका गुण है। वह बात दूसरी है। उसमें भी चार बात है, लेकिन अब आपको यह सुनाते हैं कि शंकरानन्दजी तो इस दृष्टान्तको भी वेदान्तियोंका ही दृष्टान्त मानते हैं। पर अभी हम उसको थोड़ा आपसे अलग कर देते हैं।

एक व्यापकता तो यह है कि लोहेके गोलेमें जैसे अग्नि व्याप्त हो गयी और फिर अलग हो गयी, ठंडा कर दिया तो लोहेका गोला रह गया और आग निकल गयी। तो यह मूर्तसंयोगित्व रूप विभुत्व हुआ। यहाँ लोहेके गोलेसे अग्निका संयोग हो गया।

अब एक दूसरी व्यापकता देखो। लोहेके गोलेमें लोहा व्यापक है कि नहीं? बोले—गोल तो आकृति है और लोहा उपादान है। तो उपादानकी जो उपादेयमें व्याप्ति है, उसको भी संस्कृतमें व्याप्य-व्यापक भाव बोलते हैं। जैसे सांख्यकी दृष्टिसे प्रकृति अपने सम्पूर्ण कार्यमें व्यापक है। यह हम जितने स्त्री हैं, पुरुष हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, मनुष्य हैं, इनके जो शरीर हैं उन शरीरोंमें पंचभूत व्यापक हैं कि नहीं? कोई गोरा है, कोई काला है, कोई लम्बा है, कोई नाटा है, कोई मोटा है, कोई दुबला है और पंचभूत तो सबमें हैं। आकाश सबमें है, वायु सबमें है, अग्नि सबमें है। तो जैसे भौतिक विकारमें भूत व्याप्त होते हैं; जैसे तरंग बुद्बुदादिमें जल उपादान रूपमें

व्यापक है; जैसे ज्वालामें अग्नि उपादान रूपसे व्यापक है; जैसे श्वासमें वायु उपादान रूपसे व्यापक है और जैसे घटाकाशमें आकाश उपादान रूपसे नहीं, स्वरूप-रूपसे व्यापक है (घटाकाश और महाकाशमें उपादान-उपादेय भाव नहीं है, किंचित् परिणामको स्वीकार करके घटाकाश नहीं बनाया था।)— यह उपादानकी उपादेयमें व्यापकता है।

अब वेदान्त सिद्धान्तमें जो व्यापकता है (वह ऐसी ही जैसे रज्जु-सर्पमें रज्जुकी। जैसे मन्द अन्धकारके कारण रज्जुके अज्ञानसे रज्जु-द्रष्टाको रज्जुकी सर्पके रूपमें प्रतीति होती है और उस भ्रमरूप सर्पमें अधिष्ठान रज्जुकी व्याप्ति होती है उसी प्रकार चैतन्य द्रष्टाको अधिष्ठान चैतन्यके अज्ञानसे अधिष्ठान चैतन्यकी भूतोंके रूपमें प्रतीति होती है और उन भूतोंमें चैतन्यकी व्याप्ति कही जाती है। अब इसपर विचार करो! एक तो चैतन्य दो नहीं हैं। द्रष्टा-चैतन्य और अधिष्ठान-चैतन्य एक ही हैं। परन्तु रज्जुका अज्ञान और अज्ञानजन्य सर्प अन्तःकरणमें ही है और रज्जुका ज्ञान और ज्ञानजन्य सर्प भ्रमकी निवृत्ति भी अन्तःकरणमें ही है। तो जैसे अन्तःकरण) चैतन्यकी उपाधि हो रहा है, वह सर्प भी उसी चैतन्यकी उपाधि हो रहा है। जैसे चैतन्यमें अन्तःकरण कल्पना मात्र लटक रहा है, वैसे ही अन्तःकरणमें वह कल्पना मात्र सर्प भी लटक रहा है। सर्प देश और अन्तःकरण देश दो नहीं हैं। सर्पकाल और अन्तःकरणका सर्पाकार काल-ये दो नहीं हैं। सर्प देश और अन्तःकरण देश दो नहीं हैं और अन्तःकरणका सर्प-आकार और सर्प— ये दो नहीं हैं। अन्तःकरणका सर्प-आकार और सर्प दो नहीं हैं, सर्पाकार काल और सर्प दो नहीं हैं, सर्पाकार देश और सर्प दो नहीं हैं। सर्पाकार अन्तःकरणसे उपहित चैतन्य और सर्पसे उपहित चैतन्य दो नहीं हैं। इसका अर्थ हुआ कि चैतन्यसे पृथक् न अन्तःकरण है न सर्प है।

यह हुआ दृष्टान्त। इसका दृष्टान्त क्या है? यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और उसका आश्रय और उसको ग्रहण करनेवाले करण जिस दृष्टिसे गृहीत हो रहे हैं, प्रपंच काल और प्रपंचाकार वृत्ति काल, प्रपंच देश और प्रपंचाकार देश अन्तःकरण, प्रपंच वस्तु और प्रपंच-आकार, असलमें ये नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मचैतन्यसे पृथक् नहीं हैं। माने ब्रह्माभिन्न आत्मचैतन्यसे पृथक् प्रपंच नामकी वस्तु नहीं है।

प्रपंच दो प्रकारसे भासता है—चराकार और अचराकार। तो अब यह बात कहनी पड़ेगी कि—**अचरं चरमेव च।** ***भूतमपि तदेव इत्यर्थः।*** भूतोंके रूपमें भी वही भास रहा है। असलमें चर और अचर एवं चराकार वृत्ति और अचराकार वृत्ति—ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं। और चरकाल और चराकार वृत्ति काल, अचर काल और अचराकार वृत्ति काल, चर-देश, अचर-देश और चराचर देशाकार वृत्ति, ये एक ही अधिष्ठानमें भास रहे हैं! और उस आत्माधिष्ठानसे, उस ब्रह्माभिन्न अधिष्ठानसे पृथक् न वृत्ति है औन न तो प्रपंच है!! तो भ्रान्तिवाले अन्त:करणसे उपहित जो चैतन्य है, भ्रमके विषय सर्पसे उपहित चैतन्य भी वही है, रज्जु उपहित चैतन्य नहीं। यह जो अपनेसे अन्य देशमें प्रपंच भासता है, अपनेसे अन्य कालमें प्रपंच भासता है, वृत्तिसे अन्य वस्तु रूप जो प्रपंच भासता है, असलमें वृत्त्यवच्छिन्न और प्रपंचावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। माने वृत्ति और प्रपंचका भेद है और चैतन्यसे पृथक् न वृत्ति है, न प्रपंच है। इसलिए चराकार भासमान और अचराकार भासमान एक ही तत्त्व है। परब्रह्म परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। अचरं चरमेव च—अचर भी वही और चर भी वही। चराभास भी वही और अचराभास भी वही। चर देश, चर काल, चर वस्तु, चर वृत्ति और अचर देश, अचर काल, अचर वस्तु और अचर वृत्ति ये एक ही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय-विजातीय स्वगत-भेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें भास रहे हैं, इसलिए उससे पृथक् न चर है और न तो अचर है।

× × ×

अचरं चरमेव च—अचर भी वही और चर भी वही। इसका मतलब यह हुआ कि आप लोग जिस धरतीपर बैठे हुए हैं, वह भी वही और इस धरतीपर जो चलने-फिरनेवाले आप हैं, वह भी वही। यह तो बड़ा ही मजेदार हो गया न!—

आपै अमृत आपु अमृत घट, आपै पीवनहारी।
आपै ढूँढ़े आपु ढुँढ़ावे आपै ढूँढ़न हारी॥

देखो, बौद्ध लोग जिस शून्यको ही परमार्थ मानते हैं, उनकी भाषामें शून्य ही तत्त्व है, शून्य ही परमार्थ है। उनकी दृष्टिसे न चर तत्त्व है, न अचर तत्त्व है। लेकिन क्षणिक विज्ञानवादी जो बौद्ध हैं, वे चरको ही तत्त्व मानते हैं,

क्योंकि वे जिस विज्ञान-धाराको तत्त्व मानते हैं वह तो चर ही हुआ; धारा तो चलती है।

जैन लोग चर और अचर दोनोंको तत्त्व मानते हैं और स्याद्वाद जो सप्त-भगीनय हैं उसके द्वारा वर्णन करते हैं:

स्यादस्ति, स्याद् नास्ति। स्यादस्ति च नास्ति च। स्यादस्ति वक्तव्यं च स्याद् नास्ति च वक्तव्यं च। स्यादस्ति च अवक्तव्यम् च। स्याद् नास्ति च अवक्तव्यं च। वे चर, अचर दोनोंको ही मानते हैं।

चार्वाक केवल जड़को तत्त्व मानता है और ये चर तो जड़में ही बनते-बिगड़ते हैं, तत्त्व नहीं हैं। चर तत्त्व नहीं है। तत्त्व तो चारभूत अचर ही हैं।

तो यह हुई जड़वादी चार्वाककी स्थिति। जड़ाजड़वादी आर्हन्त नयकी स्थिति हुई दोनों तरफ। और केवल चर ही तत्त्व है यह क्षणिक विज्ञानवादीका नय हुआ। और चराचर दोनों ही तत्त्व नहीं हैं यह शून्यवादीका नय हुआ। चर-अचर दोनोंका अभाव जिसमें है, वह शून्य है।

अब आप जरा आस्तिक नय देखो। ईश्वरके संकल्पमें ही चराचर दोनों हैं, यह एक बात है। ईश्वरने चराचर दोनोंको बनाया—चर प्राणीको भी, ब्रह्माको भी और अचर पृथिव्यादिको भी; उसमें भी परमाणुओंसे बनाया या प्रकृतिमें क्षोभ करके बनाया या ऐसा भी है कि स्वयं बन गये। यह दूसरी बात हुई। ईश्वर चर और अचरको बनाते नहीं हैं, प्रकृति स्वयं ये बन जाती है, यह तीसरी बात हुई।

ईश्वरने परमाणुओंसे सृष्टि बनायी, इसको आरम्भवाद बोलते हैं। इसमें ईश्वर कर्ता है। दूसरा पक्ष यह भी है कि ईश्वरके सान्निध्य-मात्रसे ही प्रकृति सृष्टि बना लेती है, ईश्वर तो अकर्ता ही रहता है। तीसरा पक्ष यह है कि प्रकृति स्वतन्त्रतासे सृष्टिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसको प्रकृति-परिणामवाद बोलते हैं। यह सांख्य योगियोंका मत है। बौद्ध लोग सृष्टिको चित्तका परिणाम मानते हैं। वे चित्त-परिणामवादी हैं। आरम्भवाद वैशेषिक-नैयायिकोंका है। एक पूर्व मीमांसावाली बात मैंने जान-बूझकर छोड़ दी, क्योंकि इसमें वेदार्थके निर्णयकी युक्ति बतानेकी ही प्रधानता है। और इसी अर्थमें हम लोग उसको ग्रहण भी करते हैं कि वेदार्थका निर्णय कैसे करना। सिद्धान्तमें कर्म मीमांसा वैदिकत्व, अवैदिकत्वके भेदसे यदि देखें तो अवैदिक

कर्म मीमांसाकी प्रधानता जैन सिद्धन्तमें है और वैदिक कर्म मीमांसाकी प्रधानता सारे दर्शनोंमें है। पर कर्म ही जगत्‌का संचालन करता है, वही चित्तमें संस्कार उत्पन्न करता है, वही प्राणी देह उत्पन्न करता है, उसीसे लोक लोकान्तर गमन होता है, देहातिरिक्त आत्मा है, वह चिद् अचित् है—बहुत सारी बातें हैं, पर वैदिकत्व—अवैदिकत्वका भेद है।

अच्छा ईश्वर ही सृष्टिके रूपमें बन गया! इसमें भी ईश्वर अपनी शक्तिसे बना, अर्थात् सृष्टि शक्ति-विक्षेप है—ऐसा निम्बार्काचार्य मानते हैं। और सृष्टि ईश्वरका संकल्प ही है—ऐसा श्रीवल्भाचार्यजी आदि मानते हैं। और प्रकृति और पुरुष दोनों ईश्वरके अनादि सिद्ध विशेषण हैं, अत: विशेष्य विशेषणका अभेद मानो तो सब अद्वैत है, एक है; और भेद मानो तो चिद्‌जीव, अचिद्‌शक्ति और चिदचिद्‌विशिष्ट ईश्वर तीन हैं; ऐसा श्रीरामानुजाचार्यजी मानते हैं। रामानुजाचार्यजीके विशिष्टाद्वैतकी मान्यता अन्य सभी उपासक सम्प्रदायोंमें है। शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य—सबके द्वारा चराचरके सम्बन्धमें, करीब-करीब यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तको स्वीकार किया हुआ है।

अच्छा, अब वैदिक या आस्तिक सिद्धान्तमें पहले यहाँतक समझ लो कि एक ईश्वर ही चराचर सृष्टिके रूपमें बना हुआ है। उसके बाद, ईश्वर बना हुआ है, इसपर थोड़ा विचार करो। जब जड़ वस्तु सृष्टि बनती है तो एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होकर बनती है। क्योंकि जड़ कालव्याप्य है अर्थात् कालकी गोदमें जड़की हजार-हजार अवस्थाएँ होती हैं। बीज हुआ, अंकुर हुआ, तना हुआ, पल्लव हुआ, फूल हुआ, फल हुआ, सब कालव्याप्य हैं। जड़की जितनी अवस्थाएँ होती हैं वे कालसे व्याप्य होती हैं।

अब यही बात लो कि यदि चेतन ही सृष्टि बना तो चेतनसे सृष्टि बनी या जड़से सृष्टि बनी, इन दोनोंमें क्या फर्क पड़ेगा? यह बात आपको ध्यानसे, ज्ञानसे, स्वाध्यायसे, सद्‌गुरुसे समझनी पड़ेगी। जैसे जड़में अवस्थान्तर होगा तो नामकी, रूपकी उत्पत्ति होगी, ऐसे चेतनमें स्वयं चेतन ही यदि सृष्टि बनेगा तो चेतनमें 'उत्पत्ति' नहीं होगी, भान होगा। माने जड़में परिणामात्मक सृष्टि होगी और चेतनमें भानात्मक सृष्टि होगी। इस बातको आप जब चेतनका चिन्तन करेंगे कि चेतन कैसा होता है, तो यह बात मालूम पड़ जायेगी। यहीं वेदान्त सिद्धान्त उपस्थित होता है। यदि तुम जड़ सत्ताका

चराचर रूपमें परिणमन मानते हो तो जड़ सत्ता नम होकर, नम्र होकर सृष्टि बनेगी। मृत्तिका नमित होकर ही घट बनती है। परिणमनमें नमन ही है। नम्र हो गयी वस्तु, कोमल हो गयी। अब चेतनमें परिणमनका क्या प्रकार होगा? वस्त्वन्तरोत्पत्ति? यहीं हमारे उपनिषद्के ऋषियोंने पकड़ा। यदि चेतनमें भानात्मक उत्पत्ति भी होगी, भानात्मक स्थिति, भानात्मक प्रलय होगी, तो चेतनकी दो स्थिति मालूम पड़ेगी: एक बहती हुई चेतन धारा और एक उस बहती हुई चेतन धाराका स्थिर साक्षी माने 'मैं'। तो जो बहती हुई धारा मालूम पड़ेगी वह देश, काल और वस्तुके संस्कारसे संस्कृत होगी। परन्तु चेतनमें संस्कार तो वास्तविक हो ही नहीं सकता, वह तो साक्षी है। इसका मतलब यह हुआ कि जो चैतन्य अपनेको देशसे, कालसे और वस्तुसे युक्त देख रहा है, वह अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं देख रहा है। पर ऐसा देखना दोष नहीं है, उसको अपनेसे अलग सत्य मानना, यह अज्ञान है। तुमने अपने चेतन स्वरूपका कभी ध्यान नहीं किया, उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया, उसका श्रवण नहीं किया, उसके बारेंमें सत्संग नहीं किया!

अचरं चरमेव च—तो चार्वाक पक्षमें केवल अचर तत्त्व है, विज्ञानवादी पक्षमें केवल चर, जैन पक्षमें चर, अचर दोनों और शून्यवादी पक्षमें दोनोंका अभाव तत्त्व है। ईश्वरवादी पक्षमें चराचरका निर्माण परमाणुओंके द्वारा अथवा, प्रकृतिको सान्निध्य मात्रसे प्रेरित करके बनाना अथवा अपने संकल्पसे बनाना अपने शक्ति-विक्षेपसे बनाना, अपने विशेषणके रूपमें बनाना, अपनी शक्तिसे ही बनाना है।

मध्वाचार्य अपनी शक्तिसे मानते हैं।

निम्बार्काचार्य शक्ति-विक्षेपसे मानते हैं।

वल्भाचार्यजी महाराज संकल्पसे मानते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी विशेषणसे मानते हैं।

पर ईश्वरसे भिन्न सृष्टिको कोई नहीं मानता। लेकिन जहाँ चेतन उपादान है वहाँ सृष्टिका क्या रूप होगा? उपादान जड़ हो तो जड़का परिणाम होगा चर-अचर और उपादान चेतन हो तो चराचरका मात्र भान होगा, प्रतीति होगी। यही बात केवल पकड़नेकी है और चैतन्य तो अपना आपा है। अपने आपको सृष्टिकी प्रतीति है। देश, काल और वस्तुके भावाभावके संस्कारसे

अपनेमें सृष्टि दीखती है या नहीं दीखती है। समाधि और सुषुप्तिका जो स्मरण है वह अभावका संस्कार है। जो जाग्रत्, स्वप्नका संस्कार है वह भावका संस्कार है। और भावाभावके संस्कारसे विनिर्मुक्त अपना आत्मा है। अपने आत्मामें भावाभावका संस्कार केवल प्रतीति-मात्र है। इतनी ही कुल बात है। अच्छा और देखो—**चरंचाचरमेव च**। चर और अचर यह दो प्रकारकी सृष्टि है और शून्यवादी बौद्धोंका जो 'अभाव' है—शून्य उसका निरूपण करता है। वे लोग अभाव शब्दसे नहीं कहते हैं, हम अपनी भाषामें उनके सिद्धान्तका जब अनुवाद करते हैं तब उसको अभाव कहते हैं। माने हम लोगोंकी परिभाषाके अनुसार तो अभाव है, पर उनकी परिभाषाके अनुसार वह अभाव नहीं है। वह एक अन्य विषय है। परन्तु जिसको भावका ज्ञान होता है उसीको अभावका ज्ञान होता है, इसलिए चर, अचरका जो साक्षी है, वही चराचरके अभावका भी साक्षी है। इसलिए अभावकी भी स्मृति होती है और चराचरके अनुभवकी भी स्मृति होती है। अभावका यदि साक्षी न होवे तो अभावकी स्मृति नहीं हो सकती। घटाभावकी भी स्मृति होती है। तो घटका ज्ञान जिसको है उसीको घटाभावका ज्ञान होता है। और जिसको घटकी स्मृति होती है, उसीको घटाभावकी स्मृति होती है। इसलिए चराचर सृष्टिका होना— इसकी स्मृति और चराचर सृष्टिका न होना—इसकी स्मृति जिसको होती है, वह जो चैतन्य है न, उसके शुद्ध स्वरूपमें न देश है, न काल है, न वस्तु है। **चरं चाचरमेव च** माने चर और अचर और इनका अभाव भी विवर्त रूपसे ही चेतनमें भास रहा है, इसलिए चेतनसे जुदा नहीं है। यह बात एक और श्लोकसे आपका ध्यान खींचते हैं:—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते॥

एक बार तो यह कहते हैं कि क्षेत्रज्ञाभिन्न ब्रह्म ज्योतिर्मात्र है, ज्ञानं है। और एक ओर बोलते हैं '**चरंचाचरमेव च।**' तो ज्ञानका चल-अचल रूप होना यादृश संभाव्य है, वैसा ही न होगा . तो चराकार भासमान ज्ञान, अचराकार भासमान ज्ञान अर्थात् भासमान चराचरता और ज्ञान जो है वह स्वरूप है, माने ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही चराचर सृष्टिके रूपमें भास रहा है।

अब जरा आगेकी बात सुनाते हैं—

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।

यह देखो 'तत्' तो इसमें चला ही गया—**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।** तत् वहाँ भी है, वही। तत्से ही उपक्रान्त है इस वस्तुका निरूपण। **ॐ तत् सदिति ब्रह्म।** यह तत् भी ब्रह्मका एक नाम है। तत् माने ब्रह्म। ***तनोति दृष्ट्यैव सर्वं इति तत्।*** जो दृष्टिसे ही सर्वका विस्तार करता है, उसको तत् बोलते हैं और 'त्व' भी ब्रह्मका नाम है—*उतत्वः पश्यन् न शृणोति वाचं।*

एक त्वत् सर्वनाम भी है। जैसे युष्मत् है, अस्मत् है, इसी प्रकार त्वत् भी सर्वनाम है। अच्छा अब आओ तत्की चर्चा करें—**सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्।** 'तत् दूरस्थं च अन्तिके च।' यह चकारी श्लोक है। देखो इस श्लोकमें पाँच बार 'च' अक्षरका प्रयोग है और 'अचरं चरमेव च' में दो बार चकार अगर मान लें तो सात बार है। लेकिन अक्षरके रूपमें पाँच चकार ही है, इसलिए इसको 'च-पंचकम्' बोलेंगे। यह श्लोक कैसा है? बोले—***चपंचकः।***

तो आओ जरा 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं' पर विचार करें। बोले—अच्छा, जब चर भी ब्रह्म, अचर भी ब्रह्म और भूतोंके बाहर भी ब्रह्म, भीतर भी ब्रह्म; तो बाहर और भीतर माने द्रष्टा और दृश्य दोनों ब्रह्म और दृश्यमें भी चर और अचर दोनों ब्रह्म, तो तुम्हारा यह ब्रह्म दिखता क्यों नहीं है? तो अब लगालो खुर्दबीन, दूरबीन देखनेके लिए। कई लोग ऐसे शौकीन होते हैं कि अपनेको भी खुर्दबीनसे देखते हैं। तो अपनेको देखें, इसमें तो कोई आपत्ति नहीं, लेकिन मैं हूँ कि नहीं, इसमें भी शंका करने लगते हैं। इसको 'वदतोव्याघात' दोष कहते हैं, जैसे कोई बोले—***मम मुखे जिह्वा नास्ति।*** मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है। जिह्वा नहीं है तो यह बात बोलकर कैसे बतायी जायेगी? बोलता है और कहता है कि जिह्वा नहीं है, तो यह बात गलत हुई न! इसी तरह कोई प्रश्न तो करे और यह पूछे कि मैं हूँ कि नहीं? तो उसके प्रश्नमें वदतो व्याघात दोष हुआ कि नहीं? अरे यदि वह 'होता' नहीं तो पूछता कैसे?

तो बोले—कि महाराज हम यह पूछते हैं कि हम पहले थे कि नहीं? बादमें रहेंगे कि नहीं? अच्छा यह पूछते हो तो यह 'पहलावाला काल' और 'बादवाला काल' तुम्हारी सत्तासे सिद्ध होता है कि बिना तुम्हारी सत्ताके ही सिद्ध होता है? यह भूत-भविष्यकी जो कल्पना है यह तुम्हारे अन्तःकरणमें

ही है। यह जो अनन्तमें भूतत्व परिच्छेदक कल्पना और भविष्यत्व परिच्छेदक कल्पना है, यह कैसी है कि जैसे रज्जुमें सर्प है। आप थोड़ा ध्यान दोगे तो यह बात मालूम पड़ जायेगी। बिना ओर-छोरवाले जिस कालमें भूत अनादि है और भविष्य अनन्त है, उस अनन्त अधिष्ठानमें जिसमें आदि और अन्तका अभाव है, उसीमें आदि और अन्तकी कल्पना है। इसलिए यह रज्जुमें सर्पके समान कल्पना है। अनादि-अनन्त कालमें, माने अधिष्ठानसे भिन्न सिद्ध न होनेवाले कालमें जो यह आदि और अन्त विषयक प्रश्न है वह कैसा है? कि रज्जु सर्पवत् है। इसलिए जैसे रज्जु-सर्पकी भ्रान्ति जिस अधिकरणमें होती है, उसी अधिकरणमें वह रज्जु-सर्प होता है, इसी प्रकार भूत-भविष्य जिस अन्त:करणमें मालूम पड़ते हैं, उसीमें होते हैं। इसलिए अन्त:करणोपहित जो चैतन्य है, वही भूत-भविष्य कल्पना अनादि चैतन्य भी है। इसका अर्थ हुआ कि भूत मर जायेगा और भविष्य मर जायेगा, परन्तु उसकी कल्पनाका जो साक्षी है वह नहीं मरेगा क्योंकि कल्पनाके सिवाय तो भूत और भविष्यका अस्तित्व ही नहीं है।

पलटू हम मरते नहीं साधो करो विचार।

हमको यहाँ सुनाना तो दूसरी बात है। यह तो दर्शन शास्त्रकी चटनी, अचार है।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।

तो जब समस्त चर-चलनेवाले जो स्त्री-पुरुष हैं, उड़नेवाले जो पक्षी हैं, चलनेवाले जो पशु हैं, यहाँ तक कि रेंगनेवाली जुएँमें भी परमात्मा है; और अचर—मिट्टीके कणमें भी परमात्मा है; तो जब तुम ऐसे तत्त्व, ऐसे परमात्माका निरूपण करते हो, जो बाहर भी, भीतर भी, चर भी, और अचर भी तो उसको स्पष्टम्-स्पष्टम् गृहीत होना चाहिए, मालूम पड़ना चाहिए। परन्तु वह मालूम तो पड़ता नहीं। क्यों?

अच्छा, आप वस्तुको ग्रहण करनेके लिए केवल वस्तुकी उपस्थिति ही हेतु मानते हो कि उसके ग्रहणके लिए जो करण चाहिए, उसकी उपस्थिति भी आवश्यक मानते हो? देखो एक प्रति-प्रश्न उठा दिया। ***स्वभावमात्रं ग्रहणे कारणम्*** अथवा ***इन्द्रियाणां शक्तिग्रहणे कारणम्।***

जैसे, एक लाल फूल है, वह आँखसे लाल-लाल दिख रहा है, परन्तु

आँखसे उसकी गन्ध नहीं मालूम पड़ रही है। फूलमें रूपके साथ गन्ध तो है, यह बात नाकसे सिद्ध है। फिर आँखसे गन्ध क्यों नहीं दिखायी पड़ती? इसलिए कि भाई, वस्तुका होना ही दीखनेका कारण नहीं है, उसको दीखनेके लिए जो औजार है, जो करण है, वह जब काम करेगा, तब वह दिखेगा। अरे, फूलमें रूप स्थूल है और गन्ध सूक्ष्म है। तब सूक्ष्म है-का अर्थ इतना ही है कि गंध नेत्रके द्वारा अग्राह्य है। जैसा रूप है वैसा ही गन्ध भी है। परन्तु सूक्ष्मता यही है कि गन्धके ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय अलग है और रूपको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय अलग है। इनके करण अलग-अलग हैं। वस्तु केवल उपस्थितिमात्रसे ही गृहीत नहीं होती। उसको ग्रहण करनेके लिए जो औजार चाहिए, जो करण चाहिए, वह होना चाहिए।

अच्छा, तो जो चर और अचरमें परमात्मा है, उसको ग्रहण करनेके लिए क्या करण है, क्या औजार है? श्रीमद्भागवतके मूलमें इसका बड़ा सुन्दर प्रतिपादन है। वहाँ यह बात बतायी कि आप यह बताओ कि घड़ेमें मिट्टी तो है, पर घड़े और मिट्टीका व्याप्य-व्यापक भाव है कि नहीं? आप जरा सोचोगे तो मालूम पड़ जायेगा। क्या घड़ेकी कोई ऐसी स्थिति थी जिसमें मिट्टी नहीं थी और उसके बाद घड़ेमें मिट्टी आकर व्याप्त हो गयी? घड़ा बन जानेपर उसमें मिट्टी घुसी क्या? व्याप्य-व्यापक भावका वह मजाक उड़ाया है, बोले—

प्रागेव विद्यमानत्वात् न तेषां इह सम्भवः।

पहलेसे मिट्टी मौजूद है; यह कहो कि मिट्टीमें घड़ा घटित कर दिया गया, घड़ा नामकी एक शक्ल मिट्टीमें कल्पित कर दी गयी। ऐसा नहीं कि घड़ा मिट्टीमें घुस गया, कि मिट्टी घड़ेमें घुस गयी! लेकिन जो मिट्टीको न पहचानता हो वह घड़ा देखकर भी मिट्टीको नहीं पहचान सकता। कुम्हारने अपने बच्चेसे कहा कि बेटा घरमें-से मिट्टी उठा ले आ। वह गया, घूमकर लौट आया। बोला—पिताजी, घरमें मिट्टी नहीं है। कुम्हारने जाकर घड़ेको उठा लिया यह क्या मिट्टी है। बच्चा बोला—यह तो मिट्टी नहीं, घड़ा है। अब घड़ेके नामरूपमें इतना अभिनिवेश है कि उसका मिट्टीपना जो है वह भूल गया है।

अच्छा, तो जलके बुद्-बुद, तरंग, फेन आदिमें क्या जल व्यापक

होता है? क्या रज्जु-सर्पमें रस्सी व्यापक होती है? क्या ज्वालामें अग्नि व्यापक होती है? क्या घटाकाशमें महाकाश व्यापक होता है? क्या पंचमहाभूतमें अहंकार तत्त्व व्यापक होता है? अरे उसमें गढ़ा हुआ होता है, कल्पित होता है। अहंकार तत्त्वमें क्या महत्तत्त्व व्यापक होता है? क्या महत्तत्त्वमें प्रकृति व्यापक होती है? क्या प्रपंचमें ईश्वर व्यापक होता है? भागवतमें यह प्रश्न उठाया है।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—इस श्रुतिकी व्याख्या श्रीमद्भागवतके मूलमें जहाँ की गयी है वहाँ बताया कि *तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्*—संसारकी सृष्टि करके ईश्वरने सृष्टिमें प्रवेश किया। *प्रागेव विद्यमानत्वात्* बोले—पहलेसे ईश्वर मौजूद है, तब प्रवेश कैसा? बोले—नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म चेतनमें प्रकृति कल्पित हुई। बोले—कहाँ कल्पित हुई? क्या ब्रह्मने कल्पना कर ली? कि न-न, ये मनुष्य जो ब्रह्मको नहीं जानते हैं उनको समझानेके लिए महात्माओंने यह कल्पना कर ली। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतनमें माया कल्पित हुई। ब्रह्म पहलेसे था। उसमें माया गढ़ी गयी, व्याप्य-व्यापक भाव नहीं हुआ। मायामें महत्तत्त्व कल्पित हुआ, महत्तत्त्वमें अहंकार तत्त्व कल्पित हुआ। उसमें पंचतन्मात्रा कल्पित हुई, उसमें पंचमहाभूत कल्पित हुए। उसमें ये चराचर प्राणी कल्पित हुए। व्याप्य-व्यापक भाव कहाँ है? ***प्रविष्ट इव भास्यते।*** इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा कि प्रविष्टके समान आप मालूम पड़ते हैं।

अब उसी प्रसंगकी एक बात और! असलमें '**सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं**' की व्याख्या वहाँ जितनी साफ है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥

यह कहते हैं कि एक चिन्मात्र तत्त्वमें ये इन्द्रियाँ क्या होती हैं भला? बोले—**बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः**—यह रूप है, यह रस है, यह गन्ध है, यह शब्द है, यह स्पर्श है—ऐसी अलग-अलग विषय-विषयक जो बुद्धि है, वही एक चैतन्यमें इन्द्रियोंकी पृथक्ताका भान कराती है। माने इन्द्रियोंका लक्षण क्या है? यह रूप है—ऐसी बुद्धि जिस इन्द्रियसे उत्पन्न हो उसका नाम नेत्र। यह शब्द है-ऐसी बुद्धि जिस इन्द्रियसे उत्पन्न हो उसका नाम

कान-श्रोत्र। यह स्पर्श है—ऐसी बुद्धि जिससे उत्पन्न हो उसका नाम त्वचा। यह गन्ध है—ऐसी बुद्धि जिससे उत्पन्न हो उसका नाम घ्राण और यह रस है—यह बुद्धि जिससे उत्पन्न हो उसका नाम रसना, जिह्वा। असलमें एक ही ज्ञानमें ,तद्-तद् बुद्धि—उत्पादकत्वेन हृदयमें तत्-तत् विषयक इन्द्रिय भेद कल्पित हुआ।

बुद्ध्यनुमेय लक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद् गुणाग्रहः।

बोले—अब इनसे गृहीत जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध हैं न, उनमें परमात्मा है कि नहीं है? बोले—है। कि है तो दीखता क्यों नहीं? बोले—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तो ये इन्द्रियाँ देख लेती हैं, क्योंकि यह विषय ज्ञान है। इन्द्रियोपाधिक जो ज्ञान है, वह विषयज्ञान है, अविषयज्ञान तो नहीं है न! यह अध्यस्त ज्ञान है। अध्यस्त इन्द्रियोंकी उपाधिसे जो ज्ञान होगा, वह अध्यस्त विषयोंका ही तो ज्ञान होगा न! अधिष्ठानका ज्ञान कहाँसे होगा? तो, ***ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः*** रूपमें, सत्ताके रूपमें, शब्दमें, सत्ताके रूपमें, स्पर्शमें, सत्ताके रूपमें, रस और गन्धमें, सत्ताके रूपमें वही सद् वस्तु विद्यमान है, परन्तु सत्ताको तो ग्रहण ही नहीं करती। इन्द्रियाँ विशेष हैं और वे विशेषको ग्रहण करती हैं। सामान्य ज्ञानमें ग्राह्य-ग्राहक भाव है ही नहीं, तो सत्ताका ग्रहण होगा कहाँसे?

अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते—जो चीज बीचसे घिरी हो, आवृत हो, उसमें बाहर और भीतरका भेद होता है। और इस परमात्मामें, यह तो आवृत है ही नहीं, तो बाहर-भीतरका भेद नहीं है। जो सर्व हो उसमें भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता। जो सर्वात्मा हो उसमें भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता। जो आत्मा हो उसमें भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता। जो अबाध्य परमार्थ वस्तु होती है उसमें भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता और जो अनावृत है उसमें भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता। इसलिए स्वयं जो अपना आत्मा है, उसमें ग्राह्य-ग्राहक भाव न होनेसे ही उसका ग्रहण नहीं होता।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं—में यह जो अविज्ञेयं पद है न, इसकी व्याख्या ध्यानमें आती है न! आत्मा ग्राह्य ग्राहक भावसे विनिर्मुक्त है। ग्राहक भाव—इन्द्रियोंका भी प्रकाशक है और ग्राह्य भाव विषयोंका भी प्रकाशक है! इसलिए आत्मामें ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता।

अब एक दूसरी बात! इन्द्रियोंमें सद्वस्तुके ग्रहणकी शक्ति नहीं है, विशेषके ग्रहणकी शक्ति है। क्योंकि इन्द्रियाँ ही विशेष हैं। जैसे आँख विशेष है, इसलिए वह रूपको ही ग्रहण करती है, शब्द, स्पर्श,रस और गन्धको ग्रहण नहीं करती। केवल रूप विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञान विशेषका ही नाम तो नेत्र है न! अच्छा, तो अब सामान्य सत्तारूप जो तत्त्व है, वह सामान्य ज्ञानसे अभिन्न होता है, इसलिए भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता। परन्तु इन्द्रियोंके स्तरपर तो ग्राहक-ग्राह्य भाव सच्चा होना चाहिए! बोले—

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यक् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥

यह जो ग्राह्य-ग्राहकभाव दृश्य हो रहा है यह गुण है। माने इन्द्रिय है, विषय है, अन्तःकरण है, ज्ञाता है और प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग ज्ञाता है। माने ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी जो त्रिपुटी दृश्य हो रही है, यह गुण है; उसको जो सच्ची मानता है, सत्य मानता है, परमार्थ अबाध्य मानता है, अपनेसे अलग सत्य मानता है; ग्राह्य-ग्राहक और ग्रहणको, 'स्वव्यतिरेकतो' अपनेसे पृथक् सत्य इनको स्वीकार करता है; तो वह अबुध है, वह तत्त्वको नहीं जानता। अबुध कौन है? जो अपनेसे पृथक्रूपमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीको सत्य स्वीकार करता है। 'विनानुवादं न च तन्मनीषितं'—यह तुम्हारा जो मनीषित है, इतनी तुमने अपनी बुद्धि लगायी है, अकल लगायी है, यह अनुवादके सिवाय और कुछ नहीं है। अनुवाद माने प्रतीतिका अनुवादमात्र है, तत्त्वज्ञान नहीं है—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्—यह वाचारम्भण-मात्र है। इसको अपनी अकलमन्दी मत समझना।

बोले—अक्लमंदी क्यों न समझें? हमने तो बड़ी बुद्धिसे सिद्ध किया है कि गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य—ये तीनों सत्य हैं और मैं इनसे अलग सत्य हूँ! योगदर्शनमें ऐसा निश्चय करते ही हैं: ग्राह्य समापत्ति, ग्रहण समापत्ति, गृहीत समापत्ति और द्रष्टा जो है वह तो बिलकुल अलग। तीन तरहकी समाधि होती है, ग्राह्य विषयमें समाधि, ग्रहण अन्तःकरणमें समाधि और गृहीतामें समाधि। और द्रष्टा जो वस्तु है वह तो इन तीनों समापत्तियोंसे न्यारी है; और ये तीनों अलग सत्य हैं, द्रष्टा अलग सत्य है; मैं द्रष्टा हूँ। अरे, मैं द्रष्टा

हूँ, यह जो बोलता है सो कर्त्ता है। जो सोचता है सो कर्त्ता है और वह तो भिन्न है। छिन्न-भिन्न है, वह द्रष्टा काहेको है! दृश्यसे पृथक् होनेके कारण वह तो छिन्न-भिन्न है। क्योंकि इन मनुष्योंने अधिष्ठानके ज्ञानसे बाधित जो पदार्थ है, उसीको सत्यके रूपमें ग्रहण कर लिया है, इसलिए ये अबुध हैं।

परमात्मा अधिष्ठान है और देश उसमें अध्यस्त है। इसीलिए परमात्माका ओर-छोर नहीं है, वह देशका अधिष्ठान है। और अब-तब, कब-जब यह जो काल है, वह सब समय ईश्वर है। सब समय ईश्वर नहीं है, सब समयकी कल्पना ही ईश्वरमें की हुई है, इसलिए ईश्वर अविनाशी है। ईश्वर कालसे परिच्छिन्न नहीं है, कालकी कल्पनाका अधिष्ठान है। साँपमें रस्सी व्यापक नहीं है, साँप रस्सीमें कल्पित है। इसी प्रकार कालमें परमात्मा व्यापक नहीं है, काल परमात्मामें कल्पित है। यह सूक्ष्मता है। और द्रव्यमें परमात्माका व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है, द्रव्य ही परमात्मामें कल्पित है। और, परमात्मा माने कहीं सातवें आसमानमें मत सोचने लगना। परमात्मा माने यही जिसमें बोलना हो रहा है, ज़िसके होनेसे वाणी अपना काम कर रही है—

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषत्)

देश, काल और वस्तु और इनकी कल्पना—दोनोंका अधिष्ठान। देश, काल और वस्तुके अधिष्ठानको ईश्वर बोलते हैं—तत्-पदार्थ और देश, काल वस्तुकी कल्पनाके अधिष्ठानको बोलते हैं आत्मा—त्वं पदार्थ। परन्तु कल्पित जो वस्तु होती है वह तो कल्पनाके अधिष्ठानमें ही रहती है, अन्य अधिष्ठान रूप ईश्वरमें रहती ही नहीं, इसलिए असलमें यह जो कल्पनाका अधिष्ठान है, वही देश-काल-वस्तुका भी अधिष्ठान है। इसलिए यही अविनाशी है, यही परिपूर्ण है और यही अद्वितीय है। क्योंकि जो कल्प्य पदार्थ होता है उस कल्प्यका अधिष्ठान भी कल्प्य होता है, इसलिए कल्प्यका अधिष्ठान वही होता है, जो कल्पनाका अधिष्ठान होता है। तो असलमें देश और काल और वस्तुके अधिष्ठानके रूपमें जिस अन्य तत् पदार्थकी हम कल्पना करते हैं, वह अज्ञानसे करते हैं। असलमें जो कल्पनाका अधिष्ठान है वही कल्प्यका अधिष्ठान है। इसलिए देशकी कल्पनासे ही नहीं, देशसे भी बड़ा, कालकी

कल्पनासे ही नहीं, कालसे भी बड़ा और वस्तुकी कल्पनासे ही नहीं, वस्तुसे भी बड़ा, कौन है? कि यह अपना स्वरूप है। और इसमें देश-काल-वस्तु केवल कल्पना-मात्र है। तो—

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।

सूक्ष्मताकी परा अवधि होनेके कारण यह ब्रह्म अविज्ञेय है और ग्राह्य, ग्राहक भावकी कसौटीपर दूरबीन, खुर्दबीनका विषय नहीं होता। बोले— तर्कसे मानेंगे, युक्तिसे मानेंगे, विचारसे मानेंगे! तो क्या विचारके पेटमें परमात्मा समायेगा? श्रद्धामें कहाँसे परमात्मा आवेगा? अरे भाई वह तो विचारके पेटमें भी नहीं समाता, तर्कके पेटमें भी नहीं समाता, श्रद्धाके पेटमें भी नहीं समाता और ये सब जिस अन्त:करणमें रहते हैं, इसमें भी नहीं समाता; और इस अन्त:करणका देखनेवाला जो द्रष्टा है, वह उसकी अपनी दृष्टिमें भी नहीं समाता, माने वह साक्षी भास्य भी नहीं है।

विदेशमें एक बहुत मशहूर महात्मा दार्शनिक थे। जब वे जिज्ञासु दशामें थे, तो बड़े व्याकुल रहते थे, रातको नींद न आवे, दिनमें चैन न पड़े, कोई काम-धन्दा न करें, पागलकी तरह घूमें कि हम ईश्वरको कैसे जानेंगे? श्रद्धासे जानें कि तर्कसे जानें कि विचारसे जानें कि वृत्तिका विषय हो, कि हम ही देख लें उसको, हम अपने आपको ही देख लें। बड़े व्याकुल, पर दिखे कुछ नहीं। एक रात नींद नहीं आयी। सबेरे उठे, समुद्रके किनारे गये। तो ईश्वरकी क्या लीला, एक बालक वहाँ छोटा-सा कटोरा लिये व्याकुल, बेचैन, रो रहा था। उन्होंने पूछा—बच्चे, क्या चाहिए तुम्हें? तो बच्चेने पूछा— तुम्हें क्या चाहिए? तुम भी व्याकुल हो, बेचैन हो! उन्होंने पूछा—अरे, तू बता तो सही, हमारे मदद करने लायक होता तो मदद कर देते। वह बोला कि तुम भी बताओ, क्योंकि शायद हमारी बेचैनी और तुम्हारी बेचैनी एक ही किस्मकी होवे! तो उन्होंने बताया कि हम तो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए बेचैन हैं कि वह हमारे नेत्रका विषय होवे, वृत्तिका विषय होवे, तर्कका विषय होवे, विचारका विषय होवे, समाधिका विषय होवे, दृष्टिका विषय होवे, कैसे भी हम ईश्वरका अनुभव कर लें, हम उसके लिए बेचैन हैं। तो बच्चा बोला—हम इसलिए बेचैन हैं कि यह जो बड़ा भारी समुद्र है, इसका सारा पानी हम इस कटोरेमें कैसे ले लें!

अरे बाबा, वह तो बोला—कि हाँ भाई, हमारी बेचैनी और तुम्हारी बेचैनी एक ही किस्मकी है। तुम भी भोरे बालक और मैं भी भोरा बालक। अच्छा तुम अपनी बेचैनी छोड़ दो, हम अपनी छोड़ते हैं। जो स्वयं हैं उसको कटोरेमें भरनेकी कोशिश क्यों?

तो, **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं।** अविज्ञेय शब्दका दो अर्थ होगा—

विज्ञेयात् व्यतिरिक्तं अविज्ञेयं। विज्ञेयसे जो विलक्षण है उसको अविज्ञेय कहते हैं। विज्ञानकी त्रिपुटीसे जो पृथक् है, विज्ञानका विषय जो नहीं है, वह अविज्ञेय है। और दूसरा ***नास्ति विज्ञेयं यस्मिन्***—जिसमें विज्ञेय नामकी वस्तु है ही नहीं, ऐसा है अविज्ञेय। ऐसा अपना आपा है, जिसे कुछ अविज्ञेय नहीं है—***सर्वं विज्ञातं भवति।***

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

बहिरन्तश्च भूतानां—इसका अर्थ है कि सत्य देश परिच्छेदसे रहित है क्योंकि बहिः और अन्तः यह देशका भेद है। बाहर भी वही, भीतर भी वही—इसका अर्थ हुआ कि 'अन्तश्च बहिः' कल्पनाका अधिष्ठान और प्रकाशक स्वयं प्रकाश अद्वितीय आत्म चैतन्य ही है।

अचरं चरमेव च—इसका अर्थ है कि परमात्म वस्तु, वस्तु परिच्छेदसे मुक्त है। अचरत्वेन जो भास रहा है और चरत्वेन जो भास रहा है उसमें एक अद्वितीय सर्वाधिष्ठान, कल्प्याधिष्ठान, कल्पनाधिष्ठान, कल्प्य-कल्पना उभयाधिष्ठान सर्वावभासक स्वयं प्रकाश आत्मचैतन्य ही है।

दूरस्थं चान्तिके च तत्—यह काल परिच्छेदका निवारण करनेवाला है। करोड़ों बरस दूर जो चीज मालूम पड़ती है और जो चीज अभी एक सेकेण्डमें होनेवाली है, वह कालपरिच्छेद कल्प्य है। क्योंकि अनन्त अधिष्ठानमें देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद, वस्तुपरिच्छेद होना शक्य नहीं है, इसलिए अंत:करण द्वारा ही जैसे रज्जुमें सर्पकी कल्पना होती है, ऐसे देश-काल वस्तुके अभावाधिकरण अनन्त ब्रह्ममें, देश-काल-वस्तुकी केवल कल्पना ही होती है, इसलिए जो कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है, वही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य है। जैसे सर्पभ्रान्त्यावच्छिन्न चैतन्य ही सर्पावच्छिन्न चैतन्य है, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, इसी प्रकार अनन्तमें यह जो देश-काल-वस्तुरूप प्रपंच दिखायी

पड़ा रहा है, इस प्रपंचकी कल्पनासे अवच्छिन्न चैतन्य जो है वही कल्प्य प्रपंचावच्छिन्न चैतन्य भी है। इसका अर्थ है तत्तया और त्वं तया और उभयतया प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही भास रहा है।

अब इस श्लोकमें चौथी बात देखो—'अविज्ञेयं'। ब्रह्म देश कल्पनासे मुक्त है, द्रव्य कल्पनासे मुक्त है, काल कल्पनासे मुक्त है और अविज्ञेयं है—माने 'भास्य रहितम्,' 'भास्य व्यतिरिक्तम्' है अर्थात् यह न कभी आभास-भास्य है और न साक्षी-भास्य होता है। ऐसी वेदान्तकी प्रक्रिया है कि घट आभास भास्य होता है और आभास जो है वह साक्षी भास्य होता है। इसका अर्थ यह समझो कि इन्द्रियोंके द्वारा मालूम पड़नेवाले जो पदार्थ हैं वे अन्त:करणमें प्रतिभास्य रूप जो चैतन्य है, जीव चैतन्य है उसको (इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंके द्वारा) मालूम पड़ते हैं। परन्तु जो आभासरूप चैतन्य है, वह साक्षीको मालूम पड़ता है। तो घटादि जो हैं—'अयं घट: अयं पट:' इत्यादि ये तो आभास भास्य पदार्थ हैं। परन्तु 'अहं घटं जानामि'—यह जो घटका ज्ञाता अहमर्थ है, वाच्यार्थरूप, वह साक्षी भास्य है। परन्तु साक्षी किं भास्य है ? घट तो आभास भास्य है और आभास साक्षी भास्य है, इसीसे सुषुप्तिमें प्राज्ञ भी आभास ही है और स्वप्नमें तैजस और जाग्रत्में विश्व भी आभास ही है। परन्तु विश्व,तैजस प्राज्ञमें—तीनोंमें रहने वाला जो अद्वितीय चैतन्य है वही साक्षी है, वही तुरीय पदार्थ आत्मा है : **तुरीयं त्रिषु सन्ततम्**। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी उपाधिसे उपहित जो उपहित चैतन्य हैं—वाच्यार्थ, उनको भी साक्षी ही प्रकाशित करता है। यह जो साक्षी है, यह भास्य नहीं है, तुम स्वयं हो। यही वेदान्तका सिद्धान्त है। और यह तुम्हारी स्वयंता देश-प्रकाशक और देशाश्रय होनेसे, काल-प्रकाशक और कालाश्रय होनेसे, और वस्तु-प्रकाशक और वस्त्वाश्रय होनेके कारण देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है। और अपने अनन्त स्वरूपका ज्ञान होनेके अनन्तर यह देश, काल और वस्तु केवल मिथ्या आभास-मात्र हैं, अपने स्वरूपका ही आभास-मात्र है, अपना स्वरूप ही तद् तद् रूपेण भास रहा है। इसीसे, इस आभासको दृष्टिमें रखकर बोलते हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

दूरस्थं चान्तिके च तत्—अच्छा, अब एक दूसरी दृष्टिसे इस श्लोकको देखो। अपने तो 'औपनिषदा: वयं'। हम केवल तर्क-वितर्कसे तत्त्वके बारेमें

ऊहापोह करनेवाले नहीं हैं। हम जानते हैं कि जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती, इन्द्रियगम्य नहीं होती, उसके बारेमें युक्ति और अनुमानकी कीमत दो कौड़ी भी नहीं होती। वह तो कल्पना है। यदि अग्नि और धुएँका सम्बन्ध पहले देखा हुआ नहीं है और धुएँके द्वारा अग्निका अनुमान करनेपर भी यदि उस स्थलपर अग्नि प्रत्यक्ष नहीं होती, तो अनुमानकी कोई कीमत नहीं है। तो अनुमान प्रत्यक्ष-मूलक और प्रत्यक्ष-फलक होता है। इसलिए आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें अनुमान कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए यौक्त प्रत्यय और बौद्ध प्रत्यय जितने हैं, उनकी निस्सारताको हम समझते हैं। यौक्त प्रत्यय और बौद्ध प्रत्ययगम्य यह आत्मा नहीं है। आत्मा बौद्धिक नहीं है, यह यौक्तिक नहीं है। यह अनुभाव्य नहीं है और अनुभविता नहीं है। इसलिए हमलोग बड़े अभिमानके साथ यह घोषणा करते हैं कि 'औपनिषदाः वयं' अर्थात् हम औपनिषद् हैं।

त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।

हम आपसे औपनिषद पुरुषके सम्बन्धमें प्रश्न करते हैं। और घोषणा करते हैं कि जो वेदवित् नहीं है, उसको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।
अच्छा तो लो, इतनी भूमिका काहेको बीचमें बाँध दी? इसलिए कि—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्विन्तके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

इस ईशावास्यकी श्रुतिका जो अर्थ है, वही गीताके 'बहिरन्तश्च भूतानाम्' इस श्लोकका अर्थ है। ***तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः***—इतना जो श्रुत्यंश है वही '**बहिरन्तश्च भूतानाम्**'के रूपमें पढ़ा गया। और ***तदेजति तन्नैजति***—यह जो श्रुत्यंश है वही **अचरं चरमेव च** है। तदेजति चर है तन्नैजति अचरं है। ***तददूरे तद्वन्तिके*** यह **दूरस्थं चान्तिके च तत्** है।

इसका मतलब यह हुआ कि इस श्लोकके तीन चरण तो सर्वथा श्रुत्यारूढ़ हो गये। यह गीता नहीं उपनिषद् है। भगवान् श्रीकृष्ण उपनिषद्को ही अपने मनमें लेकर चले हैं। बात वही पुरानी है, वक्ताके माहात्म्यसे यह और चमक गया है। बल्कि वक्ता अपने अहंकारको बीचमें नहीं रखना चाहता है। मैं अपौरुषेय ज्ञानका ही निरूपण कर रहा हूँ—यह बात सूचित करते हैं। श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि मैं नवीन सम्प्रदाय, नवीन ज्ञान दे रहा

हूँ, बल्कि वही जो श्रुत्युक्त ज्ञान है वह दे रहा हूँ। यह माहात्म्यकी बात सुनायी। तो—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

अपूर्वं अनपरं, अनन्तरम् अबाह्यम्—इस श्रुतिका अनन्तरम् अबाह्यम् तो बहिरन्तश्च भूतानां हो गया और अपूर्वं अनपरं जो है वह '**दूरस्थं चान्तिके च तत्**' हो गया। और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' यह हो गया 'चरं चाचरमेव च।'

अब 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं' मुख्य रूपसे तो आज इसीकी व्याख्या करनी है। अब 'तत् अविज्ञेयं'का अर्थ है कि 'तत् विज्ञेयं न भवति', अर्थात् वह ब्रह्म विज्ञेय नहीं होता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है। असलमें हम लोग ब्रह्मके बारेमें कल्पना करने लगते हैं। जैसे कहा कि चार और छहकी गणना बताओ, इसमें क्या गणित लग सकता है? एकने कहा कि छह, चार दस हो गया। दूसरेने कहा—छहमें-से चार गये, दो रह गया। तीसरेने कहा कि छहका चौगुना, चौबीस हो गया। वक्ताके मनमें क्या है, यह जाननेकी कोशिश नहीं की, अपनी मनोवृत्तिका चार और छहपर आरोप करके एकने जोड़ दिया, एकने घटा दिया, एकने गुणा कर दिया। तो पहले बात समझनी चाहिए कि क्या कही जा रही है। 'तत् अविज्ञेयम्'का अभिप्राय है कि आत्माका विज्ञान या दर्शन आवश्यक है—***आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः***=आत्माका दर्शन करना ही चाहिए।

इसीसे रोज सबेरे उठकर शीशेमें अपना मुँह देखना—यह हिन्दू संस्कृतिका एक मांगलिक कर्तव्य माना जाता है। प्रातःकाल जब उठें, शौच-स्नान आदिसे निवृत्त होकरके एक बार शीशेमें अपना मुँह देख लें। यह धर्म है। और एक बार भगवान्‌के नाखूनमें अपना प्रतिविम्ब देख लें—यह भक्ति है। भगवान्‌की नख-छटामें मैं प्रतिविम्बित हो रहा, शंकरजी रोज ऐसा देखते हैं, ऐसा वर्णन शास्त्रमें मिलता है।

कहते हैं—नन्द बाबाका महल है और श्रीकृष्णके पाँवके दस नाखून चमक रहे हैं और श्रीशंकर भगवान् खड़े होकर देख रहे है। दस नाखूनोंमें मेरा प्रतिविम्ब पड़ रहा है और मैं हूँ ग्यारहवाँ। बोले—ठीक है, ठीक है,

एकादश रुद्र जो प्रसिद्ध हैं न, वह आज सार्थक हो गया। दस रुद्र तो श्रीकृष्णके नखोंमें हैं और ग्यारहवाँ मैं।

इसका अभिप्राय क्या है ? अन्तःकरणके दर्पणमें अपनेको देखना। वह जो दर्पणमें दिख रहा है सो मैं नहीं हूँ। जो दर्पणमें देख रहा है सो मैं हूँ। दर्पण और दर्पणमें जो प्रतिविम्ब,आभास, प्रतिच्छाया—वह मैं नहीं हूँ।

तो अन्तःकरण और अन्तःकरणमें प्रतिविम्ब जो कर्ता-भोक्ता संसारी परिच्छिन्न जो जीवाभास है, वह मैं नहीं हूँ। अन्तःकरणमें ही देश, अन्तःकरणमें ही काल, अन्तःकरणमें ही वस्तु, अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व और मैं देश-काल- वस्तुसे अपरिच्छिन्न साक्षी, स्वयं-प्रकाश! रोज प्रातःकाल उठकर अन्तःकरणके शीशेमें एक बार देख लेना।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः । बोले—बाबा, आत्माका दर्शन तो नहीं बनता है। तो कहते हैं—इसका यह अर्थ है कि ***अनात्मा न*** *द्रष्टव्यः*-यह अनात्मा देखने योग्य नहीं है। ***श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः***—अज्ञान है आत्माका तो श्रवण करो। संशय है, तो मनन करो। विपर्यय है, तो निदिध्यासन करो। यदि संशय और विपर्यय नहीं है तो श्रवणमात्रसे ही साक्षात्कार हो जायेगा। वह तो केवल प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए ही मनन, निदिध्यासन अपेक्षित है, नहीं तो जो शुद्ध-बुद्धि हैं, उनको श्रवणसे ही ज्ञान हो जाता है। संशय अशुद्ध बुद्धिका लक्षण है। संशय बुद्धिकी अशुद्धि है।

अच्छा तो आओ **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं** पर विचार करें। तो विज्ञानका विषय कौन होता है? जो ज्ञेय हो, माने विज्ञानका जो विषय हो। प्रारम्भमें कहा था—**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते**—हम ज्ञेयका निरूपण करते हैं जिसके ज्ञानसे अमृतत्वकी उपलब्धि होगी; और आगे कहेंगे—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

वह परमात्मा ज्ञेय है, ज्ञान है, ज्ञानगम्य है; और अब यहाँ उसीको बता रहे हैं—'अविज्ञेयं'! ये महात्मा लोग भी ऐसे ही उलटवाँसी बोलते रहते हैं—

चलतीको गाड़ी कहें, पके दूधको खोया।
रंगीको नारंगी कहें, देख कबीरा रोया॥

तो यह भी तो उलटवाँसी ही हुई कि कभी बोलें ज्ञेयं और कभी बोलें

अविज्ञेयं। किं ज्ञेयं? अविज्ञेयं ज्ञेयं। जरूर जानना चाहिए कि किसको? कि जो विज्ञेय नहीं है उसको जानना चाहिए। 'विज्ञेयात् विलक्षण:' जो है उसको जानना चाहिए। अरे जिसको कूकर, सूकर भी जानता है उसीको तुमने भी जाना, तो क्या जाना? जिस शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धको संसारके कूकर, सूकर भी जानते हैं, उसीको तुमने जाना तो क्या जाना! और उस जाननेका तुमको बड़ा भारी अभिमान भी है। मारनेवाली चीज जानी, जिलानेवाली चीज जानी! इसको तो न्योला भी जानता है कि मारनेवाली चीज साँपका जहर है और जिलानेवाली चीज वह जड़ी है, बूटी है। तुमने भी अगर मारने-जिलानेवाली चीज जानी तो क्या जानी! तो 'जनै: अविज्ञेयं तद्ज्ञेयं'— जो संसारी लोगोंसे अविज्ञेय है, उसको जानना चाहिए। उसको जब जानोगे तब तुम्हारे ज्ञानकी विशेषता है। उसको जान लो, जो जाना नहीं जाता। अरे ऐरे गैरेको मार लिया तो क्या मार लिया? जत्थेपर बन्दूकका निशाना लगा तो क्या लगा? जब उड़ती चिड़िया गिरे तब न निशाना।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं—अब देखो, यह कहते हैं कि संसारमें जो चीज विज्ञेय होती है, वह मन और इन्द्रियोंके द्वारा विज्ञेय होती है। स्वयं मन और इन्द्रियाँ भी विज्ञेय हैं और मन और इन्द्रियोंके द्वारा ही सांसारिक वस्तुओंका विज्ञान होता है। परन्तु आत्माके बारेमें श्रुतिने कहा—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीम:।

(केनोपनिषद्)

वहाँ आँख नहीं जाती, वाणी नहीं जाती। इन्द्रियोंमें मुख्य दो ले लिया। ये दोनों नेता हैं अपने-अपने दलके। ज्ञानेन्द्रियोंका नेता चक्षु है और कर्मेन्द्रियोंका नेता वाक् है। पाँच कर्मेन्द्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ वाक् है, क्योंकि वाक् ही प्रकाशक है; कर्मेन्द्रियोंमें बाकी कोई प्रकाशक नहीं है। प्रकाशकत्वकी अनुगति केवल वागिन्द्रियमें है—माने शब्दका उच्चारण करके अर्थका प्रकाशन करती है; अर्थ बोधकत्व वागिन्द्रियमें है। ज्ञानेन्द्रियोंमें रूपका प्रकाशकत्व चक्षु इन्द्रियमें है। ज्ञानेन्द्रियोंका नेता नेत्र है। क्यों? क्योंकि उसका नाम ही नेत्र है। 'नेतृत्वात् नेत्रम्'। नेत्र माने ही नेता है। नेता वह हो जो आँखकी तरह हो। जो पाँवको चलनेके लिए मार्ग बतावे, हाथको पकड़नेके लिए वस्तु बतावे, जीभसे चखनेके लिए दाल-चावल बतावे, नाकसे सूँघनेके लिए

चमेली और गुलाब बतावे, इसलिए आँखको नेत्र बोलते हैं। जो देखता है उसको चक्षु बोलते हैं।

नो मनः गच्छति। वहाँ मनकी भी गति नहीं है। यह मन जो है लौकिक वस्तुको देखे, पारलौकिक वस्तुको देखे और लोक-परलोकसे विलक्षण वस्तुको देखे; समाधिसे संस्कृत होकर सिद्ध दशामें विलक्षण वस्तुका दर्शन ही नहीं, सर्जन भी कर सकता है, सृष्टि भी कर सकता है। मन इतना शक्तिशाली है, परन्तु परमात्मातक मनकी पहुँच नहीं है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

मन परमात्माको प्राप्त न करके लौट आया। तो बोले कि ठीकसे समझावें कि यह ब्रह्म क्या है? *न विद्मो*—यह साक्षीभास्य नहीं है *'न विजानीमः यथैतदनुशिष्यात्'* कैसे तुमको बतावें! हे शिष्य, तुम्हारे लिए इसका अनुशासन कैसे करें? बात बनती नहीं है।

कल एकने कहा कि हम देख रहे हैं ब्रह्मको। कैसे देख रहे हो भाई, ब्रह्मको? बोले—यह प्रपंचरूप विवर्त जिसमें है। तो विवर्त-सम्बन्धी ब्रह्म हुआ न! बोले—हाँ। तो जो सम्बन्धी होगा वह दृश्य हो जायेगा। मीमांसक लोग मानते हैं कि आकाश भी दृश्य होता है, कैसे? कि *इह पक्षी उड्डीयमान-पक्ष्यधिकरणत्वेन भासमानत्वम् आकाशत्वप्रत्यक्षम्*—यह चिड़िया उड़ रही है। तो उड़ती हुई चिड़ियाका जो अधिकरण आकाश है, वह अधिकरण भी चिड़ियाके दृश्य होनेके कारण दृश्य हो रहा है। तो बोले—प्रपंचाधिष्ठान होनेके रूपमें ब्रह्मका हमको दर्शन हो रहा है। लेकिन यह प्रपंचकी विवर्तता और प्रपंचरूप विवर्तसे सम्बद्ध अधिष्ठान—ये दोनों जिस अन्तःकरणमें कल्पित हो रहे हैं, उस अन्तःकरणके तुम साक्षी हो। क्या रज्जुको यह अनुभव होता है कि मेरे अन्दर सर्प विवर्त हुआ है या पुष्पमाल्य विवर्त हुआ है? ब्रह्मको अपनेको स्वरूपकेअतिरिक्त यदि अपनेमें कुछ दिखे तो क्या वह भी सच्चा न हो जायेगा! बोले—यह प्रपंच जिस अन्तःकरणसे दिख रहा है उसी अन्तःकरणसे प्रपंच विवर्ताधिष्ठान भी दिख रहा है। अरे बाबा! जिस अन्तःकरणसे दिख रहा है वह अन्तःकरण भी विवर्त है। और उस अन्तःकरणसे सम्बद्ध जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ है वह भी विवर्त है। चैतन्यांश ही सत्य है। प्राज्ञत्व, तैजसत्व और विश्वत्व सत्य नहीं है। केवल चैतन्यत्व ही सत्य है।

माने प्रत्यगर्थ- प्रत्यगात्माको छोड़कर कल्पनामें जो ब्रह्म आता है, सो ब्रह्म नहीं होता।

अच्छा तो अब आपको एक महात्माका पुण्य-स्मरण सुनाते हैं। कानपुरके पास बिठूरमें वाल्मीकि आश्रममें एक महात्मा रहते थे। लोगोंने आकर बड़ी प्रशंसा की। पहली बात तो यह कि उनका शरीर बड़ा सुन्दर और स्वस्थ था। भौंहें इतनी बढ़ गयी थीं कि वे आँखपर छा जाती थीं, उनको हटाकर ही रखना पड़ता था। फिर यह भी मालूम हुआ कि बड़े सद्गुणी हैं, विनयी हैं। फिर यह भी मालूम पड़ा कि बड़े विद्वान् हैं। तो मेरे मनमें आया कि बिठूर चलें। इसको ब्रह्माण्डका मध्य बोलते हैं। वहाँ एक लोहेकी कील गाड़ी हुई है कि ब्रह्माजीने पहले यहीं सृष्टि बनायी थी, यह ब्रह्माण्डका मध्य है। तो हम लोग महात्माका दर्शन करने गये। बड़े ही मिलनसार, आये निकलकर बाहर, स्वागत-सत्कार किया। उन्होंने अपना पूर्व परिचय भी बताया। वे मूलतः महाराष्ट्रके ही थे। महामहोपाध्याय श्रीधर पाठकके नामसे वे महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध थे और उपनिषदोंपर उनकी संस्कृत टीका छपी हुई मिलती है। बादमें जब वे संन्यासी हुए तब उनका नाम शंकरानन्द हो गया था। उन्होंने कहा—अच्छा स्वामीजी आप आये, हम आपका क्या स्वागत करें? हमारे पास स्वागत-सत्कार करनेके लिए कोई वस्तु नहीं है। फिर बोले—अच्छा, कल ब्रह्मसूत्रका एक अधिकरण सेतून्मानाधिकरण सुनाया था। तो आपके आतिथ्यके लिए हम उपनिषद्का यह मन्त्र सुना रहे हैं। शंकरानन्दजीने मन्त्र सुनाया—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (केनोपनिषद्)

परमात्माको किसने जाना? कि जिसने अजानाके रूपमें परमात्माको जाना। **अमतं**—***'ब्रह्म यस्य मतेः कर्म न भवति अमतं भवति मतेर्विषयो न भवति।'*** ब्रह्म जिसकी मतिका कर्म नहीं होता, मतिका विषय नहीं होता, उसीने ब्रह्मको जाना। ब्रह्म अमत है, मति और मतिका विषय दोनों ब्रह्म नहीं है।

इसको हम समझनेकी कोशिश करते हैं। यह घड़ी है। दादाके हाथमें पहले कोई मशीन आ जाये, चाहे रेडियो हो, चाहे कोई भी मशीन हो, उसकी मशीनरी समझनेके लिए पहले वह उसको खोल देते हैं। क्यों?

बोले—वह मत हो जाता है। 'मतेः कर्म' बुद्धिसे समझ लिया गया कि यह यन्त्र कैसे काम करता है, कहाँसे बिजली आती है, कहाँ जाती है, कहाँ-कहाँ क्या उसमें सम्बन्ध जुड़े हुए हैं यन्त्रोंके। तो क्या ब्रह्म भी ऐसे ही मत बनाया जा सकता है? नहीं। ब्रह्म अमत है। *यस्यामतं तस्य मतं।*

जगत्‌को मतिका कर्म बना लेना क्या है कि यह पिता है, यह पुत्र है, यह समझ लेना, यह कार्य है, यह कारण है, यह समझ लेना। आत्माको मतिका कर्म बना लेना क्या है? अन्वय, व्यतिरेकको समझ लेना। अन्वय, व्यतिरेक मतिका कर्म है। देखो जाग्रत्‌में आत्मा है, जाग्रत् न रहनेपर स्वप्नमें भी आत्मा है, स्वप्न न रहनेपर सुषुप्तिमें भी आत्मा है और सुषुप्ति न रहनेपर समाधिमें भी आत्मा है। इसलिए जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे आत्माका व्यतिरेक है। आत्मा व्यतिरिक्त है और आत्माके रहनेपर ही सुषुप्ति है, रहने पर ही स्वप्न है, रहने पर ही जाग्रत् है; तो जाग्रत्- स्वप्न-सुषुप्तिमें आत्माका अन्वय है। इस प्रकार आत्मा एक व्यापक तत्त्व है और जाग्रत्-स्वप्न- सुषुप्ति परिच्छिन्न तत्त्व हैं। आत्मा आधार है और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आधेय हैं। आत्मा व्यापक है और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति व्याप्य हैं। तो क्या हुआ? कि यह मत हुआ यह जो अन्वय और व्यतिरेककी युक्ति है, अनुवृत्ति और व्यावृत्तिकी जो युक्ति है, यह क्या है? कि यह मत है। माने यह मतिका कर्म है। अन्वय और व्यतिरेकसे, कार्यकारणके रूपमें या द्रष्टा-दृश्यके रूपमें जो जाना जायेगा, वह सब-का-सब मत है।

ब्रह्म कैसा है? *यस्यामतं* जिसने कार्य-कारण, अन्वय-व्यतिरेक, अनुवृत्ति-व्यावृत्ति आदि बौद्ध युक्तियोंसे विलक्षण, मतिका विषय नहीं, *अमतं* मतिका अविषय रहकर मतिका प्रकाशक, इस रूपमें जिसने आत्माको जाना, अपने आपको जाना *तस्य मतं*—उसने आत्माको ठीक जाना। *मतं यस्य न वेद सः,* जैसे सँड़ासीसे लोहेका गोला पकड़ लेते हैं, वैसे जिसने यह कहा कि हमने मतिके चंगुलमें ब्रह्मको फँसाया और बोले—यह देखो, यह रहा ब्रह्म! अरे, उसने तो अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख लिया भाई! उसे सन्तोष बहुत है। हमको बताते हैं लोग—'स्वामीजी, मैंने अपने बेटेका नाम ब्रह्म रखा है।' गुरु लोग बताते हैं—'स्वामीजी, हमने अपने चेलेका नाम प्रत्यक् चैतन्य रखा है।' अब वह चेलाके रूपमें प्रत्यक् चैतन्य है या बेटेके रूपमें

ब्रह्म है ***मतं यस्य न वेद सः।*** तुम अपने विषयको, अपनी बुद्धिमें आये हुएको, अपने दृश्यको ब्रह्म बता रहे हो ***मतं यस्य न वेद सः।*** तुम खुद क्या हो? तुम्हारा बेटा तो ब्रह्म हो गया, और चेला तो प्रत्यक् चैतन्य हो गया, तुम कौन हो बाबू?

अविज्ञातं विजानताम्—जो लोग यह दावा करते हैं कि हमने इन्द्रियोंके द्वारा या मनके द्वारा या बुद्धिके द्वारा या स्वयं अपने भास्यके रूपमें, अपने दृश्यके रूपमें परमात्माको जान लिया, उसने नहीं जाना-*अविज्ञातं* ***विजानताम्। यो हि विजानन् भवति स न जानाति।*** जो समझता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, हमारे ज्ञानका कर्म हो गया ब्रह्म, उसने नहीं जाना।

विज्ञातं अविजानताम्—बोले अरे यह जो मैं हूँ, यह जाननेका विषय नहीं है, स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ। जिसने जाना यही जाना कि ब्रह्म अविज्ञेय है, ज्ञानका विषय नहीं है, स्वयं मैं ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हूँ। शिष्यने कहा—

यो नस्तद्वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च। (केन०)

श्रुतिने कहा—जिसने कहा कि मैंने जान लिया, उसने नहीं जाना और जिसने कहा—नहीं, विषयके रूपमें हमने नहीं जाना, ढूँढ़ेसे कहीं बाहर नहीं मिला, उसीने जाना।

एक आदमी आया, बच्चा था। किसीने कहा कि तू खो गया है, जरा अपनेको ढूँढ़के आ तो। बालक बेचारा ढूँढ़ने निकल गया बाहर। ढूढ़-ढाँढ़के आया, बोला—पिताजी हमने अपनेको पा लिया। कहाँ पाया भाई? कि वह पीपलके पेड़पर बैठा हुआ है, मैं देखकर आया हूँ, ढूढ़ लिया, तो अपना आपा क्या होता है, यह कहाँ उसकी समझमें आया?

दूरमथो *विदितादविदितादधि।* (केन०)

ब्रह्म विदित और अविदित दोनोंसे विलक्षण है। तब उसको समझनेका ढंग क्या है? कि ***प्रतिबोधविदितं मतम्*** (केन०)—जितने प्रत्यय होते हैं घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान, इनमें जो ज्ञानस्वरूप है, वह अपना आपा ही है। घट-पट-मठ तो ज्ञानके भास हैं, रश्मिवत् रश्मि हैं, प्रतिभास हैं। अपने आपको जानो, तो—

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।

अविज्ञेयंका अर्थ क्या हुआ? कि बुद्धि-मन-इन्द्रिय, जो विज्ञानके

करण हैं उन करणोंसे जितना भी विज्ञेय होता है वह-वह नहीं है। वह तो विज्ञानके करणोंका भी प्रकाशक है। विज्ञातका भी प्रकाशक है, अविज्ञातका भी प्रकाशक है। वह देश, काल, वस्तुका प्रकाशक होनेसे ही अविनाशी अनन्त अद्वितीय है।

अब अविज्ञेयंकी एक व्याख्या और आपको सुनाते हैं। इसको भी आप श्रुतिपर ले लें। अविज्ञेयं कैसे?

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्? (वृहदा० २.४.१४)

अरे, विज्ञाताको कैसे जानोगे? क्या करण होगा उसको जाननेका?

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ। अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ। (वृहदा० ३.४.११)

यह अविज्ञेयंका अर्थ हुआ। अविज्ञातं विज्ञातृ। वह स्वयं विज्ञानका विषय नहीं है, ज्ञानका कर्म नहीं है। मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले विज्ञानका प्रकाशक है। अविज्ञातं विज्ञातृ। यह बात तो श्रुतिमें स्थान-स्थानपर आवेगी।

अब जरा भागवतकी एक व्याख्या सुनाते हैं। भागवत तो अखिल श्रुतिसार है। तो भागवतमें यह प्रसंग उठा कि तत्त्व क्या है? यह तत् और त्वं—दो शब्द अलग-अलग हैं न, परन्तु तत्त्व शब्द एक है। इसका अभिप्राय तो आपके ध्यानमें आगया न, कि तत्त्व वह है जिसमें तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ पृथक्-पृथक् न हों। तत्का तत् और त्वंका त्वं मिला दो तो हो गया तत्त्वम्। यह तत्त्वम् है। जबतक तत् पदार्थ और त्वं पदार्थमें पृथक्ता भासती है तबतक आकारका उल्लेख होता है, नाम-रूपपर दृष्टि है, वस्तुपर दृष्टि नहीं है। तो श्रीमद्भागवतमें यह प्रश्न उठा कि तत्त्व क्या है? तो—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

तत्त्ववेत्ता लोग उस तत्त्वका निरूपण करते हैं जिसका स्वरूप अद्वयज्ञान है। अब 'यत् अद्वयं ज्ञानं'का केवल अभिप्राय आपको बताता हूँ: ऐसा ज्ञान जिसमें द्वय न हो। यह द्वय क्या है? ज्ञानमें द्वय यह होता है कि जैसे इस चित्रका हमको ज्ञान होता है तो द्वय हो गया, कि चित्र हो गया ज्ञेय और हम हो गये ज्ञाता। तो ज्ञानका यह स्वभाव है कि जब हम संसारमें किसी वस्तुको जानते हैं तो ज्ञानके क्रियाशील होते ही, ज्ञान दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। ज्ञान ही दीखनेवाला बन करके दृश्य हो जाता है और वही देखनेवाला बन

करके ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है। यह ज्ञानका स्वभाव है। ज्ञानका स्वभाव ही है कि वह जब दिखाता है, तब अहंको ज्ञाता दिखाता है और इदंको ज्ञेय दिखाता है। माने यह और मैं—यही ज्ञानका स्वभाव है। तो बोले—यह तत्त्वज्ञान नहीं है। यह ज्ञान तत्त्व नहीं है, यह प्रतिभास ज्ञान है। ज्ञान तत्त्व क्या है? कि ***अद्वयं। 'यत्र ज्ञाता ज्ञेयं इति द्वयं न भवति।'*** सच्चा ज्ञान वह है जिसमें अहं और इदंका विभाग नहीं होता है। एक ज्ञान तत्त्व हुआ और एक ज्ञान प्रतिभास हुआ, ज्ञानाभास हुआ। तो मैं ज्ञाता हूँ और यह ज्ञेय है—यह ज्ञानका प्रतिभास है और अहं और इदंके भासते हुए भी ज्ञानकी जो अद्वयता है, वह तत्त्व है। माने जो ज्ञान इदंके रूपमें भास रहा है, वही अहंके रूपमें भास रहा है, ज्ञान तत्त्व है और अहंता इदंता जो हैं वह आभास हैं। 'तत्त्वं यद् ज्ञानमद्वयम्'। 'अद्वयं' माने 'ज्ञातृज्ञेयभाव विभाग रहितम्'।

अब इसमें सारा वेदान्त आ गया। क्या? कि अल्पज्ञेय और उसका ज्ञाता अल्पज्ञ और सर्वज्ञेय और उसका ज्ञाता सर्वज्ञ। यह जो अल्पके ज्ञानके कारण अल्पज्ञ और सर्वके ज्ञानके कारण सर्वज्ञ, यह जो ज्ञानका दो विभाग है, जिसमें जीव और जीवका ज्ञेय अल्प, ईश्वर और ईश्वरका ज्ञेय सर्व—दूसरे शब्दोंमें, यह जो ज्ञातामें दो विभाग हैं—

सर्वज्ञ और अल्पज्ञ और ज्ञेयमें दो विभाग हैं अल्प और सर्व और उनमें भी दो-दो विभाग हैं ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय, विषयोंका भाव और अभाव—ये चारों विभाग जिस ज्ञानमें नहीं हैं, उसको बोलते हैं तत्त्व। वह ज्ञान ही तत्त्व है। इसमें तत् और त्वं दोनों एक हो गये हैं, दोनों दो नहीं हैं, अलग नहीं हैं। तो **अविज्ञेयं** कैसा है? वह अद्वय ज्ञान है, वह विज्ञेय नहीं है, मात्र ज्ञान है।

सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयम्।

अब जरा **सूक्ष्मत्वात्** पर दृष्टि डालो। हमारे यहाँ सूक्ष्मताका प्रसंग बड़ा विलक्षण है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (गीता ३.४२)

यह सूक्ष्मता हुई गीतामें। उपनिषद्में—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥

महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० ३.१०-११)

पुरुष जो आत्मा है यही सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है। तो सूक्ष्मत्वात्का अर्थ है—परत्वात्! सबसे परे होनेके कारण, अबाध्य होनेके कारण वह अविज्ञेय है। जो दृश्य होगा सो बाध्य होगा और जो आत्मा होगा वह अबाध्य होगा। हम नहीं हैं—ऐसा निषेध कभी कहीं हो नहीं सकता। तो अशेष-विशेषका निषेध होनेपर अवशेषरूप, जो आत्म वस्तु है वही सूक्ष्म है और सूक्ष्म होनेसे वह अविज्ञेय है। सब जगह ब्रह्मका जो स्वरूप बताया गया उसमें हेतु नहीं बताया गया। पर जब ब्रह्मको अविज्ञेय बताया गया, तब उसमें हेतु बताया गया—**सूक्ष्मत्वात्** ब्रह्म अविज्ञेय है सूक्ष्म होनेसे। आप प्रारम्भसे देखो —'अनादि मत्परं ब्रह्म'से ब्रह्मको अनादि तो बताया, पर अनादि क्यों है, यह नहीं बताया, वह तो आप स्वयं सोच लो। यही बात, 'अचरं चरमेव च' में है। लेकिन जब 'अविज्ञेयं' बताया तो हेतु निर्देश पुरस्सर बताया। क्यों? क्योंकि इसमें बहुत गड़बड़ होनेकी संभावना है। हमारे उत्तर प्रदेशमें एक शब्द चलता है—'घपला'। इसमें घपला क्या है कि अविज्ञेय कहनेसे ब्रह्म विज्ञानका विषय नहीं है। तो एक वे होते हैं जो ब्रह्मको सीधे ढूँढ़ने जाते हैं कि चलो जंगलमें ढूँढ़ें। जंगलमें उनको पेड़-पौधाके सिवाय और क्या मिलेगा! क्योंकि वे तो स्थूल भूतमें सत्यको ढूँढ़ेंगे। एक वे हैं जो आँख बन्द करके अनुमान लगाते हैं। अनुमानसे या तो जगत्का कारण प्रकृति मिलेगी या बड़ी भावना हुई, श्रद्धा हुई, विश्वास हुआ, तो जगत्के कारणके रूपमें ईश्वर मिलेगा। माने आधिभौतिक अनुसन्धानमें तो अणु और आणविक शक्ति मिलेगी और अनुमान लगानेपर दृश्यमान प्रपंचका मूल कारण प्रकृति मिलेगी; और यदि उसके चैतन्य होनेका विश्वास करोगे तो ईश्वर मिलेगा। तो आधिदैविक प्रक्रियामें ईश्वर और आधिभौतिक प्रक्रियामें पंचभूत या चतुर्भूत।

एक बात जरा सबके कामकी सुना देता हूँ। प्रश्न यह है कि जब आप अनुसन्धानके मार्गमें, खोजके रास्तेमें चलते हैं, तो आप क्या ढूँढ़नेके लिए चले हैं इसका कुछ ख्याल आइडिया रहता है कि नहीं? तो यदि कुछ ख्याल न हो, तो आप जंगलमें जाकर ढूँढ़ो कि हमको क्या चाहिए या सब्जी

मण्डीमें चले जाओ, क्या मिलेगा? अच्छा रेलवे स्टेशनपर टिकट लेने चले जाओ और यह ख्याल न हो कि हम किस स्टेशनपर जायेंगे, कहाँका टिकट लेंगे, तो कहाँका टिकट मिलेगा? तो जो लोग केवल लक्ष्य शून्य होकरके अनुसन्धान करते हैं, वे तो गुमराह हो जाते हैं—दिग्भ्रान्त हो जाते हैं, पथभ्रष्ट हो जाते हैं। संस्कृतमें इसके लिए एक बहुत बढ़िया शब्द है—कान्दिशीक अर्थात् किधर जावें। जिसके चित्तकी यह स्थिति होवे कि किधर जाऊँ, उस मनुष्यको कान्दिशीक बोलते हैं। यही नहीं मालूम है कि हमको कहाँ जाना है। तो हम क्या ढूँढ़नेके लिए निकले हैं, यह जिसको मालूम नहीं है, वह पट्ठा आखिर जायेगा कहाँ? तो अब देखो, सबसे बढ़िया बुद्धिगम्य उत्तर जो इस प्रश्नका है कि तुमको क्या चाहिए, वह है कि हमको सत्य चाहिए, हमको तत्त्व चाहिए, हमको परमार्थ चाहिए। सत्य कहो, तत्त्व कहो, परमार्थ कहो, एक ही बात है।

बोले—अरे भाई! हमको तो कुछ भी चलेगा। यह तो ऐसा ही हुआ कि एक वैद्यजी थे। उनका सिद्धान्त था—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येनकेन च पेषितं।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

चाहे किसी पेड़की जड़ ले आओ और चाहे जो कुछ उसमें मिलाकर पीस लो। चाहे जिस रोगीको दे दो। अब आगे? कि चाहे जो कुछ हो, हो जायेगा।

तो जो लोग इस तरह ढूँढ़नेके लिए निकलते हैं कि चाहे किसी रास्ते चल पड़ो, चाहे किसीसे पूछ लो और चाहे कुछ मिल जाये, और चाहे कहीं पहुँच जायें, तो ऐसे लोगोंको शास्त्रकी दृष्टिसे हम लोग तामसिक बोलते हैं। ये तमोगुणी लोग हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसां अनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते॥ (गीता १८.२५)

ये मोहवश बेचारे अनुबन्धको नहीं जानते। किस विषयपर खोज कर रहे हैं, पता नहीं। थीसिस लिखनी है पर विषयका निर्णय न हो कि किस विषयपर लिखनी है, तो थीसिस लिखी जायेगी? एक तो विषयका ज्ञान होना चाहिए। दूसरे विषयका प्रयोजन होना चाहिए। इस विषयका ज्ञान हो जायेगा

तो हमारा कोई प्रयोजन भी सिद्ध होगा कि नहीं? अच्छा, हम उस विषयके ज्ञानके और उस प्रयोजनकी प्राप्तिके अधिकारी हैं कि नहीं? और ***अवगतं सत् स्वात्मतया इष्यते***—उस वस्तुके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? तो विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्धका ज्ञान होनेपर जो प्रवृत्ति होती है, वह सफल प्रवृत्ति होती है। और जिस प्रवृत्तिके मूलमें यह पता ही नहीं कि हम क्या ढूँढ़ने जा रहे हैं, किस रास्ते जा रहे हैं, किस प्रयोजनकी सिद्धके लिए जा रहे हैं, उस प्रवृत्तिके हम अधिकारी भी हैं कि नहीं और यह भी पता नहीं कि उसपर हमारा हक भी है कि नहीं? सम्बन्ध है कि नहीं, यह भी मालूम नहीं। चोरी करने तो नहीं जा रहे हैं, इसका भी पता नहीं है और ढूँढ़नेके लिए निकल पड़े!

इसके सम्बन्धमें निरापद जो उत्तर है, वह यह है कि हमको सत्य चाहिए। जैसे हम को नींबू चाहिए, तो नींबूके पत्ते कैसे होते हैं, फूल कैसे होते हैं, उसका फल कैसा होता है, उसका रस कैसा होता है—लक्षण ज्ञानपूर्वक नींबूको ढूँढनेके लिए बगीचेमें जाते हैं, वैसे जिस सत्यको हम पाना चाहते हैं, उसके लक्षणका भी ज्ञान होना चाहिए। तो सत्यका लक्षण क्या हो सकता है, आप देखो। एक आदमी कह सकता है कि जो साँवरा-साँवरा हो सो सत्य है और एक कह सकता है कि जो गोरा-गोरा हो सो सत्य है। लेकिन सत्यके बारेमें एक अकाट्य बात आपको बताता हूँ। कभी किसी भी अवस्थामें, किसीके द्वारा जिसके मिथ्यात्वका निश्चय न हो सके, उसको सत्य कहते हैं।

अबाधितत्वं सत्यत्वं—अबाध्य होना माने तीन कालमें, तीन देशमें, तीन वस्तुमें, तीन अवस्थामें, तीन अधिकारीमें, तीन गुणमें, तीन अक्षरमें कहीं भी जिसके मिथ्यात्वका निश्चय न हो सके। *त्रिकालाबाधितत्वं सत्य* ***त्वम्***। हम उस सत्यका अनुसन्धान करने जा रहे हैं जिसके मिथ्यात्वका निश्चय किसी प्रकार न हो सके।

अब देखो, आपको जरा **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं** की ही बात सुनाते हैं। अच्छा, तो अबाध्य होना सत्य होना है। अब एक बमगोला इसपर और लो। वह यह है कि अनुभूतिके क्षेत्रमें अपने अस्तित्वके सिवाय दूसरेका अस्तित्व अबाध्य सिद्ध हो ही नहीं सकता।

यद्दृश्यं तन्मिथ्या। प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात् विकारित्वात् जड़त्वात्, सापेक्षसिद्धत्वात्।

यह प्रपंच मिथ्या है, दृश्य होनेके कारण, जड़ होनेके कारण, विकारी होनेके कारण, सापेक्ष सिद्ध होनेके कारण।

आप यदि बुद्धिसे खूब-खूब विचार करो तो यह सिद्ध हो जायेगा कि यह प्रपंच नहीं है, शून्य ही है। और यदि आप खूब श्रद्धा, भक्ति और भावसे विचार करो तो यह सिद्ध हो जायेगा कि जगत्का कारण ईश्वर है और ईश्वरके सिवाय और कोई नहीं। अनुपयोगी अनुमानको छोड़ देते हैं, कौन बालकी खाल निकाले, यह सब अव्यावहारिक है। शून्यताको सिद्ध करनेवाला अनुमान अव्यावहारिक है और केवल विश्वास है, अन्ध श्रद्धा है। यदि आप केवल भौतिकताका अनुसन्धान करेंगे, तो प्रत्यक्ष चार भूत निकलेंगे। अन्वय-व्यतिरेकके अनुमानसे प्रकृति सिद्ध होती है। रूक्ष बौद्ध अनुमानसे शून्य सिद्ध होता है, सम्पूर्ण प्रत्ययकी क्षणिकता और अन्तमें आत्मोच्छेद सिद्ध होता है। लेकिन अनुभवकी प्रणालीसे आत्मा ही सत्य सिद्ध होता है। यह वेदान्तकी प्रणाली है।

तो भाई, कोई निष्प्रयोजन विचारमें प्रवृत्त नहीं होता। विचारमें भी प्रवृत्ति होती है। एक प्रयोजनसे कि हमारे दु:खकी निवृत्ति होवे और परमानन्दकी प्राप्ति हो। आत्मोच्छेद करनेके लिए तो कोई प्रवृत्त नहीं होता, कि हम अपने आपको मटियामेट कर डालेंगे। ऐसे तो पागल लोग प्रवृत्त होते हैं।

तो यही जो आत्म सत्य है इसको श्रीकृष्ण बताते हैं—'अविज्ञेयं। तत् ज्ञेयं ब्रह्म अविज्ञेयं सूक्ष्मत्वात् व्योमवत्'। अब यह तो एक बहुत स्थूल अनुमान हुआ कि ब्रह्म अविज्ञेय है सूक्ष्म होनेके कारण, आकाशकी तरह; जैसे बालक आकाशके बारेमें ठीक नहीं समझता और उसमें तल मलिनता आदिका अध्यास करता है—'यथा हि बाला: गगने तलं मलिनता अध्यस्यन्ति।'

अब एक दूसरा दृष्टान्त देकर हम इस बातको समझाते हैं:—

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं— सूक्ष्म शब्दका संस्कृत भाषामें एक अर्थ होता है: जो सूचना से सिद्ध हो सो सूक्ष्म। यह 'सूच् सूचने' धातु है और उससे उणादिमें स्मक् प्रत्यक् होता है, 'सूच्यते इति सूक्ष्म:'। जो सूचनासे प्राप्त हो, अपने आप न जाना जाय, कोई बता दे कि ऐसा है, उसको सूक्ष्म बोलते हैं।

सूक्ष्म शब्दका एक दूसरा अर्थ भी है, उसी व्युत्पत्तिसे वह भी सिद्ध होता है। अमरकोशमें आता है—*सूक्ष्मं अध्यात्ममिति*—सूक्ष्म माने अध्यात्म हमारे शरीरके भीतर। सूक्ष्म और अध्यात्म शब्द पर्यायवाची हैं।

लो अब आपको दृष्टान्तोंकी परम्परा दे करके सुनाते हैं कि कैसे 'तत् अविज्ञेयं सूक्ष्मत्वात्'—कैसे परमात्मा अविज्ञेय है, सूक्ष्म होनेके कारण। कैसे? कि अपने आँखके तारेकी तरह। आप अपनी आँखसे अपनी आँखके तारेको देख सकते हैं क्या? आपकी आँखमें ज्योति है कि नहीं, तारा है कि नहीं? है तो सही। तो आप क्या तारेको देखकर इस बातका निश्चय करते हैं? नहीं, अरे बाबा! ऐसे निश्चय करते हैं कि हमको घड़ीमें दिख रहा है कि आठ बज रहे हैं, अगर आँखमें पुतली काम करती हुई न होती, तो घड़ी और घड़ीमें आठ बजना, न दिखायी पड़ता। क्योंकि घड़ी दिखायी पड़ रही है। इसलिए हमारी आँखकी पुतली, हमारी आँखका तारा बिलकुल ठीक काम कर रहा है। माने घड़ीके दर्शनसे नेत्र-ज्योतिका अस्तित्व सिद्ध होता है। घड़ीका दीखना सूचित करता है कि तुम्हारी आँखमें दर्शनकी शक्ति है। तो हमारी आँखको ही हमारी आँख दिखायी नहीं पड़ती है। इसका क्या कारण, सूक्ष्मत्वात् अध्यात्मत्वात्। सूक्ष्म होनेके कारण, आध्यात्मिक होनेके कारण।

तो अब बोले—देखो, कानमें सुननेकी शक्ति, जिह्वामें स्वाद लेनेवाली शक्ति, नाकमें सूँघनेकी शक्ति, ये तो अलग-अलग हुई और इन अलग-अलग शक्तियोंमें जाननेवाली शक्ति एक है। **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं**। मनकी सैंकड़ों वृत्तियोंको जाननेवाला अगर एक नहीं होता तो स्मृति नहीं होती। बुद्धिके कई गलत और सही निर्णयोंके बाद भी जो एक ही रहता है; बुद्धिके सोनेके बाद भी जो एक ही रहता है; वह सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय है।

अब देखो, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे जो सीमित नहीं है—स्वप्न न हो तब भी रहे, जाग्रत् न हो तब भी रहे, सुषुप्ति न हो तब भी रहे और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें रहें—वह तो **तुरीयं त्रिषु सन्ततम्,** वह इन तीनोंसे बड़ा विलक्षण हुआ। जाग्रत् पैदा हुई और मर गयी, स्वप्न पैदा हुआ और मर गया, सुषुप्ति पैदा हुई और मर गयी **अनैकान्तिकत्वात्**—ये तो अनैकान्तिक हैं। सुषुप्तिमें भी जो एक अद्वितीय रूपसे सिद्ध है, सुषुप्तिका भी जो साक्षी है, वह

कौन है ? बोले—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे सूक्ष्म है; क्योंकि इनका साक्षी है। माने ये अवस्थामें बदलती रहती है: नटी रंगमंचपर नाचे और चली जाये और नट रंगमंचपर नाचे और चला जाये, रंगमंचपर लड़ाई हो और शान्ति हो जाये, लेकिन दीपक तो एक ही प्रज्वलित हो रहा है—**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।** देखनेवाला तो एक ही है। उसीको सूक्ष्म बोलते हैं।

अब आपको यह सुनाते हैं कि यह जो देखनेवाला है यह भी पंचभूतकी ही कोई खुराफात नहीं है। बचपनमें हमारे घर पहले बिहार जिलेके शिष्य आते थे। उनको ऐसी आदत थी कि वे अमरूदका पत्ता ले आते और भी कुछ-कुछ लाते होंगे, फिर उनको पकाते और फिर उसकी भाप उठाते और उस भापको जमाकर फिर पीते थे। उसमें नशेका मजा आता था। तो जो कहते हैं कि ये चार भूत एक अनुपातमें मिल गये—इनमें स्थूल-सूक्ष्मका भेद नहीं है—उनमें एक नशेकी तरह, खुमारीकी तरह चेतना पैदा हो गयी, माने जो साक्षी चैतन्यको पंचभूतकी खुमारी बताते हैं, उनका यह बताना नास्तिकता है। और जो बताते हैं कि चैतन्य आकाशमें इधरसे उधर चिड़ियाकी तरह उड़ता है—यह बताना भी नास्तिकता है। और कालकी धारामें चैतन्य जिन्दा होता और मरता है, यह भी नास्तिकता है। पर हम इस बातको गालीके रूपमें प्रयुक्त नहीं करते हैं। यह बात हम बता देते हैं।

हमको याद है, हम एक महात्माके पास गये और हमने इस बातका प्रतिपादन किया कि क्यों वेदको प्रमाण मानें? सम्पूर्ण प्रत्ययोंमें एक चैतन्य अनुगत है, अनुस्यूत है, वह एक साक्षी है, यह क्यों मानें? वह भी प्रत्यय है, ऐसा क्यों न मानें? प्रत्यय तो अनेक उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं और जैसे तरंगमें, एक तरंगके धक्केसे दूसरी तरंग, तद्वत ही प्रकट होती है, वैसे ही एक अहं-प्रत्ययमें भी संस्कारके धक्केसे तादृश अहं-प्रत्ययकी उत्पत्ति होती रहती है। तो हमारे महात्माने कहा कि यह तो बौद्ध मत हुआ, वेदान्त मत नहीं हुआ। मैंने कहा कि यदि यह सत्य होवे तो चाहे बौद्ध मत होवे, चाहे वेदान्त मत होवे, हम सत्यकी खोज करते हैं, बौद्ध मत होनेसे ही तो हम किसीका त्याग नहीं कर सकते! ***यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।*** हमको मतका आग्रह नहीं, हमको तो सत्य चाहिए।

बोले—प्रत्यय अनेक होते हैं, यह कैसे सिद्ध होगा? बताओ! एक

आदमी सड़कपर बैठे और हजार आदमी आयें जायें और वह गिन ले कि कितने आये, कितने गये। तो वह बैठा रहा तब न, हजारों आने-जानेवालोंको गिना। इसी प्रकार अनेकको जाननेवाला तो एक ही होना चाहिए।

सुनते हैं एक मुंशीजी रिश्वत लेनेमें बड़े प्रवीण थे। रिश्वत माने घूस; संस्कृतमें उसके लिए उत्कोच शब्द है। राजा जहाँ उनको नियुक्त करे, वहीं वे कुछ-न-कुछ उपाय निकाल लें। तो एक दिन उनसे कहा कि नदीके किनारे बैठो और इसमें कितनी लहर उठती है, गिनते रहो, हम तुमको तनख्वाह दे दिया करेंगे। वह सोचता था कि देखें इसमें क्या ऐसा बुद्धि है कि सब जगह पैसा लेनेका उपाय निकाल लेता है, अब महाराज मुंशीजी बैठ गये लहर गिनने। राजाके गुप्तचर देखते रहे। उधरसे मल्लाह नाव लिए निकले, उसने सिपाहियोंसे कहा कि इनको कहो कि नाव इधर नहीं ले आवें। जो लहरें हमको गिननी हैं उनपरसे नाव नहीं गुजर सकती, क्योंकि लहरें बिगड़ जायेंगी तो हम गिनेंगे कैसे? अब मल्लाह बोले-बाबा, हम दो-दो सौ मन चावल रंगूनसे लेकर आ रहे हैं, हमको बाजारमें पहुँचना है, कैसे क्या करें? तो बोले कि अच्छा, प्रत्येक नावपर दस रुपया दो, निकाल ले जाओ।

वहाँ भी पैसे लेनेका ढंग निकाल लिया। तो कहनेका अभिप्राय यह कि वह मुंशीजी वहाँ बैठते नहीं तो तरंग कैसे गिनते? तो यह जो हमारे हृदयमें बौद्ध प्रत्यय उठते हैं, घट विज्ञान, पट विज्ञान, मठ विज्ञान, भाव विज्ञान, अभाव विज्ञान, भावाभाव विज्ञान, भावाभाव वैलक्षण्य-विज्ञान—चार प्रकारका विज्ञान होता है। ये जो चार प्रकारके विज्ञान आते-जाते हैं इनकी गिनती करनेवाला कौन है?

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभया भावैः आवृणो त्येव बालिशः॥
कोट्यश्चतस्त्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥

(मा०का० ४.८३-८४)

गौड़ पादाचार्यने माण्डूक्य कारिकाके अलात शान्ति प्रकरणमें बताया—अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, नास्ति नास्ति-इन चार कक्षाओंसे बहिर्भूत होकर जो चारों कक्षाओंको देख रहा है, यह अपना आपा है।

शंका—अच्छा ठीक है, यह सुषुप्तिका द्रष्टा है न, तो सब शरीरमें अलग अलग उनका द्रष्टा अलग-अलग होना चाहिए।

समाधान—तो आप यही कहते हो न कि शरीरकी गोदमें द्रष्टा है? जैसे पानीकी गोदमें तरंग है, जैसे आगकी गोदमें लपट है, जैसे धरतीकी गोदमें कण हैं वैसे प्रत्येक शरीर और अन्त:करणकी गोदमें यह द्रष्टा बैठा हुआ है? द्रष्टाका यह विवेक इतना स्थूल है कि यदि कोई बिचारशील पुरुष इस प्रसंगको सुने, तो उसको हँसी आये बिना नहीं रहेगी।

देखो, सुषुप्ति इतनी प्रबल है कि वह ग्रस लेती है काल-भेदको और ग्रस लेती है देश-भेदको और ग्रस लेती है प्रत्येक वस्तु-भेदको। यह यज्ञदत्त है, यह पुष्यमित्र है—यह जो व्यक्तिभेद है अथवा जो जातिभेद है, जो व्यष्टि-भेद है अथवा समष्टि-भेद है, द्रव्यमें; और जो क्षणसे लेकर महाकल्पपर्यन्त कालमें अवयवका भेद है; और पूर्व-पश्चिम आदिके जो भेद हैं देशमें; वे सब भेद सुषुप्तिमें लीन हो जाते हैं। तो देखो, एक काल और उसके अनेक काल-भेद, एक देश और उसके अनेक देश-भेद, एक वस्तु (द्रव्य) और उसके अनेक वस्तु-भेद, एक व्यक्ति और अनेक व्यक्ति-जाति, ये सारे भेद सुषुप्तिमें लीन हो जाते हैं, तो उसका द्रष्टा प्रत्येकमें अलग-अलग कैसे होगा? यह 'प्रत्येकता' कब तक है? 'प्रत्येकता' की अवधि है अनन्तताका ज्ञान। जो देशके त्रैविध्यका, कालके त्रैविध्यका, वस्तुके त्रैविध्यका अधिष्ठान भूत अनन्त ब्रह्म है, उस अनन्त ब्रह्मका ज्ञान होनेपर यह त्रैविध्यवान् काल, त्रैविध्यवान देश, त्रैविध्यवत् वस्तु उसमें कल्पित हो जायेंगी। माने उस अनन्त अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मके अज्ञानसे ही तुम्हारे लिए काल सच्चा हो रहा है, देश सच्चा हो रहा है और वस्तु सच्ची हो रही है।

बोले—अच्छा लो भाई, अब ब्रह्मको मैंने जान लिया। भलेमानुस! यह तो देखो कि ब्रह्म भी हो और तुम उसको जान भी लो, कि ब्रह्म जाननेवाला मैं; तो न तुम ब्रह्म न वह ब्रह्म; माने अनन्त ब्रह्मका जब ज्ञान होगा तब स्वाभेदन ही ज्ञान होगा।

देखो, पहले तो जो अबाध्य होगा वह सत्य होगा और जो सत्य होगा वह देश-काल- वस्तुके भेदसे मुक्त होगा। कालका अधिष्ठान होनेसे अविनाशी होगा, देशका अधिष्ठान होनेसे पूर्ण होगा, वस्तुका अधिष्ठान होनेसे अद्वितीय-

सत्तात्मक होगा। और यह जो अद्वितीय सत्तात्मक, परिपूर्ण अविनाशी, अधिष्ठान है, वह यदि मुझसे जुदा होगा, तो जड़ और परिच्छिन्न होगा; और यदि उससे मैं जुदा होऊँगा, तो मैं क्षणिक और विनाशी होऊँगा। तो वेदान्त यही तो कहता है कि जो देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय ब्रह्म है, वह यह प्रत्यगात्मा ही है—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।**

अब देखो **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं। सूक्ष्मत्वात्** माने अध्यात्मत्वात्, प्रत्यगात्मत्वात् अविज्ञेयं ***विज्ञेयविषयातिक्रान्तं तत्*** वह प्रत्यक् आत्मा होनेके कारण विज्ञानके जितने भी विषय हैं, उनसे अतिक्रान्त है अतः ब्रह्म है, आप यह निर्णय कर लो कि जो चीज सुषुप्तिमें नहीं भासती, वह अज्ञानका कार्य है। क्योंकि कार्यका लय कारणमें होता है। यदि सुषुप्तिके अज्ञानमें सृष्टिका लय हो जाता है, तो भेद-बुद्धिका लय होता है। और भेद-बुद्धिसे पृथक् भेद नहीं है। भेद-बुद्धिके अलावा तो भेद सिद्ध ही नहीं होता और भेद-बुद्धि अज्ञानमें लीन हो जाती है; तो इसका अर्थ हुआ कि यह तो है सब अज्ञानका कार्य और अज्ञान तो तुमको ही भासता है, इसलिए तुम भानस्वरूप हो। इसीलिए देश-काल-वस्तुका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं है और देश-काल-वस्तुके प्रभावसे निर्मुक्त जो तुम प्रत्यक् चैतन्य हो उसको श्रुति कहती है कि यही अखण्ड ब्रह्म है, अद्वितीय ब्रह्म है, परिपूर्ण ब्रह्म है, अविनाशी ब्रह्म है। इसलिए ***सूक्ष्मत्वात्*** *द्रष्टृत्वात्* ***अदृश्यम्*** द्रष्टा होनेके कारण वह अदृश्य है।

अकालत्वात् कालाधिष्ठानं अविनाशी। अदेशत्वात् देशाधिष्ठानं परिपूर्णम्। अद्रव्यत्वात् द्रव्य द्रव्याभावाधिष्ठानं अद्वितीयम्। *अद्वितीयं परिपूर्णं* ***अविनाशि यद् ब्रह्म तत् प्रत्यक् चैतन्यम्। यत् प्रत्यक् चैतन्यं तद् ब्रह्म। अतएव अविज्ञेयम्।***

अविज्ञेयमें विज्ञानकी विषयता नहीं है। रूप नेत्रका विषय है। नेत्र द्वारा विज्ञेय क्या है? रूप। यह विशेष ज्ञान हुआ। श्रोत्र द्वारा विज्ञेय क्या है? शब्द। यह विशेष ज्ञान हुआ। ***विशिष्टं ज्ञेयं—विज्ञेयं।*** विज्ञान है इसमें। वैविध्य ज्ञान जहाँ हो वहाँ विज्ञान। 'वि' माने विविधता। विविधताका जहाँ ज्ञान हो वह विज्ञेय। यह शब्द है, यह स्पर्श है, यह रूप है, यह रस है, यह गन्ध है, यह विषय-ज्ञान हुआ। विषय ज्ञान ही विज्ञान है।

अब लो विविधता-ज्ञान। यह पूर्व है, यह पश्चिम है, यह उत्तर है, यह दक्खिन है, यह ऊपर है, यह नीचे है, यह भीतर है, यह बाहर है—यह विविधताका ज्ञान ही विज्ञान है और इसका जो विषय है वैविध्य, वह विज्ञेय है। इसी प्रकार आज, कल, परसों, कल्पों पूर्व और कल्पों पश्चात्। अरे, इतिहासके पेटमें पैदा होनेवाले धर्माधर्मकी संस्कृतियाँ, पाप-पुण्य, जाति-विजाति, एक जाति, अनेक जाति—यह सब विविधताका ज्ञान है। यह वैविध्य विज्ञेय है।

देखो, सृष्टिके प्रारम्भमें वर्णन आया है कि एक ही जाति थी और वह सबसे बढ़िया थी, हंस था उसका नाम *हंसो वर्ण इति स्मृता:।* हंस वर्णके सब लोग थे। और अब सृष्टिके मध्यमें? बोले—द्विजाति श्रेष्ठ होता है, एक जाति नहीं। अब एक जाति कौन है? बोले—शूद्र है। और यज्ञोपवीतादि संस्कारसे जो होता है, वह द्विजाति है।

चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचम:।

यह मनुस्मृतिका श्लोक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीन द्विजाति हैं और चतुर्थ शूद्र एक जाति है; पाँचवाँ है ही नहीं। तो एक जाति शूद्र हो गया। सृष्टिके प्रारम्भमें एक जाति हंस था। और सृष्टिके मध्यमें एक जाति शूद्र है। तो यह सब सृष्टि प्रक्रिया बदलती रहती है। वर्ण बदलते हैं, आश्रम बदलते हैं, जातियाँ बदलती हैं, नाम बदलते हैं, रूप बदलते हैं। नरक कभी नीचेकी ओर होता है, कभी ऊपरकी ओर होता है। और स्वर्ग कभी ऊपरकी ओर होता है, कभी नीचेकी ओर होता है। कभी अन्तरमें नरक होता, कभी बाहर। घरमें स्त्री-पुरुषकी लड़ाई हो जाये तो बाहर भी नरक हो गया और भीतर किसीसे द्वेष हो जाये तो भीतर ही नरक हो गया।

यह सब ऐसे ही सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है। यह जो अनन्त अद्वितीय तत्त्व है, उस अनन्तके अज्ञानसे ही कल्प्य और कल्पनाका पृथक्त्व भासता है। अनन्तका ज्ञान होनेपर कल्प्य और कल्पनाका पृथक्त्व नहीं भासेगा। रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्प कल्पना और कल्प्यसर्पका भेद नहीं रहेगा। अद्वितीय अधिष्ठानका बोध होनेपर कल्प्य प्रपंच—देश-काल-वस्तु कल्प्य हैं—और उसकी अन्त:करणमें कल्पना—यह भेद नहीं रहेगा। और कल्पनावच्छिन्न जो चैतन्य है, उससे पृथक् कोई कल्प्यावच्छिन्न जो चैतन्य

है, यह भेद नहीं रहेगा। जो कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है, वही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य है। इसका अभिप्राय होता है कि जिसमें कल्पना हो रही है, यही अनन्त ब्रह्म है। **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्।**

अब बोलते हैं—**दूरस्थं चान्तिके च तत्।** दूर भी वही और पास भी वही। माने जो चीज अमेरिकामें है, उत्तरी ध्रुवमें है, दक्षिणी ध्रुवमें है, वह भी वही है और जो 'अन्तिके च'—अपनी आँखकी पुतलीमें है और अपने दिलमें है, दिमागमें है, वह भी वही है।—'**दूरस्थं चान्तिके च तत्।**' सृष्टिके प्रारम्भमें जो वस्तु थी—दूरस्थ हुई न, और सृष्टिके अन्तमें जो वस्तु रहेगी वह भी दूरस्थ हुई, वही वस्तु मध्यमें इस समय भी है—तो 'अन्तिके च तत्'—पास भी वही हो गये। कालमें दूर और कालमें अन्तिके, देशमें दूर और देशमें अन्तिके। अब देखो कश्मीर तो दूर है यहाँसे तो जो चीज कश्मीरमें हो वह यहाँ नहीं। लेकिन ये आत्मदेव जो कश्मीरमें हैं, वही यहाँ। अरे, पाकिस्तान हिन्दुस्तानमें भी वही है। अब किसीके मनमें चीनसे द्वेष हो और वह यह कहने लगे कि हिन्दुस्तानमें तो ब्रह्म है, लेकिन चीनमें नहीं है, तो अपने द्वेषको चरितार्थ करेगा। असलमें हिन्दुस्तान और चीन दोनोंकी कल्पनाका अधिष्ठान और दोनोंकी पृथक् सत्ता मालूम पड़नेपर भी स्वयं सद्रूप, स्वयं प्रकाश, एक ही परमात्मा है, दो नहीं। आपके सपनेमें दो आदमी लड़ने लग जायें, एक आपका मित्र हो और एक शत्रु हो, तो क्या आप यह कहोगे कि मित्रमें ईश्वर है और शत्रुमें नहीं है? मित्रमें तो मेरी आत्मा थी और वह लड़ रही थी और शत्रुमें मेरी आत्मा नहीं थी? यह दृष्टिकोण बड़ा विलक्षण है।

वस्तु भी दूसरी नहीं है। एक कण है जरा-सा और आकाश है बड़ा-सा और पूर्व दूसरी ओर है और पश्चिम दूसरी ओर है, भूत दूसरी तरफ है और भविष्य दूसरी तरफ है, परन्तु **दूरस्थं चान्तिके च तत्।** वही है। लेकिन यह इसकी शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, भले आपको अच्छी लगी होगी। अब आचार्योक्त, सम्प्रदाय-लब्ध व्याख्या इसकी बताते हैं। बुजुर्गोंके अनुभवसे कुछ फायदा उठाना चाहिए। यह नहीं समझना कि यदि उन्होंने बहुत दिनों तक हजारों चीजें खा-पीकरके यह निश्चय किया कि गेहूँ खाना अच्छा है, तो आप भी अब हजारों चीजें खा करके फिरसे निश्चय करो कि गेहूँ खाना

अच्छा है कि नहीं। गेहूँ खाते रहो और प्रयोग करते रहो वह बात दूसरी है। अपने बड़े-बूढ़ोंके अनुभवसे लाभ उठाना चाहिए। आप संखिया, बच्छनाग और अफीम खाकर यह अनुभव मत करो कि यह खानेकी चीज नहीं है। अरे बड़े बूढ़ोंने पहले खाकर देख लिया है कि ये खानेकी चीज नहीं हैं।

दूरस्थं चान्तिके च तत्।

भगवान् श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जिनको उस आत्मवस्तुका ज्ञान हो गया, उनके लिए तो ब्रह्म बहुत पास है, उनका आत्मा ही है; और जिनको नहीं हुआ, उनके लिए ब्रह्म बड़ी दूर है। एकने तो कहा कि जब महाप्रलय होगा, तब हमको ब्रह्म मिल जायेगा। तो देखो, करोड़ों बरस, अरबों बरस दूर उसने ब्रह्मको फेंक दिया न! एकने कहा ब्रह्म तब मिलेगा जब हम बैकुण्ठमें पहुँचेंगे, यहाँ थोड़े ही मिलेगा; उसने भी ब्रह्मको दूर फेंक दिया। एकने कहा कि जबतक दुनिया दिखेगी, तबतक ब्रह्म थोड़े ही मिलेगा; जब समाधिमें बैठोगे तब ब्रह्म है, वैकुण्ठैक गोचर ब्रह्म है, महाप्रलयैक गोचर ब्रह्म है— अरे ब्रह्म कोई ऐसा-वैसा थोड़े ही है कि यों ही मिल जाय! ऐसे पुरुषोंके लिए ब्रह्म दूरस्थ है। माने अज्ञानीके लिए जो ब्रह्मकी पूर्णताको, आत्माकी अद्वितीयताको जो नहीं जानता है, उसके लिए ब्रह्म दूर है—दूर देशमें है, दूर कालमें है, दूर वस्तुके रूपमें है, अपनेसे पृथक् है। पार्थक्यकी कोई सीमा तो होती नहीं, कितना पृथक् है। अपनेसे यदि अलग है तो वह घड़ी है कि आकाश है— इसका निश्चय करना बड़ा मुश्किल होगा। परन्तु यदि जान लें, तो? **अन्तिके च तत्**— ब्रह्म बिलकुल पास है, हमारा आत्मा ही है। यह इसकी आचार्य-प्रोक्त व्याख्या है।

समझ लो तो ब्रह्म तुम ही हो और न समझो तो महाप्रलयमें मरो तब भी नहीं मिलेगा और समाधिमें घुसो तब भी नहीं मिलेगा। क्योंकि तुम पहिचानते तो हो ही नहीं। हम मान लेते हैं कि समाधिमें ब्रह्म सामने आवेगा, लेकिन तुम आज तो ब्रह्मको पहिचानते नहीं हो, समाधिमें कैसे पहचानोगे? समाधिमें वृत्ति नहीं रहेगी, बतानेका कर्तापन ब्रह्ममें अन्दर नहीं रहेगा और जाननेका विषयीपन तुम्हारे अन्दर नहीं रहेगा—समाधिमें तुम तो विषयी नहीं रहोगे और ब्रह्म विषय नहीं रहेगा और वृत्ति रहेगी नहीं; तब समाधिमें अगर ब्रह्मसे तुम एक हो भी जाओ तो अज्ञान युक्त एकता ही रहेगी। अज्ञान कहाँसे

मिटेगा? अज्ञान निवारणकी सामर्थ्य तो समाधिमें है ही नहीं। महाप्रलयमें कौन-सा गुरु रहेगा? शमादि साधन रहेगा? ब्रह्माकारवृत्ति रहेगी महाप्रलयमें? कौन ब्रह्मको लखावेगा।

एक आदमीके घरमें पारस पत्थर था, पर वह पहचानता नहीं था और रोज उससे चटनी पीसता था। एक महात्मा उसकी गरीबी देखकर उसको दे गये थे, परन्तु उन्होंने पहचान नहीं बतायी थी। इसलिए उससे वह चटनी पीसता था। अब कहीं सुना तो मनमें पारस पत्थर पानेकी इच्छा हो गयी। वह लोगोंसे पूछता। किसीने उसको बताया कि वह तो हिमालयमें जाओगे, तो इतनी कक्षा पार करनेके बाद वहाँ बहुत-से पत्थर पड़े होंगे, वहाँ मिल जायेगा। अब वे गये महाराज! घरमें जो पारस था उसको तो पहचानते नहीं थे। अब वहाँ तो हजारों पत्थर पड़े हुए मिले। अब लो, करो जाँच कौन-सा पारस पत्थर है, कैसे मालूम पड़ेगा? तो उसको ऐसे बहुत समय लग गया, बहुत दौड़ना पड़ा, बहुत पत्थरोंकी परीक्षा करनी पड़ी, लेकिन लक्षण-प्रमाण तो मालूम नहीं था कि पारस पत्थर क्या है? अब उसको हिमालयमें मिल गये वही महात्मा। बोले—अरे, यहाँ क्या ढूँढ़ने आया है रे? बोला—महाराज, पारस पत्थर ढूँढ़ने आये हैं। बोले—जो मैं तुमको दे आया था—वह क्या था? बोला—वह तो महाराज हम बट्टेके काममें लेते हैं। बोले—जरा जाकर उसको लोहेसे छुआ करके देख तो, सोना होता है कि नहीं!

किसको ढूँढ़ रहे हो? ब्रह्मको महाराज! अरे ***ब्रह्मैवेदं सर्वम्।*** यह सब ब्रह्म है। बोले—कोई ब्रह्म होगा, वही सब होगा। तो श्रुतिने कहा—***आत्मैवेदं सर्वम्।*** आत्मा ही यह सब है, तुम ही ब्रह्म हो।

एक बात आपको सुनावें। हम पहले बचपनमें गीता पढ़ते थे, घरमें हमारे तो सब संस्कृतके पंडित थे—बाबा भी, पिता भी, बीसों तीसों विद्यार्थी रोज आकर संस्कृत पढ़ते थे। तो हम बचपनसे गीता पढ़ते थे। संस्कृत पढ़नेका हमारा अभ्यास कोई साधारण नहीं था बचपनमें। तो—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २.२०

यह श्लोक हम पढ़ते थे। इसकी हिन्दी भी हमको मालूम थी, इसका अर्थ भी हम कर सकते थे। लेकिन हम समझते थे कि इस श्लोकमें किसी

ऐसे आत्माका वर्णन है जिसका जन्म-मरण नहीं होता, जो मरता नहीं और मेरा तो अमुक संवत्, अमुक तिथिको जन्म हुआ, और जिसका जन्म होता है वह मरता भी है और बढ़ता-घटता भी है। तो मैं तो मनुष्य हूँ, जन्मने-मरनेवाला हूँ। आप भी ऐसा ही समझते होंगे, आप भी हमारे ही भाई-बन्धु हैं। हम समझते थे कि इस श्लोकमें किसी ऐसे आत्माका वर्णन है, जो मैं नहीं हूँ, कोई दूसरा है।

महात्माओंने कहा कि अरे भलेमानुस! यह दूसरे आत्माका वर्णन नहीं है, यह तो तुम्हारा वर्णन है—**न जायते म्रियते वा कदाचित्।** यह तो तुम हो वैसे। बोला—वाह, हमारा तो जन्म हुआ है, हमारी तो मौत होगी। बोले—अरे, नहीं—नहीं, जिस शरीरका जन्म हुआ है और जिसकी मौत होती है, वह तुम नहीं हो। जिन प्रत्ययोंका जन्म और मृत्यु होता है वह तुम नहीं हो। जिन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तियोंका जन्म और मृत्यु होता है वह तुम नहीं हो। और जो देश-काल-वस्तु भेद भिन्न होकर प्रत्ययके रूपमें आते-जाते हैं, वह तुम नहीं हो। ***भेदनिम्ना पृथग्बाधा:*** जितने पृथक्ताके बाध हैं वे भेद निम्न हैं। तब? अरे यह तुम्हारा ही वर्णन है कौन-सा? **न जायते म्रियते वा कदाचित्**...... यह तुम्हारा वर्णन है। देखो, एक ही श्लोक काफी है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—यह किसका वर्णन है? तुम्हारा। ***अपूर्वमनपरं अनन्तरं अबाह्यम्। तदेतद् ब्रह्म।*** यह किसका वर्णन है? यह तुम्हारी ही महिमाका वर्णन है। यह तुम्हारे ही स्वरूपका वर्णन है, परन्तु **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।** अज्ञानीके लिए दूरस्थ है और जानकारके लिए 'अन्तिके च'—अपनी आँखसे भी ज्यादा निकट है। अपनी सुषुप्तिसे भी ज्यादा निकट है, ऐसा अपना आपा ही है।

ज्ञेय ब्रह्म-५. सब भूतोंमें अखण्ड चैतन्य

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ (१३.१६)

अर्थ :—भूतोंमें वह परमात्मा अविभक्त रहता हुआ ही विभक्तके समान स्थित है। उसीको भूतोंका भर्ता, प्रलयकर्ता और उत्पत्तिकर्ता भी जानना चाहिए।

बहिरन्तश्च भूतानांसे पूर्व श्लोकमें यह बात कही गयी कि बाहर भीतरका जो देश-भेद है, इससे रहित है ब्रह्म; **अचरं चरमेव च** से बताया कि चर और अचरका जो वस्तु-भेद है उससे रहित है ब्रह्म और किसीके द्वारा भी ब्रह्म दृश्य या भास्यके रूपमें नहीं जाना जा सकता क्योंकि वह अपना आत्मा है और सूक्ष्मतम है—**सूक्ष्मत्वात् आत्मत्वात् तदविज्ञेयम्।** और **दूरस्थं चान्तिके च तत्**से देश और काल दोनोंके भेदोंका निरास किया। तो न देशका भेद, न कालका भेद, न वस्तुका भेद और न किसी प्रकार भास्य, माने स्वयं प्रकाश, प्रकाशक अपना आत्मा, केवल अज्ञानसे ही दूर और ज्ञानसे बिलकुल निकट—बड़ी-बड़ी बाते इसमें कह दीं। देश-

काल-वस्तुका परिच्छेद न होनेसे तो अद्वितीय है और केवल अज्ञानका ही व्यवधान है और स्वयं अपने द्वारा भी दृश्य नहीं है, माने स्वयं है। तो ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानके लिए जितनी बात कही जानी चाहिए, वह सब एक श्लोकमें कह दी।

अब प्रश्न यह आया कि वर्णन तो करने चले क्षेत्रज्ञका और वर्णन ऐसा कर दिया अद्वितीय ब्रह्मका। क्षेत्रज्ञ तो प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग उपलब्ध होता है। इसी शंकाका समाधान इस श्लोकमें करते हैं कि क्षेत्रज्ञकी अनेकता प्रातीतिक है, व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं है। परमार्थतः क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है, इसलिए वह अखण्ड और अद्वितीय है।

अच्छा, यदि यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा ही है, तो **सर्वतः पाणिपादं**। यह तो विश्वात्माका जैसे वर्णन लगता है। और **सर्वेन्द्रिय गुणाभासं**—यह तैजसका वर्णन लगता है। **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**—यह प्राज्ञका वर्णन मालूम पड़ता है। **निर्गुणम् असक्तम्**—यह तुरीयका वर्णन मालूम पड़ता है। और **सर्वभृच्चैव गुणभोक्तृच्च**—यह सर्वात्माका वर्णन मालूम पड़ता है। आखिर क्या कहना चाहते हैं? अलग-अलग शरीरमें जो क्षेत्रज्ञ है, उसका वर्णन करना चाहते हैं? कि सम्पूर्ण विश्व सृष्टिमें जो विश्व, तैजस, प्राज्ञके रूपमें विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरके रूपमें जो ब्रह्म आत्मना भास रहा है, उस तुरीयका वर्णन करना चाहते हैं?

तो बताते हैं कि अद्वितीयत्व पारमार्थिक है, सद्वितीयत्व प्रातिभासिक है। **अविभक्तं च भूतेषु**—यह परमार्थ है और **विभक्तमिव च स्थितम्**में **इव** माने प्रातिभासिक, प्रातीतिक। भेद प्रातीतिक है और अभेद परमार्थ है यह बात इस १६वें श्लोकके पूर्वार्धमें कही गयी है। केवल वेदान्तकी भाषामें इसको आरूढ़ कर देना, तावन्मात्र ही इसमें व्याख्याका चातुर्य है, और कुछ नहीं। बात तो वही है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

अब एक दूसरा प्रश्न है। माना कि यह ब्रह्मका ही निरूपण है, क्योंकि ब्रह्म और क्षेत्रज्ञ एक ही है। लेकिन ब्रह्मका लक्षण तो ***जन्माद्यस्य यतः*** करके सूत्र वर्णन करते हैं। और ***यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*** करके श्रुति निरूपण करती है। यह तो तुम्हारा **बहिरन्तश्च भूतानां** इत्यादि यहाँ ब्रह्मका

वर्णन है वह उपर्युक्त श्रुति—सूत्रके लक्षणोंके साथ समन्वित है कि नहीं? तो १६वें श्लोकका जो उत्तरार्ध है : **भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च**—उससे इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि समन्वित है।

एक बार फिर आपको याद दिलाकर आगे बढ़ते हैं कि वेदान्त केवल आत्माका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। सबसे विलक्षण है आत्मा—यह बात तो आप सांख्य शास्त्र पढ़कर जान सकते हैं। अथवा योगकी रीतिसे समाधि लगाकर आप जान सकते हैं कि मैं सम्पूर्ण दृश्यसे न्यारा हूँ। केवल ईश्वरका प्रतिपादन करनेके लिए केवल ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिए भी वेदान्त शास्त्र नहीं है। इस जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ईश्वर है—यह बात आप अन्य रीतिसे भी जान सकते हैं। मुख्य बात वेदान्तमें यह बतानी है कि आत्मा और ब्रह्म दोनों दो नहीं हैं एक है। ब्रह्मात्मैक्यके प्रतिपादनके लिए वेदान्त शास्त्रकी प्रवृत्ति है, केवल ब्रह्म प्रतिपादनके लिए नहीं, केवल आत्म प्रतिपादनके लिए नहीं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आदि जो अवान्तर वाक्य हैं, उनसे ब्रह्मावगति हो जाती है और ***नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्*** इत्यादि अवान्तर वाक्योंसे द्रष्टा आत्माका भी ज्ञान हो जाता है, परन्तु दोनों एक ही हैं, यह बात ***तत्त्वमस्यादि*** महावाक्यके अर्थका विचार किये बिना नहीं होती है।

यहाँ इस प्रसंगमें ऐसा चला कि प्रतिज्ञा की कि क्षेत्रज्ञका निरूपण करेंगे, तो पहले क्षेत्रका ऐसा निरूपणकर दिया कि बुद्धिमान मनुष्य हो तो वहीं श्रीकृष्णके हृदयको अपनी मुट्ठीमें ले ले! श्रीकृष्णके हृदयमें जो बात भरी हुई है जो उनका हार्द है, अभिप्राय है, तत्काल ग्रहण हो जायेगा। आप प्रारम्भमें ही देखो, जब बताया कि क्षेत्र क्या होता है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

अव्यक्त (प्रकृति) महत्तत्त्व, अहंकारतत्व और पंचमहाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी क्षेत्र हैं और इनको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। यहीं यह बात बता दी गयी कि क्षेत्रज्ञ परिच्छिन्न नहीं है। कैसे? कि जबतक अन्त:करणावच्छिन्न ज्ञाता प्रमाण - वृत्तिपर आरूढ़ होकर प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यके साथ एक नहीं होता तबतक प्रमेयका ज्ञान ही नहीं

होता। यह बात बड़ी सीधी है, लेकिन कही गयी है टेढ़े ढंगसे। देखो, जबतक अन्तःकरण घटाकार नहीं होता तबतक घट-ज्ञान नहीं होता और जब अन्तःकरणके घटाकार होनेपर ही घट-ज्ञान होगा तो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारावच्छिन्न चैतन्य दो कहाँ रहे? ऐक्य तो तभी होगा न, जब घटादि वस्तु अन्तःकरणकी वृत्तिमें होंगे। बहिस्थ रहकर घटादि ज्ञात नहीं होते हैं वृत्तिस्थ होकर घटादि ज्ञात होते हैं। और जब वृत्तिस्थ होते हैं, तब घटावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य—ये अलग-अलग कहाँ रहेंगे? माने ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीके रूपमें एक ही चैतन्य होता है; यह ज्ञानकी प्रणाली है। तो अब देखो यदि किसीको अव्यक्तका ज्ञान होगा तो जब अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यारूढ़ होकरके अव्यक्तावच्छिन्न चैतन्यसे ऐक्यको प्राप्त करेगा, एक होगा तब अव्यक्तको जानेगा और जो अव्यक्तको जानेगा वह एक शरीरका ज्ञाता नहीं रहेगा, वह तो कोटि-कोटि शरीरोंके जन्म और मरणका ज्ञाता होगा। इसलिए पहली बात यह हुई कि क्षेत्रज्ञ परिच्छिन्न हो ही नहीं सकता। इसी ऐक्यका प्रतिपादन करनेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति होती है। तो अब देखो, प्रतिज्ञा तो की कि हम क्षेत्रज्ञका वर्णन करेंगे—

स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु।

और बोले कि क्षेत्रज्ञ जो है, जैसा भी है, वह क्या है कि—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते—माने क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है। यही बात कही जा रही है कि यह जो प्रकृतिसे लेकरके **इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः** तकका ज्ञाता है, वह ज्ञाता साक्षात् ब्रह्म है। इस प्रकार महावाक्यार्थका ही निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

तब प्रश्न यह हुआ कि भाई, क्षेत्रज्ञ तो सब शरीरोंमें अलग-अलग उपलब्ध होता है—**अयं अहं**। यह मैं हूँ। यह मैं हूँ। फिर यह भी उपलब्ध होता है कि **अहं एतत् न**—यह मैं नहीं हूँ। तो ऐसा लगता है दूसरे क्षेत्रज्ञोंसे अलग मैं एक शरीरमें क्षेत्रज्ञके रूपमें बैठा हुआ हूँ।

बोले—ठीक है, इसमें तुम वस्तुतः आत्माकी एकताका निषेध करते हो कि प्रातीतिक एकताका निषेध करते हो? इसमें देखो, यदि तुम प्रातीतिक

अनेकताके बलपर पारमार्थिक एकताको अस्वीकार कर रहे हो, तो वह वेदान्तको मान्य नहीं है। लेकिन यदि तुम प्रातीतिक अनेकताका प्रतिपादन कर रहे हो तो उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है। उपलब्धि तो सबको अलग-अलग होती ही है तो होने दो। सब अलग-अलग समझते हैं, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ। अपनेको स्त्री-पुरुष क्यों माना? अपने शरीरको देखकर माना। क्योंकि देह तो दृश्य है न, देहमें ही स्त्रीपना और पुरुषपना है; तो देहगत स्त्रीपना और पुरुषपनाको अपने आपमें आरोपित करके, तब अपनेको स्त्री-पुरुष मानते हो। परन्तु अपनेको हिन्दू, मुसलमान, ईसाई क्यों मानते हो? ब्राह्मण-क्षत्रिय क्यों मानते हो? ये तो वाचनिक है, क्योंकि शरीर तो सबका एक सरीखा ही है।

पहले जब हम बच्चे थे, तो सनातन धर्मके नेताओंके साथ बच्चू सूर आते थे, जो खंजड़ी बजाते थे, बड़े चमत्कारी थे। अन्धे थे पर सबकी घड़ीका समय बता देते। और भीतर कौन बैठा है, मनमें क्या बात है सब बता देते थे। तो जब वह व्याख्यानमें कहते थे कि ब्राह्मणके शरीरमें खून दूसरा होता है और क्षत्रियके शरीरमें दूसरा होता है और वैश्यके शरीरमें खून दूसरा होता है—ऐसा जब हम बचपनमें सुनते, तो चमत्कार हो जाता था, अपने मनमें ब्राह्मणत्वका अभिनिवेश हो जाता था। यह बचपनकी बात है, अब तो डाक्टरोंने बताया कि रक्तकी कुछ किस्में तो होती हैं, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि ब्राह्मणके शरीरमें जिस किस्मका रक्त होता है, वह शूद्रके शरीरमें न हो और शूद्रके शरीरमें जिस किस्मका रक्त होता है वह ब्राह्मणके शरीरमें न हो। अब तो एक-एक बातकी जाँच हो गयी ना! तो पहले अभिनिवेश होता था।

आपको क्या सुनावें, एक बार बच्चू सूरने कहा कि जो असली ब्राह्मण होगा, वह अपने साढ़े तीन हाथसे कुछ ज्यादा लम्बा होता है और दूसरे जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होते हैं वे कुछ अपने ही साढ़े तीन हाथसे एकाध अंगुल कम होते हैं। वह भारत महामंडलका महोत्सव था, उसमें वे आये हुए थे। बड़े-बड़े राजा महाराज भी आये थे। दरभंगाके किशनगढ़के राजा ज्ञानानन्दजीको तो अपने कन्धेपर उठाकर चलते थे।

अब जो सुना तो महाराज झट घर जाते ही सूत लिया और साढ़े तीन

हाथ नापा और अपनेको नापके यह निश्चय कर लिया कि हम साढ़े तीन हाथसे एक अंगुल ज्यादा हैं। उसके बाद दूसरे जो विद्यार्थी मिलते थे न, उनको उनके हाथसे ही नापकर साढ़े तीन हाथके नापसे एक अंगुल कम सिद्ध करते! तो अभिनिवेश हो गया, माने गर्क हो गये शरीरमें।

तो इस शरीरको मैं-में आरोपित करके तब अपनेको मनुष्य मानते हैं। आकृतिके प्राधान्यसे मनुष्यता है। लिंगके प्राधान्यसे स्त्री-पुरुष हैं। सम्प्रदायकी प्रधानतासे हिन्दू, मुसलमान हैं। मान लो मोटरपर कोई पागल बैठे और वह कहे कि मैं मोटर हूँ तो वह मोटर तो नहीं हो जाता न! इसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ है, वह देहकी मोटरपर सवार है, पर किसी प्रकार भी मोटर नहीं है, देह नहीं है। अब जब देहकी उपाधिको तुम छोड़ दोगे, तो इसका जो नतीजा होगा वह आपको सुनाते हैं। आप ध्यान देना उस बातपर। यदि आप शरीरमें मिट्टी, पानी, आग, हवा और अवकाश—ये पाँचों नहीं हों तो दुनियामें जो ये पाँचों फैले हुए हैं न, उसमें भी आप माटी-पानी-आग-हवा और आकाश नहीं हो। और यदि शरीरमें आप इन्द्रियाँ नहीं हो और मनोवृत्तियाँ नहीं हो, तो सृष्टिमें कहीं भी तुम इन्द्रिय और मनोवृत्ति नहीं हो।

तब यह जो माननेवाला है कि मैं काले चामवाला, मैं गोरे चामवाला, मेरी आँख बड़ी तेज, वह तो देहमें ही बैठा है। यदि कुछ मानना ही हो तो अपनेको सूक्ष्म जगत्से एक करो। महाराज, एक कोई योगी आ जाये और वह कह दे कि भीतके उसपार जो कुछ रखें, उसको हम देख लेंगे, माने आँख उसकी इतनी तेज हुई कि भीत उसमें रुकावट नहीं डालती है, तो भले आजकलके वैज्ञानिक डाक्टर नहीं मानें, पर यह संभव हो सकता है। अभी तो हम भौतिक शरीरसे, एक आकृति-विशेषसे तादात्म्य करके बैठे हैं। पर जब हम केवल रूप तन्मात्रासे तादात्म्य कर लेते हैं, तो कहींके भी रूपको जान सकते हैं। वह तो देहमें फँस जानेके कारण ही नहीं मालूम पड़ता है। रूप तन्मात्रा व्यापक है। गन्ध तन्मात्रा व्यापक है। ऐसे योगी प्राचीन कालमें हुए हैं, अब भी ऐसे योगी होते हैं। यह इत्रोंका आविष्कार कैसे हुआ? गंध तन्मात्रासे तादात्म्य करके। रसोंका आविष्कार कैसे हुआ? रस तन्मात्रासे तादात्म्य करके। रूपोंका आविष्कार, रंगोंका आविष्कार कैसे हुआ? यह रूप तन्मात्रासे तादात्म्य करके। और यह संगीत जो है न, यह आसावरी, यह

घनाक्षरी और यह भैरवी, यह कहाँसे निकली? शब्द तन्मात्रासे तादात्म्य करके ये सब निकली हैं।

अब इसके बाद आगे जब देखते हैं तो जितना संकल्प है—हमारा संकल्प, ब्रह्माका संकल्प, विष्णुका संकल्प, शिवका संकल्प—उसका आधार हमारा अपना संकल्प ही है। यदि आप अपने संकल्पसे अपनेको अलग कर लें तो किसीके भी संकल्पके भीतर आप नहीं आ सकते। ईश्वरके संकल्पसे भी बाहर निकल जायेंगे आप! इस शरीरगत व्यष्टि संकल्पसे जो तुम्हारा तादात्म्य है, उसीसे तुम समष्टि संकल्पके पराधीन हो रहे हो!! यह हम आपको जीवनका विज्ञान बताते हैं, यह केवल फिलासफी नहीं है।

यदि आप यह संकल्प करोगे कि हमारा यह मकान कभी बिगड़े नहीं, तो आपके मनमें एक संकल्प हुआ और उसपर आप आरूढ़ हो गये। अब ईश्वरका संकल्प जब इस मकानको ढहाने लगेगा, तब आपको तकलीफ हो जायेगी! ईश्वरने इस मकानको ढहाया और आप ईश्वरके पराधीन हुए। क्यों हुए? क्योंकि आप अपने संकल्पके साथ मैं-मेरा करके बैठ गये। जब ईश्वर आपके संकल्पको कभी पूरा कर देगा तो आप खुश होकर हाथ जोड़ोगे, और कभी आपके संकल्पका विरोध कर देगा, तो कहोगे—कुछ नहीं, ईश्वर बड़ा क्रूर है। अब ईश्वर तुमको नचा सकता है—तुम्हारे मनको ईश्वरने पकड़ लिया, अनुकूल करके खुश कर देगा और प्रतिकूल करके तुमको रुला देगा! ऐसा इसलिए हुआ कि आपने जब अपना संकल्प पकड़ा, अपने संकल्पके नावपर जब आप चढ़ गये, तब मल्लाह आपको नचाने लगा। और यदि आप अपना संकल्प छोड़ दो तो अब ईश्वर आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। ईश्वरका संकल्प न आपको सुख पहुँचा सकता है, न दुःख पहुँचा सकता है। बिलकुल उसी समय गुलामी छूट जायेगी, जिस समय तुम निस्संकल्प हो जाओगे। समष्टिका संकल्प तुम्हारे व्यष्टि संकल्पको अपने अधीन रख सकता है। कम्युनिज्ममें बोलते हैं कि मजदूर वर्गका एक संकल्प होना चाहिए। तो सब मजदूर वर्गके एक संकल्पके सामने एक मजदूर अगर उल्टा संकल्प करे तो उसको मार-मारकर सीधा कर देते हैं कि नहीं? और समाज जो बनता है उसमें अगर एक व्यक्ति समाजके विपरीत दुराचार, अनाचार, व्यभिचार करने लगे या अपना बड़प्पन ही बघारने लगे, तो समाज उसको

ठीक कर देगा कि नहीं? तो यही तो व्यष्टि संकल्पकी पराधीनता है समष्टिके सामने। तो इसका तो विज्ञान ही हो गया कि आप अहंको यदि परिच्छिन्नके साथ मिलाओगे तो परिच्छिन्नोंकी समष्टि जो है, वह समष्टि चैतन्य आपको अपने अधीन रखेगा और जब व्यष्टिके साथ तुम अपनेको तादात्म्यापन्न नहीं करोगे, तो समष्टिकी अधीनता मिट जायेगी और फिर समष्टिकी उपाधिसे मुक्त चैतन्यमें और व्यष्टिकी उपाधिसे मुक्त चैतन्यमें किसी प्रकारका भेद नहीं रह सकता। भेद तो सविशेषमें ही होता है, निर्विशेषमें तो भेद होता ही नहीं। इसलिए यह जो तुम्हारे अहंमें व्यष्टिपना है, यह जो तुम्हारी बुद्धिमें पक्षपात रूप अशुद्धि है—बुद्धिमें भ्रम है, व्यष्टिमें अहं है—और विशेष प्रकारके संकल्पोंकी पूर्तिके लिए यह जो मानना है कि संकल्प मेरा है और फिर यह देह मेरा है, इसलिए यह इतने दिन जीए, इसके साथ इसकी पूँछ ऐसी रहे, यह सब परिच्छिन्न दृश्यके साथ तादात्म्य कर लेनेके कारण ही है। माफ करना, पूँछ दो तरहकी होती है: एक तो पशुओंकी, वह तो ईश्वरने बिलकुल साफ-साफ रखी है कि वह शरीरमें जुड़ी हुई दिखायी पड़ती है; परन्तु मनुष्योंकी पूँछ तो भगवानने अदृश्य रूपसे रखी है। तुम भी किसीकी पूँछ बन जाते हो कभी और कभी दूसरेको अपनी पूँछ बना लेते हो। तो यह ममताकी जो पूँछ है न यह मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती, पशु बना देती है।

यह कुलका कुल जो परिच्छिन्नत्व है वह दृश्य परिच्छिन्नसे तादात्म्य करनेके कारण ही है। आप व्यष्टि और समष्टि दोनों प्रकारके दृश्यका ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि समष्टिसे तादात्म्यापन्न होनेकी योग्यता आपमें न होती, तो आप अव्यक्तको नहीं जान सकते। और व्यष्टिसे तादात्म्य करनेकी योग्यता न होती तो आप व्यष्टिको नहीं जान सकते। यदि आपका ज्ञान इतना बड़ा नहीं होता कि **महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**। ये आठों उसके अन्दर आ जायें तो इनका नाम-क्षेत्र और आपका नाम-क्षेत्रज्ञ कैसे होता?

अब १६वें श्लोकका अर्थ देखो। 'भूतेषु'में भूत शब्दका तीन अर्थ लो-एक तो भूतमाने प्राणी। मनुष्य, पशु, पक्षी, सबको भूत बोलते हैं। दूसरे भूत माने पंचभूत और तीसरे भूत माने जो कुछ हुआ, माने जिसकी उत्पत्ति हुई-*भवन्तीति भूतानि।* इस प्रकार उत्पन्नको भूत कहते हैं, आकाशादिको

भूत कहते हैं और प्राणियोंको भूत कहते हैं। और महाराज जो मुर्देकी मानसिक स्थिति होती है उसको भी भूत बोलते हैं। मरे हुए व्यक्तिकी जो अपने मनमें उपस्थिति होती है उसका नाम भी भूत है। शास्त्रकी दृष्टिसे, भारद्वाजीय कर्म मीमांसा दर्शनमें यह बात बतायी कि भूतको पकड़नेकी जो वृत्ति है, वह तमस्से, तमोगुणसे उत्पन्न होती है। पितरोंकी पूजाकी वृत्ति रजोगुणसे उत्पन्न होती है और देवताओंकी पूजाकी वृत्ति सत्त्वगुणसे उत्पन्न होती है। और ईश्वरकी पूजाकी वृत्ति सत्त्वका भी अतिक्रम करनेकी लालसासे उत्पन्न होती है। और ब्रह्म जिज्ञासा तो इस लालसाके भी बादकी दृष्टिसे उत्पन्न होती है।

हमारे मनोविश्लेषणकी इस पद्धतिको आप देखें। मरा हुआ आदमी स्त्री हो या पुरुष भूत हो सकता है। 'नष्टवनिता इव' दृष्टान्त होता है। आदमीको जो चुड़ैल लगती है न, वह चुड़ैल होती नहीं है, लगती है। तो कहाँ होती है? कि वह मनमें होती है। भूतकी उपस्थिति पाँच भौतिक रूपसे बाहर नहीं है, मनमें ही है। प्रेतका शास्त्र भी हमने पढ़ा है। तो भूत-प्रेत स्थूल पंचभूतसे बना हुआ नहीं होता। बोलते हैं न कि वह तो हवा है। हवा है माने उसमें मिट्टी नहीं है, उसमें पानी नहीं है, उसमें आग भी नहीं है, उसमें ऐसी वायु भी नहीं है; वह तो असलमें एक मानसिक ग्रन्थि है, मोहमूलक है।

तब आप देखो **भूतेषु**—भूत माने आपकी मानसिक ग्रन्थिमें जो भूत समाया हुआ है वह, और आपको संसारमें जो स्त्रीरूप, पुरुषरूप, हिन्दू रूप, मुसलमान रूप, मनुष्य रूप, पशुरूप, पक्षीरूप, देवता रूप, राक्षसरूप, मानवरूप, दानव रूप; जो कुछ भी प्रतीत होता है, ये सब हैं भूत। जो पहले नहीं था और बादमें उत्पन्न हुआ, सो भूत; और जो उत्पन्न हुआ, पर बादमें नहीं रहेगा सो भूत। यह भूत नाम बड़ा विलक्षण है! चलो, भूत ही समझा दें पहले। बोले—भाई, भविष्यमें दृष्टि नहीं है, यह दृष्टि दो ही जगह सीमित है- या तो भूतको देख रही है या तो वर्तमानको देख रही है। अरे, ये भूत और वर्तमान तो भविष्यमें रहेंगे ही नहीं। इनके अत्यन्ताभावपर दृष्टि ले जाओ तो मजा आ जायेगा। नचिकेता हो जाओगे। यमराजसे तुम्हारी भेंट हो जायेगी, तुमको कठोपनिषद्का तत्त्वज्ञान हो जायेगा। यदि भविष्यकी तरफ दृष्टि जाये, और अन्ततक जाये तो यमराज मूर्तिमान मिलेंगे और तत्त्वज्ञान हो जायेगा।

अच्छा, तो भूतेषु—कल्पितेषु अकल्पितेषु च–जो कल्पित भूत है। उनमें। जिनकी तुमको याद आ रही है, जो मुर्दे हो चुके हैं और तुम्हारे मनमें जिनका मुर्दा भरा हुआ है, वे हैं भूत। एक जने हैं, तो उनका दुश्मन उनको रोज सपनेमें दिखता है। एक बहू है, तो उसको अपनी सास ही रोज सपनेमें दिखती है, वह बेलना हाथमें लिए मारनेको तैयार। एक श्रीमती हैं तो उनको अपना पति दिखता है रोज। एक पतिदेवकी पत्नी मर गयी है, अब वे दूसरा ब्याह करनेका जब संकल्प करते हैं, तो दिनमें तय करते हैं कि ब्याह करेंगे और रातको श्रीमतीजी गला दबाकर चढ़ बैठती हैं—तुम समझते हो कि मैं मर गयी, तुम समझते हो कि मैं कहीं चली गयी, मैं तो अभी यहीं बैठी हूँ—ये सब भूत हैं। ये वर्तमानमें दिखें तब भी भूत हैं; क्योंकि जितनी देरमें वर्तमानको देखना, वर्तमानको समझना और वर्तमानको बोलना होता है, इतनी देरमें वर्तमान तीन कोस पीछे चला जाता है। तीन कोस गया तो भूत हो गया। तो वर्तमान भी भूत ही है, क्योंकि भूतप्राय है। आप गणित लगाकर देख लेना, मनोरंजनके लिए हम यह आपको नहीं बताते हैं।

अच्छा आज वर्तमान दिन क्या है ? शनिवार। पहले तो हे भगवान्! यह कालमें शनिवार और मंगलवारका क्या फर्क होता है, इसको अगर ब्रह्मा भी सिद्ध करना चाहे तो नहीं सिद्ध कर सकता। चन्द्रमाके हिसाबसे होता है कि सूर्यके हिसाबसे होता है ? ये तिथियाँ हैं ना, आज पंचमी है कि षष्ठी है, कि चतुर्दशी है, कि अमावस्या है यह हिन्दुस्तानकी दृष्टिसे दूसरी है और अमेरिकाकी दृष्टिसे दूसरी है। आप इस भेदको समझ लेना। यह बिलकुल भौगोलिक और खगौलिक दृष्टिसे कल्पित होती हैं। यह कालमें नहीं होती हैं। तो पहले यह कल्प-मन्वन्तर ही कुछ नहीं है, उसके बाद यह चतुर्युगी कुछ नहीं है, कलियुग कुछ नहीं है, उसमें संवत्सर कुछ नहीं है, उसमें यह आषाढ़, सावन मास कुछ नहीं है। बोले—आज शनिवार है, अच्छा! अच्छा, शनिवारमें कितना बजा ? बोले कि आठ बजकर बीस मिनट होते हैं। बीस मिनट कैसे होंगे, कुछ सेकेण्ड भी तो होगा न! अब आप कल्पना करो, बीस मिनट दस सेकेण्ड हो गये। अरे दस सेकेण्ड घड़ीमें देखा, और उसको समझकर बोला, इतनेमें सेकेण्डका कुछ हिस्सा चला गया कि नहीं ? चला गया। अच्छा, बताओ कितना गया और कितना बाकी है ? तो जितना गया

उतना भूत। अब एक सेकेण्डके अगर अरब हिस्से कर दो,—गणितसे सम्भव है और उस अरबवें हिस्सेमें यदि तुम हो तो प्रत्येक अरबवाँ हिस्सा तुम्हारा भूत होता जा रहा है न! वर्तमान कहाँ है? तो सिवाय कल्पनाके कालमें वर्तमानता नहीं होती है। अब बोलो—वर्तमान तो गया, एक सेकेण्डके अरब हिस्से कर दो, तो उसमें पचास करोड़ बीत गया और पचास करोड़ बाकी है, तो बीचमें क्या है, बता सकते हो? नहीं बता सकते। इसका अर्थ है कि वर्तमान अनिर्वचनीय है और जब वर्तमान अनिर्वचनीय है तो वह भूत-भविष्यकी सन्धि कैसे बनेगा? माने बीचमें वर्तमान होवे तब भूत-भविष्य अलग होंगे ना! और जब वर्तमान नहीं है, सन्धि नहीं है तो भूत-भविष्य भी नहीं है। और भूत-भविष्य नहीं है तो कालमें जरा भूतकी परिभाषा तो बताओ कि क्या होती है। तो—

न कछु हुआ न है कछु न कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है अपना रूप अपार॥

और, अब देशमें बताओ! आप एक लकीर खींच दो कहीं, मनसे खींच दो, धरतीपर खींच दो, और आकर कह दो कि यह पूर्व है, यह पश्चिम है; देखो अभी हम आपकी उस लकीरको काट देंगे। आप यहाँ यह पुस्तकके बीचमें जो जोड़ है न, इससे पूर्व और इससे पश्चिम बोलें, तो क्या होगा, आप जानते हैं? उस किनारेसे यह पश्चिम हो जायेगा, और इस किनारेसे यह पूर्व हो जायेगा। तो यह बीचवाला हिस्सा पूर्व है कि पश्चिम है? यह तो बिलकुल कल्पित विभाजक रेखा है। इसलिए भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों बिलकुल कल्पित विभाजक रेखासे सिद्ध होते हैं। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ये कल्पित विभाजक रेखासे बनते हैं। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें ये जो प्राणी हैं न, मनुष्य-पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष—ये मनसा कल्पित रेखासे विभाजित होते हैं। मनः कल्पनाके सिवाय इनकी कोई विभाजक रेखा नहीं है। देश, काल और वस्तु—यह तीन रूपसे प्रतीत होनेपर भी इनमें जो परब्रह्म परमात्मा है वह अविभक्त है।

विभक्तेष्वपि भूतेषु अविभक्तं।

अच्छा, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, यह उपलब्धि हो रही है और अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग हो रही है। लेकिन यदि

जिसको उपलब्धि हो रही है, उसको उपलभ्यमान दृश्यसे, करणसे, उपाधिसे अलग कर दिया जाये, तो वहाँ विभागका कोई हेतु नहीं है। अलग करना माने तिलमें-से चावल निकालनेकी तरह नहीं, यह जहाँ गड़बड़ी हुई है वहीं दूर करनी पड़ेगी। गड़बड़ी तो बुद्धिमें हुई है। अतः बुद्धिमें-से यह गड़बड़ी दूर करनी है। विभागकी सच्चाई जो बुद्धिमें बैठ गयी है, इसीको अध्यास बोलते हैं। अध्यास माने झूठका सच होकर बुद्धिमें बैठ जाना। जो चीज जैसी नहीं है वैसी बुद्धिमें मालूम पड़ना। तो एक अद्वितीय तत्त्वमें यह विभाग मालूम पड़ना क्या है? वास्तविकता क्या है, पारमार्थिक क्या है? कि—***भूतेषु यद् अविभक्तं तद् पारमार्थिकम्*** और ***यद् विभक्तं तत् वस्तुतो न विभक्तं विभक्तमिव स्थितम्। विभक्तम् इव स्थितम् प्रातीतिकं इत्यर्थ*** वह अलग अलग-सा स्थित है, वस्तुतः अलग अलग नहीं है।

एक बात तो यह बतायी कि क्षेत्रज्ञका जो ब्रह्मके रूपमें वर्णन किया, असलमें यहाँ यही अभिप्राय है कि आत्मा और ब्रह्म एक है। अब यह बात आयी कि वेदमें तो ऐसा वर्णन है कि जिससे सृष्टि हो सो परमात्मा, जिसमें स्थिति हो सो परमात्मा और जिसमें प्रलय हो सो परमात्मा। तो जिससे सृष्टि हो, जैसे कुम्हार घड़ा बना लेता है उसी प्रकार निमित्त कारण चैतन्य होता है और जिसमें स्थिति हो वह आधार होता है। जैसे घड़ेकी शकल गढ़ी कुम्हारने, परन्तु घड़ा स्थित कहाँ है? तो कहोगे धरतीपर, धरतीपर नहीं मिट्टीमें। घड़ेकी आकृतिका आधार धरती नहीं है, वही सेर भर मिट्टी है जिसमें घड़ा बना है। अच्छा-घड़ा फूटकर क्या होगा? बोले मिट्टी होगा—मिट्टी घड़ेका उपादान है। तो सृष्टि, स्थिति, प्रलय कहनेका अभिप्राय यह होता है कि यह जो नाम-रूपात्मक प्रपंच प्रतीत होता है, उसका निमित्त और उपादान कारण क्या है? हमारे बचपनमें जादूगर लोग आते थे, तो जादूका बखेड़ा दिखाते थे, विश्व प्रपंच। प्रपंच माने परपंच, बखेड़ा यह जादूका प्रपंच है। तो—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

देखो, वेदका मन्त्र क्या बोलता है? बोले—हजार घड़ेमें पानी रखा हुआ है और सबमें एक विवस्वान् (सूर्य) अलग-अलग प्रतिबिम्बित हो रहा

है। अलग-अलग घड़ेमें जल है और एक ही सूर्य सबमें प्रतिविम्बित हो रहा है। अलग-अलग पानी और अलग-अलग प्रतिविम्ब क्योंकि विवस्वान् ज्योतिरात्मा है। इसी प्रकार उपाधिभेदसे परमात्मा अलग-अलग मालूम पड़ता है। तो श्रुतिने वहाँ व्याख्या की—'क्षेत्रेष्वेवम् अजो अयं आत्मा' ये क्षेत्र शरीर जो अलग-अलग देखनेमें आते हैं, उनमें यह अजन्मा आत्मा एक दिखायी पड़ रहा है।

अब आप विचार करो कि श्रुतिने ब्रह्मको जगत्का कारण, जगत्का आधार और जगत्का उपादान, जगत् निर्माता, स्रष्टा बताया—कर्ता, भर्ता और हर्ता बताया—(कर्ता माने निमित्त कारण, भर्ता माने आधार और हर्ता माने उपादान कारण) तो यह क्यों बताया? क्या वास्तवमें परमात्मा सृष्टिको हाथादिसे बनाता है?

काहे की करनी काहे की भरनी?

काहे का ताना काहे का बाना?

क्या जैसे जुलाहा कपड़ा बुनता है वैसे ईश्वर यह सृष्टि बनाता है? और क्या जैसे कोई घड़ेमें पानी रखता है या सन्दूकमें जेवर रखता है, वैसे परमात्मामें यह सृष्टि रखी हुई है? और क्या जैसे घड़ा टूटकर मिट्टीमें लीन हो जाता है वैसे यह जगत् ब्रह्ममें लीन हो जाता है?

घड़ा मिट्टीमें लीन नहीं होता है भला! अध्यारोप ही है। वह तो मिट्टी ही है, मिट्टीमें लीन कहाँसे होगा? तब यह जगत्का निमित्त कारण, आधार और उपादान परमात्माको बताते क्यों हैं? बोले—परमात्माके प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीयताको सिद्ध करनेके लिए यह भी एक युक्ति है। समझानेकी एक युक्ति है।

तो अब यह युक्ति आपको कल सुनावेंगे।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।

यह बात बतायी कि ये जो अलग-अलग प्राणी दीखते हैं—वे, वे, वे, वे होंगे नहीं और हैं भी नहीं; कैसे? कि प्राणियोंको भूत कहनेका अभिप्राय यही होता है कि वे होंगे भी नहीं और हैं भी नहीं; केवल अनादि अविद्या, वासनाके कारण ही जिनकी प्रतीति होती है उनको भूत बोलते हैं। वे स्वप्नमें हुए हैं।

तो प्राणी अलग-अलग दिखते हैं, पंचभूत अलग-अलग दिखते हैं, कारणावस्था, कार्यावस्था पृथक्-पृथक् दिखती है तो विभक्ति प्रातीतिक है। यह अलगाव 'विभक्तम् इव' है। और परमार्थ क्या है? कि **अविभक्तं भूतेषु** अविभक्तं परमार्थ है। ऐसे भी कहो कि भूत व्यावहारिक है, विभक्तमिव प्रातिभासिक है और अविभक्तं पारमार्थिक है।

तो बोले—कोई जगत्से निराला ही ब्रह्म होगा। यह जो लोग तत्त्वको जगत्से निराला कर देते हैं, वे साधन कालमें विवेककी दृष्टिसे ठीक करते हैं। जो लोग ईश्वरको सातवें आसमानमें समझकर उसके लिए रोते हैं, व्याकुल होते हैं, वे भी ठीक करते हैं क्योंकि इससे उनकी जिज्ञासा बढ़ेगी। दृश्य प्रपंचसे परमात्माका विवेक करो तो तत्-पदार्थका शोधन होगा और आत्माको प्रपंचसे न्यारा करो तो त्वं पदार्थका शोधन होगा। लेकिन यदि अनुभूतिकी पराकाष्ठामें ईश्वर प्रपंचसे न्यारा रहे तो तुम्हारे स्वातन्त्र्यमें व्याघात हो जायेगा; क्योंकि जब प्रपंचाकार वृत्ति होगी तो कहोगे मर गये, दुनियामें कोई काम होगा तो कहोगे हाय-हाय, मर गये; कोई बढ़िया काम होगा तो अभिमानसे फूल उठोगे। पुण्यसे अभिमान हो जायेगा, पापसे ग्लानि हो जायेगी, स्वातन्त्र्यका व्याघात हो जायेगा। इसलिए प्रपंचको, द्वैतसत्ताको बीचमें बिलकुल नहीं रखना चाहिए, नहीं तो प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होगी।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं। कल किसीने हमसे पूछा था कि शब्द तो जड़ है, इससे चेतनका ज्ञान कैसे होगा? वेदान्त सम्प्रदाय बिलकुल स्पष्टम्—स्पष्टम् घोषणा करता है कि शब्दसे चैतन्यका प्रकाश नहीं होता। यह **अशब्दम्** है। अनन्त चैतन्यमें, अद्वय चैतन्यमें जो असंभावित अज्ञान है, जिस अज्ञानकी उपस्थिति किसी भी प्रकार सच्चिदानन्द घन प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें नहीं हो सकती, उस ब्रह्म तत्त्वमें जब 'अज्ञोऽहम्' ऐसी प्रतीति हो रही है, तो इस भ्रान्तिपर चोट पहुँचानेके लिए तत्त्वमस्यादिजन्य वृत्ति है और तत्त्वमस्यादि महावाक्य हैं; वे भ्रमकी निवृत्तिके लिए हैं, चैतन्यकी उत्पत्तिके लिए अथवा स्वतः सिद्ध ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए नहीं हैं। भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए, वृत्तिज्ञान तात्कालिक है। जैसे सुषुप्त पुरुषके लिए शब्दोच्चारण करके जाग्रत् करनेकी आवश्यकता है जाग्रत्, तो चैतन्यका स्वभाव है, आगन्तुक निद्राको दूर करनेके लिए ही शब्दकी अपेक्षा है; वैसे केवल भ्रमके

निवारणके लिए ही शब्दकी अपेक्षा है तत्त्वके लिए अथवा उसके प्रकाशके लिए, ज्ञानके लिए नहीं।

तो भूतभर्तृ इसलिए बताया कि यह जो तत्त्व है वह केवल प्रपंचसे न्यारा नहीं, वही भूतोंको धारण भी कर रहा है: **भूतभर्तृच तज्ज्ञेयं। भूतानि बिभर्ति इति भूतभर्तृ**— जैसे मनुष्यके भीतर मनुष्यत्व ही मनुष्यका धारण करनेवाला है, वैसे ही वही भूतोंको धारण कर रहा ह, भूतभर्तृ है। जिसके होनेसे प्रपंच सद्‌रूप भासता है, प्रकाश रूप भासता है, प्रिय रूप भासता है, जिसकी अस्ति, भाति, प्रियतासे प्रपंचमें अस्तिता, भातिता, प्रियता भासती है उसका नाम है भूतभर्तृ।

बोले—फिर भी वह न्यारा है, वह प्रपंचको आधार रूपसे या निमित्त कारण रूपसे प्रकाशित करता है। तो बोले—न, **ग्रसिष्णु** खा जाता है। और पैदा करने भी वही आता है **प्रभविष्णु**। तो देखो 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'—प्रभविष्णुतासे निमित्त कारणका और ग्रसिष्णुतासे उपादान कारणका और भूतभर्तृतासे आधारताका वर्णन करते हैं। माने वही सर्वाधिष्ठान है और उसमें प्रपंचकी उत्पत्ति और प्रपंचका प्रलय; जैसा जड़में होता है वैसा नहीं, जैसा चेतन में होता है वैसा, माने विवर्त रूप होता है। उस अद्वितीय परब्रह्म परमात्मामें यह प्रपंच विवर्तरूप है।

अलग-अलग चीजें दीखनेसे ही एक देखनेवालेकी सिद्धि होती है। जो लोग यह समझते हैं कि अद्वैतमें कुछ दिखता नहीं है, वे तो अद्वैतको अन्धा मानते हैं। अद्वैत अन्धा नहीं होता, अद्वैत द्वैतको देखता है, देशका द्वैत, कालका द्वैत, वस्तुका द्वैत, सबको देखता है। इसलिए अद्वैत देशसे भी परिच्छिन्न नहीं, कालसे भी परिच्छिन्न नहीं, वस्तुसे भी परिच्छिन्न नहीं; और अपरिच्छिन्न होनेके कारण वह परिच्छिन्न और परिच्छन्नके अभाव दोनोंका अधिष्ठान है। दोनोंका अधिष्ठान होनेसे अद्वितीय रूप है। तो जो लोग ऐसा समझते हैं कि अद्वैत ज्ञान होनेपर दुनिया दिखती नहीं, उनकी कल्पना अद्वैतके बारेमें बिलकुल गलत है। क्या दत्तात्रेयको यदु नहीं दिखते थे कि प्रह्लाद नहीं दिखते थे? क्या शुकदेवको राजा परीक्षित नहीं दिखते थे। क्या शंकराचार्यको द्वैतवादी नहीं दिखते थे? ऐसा नहीं है। तो फिर दुनियाका व्यवहार अद्वैतकी दृष्टिसे कैसा? ऐसा कि जो जिस कल्पनाके संस्कारसे

आक्रान्त है, वह उसके अनुसार ही व्यवहार कर रहा है, उसमें कोई अच्छा-बुरा नहीं है। यही अद्वैतका व्यवहार है कि कहीं न राग न द्वेष, सर्वत्र समता।

एक विचारकी शैली सुनाते हैं। चार्वाक कहते हैं कि विषय तो ठोस जड़ पदार्थ हैं, अतः सत्य हैं और उसके बारेमें कल्पना और कल्पना करनेवाला दोनों मिथ्या हैं। वे विषयको कल्प्य नहीं बोलते। भौतिकवादमें भी मिथ्यात्वके बिना काम नहीं चलता—उनके तो धर्म मिथ्या है, स्वर्ग मिथ्या है, वेद मिथ्या है, ईश्वर मिथ्या है, जीव मिथ्या है। भौतिकवादी अपने भौतिक तत्त्वको छोड़ करके सबको मिथ्या मानते हैं।

बौद्ध लोग कल्प्यको भी मिथ्या मानते हैं। माने कल्पना और कल्पकको तो मिथ्या मानते ही हैं, उनके मतमें पंचभूत भी मिथ्या हैं, अन्तःकरणादि भी मिथ्या हैं, जीव भी मिथ्या है, ईश्वरभी मिथ्या है। वे (कल्प्य विषय, उनकी कल्पना और उसका कल्पक)—तीनोंको मिथ्या मानते हैं।

जैन मतमें ठोस भूतोंको मिथ्या नहीं माना जाता और जीवको भी मिथ्या नहीं माना जाता, ये दोनों सच्चे हैं। जगतमें भी कुछ ध्रुव हैं और कुछ अध्रुव हैं—सत्य हैं। पर जीव और जगत्‌से अलग कोई ईश्वर नहीं है तो ईश्वर मिथ्या है। जैनमतमें ईश्वरकी कल्पना मिथ्या कल्पना है। तो चार्वाकके तो कम-से-कम एक सत्य है और जैनके दो सत्य हैं और बौद्धके तो न एक सत्य न दो सत्य, न तीन सत्य।

देखो, हम किसी भी सिद्धान्तका निरूण्ण, आक्षेप करनेके लिए नहीं करते हैं, न ऐसा उद्देश्य है। हम तो दर्शन शास्त्रमें जो विचारकी शैली है, वह आपको सुनाते हैं।

अब देखो, मीमांसा दर्शन—यह जीव, जगत्, ईश्वर तीनोंको सत्य मानता है, अतः बौद्धोंके साथ भिड़ गये। पूर्वमीमांसा, न्याय और वैशेषिक—तीनों भिड़ गये बौद्धोंसे, कि यह तुम्हारा शून्यवाद व्यर्थ है। इनके अनुसार यह जितनी सृष्टि दिखायी पड़ती है, त्रसरेणुओंसे, अणुओंसे, परमाणुओंसे बनी हुई है और जीव कर्मका कर्ता है तथा फलका भोक्ता है और ईश्वर सृष्टिका कर्ता है और फलका दाता है।

योग और सांख्य कहते हैं कि दो ही सत्य रखो, आत्मा कर्ता-भोक्ता

नहीं है। कर्ता, भोक्ता होवे, तो व्यष्टिका कर्ता, समष्टिका कर्ता, ऐसा भेद होगा, लेकिन चूँकि वह तो साक्षी मात्र ही है, इसलिए उसमें जीव-ईश्वरका तो भेद नहीं है, वही जो नित्य-मुक्त द्रष्टा है उसको ईश्वर बोलते हैं और जो अविवेक-युक्त द्रष्टा है उसको जीव बोलते हैं।

और पूर्व मीमांसाका कहना है कि जीव है और जगत् है और दोनों अनादि हैं यह शून्यसे या चित्तसे या प्रकृतिसे या परमाणुसे पैदा नहीं हुए हैं, धातुएँ सब मौलिक हैं और कर्मानुसार इनमें परिणाम होता है। सोना अनादि है और उसमें जेवर जैसे सुनारने बनाया है, ऐसे यह सृष्टिका जो मूलतत्त्व है, अनादि है वह कर्मानुसार ऐसे बनता-बिगड़ता रहता है— ***न कदाचिद् अनीदृशं जगत्।***

अब लो वेदान्तकी बात सुनाते हैं, आप वेदान्तका नाम सुनकर केवल अद्वैत ही मत समझना; वेदान्तमें भी कई प्रस्थान हैं—द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत विशिष्टाद्वैत, विशुद्धाद्वैत; माने वेदान्त दर्शनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकारसे है। उसका जरा पिण्डीकृत अर्थ मैं सुना देता हूँ।

शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर—ये जितने वैष्णव हैं और रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क ये सब तीनोंको (जीव, जगत् और ईश्वरको) एकीकृत रूपमें सत्य मानते हैं। एकीकृत माने केवल अकेला ईश्वर ही जीव भी बन गया है और जगत् भी बन गया है। सबका अन्तःकरण भी वही बन गया है और संसार भी वही बना है। तो 'बना है' की भाषामें भेद है। 'बना है' का अर्थ बतानेके लिए ये विशेषण अपने विशिष्टमें लीन रहते हैं और प्रकट होते हैं—यह रामानुजाचार्यकी भाषा है। कारणावस्थामें अद्वैत और कार्यावस्थामें द्वैत—यह निम्बार्काचार्यकी भाषा है। भगवत्संकल्पमें ही सब स्थित हैं—यह श्रीवल्लभाचार्यजीकी भाषा है, विशुद्धाद्वैतकी भाषा है। इस तरहसे भिन्न-भिन्न मानते हैं माने तीनों एक एकीकृत तीन। जड़ जगत्, जीव और परमेश्वर तीनों एक और एक परमेश्वर ही तीनों।

अद्वैत वेदान्तियोंने इसपर खूब आक्षेप किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर बनता है तो वह बदलता भी है। तो तुम लोग सब परिणामवादी हो! जैसे सांख्यने प्रकृतिमें परिणाम माना है, वैसे तुम लोग ईश्वरमें परिणाम मानते हो और यदि ईश्वरमें परिणाम मानते हो तो ईश्वर टूट-फूट जायेगा, कभी कुछ,

कभी कुछ, कभी कुछ। *नित्यं च परिणामी च इति विप्रतिसिद्धमेतत्।* ईश्वर नित्य होवे और जगत् जीवके रूपमें बनता-बिगड़ता भी होवे, यह बात ईश्वरके लिए नहीं चलती। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इस आक्षेपको ठीक-ठीक ध्यानमें रखकर अपने दर्शनका नाम अविकृत-परिणामवाद रखा। वे कहते हैं कि ईश्वरमें विकार तो हुआ नहीं, पर परिणाम हो गया। इसके लिए दृष्टान्त? अविकृत परिणामका दृष्टान्त तो रज्जु सर्प ही होता है, पर उसको तो अद्वैत वेदान्ती विवर्त बोलते हैं। सोना और जेवरके दृष्टान्तमें भी विवर्त है, क्योंकि सोनेमें कोई फर्क नहीं पड़ा, धातु तो ज्यों-की-त्यों और आकृति गढ़नेके लिए देश नहीं है और काल नहीं है। पर उसमें जेवरकी आकृति गढ़ जाती है। परमात्मामें यदि आकृति, एक देशमें बने और एक देशमें न बने, तो देश-भेद परमात्मामें रहेगा और एक बार बने और एक बार न बने, तो कालभेद परमात्मामें रहेगा और यह देश-काल भी यदि संकल्प ही है तो परमात्मासे भिन्न कहाँ देश, कहाँ काल, कहाँ वस्तु? तो परमात्मामें जगत् विवर्त ही हुआ। बोले—नहीं। उन्होंने इसके लिए दृष्टान्त भी दिया अलौकिक। बोले—देखो, सोना, मिट्टी—ये सब लौकिक दृष्टान्त हैं, ईश्वरके बारेमें लौकिक दृष्टान्त ठीक नहीं है, इसके लिए दृष्टान्त भी अलौकिक चाहिए। अलौकिक क्या है? बोले—चिन्तामणि। जैसे चिन्तामणिसे किसीने कहा—कि हमको एक टन सोना दे दो। तो चिन्तामणि है तो छोटी-सी, पर उसमें-से एक टन सोना आ जाता है। तो अब यह बताओ कि वह जो सोना है वह चिन्तामणिका विवर्त है कि परिणाम है? चिन्तामणि ज्यों-की-त्यों, उसमें न कुछ बना, न बिगड़ा और एक टन सोना दे दिया। यही है अविकृत परिणाम।

अद्वैतियोंने कहा कि यह चिन्तामणिका दृष्टान्त बिलकुल पौराणिक है। हम अनुसंधान करने भी चलें और जो चिन्तामणि कभी देखी नहीं गयी, जो कामधेनु कभी देखी नहीं गयी, जो कल्पवृक्ष कभी देखा नहीं गया, जो केवल पुराणोंमें वर्णित और श्रद्धासे, विश्वाससे माने जाते हैं उस चिन्तामणिवत् ईश्वरसे यह सृष्टि एक टन सोनेके भारकी तरह निकल आती है, ऐसा मान लें, तो वह ईश्वर श्रद्धा, भक्ति, विश्वासका तो भाजन है, उसपर विश्वास करके उसकी भक्ति की जा सकती है—भक्ति सिद्धान्तमें ऐसा ईश्वर

मानना ठीक है—लेकिन दर्शन शास्त्रमें जहाँ बालकी खाल निकालते हैं, विचार्य विषयकी बखिया उधेड़कर रख देते हैं, वहाँ यह नहीं चलेगा।

तो अद्वैत सिद्धान्तमें परमेश्वरका निरूपण करनेके लिए क्या रीति है, वह आपको बताते हैं—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

अच्छा, सृष्टिके बारेमें आपको जितनी कल्पना होती है, आप उसको मन-बुद्धिसे ही तो जानेंगे न, कि बिना मन-बुद्धिके जानेंगे? कुछ इन्द्रियोंसे जानेंगे, कुछ मनसे जानेंगे, कुछ बुद्धिसे जानेंगे, लेकिन इन्द्रियोंसे भी जो चीज जानी जाती है, वह भीतर ही तो जानी जाती है ना! तो देखो, इसपर पूर्वपक्षकी एक बात सुनाते हैं कि भले भीतर जानी जाती हो, लेकिन बाहर रहती है और इन्द्रियोंके द्वारा भीतर जाती है, तब न जानी जाती है! अगर बाहर ठोस न होती, सच्ची न होती तो इन्द्रियोंसे भीतर जाती कैसे और जानी जाती कैसे?

अब वेदान्तका उत्तर देखो। वेदान्त कहता है कि केवल चीज ही बाहर हो और उसका प्रतिविम्ब भीतर जाता हो—ऐसा हम नहीं कहते हैं। हमारा कहना यह है कि यह जो चामके बाहर-बाहर है, और चामके भीतर-भीतर है, यह बाहर-भीतर भी कल्पनामें ही है। यदि बाहरसे विषयका प्रतिविम्ब भीतर जाता है और हम अन्तःकरणमें बैठे-बैठे उसको ग्रहण करते हैं, तब तो यह सारी दुनियाका बोझ हमारे सिरपर ही पड़ता है! पड़ता इसलिए है कि हम अपनेको शरीरमें बैठा हुआ एक जुगनू मानते हैं, एक ज्योतिका टुकड़ा मानते हैं, एक दीयेकी लौ मानते हैं और सारी दुनियाका बोझ अपने ऊपर उठा लेते हैं। देखो, हम आदमियोंको सामने बैठे देखते हैं, ये आँखके रास्ते भीतर प्रतिविम्बित होते हैं, तब मालूम पड़ता है, कल्पना होती है कि आदमी बैठे हुए हैं! और हमारे भीतर जैसे वेदान्तार्थकी कल्पना है और श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका स्मरण है उसको जब हम वाणीसे बोलते हैं तो बाहर जाता है। तो हम कल्पनाको इतनी छोटी करके नहीं बोलते हैं कि भीतर बैठी हुई कल्पना बाहर आ गयी और बाहर होनेवाली कल्पना भीतर आ गयी। हम ऐसे मानते हैं कि यह बाहर-भीतर रूप जो देश है वह हमारी

कल्पनामें है। माने देशसे कल्पना बड़ी है। तुम जो अपनेको इस शरीरमें बैठा हुआ मान करके, सम्पूर्ण विश्व सृष्टिकी असलियतकी परीक्षा कर रहे हो, वह गलत है।

पूर्वपक्ष—अच्छा भाई, पहले हमारे मनमें बम्बई आयी, फिर दिल्ली आ गयी और फिर कलकत्ता आ गया। तो पहले बम्बई, फिर दिल्ली, फिर कलकत्ता—यह तीन काल हो गया न? यह देखो, तर्जनी उँगली उठायी तो प्रथम क्षण हुआ; और यह मध्यमा उठायी तो द्वितीय क्षण, यह अनामिका उठायी तो तृतीय क्षण और यह कनिष्ठिका उठायी तो चतुर्थ क्षण—यह चार क्षण हो गया। तो सारी कल्पनाएँ पहले और पीछे क्रम-क्रमसे आती रहती हैं। तो ये क्रम-क्रमसे आनेवाली कल्पनाएँतो कालके पेटमें हैं न!

उत्तरपक्ष—बोले कि नहीं, हम कल्पना उसको नहीं कहते हैं, जो कालके पेटमें आती है, हम कल्पना उसको कहते हैं कि जो प्रथम क्षण, द्वितीय क्षण, तृतीय क्षण, चतुर्थ क्षणकी कल्पना करती है। माने कालके सारे अवयव जिसमें कल्पित हैं, वह कल्पना है; और देशके सारे अवयव जिसमें कल्पित हैं, वह कल्पना है; और हमारा-तुम्हारा-इनका-उनका, सारे पंचभूतोंका शरीर जिसमें कल्पित है वह कल्पना है, तो जरा कल्पनाका निषेध करो, बस!

देखो, सत्यको जाननेकी पद्धति यह है कि देश-काल वस्तुकी कल्पनाका निषेध करो। निषेधका अर्थ यह नहीं कि कल्पनाको मिटा देना; नहीं तो लोग इञ्जेक्शन लगवाकर कल्पना मिटाने लगेंगे या भाँग पीकर कल्पना मिटावेंगे या नशा करके कल्पना मिटावेंगे। कल्पनाके निषेधका अर्थ यह नहीं है कि अन्त:करणकी फुरफराहट बन्द हो जाये, वह तो बेहोशी है, मूर्च्छा है, सुषुप्ति है। यह कल्पना तो उठती रहे पर कल्पनाके आश्रयको समझो। परिच्छिन्नकी कल्पना, परिच्छिन्नके अभावकी कल्पना—परिच्छिन्न देश, परिच्छिन्न काल, परिच्छिन्न वस्तुके भावाभावकी जो कल्पना है, उस कल्पनाका मैं साक्षी हूँ।

अभी जरा ध्यान देने लायक बात है : बोले—फिर भी मैं भीतर हूँ, भीतर बैठकर साक्षी हूँ। तो कहते हैं—देखो, जब ऐसा मौका आता है, तब फकीर लोग गाली देने लगते हैं—अरे इतनी देर तो तुमको यह समझाया कि

बाहर और भीतर, पहले और पीछे, ये दोनों जिस कल्पनाके पेटमें हैं उस कल्पनाके तुम साक्षी हो, जिसमें जीव और ईश्वर, समष्टि और व्यष्टि, देश और काल, जिसमें ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं भीतर बैठकर देख रहा हूँ, अपनेको भीतर बैठा रहे हो, अपनेको भीतर बैठनेकी कल्पना भी कल्पना ही है, तो तुम इस कल्पनाके साक्षी हो, यह कल्पना फुरे कि नहीं फुरे, साक्षीका कुछ नहीं बिगड़ता; कल्पना कभी फुरती है, कभी नहीं फुरती है। भावकाल, कल्पनाका विस्तार काल और संक्षिप्त काल; कल्पनाका स्फुरणात्मक काल और अस्फुरण काल—बिलकुल कल्पना मिटानेकी जरूरत नहीं है—इस कल्पनामें जो कल्पनाका विषय है वह तो कल्पित है ही! और कल्पना-कल्पिताकार जो वृत्ति है सो? उसमें तो आकार ही कल्पितसे आया हुआ है। कल्पितका कल्पित देश, कल्पित काल, कल्पित वस्तुका जो आकार आया, वह आकार तो मिथ्या है ही! तो जो वृत्तिके बाहर आकार मालूम पड़ता है, सो भी मिथ्या और जो वृत्तिके भीतर आकार मालूम पड़ता है, सो भी मिथ्या है। अब उस मिथ्यात्वका कर दो अपवाद, माने न वृत्तिके बाहर कोई आकार है, न वृत्तिके भीतर कोई आकार है। यह सब कल्पना ही करती है।

देखना, इस कल्पनामें अकल्पित क्या है? जो जीव ईश्वर जगत् मालूम पड़ते हैं, वे कल्पनाके शयनमें सुषुप्त और कल्पनाके जागरणमें जाग्रत् हो जाते हैं। और जब हम विचार करते हैं कि कल्पनामें अकल्प्य क्या है, तो निश्चित रूपसे जानो इस कल्पनामें अकल्पित अगर कुछ है तो तुम हो। क्योंकि न तुम कल्पनाके बाहर हो और न तो कल्पनाके पेटमें हो; क्योंकि कल्पनामें भी बाहर और भीतर नहीं है। जब कल्पनामें भी बाहर और भीतर नहीं है, तो यह जो कल्पनाका साक्षी है यह कौन है? तो पहले कल्पित होनेका भ्रम छोड़ दो। यदि अपनेको कल्पना मानोगे, तो कालके पेटमें रहना पड़ेगा; और अपनेको कल्पित मानोगे, कल्पनाका विषय अपनेको मानोगे, तो देशके पेटमें जड़ होकर रहना पड़ेगा; और कल्पनामें फुरनेवाले आकार अपनेको मानोगे, तो क्षणिक होकर तुम्हें मर जाना पड़ेगा, माने तुम शून्य हो जाओगे, क्षणिक विज्ञान हो जाओगे, अरे, यह क्षणिक विज्ञानका भी जो साक्षी है, शून्यका भी जो साक्षी है—शून्य भी कल्पना है—यह अपना आपा ही केवल अकल्पित है। इतनेमें भी मालूम पड़े कि नहीं, मैं भीतर रहकर

अकल्पित हूँ और बाहर सब कल्पित है और मैं शान्तिकालमें अकल्पित हूँ और विक्षेप कालमें कल्पित हूँ, तो अभी सत्संगकी बड़ी जरूरत समझना। हाँ, यह रोज-रोज अपनेको नित्य सिद्ध मानना और बिगाड़ना नहीं होता है! यदि रोज सिद्ध होते हैं और रोज बिगड़ते हैं तो नित्य सिद्ध माने प्रतिदिन सिद्ध, प्रतिक्षण सिद्ध हो गया न! तो श्रुति यह बात चाहती है कि कल्पितके साथ तुम्हारा तादात्म्य न रहे। अकल्पितको जब तुमने कालमें जोड़ा तो श्रुतिने कहा—तुम अविनाशी हो, सत्य हो; और जब अकल्पित अपने आपको तुमने देशमें जोड़ा तो श्रुतिने कहा तुम परिपूर्ण हो, नित्य हो!

नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः॥ (गीता)

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः। (श्रुति)

श्रुति कहती है कि तुम आकाशवत् सर्वगत हो—माने देश परिच्छेदकी जो कल्पना है—कल्पनामें आनेवाला, कल्पनामें होनेवाला जो पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-बाहर-भीतर, कल्पनाके पेटमें है—उसके साथ जब अपने मैं को तुमने जोड़ा, तो श्रुतिने कहा—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।

और जब तुमने कालके साथ जोड़ा, तो श्रुतिने कहा—***अविनाशी वा अरे अयं आत्मा।*** यह आत्मा अविनाशी है। और जब तुमने पदार्थके साथ, दृश्य वस्तुके साथ अपनेको जोड़ा कि मैं शरीर हूँ, मैं सेन्द्रिय हूँ, मैं अन्त:करणवाला हूँ, मैं अहंकार हूँ, मैं जीव हूँ, तो श्रुतिने कहा—

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ।

कल्पितका अपवाद कर देनेके बाद ज्ञानमें, बुद्धिमें, विचारमें जो अकल्पित है, तुम कहते हो कि उसमें स्थिति नहीं होती? तो अभी तुमसे न्यारा है वह, अभी वह परोक्ष, तुम स्थूल हो, वह सूक्ष्म है। तुम्हारी यह शिकायत है कि तुम्हारी उसमें स्थिति नहीं होती, तो इसका अर्थ हुआ कि तुम स्थूल हो और वह सूक्ष्म है, तुमने अपनेको अकल्पित कल्पना—शून्यके रूपमें नहीं जाना है। यदि तुम कहते हो कि हम बाहर हैं, वह भीतर है, तो तुमने अपनेको अकल्पित रूपमें नहीं जाना, माने कल्पनाका निषेध नहीं हुआ। अकल्पित रूपमें जानना माने केवल कल्पनाका नेति-नेतिके द्वारा अपवाद करना।

अच्छा यदि तुम ऐसा समझते हो कि अभी तो हम ब्रह्म हैं पर पता नहीं आगे ब्रह्म रहेंगे कि नहीं रहेंगे, पता नहीं यह स्थिति आगे रहेगी कि नहीं रहेगी, तो यह स्थिति नहीं रहेगी, तब भी तुम ब्रह्म ही रहोगे, तब भी तुम जीव नहीं हो सकते। तो अपने सिवाय दूसरा कोई सत्य है, दूसरा कोई जीव, दूसरा कोई जगत्, दूसरा कोई निर्माता, दूसरा कोई आधार सत्य है—यह भ्रान्त कल्पना है और तुमने इस कल्पनाका अपवाद नहीं किया, इसीलिए भय है, शंका है। कल्पनाका अपवाद होता है **नेति-नेति** से—यह नहीं, यह नहीं। यह कल्पनाका अपवाद होनेपर जो रहता है वह ब्रह्म है, वही तुम हो। ब्रह्म बननेके लिए तुमसे नहीं कहा जाता, तुम ब्रह्म नहीं बनना कभी, जो बनेगा सो बिगड़ेगा। वह तो श्रुति यथार्थ सत्यका निरूपण करती है कि कल्पनाका अपवाद करनेपर, परिच्छिन्न और परिच्छिन्नाभावके अधिष्ठान साक्षीके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं होती, यह बात स्वत:सिद्धका अनुवाद है। श्रुतिमें ब्रह्मताका विधान नहीं है, ब्रह्मताका अनुवाद है। जैसे मान लो तुम अपनेको ब्राह्मण मानकर शूद्रका तिरस्कार कर रहे हो, उस समय किसीने कहा कि तुम मनुष्य हो, यह क्या अपनेको ब्राह्मण मानकर शूद्रका तिरस्कार करते हो? तो उसने तुमको मनुष्य कहा, तो मनुष्य बनाया नहीं, तुम अपनी मनुष्यता भूल करके ब्राह्मणत्वके अभिनिवेशमें जो शूद्रका तिरस्कार कर रहे थे, उसका केवल निराकरण मात्र किया। तो ब्रह्मता विधेय नहीं है, शास्त्र नहीं है, ब्रह्मता शासन नहीं है, ब्रह्मता शंसन है। वेदान्तका यह सिद्धान्त समझने योग्य है कि आत्मा ब्रह्मरूप है, यह बात जो कही जाती है, वह शासन नहीं, शंसन है। शंसन है माने यथार्थका निरूपण है।

अच्छा, तुम्हारे भीतर कल्पना है, कि कल्पनाके भीतर तुम हो? बोले— देखो, फिर बाहर-भीतर लगाया न, कल्पनाके भीतर हम, कि हमारे भीतर कल्पना? अच्छा महाराज, संसारके पहले हम थे कि हमसे पहले संसार था? अरे मेरे बाप, कालकी कल्पनामें तुम स्वयं मृत्युका वरण कर रहे हो, तुमसे पहले संसार, कि संसारसे पहले तुम? यह पहले और पीछे इसलिए लग रहा है कि तुम कालकी कल्पनाका तिरस्कार नहीं कर पाते। हमारे भीतर ईश्वर, कि ईश्वरके भीतर हम? जगत्के भीतर ईश्वर, कि ईश्वरके भीतर जगत्? नारायण! यह सब ध्यान करनेके लिए, उपासना करनेके लिए,

भाव बनानेके लिए ऐसे बोलते हैं। न ईश्वरमें जगत्, न जगत्में ईश्वर है, यह तो एक अखण्ड सत्य है। जब ईश्वरमें कोई छेद हो, तो उसमें जगत् घुसे और ईश्वर कोई कीड़ेकी तरह हो तो जगत्में घुस जाये। न जगत्में ईश्वर घुसता है, न ईश्वरमें जगत् घुसता है, और न ईश्वरमें जगत् पैदा होता है, न जगत्में ईश्वर पैदा होता है, न ईश्वर और जगत् दोनों आपसमें मित्र हैं, न आपसमें शत्रु हैं। यह सब एक ज्ञानस्वरूप है।

एक सज्जनने कहा कि शब्द तो जड़ है, उससे ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा? अच्छा हम मान लेते हैं कि शब्दसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। तब वृत्तिसे ज्ञान उत्पन्न होगा, अरे, तो क्या तुम्हारे यहाँ वृत्ति जड़ नहीं है? जड़ता चेतनताकी क्या परिभाषा है? वृत्ति जड़ नहीं है क्या? वृत्ति जब दृश्य है और आत्मसत्तासे ही सिद्ध होती है तो वह भी तो जड़ ही है। अरे, घटाकार वृत्ति तो जड़ है ही, पटाकार वृत्ति तो जड़ है ही, ब्रह्माकार वृत्ति भी जड़ है! उसमें साक्षी चेतन और अधिष्ठान तो चेतन एक है, परन्तु ब्रह्माकार वृत्ति जड़ है। इसलिए ब्रह्माकार वृत्ति भी ब्रह्मको ज्ञेयके रूपमें दिखाती नहीं, उसमें फल-व्याप्ति नहीं होती, केवल वृत्ति-व्याप्ति होती है— माने केवल अन्धकारकी निवृत्ति होती है, प्रकाशका प्रकाश नहीं होता। बल्ब जल रहा हो और किसी चीजसे ढका हो, तो केवल ढक्कन हटाना पड़ता है, बल्बको जलाना नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह जो भ्रान्तिकृत परिच्छिन्नमें अहंभाव है, इस भ्रान्तिको हटाता है, महावाक्य शब्द भी भ्रान्तिको हटाता है, वृत्ति भी भ्रान्तिको हटाती है और विद्या भी भ्रान्तिको हटाती है। अच्छा, समाधि जड़ है कि चेतन? जब समाधि बनती है और बिगड़ती है, आती है और जाती है और समाधि भी द्रष्टाका विषय ही है, तो समाधि भी तो जड़ ही है। वृत्ति भी पैदा होती है और नष्ट होती है और थोड़ी देर रहती है इसलिए चाहे ब्रह्माकार वृत्ति हो, घटाकार वृत्ति हो, वह तो जड़ ही होगी।

तो बोले—कि नहीं जी, इन लोगोंसे तो ज्ञान होनेवाला नहीं है, अब मैं चेतन ज्ञान करूँगा! जब चेतन ज्ञान करेगा तब ब्रह्म होंगे। अच्छा, आपसे यह पूछते हैं कि जब चेतन करेगा ज्ञान, जब चेतन ज्ञानका कर्ता होगा, तो चेतन चेतन रहेगा कि वह जड़की परिभाषामें चला जायेगा? कर्तृत्व आते ही वह जड़की परिभाषामें चला गया। अच्छा, चेतनका कोई विरोधी है कि वह

अविद्याकी निवृत्ति करे ? चेतन तो सबका प्रकाशक है, वह विरोधी नहीं है, चेतन तो सबका अधिष्ठान है, विरोधी नहीं है। तो अज्ञानको चेतन निवृत्त नहीं करता है, अगर किसीको यह भ्रम हो कि चेतन निवृत्त करता है, तो वह तो स्वयं प्रकाश है, अविरोधी है, सर्वावभासक है। अविद्याकालमें अविद्याको प्रकाशित कर रहा है और जिस क्षणमें विद्या उदित होती है उस क्षणमें विद्याको प्रकाशित करता है और जब विद्या बाधित हो जाती है तो विद्याके बाधको भी प्रकाशित करता है। तो यदि चेतनको चेतनका ज्ञान होवे, ऐसे समझ लो कि हमने दावा किया कि हमको ब्रह्मका ज्ञान हो गया, तो हम माने चेतन और ब्रह्म माने चेतन, चेतनको चेतनका ज्ञान हो गया; तो जिस चेतनको ज्ञान हुआ और जिस चेतनका ज्ञान हुआ, वे दोनों एक ही हैं कि दो हैं ? यह वेदान्तका तर्क है, इसका मजा लो। यदि एक ही हैं, तो अपनेको ही अपनेका ज्ञान हुआ, माने हम अपने ही कन्धेपर चढ़ बैठे। इसको कर्तृकर्म विरोध बोलते हैं। ज्ञान हम स्वयं हैं, हम ज्ञानके विषय तो नहीं हैं, हम साक्षीभास्य नहीं हैं। हम स्वयं चेतन हैं, हम चेतनके विषय नहीं हैं। इसलिए चेतनको स्वरूपभूत चेतनका ज्ञान नहीं होगा। 'यह आत्माश्रय दोष है'। अच्छा, अब कहो कि एक चेतनको दूसरे चेतनका ज्ञान होता है, तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा, उस चेतनको उस चेतनका ज्ञान, उस चेतनको उस चेतनका ज्ञान! सापेक्ष ज्ञान हो गया—यह ज्ञान नहीं है, जिन दोनोंको तुम चेतन बोल रहे हो, एक ज्ञाता चेतन और एक ज्ञेय चेतन, ये दोनों चेतन नहीं हैं, ये दोनों जड़ हैं, इन दोनोंका जो प्रकाशक है सो चेतन है। तो स्वयंका ज्ञान स्वयंको नहीं हो सकता और दूसरे चेतनका ज्ञान चेतनको नहीं हो सकता। अच्छा; तीन चेतन मान लो भाई! आपसमें पतिको पत्नीका ज्ञान हुआ, पत्नीको बच्चेका ज्ञान हुआ, बच्चेको बापका ज्ञान हुआ। तो चेतन जो तुम तीन बताते हो, उनमें कौन बाप, कौन पत्नी, कौन बेटा ? जरा उनका लक्षण तो बताओ। इसको चक्रिकापत्ति दोष बोलते हैं। अच्छा, चार चेतन मान लो। तो इसको अनवस्था बोलते हैं। और यह बोलो कि मैं स्वयंको नहीं जानता, तो यह वदतोव्याघात है। तुम बोल भी रहे हो, बता भी रहे हो और कह रहे हो कि हम अपनेको नहीं जानते, तो यह वदतोव्याघात है। वेदान्तमें तर्क इस प्रकारका होता है।

आपको मैं क्या बताऊँ? मूर्खताकी पराकाष्ठा बताता हूँ। मूर्खताकी पराकाष्ठा क्या है? बिना सोचे, बिना विचारे, मैं अज्ञानी हूँ, यह माना गया है। किस प्रमाणसे तुमने माना है कि मैं अज्ञ हूँ। अच्छा, यदि तुम अज्ञ हो तो अपनी अज्ञताको जानते कैसे हो? यदि तुम अपनी अज्ञताको जानते हो तो तुम अज्ञ नहीं हो। **अज्ञोऽहमस्मि**—मैं अज्ञ हूँ, यह जो वृत्ति अन्तःकरणमें उदय होती है, इसके तुम ज्ञानी हो कि तुम अज्ञानी हो। तो मैं अज्ञ हूँ-यह होती है एक वृत्ति और इसको जाननेवाले तुम हो। इसका मतलब यह होता है कि तुम अज्ञ नहीं हो क्योंकि जो जिसको जानता है वह उससे पृथक् होता है। तुम अज्ञ नहीं हो, अज्ञके द्रष्टा हो।

तो तुमने अपनेको अज्ञ कैसे माना है? किस प्रमाणसे अज्ञानी माना है? बोले—प्रत्यक्ष प्रमाणसे माना है। तो तुमने क्या आँखसे अज्ञता देखी है? तो फिर अनुमान प्रमाणसे अज्ञता मानी है? अज्ञताको अपने ऊपर आरोपित किया? आप देख लेना, यह बात हम कह रहे हैं कि अपनेमें जो अज्ञता है, वह प्रमाण सिद्ध नहीं है, अविचार सिद्ध है, वह मौर्ख्य सिद्ध है। जैसे साक्षीमें सुषुप्तिका आरोप किसी प्रकार नहीं हो सकता, वैसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें अज्ञानका आरोप किसी प्रकार नहीं हो सकता। एक असम्भव कल्पना जो तुमने यह कर ली कि मैं अज्ञ हूँ, इसपर नहले पर दहला कोई मारे कि यह झूठी कल्पना है, बिना प्रमाणकी कल्पना है, अज्ञानकृत अज्ञताकी कल्पना है। यह झूठी कल्पना सत्यसे नहीं निवृत्त होगी भला! यह अकल्पितसे नहीं निवृत्त होगी, यह इसकी प्रतिभा दूसरी झूठी कल्पनासे निवृत्त होगी; क्योंकि कल्पितका प्रतिद्वन्द्वी कल्पित होता है। चूँकि अज्ञानकी कल्पना तुमने कर ली है, अतः ज्ञानकी कल्पना करानी पड़ेगी। बोले—ज्ञानकी कल्पना खुद ही कर लेंगे! किस बलपर यह ज्ञान-कल्पना करोगे, किस बूतेपर करोगे? अबतक तो अज्ञानकी कल्पना करते रहे कि मैं अज्ञ हूँ, ईश्वर भी आकर तुम्हें यह कल्पना करावे कि तुम अज्ञ नहीं हो, तो तुम्हारे मनमें फिर यह शंका उठेगी कि कहीं यह भी तो मेरी कल्पनासे नहीं आया था, यह भी मेरी कल्पना ही तो नहीं है! इसके लिए सिवाय इसके दूसरा कोई चारा नहीं है कि कल्पना मात्रका तिरस्कार कर देनेपर जो अपना अकल्पित स्वरूप शेष रह जाता है, इस अकल्पित स्वरूपको देश-काल और

वस्तुकी कल्पनासे विनिर्मुक्त अद्वितीय सत्यके रूपमें जाना जाये। इसके सिवाय दूसरी कोई युक्ति नहीं है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

देखो, आप इसमें बुरा नहीं मानना। हमारे पास कोई आकर कहता है कि महाराज, हमारे बेटा नहीं है और हम चाहते हैं, तो हम उसको बता देते हैं कि सन्तान गोपालमंत्रका जप करो—*'देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहम् शरणं गतः।'* और यदि कोई आकर कहता है कि महाराज हम बड़े दुःखी हैं, तो हम बता देते हैं कि *'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने। प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥'* इस मंत्रका रोज जप किया करो। यदि कोई आकरके पूछे— महाराज, हमारा मन एकाग्र कैसे हो, समाधि कैसे लगे, तो हम दस उपाय अभी उसको बता सकते हैं कि ऐसे आसन करना, ऐसे प्राणायाम करना, अपनी आँखको ऐसे रखना, अपना ध्यान, अमुक जगह जमाना, एक मिनटमें चित्त एकाग्र हो जायेगा। आप केवल बैठो, जोर नहीं लगाना और आँखकी पुतली हिलने न पावे, बस इतना ही ख्याल रखो। आप देखोगे आपके मनमें कोई बात नहीं आवेगी, एकाग्र हो जायेगा मन। लेकिन जब आप समाधि लगानेकी बात पूछोगे तब समाधिकी बात बतावेंगे। अच्छा, कोई कहे कि हमको रामका दर्शन हो जाये,तो हम रामके दर्शनका उपाय बतावेंगे, ध्यान बतावेंगे। तुम जो चाहते हो सो ही बतायेंगे! और यदि आप तीर्थंकर बनना चाहो, तो हम तीर्थंकर बननेका भी उपाय बतावेंगे। शुद्ध अन्तःकरण कैसे हो, उज्ज्वल, सम्यक्-चारित्र्य, सम्यक् संकल्प, सम्यक् समाधि कैसे हो, यह बतावेंगे। यदि आपको बौद्ध सत्यका साक्षात्कार करना हो तो केवल निर्वासनता मात्रसे ही बौद्ध सत्यका साक्षात्कार हो जायेगा। समाधि लगाओगे तो आप द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे। बात यह है कि आप समाधि चाहते हो तो योग करो, राम, कृष्ण, शिवका दर्शन चाहते हो, तो भगवद्भक्ति करो, उपासना करो। आप यदि तीर्थंकर होना चाहते हो तो एक जन्ममें नहीं, दस जन्ममें आप सम्यक् चारित्र्यकी उपासना करो, हो जाओगे, समय लगेगा; और बौद्ध सत्यका साक्षात्कार करना चाहो तो निर्वासन हो जाओ, निस्संकल्प हो जाओ। देखोगे कि सब क्षणिक है, क्षणिकं क्षणिकंका साक्षात्कार हो जायेगा। लेकिन, यदि आप वेदान्तके सत्यका साक्षात्कार

करना चाहते हो, आत्मा और ब्रह्मका एकत्व ही यदि आपकी जिज्ञासाका विषय है, यदि सचमुच आप आत्माको ब्रह्मरूपमें जाना चाहते हो तो योगाभ्यास उसका बहिरंग साधन है, उपासना उसका बहिरंग साधन है, निर्वासनता उसमें वैराग्य है और तीर्थंकरता उसमें अन्तःकरणकी शुद्धि है। यदि आप अपने आत्माको ब्रह्मके रूपमें जानना चाहते हो तो जिसके तुम द्रष्टा हो उसको छोड़ दो और उसमें देश-काल सहित उसको छोड़ो, अपनेको देश-काल-वस्तुमें बैठाओ मत। और जब अपनेको देश, काल, वस्तुमें बैठाना आप छोड़ दोगे, तो वेद यह नहीं कहेगा कि तुम ब्रह्म हो जाओ, वेद यह कहेगा ***ब्रह्म त्वमसि, तत् त्वमसि। तत् त्वं भव,*** नहीं, ***तत् त्वं असि; अहं ब्रह्म भवामि*** नहीं, ***अहं ब्रह्मास्मि। अयमात्मा ब्रह्म*** भविष्यति—यह नहीं, **अयं आत्मा ब्रह्म**—यह महावाक्य है।

तो **नेति-नेति** के द्वारा देश, काल, वस्तुका निषेध करनेपर जो यह स्वयं प्रकाश और देश, काल,वस्तुका अधिष्ठान परिच्छिन्न नहीं होता। देशका अधिष्ठान, परिच्छिन्न नहीं होता, परिपूर्ण होता है। कालका अधिष्ठान परिच्छिन्न नहीं होता, अविनाशी होता है और द्रव्यका जो अधिष्ठान होता है वह सन्मात्र होता है। तो यह जो सन्मात्र अविनाशी, परिपूर्ण और तुम्हारा प्रत्यक् आत्मा होनेसे चेतन है, उस चेतनकी अद्वितीयता साध्य नहीं है, सिद्ध है। माने वह अद्वितीयता साधनसे पैदा नहीं की जाती, उस सिद्ध एकताका निरूपण उपनिषद् करते हैं।

तो देखो, इसीसे हमसे योगदर्शन कभी आप पढ़ो, तो हम बिलकुल आपको योगदर्शनके सिद्धान्तकी रीतिसे बतावेंगे कि मनोवृत्तिका निरोध कैसे होता है और उसका द्रष्टा क्या है। आप हमसे उपासनाका, भक्तिका सिद्धान्त सुनो, हम आपको वैसा सुनावेंगे। परन्तु यदि आपका विषय आत्मा और ब्रह्मकी एकता है और आपका प्रयोजन सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर, परमानन्दकी प्राप्ति है, तो हम कहते हैं कि यह परमानन्द आपका स्वरूप है। यदि परमानन्द आपका स्वरूप नहीं है, उसे किसी साधनसे उत्पन्न करोगे तो परमानन्द चला जायेगा। यह नित्य है इसलिए साधन साध्य नहीं है। बोले—फिर साधन किसलिए? तो ऐसा है कि तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिपर्यन्त जितने साधन हैं, वे केवल प्रतिबन्धकी निवृत्तिके

लिए हैं, ब्रह्मकी उत्पत्तिके लिए या ब्रह्मकी स्थापनाके लिए या ब्रह्मकी सिद्धि के लिए नहीं हैं। और यह अज्ञताकी जड़ता जब तुम्हारे सिर पड़ी, माने जब तुम खुद डंडा हो रहे हो, तो बिना डंडा मारे तुम्हे पता थोड़े ही चलेगा कि मैं डंडा नहीं हूँ। डंडेको डंडेसे ही काटो। *यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः*। शीतला देवी जैसी होती हैं, उनका वाहन (गधा) भी वैसा ही होता है ***यक्षानुरूपो हि बलिः*** जैसा देवता होगा, वैसी उसको बलि दी जायेगी। ***जस देवता चाहिए तस पूजा*** रामचरित मानसमें ही है। अब मन्थरा-को फूलमाला थोड़े ही चढ़ायी जायेगी, मन्थराको तो लात ही मारी जायेगी।

तो अविद्याकी पूजा विद्यासे ही होती है। बोले—अविद्या चेतनके सिरपर चढ़ बैठी है और मैं अज्ञ हूँ—ऐसा अनुभव हो रहा है। अब चढ़ी कि नहीं चढ़ी, सो तो भगवान् जानें, लेकिन यह जैसे किसीको भूत-प्रेत लगे, चुड़ैल लगे, जैसे वहम हो जाता है न, वैसे 'मुझे अविद्या लग गयी है'—यह भ्रम हो गया है। अविद्या लगी-वगी नहीं है, कहीं भी अविद्याका कोई अस्तित्व नहीं है, अविद्या लगी नहीं, परन्तु अविद्या है और अविद्या लगी है-यह भ्रम तो हो गया है। तो ***यक्षानुरूपो हि बलिः।*** जब अविद्या चेतनपर चढ़ बैठी, तो चेतनने कहा कि हम विद्यापर चढ़कर अविद्याको दूर करेंगे। इस विद्याको ही वेदान्त कहते हैं। चेतनको विद्यावृत्तिपर चढ़ाकर अविद्या नष्ट कर देते हैं और फिर विद्यावृत्ति और अविद्या-वृत्ति दोनों साथ -ही-साथ मर जाती हैं और चेतन ज्यों-का-त्यों रहता है। इसमें चेतनके व्यापारकी अपेक्षा नहीं है। इसमें बाधक भ्रमकी निवृत्तिके लिए साधक भ्रमकी अपेक्षा है। यह आत्मा भ्रमाधिष्ठान भी है और प्रमाधिष्ठान भी है। अध्यस्त भ्रमको दूर करनेके लिए अध्यस्त प्रमाकी अपेक्षा है। प्रमा भी एक अध्यास है, पर किसलिए? कि भ्रमाध्यासको दूर करनेके लिए।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं—किं तद् ज्ञेयं? वह ज्ञेय क्या है? **एतद् तद् ज्ञेयं**—यह रहा वह ज्ञेय! ***हस्तग्राह्यमिव दर्शयति।*** ऐसा है वह ज्ञेय कि चाहो तो मुट्ठीमें ले लो। केवल अहंकार न छूटनेके कारण ज्ञान एक अनोखे रूपमें आपके पीछे पड़ गया है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान, अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे ज्ञान और ज्ञानका आश्रय मैं। सबसे बड़ी जड़ता अपने जीवनमें अगर कोई आयी है, तो यह है कि मैं ज्ञानका आश्रय हूँ, ज्ञाता

हूँ और यह ज्ञातापना ऐसा पीछे पड़ गया कि वह ब्रह्म होने नहीं देता। देह, इन्द्रियों आदिके बीच रहकर भी जो जानते हैं, उसके ज्ञाता होते हैं हम और जो नहीं जानते हैं उसके भी ज्ञाता होते हैं हम! यह देह इन्द्रियोंका, अन्तःकरणका घेरा पट्टा टूटता ही नहीं है, सत्यानाशके कगारपर लाकर इसीने खड़ा कर दिया। यह जो अहंका ज्ञातापना है वह नहीं छूटता है। और अपनेको जब ज्ञान-ज्ञान भी बोलते हैं, तो ज्ञाता और ज्ञेयके बीचमें जो वृत्तिरूप ज्ञान है, उसीको बोलते हैं, कि मैं ज्ञान हूँ, मैं ज्ञान हूँ। तो असलमें वृत्तिरूप जो ज्ञान है, उससे तादात्म्यापन्न हो करके अपनेको ज्ञाता मानते हैं, अपनेको ज्ञान मानते हैं। यह त्रिपुटीवाले ज्ञानको उड़ा दो; ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय—इनकी सत्ता नष्ट-भ्रष्ट कर दो और तुम अखण्ड ज्ञान स्वरूप हो! और जबतक एक अन्तःकरणमें बैठकर यह जाग्रत् मेरा, यह स्वप्न मेरा, यह सुषुप्ति मेरी, यह वृत्ति मेरी—यह हो रहा है, तब तक भला क्या ज्ञान है!

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

सम्पूर्ण प्राणियोंमें और पदार्थोंमें, मिथ्याओंमें और सत्योंमें; डरनेकी कोई बात नहीं है,व्यावहारिकोंमें और प्रातिभासिकोंमें—भूत शब्दका अर्थ प्रातिभासिक और व्यावहारिक, दोनों है—और अलग-अलग खुदरा माल जो बिकता है उसमें, और पंचभूतरूप जो थोक माल है उसमें भी, **'अविभक्तं च विभक्तमिव स्थितं'** बिलकुल अन्-अलग रहकरके अलग सरीखा दिख रहा है। श्रुति कहती है देखो, हम ऐसा तुम्हें अपना आपा दिखाते हैं, अपने आपको जानो और शोक-मोहसे मुक्त हो जाओ।

कुल बात यह है कि चील कितनी ऊँची भी क्यों न उड़े, गीध कितना ऊँचे भी क्यों न उड़े, उसकी नजर धरतीपर पड़े मांस ही पर रहती है; ऐसे ही यह मनुष्य अपनी बुद्धिके पंखसे कितना भी उड़े, उसकी नजर परिच्छिन्नतापर रहती है और श्रुति परिच्छिन्नताको ही काटना चाहती है—

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठोपनिषद्)

पहले चाहिए धैर्य और बादमें हो जाओगे निश्शोक। 'धीरः' अधिकारी है, 'न शोचति' फल है। और 'आत्मानं मत्वा' उपाय है। माने अधिकारी धैर्यशाली पुरुष जो सब सहनेको तैयार है 'आत्मानं

मत्वा'=आत्मज्ञान साधनके द्वारा 'न शोचति' रूप फलको प्राप्त होता है अर्थात् शोक-मोहसे मुक्त हो जाता है।

तो **किं मत्वा**-क्या जानकर शोक मोहसे मुक्त होता है? श्रुति कहती है—***अशरीरं शरीरेषु***—ये जितने शरीर हैं, इनमें जो अशरीर है, उसको जानकर। शरीर माने मूर्ति, शरीर माने आकृति—स्त्रीकी आकृति, पुरुषकी आकृति, पंचभूतकी आकृति, और मनकी बनी आकृति, वृत्तिकी बनी आकृति, शान्तिकी बनी आकृति। शान्ति भी आकृति बनाती है और वृत्ति भी आकृति बनाती है। कहते हैं—ओ हो कितने शान्त बैठे हैं। मनमें शान्ति आना, मनमें वृत्तिका उदय होना, वृत्तियोंका संकीर्ण होना। तो वृत्तियोंका शाबल्य, घुलमिल जाना, वृत्तियोंका विलय, वृत्तियोंकी शान्ति, वृत्तियोंका बाध,ये सब शरीर हैं; इनमें जो ***अशरीरं*** है, वह क्या? कि किसी आकृतिसे जो आकृतिमान नहीं होता, किसी मूर्तिसे मूर्तिमान नहीं होता, किसी शरीरसे शरीरवान् नहीं होता, सो।

अनवस्थेष्वस्थितम्—जितनी बदलनेवाली चीजें है इनका स्वभाव है चलना। एक महात्मा कहते थे—रोज-रोज शौचालयमें जाना पड़ता है, इससे दुःख क्यों नहीं होता आदमीको? रोता क्यों नहीं है कि हाय-हाय आज शौचालयमें जाना पड़ रहा है? बोले अरे भाई, वह तो सिर पड़ गया न, रोज जाना पड़ता है, इसलिए आदत पड़ गयी। तो दुनियाके लिए क्यों रोना? क्योंकि इसकी तो भागनेकी आदत ही है। दुनियाकी आदत ठहरनेकी नहीं, टिकनेकी नहीं है—***अनवस्थेष्ववस्थितम्।***

आज हमको एक पुराने महात्मा मिले—जाग्रत्में नहीं, सपनेमें। उन्होंने कहा कि मैं अपने अनुभवकी बात तुमको बताता हूँ। आप लोग सोचते होंगे, कोई नयी बात होगी। बात नयी नहीं थी, बिलकुल पुरानी थी। उन्होंने बताया कि हमको चार बातसे दुनियामें तकलीफ हुई, माने संसारमें दुःखके चार कारण हैं—(१) एक तो स्त्री। आपलोग बुरा मत मानना, स्त्री भी बुरा न मानें, हम सपनेकी बात सुनाते हैं, उसको न माननेमें भी आप स्वतन्त्र हैं। स्त्री चाहती है कि पुरुषकी नजर चौबीसों घण्टा हमारे ऊपर रहे, हमको छोड़कर दूसरेको देखे नहीं। तो वह जो हमारी नजरको कैद करना चाहती है, माने हमारे ज्ञानको ही अपनेतक सीमित रखना चाहती है, यह

हमारे लिए बहुत बड़ा बन्धन है, कैद है। यह स्त्रीका स्वभाव है कि वह चाहती है कि हमको छोड़कर ये दूसरेकी ओर देखे नहीं। ऐसे न देखो, तो रोकर दिखावेगी, देखनेके लिए बाध्य करेगी, मायके जाकर बाध्य करेगी देखनेके लिए, गोली खाकर बाध्य करेगी कि हमारी ओर देखो!

(२) संसारमें दूसरा दु:ख है पैसा। वह बाध्य तो नहीं करता कि हमारी ओर देखो, पर हम खुद ही उसको इतना लुभावना समझते हैं कि अपने आपको उसके लिए बाधित कर देते हैं। हम मरें या जरें, हमारा सुख जाये, ईश्वर जाये, शान्ति जाये, पर पैसा चाहिए, पैसा चाहिए।

(३) तीसरा दु:ख है पैसेवाला। धनी आदमी ईश्वरको भी हुक्म देता है, अपना आश्रित बनाना चाहता है, महात्माको भी हुक्म देता है, अपना आश्रित बनाना चाहता है। धनी आदमी हमेशा गरीबको गुलाम बनाकर रखना चाहते हैं। पैसेवालेका संग होगा तो दु:ख जरूर होगा। वह गुलाम बनाता है, पराधीन बनाता है।

(४) चौथा दु:ख है वासनावान् पुरुषोंका संग। यह आपको एक सपनेकी बात सुनायी, बतानेवाले जो महात्मा थे, वे बड़े दिव्य थे।

तो अब आप तीनोंको छोड़ दीजिये भला! समझ जाओ कि तीन नाम मैंने इसलिए लिये कि आप चौथेकी गम्भीरताको समझो। यह वासनावान् पुरुषोंका जो संग है, यह न अपने मनको शान्त होने दे, न ईश्वरमें लगने दे, न निर्विचार होने दे, न सद्विचार होने दे, न ब्रह्माकार वृत्ति बनने दे। ये वासनावान् पुरुष बताते हैं कि यह चाहिए, यह चाहिए, यह मिलेगा तब सुखी हो जाओगे, यह मिलेगा तब सुखी हो जाओगे। इनकी लिस्ट कभी पूरी नहीं होती।

तो वे महात्मा बोले कि हमने अपने जीवनमें यह अनुभव किया है कि संसारमें दु:ख है तो ये चार हैं। जो इन चारोंसे मुक्त है, वह महात्मा है; ये चारों जिसको दु:खी न कर सकें, वही महात्मा है।

तो *अनवस्थेष्ववस्थितम्।* दुनियामें क्या स्त्री, क्या धन, क्या धनी, क्या वासनावान्, ये सब-के-सब अवस्थाहीन हैं और आस्थाहीन हैं। लोग समझते हैं कि धनी पुरुषका विश्वास जब प्राप्त हो जायेगा तो वह अपना धन हमको दे देगा। इसी मृगतृष्णामें सारी जिन्दगी बीत जाती है, लेकिन धनी

पुरुषका विश्वास मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो काकवत् सर्वाभिशंकी है, शास्त्रमें ऐसा ही वर्णन आता है। तो वासनावान् पुरुषका संग, धनवान्‌का संग, धनका संग और स्त्रीका संग—ये चार सृष्टिमें महान् दुःख हैं, ऐसा उस महात्माने बताया। ***अनवस्थेष्ववस्थितम्***—ये सब आस्थाहीन होते हैं। इनको बदलने दो और तुम डटे रहो, अपनी जगहपर, अपने स्थानपर अपने स्वरूपमें डटे रहो।

अब एक बात देखो—***महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।*** पहले ***अशरीरं शरीरेषु***से यह बात कही गयी कि शरीरके परिच्छेदसे आत्माका परिच्छेद नहीं है। अच्छा, अब यह शरीरका परिच्छेद तो गया, परन्तु पंचभूतका परिच्छेद रहा न! तो कहा—***अनवस्थेष्ववस्थितम्***—बदलते हुए पंचभूतोंमें ठोस साक्षी है आत्मा। ***महान्तम् विभुमात्मानं***-महान् अविनाशी जिसको कोई टच न कर सके, छू न सके—ऐसा महान्। और विभु माने सर्वव्यापी ऐसा कौन? तो बोले—आत्मानं। अपना आप प्रत्यक् चैतन्य। प्रत्यक् चैतन्यका अर्थ केवल इतना ही है कि दृश्यसे, जड़से, अनात्मासे विविक्त जो आत्मा है। अनात्मासे विविक्त आत्माको ही प्रत्यक् चैतन्य कहते हैं। चैतन्यता कोई गुण नहीं है, चैतन्यता कोई दृश्य नहीं है, चैतन्यता कोई अनुभाव्य पदार्थ नहीं हैं, केवल विविक्त स्वका नाम ही चैतन्य है। वह चैतन्य नहीं जिसमें जड़ और चेतनका भेद होता है, कि जड़ दृश्य है और चेतन द्रष्टा है, जड़ प्रकाश्य है और चेतन प्रकाशक है—यह तो विवेक दशा है। इसमें जड़-चेतनका भेद आरोपित है, कल्पित है यह तो हजारों चीज अपनेको अपने बारेमें मालूम पड़ती हैं—कभी ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं, तो कभी-कभी संन्यासी मालूम पड़ते हैं, तो कभी—हिन्दू मालूम पड़ते हैं। कभी काले मालूम पड़ते हैं तो कभी गोरे मालूम पड़ते हैं। जो हम स्वयं हजारों प्रकारके मालूम पड़ते हैं, उन हजारों प्रकारसे विवेक करनेके लिए, जड़ और चैतन्यके भेदका अध्यारोप किया गया है। यह श्रुतिके द्वारा जड़ और चेतनका भेद आरोपित है। हम जड़से विलक्षण चेतन नहीं हैं। हम ऐसे जड़ हैं जो स्वयम्भू है। हम ऐसे चेतन हैं जो स्वयं प्रकाश है। सत् का स्वयंभूपना और चेतनकी स्वयं प्रकाशता, ये दोनों अपने स्वरूपज्ञानके लिए सांवृतिक सत्य ही हैं, परमार्थ सत्य, वेदान्तकी दृष्टिसे नहीं हैं।

अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यज।
अनक्षरेषु धर्मेषु श्रुतिश्च देशनाश्च का॥

बुद्ध भगवान् कहते हैं कि जहाँ-जहाँ स्वरूप अक्षरातीत है—**'श्रुतिश्च, देशनाश्च का?'** उसमें श्रवण क्या और उपदेश क्या? ***अध्यारोप-संवृत्या***—'संवृति' शब्दका प्रयोग करते हैं। अनक्षरमें ही अक्षरपनेका अध्यारोप करके सांवृतिक सत्यके रूपमें, केवल अज्ञानको मिटानेके लिए, इसका अध्यारोप किया जाता है। यह प्रयोजनवश है, यथार्थ नहीं है। जड़ चेतनका भेद भी यथार्थ नहीं है, प्रयोजनवश अध्यारोपित है। जहाँ जड़ नहीं है वहाँ चेतन संज्ञा कैसे होगी? जहाँ जड़ नहीं होगा वहाँ चेतनको लखानेवाला कौन होगा? जहाँ अनुभाव्य और अनुभविताका भेद नहीं है वहाँ अपनी चेतनता अनुभवका विषय कैसे होगी? इसीसे ***'महान्तम् विभुम् आत्मानं मत्वा'***—मैं देश-परिच्छेद शून्य, काल-परिच्छेद शून्य, भूत भौतिक पदार्थ-परिच्छेद शून्य स्वयं हूँ। ***इति मत्वा धीरो न शोचति***—धैर्यशाली पुरुष जब इसको जान लेता है तो उसे शोक नहीं होता है।

देखो, दूसरी श्रुति कहती है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

यदि मनुष्य अपने आपको जान ले—***आत्मानं चेद् विजानीयात्।*** चेद्का अर्थ है यदि। अपने आपको जानना बड़ा मुश्किल है! क्यों? क्योंकि दूसरोंको जाननेसे तुम्हें फुर्सत ही नहीं है। एक सज्जन कहते हैं-नहीं, नहीं, हम तो व्याकुल रहते हैं, अपने आपको जाननेके लिए। अरे, अपनेको जाननेको नहीं व्याकुल रहते हो, अपनी बुद्धिको जाननेके लिए व्याकुल रहते हो, अपनी सुषुप्तिको जाननेके लिए व्याकुल रहते हो, तुम अनजाने कब हो? अपनी बुद्धि बढ़ानेको व्याकुल रहते हो। अज्ञान कहाँ है तुम्हारे अन्दर? तुम अज्ञान सिद्ध कर दो, हम अभी मिटा देंगे। परन्तु तुम अज्ञान सिद्ध करोगे कब? कि हम विलायत, अमेरिकाकी बात नहीं जानते, हम रूसकी बात नहीं जानते हैं। उसको हम अज्ञान नहीं बोलते हैं, वह तो घटका अज्ञान हुआ, पटका अज्ञान हुआ, मठका अज्ञान हुआ, विशेषका अज्ञान हुआ। वह

तुम्हारा अज्ञान कहाँ हुआ? जिसको जानोगे, ऐसा, वैसा, कैसा, तैसा, वह जानोगे, तो वह तो कोई अलग चीजका ज्ञान है। *'आत्मानं चेद् विजानीयात्'*। तुम तो स्वयं ज्ञान स्वरूप हो, कैसे जानोगे अपने आपको? *'अयमस्मीति पूरुषः'* ऐसे ज्ञान नहीं होगा कि आत्मा ऐसा है, ब्रह्म ऐसा है, जगत् ऐसा है; जैसे पीतल और सोनेकी पहचान तुमको है, जैसे हीरे और मोतीकी पहचान तुम्हें है, ऐसे नहीं जानोगे अपने आपको; वह वृत्तिके पेटमें आनेवाली चीज नहीं है। तब क्या होगा? *'अयमस्मीति—अयम् अहमेवास्मि'*—मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं और जब जान गये तब?

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।

किस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा होगी तुमको? कौन-सी वस्तु अप्राप्त है? ब्रह्मा अप्राप्त है कि विष्णु अप्राप्त है, कि रुद्र अप्राप्त है कि इन्द्र अप्राप्त है, कि स्त्री अप्राप्त है कि पुरुष अप्राप्त है, कि भोग अप्राप्त है, क्या अप्राप्त है कि उसकी इच्छा होगी तुमको? ***कस्य भोक्तुः कामाय***—किस अन्तःकरणमें रहनेवाले भोक्ताको तुम अपना स्वरूप मानते हो? ***किं विषयजातं इच्छन् कस्य भोक्तुं कामाय***—दोनोंपर आक्षेप है—न कोई भोक्ता है, न भोग्य है। किस भोग्यके लिए तुम व्याकुल हो और किस भोक्ताकी तृप्तिके लिए व्याकुल हो? जिस भोक्ताकी तुम तृप्ति चाहते हो, वह तो तुम्हारे स्वरूपमें बाधित है और जिस विषय भोगके द्वारा तृप्ति चाहते हो, वह विषयभोग भी बाधित है।

तब आपकी स्थिति क्या है बाबू? स्थिति यह है—***शरीरमनुसंज्वरेत् शरीरं ज्वरत् तदनु स्वयं ज्वरति***—जलता है शरीर और यह मान रहा है कि मैं जल रहा हूँ। ***ज्वरत् शरीरं अनु संज्वरेत्***। हे भगवान्! अब देखो बुखारसे शरीर जलता है, आत्मा नहीं। विलायत पहुँचनेके लिए शरीर जलता है, आत्मा नहीं। दो सौ बरस जीनेके लिए शरीर जलता है, आत्मा नहीं। मनमें अमुक वस्तु प्राप्त करनेके लिए शरीर जलता है, विक्षेपसे शरीर जलता है, समाधिकी इच्छासे शरीर जलता है! तो शरीरको जलने दो बाबा!

एक आदमीने कहा कि महाराज शरीर जल रहा है। दूसरेने कहा—दिल जलता है, तो एक ही बात है, दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। शरीर और दिल अलग-अलग चीज नहीं हैं। जैसा साक्षात्कार इस सम्बन्धमें चार्वाकका

हुआ था कि शरीर और दिल अलग-अलग नहीं है, वैसा साक्षात्कार प्रत्येक महात्माको होता है, वह अनुभवकी एक भूमिका है। मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चैतन्य हूँ और ये स्थूल शरीर-सूक्ष्म शरीर, स्वप्नके स्थूल-सूक्ष्म शरीरों-की तरह युगपत् भास रहे हैं, इसमें स्थूल शरीरसे जुदा सूक्ष्म शरीर नहीं है।

चार्वाक कहते हैं कि स्थूल शरीरसे जुदा सूक्ष्म शरीर नहीं है और बौद्ध कहते हैं कि सूक्ष्म शरीरसे जुदा स्थूल शरीर नहीं है। जैन कहते हैं कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों अलग-अलग हैं और वेदान्त कहता कि एक ब्रह्ममें ये तीनों कल्पित हैं। ये तीनों कल्पनामात्र हैं, यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है। यह हम विवेकके लिए आपको सुनाते हैं, माने आप कभी विचार करने बैठते हैं तो कैसे विवेक करते हैं, उसकी प्रणाली आपको सीखनी चाहिए। स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीर पैदा हुआ—यह चार्वाकका मत है। चित्तसे, विज्ञानसे स्थूल उत्पन्न हुआ—यह बौद्धमत है। दोनों कभी एकमें मिलकर रहते हैं और कभी अलग—अज्ञान दशामें, संवर दशामें दोनों एकमें मिलकरके रहते हैं और निर्झर दशामें दोनों अलग हो जाते हैं,यह जैन मत है। जैन मतमें सूक्ष्म और स्थूल शरीर दोनों सच्चे हैं। वेदान्त कहता है—न स्थूलसे सूक्ष्म, न सूक्ष्मसे स्थूल, न दोनोंका अलगाव, न दोनोंकी शून्यता, एक अखण्ड सच्चिदानन्दघन है।

तो *शरीरं संज्वरेत्,* को हि विद्वान् अनुसंज्वरेत् बोलते हैं। यदि शरीर जल रहा है, घरमें आग लगी है, मढ़ैयामें आग लगी, तो तुम क्यों जलते हो?

अच्छा, एक बात आपको सुनावें—हमको कई बार शरीर अपना जलता हुआ दिखा है। हमको ऐसा लगा कि शरीरमें आग लग गयी। भजन करते समय, विचार करते समय, प्राणायाम करते समय ऐसा लगा कि शरीरमें आग लग गयी, अब यह जलकर बिलकुल खाक हुआ! मनका भाव ही होगा, लेकिन मनका भाव जबतक बाधित नहीं होता, मिथ्या नहीं होता, तबतक तो वह सच्चा ही मालूम पड़ता है न! सपनेमें अगर गड्ढेमें गिरते हुए मालूम पड़ते हैं तो वहाँ यह थोड़े ही मालूम पड़ता है कि यह झूठा गिरना है। तो जब हमको मालूम पड़ा तो सच्चा ही मालूम पड़ा कि शरीर जल गया। अब फिर जिन्दा हो गया, तो हम क्या करें?

हमने अपने शरीरको मरते देखा है, पेट फटते देखा है, चितापर जलते देखा है। भजनमें बैठे-बैठे देखा कि आग लग गयी, जल रहा है शरीर। जैसे कोई सती, जैसे कोई योगी ध्यान करके अपने शरीरको भस्म कर रहा हो! तो हम भस्म नहीं कर रहे थे, भस्म हो रहा है-ऐसा देखा। किसीने प्राण खींचकर निकाल लिया, ऐसा देखा। सपनेमें कलकत्तेके गंगा किनारे शरीरको चितापर सुलाया हुआ जलते देखा। क्या आपको बतावें, बड़ा ही विचित्र हुआ। हम कलकत्तेमें ठहरे हुए थे ज्वाला प्रसाद कानोडियाके घरमें और भाईजी हनुमान प्रसादजी साथ थे। और वहाँ हो रहा था दंगा, खूब दंगा हो रहा था, आग लग रही थी, जयदयाल कसेरा, हनुमान प्रसादजी और मैं, तीनों मोटरमें निकले घूमनेके लिए कि चलो दंगेके मुहल्लेमें चलें, समझावें-बुझावें। अब हमारी प्रकृति तो जरा मस्तीकी है—बचपनसे ही—हम तो जो लेटे मोटरमें, सहारा लिया कि नींद आ गयी। तो नींदमें क्या देखा कि ज्वाला प्रसाद कानोडियाके घरमें भोजन हो रहा है और उन्होंने इतना खिलाया कि पेट हमारा फट गया। ये भगत लोग पेट फाड़नेका काम तो करते ही हैं। अब देखो, जैसे हमारी वर्षगाँठ मनाते हैं न, गुरुपूर्णिमा मनाते हैं, तो कहते हैं बस महाराज हमारा एक ही ग्रास, जरा-सा तो है। अब भला सोचो, पाँच-सौ आदमी अगर एक-एक ग्रास खिलावें तो हमारी क्या दशा होगी? तो खिलानेवाले यह थोड़े ही सोचते हैं! तो पेट फट गया भाई, उठाकर लोग ले गये गंगा किनारे, अर्थी सजाकर ले गये थे और हमारी तारीफ करें सो भी सुनायी पड़े कि जयदयाल कसेरा यह बोले, हनुमान प्रसाद यह बोले, ज्वालाप्रसाद कानोडिया यह बोले। अच्छा, उसके बाद आग लगायी और चितापर शरीर जल रहा है—यह मैं देख रहा था। उसी समय मेरे-को यह सवाल उठा कि जब मेरा शरीर जल रहा है तो यह मैं कौन हूँ। मैं तो देख रहा हूँ, मैं तो नहीं जल रहा हूँ। तो अब वेदान्तकी जरा बात सुनिये। यह तो आपको बताया कि शरीर जलता है, जैसे अर्थीपर जलता है, जैसे साधनाकी आगमें जलता है वैसे ही ज्ञानकी आगमें जल जाता है। उसमें ऐसा है कि भौतिक शरीर भौतिक अग्निमें जलता है और काल्पनिक शरीर जो होता है, वह काल्पनिक अग्निमें जलता है। जब हम चेतन है तो हमारी आग भी तो चेतन होगी न!

अब एक दूसरा प्रश्न इसी प्रसंगमें सुनाते हैं। *शरीरमनुसंज्वरेत्*—बोले—महाराज, आप कहते हो ज्ञानीको ऐसा होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए; हम कहते हैं शरीर चाहे मरे चाहे जीये—हमको कोई परवाह नहीं है।

बोले—बहुत बढ़िया! तुम समझते नहीं हो बेटा, एक गाँठ तुम्हारी छूट गयी। यदि तुमको शरीरके रहने और न रहनेकी परवाह नहीं है तो स्थूल देहके साथ जो तुम्हारी ग्रन्थि थी सो कट गयी, तुमको मालूम नहीं है।

बोले—महाराज हमारा मन चाहे चंचल रहे, चाहे शान्त रहे, वह तो मनकी बात है न, उससे हमारा क्या सम्बन्ध है! बोले—बहुत बढ़िया! तुम्हारे मुँहमें घी शक्कर। सूक्ष्म शरीरके साथ तुम्हारी जो ग्रंथि थी, वह कट गयी।

बोले—महाराज, भला यह चेतन आत्मा, यह क्या नरकमें जायेगा, क्या स्वर्गमें जायेगा! क्या पहलेसे नरक-स्वर्गमें नहीं है? यह क्या वैकुण्ठमें जायेगा, यह क्या गोलोकमें जायेगा! इसमें जाना-आना कहाँ है? बोले—बहुत बढ़िया, तुम्हारी लिंग शरीरकी जो ग्रन्थि थी, वह कट गयी, तुम समझते नहीं हो।

बोले—महाराज, यह ब्रह्म जाना कैसे जायेगा? यह आप लोग जो कहते हैं कि जिज्ञासा करो और जानो, हम तो कोशिश करते-करते हार गये, हमारी वृत्तिकी थैलीमें तो ब्रह्म आता नहीं है। बोले—बहुत बढ़िया बेटा, अब तुम ब्रह्मको समझ रहे हो। ब्रह्म थैलीमें आनेवाला नहीं है। यह जो थैली को देख रहा है सो ब्रह्म है, थैलीका प्रकाशक ब्रह्म है।

बोले—महाराज, तो फिर थैली रहे चाहे जाये, हमारे अखण्ड स्वरूपमें थैलीका अस्तित्व ही कहाँ है? बोले—बहुत बढ़िया, द्वैतकी गाँठ तुम्हारी कट रही है, नहीं है यह थैली।

बोले—महाराज, अभी ग्रन्थि-भेदन नहीं हुआ, जरा ग्रन्थि-भेदन कर दो। बोले—इसीका नाम ग्रन्थि-भेद है। *'अयमेव हि ग्रंथिभेदः।'* यह प्रसंग पंचदशीमें पढ़ो तब मालूम पड़ेगा, बड़ा सुन्दर है।

अच्छा, तो आओ—*शरीरमनुसंज्वरेत्।* कारण शरीरमें चाहे सुषुप्ति हो, चाहे समाधि हो, चाहे मूर्च्छा हो और चाहे चिन्मय होवे, इससे तुम्हारा

क्या बनता-बिगड़ता है? तुम कारण शरीर थोड़े ही हो। शरीर तुम्हारा घटाकार होवे, कि शिवाकार होवे, उसके आकारसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? देह चाहे मरे, चाहे जीये, उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? तो ***किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।*** तुम कुछ-न-कुछ सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़करके उसमें कोई ऐसी वृत्ति चाहते हो! तुम कारण शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ करके कोई ऐसी शान्ति चाहते हो, कोई ऐसी समाधि चाहते हो, कारण शरीरकी कोई अवस्था चाहते हो! ***अनवस्थेष्ववस्थितम्***—तुम अवस्थित हो, ये सब अनवस्थ हैं। काहेको इसके चक्करमें पड़ते हो?

यदि यह मालूम हो गया कि अपना स्वरूप क्या, तो ***किमिच्छन्, कि विषयजातं इच्छन्?*** यह भोग्यपर आक्षेप है और ***कस्य भोक्तुं कामाय***—यह भोक्ताके पृथक्त्वपर आक्षेप है और ***शरीरमनुसंज्वरेत्*** माने स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरसे तादात्म्य करके तद्विषयक जो अपेक्षा है, उसपर आक्षेप है। तुम्हें क्या अपेक्षा है?

बात यह है कि यह जो तुम्हारी आत्मा है, तुम हो—तुम्हारी आत्मा माने तुम—वह ***भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च*** है। तुम भूत भर्ता हो। भूतभर्ताका अभिप्राय यह है कि जैसे खाली पेटको तुम्हीं भरते हो, पेटका भरण-पोषण करनेवाले तुम हो, इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व सृष्टिके जो भूत हैं, उनका पेट भरनेवाले भी तुम्हीं हो। माने तुम्हीं आधार हो और सम्पूर्ण भूत आधेय हैं। ***विभर्ति इति भर्तृ। भूतानि विभर्ति इति भूतभर्तृ।*** सबके धारण-पोषण करनेवाले तुम हो क्षेत्रज्ञ, ब्रह्माभिन्न और 'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।'

एक बात इसमें बहुत बढ़िया है। यह 'भूतभर्तृ' शब्द पाणिनीय व्याकरणसे बिलकुल ठीक है और ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु शब्दोंमें विवाद है। अच्छा, पाणिनीय व्याकरण तो व्यावहारिक व्याकरण है न, तो उसमें एक सूत्र है भुवश्च;, उससे इष्णु प्रत्यय होकरके भविष्णु शब्द बनता है और प्र उपसर्ग हुआ तो प्रभविष्णु हो गया। तो वैयाकरणोंका मत है कि यह 'भुवश्च भर्तृ' केवल वैदिक प्रक्रियामें नहीं लगता है लौकिक प्रक्रियामें नहीं लगता है और गीता तो लौकिक प्रक्रियासे ठीक होनी चाहिए। ग्रस् धातु तो

बिलकुल अपाणिनीय है ही। भविष्णु शब्द पाणिनीय तो है परन्तु वह वैदिक है, लौकिक नहीं है। वैदिकमें तो 'भुवश्चमें 'च' से ग्रस् धातुसे भी इसमें प्रत्यय हो जाये तो ग्रसिष्णु बन जाये। लेकिन पाणिनि व्याकरणसे यह ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु शब्द नहीं हैं। सारस्वत व्याकरणकी रीतिसे ये दोनों शब्द शुद्ध हैं और दोनोंमें 'इष्णु' प्रत्यय होता है। इसलिए बता दिया कि कोई व्याकरण जानते हों तो उनके ध्यानमें यह बात आवे।

इसकी भी उत्प्रेक्षा सुनाते हैं आपको, उत्प्रेक्षा क्या है कि 'भूतभर्तृत्व' अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव सिद्ध है। जैसे स्वप्नका भरण-पोषण करनेवाला कौन? कि स्वप्नद्रष्टा। इसी प्रकार सम्पूर्ण जाग्रत् दृश्यका भरण-पोषण करनेवाला कौन? कि जाग्रत् द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ, मैं। बोले—पर ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु? तो बोले—भाई यह वेद-सिद्ध है, ये वैदिक प्रयोग हैं भला जैसे हम सम्पूर्ण प्रपंचके धारण करनेवाले हैं, वैसे कभी हमने यह पैदा किया, यह कल्पना करनी पड़ती है और कभी हम इसको खा जायेंगे—यह भी कल्पना करनी पड़ती है। तो यह कल्पित जो प्रभविष्णुत्व और ग्रसिष्णुत्व है, इसको ग्रहण कर लेना; इससे क्या सिद्ध होता है कि इस प्रपंचका अभिन्न निमित्तोपादान कारण मैं हूँ और अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें ही मैं प्रपंचका धारण-पोषण कर रहा हूँ। और चूँकि मैं चेतन हूँ इसलिए परिणामको प्राप्त होकर मैं प्रपंच नहीं बना हूँ, विवर्ती रहकर प्रपंच बना हूँ। तो मैं इस प्रपंचका विवर्ती अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ। अतएव अद्वितीय हूँ, ब्रह्म चैतन्य मैं हूँ। और प्रतीयमान जो भूत हैं उनमें अविभक्त रहकरके प्रातीतिक भूतोंकी विभक्तिसे विभक्त सरीखा प्रतीत हो रहा हूँ।

ज्ञेय ब्रह्म–६. सबके हृदयमें ज्योतिस्वरूप

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १३.१७

अर्थ :—वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है। वह अन्धकारसे परे है—ऐसा कहा जाता है। वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, वही ज्ञानसे जाना जाने योग्य है। सबके हृदयमें वही स्थित है।

आपने वेद मन्त्र सुना होगा—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाय॥

इस मन्त्रमें जो आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात् है वही यहाँ गीतामें 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' कहा गया है।

यह ज्योति शब्द भी विवर्त ही है। कैसे? इसका मूल शब्द है 'द्युति'। द्योतते इति ज्योतिः। द्योतन्ते इति ज्योतन्ति। जो चमकदार है, जो चमकते हैं, इनको ज्योति बोलते हैं। 'द्युति'का 'द' अक्षर 'ज' हो गया तो 'ज्योति' शब्द बन गया। यही विवर्त है। जैसे व्याकरणमें 'अहं'का बहुवचन 'वयम्' हो

जाता है, जैसे 'सः'का बहुवचन 'ते' हो जाता है, और जैसे 'अहम्' और 'वयम्' में कोई साम्य नहीं है, जैसे 'सः' और 'ते'में कोई साम्य नहीं है; माने अहं-अहं-अहं तीन अहं 'वयम्' नहीं हो सकते तथा सः सः सः तीन सः 'ते' किसी समानता से नहीं हो सकते—अरे 'सां' होता या कुछ ऐसा ही और होता,'ते' होनेका तो कोई तुक नहीं, तो जैसे 'वयम्' 'अहं'का विवर्त है, 'ते' 'सः'का विवर्त है; उसी प्रकार यह 'ज्योति' शब्द 'द्युति'का विवर्त है। एकत्वके विवर्तका नाम बहुत्व है। एकत्वके परिणामका नाम विवर्त नहीं है।

तो 'ज्योति'—चमकदार चीजें कितनी हैं? हीरा है, मोती है, सूर्य है, चन्द्र है, ग्रह-नक्षत्र हैं, तारे हैं, उन सबको बोलते हैं ज्योति; क्योंकि सब चमकते हैं। पर ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र, तारे इत्यादि हैं तो अलग-अलग परन्तु इनका जो बहुत्व है वह किसी एक द्युतिका ही विवर्त है, इनमें कोई एक चीज है जो चमकती है। कोई एक है जिसकी चमक सबमें चमक रही है।

यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सबकी आँखें चमक रही है। उन सबमें एक ही ज्योति चमक रही है। रातमें बैलकी आँखमें-से ऐसी चमक निकलती है जैसे टार्चकी रोशनी हो। हम तो बैलोंके बीचमें भी रहे हैं भाई, अब भलेमानुसोंके बीच रहते हैं तो क्या हुआ! हमको इसका अनुभव है। तो मनुष्य, पशु, पक्षी सबकी आँखोंमें-से एक ही रोशनी झाँक रही है! उपनिषत्ने कहा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(मुंडकोपनिषद्)

सूर्य, चन्द्र, तारे, बिजलीका प्रकाश उस आत्माका प्रकाशन नहीं कर सकते फिर अग्नि तो कैसे करेगी भला? उल्टे उस एकके प्रकाशित होनेपर ही इनका प्रकाश मालूम पड़ता है। उस एककी चमक ही सबमें चमक रही है।

इसीको गीताने कहा—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (१५.६)

इस आत्मतत्त्वको सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। सूर्य माने आँख, चन्द्रमा माने मन और अग्नि माने वाक्। अर्थात् इस आत्म तत्त्वको नेत्रज्योति, मनोज्योति और वाग्ज्योति कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकते। लेकिन इनमें जो चमक आयी सो कहाँसे आयी? तो वही बताते हैं कि—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १५.१२

सूर्यमें, चन्द्रमामें, अग्निमें किसका तेज चमक रहा है? किसकी ज्योतिसे नेत्रज्योति ज्योतिष्मत् होकर देखती है? किसकी ज्योतिसे ज्योतिष्मत् होकर मन देखता है, मनन करता है? किसकी ज्योतिसे ज्योतिष्मत् होकर वाग्ज्योति बोलती है? वाणीके पीछे बैठकर कौन वाणीको बोलनेकी ज्योति दे रहा है, मनको सोचनेकी ज्योति दे रहा है? जो चन्द्रमाको चमका रहा है वही सूर्यको चमका रहा है, वही अग्निको चमका रहा है। आप सूर्य, चन्द्र, अग्निके आकारपर मत जाओ, उसकी चमकको तो देखो। और नेत्र, मन, वाणीके पृथक्त्वपर मत जाओ, उस चैतन्य-ज्योतिको तो देखो!

ज्योतिषाम् अपि तज्ज्योतिः—'पृथक्-पृथक् प्रतीयमानानां ज्योतिषाम् अपि तत् ज्योतिः'। पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेवाली जो अनेक ज्योतियाँ हैं, उनमें जो एक अखण्ड ज्योति है वही ब्रह्म ज्योति है। और **न केवलं ज्योतिषामपि ज्योतिः** किन्तु **तमसामपि ज्योतिः**। वह केवल ज्योतियोंकी ही ज्योति नहीं है, वह तमस्‌की भी ज्योति है। तमस् अर्थात् अज्ञान। रूप तो आँखसे मालूम पड़ता है, अज्ञान किससे मालूम पड़ता है? वह भी आत्म-ज्योतिसे ही मालूम पड़ता है।

अच्छा, अब फिर!

जो वस्तु हमें अपने जीवनमें जाननी है, वह जाननेमात्रसे ही प्राप्त होती है। और प्राप्त होती नहीं है, नित्य प्राप्त है और नित्य प्राप्त ही नहीं है, हम ही हैं, भला! आप इस क्रमको अपने चित्तमें बैठा लो भला। दूसरी कोई भी चीज ऐसी नहीं होती जो जानने मात्रसे मिल जाये। खोई हुई हो तो भी जानने मात्रसे मिल जाये। खोई हुई हो तो भी जानने मात्रसे नहीं मिलेगी और अपना आपा तो खोया हुआ भी नहीं होता। अपना आपा कभी खोया नहीं जाता।

केवल एक ख्याल बन गया है कि आत्मा परोक्ष है, आत्मा अप्राप्त है, आत्मा अविषय है, आत्मा विषयी है, यह ख्याल ही बन गया है—बिना ग्रन्थके, बिना प्रमाणके, बिना गुरूपदेशके। अज्ञान क्या तुमने गुरुके उपदेशसे ग्रहण किया है? तो अब गुरूपदेशसे तो उस अज्ञानको छोड़ो।

देखो, अपनेको अज्ञानी माननेमें प्रमाणकी खोज नहीं चलती। अज्ञानी कभी कोई हो नहीं सकता। हम यह मान सकते हैं कि कोई आदमी घड़ेको नहीं पहचानता हो, माने घट-विषयक अज्ञान उसको हो, लेकिन स्वविषयक अज्ञान उसको कैसे होगा? मैं घड़ेको नहीं जानता हूँ—यह बात मुझे अपने बारेमें बिलकुल पक्की मालूम है, मैं अणुबम बनाने और फोड़नेकी विधि नहीं जानता हूँ, अपना यह अज्ञान मुझे बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् मालूम है। लेकिन मैं तो ज्ञानस्वरूप सिद्ध हुआ न, भले अणुबमका ज्ञान न हो। जो बमके अज्ञानी अहंको जानता है वह तो ज्ञानस्वरूप हुआ न! और भले हम कालको न जानते हों पर कालके अज्ञानको तो जानते हैं। भले देशको न जानते हों, परन्तु देशके अज्ञानको तो जानते हैं। इसका अर्थ हुआ कि हम ज्ञानस्वरूप हैं और जो कुछ नहीं जाना जाता है उसको भी हम जानते हैं और जो जाना जाता है उसको भी हम जानते हैं। जो जिसको जानता है वह उससे न्यारा होता है इसलिए तुम जाने हुए अज्ञसे न्यारे हो, तुम जाने हुए 'ज्ञ'से भी न्यारे हो, माने ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही जीवोंसे तुम न्यारे हो; तुम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हो प्यारे! पंजाबी सन्त बोलते हैं तो प्यारे कहकर बोलते हैं, जैसे कि मेरे प्यारे आत्मा! जनता जनार्दनके रूपमें उपस्थित मेरी प्यारी आत्माओ!

जो घड़ेको जानता है वह घड़ेसे न्यारा होता है और जो अज्ञानीको जानता है वह अज्ञानीसे न्यारा होता है। यदि चित्रकूटवाले स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजके पास कोई जावे तो वे मूल बात यही पकड़ते हैं कि जब तुम घड़ेको जानते हो, तब घड़ेसे अलग हो। मच्छरको जानते हो, तो मच्छरसे अलग हो। देहादिको जानते हो तो देहादिसे अलग हो। तुम अज्ञताको जानते हो, तो अज्ञसे अलग हो। असन्तोषको जानते हो तो असन्तोषसे अलग हो। समाधिको जानते हो तो समाधिसे अलग हो। और तुमसे अलग कोई नहीं है। तुम्हारे बिना किसीका अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो

सकता। तुमको ही मालूम पड़ता है न कि यह महात्मा है, यह दुरात्मा है। तुम नहीं हो तो और क्या है?

तो आत्मा है तो बिलकुल साक्षात् अपरोक्ष—

मैं न खुदा था न बन्दा था मुझे मालूम न था।
मैं दोनों इल्लतसे जुदा था मुझे मालूम न था।

पर जब कहते हो कि हमको तो आत्मा दिखायी नहीं पड़ता, तो जिसको दिखायी नहीं पड़ता, वही तो आत्मा है। दिखायी नहीं पड़ता—ऐसा जिसको दिखायी पड़ता है उसीका नाम तो आत्मा है। श्रुति उसीको बताती है कि तुम्हारे बिना देश, काल, वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता और देश-काल-वस्तुके अज्ञानके भी तुम प्रकाशक हो, उनके भावाभावके भी तुम प्रकाशक हो तुम्हारी एक नजरमें देश-काल-वस्तु पैदा होते हैं और मरते हैं। तुम देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न हो।

अब आओ जरा—**किं तमस् तर्हि?** तो क्या आत्मा तमस् है? अरे, तमस् नहीं है, ज्योतियोंकी ज्योति है आत्मा! कर्मकाण्डमें जैसे धूप देते हैं न, तो मन्त्र बोलते हैं वैसे ही जब दीपक देते हैं तो एक मंत्र बोलते हैं—***ॐ अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चः स्वाहा।*** यह अग्नि क्या है? कि अग्नि ज्योति है, सूर्य ज्योति है, चन्द्रमा ज्योति है। ***येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः***—जिस तेजसे सूर्य तपता है।

हीरा कैसे चमकता है? बल्ब कैसे चमकता है? सूर्य कैसे चमकता है? ग्रह-नक्षत्र- तारे कैसे चमकते हैं? अच्छा, यह जो चमक है, वह अलग-अलग तारेमें अलग-अलग दीखती है और रंगरूपमें भी कुछ थोड़ा फर्क पड़ता है—शुक्रकी ज्योति सफेद है, बृहस्पतिकी ज्योति पीत है, मंगलकी ज्योति रक्त है, शनैश्चरकी ज्योति धूम्र है, बुधकी ज्योति हरित है—लेकिन ज्योति नामकी जो चीज है वह यदि इन उपाधियोंसे पृथक् करके देखें, तो भौतिक ज्योति भी एक ही है। वह एक चमक है, जब लाल तारेमें-से निकलती है तो लाल और पीले तारेमें-से निकलती है, तो पीली और सफेद तारेमें-से निकलती है तो सफेद। तारोंके अलग-अलग रंग होनेसे ज्योतिमें रंग नहीं आ जाता, पर वैसा दीखता है।

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

उसीकी ज्योतिसे यह सब ज्योतिषमान् हो रहा है। तो जरा नाम-रूपको अलग करके तब ज्योति स्वरूपका निश्चय करो, कल आपको सुनाया था—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।

सूर्यमें वही ज्योति है, चन्द्रमामें वही ज्योति है, अग्निमें वही ज्योति है, पर सूर्यकी ज्योतिमें जो दिखता है, सो वह नहीं है। अग्निकी ज्योतिमें जो दिखता है सो वह नहीं है। तो अब विचारमें गड़बड़ मत करना, वर्णसंकर विचार नहीं करना चाहिए, विचारको शुद्ध रखना चाहिए। जब व्यतिरेक करें तब व्यतिरेक विचार करना चाहिए, जब अन्वय करें तब अन्वय विचार करना चाहिए। देखो, यदि सूर्यकी ज्योतिमें ईश्वर दिखे, तो वह केवल रूप होगा; और चंद्रमाकी ज्योतिमें अगर ईश्वर दिखे तो वह केवल संकल्प होगा; और वाणी-अग्निकी ज्योतिमें अगर ईश्वर दिखे, तो वह केवल शब्द होगा। लेकिन बिना उसके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें कोई ज्योति नहीं है। इस अन्वय-व्यतिरेकके लिए दो श्लोकोंका आप ध्यान कर लेना—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

सूर्यके प्रकाशमें, चंद्रमाके प्रकाशमें वह दिखता नहीं। फिर तो मालूम पड़ता है कि वह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके प्रकाशसे बिलकुल अलग होगा? माने सूर्य, चन्द्रमा, अग्निके प्रकाशसे आत्मा व्यतिरिक्त है, जुदा है। लेकिन सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके प्रकाशमें उसका अन्वय भी है—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

इन दोनोंमें-से किसी एक श्लोकको पकड़ करके यदि ईश्वरके स्वरूपको समझनेकी कोशिश करो, तो वह अधूरा हो जायेगा। पहले तुम छोटे-छोटे परिच्छिन्न पदार्थोंमें जहाँ बँधे हुए हो, वहाँसे अपनी किरणको समेट लो। उसके बाद उस प्रकाशकी अखण्डताको जानकर सबके ऊपर फहरा दो। उस प्रकाशमें सब डूब जायेंगे, कोई दूसरा निकलेगा ही नहीं। लेकिन अगर निकालनेमें, समेटनेमें संकोच करोगे तब फिर अहंकी परिच्छिन्नता नहीं मिट सकती,

एक सज्जन कह रहे थे कि हमारा तो बिलकुल निषेध है, हमने

अशेष-विशेषका निषेधकर दिया। हमने पूछा-असन्तोष है कि नहीं? बोले-है। कहाँ है? कि मनमें है। तो असन्तोष तुम अपनेमें मानते हो, कि नहीं मानते हो? मानते हो तो मनका निषेध कहाँ हुआ? मनको जब मैं-मेरा मानते हो तभी न मनोगत असन्तोषको अपना असन्तोष मानते हो! निषेध पूरा कहाँ हुआ? जब निषेध पूरा होता है तो मोक्षका भी निषेध हो जाता है। निषेध जब पूरा हो जाता है तो ये जो तत्त्वमस्यादि महावाक्य हैं न, इनका भी निषेध हो जाता है। जब निषेध पूरा होता है तो इनसे होनेवाला जो वृत्ति ज्ञान है, उनका भी निषेध हो जाता है। जब निषेध होता है तो सद्योमुक्ति, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति-इनका भी निषेध हो जाता है। देखो, तुम्हारे निषेधमें सद्योमुक्ति है कि नहीं? जीवन्मुक्ति है कि नहीं? विदेहमुक्ति है कि नहीं?

बोले—यह सब तो निषेध हो गया,पर संसार तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है! तो बाह रे निषेध! अब तो स्वामी दयानन्दकी भाषामें बोलनेका मन होता है कि वाहरे लालबुझक्कड़! सबका तो निषेध कर दिया और संसार बना हुआ है? अरे! पहले संसारका निषेध होता है तब अपने स्वरूपका बोध होता है; तब तत्त्वमस्यादि वाक्यका भी निषेध हो जाता है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिका भी निषेध हो जाता है। मोक्षमें जो फलरूपता है उसका भी निषेध हो जाता है और निषेधका भी निषेध हो जाता है। माने अपना आपा ही रहता है। निषेध किसका करोगे? इसीसे लोग चलते हैं, परमात्माको प्राप्त करनेके लिए और रास्तेमें ही ऊबकर या तो निर्विण्ण होकर बैठ जाते हैं या तो सम्पूर्ण अविद्याका निषेध हुए बिना ही अपनेको ब्रह्म मान लेते हैं। अब लो निषेधका एक रहस्य बतावें : यदि निषेध पूरा होगा तो मैं ब्रह्म हूँ—इस वृत्तिका भी निषेध हो जायेगा, अपने ब्रह्मपनेका भी निषेध हो जायेगा। अस्तु।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

अब आओ 'ज्योतिषामपि तज्जयोति'पर एक विचार करें। ज्योति शब्दका अर्थ है 'ज्योतते इति ज्योतिः'। 'द्योतनं वा ज्योतिः'। यह द्युति शब्द जो है न, द्योतन, दिद्योतन, प्रद्योतन, उसीका विवर्त यह ज्योति शब्द है। माने *'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'* जो देव है, आत्मदेव,उसीके विवर्तको ज्योति बोलते हैं। पहले तो सब ज्योतियोंका समाहार इस शरीरमें ही है। जो इसमें

नहीं है, वह कहीं नहीं है। सूर्य इसमें है, चन्द्रमा इसमें है, अग्नि इसमें है। आँख न हो तो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि दिखायी न पड़ें। त्वचा न हो तो सर्दी-गर्मीका स्पर्श न हो, त्वचा न हो तो किसीको शैत्य और औष्ण्यका पता ही न चले। तो ये सब ज्योति हैं। तुम्हारे शरीरमें ज्योति हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः। इन्द्रियोंको ज्योति कहा है। ये ज्योति क्यों हैं। कि ये प्रकाशक हैं। रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति नेत्र है, स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति त्वचा है। यहाँ प्रकाशित माने ज्ञान है। शब्दको प्रकाशित करनेवाली ज्योति श्रोत्र है। रसको प्रकाशित करनेवाली ज्योति रसना है। गन्धको प्रकाशित करनेवाली ज्योति नासिका है। इसके बाहर कुछ पता नहीं चलता है, जो हमारी इन्द्रियोंमें आये, उसका पता चले।

बोले—सब इन्द्रियोंमें एक मन है। बात यह होती है कि ये आँख-कान दोनों अलग-अलग हैं। कानसे हम सुनते हैं और आँखसे हम देखते हैं। आँख और कान दोनोंके विषय भी अलग-अलग और दोनोंके द्वार भी अलग-अलग और रूपाकार, शब्दाकार वृत्तियाँ भी अलग-अलग। परन्तु कोई एक ऐसा है जो इनमें एक बना हुआ है; उसको मन बोलते हैं।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

यह मनका वर्णन है। वेदने बताया कि यह मन कैसा है—**ज्योतिषां एकं ज्योतिः।** ***ज्योतिषां इन्द्रियाणां सूर्य चन्द्रादि नाम वा, मनोवृत्तिनां वा एकं ज्योतिः।*** सूर्य और चन्द्रमादिकी भी एक ही ज्योति यह है। और देवताओंकी भी एक ही ज्योति यही है। इन्द्रियोंकी भी एक ही ज्योति यही है। इस मनीरामको कोई मामूली नहीं समझना। वेदमें वर्णन है कि इसके बिना कोई कर्म ही नहीं हो सकता। आपने पढ़ा होगा—

यत् प्रज्ञानमुत चेतोधृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु—तुम्हारे भीतर एक अमृत ज्योति है, उसको दूसरेके सामने मत रखो, पहले अपने सामने रखो। ये नाई लोग विजयदशमी या दीवालीके दिन शीशा लेकर आते हैं और मालिकके सामने कर देते हैं कि मालिक मुँह देखो और दो-चार पैसा लेकर चले जाते हैं। लेकिन तुम्हारे पास जो शीशा है, उसमें तुम दूसरोंका ही मुँह देखना-दिखाना चाहते हो?

'यज्ज्योतिरेकममृतं प्रजासु'-एक तो अमृत है वह ज्योति, अविनाशी है, और एक है और ज्योति है। तो **'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** माने जिस ज्योतिके बिना दूसरी ज्योतियाँ हो ही नहीं सकतीं। अच्छा, आप न रहें और मन रहे, तो उसकी क्या गति होगी? अच्छा, आप न रहें और इन्द्रियाँ रहें, तो उनकी क्या गति होगी? अच्छा, इन्द्रियाँ भी न रहें और यह सष्टि रहे तो इसकी क्या गति होगी? आपको मालूम पड़ेगी? इन्द्रियाँ रहें तो सृष्टि मालूम पड़ती है और न रहें तो नहीं मालूम पड़ती हैं। मन रहे तो सृष्टियोंका संकल्प होता है और न रहे तो नहीं होता है और आप न रहें तो क्या होगा, इसका ख्याल कीजिये। ईश्वर मालूम पड़ेगा? किसके लिए ईश्वर सिद्ध होगा? किसके लिए माया सिद्ध होगी? किसके लिए प्रकृति सिद्ध होगी? किसके लिए संसार सिद्ध होगा? किसके लिए गुरुजी रहेंगे और किसके लिए वेद, शास्त्र, पुराण रहेंगे? आप ही के लिए तो सब है न! आपके दर्शनमें सूर्य मदद कर रहा है। आपके स्पर्शमें वायु मददकर रहा है। आपके श्रवणमें दिशाएँ मदद कर रही हैं। आपके रसनमें रस—वरुण मदद कर रहा है। और आपके गन्धमें सम्पूर्ण पृथिवी मदद कर रही है। लेकिन यह आपके सामने ला-ला करके ही अपने विषय उपस्थित करते हैं। आपकी सत्ताके बिना सिद्ध होंगे ये? तो जैसे तारे अलग-अलग हैं और उनके रंगरूप भी अलग-अलग हैं, लेकिन उनमें ज्योति एक ही है। आसमानमें तारे होते हैं, हीरे होते हैं-'खं माणिक्यं'। आकाशमें जैसे हीरे छिटके हुए हैं ऐसे धरतीपर आप हीरे हो। ये सब हीरे हैं, लेकिन अलग-अलग। काला रंग होनेपर भी, लालरंग होनेपर भी, पीला रंग होनेपर भी, गोरा रंग होनेपर भी, एक अखण्डज्योति सबमें प्रकाशित हो रही है। इसका अर्थ है कि आत्मासे ही सबकी सिद्धि है। और इसीके लिए सबकी सिद्धि है। इसीमें सबका उदय होता है और इसीमें सबका लय होता है। इसलिए अखण्ड सत्ता, अखण्ड ज्योति किसी वस्तुकी है तो अपने आत्माकी है। **ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः**। प्रकाशका भी प्रकाश है।

आप जरा केनोपनिषद्‌के उस भावको देख लीजिये : *'चक्षुश्चक्षुः मनसो मनः प्राणस्य प्राणः वाचो हि वाचं'* जो आँखकी भी आँख है, मनका भी मन है, प्राणका भी प्राण है, माने सार-सार है। जैसे घीके बिना

मक्खन नहीं होता, जैसे मक्खनके बिना दूध नहीं होता, वैसे आत्माके बिना कुछ नहीं होता। हम सब लोग जो अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, पर हैं सब एक ही। उपनिषद्में वर्णन आया है—

तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पी।

तिलके दाने अलग-अलग होते हैं, लेकिन उसमें जो तेल है वह एक ही है। दही अलग-अलग मटकेमें अलग-अलग होता है, लेकिन उसमें जो घी है वह बिलकुल एक ही है। और घी एक न हो तो मिट्टी तो सबमें एक है न! ये घी, तेल मिट्टीके ही विकार हैं। ये मार्तिक है, गन्ध प्रधान हैं। गन्ध प्रधान होनेसे ये पार्थिव हैं सबके सब। चाँदी भी पार्थिव है, शीशा मिट्टी है, पीतल मिट्टी है, ताँबा मिट्टी है, लोहा मिट्टी है। धातुओंका नाम अलग-अलग रखते हैं, पर हैं ये सब पार्थिव। केवल सोना ही तैजस है, क्योंकि वह अग्निमें जलता नहीं है और यह चाँदी, पीतल, ताँबा, काँसा, लोहा—ये सब आगमें जल जाते हैं। तो ये सब-के-सब मार्तिक हैं—पार्थिव हैं। इसी प्रकार यह जितना दृश्य दिखता है यह सब आत्मिक है। चूँकि आत्मिक है, इसलिए यह आत्मामें विवर्त है। आप इस बातको ध्यानमें रखें, क्योंकि आत्माके अनन्त जीवनमें उत्पत्तिकाल, प्रलयकाल, स्थितिकाल, कल्पित होता है। इसलिए दृश्य, दृश्यताका आदिकाल, दृश्यताका मध्यकाल, दृश्यताका अन्तकाल—यह आत्मदृष्टिमें आरोपित है। कैसे? तो आप वेदान्तकी इस भाषाको समझें।

नहिं द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता। माने द्रष्टाकी दृष्टि अनन्त है। द्रष्टा और दृष्टि दो नहीं हैं, इसका मतलब यह हुआ। तो उस अनन्त, अनादि दृष्टिमें किसी भी दृश्यका उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल और प्रलयकाल केवल कल्पित रीतिसे ही हो सकता है। और कब होता है कि जब हम अपनेको दृश्य देहके साथ मिलाकर, मैं करके, बैठते हैं। कोई अगर संसारको सत्य कहे तो उससे यह सिद्ध होता है कि उसका मैं देहमें है। उसका मैं परिच्छिन्न है। उसका मैं दृश्यमें है। अभी उसको दृश्यादृश्यके अधिष्ठान स्वयं प्रकाश आत्मवस्तुका बोध नहीं है। संसार यदि सत्य है, तो उसको सत्य बतानेवाला

संसारी है, संसारमें बैठा हुआ है; संसारमें बैठकर संसारको सच्चा देखता है। जरा ऊपर उठकर देखो।

तो अनादि अनन्त दृष्टिमें उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल और प्रलयकालका पृथक्-पृथक् भेद ही नहीं हो सकता। कारण वस्तु और कार्य वस्तुका भेद ही नहीं हो सकता! लम्बी वस्तु और चौड़ी वस्तुका भेद ही नहीं हो सकता। लम्बाई-चौड़ाई, पहले-पीछे, कार्य-कारण ये अनादि, अनन्त, परिपूर्ण, अविनाशी दृष्टिमें नहीं हो सकते। हार नहीं मानना—**अनिर्विण्णः** जबतक अद्वैतका बोध न हो जाये, तबतक लगे रहना, लगे रहना। ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः।

बोले—जब कुछ नहीं है तब अन्धकार है। यह अन्धकार किसको है? जिसको विषयकी चमक देखनेका अभ्यास है। रात्रि अन्धकार किसके लिए है? जिसने दिन देखा है। जिसने दिन नहीं देखा है उसके लिए रात्रि अन्धकार नहीं है। अन्धकार और प्रकाशकी कल्पना एक द्वन्द्वात्मक एक भौतिक कल्पना है। जिसने कभी दिन नहीं देखा, उसको यह रात है यह कैसे मालूम पड़ेगा? वह तो दिनके संस्कार, अग्निज्योति, सूर्यज्योति, चन्द्रज्योतिको पृथक्-पृथक् देख लेते हैं तब उनके अभावकालमें तमस्का दर्शन होता है।

आप जानते हैं, अन्धकारमें वजन नहीं होता है। जैसे सोना-चाँदी-हीरा-मोती तौलते हैं वैसे अन्धेरेमें वजन नहीं होता। अन्धेरेका वजन मनमें होता है। हाय-हाय रात आगयी। जैसे पृथिवी एक वस्तु है, अग्नि एक वस्तु है, वायु इन्द्रियोंको गुदगुदानेवाली एक वस्तु है, वैसे अन्धकार कोई वस्तु है क्या? 'हे नाथ नारायण वासुदेव!' इसपर बड़ा शास्त्रार्थ है दर्शनशास्त्रमें। बोले—अन्धकार चलता हुआ मालूम पड़ता है, क्रिया होती है। तो ***गुण-क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्***—क्रियाका जो आश्रय है, वह तो द्रव्य होता है, इसलिए अन्धकार भी द्रव्य होना चाहिए! अंधकारमें नीलता-रूप गुण है और चलन क्रिया है, इसलिए तम द्रव्य है।

बोले—नहीं अंधकारमें जो चलन क्रिया मालूम पड़ती है वह अन्यके चलनसे है; पृथिव्यादिके चलनसे अन्धकारमें चलनकी प्रतीति होती है। वह औपाधिक होता है। सूर्य नीचे जाता है, पृथिवी घूमती है, तो अन्धेरा आता

हुआ भासता है। इसीको औपाधिक बोलते हैं। पृथिवीका चलना, अन्धकारका चलना मालूम पड़ता है। परछाईं जो पड़ती है आदमीकी, वह आदमीके शरीरके चलनेसे या सूर्यके चलनेसे चलती मालूम पड़ती है, परछाईं थोड़े ही चलती है। अच्छा, अन्धकारमें नीलतारूप रंग कैसे मालूम पड़ता है? बोले—वह प्रकाशके बीचमें जो ओट आ गयी न, अन्तराय आ गया, उससे उसमें रंग मालूम पड़ता है, वह भी औपाधिक है। माने अन्धकारको यदि क्रिया और गुणका आश्रय मानो तो उसमें गुण भी औपाधिक है और क्रिया भी औपाधिक है। इसलिए अन्यके गुण-क्रियाका आरोप करके जब द्रव्यका निश्चय करोगे तो वह भी तो आरोपित ही होगा न! अत: यह जो विषयको छोड़ देनेपर अन्धकार मालूम पड़ता है वह कोई वस्तु या द्रव्य नहीं है। वह प्रकाशका अभाव है।

लो एक अभावकी ही बात आपको सुना देते हैं। जिस इन्द्रियसे जिस वस्तुकी सत्ता सिद्ध होती है और जिस इन्द्रियसे जिसकी जाति सिद्ध होती है उसी इन्द्रियसे उसका अभाव भी सिद्ध होता है। जिससे यह प्रपंच सिद्ध होता है, उसीसे प्रपंचाभाव अन्धकार भी सिद्ध होता है। तो तुम्हारी सत्ता ही तो अन्धकार सिद्ध कर रही है। अरे अन्धकार देखनेसे मालूम पड़ता है कि बिना देखे मालूम पड़ता है? जिसको अन्धेरा मालूम पड़ता है वह है कि नहीं? जिसको सबका अभाव मालूम पड़ता है वह है कि नहीं है? जिसको अज्ञान मालूम पड़ता है वह है कि नहीं है? तो **तमसः परमुच्यते** का अर्थ यह हुआ कि **ज्योतिषामपि तद्ज्योतिः किं पुनः तमसां तमसामपि तज्ज्योतिः**। एक संस्कृत भाषाकी विशेषता बता देते हैं।

वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है, फिर अन्धकारकी भी ज्योति है-यह तो कहना ही क्या?

तत् ज्ञेयं तमसः परम, ज्योतिषां परम्—वह सम्पूर्ण ज्योतियोंसे परे भी ज्योति है और सम्पूर्ण तमोंसे परे भी ज्योति है। और वह सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी प्रकाशक-ज्योति है और वह सम्पूर्ण तमोंकी भी प्रकाशक ज्योति है। **ज्योतिषामपि** में जो 'अपि' शब्द है न, उसमें यह सामर्थ्य है कि वह तमस्‌को भी खींच ले। ज्योतिषामपि **तद् ज्योतिः किं पुनः तमसाम्। न केवलं तमसः परम् अपि तु ज्योतिषामपि परम्।** वह केवल अन्धकारसे

परे है—ऐसा नहीं, ज्योतिसे भी परे है। परेका अर्थ तो आप जानते ही हैं, परेका अर्थ अधिष्ठान ही होता है, अन्तरंग होता है, प्रकाशक होता है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठोपनिषद्)

जो अन्धकार और प्रकाश, आध्यात्मिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश और आधिभौतिक प्रकाश सभीसे परे है। आधिभौतिक प्रकाश एक जुगनूसे लेकर समष्टिके प्रकाशक सूर्य अथवा समष्टि ज्योति, तैजस् तत्त्वपर्यन्त है। आध्यत्मिक ज्योति, आँख, कान, नाकमें अलग-अलग ज्योतिसे लेकर जीवपर्यन्त है। और आधिदैविक ज्योति सूर्य देवता, चन्द्र देवता, अग्नि देवता, इन्द्र देवता, वरुण देवता, कुबेर देवता, ये जितने देवता हैं उनसे ले करके ईश्वर पर्यन्त है। ***परे देवे सर्वे एकी भवन्ति। परस्यां देवतायां सर्वे एकी भवन्ति।*** उस पर देवता ईश्वरमें, समष्टिके देवतामें, सब एक हो जाते हैं। और व्यष्टिमें यह जो चक्षुः देवता है, त्वग् देवता है, जो घ्राण देवता है, जो रसना देवता है, यह जो विश्वेदेवता है—निरुक्तमें विश्वेदेवा माने यही इन्द्रियाँ, इनकी यही व्याख्या की हुई है—ये देवता हैं और इन देवताओंकी अन्तिम ज्योति जीव ज्योति है। तो आध्यात्मिक ज्योतिके रूपमें, जीव और आधिदैविक ज्योतिके रूपमें ईश्वर और आधिभौतिक ज्योतिके रूपमें सूर्य, तैजस् तत्त्वादि, इन तीनोंकी ज्योति और इनसे परे भी जो इनकी प्रकाशिका ज्योति है वही ज्ञेय ब्रह्म है। मैं-के रूपमें अपरोक्ष ज्योति, बल्ब और सूर्यादिके रूपमें प्रत्यक्ष ज्योति और ईश्वरके रूपमें परोक्ष ज्योति—सबमें ज्योति डालनेवाला जो है वह एक है। वह जबतक अज्ञात है तब तक परोक्ष है। ईश्वर अन्यरूपसे कब तक है? जबतक अज्ञात है। किन्तु ज्ञातरूपसे अध्यात्म ज्योति जीव और अधिदैव ज्योति ईश्वर दोनों एक हैं और अधिभूत ज्योति उसीका विवर्त है। अध्यात्म ज्योतिका मूल जीव है, अधिदैव ज्योतिका मूल ईश्वर है। ईश्वर परोक्ष है और जीव अपरोक्ष है, और सूर्यादिकी ज्योति प्रत्यक्ष है। तो जबतक वह परोक्ष ज्योति ईश्वर अज्ञात है, अन्य है,

तबतक आधिभौतिक ज्योति भी सत्य है, आध्यात्मिक ज्योति भी सत्य है, आधिदैविक ज्योति भी सत्य है। लेकिन जहाँ अध्यात्मकी उपाधि हटाकर शुद्ध ज्योतिको देखोगे और कल्पित अधिदैव उपाधिको हटाकरके जब वहाँ सत्य ज्योतिको देखोगे; तो ये दोनों असलमें एक हैं, औपाधिक भेदसे ही भिन्न-भिन्न हैं। और तब उसके बाद क्या होगा कि आधिभौतिक ज्योति केवल विवर्तमात्र रह जायेगी। आधिदैविक ज्योति अप्रतीत हो जायेगी, आध्यात्मिक ज्योति अप्रतीत हो जायेगी। स्वर्गादिमें रहनेवाले जो देवता हैं न, वे अप्रतीत हो जायेंगे, उनकी प्रतीति मिट जायेगी, केवल संस्कारानुवृत्तिसे ही उनका वर्णन करेंगे। और यह जो अध्यात्म ज्योति हैं पृथक्, स्वर्ग-नरकादिमें जाने-आनेवाला जीव और स्वर्गनरकादिके अधिष्ठाता इन्द्र, यमराज आदि—ये सब अप्रतीत हो जायेंगे। यह स्वर्ग, नरक आदिके अधिष्ठाता जो इन्द्र, यम आदि हैं वे अधिदैव ज्योति हैं और अन्त:करणको पकड़ करके पाप-पुण्यके अनुसार जो जाने-आनेवाला है जीव, वह अध्यात्म ज्योति है। दोनोंको प्रकाशित करनेवाली ईश्वर ज्योति है। लेकिन जब अध्यात्म-ज्योति जो जीवसाक्षी है, उसका और जो अधिदेव ज्योति है जो ईश साक्षी है उसका, दोनोंकी एकताका बोध हो जायेगा तब अन्त:करण? अन्त:करण इस स्थूल शरीरके छूटनेके बाद रहेगा यह कल्पना भी मिट जायेगी और इसका पुनर्जन्म होगा कि नरकमें जायेगा, यह कल्पना भी मिट जायेगी। यही तो मुक्ति हुई न! और इन्द्रादि देवता जो हैं वे कहीं हमसे परोक्ष रह करके कोई काम कर रहे हैं, यह कल्पना भी मिट जायेगी। ईश्वर ज्योतिसे एक हो जानेपर वे सब प्रत्यक्षकी कोटिमें आ जायेंगे, आधिभौतिक हो जायेंगे, उनकी आधि दैविकता भी नष्ट हो जायेगी और जीवकी आध्यात्मिकता भी नष्ट हो जायेगी। और एक ब्रह्म ज्योति, अखण्ड ज्योति, जिसमें आध्यात्मिक जीव, आधिदैविक इन्द्रादि और आधिभौतिक सूर्य आदि जिसमें कल्पित हैं और केवल भासमान हैं वह अखण्ड ज्योति ब्रह्म अवशिष्ट रहेगी।

बोले—यहाँ ब्रह्म शब्द भी, खण्डकी व्यावृत्तिके लिए है। खण्डको मिटानेके लिए अखण्ड बोलते हैं। तमस्को हटानेके लिए ज्योति बोलते हैं। परिच्छिन्नको हटानेके लिए ब्रह्म बोलते हैं। बोले—क्यों बोलते हो? अच्छा लो, हम नहीं बोलते हैं। तुम्हारा काम हो गया ना? रोग अगर मिट गया, तो

रोगी भी अगर चाहे तो वैद्यसे कह सकता है कि अब क्यों दवा देते हो? ऐसा बोलना रोगीका अधिकार है। वैद्य कहेगा कि भाई शायद रोगकी कोई जड़ बाकी हो, कोई कमजोरी बाकी हो, तो उसको मिटानेके लिए दो-चार खुराक और सही। बोले—मैं बिलकुल स्वस्थ हूँ। स्वस्थ हो तो दवाकी जरूरत नहीं है। इसी प्रकार परिच्छिन्नताके रोगकी दवा है। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान। अज्ञान रोगकी दवा है ज्ञान। यह गमनागमन क्रियाके आरोपको मिटानेके लिए जरूरी है।

एक यह भी ध्वनि निकलती है कि **तज्ज्योतिः तत् तमः** वही ज्योति है, वही तम है। उसके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं, **केवलं उच्यते, ज्योतिः इति उच्यते। परं इति उच्यते।** पहले कहा था—

न सत्तन्नासदुच्यते। उसको न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं। अब बोलते हैं उसको कह सकते हैं। क्या? कि ज्योतिसे परे वही है, तमसे परे वही है : **तमसः परमुच्यते।** अन्धकारमें अन्धकारी वह नहीं है और ज्योतिमें ज्योतिस् वह नहीं है। तब वह क्या है? **केवलमुच्यते**— केवल कहा जाता है। क्यों? कि कहनेका प्रयोजन है। जो अन्धकारमें भटके हुए लोग हैं, उनके लिए प्रवचन है, वचन है। उच्यते को ही तो वचन बोलते हैं ना; प्रोच्यते को प्रवचन बोलेंगे। उच्यते इति वचनं। और प्रोच्यते इति प्रवचनं। प्रकृष्टं वचनं प्रवचनं। केवल कहा जाता है क्योंकि मनुष्यके मनमें जो विपरीत भाव है उसको हटानेके लिए कहा जाता है। कुछ भी विधान करनेके लिए नहीं कहा जाता है। केवल रोग मिटानेके लिए। शरीरमें जो रोग होता है वह मृत्युका कारण होता है और अपने आनन्दमें जो रोग होता है वह दुःखका कारण होता है। तो आनन्दमें रोग नहीं होता, रोगका विवर्त ही होता है और सत्तामें मृत्यु नहीं होती, मृत्यु सत्ताका विवर्त है। आप देख लेना घड़ा मरता है, मिट्टी नहीं मरती, तो मिट्टीमें घड़ा विवर्त है, उसका बनना विवर्त है, उसका रहना विवर्त है, उसकी मृत्यु विवर्त है। मिट्टी न पैदा होती, न रहती, न मरती है। इसी प्रकार सत्ता ज्यों-की-त्यों, उसमें सृष्टि न उत्पन्न होती, न रहती, न मरती है। यह **जन्माद्यस्य** आदि जो है न—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते;** यह विवर्त विधया जायन्ते बताते हैं, माण्डूक्य कारिकामें यह आया है, *भूततोऽभूततो वापि सृज्यमान समाश्रुतिः*-चाहे सृष्टि

तात्त्विक हो, चाहे मायिक वर्णन, तो एक ही ढंगसे किया जायेगा। समझदार लोग समझ जायेंगे कि यह तात्त्विक नहीं, मायिक है।

तो यह परमात्मा कैसा है? बोले-कहा तो यह जाता है कि वह ज्योतियोंकी ज्योति है, तमसे परे है, ज्योतियोंसे भी परे है और तमका भी प्रकाशक है। लेकिन असलमें, बोले—यह ज्ञानम् है। *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।* ज्ञान ब्रह्म है। ज्ञानमें जड़ता विवर्त है। आनन्दमें दुःख विवर्त है। सत्तामें मृत्यु विवर्त है। अनन्तमें परिच्छिन्नता विवर्त है। चार चीज बस हमारे पीछे झूठी पड़ी हैं। एक तो जो यह लगता है कि मैं मरता हूँ—यह बात झूठी है। तुम सत्स्वरूप हो मरते नहीं हो। और दूसरे जो यह मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञान हो-यह भी झूठ है। तुम ज्ञानस्वरूप हो। तीसरी बात जो यह मालूम पड़ती है कि तुम दुःखी हो—यह बात बिलकुल गलत है, तुम आनन्द स्वरूप हो और चौथी बात यह है कि जो तुम अपनेको परिच्छिन्न मानते हो वह बात बिलकुल गलत है, तुम अपरिच्छिन्न हो।

तुम्हारे जीवनमें अगर ये चार प्रकारकी अनुभूतियाँ हैं कि—

(i) मैं मरता हूँ।

(ii) मैं अज्ञ हूँ।

(iii) मैं दुःखी हूँ।

(iv) मैं परिच्छिन्न हूँ।

यह चार प्रकारकी संवेदना अगर तुमको होती है, तुम्हारे जीवनमें ये चारों मूर्खता यदि दृढ़ होकर, पक्की होकर बैठ गयी हैं, तो इस मूखर्ताको दूर करनेके लिए यह वेदान्त है। यदि कहो कि यह मूर्खता हमारेमें नहीं है, तो यह हमारा ज्ञान है भाई!

काकोऽलूकनिशेवायं संसारोज्ञात्मदेहिनो।

कौवेके लिए जो रात है वह उल्लूके लिए दिन और जो उल्लूके लिए रात है वह कौवेके लिए दिन है। यदि तुम कहते हो कि यही हमारा ज्ञान है कि हम अज्ञानी हैं, हम दुःखी हैं, हम कटे-पिटे, अपने प्रीतमसे बिछुड़कर भटक रहे हैं, यदि यही तुम्हारा ज्ञान है, तो यह ज्ञान तुम्हें मुबारक हो, यह ज्ञान नहीं है भ्रान्ति है। तुम्हारी इसी भूलको मिटानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति

होती है, तुम मरते नहीं हो, तुम अजर-अमर-अविनाशी हो और तुम स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप हो, तुम स्वयं परमानन्दस्वरूप हो,तुम खण्ड-खण्ड नहीं परिच्छिन्न नहीं, देश-काल-वस्तु कहींमें नहीं, तुम साढ़े तीन हाथके घेरेमें नहीं, यह आकाश तुम्हारे मनकी कल्पनामें है, कितने बड़े हो तुम। यह सम्पूर्ण आकाश तुम्हारे मनकी कल्पनामें है, इतने बड़े हो तुम, आकाशसे बड़े हो, ***आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।*** तुम दुःखी नहीं हो, परमानन्द स्वरूप हो, तुम विनाशी नहीं अविनाशी हो। अगर यह भूल है तुम्हारे अन्दर, तो वेदान्तकी शिक्षा प्राप्त करो, इसको मिटानेके लिए। और अगर यह भूल नहीं है, तुम्हारा पक्का ज्ञान है तो शिक्षा पानेकी भी जरूरत नहीं, वेदान्त कहता है हमारी भी जरूरत नहीं है। तुम्हारा रोग अच्छा हो गया, अब रोज-रोज वैद्य, डॉक्टर क्यों घरमें आवे? और यदि रोग है भाई, तो उसकी जड़ मत छोड़ना, उसको मिटाकर फेंक देना। अस्तु :

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वेद मन्त्रोंमें जहाँ-जहाँ ज्योति शब्द आता है, उसके तीन अर्थ बताये हैं—अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म। अधिभूत ज्योति हैं आदित्यादि। जो ज्योति हम देखते हैं, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, दीपक, बिजली—ये सब अधिभूत ज्योति हैं। माने विषयमें भी एक ज्योतिर्मण्डल होता है, आप ध्यान देकर देखो, सामान्य रूपसे अपनी आँखकी ज्योति चन्द्रमातक नहीं पहुँचती, सूर्य तक नहीं पहुँचती, तारे तक नहीं पहुँचती। वे अपने ज्योतिर्मण्डलका विस्तार करते हैं; जब उनकी ज्योति हमारी आँखमें प्रवेश करती है, तब हम उनको देखते हैं। अब दूर कोई राई पड़ी हो, तो नहीं दिखेगी, पहाड़ हो तो दिख जायेगा। तो केवल आँख ही देखती होती तो राई, पहाड़ दोनोंको देखती, लेकिन पहाड़का ज्योतिर्मण्डल बड़ा है, राईका ज्योतिर्मण्डल छोटा है, इसलिए दूर पड़ी राई नहीं दिखती है, और पहाड़ दिखता है, तो इसको आधिभौतिक ज्योति बोलते हैं। इनमें भी जो ज्योति है सो वही है—'ज्योतिषामपि तज्जयोतिः'। और अधिदैवमें जो ज्योति है, जिसकी हम उपासना करते हैं, अकार, उकार और मकारके अर्थके रूपमें जिसकी उपासना होती है, वह सब अधिदैव ज्योति है, उसमें तो सब है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् अधि विश्वे देवा निषेदुः।
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत्थं विदुः त इमे समासते॥

यह ऋग्वेदका मंत्र है, आरण्यकमें भी है, ब्राह्मणमें भी है, संहितामें भी है। सम्पूर्ण वेदोंका प्रतिपाद्य अविनाशी, अक्षर परमाकाशमें विराजमान मूल तत्त्व है। ***यस्मिन् विश्वे अधिदेवा निषेदुः।*** जिसमें सारी इन्द्रियाँ समायी हुई हैं। तो अधिदैव और अध्यात्म इनका भेद देखो। जो हम कहते हैं न—**योऽसावसौ आदित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि,** तो उसमें 'योऽसौ आदित्ये पुरुषः' वह अधिदैव हुआ। आदित्य तो अधिभूत है पर ***योऽसावसौ आदित्ये पुरुषः*** उसमें जो पुरुष है वह अधिदैव हुआ और 'अहमस्मि', यह जो अहं है यह अध्यात्म हुआ और दोनोंकी एकताका बोध हो गया। जैसे—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।

ध्यान करो कि सूर्यमण्डलमें कमलपर बैठे हुए नारायण हैं। तो सूर्य अधिभूत ज्योति है और उसमें जो नारायण हैं वे अधिदैव ज्योति हैं। तो परमात्माका यही स्वरूप है। आँखके भीतर अन्तःकरण, इन्द्रियोंके भीतर अन्तःकरण, अन्तःकरणके भीतर 'ज्ञ'-जीवात्मा, यह अध्यात्म है। और सम्पूर्ण विश्व समष्टि महत्तत्त्व, उसमें 'ज्ञ' हिरण्यगर्भ और मायामें ज्ञ ईश्वर। ये प्रकाशक हैं।

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

देखो, विषय अधिभूत है, करण अध्यात्म है और सुर अधिदैव है; और तीनोंके मूलमें जीव है हिरण्यगर्भ। 'सकल एक तें एक सचेता' और सबका प्रकाशक ईश्वर है।

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।

जग पेखन तुम देखिनि हारे। विधि हरि सम्भु नचावनि हारे॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः। तो अध्यात्म ज्योतिमें इन्द्रियोंसे लेकर जीवपर्यन्त और अधिदैव ज्योतिमें आँखके देवतासे लेकर अन्तर्यामी ईश्वर-पर्यन्त और अधिभूत ज्योतिमें तैजस तन्मात्रा, शब्द तन्मात्रा भी, क्योंकि शब्द तन्मात्रामें भी प्रकाशकत्व है। केवल आँखके प्रकाशकको प्रकाशक समझते हैं तो बड़ी स्थूल दृष्टि है। अर्थ प्रकाशकत्व तो शब्दमें भी है न! जो चीज आँखसे नहीं दिखायी पड़ती, जो चीज मनसे ठीक अनुमानमें नहीं आती,

उसको शब्दसे बोलकर बता देते हैं, इसीलिए तो शब्दमें प्रमाणत्व है। शब्द भी प्रमाण होता है। यदि अर्थ प्रकाशकत्व न हो तो प्रमाणत्व कहाँसे आवेगा। तो इसका अर्थ हुआ कि नेत्रादिरूप इन्द्रिय ज्योति, वाग्ज्योति, शब्द ज्योति, हिरण्यगर्भादिरूप ज्योति, जीव ज्योति, ईश्वर ज्योति, ये सब व्यष्टि-समष्टिकी उपाधि अवान्तर उपाधि, इन उपाधियोंके भेदसे पृथक्-पृथक् ज्योति भासती है। यदि उपाधिका अपवाद करके देखें तो जो निरुपाधिक ज्योति है उसीको ब्रह्म बोलेंगे।

तमसः परमुच्यते। बोले—हम तो ध्यान करके देखते हैं, कुछ नहीं मालूम पड़ता है। अरे भाई, 'कुछ नहीं' मालूम पड़ता है कि नहीं? कुछ नहीं दीखता है—ऐसा मालूम पड़ता है तो यह जो मालूम पड़ना है वह कौन है? **तमसः परमुच्यते।** यह प्रकृतिसे परे है, यह मायासे परे है, यह अविद्यासे परे हैं, यह अन्धकारसे परे है। परे है माने उससे भी अन्तरंग है, अपना आपा है। इसीका नाम क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है।

किसीने महात्मासे पूछा-ईश्वर कैसा? बोले—जैसा तू। बोला—मैं कैसा? कि जैसा ईश्वर। जैसा मैं वैसा ईश्वर, जैसा ईश्वर वैसा मैं। कई लोग बिहारीजीका दर्शन करने जाते हैं, तो आज पीली पोशाक है देखकर चले आते हैं, मुखारविन्दका दर्शन ही नहीं होता है। तो यदि तुम पोशाक ही देखने लग जाओ, तब तो बात जुदा है

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।

जहाँ ऐसा लगता है कि कुछ नहीं मालूम पड़ता, वहाँ कुछ न मालूम पड़नेका जो साक्षी है, जो द्रष्टा है, उसका नाम आत्मा है। तो इसमें एक ही बात बस ध्यान रखनेकी है। क्या? जो इन्द्रियोंकी और मनोवृत्तियोंकी, उपाधिसे विषयोंका ज्ञान प्राप्त करता है, सोपाधिक चैतन्य है, उसीको विषयोंका ज्ञान होता है, वही विषयको ग्रहण करता है; परन्तु जो शुद्ध चैतन्य है न, कूटस्थ चैतन्य, वह ग्रहीता चैतन्य नहीं है, शुद्ध चैतन्य है। और उस कूटस्थ चैतन्यका ब्रह्मके साथ मुख्य सामानाधिकरण्य है, माने जो कूटस्थ चैतन्य वही ब्रह्म और जो ब्रह्म वही कूटस्थ चैतन्य। और यह जो, इन्द्रियोंके द्वारा, मनोवृत्तियोंके द्वारा ज्ञाता जीव है, यह तो वस्तुतः आभास है। इसलिए इसका ब्रह्मके साथ बाध समनाधिकरण्य है। यह जीव ब्रह्म है, परन्तु

जीवत्वके बाधित होनेपर। परन्तु कूटस्थ जो है वह स्वयं ज्यों-का-त्यों ब्रह्म है। **तमसः परमुच्यते।**

अब एक और विलक्षण बात सुनाते हैं क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें, वह क्या है—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

एक बड़े विद्वान् संन्यासी थे। एक पूरा तो मकान था,बीस-तीस कमरे होंगे उसमें, और वे अकेले ही रहते थे उसमें, कोई नौकर-चाकर, कि चेला-चेली, कोई नहीं था। सिर्फ घण्टे भरके लिए नौसे दस बजेतक खोलते थे और शंकरानन्दी गीता पढ़ाते थे। तो एक दिन मैं पहुँच गया और वहाँ यही श्लोक हो रहा था— **ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम् हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।** उनकी गीतामें 'विष्ठितम्' पाठ नहीं था, 'धिष्ठितम्' था। हमने कहा बाबा, यह तो 'विष्ठितम्' है,'धिष्ठितम्' तो नहीं है। तो उन्होंने फिर इसका इतिहास बताया। बोले—गीताकी कितनी टीकामें 'विष्ठितम्' पाठ माना हुआ है और कितनी टीकामें 'धिष्ठितम्' पाठ मान हुआ है। यह सब उनको कंठस्थ था। 'विष्ठितम् माने 'विशेषेण स्थितम्'। **हृदि सर्वस्य अधिष्ठितम्**—अकारका लोप हो गया तो धिष्ठितम् हो गया।

अब आप देखो, यह परमात्मा क्या है? ज्ञानके सिवाय और कुछकी कल्पना छोड़ दो, बिलकुल साक्षात् अपरोक्ष है। ज्ञानके सिवाय बाहर कोई विषय है या भीतर विषय है, यह कल्पना छोड़ दो। बाहर-भीतर तो कल्पित है ज्ञानमें। ज्ञानमें बाहर-भीतरकी एक आकृति समायी हुई है, वह तो ज्ञानमें फुरना-मात्र है।

अब देखो बाहर क्या हो और भीतर क्या हो, भीतर समाधि लगे और बाहर ब्याह हो, इस कल्पनाको छोड़कर जो ज्ञान है वह परमात्माका स्वरूप है। और कल यह हो गया और आगे यह होनेवाला है, इस कल्पनाको छोड़ दो, तो ज्ञान है। यह शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गन्ध है, इस कल्पनाको छोड़ दो तो ज्ञान है। यह आँख, कान, नाक,जीभ है, इस कल्पनाको छोड़ दो तो ज्ञान है। यह संकल्प है, यह विकल्प है, यह निश्चय है, यह अहंक्रिया है, अन्त:करणकी इन वृत्तियोंको छोड़ दो, तो ज्ञान है। यह अपवादकी प्रक्रिया है। विक्षेप और समाधिको छोड़ दो तो ज्ञानम् है। सन्तोष-असन्तोषको छोड़

दो तो ज्ञानम् है। ज्ञानमें ज्ञानका विषय कुछ न हो और ज्ञानमें ज्ञातापनेका अभिमानी कोई न हो। और विषयमें देश-काल-वस्तु सब, देशमें दूर और निकट, बाहर और अन्तर यह भेद मत करो और कालमें भूत-भविष्य-वर्तमानका भेद मत करो और अपनेमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद मत करो। ये सब ज्ञानके विलास हैं, ज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानमें ही स्थित हैं, ज्ञानमें ही लीन होते हैं और ज्ञानस्वरूप तुम हो। देखो, यह तो बिलकुल हाजरा-हजूर है। यह भगवान् कैसा? बोले—हाजरा-हजूर। यह तो बिलकुल हाजिर-नाजिर है। माने साक्षात् अपरोक्ष है। नाजिर माने साक्षात्। ईश्वर कैसा? बोले—हाजिर-नाजिर। ज्ञानम्।

आप इसको फिर-फिर विचार करें। यह चित्र दिखता है, पार्थसारथी भगवान् कृष्ण रथपर बैठे घोड़ोंका संचालन कर रहे हैं, चित्र दिख रहा है। यह रूप है, यह दृश्य है। इसका प्रतिविम्ब जब आँखमें पड़ता है, तब यह दिखायी पड़ता है।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्।

चित्र दृश्य है और आँख ज्ञान है। और आँख दृश्य है और मानस ज्ञान है। और मानस दृश्य है और मैं ज्ञान हूँ। और देश-काल-वस्तुका जो भेद भासता है वह मानसमें भासता है। क्योंकि सुषुप्तिमें नहीं भासता है। तो ज्ञान कौन हुआ? कि मैं। तो मैं-से ही मानस इन्द्रिय और विषयकी सिद्धि है; और मैं-से ही मानस इन्द्रिय और विषयकी स्थिति है; और मैंके रहते ही मानस इन्द्रिय और विषयका प्रलय है। यह शुद्ध अद्वय ज्ञान है। इसीका उपदेश जड़भरतजी राजा रहूगणको कर रहे हैं—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमकेमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो॥ भा. ५.१२.२१

एक बार कल्याणका उपनिषद् अंक निकलनेवाला था। संन्यासी होनेके बादकी बात है। हमको तो मालूम था कि ये लोग उपनिषद्का क्या अर्थ बतावेंगे। तो मैंने एक लेख उसके लिए लिखवा दिया, 'अपौरुषेयताका अभिप्राय'; उपनिषद्को जो अपौरुषेय बोलते हैं उसका क्या अभिप्राय है। एक बात आपको सुनावें, जो ज्ञानको अपौरुषेय नहीं जानता, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं जानता है। पौरुष अनुभवसे जो विषयका ज्ञान होता है, वह

ज्ञानका वास्तविक स्वरूप नहीं है। माने आँखसे, कानसे, नाकसे, यन्त्रसे, मन्त्रसे जो हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह तो, औपाधिक ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है ही नहीं। पौरुषेय ज्ञान जितना है, उसमें तो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष लगे रहते हैं। यह तुम लोग जो विचार-विचार बोलते हो न, कि विचार करके ब्रह्म प्राप्त कर लेंगे, तो विचारके पेटमें कहीं ब्रह्म थोड़े ही आता है। बोले—वृत्तिको ब्रह्माकार बना देंगे। कि नन्ही-मुन्नी बेचारी वृत्ति, उसमें ब्रह्म कहाँसे समाये? अरे, हम ब्रह्मको देखकर छोड़ेंगे। क्या देखकर छोड़ेंगे? तुम्हारा दृश्य होता ब्रह्म, तुमसे जुदा होता, तब न देखते।

उस लेखमें मैंने लिखवाया कि यही ज्ञान जो हमको घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञानके व्यवहारमें होता है, जिस ज्ञानसे यह स्त्री है, यह पुरुष है ऐसा भास रहा है, इसमें-से घट, पट, मठ और स्त्री और पुरुष निकाल करके; और जो ज्ञान आँखसे, कानसे निकल रहा है उसीमें-से आँख और कानको बाध करके और जो ज्ञान मनोवृत्तियोंके रूपमें निकल रहा है, उसमें-से मनोवृत्तियोंका अपवाद करके; यही व्यावहारिक ज्ञान जो तुम्हारे अन्दर है न, यही ज्ञान तत्त्व है, ब्रह्म है। एक बार इस ज्ञानमें-से विषयोंकी सफाई कर दो और विषयीपनेके अभिमानकी भी सफाई कर दो, तो यह ज्ञान न विषय-परिच्छिन्न है, न इन्द्रिय-परिच्छिन्न है, न वृत्ति-परिच्छिन्न है, न अहं-परिच्छिन्न, न देश-परिच्छिन्न, न काल परिच्छिन्न, न वस्तु परिच्छिन्न है, न विक्षेप-परिच्छिन्न, न समाधि-परिच्छिन्न, न जाग्रत्, स्वप्न-सुषुप्ति परिच्छिन्न, न जीवत्व-ईश्वरत्व-परिच्छिन्न, ये न माया-अविद्यासे परिच्छिन्न है। स्वयं यही ज्ञान, जिस ज्ञानसे यह हमारी आवाज आप सुन रहे हो, यह ज्ञान तुम हो और यह ज्ञान ब्रह्म है। तो चूँकि ज्ञान अपौरुषेय होता है और वेद ज्ञानस्वरूप है, इसलिए वेद भी अपौरुषेय ही होना चाहिए। जो शुद्ध ज्ञानका यह स्वरूप नहीं जानता, जो जानता है कि ज्ञान आदमीका या ईश्वरका बनाया हुआ है, वह असलमें ज्ञानके स्वरूपको नहीं जानता। उस लेखमें यह प्रसंग आया, कि यदि यह मानें कि ईश्वरने ज्ञानका निर्माण किया, तो ज्ञान बनानेके पहले ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी? अच्छा ईश्वरने यदि ज्ञानको बनाया तो ज्ञानसे बनाया कि अज्ञानसे बनाया? यदि बनाया हुआ कोई ज्ञान होवे, तो उससे पूर्व

भी ज्ञानकी सिद्धि होगी। असलमें पूर्व-पश्चात् यह भी ज्ञानसे ही सिद्ध होता है।

स्वामी स्वरूपानन्दजीको जो बादमें रामराज्य परिषद्के अध्यक्ष हुए और पहले कई बरस हमारे पास ही रहते थे, उनको यह बात पसन्द नहीं आयी कि यही जो घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान है, यही ब्रह्मज्ञान है। तो वह उड़िया बाबाजी महाराजके पास गये। जाकर उन्होंने हमारा वह पूरा लेख उनको पढ़कर सुनाया कि इसमें तो देखो ज्ञानको ऐसा बता दिया कि समाधिसे भी ज्ञान पैदा नहीं होता, ज्ञानसे ही समाधि सिद्ध होती है और ईश्वर ज्ञान पैदा नहीं करता, ज्ञानसे ही ईश्वर सिद्ध होता है। तो बाबा तो हँस गये, वे बोले कि अभी वेदान्तका विचार करो। उन्होंने और कुछ नहीं कहा। फिर वह गये शंकरानन्दजीके पास और वहाँ भी उन्होंने पढ़कर सुनाया और बोले कि देखो इन्होंने तो ऐसा लिख दिया। तो शंकरानन्दजीने चार बात उनको सुनायी; उन्होंने तो डाँट दिया; वे तो बोलते-बोलते गाली देने लगते थे।

यह असलमें ज्ञान ही सत्य है। घट पटादिकी जो आकृतियाँ हैं, यह तो फुरना मात्र हैं, ये तत्त्व तो हैं ही नहीं। और यह जो शरीरकी और इन्द्रियोंकी आकृतियाँ हैं, ये भी फुरनामात्र ही हैं। और ये जो अन्तःकरणकी आकृतियाँ हैं न, ये भी फुरनामात्र हैं और लाखों-हजारों अन्तःकरण हैं, करोड़ों अन्तःकरण हैं, यह इनका करोड़पना भी फुरनमात्र है। यह पहले था और पीछे होगा, तो यह पहले-पीछे भी स्फुरणमात्र ही है। दूर है, निकट है, बाहर है भीतर है, यह भी स्फुरणमात्र ही है। समाधि है विक्षेप है, यह भी स्फुरणमात्र ही है। ईश्वर है, जीव है—यह भी स्फुरणमात्र ही है। सम्पूर्ण ज्ञेय और ज्ञाता वर्गका जो केन्द्र है, अधिष्ठान है, जिस धुरीपर ये स्थित हैं वह प्रत्यक् चैतन्य आत्मा मैं, शुद्ध मैं-से अभिन्न ज्ञान ही है। ज्ञानके बिना न सत्ता सिद्ध होगी न असत्ता। यदि सत्ताको भी सिद्ध होना है तो ज्ञानस्वरूप होकर सिद्ध होगी और ज्ञानके बिना आनन्द भी सिद्ध नहीं होगा। आनन्दको भी सिद्ध होना है तो ज्ञानसे अभिन्न होना पड़ेगा। आनन्द है कि दुःख है, ज्ञानसे सिद्ध होगा और सत्ता है कि असत्ता है—यह भी ज्ञानसे सिद्ध होगा। अरे, ज्ञान है कि अज्ञान है, यह भी ज्ञानसे ही सिद्ध होगा। तो इसका अभिप्राय हुआ कि ज्ञानके बिना कुछ सिद्ध नहीं होता है। कुछ है कि नहीं—यह संदिग्ध हो

सकता है, पर ज्ञान है कि नहीं—यह सन्देह नहीं हो सकता। ज्ञान बिलकुल असंदिग्ध है।

असलमें यह ज्ञान जो है—***ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकं,*** यह ज्ञान विशुद्ध है, विशुद्ध माने ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित, विषय सम्पर्कसे रहित है। परमार्थम् माने अबाध्य है। अबाध्यका क्या अर्थ है? देखो, जैसे ज्ञान नष्ट हो जायेगा—यह कल्पना करो, तो ज्ञान कब नष्ट होगा? बोले—कालमें। यही न! तो जिस कालमें तुम ज्ञानके नाशकी कल्पना करते हो, वह नाश और वह काल दोनों ज्ञानसे ही सिद्ध हैं, ज्ञानके बिना तो काल भी सिद्ध नहीं है और नाश भी सिद्ध नहीं है। यह कल्पना करो कि कोई ऐसी अवस्था थी जिसमें ज्ञान नहीं था, ज्ञान विनष्ट था, तो वह भूतकाल और विनष्टता-विनाश ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। ज्ञानके बिना तो कोई सिद्ध नहीं होता। और यह ज्ञान अनेक नहीं हो सकता। क्योंकि यदि विषय अनेक हों, वासना अनेक हों, देश-काल अनेक हों, तब न ज्ञान अनेक हो। ***परमार्थमेकं अनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यं।*** इसमें बाहर और भीतर नहीं होता। यह भीतर ज्ञान हो रहा है और बाहर विषय—यह बाहर विषय-ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, यह जो चामके घेरेमें और मांसकी पेटीमें लपेटकर तुमने ज्ञानको रख दिया है, यह ज्ञानके बारेमें धन्य है तुम्हारी जानकारी और धन्य है तुम्हारी अनुभूति। मांसपेशियोंके भीतर ज्ञान? संवेदना तन्तुओंमें ज्ञान चलता है? ज्ञानके बिना संवेदना क्या? ज्ञान ही संवेदन-तन्तुके रूपमें भास रहा है। यह ज्ञान है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

श्रुति कहती है—परमात्मा सत्य है, माने काल परिच्छेद उसमें नहीं है; क्योंकि सत्य माने होता है त्रिकालाबाध्य। अच्छा, तो त्रिकालाबाध्य सत्ता कोई जड़ सत्ता होवे? तो बोले कि नहीं, ज्ञानम्। परमात्मा चेतन सत्ता है। अच्छा, तो ज्ञानम् ही बोलो, सत्यं क्यों बोलते हो? तो कहा—इसलिए बोलते हैं कि कहीं तुम ज्ञानको बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानके समान नाशवान् न मान लो। क्षणिकताकी निवृत्तिके लिए 'सत्यं' पद है और जड़ताकी निवृत्तिके लिए 'ज्ञानं' पद है। परमात्मा सत्य और ज्ञानके साथ अनन्त भी है। तो देश परिच्छेदकी निवृत्तिके लिए 'अनन्त' पद है, काल परिच्छेदकी निवृत्तिके लिए 'सत्यं' पद है और जड़-चेतनका परस्पर व्यतिरेक निवृत्त करनेके लिए

ज्ञानं है। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न जो चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, उसको ब्रह्म कहते हैं।

तो ज्ञानं ब्रह्म तब **ज्ञेयं** क्या है? ज्ञेयमपि ब्रह्म। जो ज्ञेय हो रहा है, ज्ञानका विषय, वह भी ब्रह्म ही है। जैसे **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** वैसे क्षेत्रमपि मां विद्धि। आगे आनेवाला है श्लोक इसी तेरहवें अध्यायमें।

यदा भूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

यह पृथक्ता जितनी दिखती है न, वह जब एकमें दिखने लगती है और उसी एकमें सबका विस्तार और उसी एकमें सबकी समाप्ति दिखती है; जब कार्य कारणका अभेद दीखने लगता है; तो कार्य-कारणके अभेदका जो एक स्वयं साक्षी है वही ब्रह्म है। 'ब्रह्म संपद्यते तदा'। बह्म हो गया।

बोले—अच्छा भाई, जब ज्ञान भी ब्रह्म और ज्ञेय भी ब्रह्म, फिर तो अब कोई कर्तव्य नहीं रहा? तुम समझ गये न? हाँ, समझ गये। तो बस, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर, तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त हो, परम स्वतन्त्र। बोले—

स्वपतो नास्ति मे हानि सिद्धिर्यत्नवतो न वा।

मैं सोऊँ तो मेरी हानि नहीं है, मैं प्रयत्न करूँ तो कोई सिद्धि नहीं है।

नाशौल्लासो विहायाऽस्माद् अहं आसे यथा सुखम्।

नाश और उल्लासकी कल्पना छोड़ करके मैं अपनी मौजमें रहता हूँ— यथा सुखम्—कुछ पानेके लिए हमें प्रयत्न करना नहीं है और सोता रहूँ तो कोई हानि नहीं।

यह ज्ञान भी वही है, ज्ञेय भी वही है, ज्ञाता भी वही है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह जो अपने आत्माकी अद्वितीयता है, इसको समझना आवश्यक है। समझमें आ गयी कि नहीं आयी? बोले—कैसे समझमें आवेगी? आप बताओ, कौन-सा कर्म करूँ कि समझमें आ जाय? किस तीर्थमें जानेसे समझमें आयेगा? बद्रीनाथ जानेसे यह समझमें आ जायेगा?

अरे बाबा, जब तुम्हारे हृदयमें इसके लिए लालसा उदय होगी, प्यास उदय होगी, समझनेका प्रयत्न करोगे, तब समझमें आयेगी। एक गरुड़ पुराण है, उसमें बहुत बढ़िया एक अध्याय ही पूरा है।

पारावताऽक्षिताहारा कदाचिदपि चातकाः।
न पिबन्ति महीतोयं प्रतिनशते भवन्ति किम्॥

कबूतर कंकड़ चुगते हैं और चातक धरतीका पानी नहीं पीते हैं, तो क्या उनका कोई उद्देश्य है, कोई व्रत है? कोई साधना है? उससे क्या उनको कुछ प्राप्त होगा?

आजन्ममरणान्तं च गंगादितटीनिस्थिताः।
मण्डूकमत्स्य प्रमुखाः किं भवन्ति तपस्विनाः॥

जन्मसे लेकर मौततक गंगाजीमें रहनेवाली मछली और मेढ़क क्या तपस्या कर रहे हैं? अरे बाबा!—

न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागे नैके अमृतत्वमानशुः।

ज्ञानगम्यं—यह परमात्मा कर्मसाध्य नहीं है। जैसे सन्तानोत्पत्तिसे पितरोंकी प्रसन्नतासे स्वर्गमें सीट सुरक्षित हो जाती है, वैसे प्रजया परमात्मा नहीं मिलता, जैसे धनसे धर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लिया वैसे धनेन परमात्मा नहीं मिलता। जैसे कर्म करके—यज्ञ करके देवताओंकी प्रसन्नतासे स्वर्ग प्राप्त किया जाता है वैसे कर्मणा प्राप्तकी प्राप्ति नहीं होती। फिर कैसे होती है? तो बोले—**त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः**—त्यागके द्वारा कोई अमृतत्व प्राप्त करता है। यहाँ त्याग शब्दका अर्थ क्या है? किसका त्याग? यहाँ कर्मत्याग, प्रजा त्याग, धन त्याग, इनका तो पहले साधनके रूपमें निषेध किया ही है। ये साधन नहीं हैं। कि तब? 'त्यागेन? अमृतत्व मानशुः?' त्यागसे अमृतरूप परमात्मा मिलता है। 'कस्य त्यागेन?' किसका त्याग होना जरूरी है? कि यह जो परिच्छिन्न अहंता अपने सिर पड़ी है, इसका त्याग जरूरी है। इस परिच्छिन्न अहंताको न तो ईश्वरके चरणोंमें अर्पित किया और न बाधित किया। ईश्वरके चरणोंमें अर्पित करते तो इसका भावात्मक त्याग होता; और यदि अपने अखण्ड स्वरूपको जान लेते तो यह बाधित हो जाता और केंचुलके सामन यह छूटकर गिर पड़ती। परन्तु यह अहन्ता तो साथ लगी है! तो 'ज्ञानगम्यं' परमात्मा ज्ञानगम्य है।

शंकरानन्दजी जो गीताके टीकाकार हैं, बोलते हैं कि देखो, पहले धर्मका अनुष्ठान करो, उपासनाका अनुष्ठान करो, योगाभ्यास करो, और इनसे—धर्मानुष्ठानसे पापवासना, उपासनासे पुण्यवासना और योगसे विक्षेप—इनको

दूर करो। ये हुए परम्परा साधन। इसके बाद विवेक-वैराग्य-शमदमादि षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षाको धारण करके अन्त:करणकी शुद्धिके लिए बहिरंग साधन करो। उसके बाद अन्तरंग साधन श्रवण मनन निदिध्यासनका अनुष्ठान करके, पदार्थका शोधन करो।

यह अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग हमलोग क्यों बोलते हैं, यह बात तो आपको मालूम ही होगी। देखो, बन्दूककी नलीकी जब सफाई करते हैं, तब वह बहिरङ्ग साधन होता है; और जब पत्ते-वत्तेको देखना छोड़कर बिलकुल लक्ष्यको देखते हैं, निशानेको देखते हैं, तब वह अन्तरंग साधन होता है। तो जब हमारी दृष्टि शमदमादि साधन सम्पन्न होती है, तब बहिरङ्ग साधनयुक्त होती है; क्योंकि वह हमारी बन्दूककी नली, वृत्तिको शुद्ध करनेका साधन है; और श्रवण-मनन निदिध्यासन जो है वह लक्ष्यको शुद्ध करनेवाला साधन है, इसलिए अन्तरंग है। और जब तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ दोनोंका शोधन हो गया, लक्ष्यार्थ दोनोंके चम-चम-चम चमक गये तब तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो वृत्तिज्ञान है—**ज्ञानगम्यं**—उस वृत्तिज्ञानसे जो गम्य है, ब्रह्मात्मैक्य बोधसे जो गम्य है उसको ज्ञानगम्यं बोलते हैं। यह शंकरानन्दी अर्थ सुनाया।

अच्छा, यह शंकरानन्दजीका नाम लेकर अर्थ क्यों सुनाया? यह अर्थ तो होना ही चाहिए। तो नाम लेनेकी जरूरत यों पड़ गयी कि भगवान् श्रीकृष्णने जब यहाँ प्रारम्भ किया—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

तो उसके पहले अपने मुँहसे ही उन्होंने अमानित्वादि साधनोंका निरूपण करके कहा कि ज्ञानके साधन होनेसे ये भी ज्ञान हैं।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥

इसलिए यहाँ ज्ञान शब्द पारिभाषिक हो गया। तो जब ज्ञानगम्यं बतलाया तो उसका अर्थ हुआ कि देखो, ज्ञेयके रूपमें भी वही है, ज्ञानके रूपमें भी वही है। जिसको तुम जानते हो वह भी वही है, जो जाननेवाला है वह भी वही है, परन्तु यह अद्वैतात्म-बोध बिना अमानित्वादि साधन सम्पत्तिके नहीं हो सकता, अमानित्वादि साधन सम्पत्तिसे ही होगा, यह बात निश्चय होती है।

अब यह कहो कि इन साधनोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं आया तो देखो भक्ति तो आ ही गयी—**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी;** वैराग्य आ ही गया—**विविक्तदेशसेवित्व** और **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं**—में वैराग्य शब्दका ही स्वयं प्रयोग है; अमानित्वादि शमशमादि साधन है ही है **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**में श्रवण-मनन-निदिध्यासन सब आ ही जायेगा। अब यहीं ज्ञान शब्दकी जो परिभाषा की गयी है, उसमें सर्व साधनोंका समावेश हो जाता है। तो **ज्ञानगम्यं** का अर्थ है साधनोंसे सम्पन्न अधिकारी जब सद्गुरुके सामने जाके बैठता है और वह एक बार तत्त्व श्रवण करता है तो श्रवणमात्रसे ही वह कृतार्थ हो जाता है—

तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिनिराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासु परस्तत्र विमुह्यति॥

असलमें कुसंग सबसे बड़ा बाधक है। कुसंग ही अहंकी परिच्छिन्नताको छिन्न नहीं होने देता। कुसंग कौन है? जो अहंकी परिच्छिन्नताको छिन्न न होने दे। आदमीका भी कुसंग होता है, अहमर्थको ब्रह्म जाननेमें जो बाधा डाले वह सब कुसंग है। तो साधन-सम्पन्न होकर एक बार श्रवण कर ले। उपनिषद्में आता है—'सकृद् विभातं ', एक बार केवल प्रकाश हो गया तो यह बोध हो जायेगा कि मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ज्ञान भी मैं ही हूँ, ज्ञेय भी मैं ही हूँ, ज्ञाता भी मैं ही।

हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

बोले—यह परमात्मा रहता कहाँ है? अच्छा, अब तुम जाओ, जरा सातवें आसमानकी सैर कर आओ। अभी पारस पत्थर ढूँढ़ने निकला, तो अपने कपड़ेकी गाँठमें पारस पत्थर बाँधे हुए था और ढूँढ़ रहा था। ***'गृहे नष्टं वने मृग्यते।'*** वस्तु अपने घरमें खो जाती है उसको ढूँढ़नेके लिए कोई जंगलमें नहीं जाता। हृदि सर्वस्य विष्ठितम्—सबके अपने हृदयमें ही बैठी हुई चीज है, विष्ठितम् माने बैठी हुई। *'विशेष स्थानं विष्ठितम्।'* विशेष रूपसे बैठना, इसको बोलते हैं विष्ठितम्। दिलमें बैठा हुआ है। कहीं सो तो नहीं गया? कहीं खड़ा तो नहीं कि भाग जाये? तो बोले—ईश्वर हमारे हृदयोंमें न तो सो गया है, न भागनेवाला है, वह तो बिलकुल आसन बाँधकर बैठा हुआ है। ज्ञानगम्यं। वही ज्ञान है, वही ज्ञानगम्य है, वही ज्ञेय है।

जच्छन् **क्रीडन** रममाणः। (छांदोग्योपनिषद्)

इस श्रुतिको गीताने इसी अध्यायमें **सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते**-इस अर्द्धालीमें बिल्कुल स्पष्टम्-स्पष्टम् ले लिया है। तत्त्वज्ञानका फल बताया, **सर्वथा वर्तमानोऽपि**; कैसे भी रहे—जनकादिके समान रहे, राज्य करे, वसिष्ठादिके समान रहे, पौरोहित्य करे, दत्तात्रेयादिके समान रहे, अवधूती करे अथवा कीटपतंगादिके समान, अजगर वृत्तिसे रहे, मधुकर वृत्तिसे रहे, गौ वृत्तिसे रहे, **'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।'** क्या महिमा है आत्मज्ञानकी, उसका भी साक्षी है। **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'** एक प्रश्न है कि वह है कहाँ? उसकी उपलब्धि कहाँ होवे?

एक सज्जन पूछ रहे थे कि अगर कोई स्त्री ईश्वर-दर्शनके लिए, तीर्थयात्राके लिए जाना चाहती हो, और उसका पति रोके, तो उसको जाना चाहिए या अपने पतिकी आज्ञा मानकर घरमें रह जाना चाहिए?

मैंने कहा कि उसको घरमें रहना चाहिए। क्योंकि **हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।** क्योंकि ईश्वर तो अपने मनमें ही है। ईश्वरको देखनेके लिए बाहर जाना तो अपने मनकी चंचलता है। तो जो तुम्हारे मनको रोककर हृदयमें ही दर्शन कराना चाहता है, तुम्हारे मनको जो रोकना चाहता है, उसका उपदेश श्रेष्ठ है। और जो तुम्हारे मनको चंचल करके मंदिरमें ले जाना चाहता है, तीर्थमें ले जाना चाहता है, जंगलमें ले जाना चाहता है, वह समझता नहीं है-

काहे रे बन खोजन जाई?

उसको बनमें ढूँढनेके लिए क्यों जाते हो? जैसे गुरु अपने शिष्यके मनको रोककर हृदयमें निरुद्ध कर देता है, वैसे पति अपनी पत्नीके मनको रोककर उसे हृदयमें निरुद्ध कर देता है। फिर ***पतिरेव गुरुः स्त्रीणां*** वह तो बिलकुल गुरुके स्थानपर बैठकर मनका निरोध कर रहा है। तो अपने मनकी वासनाओंके वशवर्ती नहीं होना चाहिए, जो वासना रोकनेकी सलाह दे, उसकी बात माननी चाहिए। ईश्वर तो हृदयमें है। सच पूछो तो अपनी मनोवृत्तिके सिवाय ईश्वरका कहीं और अनुभव नहीं होता। न मंदिरमें, न आकाशमें, न द्युलोकमें, न वैकुण्ठमें, न तीर्थमें, न व्रतमें। रोको अपने मनको। हृदि सर्वस्य विष्ठितम्-परमात्मा हृदयमें ही विष्ठितम्-बैठा हुआ है।

यह कसौटी बना लो कि तुम अपनी वासना पूरी करके खुश होते हो कि अपनी वासना मिटाकर खुश होते हो? यदि अपनी वासना पूरी करनेका आग्रह ज्यादा है तो तुम साधनके मार्गपर नहीं चल रहे हो और यदि अपनी वासना मिटानेमें रुचि है, दिलचस्पी है, तो तुम साधनाके मार्गपर चल रहे हो।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

वह परमात्मा कहाँ है? **'सर्वस्य हृदि विष्ठितम्'**—सबके हृदयमें, बिलकुल आसन बाँधकर बैठा हुआ है। 'वि' माने विशेषेण, आसन बाँधकरके; ष्ठितम् माने बैठा हुआ है, कभी वहाँसे हटता नहीं। 'स्थितं' नहीं है 'विष्ठितम्' है। विष्ठितम्का एक अभिप्राय और है, वह यह कि विशेषेण स्थितम्—इसका उपलब्धि-स्थान हृदय है। इसका यह अर्थ हुआ कि सब जगह तो ईश्वर है, पर उसके मिलनेका संकेत-स्थान हृदय है। जैसे राधाकृष्ण व्रजमें सर्वत्र मिलते हैं,लेकिन उनके मिलनेका स्थान संकेत वट है, प्रेम सरोवर है; ऐसे ईश्वर सारी सृष्टिमें भरपूर है, लेकिन उसके मिलनेका जो निकुंज है, मिलनेकी जो बैठक है, वह हृदय है। वह सब जगह, हर कमरेमें है, बाथरूममें भी जाता है और वह सोनेके रूपमें भी रहता है, वह बाहर भी जाता है, पर मिलनेकी जगह उसकी कहाँ है? बोले— ड्राइंगरूपमें—हृदयमें—**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्** मिलना हो तो यहाँ आओ।

एक बात और है। ईश्वरसे जब मिलने जाते हैं तो वहाँ भी परिचयपत्र देना पड़ता है। अगर ईश्वर पूछे कि तुम कौन हो, कहाँसे आये हो? तो यही बोलोगे न कि हमको तो पता नहीं है कि हम कहाँके रहनेवाले हैं, हमारी क्या जाति है, हमारा क्या नाम है, क्या काम है।

गर्गसंहितामें एक कथा है, ब्रह्मादि गये गोलोक मिलनेके लिए तो चन्द्रानना सखि खड़ी थी बेंत लिए दरवाजेपर। उसने पूछा—कहाँसे आये हो? बोले-अरे बाबा मैं ब्रह्मा हूँ, ये इन्द्र हैं, ये वरुण हैं, ये कुबेर हैं पहचानती नहीं हो? बोली—जैसे गूलरके कीड़े होते हैं गूलरके फलमें, वैसे एक-एक ब्रह्माण्डमें कितने ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, रुद्र होते हैं और यहाँ रोज आते हैं और मार खा-खाकर जाते हैं,बताओ किस ब्रह्माण्डके तुम ब्रह्मा हो?

तो ईश्वरके यहाँ भी अपना परिचय देना पड़ता है। माने अपने मैंका परिचय प्राप्त करके ईश्वरके दरबारमें जाओ—**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।** अर्जुनने पूछा कि श्रीकृष्ण, तुम कौन हो? तो देखो, कृष्ण बोले—**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः** सम्पूर्ण प्राणियोंके आशयमें स्थित मैं आत्मा हूँ। यह तो भगवान्का परिचयपत्र है। तुम्हारे हृदयमें रहनेवाला मैं तुम्हारा आत्मा ही हूँ। तुम मुझे न पहचान करके ढूँढ रहे हो और अपनेको न पहचान करके ढूँढ रहे हो, क्योंकि अपनेको पहचानना ईश्वरको पहचानना है और ईश्वरको पहचानना अपनेको पहचानना है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः।

एक बार बचपनमें मैं सोचने लगा कि ईश्वर हमारे हृदयमें है,तो एक ओर से इडा जाती है, एक ओरसे पिंगला जाती है, बीचमें सुषुम्रा होती है; तो इनका जो त्रिक् है वह तो अनाहत चक्रको लपेटकर निकल जाता है और हृदय जरा अलग छूट जाता है। तो हमको ये ख्याल आया कि हमारे खूनमें जो कीड़े होते हैं, वे मांसमें भी होते हैं, हडड्डीमें भी होते हैं, मालूम नहीं पड़ते हैं, वे अभी विज्ञानका विषय नहीं हुए हैं, क्योंकि हड्डीको भी यदि चूर-चूर करके गला दिया जाये तो उसमें कीटाणु ही तो उत्पन्न होते हैं। तो मेरे मनमें एक बार ऐसा आया कि ये जो चाममें कीटाणु हैं, रक्तमें कीटाणु हैं, पीवमें कीटाणु हैं, विष्ठामें कीटाणु है, मूत्रमें कीटाणु हैं, इन कीटाणुओंके हृदय होता होगा कि नहीं? ऐसा मेरे मनमें प्रश्न उठा और जैसे मैं यह सोचता हूँ कि मेरे हृदयमें ईश्वर है, वैसे उन सब कीटाणुओंके हृदयमें ईश्वर है कि नहीं है? आप क्या जवाब देते हैं इसका? तब ईश्वरके बिना आकाशका कोई अंश निकलेगा? इसी शरीरका कोई भी कण, कोई भी अणु, कोई भी परमाणु क्या- ईश्वरके बिना निकलेगा? हमने ऐसे सोचा कि मान लो हमारी कोई उँगली कट जाये, तो अलग होनेपर उस उँगलीका हृदय होगा कि नहीं? होगा जहाँसे आखिरी बूँद खूनकी खत्म होगी या चेतनाका आखिरी अंश लुप्त होगा, वह उँगलीका हृदय हो जायेगा। अच्छा, यह प्रश्न हमारे मनमें उठा कैसे था सो भी आपको बताते हैं। गाँवमें कोई पेड़ कटा था, तो पेड़में, तनेमें जो सबसे भीतरी भाग होता है उसको पेड़का 'हीर' बोलते हैं गाँवमें; हमारे गाँवमें ऐसे बोलते हैं कि इसमें हीर है कि नहीं; जैसे बबूलका

पेड़ कटा, तो चारों ओरसे उसका छिलका उतार दो, छील दो, बीचमें हीर होता है। तो वृक्षके भी हीर होता है। हीर माने हृदय। उँगलीके भी होता है। अँगूठाके भी होता है। बूँदके भी हृदय होता है। मच्छरके भी होता है, चींटीके भी होता है, तो **सर्वभूताशयस्थितः।**

क्या बतावें, आप अपने दुश्मनमें ईश्वर भले न पहचानें, पर क्यों नहीं पहचानते हैं? द्वेषका पर्दा पड़ गया, इसलिए नहीं पहचानते हैं। नहीं तो इसका कोई कारण नहीं है कि सर्वत्र परमात्माकी पहचान न हो।

तो आओ गीतासे पूछें कि भगवान् कहाँ है? गीतामें भी यही परिचय दिया हुआ है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥ (१५.१५)

अरे, यह तो दुनियासे पागल बनानेवाली बात है, दुनियासे तत्काल चित्त-वृत्तिको उठा देनेवाली बात है। 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'। एक होता है विष्ट, एक होता है निविष्ट। और एक होता है सन्निविष्ट। सबके हृदयमें मैं सन्निविष्ट हूँ। ये जो भौतिक शरीर हैं इनमें पंचभूत विष्ट हैं, माने घुसे हुए हैं; और हिरण्यगर्भ तैजस निविष्ट हैं, माने बैठे हैं और इनमें मैं सन्निविष्ट हूँ, माने इसको छोड़ करके कहीं जाता ही नहीं हूँ। **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।**

यहाँ एक बात और सुना देते हैं! यह 'हृत्' शब्द जो है न, आप इसके चक्करमें नहीं पड़ जाना कि वह सिरमें होता है कि दोनों स्तनोंके बीच होता है, कि कुछ दायीं ओर झुका हुआ होता है। इसके सैंकड़ों मतभेद हमको मालूम हैं। वह तो ज्यादा बात हम कभी-कभी इसलिए भी नहीं सुनाते कि लोग गड़बड़ा न जायें। तो हृत् पद्का अर्थ है ***'हरति, आहरति विषय-संस्कारान् इति हृत्।'*** हरवाली जो 'हृ' धातु है उसी धातुसे हृत् शब्द बनता है। यह 'तुक्'का आगम हो जाता है। तो हृत् बोलते हैं। हृदय क्या है? यह जो आप अनुभव करते हैं न कि मैंने रूप देखा, मैंने स्पर्श किया, मैंने स्वाद लिया, मैंने गन्ध लिया, यह चमेलीकी गन्ध, यह गुलाबकी गन्ध, यह कमलकी गन्ध, यह खटाई, यह मिठाई, यह पत्नी देखी, यह स्त्री देखी, यह माँ देखी, यह बेटा देखा, यह बाप देखा, तो यह इन्द्रियोंसे बाहर जो अनुभव किया जाता है न, इन सबका संस्कार जहाँ इकट्ठा होता है, उसको हृत् बोलते

हैं। संस्कारोंको इकट्ठा करनेकी जो मशीन है भीतर, हृत् हृद् यंत्र, उसीमें यह विद्युत्के समान आभास रूप जीव है। व्यष्टिकी उपाधिसे आभासरूप जीव है और समष्टिकी उपाधिसे आभासरूप ईश्वर है। व्यष्टि और समष्टि, और उसमें जो आभास है उसका तिरस्कार कर देनेपर शुद्ध चैतन्य है और उस शुद्ध चैतन्यका यदि ज्ञान हो जाये तो एक नतीजा निकलेगा। वह नतीजा क्या है? **ज्ञानं ज्ञेयं। तदेव ज्ञानं। तदेव ज्ञेयं ज्ञायमानम्। ज्ञानविषयम्।** तब वही प्रकाश है और वही प्रकाश्य है।

प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

उपाधिसे पृथक्कृत जो ज्ञान है उसको बोलते हैं प्रज्ञान। माने आहित संस्कार जो चित्त है, उसीको हृत् बोलते हैं। जिसमें जो संस्कारका आधान किया हुआ है, उसको बोलते हैं चित्त। मारो गोली! न भूतका कोई संस्कार है न भविष्यकी कल्पना है और न वर्तमानके विषयोंका ग्रहण है और ज्ञान है। यह ज्ञान कैसा है? यह कालातीत, देशातीत, द्रव्यातीत, विषय-विषयी-भेदाभावोपलक्षित यह जो ज्ञान है, वही प्रज्ञान है। इस प्रज्ञानको कभी नन्हा-मुन्ना नहीं समझना; क्योंकि यह ब्रह्म है, माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। ***सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*** है। **सर्वस्य हृदि विष्ठितम् ज्ञानं। सर्वस्य हृदि विष्ठितम् तद्ज्ञेयं। तदेव ज्ञानं। तदेव ज्ञेयं।** वही ज्ञान है और आत्मरूपसे अनुभव होनेपर वही ज्ञेय है। ***सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।***

अच्छा, एक बात केवल ध्यान आकृष्ट करनेके लिए आपको सुनाते हैं। यदि आपको मालूम पड़े कि यह ज्ञान है और यह मालूम पड़े कि हो गया, हो गया ज्ञान; तो ज्ञान हो गया या नहीं, मर गया। कैसे? कि ज्ञानकी उत्पत्ति जिसने देखी, उसने तो ज्ञानकी मृत्यु देख ली। ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और ज्ञान मरता नहीं। क्योंकि उत्पत्ति और मृत्यु-दोनोंकी सिद्धि ज्ञानसे ही होती है, ज्ञान ही दोनोंको प्रकाशित करता है। उत्पत्तिके पहले यदि ज्ञान नहीं है, तो उत्पत्तिका पता ही नहीं लगेगा; किसको पता लगेगा? और मृत्युके बाद यदि ज्ञान नहीं है, तो मृत्युका पता नहीं लगेगा। बोले-बाबा, हम दूसरेका जन्म देखते हैं और दूसरेकी मौत देखते हैं और अपना जन्म और अपनी मौत समझते हैं। अरे नहीं, जैसे तुम दूसरोंके दृष्टान्तसे अपना जन्म और मरण समझते हो न, वैसे अपना जन्म-मरण कभी देखा नहीं गया। और

अपना जन्म-मरण कभी नहीं देखा—इस दृष्टान्तसे तो 'दूसरोंका जन्म-मरण भी वैसे ही नहीं है'—ऐसा तुमको समझना चाहिए। यह क्या बात हुई? अरे भाई, बिलकुल अनुभवकी बात है कि अपने निकट जो वस्तु होती है वह दृष्टान्त होती है और अनजानी वस्तु दार्ष्टान्त होती है।। तो चूँकि अपना जन्म और मरण ज्ञानस्वरूप मैंने कभी नहीं देखा, इसलिए सभी हृदयमें रहनेवालोंने अपना जन्म-मरण कभी नहीं देखा, हम भी अपने जन्म-मरणकी कल्पना करते हैं और दूसरे भी अपने जन्म-मरणकी कल्पना करते हैं। दूसरोंके जन्म-मरणकी कल्पना करना मूर्खता है। अपने जन्ममरणका अनुभव न होनेका कारण दूसरोंका भी जन्म-मरण नहीं होता है--दृष्टान्तका रूप यह होना चाहिए। दृष्टान्त तो देखे हुएके होते हैं, लौकिक होते हैं। जैसे यह ब्रह्माण्ड गोल-गोल है। कैसा गोल है? बोले-नारंगीकी तरह। तो नारंगी देखी हुई है और ब्रह्माण्डकी गोलाई देखी हुई नहीं है। देखी हुई चीजसे अनदेखी चीज समझायी जाती है। अपना जन्म-मरण कभी नहीं देखा गया। इसलिए किसीके अन्दर जन्म-मरणकी कल्पना करना बिलकुल गलत है। और अनुभूतिको छोड़कर इन्द्रियोंकी बात मानना—यह भी गलत है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।

अच्छा, हृदयमें किस रूपमें परमात्मा रहता है? तो दो बातें हैं इसमें। एक तो यही एक स्थान है जहाँ गीतामें प्रत्यक्ष रूपसे परमात्माका नाम ज्ञानं बताया हुआ है। और जगह उसके गुण, उसके स्वभाव, उसके विशेषण बताये हैं—

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

अपनी सब विशेषताएँ अलग-अलग बतायी हुई हैं, पर शुद्ध रूपसे ज्ञानं शब्दका जो प्रयोग है परमात्माके लिए यही है। यह क्षेत्रज्ञ आत्मा कौन है? बोले-ज्ञान। एक तो ध्यान यह खींचना था कि आत्माके लिए ज्ञानम् शब्दका प्रयोग गीतामें अपूर्व है। अपूर्वतासे भी तात्पर्यका निश्चय होता है। दूसरी बात यह देखनी थी कि यदि आपको यह अनुभव हो कि यह ज्ञान है

या वह ज्ञान है, तो ये दोनों अनुभव आपके गलत होते हैं। 'यह' माने तो दृश्य हुआ। और जो दृश्य है वह तो जड़ है, विकारी है, बदलनेवाला है, क्षणिक है। इसलिए ज्ञानके बारेमें यदि कभी आपको मालूम पड़े कि यह ज्ञान, तो यह अनुभूति गलत है। और यदि मालूम पड़े कि वह ज्ञान, तो आप केवल कल्पनाके राज्यमें, भावनाके राज्यमें विचर रहे हैं। जिसको आपने देखा ही नहीं, उसको ज्ञान कैसे कहते हैं? तो असलमें ज्ञानका अनुभव यदि किसीको होगा तो मैंके रूपमें ही ज्ञानका अनुभव होगा। मैं ज्ञान हूँ। मैं ऐसा ज्ञान हूँ जिसमें भूत बह गया, फिर लौटकर नहीं आया। मैं ऐसा ज्ञान हूँ जिसमें भविष्य केवल कल्पना-मात्र है और मैं ऐसा ज्ञान हूँ जिसमें वर्तमान केवल प्रतीतिमात्र है। यह बात आप लिख लो। क्षेत्रज्ञका नाम ज्ञान है। मैं ऐसा ज्ञान हूँ जिसमें भूत बह गया, फिर लौटकर आवेगा नहीं और मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। मैं ऐसा ज्ञान हूँ, भविष्य जिसमें कल्पनामात्र है। मैं ऐसा ज्ञान हूँ। वर्तमान जिसमें बिना हुए ही फुर रहा है। मैं ज्ञान अधिष्ठान हूँ।

आपको मालूम होना चाहिए कि जैसे आँख आपसे प्यार करती है बढ़िया-बढ़िया रूप देखकर उसका सुख आपको दे देती है, खुद नहीं लेती है क्योंकि वह तो ज्ञानमात्र ही है; जैसे बेचारी नाक आपसे प्यार करती है, गन्धका सुख आपको दे देती है, खुद नहीं लेती है क्योंकि वह तो ज्ञानमात्र ही है; जैसे जीभ आपसे प्यार करती है, त्वचा आपसे प्यार करती है, कान आपसे प्यार करता है, माने आपके शरीरकी इन्द्रियाँ और आपके शरीरके अवयव निरन्तर आपको ही सुख पहुँचानेकी कोशिश करते हैं; वैसे ही आप यह भी समझिये कि यदि आँख आपको सुख पहुँचानेके लिए है तो सूर्य जरूर आपको सुख पहुँचानेके लिए हैं; यदि कान सुख पहुँचानके लिए है तो दिशा अवश्य सुख पहुँचानेके लिए है; क्योंकि ये तो सम्बद्ध हैं परस्पर। यदि नाक आपको सुख पहुँचानेके लिए है तो पृथिवीका यह सारा गन्ध आपको सुख पहुँचानेके लिए है और यदि जिह्वा आपको सुख पहुँचाती है तो सारा रस आपको सुख पहुँचानेके लिए है। जब समूचा अध्यात्म आपको सुख पहुँचा रहा है तो समूचा अधिदैव और समूचा अधिभूत भी आपको सुख पहुँचावेगा। इसका अर्थ हुआ कि सारी सृष्टि शेष है और आपकी आत्मा शेषी है। माने आपकी आत्माके लिए ही सम्पूर्ण विश्व प्रपंच है। इसमें ब्रह्मा,

विष्णु, महेश भी आपकी आत्माको दिखानेके लिए दृश्यकी रचना कर रहे हैं। जैसे पर्देको खींचकर फैलानेवाला और पर्देको समेटेनेवाला और पर्देपर खेलनेवाला दर्शकके सुखके लिए होता है, ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रकृति विकृति, माया, अविद्या, विद्या सब आप द्रष्टाके सुखके लिए होता है। सचमुच **ज्ञानमेव ज्ञेयं**। यह **ज्ञानं** और **ज्ञेयं** दोनों क्षेत्रज्ञका विशेषण है—

यदेव ज्ञानं भवति तदेव ज्ञेयं भवति।

जो ज्ञान है वही ज्ञेय है, जो देखनेवाला है वही दिखानेवाला है। जो पीनेवाला है, वही अमृत है। हम बचपनमें इस बातको बिलकुल दूसरे ढंगसे सोचते थे। हम उलट-पलटकर कैसे भी सोच लेते, लेकिन आप हर बातको उसीमें निकालनेकी कोशिश मत करना। हमारा ऐसा कहना था, कि जो देखनेवाला होता है, वह अपने आपको ही देख सकता है, दूसरेको देख ही नहीं सकता। आपको बात उल्टी मालूम पड़ेगी। आप तो कहते हो कि हम दृश्यको देखते हैं इसलिए दृश्यसे पृथक् हैं; जैसे घड़ेको हम देखते हैं तो घड़ेसे हम जुदा हैं! अब हम आपको सुनाते हैं कि हम घड़ेको देखते हैं इसलिए हम ही घड़ा हैं। लो, अब घड़ा, घोड़ा, गधा बननेमें क्या अटका जाये?

यह कैसे सोचते हैं, उसके सोचनेका तरीका आपको बतायें? असलमें हम घड़ेमें क्या देखते हैं? घड़ेका रूप देखते हैं, आँखसे केवल रूप देखते हैं न! तो तेजकी सात्त्विक तन्मात्रसे बनी हुई आँख, तेजकी तामस तन्मात्रासे बने घड़ेके तामसरूपको देखती है। माने तेज ही तेजको देखता है। आप इसको थोड़ा और बढ़ाओ। सूर्य भी तेज है, आँख भी तेज है और रूप भी तेज है। इसलिए तेज ही तेजकी सहायतासे तेजको देखता है—

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे।

इसी प्रकार नाक भी गन्ध, सूँघा जानेवाला भी गन्ध और नाकके देवता अश्विनी कुमार भी गन्ध। त्वचा भी स्पर्श-तन्मात्रा, स्पर्श विषय और वायु देवता भी स्पर्श-तन्मात्रा। शब्द तन्मात्रासे बना हुआ कान शब्दको सुनता है और दिक् देवता भी शब्द तन्मात्रा ही है। इस प्रकार देखो विजातीयका ज्ञान नहीं होता, सजातीयका ही ज्ञान होता है। अध्यात्म इन्द्रियाँ, अधिदैव और अधिभूत ज्ञेय विषय—सब सजातीय होते हैं। तत्त्वतः ज्ञान होते हैं। तो हम

देखते हैं कि जिस वस्तुके साथ ज्ञेयपनेका सम्बन्ध जुड़ता है, वह ज्ञातासे पृथक् होता ही नहीं, ज्ञानसे व्याप्य ही होता है, ज्ञानसे ही सिद्ध होता है, ज्ञानमें ही प्रतीत होता है। तो जब इस ढंगसे मैंने सोचा, तो मैं देखता हूँ किसको? मैं देखता हूँ रामको, मैं देखता हूँ कृष्णको, मैं देखता हूँ शिवको, विष्णुको, मैं देखता हूँ माया और मायाधिपति कृष्णको क्योंकि मेरे देखे बिना, ये किसको दिखेंगे? यदि देखनेवाला मैं न हो तो इनको देखेगा कौन? क्योंकि मैं देखता हूँ तो अपने सजातीयको ही देखता हूँ, अपने स्वगतरूपको ही देखता हूँ। अरे न न, अपने आपको ही देखता हूँ।

अब एक वेदान्तका प्रश्न सुनावें। हमारे एक मित्र पूछते हैं कि यह जो अपने स्वरूपमें अन्यताका आभास हो रहा है, यह कबसे हुआ? तो हम पूछते हैं कि अच्छा, सपनेमें जो सपना दीख रहा है वह जरा सपनेमें किसीसे पूछकर देखो, कि यह कबसे हो रहा है? आपको उसमें कल्पनाका एक पार्थक्य बताते हैं। आपको स्वप्नमें भी दो तरहके पदार्थ मालूम पड़ेंगे कैसे? कि एक अनादि, एक सादि। वह तुम्हें मालूम पड़ेगा कि यह पृथिवी, आकाश, जीव, ईश्वर स्वप्नमें भी अनादि हैं। स्वप्नमें भी ईश्वरकी माया, प्रकृतिकी, आकाशादि पंच महाभूतकी अनादि परम्परासे कल्पना होगी। और स्वप्नमें अपने घरमें जो बेटा होगा उसकी सादि कल्पना होगी, स्वप्नमें जो बीज बोयेंगे खेतमें और उससे जो अन्न पैदा होगा वह सादि होगा। तो जैसे स्वप्नमें भी सादित्व और अनादित्वकी कल्पना दोनों स्वप्न ही हैं, इसी तरह इस सृष्टिमें भी सादि और अनादि जो है वह कल्पना ही है और वह ज्ञानसे पृथक् नहीं है।

अच्छा बोले—कल्पक क्या है—सादि है कि अनादि? तो कल्पकमें भी जैसे स्वप्नमें अनादित्व और सादित्वकी कल्पना होती है, वैसे होती है। जबतक अविद्या है तबतक सादि, अनादिका प्रश्न है और तुम अपनेको ब्रह्म जान लो, तो न अनादि है, न सादि है; दोनों कालमें प्रतीतिमात्र है।

तो लो, **ज्ञानं ज्ञेयं**—ज्ञान भी वही, ज्ञेय भी वही। अरे, इसका मतलब हुआ कि मैं भी वही, तुम भी वही। मैं भी वही, सृष्टि भी वही। यह परब्रह्म परमात्मा जो है न, वही **तदेजति तन्नैजति**—प्रपंचरूपसे, सोपाधिक रूपसे वही नृत्य कर रहा है, नाच रहा है। पेड़के पत्ते हिलते हैं, पीपलके पत्ते

खड़खड़ाते हैं, कौन हिल रहा है? कि बिलकुल ब्रह्म। मन हिल रहा है, कि ब्रह्म ही हिल रहा है। अरे, मैं ही हिल रहा हूँ। अरे हिलने दो, कोई बात नहीं। देखो—*नोपजनन् इदं नं शरीर*का । क्या अर्थ है? उपजन्म माने उत्पत्तिवाला। यह जो शरीर है, मैं किसी दिन इस शरीरके रूपमें पैदा हुआ था, और फिर बढ़ा था—इसमें जो स्मृति जुड़ी हुई है कि अबसे पच्चीस पचास बरस पहले यह पैदा हुआ था और यह बढ़ता हुआ यहाँतक पहुँचा है, इसकी उत्पत्तिके साथ अपनी उत्पत्ति, इसकी जवानीके साथ अपनी जवानी, इसके बुढ़ापेके साथ अपना बुढ़ापा, इसकी मृत्युके साथ अपनी मृत्यु और इसके समाजके साथ अपनी सामाजिकता, इसका स्मरण करनेकी जरूरत नहीं है। भूतका स्मरण होता है। स्मरण होता ही नहीं, इसका कि मैं कोई जन्मवाला हूँ, कि मृत्युवाला हूँ, कि बढ़नेवाला हूँ कि घटनेवाला हूँ, कि इसका कोई परिवार है कि समाज है। ज्ञानस्वरूप है, अखण्ड ज्ञान स्वरूप है सब।

तो सबके हृदयमें परमात्मा है। बोले—वह परमात्मा क्या है? कि ज्ञानस्वरूप है। अच्छा, ज्ञानस्वरूप वह है तो ज्ञेय क्या है? कि ज्ञेय भी वही है। लो, हमारे इस संस्कारग्राही आशयमें ही ज्ञानस्वरूपसे विद्यमान है। वह न आशयका त्याग करनेवाला है, न ग्रहण करनेवाला है, आशयका प्रकाशकमात्र है—ज्ञानं। और ज्ञेयं-जो उससे प्रकाशित होता है सो भी वही है। तो यह बात सबकी समझमें क्यों नही आ जाती? इतनी आसान बात कि परमात्मा न भूतमें कहीं गया न भविष्यमें कहीं जायेगा, न वर्तमानमें दूसरा है, न बाहर और भीतरका उसमें भेद है, न मैं और तूका भेद है, ज्ञान और ज्ञेय सब वही; पर ऐसा सब लोग क्यों नहीं जानते? बोले—ज्ञानगम्यं। कोई सोचता है हम कर्मसे पावेंगे, कोई सोचता है हम उपासनासे पावेंगे, कोई सोचता है हम योगसे पावेंगे। साधनान्तरमें आस्था होनेके कारण नहीं मिल रहा है। कुसंगके सिवाय परमात्माकी अप्राप्तिका और कोई हेतु नहीं है। 'ज्ञानगम्यं' है। 'ज्ञानेनैव गम्यं'। देखो, पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम्**। तो पहले भगवान् कहते हैं—**अहमेव वेद्यः अन्यो न वेद्यः**। मैं ही वेद्य हूँ, दूसरा कोई वेद्य नही हैं। ये घट-पट-मठादि वेद्य नहीं हैं अहमेव। '**सर्वस्य चाहं हृदि**

सन्निविष्टः'—सबके हृदयमें बैठा हुआ मैं ही जाननेयोग्य हूँ। मेरे सिवाय दूसरेको जानने जाते हो तो गल्ती करते हो। माने वेद्यान्तरका निषेध किया, दूसरा कोई वेद्य नहीं है।

तो बोले—लो अब किस साधनसे जानें? बोले— 'वेदैः अहमेव वेद्यः'। अब साधनान्तरका निषेध करते हैं। 'वेदैरहमेव वेद्यः। न वेदविन् मनुते तं बृहन्तम् -वेदसे ही मैं जाना जाता हूँ। बोले—वेदमें कुछ थोड़ा-सा हिस्सा होगा महाराज, उससे जाने जाते होंगे? कर्मकाण्डी लोग कहते हैं कि उपनिषद्में कुछ बात है, कर्मकाण्डका तो वेद अलग है। बोले—'सर्वैरहमेव वेद्यः'। सारे वेदका तात्पर्य, कर्मकाण्डका, उपासनाकाण्डका, योगका—सबका तात्पर्य मैं हूँ। बोले—कि न जानें महाराज, तो? बोले—**अहम् वेद्य एव;** हमको जानना भाई, नहीं तो मरोगे। **अहं वेद्य एव। अहमेव वेद्यः वेदैरेव वेद्य। सर्वैरहमेव वेद्य। सर्वस्य चाहं हृदि** सन्निविष्टः।

बोले—अच्छा, तब कैसे आपको जानें? तो, **मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च—स्मृतिः स्वप्नः ज्ञानं जाग्रत्। अपोहनं सुषुप्तिः।** यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तीनों अवस्थाएँ जो हो रही हैं, इन तीनोंको बाँट लो। कल्पनाएँ सारी स्वप्नमें और विषय सब जाग्रत्में और कल्पना और विषय दोनोंका अभाव सुषुप्तिमें। अब इसमें-से यह नहीं समझ लेना कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश अलग रह गये। इसमें प्रकृति पुराण कुछ अलग नहीं रह गया। सुषुप्तिमें सबका लय हो जाता है। स्वप्नमें सबकी कल्पना हो जाती है, जाग्रत्में सब विषयरूपसे भासने लगते हैं। जाग्रदावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था—सब मत्तः मुझसे सिद्ध हो रही हैं। मैं सर्वावभासक हूँ-ऐसा मैं, जानने योग्य हूँ। तो बोले कि कैसे जानें? कि **ज्ञानगम्य,** ज्ञानगम्य है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि। वेदान्त दर्शनमें इसका विचार किया है कि (१) स्वरूप साक्षात्कारके लिए अविद्या निवृत्तिके सिवाय और कोई कर्त्तव्य नहीं है। (२) अविद्याकी निवृत्ति ब्रह्म विद्यासे ही होती है। और (३) अविद्याकी निवृत्तिके लिए ब्रह्म विद्याको,—उत्पन्न जो ब्रह्मविद्या है उसको—और किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। फलोत्पत्तिमें अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिमें तो साधनान्तरकी अपेक्षा है, परन्तु उत्पन्न ब्रह्मविद्याके फलकी उत्पत्तिमें साधनानन्तरकी अपेक्षा नहीं है।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन। (श्रुति)

अब यह देखो, *तत्त्वमस्यादि* महावाक्यजन्य जो ब्रह्मात्मैक्याकार वृत्ति है, ब्रह्मात्मैक्य बोध है वहाँ तो कर्म, उपासना और योगका कोई सम्बन्ध ही नहीं है; वह जो चरमावृत्ति है, परमावृत्ति है—जो अविद्याको निवृत्त करती है, वहाँ तो है नहीं, साक्षात्कार वृत्तिमें तो नही है। अच्छा, निदिध्यासनवृत्तिमें कर्म-उपासनाका सम्बन्ध होगा? कि ना। अच्छा, मननमयी वृत्तिमें सम्बन्ध होगा? कि ना। अच्छा, श्रवणमयीवृत्तिमें सम्बन्ध होगा? कि ना। तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन और साक्षात् इन चारोंमें तो कर्म-उपासना योगका सम्बन्ध किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। तो अब बहिरंग साधनमें चलो। शमदम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तो अन्त:करणकी शान्ति हैं। यह तो विधानात्मक है, तो इसमें कुछ है ही नहीं। अच्छा, तो इनकी उत्पत्तिमें? शमदमादिकी उत्पत्तिमें, इनके पूर्व जो किये हुए धर्मानुष्ठान, उपासना और योगादि हैं वे सहायक होते हैं। तो परमात्माका असलमें 'ज्ञानगम्यं' कहनेका विशेष अर्थ है। ये हमारे विद्वान् लोग जो हैं वे किसी शब्दका प्रयोग ऐसे ही नहीं करते हैं।

ज्ञानेनैव गम्यं ज्ञानगम्यं।

अब ज्ञानगम्यपर जरा ध्यान दो, ज्ञानगम्य परमात्मा। जो चीज ज्ञानसे मिल जाती है। ज्ञान माने जानना —जो चीज जानने भरसे मिल जाती है, वह क्या कहीं गयी हुई होती है? सांख्य दर्शनमें यह दृष्टान्त मूलमें ही है: *कंठचामी करवत्*—गलेमें हार जरा पीछेको हो गया, तिजोरी सारी ढूँढ डाली, पलंगके बिस्तर सब फेंक दिये, नौकरको दस बात सुना दी, पुलिसमें सूचना दे दी, और जब किसीने बताया कि कौन-सा हार तुम्हारा खो गया है? क्या जो गलेमें पहने हो सो? तो बोले—अरे, भाई, हाँ, यह तो गलेमें है। तो जाननेमात्रसे जो हार मिला वह चोरके हाथमें नहीं था, तिजोरीमें नहीं था, नौकरके पास नहीं था, पुलिसमें सूचना देनेसे मिलनेवाला नहीं था, वह तो ख्याल आनेसे ही मिलनेवाला था। इसका मतलब कि हार खोया नहीं था, प्राप्त हारमें ही अप्राप्तका भ्रम हो गया था। यह परमात्मा कर्म-उपासना-योगसे मिलनेवाला नहीं है; इसके लिए आखिरी वृत्तिसे जो चीज मिलती है वह

पहलेसे प्राप्त रहती है। तो यह परमात्मा जो है यह तुम्हें पहलेसे प्राप्त है, माने तुम्हीं हो परन्तु जो गैर जानकारी है, अज्ञान है, उसको मिटानेके लिए ज्ञानकी जरूरत है।

अच्छा, अब दूसरी बात इसीमें देखो, कि अज्ञानसे जो वस्तु अप्राप्त होती है वह क्या वस्तुतः अप्राप्त होती है? 'गोदमें बालक और शहरमें ढिंढौरा'। एक आदमी जरा थोड़ी-सी भाँग पीये हुए था, कन्धेपर अपने बच्चेको बैठा लिया, बैठाके घूमने लगा, तो भूल गया कि बच्चेको कन्धेपर बैठा रखा है। अब वह पूछने लगा कि बच्चा कहाँ गया? लोगोंने समझा कि कोई और बच्चा होगा। अन्ततोगत्वा यह आधीराततक, तीन पहरतक शहरमें घूम-घूमकर ढिंढौरा पिटवा-पिटवाकर कि हमारा बच्चा खो गया है, थककर लौटा। जब घरमें घुसा तो जो दरवाजेका चौखट था, वह बच्चेके सिरमें लग गया-वह रो पड़ा। बोला—देखो न, यह दुष्ट कन्धेपर बैठा है और मैं सारे शहरमें ढिंढोरा पिटवाकर आ गया। तो गोदमें बालक शहरमें ढिंढौरा। तो अज्ञानसे बालककी अप्राप्ति हुई तो बालक नहीं खोया। तो ज्ञानगम्यका अर्थ यह है कि परमात्मा अप्राप्त नहीं है, नित्य प्राप्त है। और अज्ञानसे अप्राप्त है, इसका कहनेका अर्थ है कि अप्राप्ति केवल भ्रममात्र है, वस्तुतः नहीं है।

अब एक और बात ज्ञानगम्यंमें है। ज्ञानगम्यं कहकर तो वेदान्तियोंने कमाल किया है। देखो, अगर हम जानें कि यह घड़ी है, खूब पहचान लें कि इसकी मशीन अच्छी है, ठीक समय देती है, अमुक चीजसे बनी है, तो यह घड़ी हमको मिल जायेगी? नहीं, जाननेसे घड़ी नहीं मिलेगी। जाननेसे कोई राज्य मिल जायेगा? जाननेसे कोई स्त्री मिल जायेगी? जाननेसे कोई पुरुष मिल जायेगा? जो चीज अन्य होती है वह जाननेभरसे नहीं मिलती। अच्छा, हम जान जायें कि समाधि ऐसी होती है, निर्विकल्प, सविकल्प, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, तो क्या समाधि मिल जायेगी? नहीं मिलेगी। अच्छा, वैकुण्ठको जान लें, तो क्या मिल जायेगा? वैकुण्ठको जानेंगे तो भजन करके वहाँ जाना पड़ेगा और समाधिको जानेंगे तो समाधि लगानी पड़ेगी। अब कोई चीज ऐसी हो कि जाननेके बाद न समाधिकी तरह लगानी पड़े, न वैकुण्ठमें जाना पड़े, न घड़ीकी तरह खरीदनी पड़े और जानते ही मिल जाये। तो ऐसी चीज क्या हो सकती है? ऐसी चीज अपनी आत्मा है। अपनी आत्माको जाननेके

बाद न समाधि लगानी है, न उपासना करनी है, न योगाभ्यास करना है, न कहीं जाना है, न आना है, न खरीदना है, न पाना है, न प्रयत्न करना है। तो ज्ञानगम्यंका अर्थ हुआ कि वह अपना आत्मा ही है और नित्य प्राप्त ही है, दूसरे देशमें, दूसरे कालमें, दूसरे रूपमें वह बिलकुल नही है, उसके लिए साधनान्तरकी जरूरत नहीं है। तो—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय, संक्षेपमें कहा गया। पहले क्षेत्र फिर क्षेत्रज्ञ और अन्तमें क्षेत्रज्ञकी अपनेसे एकता—तीन बात पहले बतायी थीं। **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**—***तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि।*** मां और क्षेत्रज्ञ-दोनोंकी एकता और एकतामें विद्धि। विद्धि माने बोध-ज्ञान जानो। तो जब क्षेत्रज्ञ और मां दोनों एक हो गया तो अल्पक्षेत्र जो है वह अल्पज्ञकी उपाधि और सर्वक्षेत्र जो है वह मां-की उपाधि और सर्व और अल्परूप उपाधिका तिरस्कार करके जहाँ क्षेत्रज्ञका ऐक्य ज्ञात हुआ वहाँ क्षेत्रकी पृथक्ता बाधित हुई। क्षेत्र मिटता नहीं है, क्षेत्रका अभान नहीं होता है, क्षेत्र प्रतीत होता हुआ भी, अपने आपसे जो पृथक्ताकी भ्रान्ति है क्षेत्रमें कि यह मुझसे अलग है, वह अलगाव बाधित हो जाता है। अविद्या भी निवृत्त नहीं होती, बाधित ही होती है। क्योंकि अविद्या है ही नहीं, निवृत्त क्या होगी?

अब कहो कि विद्या उत्पन्न होकर रहती है, तो विद्या भी है ही नहीं, वह तो जैसे बिना युक्तिके, बिना श्रुतिके, बिना प्रमाणके तुमने अविद्या अपने आपमें कल्पित कर रखी थी, वैसे प्रमाणसे विद्या होती है। ***यादृशो यक्षः तादृशो बलिः।*** जैसा यक्ष, वैसी बलि। ***यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनो खरः।*** जैसी शीतलादेवी वैसा उसका वाहन गधा। तो जैसे—तुमने बिना सोचे समझे अपनेको अज्ञानी मान रखा था, वैसी ही श्रुतिने कहा कि तुम ब्रह्म हो। और जब बिना सोचे समझे अपनेको जीव माना तो श्रुतिकी बातको युक्तियुक्त मानकरके अपनको ब्रह्म जान लो। तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं।

ज्ञेय ब्रह्म-प्रकरणका उपसंहार

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

संगति—अब भगवान् इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं। इस अध्यायमें पहले 'प्रतिज्ञोपनिषद्' आयी—**तत्समासेन मे शृणु** तक। उसके पश्चात् 'क्षेत्रोपनिषद्' है—**एतत्क्षेत्रं समासेन** तक। फिर 'ज्ञानोपनिषद्‌में ज्ञानके बीस साधन बताये—**अमानित्वम्**से **एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्** तक। अन्तमें 'क्षेत्रज्ञ-ब्रह्मैक्योपनिषद्' चल रही थी। अब उसीका उपसंहार कर रहे हैं। इस श्लोकके पश्चात् अध्यायके अन्त तक **'प्रकृति-पुरुष-विवेकोपनिषद्'** है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १३.१८

अर्थ :—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका संक्षेपसे वर्णन कर दिया। मेरा भक्त इसको जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति—उसीको जानकर मृत्युका अतिक्रमण होता है। 'तम् एव विदित्वा' और 'विदित्वा एव' और 'मृत्युम् एति एव'। माने उसीको जानकर और जानकर ही, अन्य साधनसे नहीं, मृत्युको अतिक्रमण कर ही जाता है। सर्वं वाक्यं सावधारणम्-यह जो 'एव'-कार है उसका अन्वय सभीके साथ होगा। माने यदि तुम अपनेको अजर-अमर रूपमें अनुभव करना चाहते हो तो उसको, परमात्माको जानो। और न जानो तो? ***यस्तं न वेद किं ऋचा** करिष्यति*—जिसने उसको नहीं जाना उसको वेदके मन्त्र क्या करेंगे। चारों वेद, सारे वेदांग, अठारहों पुराण, श्रुति, स्मृति, कर्मकाण्ड, चौदहों विद्या पढ़ लें और उनका जो तात्पर्य है आत्माको ब्रह्म जानना, वह न जानें तो वेद पढ़कर क्या करेगा? किं ऋचा करिष्यसि? और किं ऋचा करिष्यन्तिका एक अर्थ यह भी है कि उसका मनुष्य देह धारण करना व्यर्थ गया, जीवन निष्फल गया। सायणाचार्यने निरुक्तमें ऋचा शब्दका एक अर्थ देह किया हुआ है। ऋक् माने देह और ऋक् माने ऋचा, वेद मन्त्र भी। ***ऋचन्ति अर्चन्ति अनेन इति ऋक्** देहाः।* इसी जीवनमें परमात्माकी प्राप्ति होती है। यदि इसी जीवनमें परमात्माको नहीं पाया तो ***किं ऋचा करिष्यन्ति***—यह शरीर पाकर क्या लिया? मनुष्य होकर क्या पाया? माने मनुष्य जीवन व्यर्थ है, पढ़ना-लिखना व्यर्थ है यदि परमार्थ सत्यको नहीं जाना।

उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुस्तमर्थम्। (छां० ८.३.२)

श्रुतिने कहा कि एक गरीब आदमी जिस मकानमें रहता था, उसमें उसके बाप-दादाने जो बहुत धनी थे, मिट्टीमें बहुत सारा धन गाड़ रखा था। पर वह कंगाल आदमी रोज उसपर पाँव रखकर चलता, पर पहचानता नहीं था कि मेरे घरमें धन गड़ा हुआ है।

नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्याः उक्थशासः चरन्ति।

दूसरी श्रुति कहती है कि तुम्हारी बुद्धिपर तो कुहासा छाया हुआ है, केवल बकवादमें तुम लगे हो, 'उक्थशासः चरन्ति'—केवल श्रम कर रहे हो, भीतर जो सच्चाई है उसको नहीं जानते हो।

एतद् विदुः त इमे समासते—जिन्होंने उसे जान लिया, उसको अब भीख माँगनेकी जरूरत नहीं है, उसको श्रम करनेकी जरूरत नहीं है, '**त इमे**

समासते' माने भली भाँति बेफिकर होकर बैठे हैं। *'सोवत पाँव पसार'*। निष्क्रिय हो गये। अपनेमें कर्तृत्वादि जो अध्यस्त धर्म था उसका बाध हो गया।

तो भाई आओ, अपने जीवनको सफल करनेके लिए प्रयत्न करो। 'यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति'—कहीं मनुष्य जीवन निष्फल न हो जाये, यह पढ़ना-लिखना निष्फल न हो जाये, यह मनुष्य जीवन पुरुषार्थसे वंचित न हो जाये, यह जीवन नष्ट-भ्रष्ट न हो जाये! यदि इसी जीवनमें इस आत्माको नहीं जाना तो महान् विनाश है।

न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

बोले—अच्छा, जाननेकी रीति क्या है? तो देखो, सीधी बात आपको सुनाते हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः यह रूपको प्रकाशित करनेवाली आँख एक ज्योति है। शब्दको सुननेवाला कान एक ज्योति है। गन्धको प्रकाशित करनेवाली नासिका एक ज्योति है। स्वादको प्रकाशित करनेवाली रसना एक ज्योति है, स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली त्वचा एक ज्योति है और संकल्पोंको प्रकाशित करनेवाला मन एक ज्योति है। विचारोंको प्रकाशित करनेवाली बुद्धि एक ज्योति है। और स्वप्न-सुषुप्तिको प्रकाशित करनेवाला मैं एक ज्योति है। **ज्योतिषामपि तज्ज्योति**। छोटी-छोटी ज्योतियोंको बाध देकर सबसे अन्तमें जो अखण्ड ज्योति है न, वह तुम हो। वह तुम्हारा ज्योतिस्वरूप है। **एको देवः**—यही देव है। विषयोंसे परे, इन्द्रियोंसे परे, प्राणोंसे परे, मनसे परे, बुद्धिसे परे, विज्ञानसे परे ज्योतिर्मय, **ज्योतिषः सन्निहितं गुहायां**—यह तुम्हारी हृदय गुहामें यह ज्योतिरूप परमात्मा सन्निहित है। माने निरतिशय समीप है। माने तुम खुद हो।

बोले—महाराज, आपने कहा इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको हटा दो, तो मैंने हटा तो दिया लेकिन, हटानेके बाद तो हमको एक ही चीज दिखती है—तम। बोले—वाह-वाह-वाह तुम घबड़ाना नहीं, तुम बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच गये। अब तो बस एक ही बात बाकी रह गयी। यदि कभी अन्धकार मालूम पड़े, अज्ञान मालूम पड़े, तो घबड़ाना नहीं।

वेदान्त सिद्धान्तको कठिन नहीं मानना चाहिए। महात्मा लोग कहते हैं

कि जो इसको कठिन मानते हैं, उनके मनमें विषय-वासना ही बात (प्रतिबन्ध) बनकर बैठी हुई है। वैराग्यकी कमीके सिवाय इसमें और कोई कठिनाई नहीं है—

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते।

सुखेनका क्या अर्थ है? कठिन-कठिन करके मरो मत, सुखेन=अनायास, सुखेनका अर्थ है कोई आयास नहीं है। कहीं दूसरी जगह जाना हो, कहीं चलनेकी तकलीफ उठानी पड़े, किसीका इन्तजार करना हो, तो इन्तजार करनेमें तकलीफ हो। दूसरे समयमें मिलनेवाला हो, तो इन्तजारकी तकलीफ उठानी पड़े, दूसरी जगह मिले, तो जाना पड़े, दूसरे रूपमें हो, तो तदाकार वृत्ति बनानी पड़े! अरे, यह तो तुम स्वयं हो—तदाकार वृत्ति हो कि न हो! इसमें वृत्तिकी भी अपेक्षा नहीं है, ***तत्त्वमसि।***

आपने पढ़ा नहीं गीतामें नवें अध्यायमें?

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

कर्तुम् सुसुखं, कर्तुं सम्पादयितुम् सुसुखं यह ब्रह्मविद्याका सम्पादन करना बड़ा सुख है, सुसुख है।

बोले—क्लेशोऽधिकतरस्तेषां जो है, सो? वह तो **अव्यक्तासक्त-चेतसाम्** जो आसक्त, जो प्रकृतिसे ऊपर उठना नहीं चाहते हैं, उन्हींको क्लेशोऽधिकतर है। जो देहासक्त हैं, देहाभिमानी हैं उनके लिए कठिन है, नहीं तो सुसुख है, तैत्तिरीय श्रुतिका कहना है—कौन जिन्दा रहता, कौन साँस लेता, यदि यह परमानन्द परमप्रिय आत्मस्वरूप न होता?

तो पहली बात यह है कि विषयोंको बाहर छोड़ो और इन्द्रियोंके जो छेद हैं उनको शरीरमें छोड़ दो और इन्द्रियोंकी और मनकी जो वृत्तियाँ हैं और जो विचारकी वृत्तियाँ हैं, जो निश्चय हैं, उनको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो। किसीसे लड़नेकी, मिटानेकी जरूरत नहीं है, भगानेकी जरूरत नहीं है, केवल सम्बन्ध त्यागमात्र ही अभीष्ट है। जैसे रास्तेमें चलते-चलते आप किसी भी व्यक्तिको भ्रमसे अपना बेटा समझ लो अब वह सड़क पार करने लगा तो ड़र हुआ कि कहीं एक्सीडेण्ट न हो जाये। और तुरन्त मालूम पड़ा कि यह तो हमारा बेटा नहीं है। तो विचारको दबाओ मत, निश्चयको अपने

ऊपर थोपो मत, संकल्पोंसे लड़ो मत, इन्द्रियोंको रोको मत, विषयोंपर लाठी मत मारो। इनको जहाँ-की-तहाँ, ज्यों-का-त्यों छोड़ दो—

दास कबीर जतनसे ओढ़ी
ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।

तो बोले कि ऐसा करनेके बाद महाराज, केवल तमस् रह जाता है, कुछ नहीं मालूम पड़ता! अरे भाई, तुम तो बहुत ऊँचे पहुँच गये। यह तुमको जो तमस् दिखता है न? इसी तमस्में तुम छिपे हुए हो।

तम आसीत् तमसागूढ़मग्रे।

ऋग्वेदमें नासदीय सूक्तका कहना है कि तुम्हारे ऊपर बस तमस्का ही पर्दा है। **अतः तमसः परमुच्यते**। तुम इस तमससे परे हो। तुम तमस्को देख रहे हो इसलिए इससे भी तुम न्यारे हो। जिसको तुम कह रहे हो कि कुछ नहीं सूझता, अज्ञान-ही-अज्ञान है, अन्धकार-ही-अन्धकार है, तम-ही-तम है, जहाँ विषय नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, मन नहीं है, सुख-दुःखकी वृत्ति नहीं है, देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं है, केवल तम ही भासता है, बोले— बस-बस 'तमसः परमुच्यते'—इसी तमके परे तो है जो तमको देख रहा है। ***आविः सन्निहितं गुहाचर नाम***—यह तो बिलकुल प्रकट है। सन्निहितं माने निरतिशय निकट है। माने मुझमें, उसमें भेद नहीं है और आविः माने स्वयंप्रकाश है।

बोले—यह तमसका जो साक्षी है वह कौन है? कि ज्ञानं है। यह ज्ञानं शब्द निरुपपद है माने इसके पास कोई दूसरा पद नहीं है। निः माने नहीं और उप माने पास और पद माने दूसरा पद। तो निरुपपद मानो। जैसे 'घटज्ञानं'में ज्ञानके पहले घट पद है। ज्ञानके साथ घट-विशेष जुड़ गया तो अर्थ हो गया—घड़ेका ज्ञान, जैसे पटज्ञानमें पट विशेष जुड़ गया—कपड़ेका ज्ञान; वैसे ज्ञानके साथ कोई पद, कोई विशेष जोड़नेकी जरूरत नहीं है। मकानका ज्ञान, जीवका ज्ञान, ईश्वरका ज्ञान—कि यह सब नहीं। अरे ब्रह्मका ज्ञान, वह भी नहीं। लो महाराज, आप ब्रह्मका ज्ञान भी काटते हो? कि हाँ, वह भी काटते हैं। असलमें ब्रह्मका ज्ञान नहीं है, ज्ञान ही ब्रह्म है। यह आप ध्यानमें रखो कि ज्ञान ही ब्रह्म है। यही ज्ञान जिस ज्ञानसे हमको, हमारा बोलना मालूम पड़ता है, आप लोगोंका बैठना मालूम पड़ता है, जिस ज्ञानसे वह ज्ञान

मेरे सिवाय कोई दूसरा नहीं है, इसीसे सुषुप्ति भी मालूम पड़ती है। **तमसः परमुच्यते** मैंने ही सुषुप्ति देखी है। सुषुप्ति देखनेवाला और कौन? बेवकूफी जाननेवाला और कौन? तो निरुपपद ज्ञानका यह अर्थ आपको सुनाया।

तो बोले—ब्रह्मज्ञान शब्द जो बोलते हैं, उसमें ***ब्रह्मणो ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं***—यह समास होता है कि नहीं? बोले—कि हाँ, होता है, परन्तु यह विकल्पमात्र है। जैसे बोलते हैं कि राहुका सिर, तो असलमें राहु और सिर एक ही है, पर बोलते हैं राहुका सिर। जैसे बोलते हैं—ब्राह्मणीकुमारका शरीर, इसमें ब्राह्मणी कुमार और शरीर—ये दोनों अलग-अलग नहीं होते। जैसे बोलते हैं पुरुषकी चेतनता, इसमें पुरुष और चेतनता अलग नहीं होती। इन उदाहरणोंमें अभेदमें ही भेदोपचारसे षष्ठीका प्रयोग होता है, यह विकल्पमात्र है—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (योगदर्शन)

पतञ्जलिने कहा यह विकल्प है। असलमें ब्रह्मका ज्ञान नहीं, 'ब्रह्मैव ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं' ब्रह्म ही ज्ञान है। तो फिर ब्रह्म क्यों जोड़ा ज्ञानके साथ? तो बोले—परिच्छिन्न ज्ञान—देशज्ञान, कालज्ञान, वस्तुज्ञान, देशपरिच्छेद ज्ञान, काल-परिच्छेद ज्ञान, वस्तु परिच्छेद ज्ञान, यह जो ज्ञानके साथ अल्प-अल्प जुड़े हैं न, उनको हटानेके लिए ब्रह्म शब्द जोड़ते हैं। वस्तुतः ज्ञानं, ज्ञानमात्रम्।

अच्छा, लो अब एक और बात सुनाते हैं कि ज्ञान क्या है?

अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्।

जो वेद्य नहीं है, परन्तु अपरोक्ष है, वह ज्ञान है। माने जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके समान कभी दृश्य नहीं होता, इन्द्रियके समान, मनोवृत्तिके समान, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके समान कभी भास्य नहीं होता, पर कहीं सातवें आसमानमें भी नहीं होता, अपरोक्ष रहता है वह ज्ञान है। वेद्य नहीं है माने प्रत्यक्ष भी नहीं है और अपरोक्ष है माने परोक्ष भी नहीं है। तो वह चीज क्या होगी? वह चीज न तो जगत् होगी और न ईश्वर। कैसे, कि जो जगत् होता है वह वेद्य होता है—वह इन्द्रियोंसे, मनसे या बुद्धिसे जाना जाता है। और जो साक्षी भास्य पदार्थ हैं—सुषुप्ति आदि वे भी जगत् हैं। जगत् माने चलनेवाली, ***गच्छतीति जगत्***। सुषुप्ति भी आती-जाती है। अतः जगत् है।

तो अवेद्यत्वे सति माने जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति विलक्षणत्वे सति, इन तीनों अवस्थाओंसे और उनके दृश्यरूप जगत्से विलक्षण रह करके अब अपरोक्षत्वम् और जोड़ दो। ईश्वर कैसा है? बोले परोक्ष। यदि ईश्वर आँखसे दिखता है तो वह प्रत्यक्ष है अतः जगत् है और यदि इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय नहीं है तो परोक्ष है, अपरोक्ष नहीं है। इसलिए जो ज्ञान अवेद्य रहकर अपरोक्ष रहता है वह नहीं हैं। जगत् भी नहीं है और जगदीश्वर भी नहीं है। तब कौन है यह ज्ञान? कि जो दोनोंको जानता है, जो परोक्ष रूपसे ईश्वरकी कल्पना करता है और जो प्रत्यक्ष रूपसे जगत्की कल्पना करता है; जो इस कल्पनाका प्रकाशक है वही ज्ञान है। जबतक अविद्या है, माने जबतक प्रकाशक अपनेको ब्रह्मरूपसे नहीं जानता, तबतक यह ज्ञान वेद्य जगत्को भी सत्य जानता है और परोक्षत्वेन कल्पित ईश्वरको भी सत्य जानता है। अविद्या कालमें जगत् कल्पना और जगदीश्वर कल्पना—दोनों सत्य हैं। अविद्याकालमें माने स्व जीवत्व कालमें अर्थात् जबतक तुम अपने सच्चे स्वरूपको न जान करके अपनेको जीव जानते हो तबतक जगत् सत्य है और परोक्ष ईश्वर सत्य है। और जब अपनेको ब्रह्म जान गये, तब कल्पनाका अस्तित्व ही बैठ गया; भान नहीं मिटा, अस्तित्व मिटा, इसलिए व्यावहारिक जगत् भी है और व्यावहारिक ईश्वर भी है; प्रातिभासिक जगत् भी है, प्रातिभासिक ईश्वर भी है। परन्तु परमार्थ ज्ञानस्वरूप न वेद्य है, न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष है अपितु अपरोक्ष है।

प्रश्न है कि सुषुप्ति अपरोक्ष है कि नहीं? कि है परन्तु वेद्य है। स्वप्न अपरोक्ष है कि नहीं? है, परन्तु वेद्य है। हम तो कहते हैं—***अवेद्यत्वे सति***—ज्ञान वेद्य नहीं है, विषय नहीं है लेकिन सुषुप्ति आती है और जाती है, स्मृति छोड़ जाती है; स्वप्न आता है और जाता है, स्मृति छोड़ जाता है; जाग्रत् आता है और जाता है, अपनी स्मृति छोड़ जाता है। जहाँ स्मृति विषयत्व है न, वह तो वेद्य ही है। उस स्मृतिका भी साक्षी कौन है? वही 'ज्ञानं—तमसः परमुच्यते'। इसका अर्थ हुआ कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तमस्का कार्य हैं; और अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही अल्प जगत्, सर्व जगत्, अल्पज्ञ, सर्वज्ञ आदि सारी कल्पनाएँ अपने स्वरूपमें होती हैं तथा तमस्के वशवर्ती होकरके हम उनके साथ अपने आपको जोड़े हुए हैं। असलमें अपना स्वरूप क्या है?

बोले—ज्ञानं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति काल विशेषमें आते हैं और जाते हैं। जाग्रत्काल, स्वप्नकाल, सुषुप्तिकाल भी होता है, जाग्रत् देश, स्वप्न देश, सुषुप्ति देश भी होता है। और जाग्रत् वस्तु, स्वप्न वस्तु, सुषुप्ति वस्तु भी होती है। परन्तु *एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च*...... (श्वेता०)

केवल हैं माने यह अद्वितीय भी है। और **निर्गुणश्च** माने इसमें गुण-गुणीभाव नहीं है। ऐसा **ज्ञानं** ज्ञान ही परमात्माका स्वरूप है।

बोले—ज्ञानसे हम आगे, पीछेकी ओर जानते हैं। बोले—ज्ञानमें देश नहीं है इसलिए आगे-पीछेकी ओर नहीं है। ***स एव उपरिष्टात्। स एव पुरस्तात्। स एव अधस्तात्। स एव पश्चात्। स एवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। अहमेवेदं सर्वम्।***

देखो, श्रुतिमें सब है। एक जगह स एव पुरस्तात है, एक जगह आत्मैव पुरस्तात्' है। एक जगह 'ब्रह्मैव पुरस्तात्' है, एक जगह 'अहमेव पुरस्तात्' है। अर्थात् आत्मा, ब्रह्म, सः, अहं—ये चारों पदोंका अर्थ एक है। और वह क्या है? कि ज्ञानं है। कालके पेटमें ज्ञान रहेगा, तो क्षणिक होगा। द्रव्यके पेटमें ज्ञान रहेगा, तो चार्वाक हो गया। ज्ञानका सम्प्रदाय बदल गया। देहके पेटमें अगर ज्ञान है तो चार्वाक ज्ञान है। कालके पेटमें ज्ञान है तो बौद्ध ज्ञान है। और उड़नेवाला और गिरनेवाला ज्ञान है तो देशके पेटमें है, वह जैन ज्ञान हो गया। और जब देश, काल, वस्तु ज्ञानके पेटमें है तो वह ईश्वर ज्ञान है। ईश्वरके संकल्पमें देश-काल-वस्तु हैं, ऐसे समझो। संकल्प-संकल्पक भाव ईश्वरमें है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध परमार्थ वस्तुके पेटमें न देश-काल- वस्तु है, न देश-काल-वस्तुके पेटमें परमार्थ वस्तु है। वहाँ व्याप्य-व्यापक भाव, कार्य-कारण भाव, आधार-आधेय भाव हैं ही नहीं। ऐसा है यह ज्ञान।

इस मनुष्य-जीवनमें ज्ञेय अगर कुछ है तो यही ज्ञान है। इसको नहीं जाना और सब कुछ जान लिया तो क्या जाना? अपनेको नहीं जाना, तो क्या जाना? एक आदमीने एक महात्माके पास जाकर कहा कि महाराज, हम ईश्वरको जानना चाहते हैं। महात्माने पूछा—भले मानुष, ईश्वर क्या होता है? बोला—कि ईश्वर वह होता है जिसने पहले दुनिया बनायी, जो दुनियाका संहार करता है, जो दुनिया भरमें व्याप्त है, जो इसका आधार और ईश्वर है।

हम उसी ईश्वरको जानना चाहते हैं। तो महात्माने कहा कि भलेमानुस, तुम्हारे अपने साढ़े तीन हाथके शरीरमें जो ईश्वर है, उसको तुमने जाना? तो बोला कि नहीं, इसको तो नहीं जाना। बोले—साढ़े तीन हाथके शरीरमें जो ईश्वर है, तुम्हारे बिलकुल पास, दिलमें, उसको तो तुमने जाना नहीं और वह जो सारी दुनियामें बैठा हुआ है उसको जानना चाहते हो? अरे, यहीं उसको पहचान लो।

यथा एकेन स्वर्णमणिना विज्ञातेन सर्वं स्वर्णमयं विज्ञातुं भवति।

एक स्वर्ण मणि, एक लोहमणि, एक मृण मणि, एक मृत्तिकाके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है।

आत्मना विज्ञातेन सर्वं विज्ञातुम् भवति।

यदि आत्माका विज्ञान हो गया, अपने आपको जान लिया, तो सबको जान लिया।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

श्री गौड़पादाचार्यने कहा कि मनुष्यके जीवनमें तीन ओर ध्यान जाना चाहिए। वैसे तो चार बताया, पर कहा चारमें एक तो सच्ची है, तीन झूठी है। अलात शान्ति प्रकरणमें इसे कहा है—

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः॥ (अलात० ९०)

(१) **हेय**—एक तो **है** 'हेय'। यह क्या है? कि काम-क्रोध, लोभ, मोह आदि जो दोष हैं, दोष-दुर्गुण हैं और अनात्मामें जो आत्म बुद्धि है वह **हेय** है माने त्याज्य है।

आपने जो क्षेत्र देखा न—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इत्यादि

यह क्या है? इनमें जो आत्मबुद्धि है, वही सब दोषोंका बीज है। वस्तु में दोष नहीं होता, कर्ममें दोष नहीं होता, भ्रम ही दोष है। सम्पूर्ण दोषोंका एक मात्र कारण है, भ्रम। बोले—यह चीज हमने ले ली, इसलिए महात्माजी हमारे ऊपर नाराज हो गये, हमने यह काम कर दिया, इसलिए नाराज हो गये। न, न, यह तुम्हारे हृदयमें जो श्रद्धाकी कमी है, जो एक ओर तुम्हारा अतिशय झुकाव **है**, पक्षपात **है**, दूसरोंसे जो तुम्हारे हृदयमें नफरत है, यह दुश्मनी, यह

मोहब्बत, यह पक्षपात, यह क्रूरता दूसरोंके प्रति, यह भ्रमसे आती है। महात्माजी तो वह हैं जो सबमें है।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

तो पहले भ्रम और भ्रमके पोषक जीवनमें हेय हैं, यह बात समझ लेनी चाहिए। तुमको जितना दुःख है वह भ्रमके कारण है।

(२) दूसरा है **आप्य** अर्थात् प्राप्त करने योग्य—अमानित्वादि जो सद्गुण हैं इनको जीवनमें प्राप्त करना चाहिए।

(३) तीसरा है **पाक्य**—जो दोष छूटते नहीं हैं, जैसे भूख है, प्यास है, निद्रा है, तन्द्रा है, प्रमाद है, आ जाते हैं जीवनमें, इनको पचाओ—पाक्य है। खट्टी चीज भी पकानेके बाद मीठी हो जाती है, आपको मालूम है? आँवला है न, वह तो महाराज ऐसा मधुर पाकी पदार्थ है, आयुर्वेदके जानकार लोग उसको मधुरपाक बोलते हैं। पका देनेके बाद वह मीठा बन जाता है। तो ये जो दोष भी हैं न, अपने जीवन में; भूखको मीठी बना लो, प्यासको मीठी बना लो, लोभको मीठा बना लो। ये मीठे बनाये जाते हैं, ये जब पक जाते हैं तब मीठे होतें हैं और जब तक कच्चे रहते हैं, तबतक कड़वे होते हैं।

एक पुत्र कहीं परदेश जाने लगा तो उसने अपनी मातासे पूछा कि कुछ कहना हो, तो कह दो। तो माता बोली कि बेटा हल्वा-पूरी खाना, पलंगपर, गद्देपर सोना, किलेमें रहना। वह बोला—माँ, मैं गरीब आदमी, परदेशमें जा रहा हूँ, कहाँ मिले हल्वा-पूरी, कहाँ मिले गद्दा, कहाँ मिले किला? तो माँने बताया कि बेटा सब चीज हल्वा-पूरी हो सकती है। कैसे? कि जब खूब भूख लगे तब खाना; थोड़ी भूखमें और हर समय मत खाना, जब चाहो तब बकरीकी तरह चबाते नहीं रहना। खूब भूख लगनेपर जो खाओगे वही हल्वा-पूरी हो जायेगा।

हम आपको सुनाते हैं, हमने गाँवमें मोटी-मोटी बासी रोटी लोगोंको खाते देखा है और खुद भी कभी खायी है, एक दिन एक जगह गया तो आलेमें एक बर्तनमें मोटी-मोटी रोटी रक्खी हुई थीं। मैंने पूछा कि यह क्या है? तो बोले कि यह साधुओंको देनेके लिए उठाकर रख देते हैं, जबतक खत्म नहीं होतीं तबतक पड़ी रहती हैं—दस दिन, पाँच दिन; साधु आते रहते

हैं लेते रहते हैं। असलमें जो मुँहमें पानी आता है न, उससे स्वाद बनता है। हल्वा-पूरीमें स्वाद नहीं, जब भूख लगे तभी खाना।

अब भाई गद्देपर कहाँ सोयेंगे? बोले—दिन भर खूब मेहनत करना, जब परिश्रम दिन भर करोगे तब रातमें ऐसी नींद आवेगी कि कंकड़-पत्थर भी होगा तो गद्दा लगेगा! और दिन भर कुर्सी तोड़ते रहोगे तो रातको नींद कहाँसे आवेगी? जब किसान दिन भर फावड़ा चलाकर या हल जोतकर लौटते हैं और अरहरकी चूनीकी रोटी बनती है घरमें, मटरकी रोटी खाते हैं, भरपेट खाकर सड़कके किनारे कंकड़-पत्थरोंपर ऐसे लुढ़क जाते हैं कि गद्देपर ऐसी नींद क्या आवेगी? गद्देपर तो नींदकी गोली खानी पड़ती है। जो लोग परिश्रम करते हैं उनको नींद आती है। माने आलसी नहीं होना, खूब परिश्रम करना तो गद्देपर सोनेके समान नींद आवेगी।

बोले—किला कहाँ मिलेगा रहनेको? तो उसने कहा कि सत्संग किला है। जैसे किलेमें रहो तो दुश्मन आकर तुम्हें छू नहीं सकता, वैसे सत्संगमें रहो, तो ये जो दोष-दुर्गुण हैं, काम-क्रोध-लोभ हैं वे तुमको छू नहीं सकते।

(४) एक बात और रह गयी, क्या? बोले—**विज्ञेयं**—इस जीवनमें जानना क्या है? किसके लिए हम छोड़ते हैं, किसके लिए हम पकड़ते हैं, किसके लिए हम पचाते हैं, किसके लिए हम जीते हैं, आखिर जीवनका उद्देश्य क्या है? बोले—ज्ञेय-जानना। यह जो हम अन्धेरे में भटक रहे हैं, कुहासेके अन्दर भटक रहे हैं, रास्ता भूल गया है, कहाँ जाना है, यह मालूम नहीं है। तो यह जानना है।

देखो, हमको कई बार दिग्भ्रम हुआ है। एक बार साढ़े सात-आठ बजे अपने गाँवसे, नौ मील दूर स्टेशनके लिए चले और रास्ता तो सचमुच सैकड़ों बारका नापा हुआ था, आँख बन्द करके चले जाये ऐसा रास्ता था, लेकिन रास्ता भूल गये, दिग्भ्रम हो गया। जहाँ पूर्व घूमना था, वहाँ पश्चिम घूम गये पन्द्रह बीस मिनट चलनेके बाद मालूम हुआ कि हम तो उस रास्तेसे नहीं चल रहे हैं जहाँ जाना था। तो कहाँ आ गये यह समझनेके लिए क्या जरूरी था कि इस समय हम कहाँ हैं, अगर यह बात मालूम पड़ जाये तो हम

रास्तेको ठीक-ठीक पहचान लेंगे। देखो, दिग्भ्रम हो गया, रातका समय। अरे अब ध्रुवकी ओर देखने लगे कि उत्तर कहाँ है, नहीं पता चला, तब बैठ गये, कि अब किसी तरफ हमको नहीं जाना है, अब रातको कहाँ मालूम पड़े कि हम कहाँ बैठे हैं। नौ-दस बज गये मालूम ही न पड़े। अन्तमें एक दीपक दिखा, तो समझा गाँव है। बोले, अगर यह मालूम पड़ जाये कि यह कौन-सा गाँव है तब हम अपना रास्ता प्राप्त कर सकते हैं। तो हम चलकर गाँवके भीतर पहुँचे और पूछा-अरे, यह कौन गाँव है भाई? वह तो हम तीन मील दूर अपने रास्ते से चले गये थे, फिर वहाँ जाकर सड़क मिली, फिर वहाँसे भी हमको रास्ता मालूम था, वहाँसे चले गये। लेकिन रास्ता भूल जानेपर यह जरूरी होता है कि पहचानें कि इस समय हम कहाँ हैं? अगर यह मालूम नहीं हो तो दाहिने जाओ, बायें जाओ और उलटे चले जाओगे। अपनी स्थितिको पहचानना आवश्यक है।

तो सबसे पहली बात यह है कि ज्ञेयको जानो। इसमें आप सच समझो-ज्ञेयको छोड़कर तीनों बातें झूठी हैं। इसमें न कुछ हेय है, न आप्य है, न पाक्य है। जबतक परमात्मा नहीं मिला तबतक यह छोड़ो, यह पकड़ो और यह पकाओ। जब मिल गया परमात्मा, अपने घर पहुँच गये, तो बनी बनायी रसोई खावेंगे कि चूल्हा जलावेंगे, इसमें क्या अन्तर पड़ता है? **ज्ञानगम्यम्।**

तो अमानित्वादि साधन आप्य हैं। और ब्रह्म ज्ञेय है उसका स्वरूप ज्ञान है। और सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंको देखनेवाला जो बैठा है, अज्ञानसे भी परे, अज्ञानका भी प्रकाशक, अपनेको तुम ब्रह्म जान जाओ और अज्ञानको रहने दो, रहे, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रहे, नहीं जानते हम लैटिन, नहीं जानते हम रशियन, चाइनीज, जापानी हम कहाँ जानते हैं? रहेगें सब अज्ञान। ये तो अल्प-अल्पके सब अज्ञान हैं, यह ब्रह्मका अज्ञान थोड़े ही है, ये तो छोटे-मोटे विषयोंके अज्ञान हैं।

तो देखो, एक बात तो यह है कि सर्वस्य—हम सबके हृदयमें आत्माके रूपमें वह बैठा है और उसकी प्राप्तिका साधन अमानित्वादि साधन सम्पत्ति अथवा तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्ति है। उसका ज्ञान जरूरी है, उसका स्वरूप ज्ञान है, वह तमसे परे है और वह सबको प्रकाशित कर रहा है।

ज्ञानके बारेमें यह तो आपको मालूम है कि ज्ञान ज्ञेय नहीं होता, ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। घड़ेका ज्ञान होता है, घड़ेके ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। यह अनुव्यवसायि ज्ञान, प्रत्यभिज्ञा भिन्न-भिन्न नामोंसे लोग कहते हैं, परन्तु मुख्य सिद्धान्त इसमें यही है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता और ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता, स्वयं अपना आपा ही ज्ञान होता है।

तो अब देखो, ज्ञान विषयसे परिच्छिन्न नहीं, देहसे परिच्छिन्न नहीं, इन्द्रियसे परिच्छिन्न नहीं, मनसे परिच्छिन्न नहीं, बुद्धिसे परिच्छिन्न नहीं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे परिच्छिन्न नहीं, समाधि विक्षेपसे परिच्छिन्न नहीं, वैकुण्ठ और नरकसे परिच्छिन्न नहीं। ज्ञानके बिना तो कुछ भासता ही नहीं। मैं और तुमसे ज्ञान परिच्छिन्न नहीं, जीव और ईश्वरसे ज्ञान परिच्छिन्न नहीं और देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न ज्ञान नहीं। यह नहीं कि समाधि लगेगी तब ज्ञान होगा, ब्रह्मलोकमें जाओगे तब ज्ञान होगा, आज ज्ञान नहीं होगा, कल ज्ञान होगा। आज नहीं तो कल क्या ज्ञान होगा? बोले—अज्ञान-ही-अज्ञान है। कि नहीं, अज्ञानका ज्ञान है। बिना ज्ञानके अज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। यही ज्ञान अपना स्वरूप है जिसके बिना कुछ सिद्ध नहीं होता।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

भगवान् कहते हैं कि समास वृत्तिसे, माने थोड़ेमें, संक्षेपमें, मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका वर्णन किया। एक होता है व्यासतः, एक होता है समासतः। तो कृष्ण भगवान् कहते हैं मैं व्यासके मुखसे समास बोलता हूँ। और व्यासजी व्यास-समास दोनों पद्धतिमें निपुण थे। व्यास पद्धतिसे तो उन्होंने पुराणोंका निर्माण किया है, महाभारतका निर्माण किया है। यह व्यास पद्धति है। और समास पद्धतिसे ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया है। व्यासजी को दोनों आता था, थोड़ेमें बोलना और विस्तारसे बोलना। ये दोनों बोलनेकी पद्धतियाँ हैं।

इति क्षेत्रं समासतः। समाससे क्षेत्रका वर्णन किया। समा दिया जाय थोड़ेमें वह समास है।

इति ज्ञानं समासतः—अमानित्व आदि साधनका थोड़ेमें वर्णन किया और **इति ज्ञेयं समासतः**—क्षेत्रज्ञका जो परमार्थ स्वरूप है, उसका थोड़ेमें निरूपण किया।

अब एक बड़ी विलक्षण बात कहते हैं— **मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते** वैसे तो सभी लोग लाइब्रेरीमें पढ़कर भी इसे जानेंगे; कई लोगोंका ऐसा स्वभाव होता है कि वेदान्त भी पुस्तकालयमें बैठकर 'स्टडी' करते हैं। यह 'स्टडी' करनेकी चीज नहीं है। इसमें एक शर्त है— जिसको प्यास होगी, उसको यह पानी मीठा लगेगा और जैसे कोई कहे कि अरे, यह पानी तो जूठा है, अरे यह तो कड़वा है, तो समझना उसको प्यास नहीं लगी हैं।

हमको याद है, एकबार बाढ़-पीड़ितोंमें गये थे सहायताके लिए। अब नावमें घूमें; बाढ़में कुएँ भी डूब गये थे, नदियोंका पानी भी गँदला हो गया था। तो लगी प्यास और अब यह हुआ कि गाँव आवे तो वहाँ जो कुआँ बाढ़से बचा हो, उस कुएँसे पानी मँगाकर पीया जाये, और पानी तो चारों ओर भरा हुआ था। अब आधा घण्टा हो गया, घण्टेभर हो गया न कोई गाँव आवे न पानी मिले, और बाढ़में नाव बही जा रही। तो हमने कहा—बाबा, गाँव आवेगा तब आवेगा, आओ अभी तो पीयें, तो झटसे दोनों हाथसे पानी उठाया और वह बाढ़का पानी ही पी लिया और ऐसी तृप्ति हो गयी कि गला तर हो गया, शरीर तर हो गया। तो महिमा प्यासकी है। यदि प्यास न होवे, तो अमृतको भी आदमी धरतीमें उड़ेल देगा और यदि प्यास होवे, तो प्यासमें विषको भी अमृत बनानेकी क्षमता है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते—प्रश्न यह है कि तुम भक्त हो कि नहीं? भक्ति माने प्यास, भक्ति माने जिज्ञासा? अरे, एक शब्द ब्रह्मके बारेमें सुनायी पड़ता है, एक बात मालूम होती है और तुम धन्य-धन्य नहीं हो जाते, तो इसका अर्थ है कि तुम्हारे अन्दर उस शब्दामृतकी प्यास नहीं है, ब्रह्मामृतकी प्यास नहीं है। बोले—नींद आ गयी। अब नींद आनेपर तो क्षारामृत मिलेगा।

'मद्भक्त'का अर्थ क्या है? 'मद्भक्त' शब्दका अर्थ पहले तो तेरहवें अध्यायमें देख लो—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जनसंसदि॥ (१३.१०)

अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्ति—इसका अर्थ आपको सुना चुका हूँ। अच्छा, चौदहवें अध्यायमें देख लो—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (१४.२६)

चौदहवेंमें भी भक्ति और तेरहवेंमें भी भक्ति। अब मैं समझता हूँ कि बारहवेंमें तो आप लोग हमें बोलनेकी तकलीफ नहीं देंगे, क्योंकि बारहवाँ तो भक्तियोग अध्याय ही है।

मय्येवमन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (१२.८)

तो 'मद्‌भक्त' माने जो मेरे भागमें हो गया है। मद्‌भक्त शब्दका अर्थ है विवेकी। कैसे? कि एक ओर संसारकी ढेर लगा दी गयी और एक ओर भगवान् खड़े हो गये और बोले कि क्यों बेटा, तुम संसारके भक्त हो कि मेरे भक्त हो? जैसे अर्जुनसे भगवान्‌ने पूछा था—क्या? कि एक अक्षौहिणी नारायणी सेना एक ओर और अकेला निरस्त्र मैं एक ओर, अर्जुन, तुम किधर? अर्जुन बोले—हम सेनाभक्त नहीं हैं, कृष्णभक्त हैं, तो ऐसे संसार और परमात्माका विभाग करके जो सचमुच संसारको नहीं चाहता, भगवान्‌को चाहता है, उसको बोलते हैं मद्‌भक्तः ज्ञानमें इसका अर्थ होगा तीव्र जिज्ञासु और भक्तिमें बोलेंगे तीव्र पिपासु। वृन्दावनके प्रेममें तो इसीको राधा बोलते हैं।

प्यास ही को रूप मानो प्यारी जूको रूप है।

वेदान्तमें इसको जिज्ञासा बोलते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु इसको व्याकुलता बोलते हैं। तो जिसको परमात्मा सत्य, परमार्थके प्रति प्यास है, सच्ची जिज्ञासा है—**एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।** उसको ही इसका विज्ञान होगा और विज्ञान होकरके भगवद्-भावकी प्राप्ति होगी।

कल हमसे एक सज्जनने कहा कि अभी हमको 'ज्ञान गम्यं'का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने लिखा है कि मन्त्र किसी अर्थके निरूपणमें आलसी नहीं होते, माने बारम्बार वही बात करते हैं।

तो आओ 'ज्ञानगम्यं'का अभिप्राय समझो। जो इस समय नहीं होगा,

उसको आप परमात्मा कहेंगे? जो इस समय नहीं होगा वह पैदा या होकर मर गया या तो अभी पैदा ही नहीं हुआ या आगे पैदा होनेवाला है। जो इस समय नहीं है, उसको आप परमात्मा नहीं कह सकते।

अच्छा, जो यहाँ नहीं होगा उसको आप परमात्मा कहेंगे? जो यहाँ नहीं होगा वह तो कहीं परदेश गया होगा। आजकल पेरिसकी यात्रा कर रहा होगा, माने परमात्मा देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं होता।

अब समझो कि परमात्मा यह न हो, तो परमात्मा सर्वात्मक नहीं होगा। एक आप ख्याल बनाओ कि परमात्मा यहीं है, अभी है और यही है।

कल एक सज्जनसे बात हुई थी कि घड़ा बननेसे पहले माटी थी, तो घड़ा बननेके बाद क्या चाटी हो गयी? घड़ेकी आकृतिका जो अधिष्ठान है उसका नाम मृत्तिका है, वह घड़ा बननेके पहले भी थी, घड़ा बननेपर भी है, घड़ा फूटनेके बाद भी है। असलमें माटीमें घड़ा एक आकृति विशेष है, तत्त्व नहीं है। घड़ा तत्त्व नहीं है, माटी तत्त्व है। इसका मतलब हुआ कि अभी, यहीं और यही जो हम देख रहे हैं इसमें केवल अतात्त्विक वस्तुओंपर-से दृष्टि हटा लें—अतत्त्व जो नामरूप है, उसका ख्याल न करें—तत्त्व तो परमात्मा ही है।

अब देखो, यदि वह परमात्मा मैं न हो, तो चेतन ही नहीं होगा। और यदि परमात्मा अन्य है तो या तो परोक्ष है और या प्रत्यक्ष है; यदि परोक्ष है तो कल्पित है और यदि अन्य प्रत्यक्ष है तो जड़ है। अत: परमात्मा स्व ही है और सर्वदेशमें है, सर्वकालमें है, सर्वरूपमें है और अपना आत्मा ही है। यह है परमात्माकी वास्तविक पारमार्थिक स्थिति।

अब विचार यह करना है कि ऐसी स्थितिमें परमात्मा अप्राप्त क्यों है? अप्राप्त है, न पहचाननेसे। परमात्मा पीछे नहीं छूट गया, परमात्मा कहीं आगेसे आनेवाला नहीं है, परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, कहीं भीतर छिपा हुआ नहीं है, परमात्मा कहीं 'यह'से न्यारा, 'वह'से न्यारा, 'मैं'से न्यारा, ऐसा कुछ नहीं है। सिवाय अज्ञानके परमात्माकी प्राप्तिमें कोई रुकावट नहीं है। तब? जो अज्ञानका निवर्तक हो, वही परमात्माकी प्राप्तिका साधन होगा। आप जानते हैं अज्ञानकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही होती है, हाथ जोड़नेसे अज्ञान नहीं मिटता, सिर पटकनेसे अज्ञान नहीं मिटता, आँख बन्द करनेसे

नहीं मिटता। जैसे प्रकाशसे अन्धकारकी निवृत्ति होती है वैसे ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

स्वामी रामतीर्थने एक दृष्टान्त दिया है। एक महात्मा कहीं पहाड़में यात्रा कर रहे थे। वहाँ पहाड़में एक गुफा थी और उसके दरवाजेपर बैठकर कोई अनुष्ठान कर रहे थे, कोई अनशन कर रहे थे, कोई होम कर रहे थे, कोई प्राणायाम कर रहे थे, कोई हाथ जोड़ रहे थे। महात्माने पूछा—क्या बात है? बोले—महाराज, यह गुफामें जो अन्धेरा है, यह भूत है कोई, प्रेत है, राक्षस है, इसमें हमारा जो आदमी घुस जाता है, उसको ही खा जाता है, तो हम होम कर रहे हैं कि हे अन्धकार! तू भाग जा! हम अनशन कर रहे हैं, भूख-हड़ताल कर रहे हैं कि हे अन्धकार तू भाग जा! महात्माने कहा कि भाई अन्धकारको भगानेका यह उपाय नहीं है। तब क्या है? बोले कि पहले लकड़ी इकट्ठी करो और सौ पचास मशाल जलाओ और आग जलाकर, मशाल जलाकर आओ गुफामें प्रवेश करें। तो जब प्रकाश लेकर गुफामें प्रवेश किया तो कहीं साँप थे, कहीं बिच्छू थे, कहीं अजगर था, कहीं भेड़िया, था कहीं शेर था, अब वे सब भगे वहाँसे। बोले—देखो, अन्धकारको भगानेका उपाय हाथ जोड़ना नहीं है, होम करना नहीं है, आँख बन्द करना नहीं है। मंत्र पाठ भी नहीं है। अन्धकारको भगानेका उपाय प्रकाश है।

परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह आत्मविद्या है।

बहिरन्तश्च भूतानां अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्त्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १३.१५

आपने देखा कि चर भी वही, अचर भी वही। जिसको आगे प्रकृति शब्दसे कहेंगे; वह भी वही। जिस पुरुषका आगे हम विचार करनेवाले हैं, वह भी वही। बाहर भी वही, भीतर भी वही, ऐसा परमात्मा। तो ऐसे परमात्माकी प्राप्तिमें केवल अज्ञानान्धकार ही व्यवधान है। और वह केवल ज्ञानसे, प्रकाशसे ही निवृत्त होता है। हमारे बड़े-बड़े आचार्योंने यह कहा कि यह जो हम ज्ञान प्रतिपादन करते हैं, यह तो इसलिए कि हमारा जो शत्रु है वह अज्ञान है। यह ज्ञानमल्ल जो है, ज्ञानरूपी पहलवान, यह अज्ञानको पछाड़नेके लिए अकेला ही पर्याप्त है। तो **ज्ञानगम्यं** का अर्थ यह हुआ कि

जब अज्ञानसे ही परमात्मा नित्य प्राप्त होनेपर भी अप्राप्त-सा हो रहा है, प्रत्यगात्मा होनेपर भी परोक्ष-सा मालूम पड़ रहा है, 'स्व' होनेपर भी 'पर' मालूम पड़ रहा है, तो उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए जो उचित उपाय है वह ज्ञान ही है। और बाकी जो उपाय हैं वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं, ज्ञानमें दिलचस्पी पैदा करनेके लिए, जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिए हैं—कि हम जिसका ध्यान करते हैं वह कौन है, जिसको हाथ जोड़ते हैं वह कौन है, जिसके लिए होम करते हैं वह कौन है, जिसकी कृपा प्राप्त करनेके लिए अनशन करते हैं वह कौन हैं। केवल जिज्ञासा उत्पादनके द्वारा ही दूसरे जो साधन हैं वे साधन हैं और परमात्माका साक्षात्कार जो है वह तो केवल ज्ञानके द्वारा ही होता है। इसीसे श्रुतिमें दूसरे उपायोंका निषेध मिलता है—

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्रुति)

अयनाय—परमात्मनः प्राप्तये अन्यः पन्था न विद्यते।

दूसरा मार्ग नहीं है। यह तो वेदका ही मन्त्र है, आप पढ़ते ही हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

देखो पहली अर्द्धालीमें कहा-***'वेदाहमेतम् पुरुषं'***-मैं इस आत्माको जानता हूँ। कैसा है? कि स्वयं प्रकाश और तमस्‌का भी प्रकाशक है। कि ऐसा ईश्वर और कोई होगा? बोले-नहीं, 'तमेव'—उत्तरार्द्धमें 'तं' है और पूवार्द्धमें 'एतम्' है। 'एतम् तं' 'तं एतम्' वह यह है और यह वह है, दोनोंका समानाधिकरण्य है। मन्त्रपर दृष्टि डालो तब मालूम पड़ेगा। अभिनय करके बताते हैं 'यह', और ***तमेव विदित्वातिमृत्युमेति,*** जो यह है वही वह है और वेदन ही मृत्युके अतिक्रमणका साधन है। बोले कि फिर भी कोई शंका रह जाये कि और कोई उपाय निकलेगा। स्वयं स्वमुखतः श्रुतिने अन्य उपायका निषेध किया—

नान्यःपन्था *विद्यतेऽयनाय।*

स्वरूपभूत वस्तुकी प्राप्तिके लिए ज्ञानातिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**। यह श्रुति स्पष्टम्-स्पष्टम् कहती है।

आपको यह भी सुनावें कि ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानके लिए श्रुतिका समाश्रयण है। इसको भावना मत कहो, श्रद्धा मत कहो, अन्धविश्वास

मत कहो, यह दृष्टि है। श्रद्धा नहीं, दृष्टि है। अनन्तके ज्ञानमें कोई भी इन्द्रिय अलग-अलग समर्थ नहीं है, सब मिलकर भी समर्थ नहीं हैं और सबके संस्कारोंसे उपचित् जो मन है वह भी समर्थ नहीं है। ब्रह्म अनुभवका विषय नहीं है। अच्छा, तब ब्रह्म अनुभव करनेवाला होगा? नहीं, ब्रह्म अनुभविता भी नहीं है, जो अनुभविता है वह तो अनुभाव्यके सापेक्ष है, अनुभवके विषयसे अनुभविताकी सिद्धि होती है और अनुभवितासे अनुभवके विषयकी सिद्धि होती है। देखो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा इन तीनोंकी अपेक्षासे सिद्ध होता है। और द्रष्टाकी अपेक्षासे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—ये तीनों दृश्य हैं, ऐसा सिद्ध होता है। तो यह द्रष्टा कैसे अपनेको ब्रह्म अनुभव करे? अपनेको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न किस युक्तिसे अनुभव करे? युक्ति भी तो दृश्य है। ब्रह्म साक्षी-भास्य नहीं है। हम जैसे सुषुप्तिका अनुभव करते हैं, समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा-सन्धि हैं। ये सब क्या है? ये सब साक्षीको मालूम पड़ते हैं।

सन्धयोऽखिलवृत्तिनाम् अभावाच्चावभासिता।

तो क्या इसी साक्षीके द्वारा ब्रह्म भासनीय है? जो लोग कहते हैं न- अनुभव-सिद्ध-अनुभव, सिद्ध या स्वानुभवगम्य, स्वानुभवगम्य; तो स्वानुभवगम्य माने क्या होता है? जैसे हम शक्करको जीभमें रखते हैं, तो जीभ बताती है कि मीठी है, तो शक्कर स्वानुभवगम्य है, इसी प्रकार कहीं वृत्तिके पेटमें आकर या कहीं हमारी दृष्टिके सम्मुख आकर ब्रह्मका भी कोई रसास्वादन होता है? यदि ब्रह्म अनुभवगम्य है, तो अनुभव कौन है? तो असलमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करनेके लिए न तो गमनागमन अपेक्षित है, न आलोकाकाशके सिरेपर जानेपर ही उसका अनुभव होगा—यह शर्त है। समाधिके अन्तर्देशमें प्रवेश करनेपर ही उसका अनुभव होगा यह शर्त नहीं है, समाधिकालमें ही अनुभव होगा, यह उसके लिए शर्त नहीं है, यह तो सम्पूर्ण नाम, रूपका निषेध कर देनेपर जो शेष है, उस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न शेषको श्रुति सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदरहित, देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित ब्रह्म बताती है; और बताकर स्वयं बाधित हो जाती है, क्योंकि अनन्तमें न श्रुति है, न श्रुतिजन्य वृत्ति है। बोले- शब्द भी जड़ है; तो क्या हुआ, शब्द इशारा करता है। और वृत्ति कौन-सी

चेतन है, वृत्ति भी तो जड़ ही है। वह भी इशारा ही करती है। और यदि आत्मासे पृथक् है कुछ तो वह वेद भी जड़ ही है, परन्तु यह इशारा कर देता है कि तू परमात्माको अन्य देशमें क्या ढूँढ़ता है. अन्य कालमें क्या ढूँढ़ता है, अन्य वस्तुमें क्या ढूँढ़ता है? ये तेरे दृष्टिके विलास हैं, तू स्वयं ब्रह्म है। इस प्रकार श्रुति बताती है—ज्ञानगम्यम्।

'ज्ञानगम्यं'का यहाँ दो अभिप्राय निकलता है। हम आपको एक बार फिर लौटा लेते हैं। त्वं पदार्थका विवेक करनेके लिए—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

यह क्षेत्रका निरूपण किया, वह क्षेत्र कैसा है? ***इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।*** विकारयुक्त क्षेत्र है। तो अगर उसके साथ तादात्म्य करोगे तो कभी द्वेषादिसे तादात्म्य होगा, कभी दुःखादिसे तादात्म्य होगा, उसमें द्वेषः, दुःखं दोनों हैं न, तो कभी द्वेष और दुःखसे तादात्म्य होगा तो नरकका अनुभव करोगे; और कभी राग और सुखसे तादात्म्य होगा तो स्वर्गका अनुभव करोगे। तो वह जो सविकार क्षेत्र है वह सुखका भी अनुभव करानेवाला है, दुःखका भी अनुभव करानेवाला है। नरक दिखानेवाला भी है और स्वर्ग दिखानेवाला भी है, लेकिन उसी क्षेत्रका एक दूसरा रूप है, जब हम क्षेत्रको विकारकी ओर अग्रसर न करके निर्विकारताकी ओर अग्रसर करते हैं, तो वह क्या है?

अमानित्वं अदम्भित्वं अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।

यह भी क्षेत्र ही है। उसको आप यह मत समझना कि वे साधन परमार्थ हैं। विवेककालमें वह भी क्षेत्र ही है। वस्तुको पहचाननेका ढंग यही है कि अनेककी अनेकताको कम करते चलो। हजारों प्रकारके शरीर हैं सृष्टिमें, परन्तु ये सब पंचभूतके बने हुए हैं और पाँच भूत हैं सृष्टिमें, पर ये तीन गुणके बने हुए हैं। और तीन गुण हैं सृष्टिमें, पर ये मायाके बने हुए हैं और एक परमात्मा है जिसमें माया भी नहीं है। वह एकको अनेक बनानेवाली माया भी जिसमें नहीं है वह परमात्मा है देखो, जाननेकी प्रणाली यह है कि यह आपको जब बहुत भासता है, तो उनका कम-से-कममें अन्तर्भाव करो, यही वैज्ञानिक प्रणाली है। तो हजारों गये पाँचमें, पाँच गये तीनमें, तीन गया, दोमें-दो गया एकमें। और जिसमें संकोच और विस्तार है सो एक माया है

और जिसमें संकोच-विस्तार नहीं है, सो एक अपना आपा है। यह तत्त्वज्ञानकी प्रणाली है।

कल एक सज्जन इसको ऐसे पूछ रहे थे : बोले—महाराज, हमको बहुतसे महात्मा कहते हैं कि जबतक परमानन्दकी अनुभूति नहीं हुई, तबतक यह ब्रह्मज्ञान वास्तविक नहीं है। वास्तविक ब्रह्मज्ञान तो तब है जब परमानन्दकी अनुभूति हो। तो यह परमानन्द जिज्ञासाके लिए अर्थवाद है, कि दुःखकी व्यावृत्तिके लिए ब्रह्ममें अध्यारोपित है, कि जिज्ञासुको प्रवृत्त करनेके लिए एक अध्यारोप है अथवा असत्‌की व्यावृत्तिके लिए सत्, अचित्‌की व्यावृत्तिके लिए चित्, दुःखकी व्यावृत्तिके लिए आनन्द, द्वैतकी व्यावृत्तिके लिए अद्वैत, अनात्माकी व्यावृत्तिके लिए आत्मत्व ब्रह्ममें आरोपित है? हमने कहा कि जिस ब्रह्मज्ञानीको आनन्द नामकी एक वस्तु अप्राप्त रह गयी, वह असलमें ब्रह्मज्ञानी नहीं; क्योंकि आनन्द परोक्ष रह गया—आनन्द है और मिला नहीं, आनन्द अप्राप्त रह गया। अरे, ब्रह्मज्ञान तो वह होता है कि जिसका विज्ञान होनेपर सबका विज्ञान हो जाता है, जिसकी प्राप्ति होनेपर कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। हम कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान होनेपर मच्छरका सुख भी अपनेको प्राप्त है और नरकमें जो है वह भी अपनेको प्राप्त है, क्योंकि नरक और स्वर्ग, मच्छर और इन्द्रका जो सुख है और ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका जो सुख है, वह तत्-तत् उपाधिसे हमारे ही अन्दर तो अध्यस्त है, तो वह अप्राप्त कहाँ है? जिसको ब्रह्मज्ञान हुआ उसके लिए कुछ भी, कोई भी ज्ञान अप्राप्त नहीं है, कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं है, कोई भी आनन्द अप्राप्त प्राप्त नहीं है और कोई भी ऐसा द्वैत नहीं है जो उसीमें अध्यस्त न हो, जो स्वयं अधिष्ठान रूपसे वही न हो। तो यह ब्रह्मज्ञान वह वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर किसी देशमें रहनेवाली वस्तु चाहे अन्दर, चाहे बाहर और किसी कालमें होनेवाली वस्तु, चाहे अब, चाहे तब, चाहे किसी रूपमें होनेवाली वस्तु अप्राप्त नहीं होती है। यह नहीं कि पहले ब्रह्म था, बादमें ब्रह्म रहेगा, मर जायेंगे तब ब्रह्म होगा, यह नहीं। जैसे घड़ा घड़ेकी शक्लमें मिट्टीके सिवाय कुछ नहीं है वैसे यह प्रपंच प्रपंचकी शक्लमें भी ब्रह्मके सिवाय और कुछ नहीं है।

बोले कि भाई, इसका ज्ञान होता किसको है? तो 'ज्ञानगम्यं' का अर्थ

आपके ध्यानमें आ गया होगा कि अमानित्वादि साधन सम्पन्न होकर महावाक्य विचार करो। तो जरा लौटाया था न पीछे, कि जो विकारी क्षेत्रसे तादात्म्यापन्न है, वह तो स्वर्ग-नरकादिमें भटक रहा है और जो अमानित्वादि साधन-सम्पन्न है वह परमात्माके स्वरूपकी ओर बढ़ रहा है और जिसको *'तत्त्वमस्यादि'*-महावाक्यजन्यवृत्तिके द्वारा वृत्त्यारूढ़ चेतनने अज्ञानको निवृत्त कर दिया, वहाँ स्वयं चेतन-ही-चेतन है। इसलिए 'ज्ञानगम्यं'का अर्थ है कि केवल अज्ञानके कारण अप्राप्त जो ब्रह्म है, वह ब्रह्मात्मैक्य बोधके द्वारा ही गम्य है-ज्ञानगम्यं। केवल तत्त्वज्ञानके द्वारा ही अविद्याकी निवृत्ति होती है। ब्रह्म अनुभाव्य भी नहीं होता—

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता।

विद्यारण्य स्वामी बोलते हैं कि वह अनुभवगम्य नहीं है, स्वयं अनुभव स्वरूप आत्मा है। उसमें अनुभविता और अनुभाव्य—त्वंपद-वाच्यार्थ अनुभविता और तत्पद वाच्यार्थ प्रत्यक्ष-परोक्षरूप दोनों अनुभाव्य दृश्य—अपने अनुभव स्वरूप आत्मामें, अखण्ड आत्मामें, बिना हुए भास रहे हैं।

अब जरा अधिकारीकी चर्चा करें। सम्प्रदायसे अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परासे जो श्रौत ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें अधिकारीकी अपेक्षा होती है। इसका बड़ा रहस्य है। आजकल तो लोग पल्लवग्राही ज्ञान प्राप्त करते हैं; पांडित्य पल्लवग्राही हो गया, ऊपर-ऊपरसे लेते हैं, उसके भीतर प्रवेश नहीं करते। असलमें अद्वैत परमात्माकी 'प्राप्ति' जब कल्पित है, तो उसका कल्पित अधिकारी, कल्पित साधन और कल्पित अनुभूति होना अपेक्षित है। अच्छा, तो इस अद्वैतज्ञानका अधिकारी कौन है—

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

इसका श्रीशंकराचार्य भगवान् भाष्य करते हैं—

अस्मिन् सम्यक्दर्शने कोऽधिक्रियते इत्युच्यते मद्भक्तः। मयि ईश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ वासुदेवे समर्पित सर्वात्मभावो यत् पश्यति शृणोति स्पृशति वा, सर्वमेव भगवान् वासुदेवः इत्येवं ग्रहाविष्टबुद्धिः मद्भक्तः।

इस सम्यक् दर्शनमें कौन अधिकारी है? कि मद्भक्तः। अब भक्तकी परिभाषा बना दी भगवानने। क्या? यह व्याख्यान या लेक्चर सुन-सुनकर जो

लोग वेदान्ती बन जाते हैं, वे बोलने लगते हैं कि सब मिथ्या है। तो देखो, हमारे वेदान्तीलोग दुकानको मिथ्या नहीं करते, बच्चा पैदा करना मिथ्या नहीं करते, स्त्री, मकानको मिथ्या नहीं करते, इनकी सबसे पहली चोट होती है कि भक्ति मिथ्या, योग मिथ्या, वेद मिथ्या। जो बाधक है, जिसमें वे फँसे हुए हैं उनके मिथ्यात्वका तो निश्चय होता नहीं और जो छुड़ानेवाले हैं उनके मिथ्यात्वका निश्चय हो जाता है। तो धन्य है ऐसी बुद्धि! ऐसी बुद्धिको शाबाशी देनी पड़ेगी कि शाबास बेटा!

हमारे गाँवकी तरफ एक कहावत है। एक वर-वधुका विवाह हो रहा था। नाई लोग बड़े चालाक होते हैं, ब्याहमें बड़ा काम करते हैं, पुरोहितके बाद दूसरा नम्बर नाईका ही होता है। तो लड़की थी कानी, माने एक आँखकी। तो वह जो कन्यापक्षका नाई था, उसके पेटमें पानी न पचे; वह सोचे कि कैसे वर पक्षवाले नाईको हम बता दें कि लड़की कानी है। तो जबतक कन्यादान हुआ, सप्तपदी हुई, तबतक तो वह बेचारा अपने आपको रोके रहा, जब ब्याह हो गया तो उसने सोचा कि अब क्या नुकसान है, तो उसने कह दिया कि ***जितलस रे बर कानी,*** कानी लड़कीने वरको जीत लिया! वर तो बड़ा सुन्दर है, बड़ा स्वस्थ है, जीत लिया इसने। तो वरपक्षका नाई भी तबतक चुप चाप ही था। जब उसने यह बात सुनी तब उसने भी कह दिया कि ***वर ठाढ़ होय तब जानी।*** वर तो पालकीमें-से उतारा गया था और नाईने उसको गोदमें लेकर मण्डपमें बैठा दिया, ब्याह हो गया, उसके तो पाँव ही नहीं थे। वह तो लँगड़ा था। तो बोला कि तुम लोगोंने कानी लड़की दी तो हम लोगोंने भी लँगड़ा वर दिया, तुम्हींने नहीं ज़ीता, हमने भी जीता है, माने तुम्हीं लोग चालाक नहीं हो, हम भी चालाक हैं।

तो महाराज, ये लोग क्या करते हैं कि साधनको तो कर देते हैं मिथ्या और जो प्रतिबन्ध था, विघ्न था, उसकी निवृत्ति हुई नहीं! इसका अर्थ हो गया कि लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होगी। आप समझो कि लक्ष्यकी प्राप्ति तो होती है प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर। बड़ी चतुराईकी कि हमको न धर्म करना है, न भक्ति करनी है, न योग करना है, न प्राणायाम करना है, कोई साधन नहीं करना है, अरे, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म हैं, और सब तो कल्पना है। सच्चा क्या है? कि बच्चा पैदा करना सच्चा, दुकान सच्ची, पैसा सच्चा, मकान सच्चा। तो

ऐसे वेदान्ती यदि शान्तिका अनुभव कर लें और उनके प्रपंचका निषेध हो जाय और उनको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख मिल जाय, और उनको परम स्वातंत्र्यकी प्राप्ति हो जाय तब हम समझें कि 'जितलस रे बर कानी।' इसने तो अपना ही सत्यानाश कर लिया। क्यों? कि जो साधन था उसको छोड़ दिया। साधनको मिथ्या कर दिया और बन्धनको सत्य रहने दिया। बन्धनको मिथ्या करनेके बाद तब साधन मिथ्या होता है। रसोई बनानेके बाद आग बुझती है।

एकबार किसी सज्जनको किसीने आज्ञा दी कि बाजारसे चावल-दाल ले आओ, लकड़ी ले आओ, पानी ले आओ, बटलोही ले आओ, आग जलाओ, रोटी बनाओ और रोटी जब बन जाय, तो उसके बाद आग बुझा देना, आग रहेगी तो कहीं लगनेका डर रहेगा। उन्होंने कहा जब अन्तमें आग बुझानी ही पड़ेगी, तो कौन लकड़ी लावे और कौन आग जलावे। अरे ठीक है भाई, रसोई बनानेमें ज्वाला प्रधान साधन है, परन्तु रसोई बन जानेके बाद वह ज्वाला भी तो बुझानी पड़ती है न! तो अभी रसोई बनायी नहीं और आग बुझा दी, तो यह कौन-सी बुद्धिमानी की?

तो ईश्वरमें रुचि उत्पन्न होनेके लिए एक बात ध्यानमें रखनेकी है, जबतक हृदयमें राग-द्वेष बना रहेगा, तबतक जिससे राग होगा, वह तुम्हारे दिलमें दिखता रहेगा और जिससे द्वेष होगा वह दिखता रहेगा। ये राग और द्वेष आकृतिनिष्ठ हैं, तत्त्वनिष्ठ नहीं होते, तो किसी नाम-रूपके प्रति द्वेष होता है और किसी नाम रूपके प्रति राग होता है, और जबतक राग-द्वेष मनमें है, तबतक तुम्हारी बुद्धि तत्त्व-ग्रहणशीला नहीं होती, आकृति ग्रहणशीला रहती है। तो यह आकृति ग्रहणको हटाना चाहिए और यह कैसे हटे? कि—

मयि ईश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ वासुदेवे समर्पितसर्वात्मभावः।

हम भक्तिकी बात आपको सुनाते हैं। यदि आपके जीवनमें, आचरणमें त्रुटि हो, तो आप ईश्वरकी भक्ति करो। कैसे? कि ईश्वर हमको देख रहा है, हम बुरा काम कैसे करेंगे! देखो, बुरा काम छुड़ानेके लिए ईश्वरपर विश्वास जरूरी है।

अब दूसरी बात देखो! आपके मनमें यदि सौ वासना है, तो ईश्वर-प्राप्ति एक वासना आपको अपने मनमें भरनेमें क्या संकोच होता है? एक

वासना ईश्वर-प्राप्तिकी आप भरो और आपकी सौ वासनाएँ संसारकी कट जायेंगी। तो वासना-निवृत्तिके लिए भी ईश्वरकी आवश्यकता है।

तीसरी बात, बोले—भाई, दुनियाकी बड़ी चिन्ता होती है, तो ईश्वरपर विश्वास करो। जैसे उसने माँके पेटमें माँकी नलीसे अपनी नली जोड़ दी, जैसे उसने माँ-के स्तनमें दूध दे दिया वैसे वह तुम्हारा पालन-पोषण करेगा—***चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै:***—चिन्ता छुड़ानेके लिए भी ईश्वरकी भक्ति बड़ी आवश्यक है।

अच्छा, अब देखो चौथी बात! यदि यह विश्वास आपका हो जाये कि सृष्टिका संचालनकर्त्ता ईश्वर है, तो किसी कर्त्तासे आपका राग-द्वेष नहीं होगा, क्योंकि सब बेचारे कठपुतली हैं, ईश्वरके घुमाये घूम रहें हैं। वेदान्ती होकर जो अपनेको कर्त्ता माने, तो वह केवल 'सिंगल' मूर्ख है और अगर दूसरेको भी कर्ता माने तो वह डबल मूर्ख है। बोले—हम तो ज्ञानी हैं, कर्त्ता नहीं हैं, पर दूसरे सब-के-सब कर्त्ता हैं, पापी हैं, पुण्यात्मा हैं—ऐसा माने तो मूर्ख और अपनेको कर्त्ता माने तो मूर्ख। इसी प्रकार ईश्वर-भक्त होकर सबके हृदयमें ***उर प्रेरक रघुबंस विभूषण*** अगर यह बात नहीं आवे; **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।** अगर यह बात-नहीं आवे तो वह गलत। तो देखो राग-द्वेष मिटानेके लिए भी ईश्वरका विश्वास चाहिए।

अब एक पाँचवीं बात देखो। एक ओर आपने अपनेको यदि द्रष्टा जान लिया और दुनियासे अलग हो गये, तो इसमें एक ही विवेक है—

असङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनो नात्मना योगो वास्तवे नोपपद्यते॥

असंगका ससंगसे, कूटस्थका विकारीसे, आत्माका अनात्मासे योग वास्तवमें नहीं हो सकता। बोले—ठीक है, आत्मा असंग है, साक्षी है, द्रष्टा है और ये जो अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि हैं वे ससंग हैं, इसलिए इनके साथ मुझ द्रष्टाका कोई सम्बन्ध नहीं है; और मैं तो असंग हूँ, कूटस्थ हूँ, बाकी सब विकारी हैं; और मैं तो आत्मा हूँ, बाकी सब अनात्मा हैं, इसलिए मेरा किसीसे वास्तविक योग नहीं हो सकता। कि ठीक है, जान तो लिया, परन्तु जिसको तुमने ससंग समझकर, विकारी समझकर, अनात्मा समझकर छोड़

दिया है, जिसको छोड़कर तुम भीतर घुस गये हो, वह क्या है? तो समष्टि ससङ्ग, समष्टि विकारी और समष्टि अनात्मा—इसकी उपाधिसे ईश्वरका विचार करके तत्पदार्थका विचार कर लो कि वह ईश्वर सर्वकारण कारण है, वह समष्टिकी उपाधिसे उपहित चैतन्य है, वही कारणकी उपाधिसे उपहित चैतन्य है और वही समष्टि बीजकी उपाधिसे उपहित चैतन्य है; उस चैतन्यका नाम ईश्वर है और वह ईश्वर ही सबके भीतर है। वही ईश्वर है, सर्वनियन्ता है, वही परमगुरु है, वही सबका ज्ञानदाता है।

देखो सर्वज्ञ कहनेका अभिप्राय है कि वह सबको जानता है और परमगुरुका अर्थ है कि उसीके ज्ञानसे सब-के-सब प्रकाशित हैं और वही ऐश्वर्यशाली सर्वसमर्थ है और वही सबके हृदयमें अन्तर्यामी है। तो उसके प्रति सर्वात्मभावका जो अर्पण कर दे, तो जो वह देखेगा सो ईश्वर, जो सुनेगा सो ईश्वर, जो छूयेगा सो ईश्वर! ***सर्वमेव भगवान् वासुदेवः। सकलमिदमहं च वासुदेवः।*** जो कुछ है यह विश्वसृष्टि सब भगवान्‌का, वासुदेवका स्वरूप है। ***एवं ग्रहाविष्टबुद्धिः मद्भक्तः।*** ऐसी जिसकी ग्रहाविष्ट बुद्धि है वही 'मद्भक्त' इस ज्ञानका अधिकारी है। जैसे भूत, प्रेत, पिशाच आविष्ट हो जाता है इसी प्रकार इस ग्रह माने आग्रहसे आविष्ट कर लो बुद्धिको कि चाहे कोई कुछ करे, चाहे कोई कुछ बोले, चाहे कोई कुछ भोगे, चाहे मरे चाहे जरे, तुम न किसीके जज हो, न पट्टेदार हो, न किसीने तुमको अपना अभिभावक बनाया है, काहेको दुनियाभरकी फिक्र करके, अपनेको चिन्तासे मर रहे हो? गाँवके फिक्रसे काजी दुबले, सबमें ईश्वर भरपूर है, ईश्वर सबको देख रहा है, ईश्वर सबमें कर रहा है, ईश्वर सबमें बोल रहा है, ईश्वर सबमें भोग रहा है, ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। यह क्या हुआ? बोले- राग-द्वेष चला गया संसारसे, अन्तःकरण शुद्ध हो गया।

अब देखो, ईश्वर क्या है? चैतन्य पदार्थ है। तो जब 'चैतन्य' पदका अर्थानुसन्धान करोगे; तब यह भक्ति अन्तरंग रूप धारण कर लेगी। कैसे? कि पापकर्मकी निवृत्ति, वासनाकी निवृत्ति, राग-द्वेषकी निवृत्ति, कर्तृत्वकी निवृत्ति, भोक्तृत्वकी निवृत्ति, भेद-भावनाकी निवृत्ति, यह सब करते हुए अन्तमें भक्ति गयी पदार्थ-शोधनपर और पदार्थ-शोधन हुआ—इधर त्वं पदार्थ शोधन उधर तत् पदार्थ-शोधन, फिर दोनोंकी एकता। ईश्वर कहीं

बाहर नहीं रहता। देश, काल, वस्तुसे सूक्ष्म है त्वं-पदार्थ और त्वंपद वाच्यार्थसे भी सूक्ष्म तत् पद वाच्यार्थ है। वाच्यार्थकी वाच्यार्थसे भी सूक्ष्मता—यह ध्यान रखना नहीं तो पीछे कोई लड़ेगा। त्वं-पद वाच्यार्थसे सूक्ष्म तत्-पद वाच्यार्थ है और ये दोनों औपाधिक हैं; और त्वं-पद तत्पदके लक्ष्यार्थ बिलकुल एक हैं। लक्ष्यार्थमें स्थूलता और सूक्ष्मता बिलकुल नहीं है। यह एकत्वका हो गया ज्ञान और ज्ञान होनेके बाद वह जो ईश्वर भावसे भावित अन्तःकरण है, कि सर्व ईश्वर है, वह तत्त्वज्ञानीका अन्तःकरण है और राग-द्वेष, कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे मुक्त रहकर उस ज्ञानीको जबतक अन्तःकरण है तबतक जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देता है। तो पाप कर्मनिवृत्तिसे लेकर जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखतक, यह भगवद्भक्ति महापुरुषके जीवनमें अनुस्यूत रहती है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

और मेरा यह भक्त इस बातको जानकर मेरे स्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

मद्भावाय ममभावो मद्भावः परमात्मभावः।
तस्मै मद्भावायोपपद्यते मोक्षं गच्छति।

यह श्रीशंकराचार्यका भाष्य है।

गीतामें—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

चौदहवें अध्यायमें जिसको 'ब्रह्मभूयाय' कहा, उसीको यहाँ तेरहवें अध्यायमें 'मद्भावः' कहा, तत्त्वकी प्रधानतासे 'ब्रह्मभूय' कहा और श्रीकृष्णने, सद्गुरुने, अहंकी प्रधानतासे मद्भाव कहा। जो मद्भाव है सो ब्रह्मभूय है, जो ब्रह्मभूय है सो मद्भाव है।

प्रकृति-पुरुष विवेक

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ २२॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः *सुखदुःखाना* **भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥**
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(१३.१९-२२)

अर्थः—प्रकृति और पुरुषको, दोनोंको तुम अनादि जानो। इनमें विकारों और गुणोंको तो प्रकृतिसे उत्पन्न जानो। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और इनके कर्तृत्वमें प्रकृति कारण कही जाती है और सुख-दुःखके भोक्तृत्वमें पुरुष हेतु कहा जाता है। पुरुष प्रकृतिमें स्थित रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंका भोग करता है और इसके सत्-असत् योनियोंमें जन्मका

कारण है गुणोंमें आसक्ति। इस देहमें यह पुरुष वास्तवमें परम-पुरुष है; यही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर है और यही परमात्मा कहा जाता है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

भक्तः अधिकारी एतद् विज्ञायः आप विभाग करो—*एतद् अहं*—दो विभाग कर दो। एक 'एतद्' है और एक 'अहं' है।

'एतद्' माने यह और 'अहं' माने मैं। चार्वाक लोग बोलते हैं *एतद् सत्यम्*—यह सत्य है और अहं मिथ्या है। ब्रह्मके लिए वेदान्ती जो बोलते हैं न, वही बात प्रपंचके लिए चार्वाक बोलते हैं—अनादि है, सत्य है, नित्य है यह प्रपंच। बस इतनी बात जरूर है कि ब्रह्म एक है और ये भूत चार हैं। उनमेंसे यह अहं प्रत्येक शरीरमें शरीरके साथ ही अलग-अलग पैदा होता है और शरीरके साथ ही मर जाता है। जैसे शरीर चार भूतमें कल्पित हैं वैसे अहंता भी चार भूतमें कल्पित है।

जैन दर्शनके अनुसार—'*एतद् अपि सत्यं अहमपि सत्यम्*' यह प्रपंच भी सच्चा है और मैं भी सच्चा हूँ। तो सांख्यमें और आर्हत् दर्शनमें यह अन्तर है कि सांख्यमें प्रकृतिके साथ जो पुरुषका सम्बन्ध है, वह अविवेकके कारण माना हुआ है और जैन दर्शनमें जो सम्बन्ध है वह वासनाके कारण माना हुआ है। तो जितने-जितने निर्वासन होंगे, उतने-उतने शुद्ध हो जायेंगे। और जैन मतमें आत्मा परिच्छिन्न अणु है और सांख्यमतमें आत्मा परिच्छिन्न विभु है। माने (सांख्यमतमें) प्रत्येक द्रष्टा अन्तःकरणसे सम्बन्ध होनेके कारण ही अपने को परिच्छिन्न मानता है, स्वरूपतः वह पृथक्-पृथक् अगणित विभु हैं। और (जैन मतमें) जीवात्मा जो है वह कर्ता है और कर्मके अनुसार छोटे शरीरमें और बड़े शरीरमें स्वयं बढ़ता-घटता, प्रवेश करता निकलता है।

बौद्ध मतमें 'एतत्' और 'अहं' दोनों मिथ्या हैं। चार्वाक मतमें 'अहं' मिथ्या है। जैन मतमें और सांख्यमतमें 'एतत्' और 'अहं' दोनों सत्य हैं। ईश्वरवादी मतमें भक्तिवादमें 'अहं' और 'एतत्' दोनोंके रूपमें एक ही ईश्वर है। ईश्वरका ही सब विलास है, ईश्वरका ही संकल्प है, ईश्वरका ही सब विशेषण है, ईश्वरका ही परिणाम है, ईश्वरकी ही शक्ति है—ऐसे करके

ईश्वरवादी मत हैं। और यह जो वेदान्त है, उसमें एतत् और अहं दोनों एक अधिष्ठानमें है। एतत् पदका अर्थ प्रातिभासिक है और 'अहं' पदका अर्थ पारमार्थिक-मुख्य है, वह ब्रह्म है। यह आपको प्रक्रिया सुनायी।

हमारे एक विद्वान् कहते थे कि यदि आप सत्यका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो पहले एक बात कर लीजिये। क्या? कि 'अहं एतत् न'—यह विवेक कर लीजिये 'मैं यह नहीं हूँ।' इस विवेकमें अगर जरा भी कच्चाई रह जायेगी तो अहंमें जो अध्यस्त परिच्छिन्नता है, वह मिटेगी नहीं। यह ब्रह्मज्ञानके लिए पहला कदम है और जरूरी कदम है कि **'अहं एतत् न'**—मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं यह अन्तःकरण नहीं हूँ, मैं इस शरीर-अन्तःकरणका बीज नहीं हूँ। और व्यष्टि-समष्टि—दोनों एतत् हैं—मैं दोनों नहीं हूँ। यदि तुम यहसे मैं-को अलग नहीं करोगे और यदि आप अपनेको किसी कण या अणुके रूपमें परिच्छिन्न मानते हो तो वह परिच्छिन्नता दृश्य है, द्रष्टा नहीं है। और यदि आप द्रष्टामें भी अनेकता मानते हो, तो वह अनेकता भी दृश्य है। अनेकता होगी तो ज्ञायमान होगी। भेद जो है वह हमेशा दृश्य होता है, इसलिए द्रष्टामें भेदकी गन्ध भी नहीं होती। तो पुरुष भी अनेक नहीं हो सकता, पुरुषसे जगत् भी पृथक् नहीं हो सकता और ईश्वर भी पृथक् नहीं हो सकता—माने पाँचों प्रकारके जो भेद हैं वे दृश्यमें होंगे, द्रष्टामें नहीं होंगे। पाँच प्रकारके भेद तो आप जानते ही हैं न—

१- जगत्से जगत्का भेद।

२- जगत्से जीवका भेद।

३- जीवसे जीवका भेद।

४- जीवसे ईश्वरका भेद।

५- ईश्वरसे जगत्का भेद।

ये पाँच प्रकारके जो भेद हैं, ये सब दृश्य हैं। और द्रष्टा इन पाँचों प्रकारके भेदोंसे न्यारा है, पाँचोंका साक्षी है, इसलिए—'अहं एतत् न।' दृश्य-परिच्छिन्नता, दृश्य-भेद, दृश्य- विशेषण, दृश्य-विशेष मैं नहीं हूँ। यदि अपनेको इस देहके कुँएमें-से नहीं निकालोगे और अपनेको इन इन्द्रियों और अंतःकरणवृत्तियोंके बंधनसे यदि न्यारा नहीं समझोगे तो अपनेको जो ब्रह्म समझोगे वह गलत समझोगे। तो पहला कदम यह है कि क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञका

विवेक किया जाय। आप देखोगे कि पहले तो क्षेत्रका वर्णन है और फिर क्षेत्रज्ञका वर्णन है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

शरीरका नाम है क्षेत्र और इसको जो जाने, उसका नाम है क्षेत्रज्ञ। क्षेत्रज्ञको फिर बताया **अचरं चरमेव च**। क्या विशेषता हुई? वे कहते हैं चर भी क्षेत्रज्ञ ही है अचर भी क्षेत्रज्ञ ही है। एकबार बताया कि शरीरसे अलग है क्षेत्रज्ञ और एकबार बताते हैं चराचर शरीर क्षेत्रज्ञ ही है। इसका समाधान यों समझो कि यह शरीर एक घटकी तरह है। इस घटमें जो मैं हूँ, वह घटाकाशके रूपसे परिच्छिन्न हूँ और घटसे भिन्न हूँ परन्तु भ्रान्ति है। इसका निवारण करके जब मैं घटाकाश महाकाश ही हूँ, यह समझ लिया माने जब घटाकाशको महाकाश जान लिया तब एक होने पर शरीरका अस्तित्व ही लुप्त हो गया। तो पहले अपनेको शरीरमें जो बँधा हुआ चिदाकाश मानते हैं—शरीर-परिच्छिन्न, उसका ठीक-ठीक विवेक होवे और इस घटाकाश और महाकाशकी एकताके समान इस हृदयाकाशमें रहनेवाले जीवको और महाकाशमें रहनेवाले परमात्माको एक समझे तब उस परमात्मामें यह जो जगत् है, इसको प्रतीतिमात्र समझेंगे, उस ब्रह्मसे पृथक् नहीं जानेंगे। तो *अहं एतत् न तर्हि अहं किं?* फिर मैं क्या हूँ? कि *अहं ब्रह्म*—मैं ब्रह्म हूँ।

अब देखो **मद्भक्तः**का अर्थ समझो। मद्भक्तःका अर्थ है, **एतद् विभक्तः मद्भक्तः**। इस प्रपंचसे अपना पृथक्त्व जानकरके अपनेको ब्रह्मसे एक कर लो। यह आपको एक गुर बताता हूँ; वह यह है कि जैसे चार्वाक मतमें चेतनाका कोई महत्त्व नहीं है, वह जड़की एक खुमारी है और शरीरपर्यन्त रहती है, इसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म-दृष्टिसे जड़का कोई महत्त्व नहीं है। जैसे चार्वाकके मतमें धर्म-अधर्म, कर्त्ता-भोक्ता, परिच्छिन्न, स्वर्ग-नरक, वेद-शास्त्र-पुराण चार भूतके आनुपातिक मिश्रणसे उत्पन्न कल्पित चैतन्यके आश्रित हैं; इसी प्रकार वेदान्त मतमें अद्वितीय सत्य ब्रह्ममें कल्पित जो परिच्छिन्नता है, उस परिच्छिन्नताके आश्रित ही धर्माधर्म, गमनागमन, स्वर्ग-नरक आदि हैं। हमारा अभिप्राय चार्वाक और वेदान्त मतकी तुलनामें नहीं है, लेकिन जरा उस अद्वितीय चैतन्यकी दृष्टिको देखो, जिसमें जड़ता बिलकुल

कल्पित है। तो अहं एतत् न—मैं एतत्से विविक्त माने पृथक्कृत अलग, अहं हूँ और यह अहं परमात्मासे एक है—सम्पूर्ण दृश्यका द्रष्टा मैं।

मद्भावायोपपद्यते यही परमात्माका भाव है।

कल आपको बताया था।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (१४.२६)

गीताके इस श्लोकमें ब्रह्मभूय पदका जो अर्थ है वही यहाँ मद्भाव पदका अर्थ है। अब यह मद्भाव कैसा होता है? एक बात जिज्ञासुके चित्तमें बस बैठ जानी चाहिए कि जड़ कारणवादमें और चेतन कारणवादमें क्या अन्तर होता है? जड़ जो है वह बीजके संस्कारसे युक्त होता है और उसमें अंकुरके समान भिन्न-भिन्न लोक, भिन्न-भिन्न शरीर, भिन्न-भिन्न पृथिवी, भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति, भिन्न-भिन्न वृत्ति—ये परिणामके द्वारा अथवा विकारके द्वारा अथवा आरम्भके द्वारा उत्पन्न होते हैं। यह जड़ कारणवादकी विशेषता है कि बीजवती जो सत्ता है, सबीज सत्ता, अनादिकालसे उसमें संस्कारोंकी धारा चल रही है, उसमें कहीं ब्रह्मलोक बनता है, कहीं मर्त्यलोक बनता है, कहीं नरक बनता है, कहीं स्वर्ग बनता है; वह संस्कारबीजके अनुसार जगत्का परिणाम होता रहता है, यह तो बीजवती सत्ता हुई। बीजमें प्रकृतित्व होता है, बीजवती सत्ता माने प्रकृति। लेकिन चेतन जो होता है वह विलक्षण होता है।

अब अगले श्लोकके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं। चैतन्य जो होता है वह सबीज नहीं होता, बीजका साक्षी होता है, बीज चाहे बीजदशामें होवे, चाहे अंकुर दशामें होवे। बीजवती प्रकृति एक पृथक् वस्तु है और चैतन्य एक पृथक् वस्तु है। यह सांख्यवादियोंका कहना है। लेकिन जब इसका विवेक करते हैं तो सत् और चित् ये दोनों अलग-अलग सिद्ध नहीं होते, एक सिद्ध होते हैं। सद्वस्तु चेतनके बिना सिद्ध नहीं होती। कोई भी अस्ति अस्ति, प्रत्ययका जो भी विषय होगा, तो उसमें चेतन जरूर होगा और बिना चिद्वृत्ति हुए किसी भी वस्तुके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। तो घटः अस्ति, पटः अस्ति, यह जो अस्तिवृत्ति होती है वह चेतनके द्वारा अनुगत होनेपर ही

वृत्ति होती है। अत: किसी भी वस्तुकी सत्ता चैतन्यके बिना ज्ञात नहीं हो सकती। अब देखो चैतन्यसे पृथक् सत्ता सिद्ध होवे तो चैतन्यसे ही सिद्ध होगी। सत्तासे चैतन्य सिद्ध नहीं होता, चैतन्यसे सत्ता सिद्ध होती है। तो चैतन्यसे पृथक् जो विषय-सत्ता है वह तो चैतन्यसे सिद्ध होती है, परन्तु जो चैतन्यकी एकरस सत्ता है, वह चैतन्यरूप है, वह चैतन्यसे सिद्ध नहीं होती। तो जहाँ सत्ता चैतन्य है और चैतन्य सत्ता है वहाँ प्रकृतिका क्या अर्थ होगा? वहाँ प्रकृतिका अर्थ होगा माया, माने चैतन्य अनेकाकार होगा नहीं, अनेकाकार भासेगा, क्योंकि चैतन्य यदि अनेक आकार हो जाय, तो साक्षी कौन रहेगा? अधिष्ठान कौन रहेगा? उस पूर्व और पश्चात्‌के आकारकी सिद्धि किससे होगी? इसलिए चैतन्य विकारी नहीं होता, चैतन्य परिणामी नहीं होता, चैतन्य परिवर्तनशील नहीं होता, चैतन्य प्रत्येक विकारका, परिणामका, परिवर्तनका साक्षी होता है। तो चैतन्य सत्ता, बीजवती नहीं है, वह प्रकृतिमती नहीं है और देश, काल, वस्तुकी साक्षिणी यह जो चित्-सत्ता है, इसमें देश, काल, वस्तु केवल ज्ञानमात्र है। तो जड़ सत्ताको तो प्रकृति बोलेंगे, लेकिन चेतन सत्तामें जो अनेकता होगी, उसको प्रकृति या बीज नहीं बोल सकते, उसको तो केवल प्रतिभास-मात्र बोलेंगे—जैसे जादूगरमें कोई परिवर्तन हुए बिना ही अनेकता दीखती है, ऐसे अपने स्वरूपमें कोई परिवर्तन हुए बिना ही अनेकरूपता दिख रही है।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि सांख्यका सिद्धान्त सुनते-सुनते, सांख्योंके विवेकके अनुसार जो प्रकृति है, वह बुद्धिमें बैठ जाती है। वेदान्तका विवेक न होनेके कारण वेदान्तियोंकी जो माया है, उसका विचार नहीं हो पाता। परिणामिनी सत्ताको प्रकृति बोलेंगे और अपरिणामिनी चित्-सत्ताको आत्मा बोलेंगे, ब्रह्म बोलेंगे। यदि आपको यह निश्चय हो जाय कि यह अपरिणामिनी चित् सत्ताके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है लेकिन जब दूसरी भास रही है, तो उसको माया बोलेंगे। वेदान्तकी रीतिसे उसका नाम माया होगा। इसीसे श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में यह मन्त्र आया है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। (४.१०)

वेदान्त सिद्धान्तमें मायाका ही नाम प्रकृति है, क्योंकि वेदान्त जड़वादी सिद्धान्त नहीं है। प्रकृतिका क्षोभक कोई न्यारा नहीं है, मायावी है, उसीमें

यह प्रकृति अध्यस्त है। परमात्माके स्वरूपमें यह प्रकृति मायाके रूपमें अध्यारोपित है। तो आओ अब विवेककी पद्धति आपको सुनाते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ (१३.१९)

अर्थ :—प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो। (इसमें) विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जानो।

एक है प्रकृति और एक है पुरुष—माने एक है माया और एक है मायावी। तो जादूगर बड़ा विलक्षण है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** श्रुतिने कहा कि इन्द्र अपनी मायासे अनेक रूप दिखायी पड़ता है। अरे श्रुति तो ऐसी-ऐसी बात कह देती है कि ऋजु बुद्धिके लोग बेचारे उसको पढ़कर घबरा जाते हैं ***मायाभासेन जीवेशौ करोति***—माया आभासके द्वारा जीव और ईश्वरको बनाती है। स्वप्नमें स्वप्न-सृष्टिका कर्ता ईश्वर उसमें कर्मानुसार सुख-दुःखका भोक्ता जीव और वह सृष्टि—ये तीनों निद्रा-दोषसे ही उत्पन्न हैं कि नहीं? निद्रा-दोषसे ही अपने आपमें स्वप्नके जीव, स्वप्नके ईश्वर और स्वप्नकी सृष्टि तीनों दिखायी पड़ते हैं। इसी प्रकार अपने स्वरूप ब्रह्ममें यह प्रकृति और पुरुष अविद्या दोषसे ही दिखायी पड़ते हैं। जब तुम देह होकर मायाको देखोगे तब व्यामुग्ध हो जाओगे, मोहित हो जाओगे; और जब स्वयं मायावी होकर मायाको देखोगे तो मायासे मोहित नहीं होओगे। यह मायाका स्वभाव है कि वह दर्शकको मोहित करती है। जादूका खेल देखनेवालेको मोहित करता है, दिखानेवालेको नहीं। जो जादूका खेल दिखानेवाला है वह अपने जादूपर मोहित नहीं होता। माने माया आश्रय-व्यामोहिता नहीं होती और अविद्या जिसमें रहती है उसीको व्यामोहित करती है। इसीसे मायावी ईश्वर कभी माया मुग्ध नहीं होता। लेकिन अविद्याश्रय जो जीव है वह अविद्यासे व्यामुग्ध हो जाता है। अपनेको तुम ईश्वरसे मिला दो, कोई मोह नहीं है।

यह सृष्टि कैसी है? बोले—तुम्हारे ही जादूका खेल है—

यथा मत्स्यादि रूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।

जैसे नट कभी मछली बनकर आवे, कभी कछुआ बनकर आवे, तो क्या उसको यह भ्रम हो जायेगा कि मैं वही नहीं हूँ? कभी वह स्त्री बनकर आवे, कभी उसी स्त्रीका बाप बनकर आवे, कभी पुत्र बनकर आवे, तो क्या

उसको उस स्त्रीके साथ सम्बन्ध भासेगा? ***माया तत्र न कर्तव्या:।*** इसीसे **यह मायाका स्वरूप** बड़ा विलक्षण है।

तो आओ, प्रकृति, पुरुषकी बात सुनाते हैं। प्रकृति दो तरहकी है। एक अपरा और एक परा। यह जड़ प्रकृति जो है वह अपरा प्रकृति है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (७.४)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये अपरा प्रकृति हैं। इसी प्रकृतिसे सम्बद्ध जो जीव है वह परा प्रकृति है; उसको आभासवादकी दृष्टिसे चिदाभास बोलो। अविवेकके कारण उस जड़ प्रकृतिसे संश्लिष्ट जो जीव है वह परा प्रकृति है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् (७.५) तथा **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।** (१३.२१) फिर कहते हैं कि **एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।** (७.६)

इसी पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे यह सारा जगत् उत्पन्न होता है।

तो पुरुष भी दो तरहका, एक अविवेकी पुरुष और एक विवेकी ब्रह्मज्ञानी पुरुष। प्रकृति भी दो तरहकी—एक अपरा प्रकृति और एक परा प्रकृति।

अब यहाँ कहते हैं कि **उभावपि अनादि विद्धि,** इन प्रकृति और पुरुषको आप अनादि समझिये। अनादि कहनेसे डरना नहीं। आप तो जानते हो ***षडस्माकं अनादयः***—वेदान्तमतमें छह पदार्थ अनादि माने जाते हैं। (१) विशुद्ध चेतन, (२), माया, (३) विशुद्ध चेतन और मायाका संबंध (४) जीव, (५) ईश्वर और (६) जीव और ईश्वरका भेद। तो अनादि बोलनेसे हमारे कोई चीज सत्य नहीं हो जाती, अज्ञान (माया) भी अनादि ही होता है, लेकिन ज्ञान होनेपर वह निवृत्त हो जाता है। इसलिए अनादि भी दो तरहके होते हैं—एक विवेकके लिए कल्पित अनादि और एक परमार्थ सत्य अनादि। तो ब्रह्म (विशुद्ध चित्) जो है वह तो परमार्थ सत्य अनादि है और ब्रह्मके सिवाय जो कुछ है वह कल्पित अनादि है। वेद भी कल्पित अनादि है, प्रकृति भी कल्पित अनादि है। जीव भी कल्पित अनादि है, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध भी कल्पित अनादि है। माने समझानेके लिए, ब्रह्मज्ञान

करानेके लिए है। यदि इस कल्पितभावको नहीं समझेंगे तो ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। तो अब जरा विवेक करें—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।

अच्छा यह बात बीचमें आ गयी कि देखो यहाँ भोक्ता पुरुषका भी वर्णन है और शुद्ध पुरुषका भी वर्णन है। माने किसीके मनमें शंका हो जाय कि यहाँ पुरुषसे अविवेकी और ज्ञानी दोनों क्यों लेते हो? तो देखो एक तो भोक्ता पुरुष है जो पराप्रकृतिरूप पुरुष है। यह अविवेकी है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद् योनिजन्मसु॥ (१३.२१)

यह जो अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होता है वह तो अन्तःकरण और उसके गुणोंके साथ आसक्ति होनेके कारण ही होता है। अतः यह अविवेकी पुरुषका वर्णन है और प्रकृतिमें स्थित होकर, माने प्रकृतिसे तादात्म्यापन्न होकर ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता होता है अतः अविवेक स्पष्ट है।

अच्छा, तब शुद्धका वर्णन कहाँ है?

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ (१३.२२)

अब विवेक करलो, एक तो हुआ शुद्ध पुरुष और एक हुआ भोक्ता पुरुष। एक हुई प्रकृति—**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते** और एक हुए **प्रकृतिसंभवान्** प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले विकार और गुण। पंचमहाभूत, अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्तसे तो हुई प्रकृति। पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ और एक मन—ये सोलह विकार हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि ये भी विकार हैं और तीनों गुण—सत्त्व, रजस, तम ये तो प्रकृतिके गुण हैं ही। ये सब प्रकृतिके कार्य हैं। तो एक हुई कारणात्मक प्रकृति और दूसरी हुई कार्यात्मक प्रकृति, और **पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते** एक भोक्ता पुरुष हुआ और **उपद्रष्टानुमन्ता च**—यह द्रष्टा पुरुष हुआ। तो यह द्रष्टा पुरुष कैसा विलक्षण पुरुष है, इस प्रसंगको सम्पूर्णरूपसे, और शुद्ध रूपसे धारण करना—यह तो प्रकृति-पुरुष विवेकोपनिषद् है ही—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

तो यह जो **पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**में पुरुष है, 'यह दो प्रकारका है। कैसे? कि **देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** वहाँ परपुरुषका वर्णन हुआ है, तो जब पर पुरुषका वर्णन हुआ तो एक दूसरा अपर पुरुष हो गया। तो अपर पुरुष कौन है? कि भोक्ता। और पर पुरुष कौन है कि द्रष्टा। और प्रकृति कौन है? कि विकारों और गुणोंकी कारण।

विकारांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।

प्रकृतिसे उत्पन्न कौन हुए? सोलह विकार और गुण, और प्रकृति क्या हुई? कि इनकी कारण। तो कारण प्रकृतिमें चराचर दोनों प्रकृति आयीं, कैसे? कि—

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

परा प्रकृति और अपरा प्रकृति इन दोनोंसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

अब परमात्मा कौन है? बोले प्रकृतिके सम्बन्धसे युक्त जो चैतन्य है उसको अपर पुरुष भोक्ता बोलते हैं और जो प्रकृतिके सम्बन्धसे मुक्त पुरुष है उसको परपुरुष बोलते हैं—**देहेऽस्मिन्**—बहुत मजेदार है यह। आप परमात्माके बारेमें अगर ऐसा सोचते हो कि सृष्टि होनेके पहले सब परमात्मा था और सृष्टि मिट जानेके बाद सब परमात्मा रहेगा और बीचमें यह सृष्टि है, तो आप परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें ठीक-ठीक नहीं सोचते। घड़ेके बारेमें अगर यह कोई सोचे कि घड़ा बननेके पहले माटी थी और घड़ा फूट जानेके बाद माटी रहेगी, लेकिन जब घड़ेकी शक्ल है तब कुछ और है क्या? उसमें एक रत्ती पाव तोला भी मिट्टीके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। तो यह जो प्रपंच है, यह सृष्टिके पूर्व और पश्चात् भी परमात्मा नहीं है। अगर पूर्व परमात्मा और पश्चात् परमात्मा होगा और बीचमें परमात्मा नहीं होगा, तो परमात्मा काल परिच्छिन्न होगा, कालसे कट जायेगा परमात्मा। और जो लोग सोचते हैं भीतर परमत्मा, बाहर परमात्मा नहीं, उनका परमात्मा देशसे कट गया। बैकुण्ठमें परमात्मा और यहाँ परमात्मा नहीं तो परमात्मा कट गया। और कारण परमात्मा और कार्य परमात्मा नहीं है, ऐसा जो सोचते हैं उनका परमात्मा द्रव्यसे, वस्तुसे कट गया। तो परमात्माके बारेमें **देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** इसी देहमें, यहीं और इसी समय परमात्मा है।

देहमें परमात्मा है—यह कहनेका अभिप्राय क्या? 'देहेऽस्मिन्'से तो

मालूम पड़ता है कि देह आधार है, परमात्मा आधेय है, देह घड़ेकी तरह है और परमात्मा पानीकी तरह है बोले—नहीं, ऐसा नहीं हैं। अच्छा, तो परमात्मा समुद्रकी तरह और देह बूँदकी तरह होवे? कि नहीं, ऐसा भी नहीं है। **देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।** *यदिहास्ति तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह*[1]—जो वहाँ है, वही यहाँ है और जो यहाँ है, वही वहाँ है। और देहेऽस्मिन्, अरे इसी समयमें और इसी स्थानमें और इसी शरीरमें यह पुरुष मायाके पदार्थोंके सम्बन्धसे बिलकुल रहित है, माया और मायाके कार्यसे सर्वथा मुक्त है। तब इसका विवेक कैसे करेंगे? पहले प्रकृति और पुरुषका विवेक करलो और पुरुषको परमात्मासे एक कर लो।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि—इसके शांकर भाष्यमें *अनादी सत्यौ* एकपद पड़ा है—*अनादी सत्यौ संसारस्य कारणं* तो जब गीता प्रेससे पहले पहल शांकर भाष्यका अनुवाद निकला तो उसमें था कि ये प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि सत्य जगत्के कारण हैं। श्रीहरिकृष्णदासने अनुवाद किया था। तो उनका उसमें कुछ खास दोष नहीं था, क्योंकि जिन वैष्णव विद्वानोंसे पूछ-पूछकर अनुवाद लिखा था उनके ध्यानमें यह बात नहीं थी हमने उनसे पूछा कि यदि यहाँ 'अनादी सत्यौ' की जगह 'अनादि सत्य' होता तो क्या फर्क पड़ता? तो देखो 'अनादि सत्य' प्रकृति है; तो यदि प्रकृतिके लिए सत्य पदका प्रयोग होगा तब तो अनादि सत्य होगा, और यह 'सत्यौ' जो है न, यह सत्य शब्दसे बना हुआ है ही नहीं, 'सति' शब्दसे बना हुआ है। सतिके प्रथमा द्विवचनमें 'सत्यौ' है। सत्य शब्दसे 'सत्यं सत्ये सत्यानि', 'सत्ये' बनता और पुल्लिंग होता, तो 'सत्या सत्यौ' बनता, परन्तु पुल्लिंग तो है नहीं, यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको मिला करके अनादी किया हुआ है। तो यह सतिका सत्यौ है, सत्यका सत्ये नहीं है। तो सत्यौ माने 'ये दोनों अनादि रह करके।' तो फिर उन्होंने पूछ-पाछके अगले संस्करणमें ठीककर दिया होगा। गलती तो कितनी बार रह ही जाती है। कोई भी पुस्तक लिखें, एकबारके लिखनेपर तो अनुवाद भी शुद्ध नहीं होता है, हर बार उसको कुछ-न-कुछ ठीक करना पड़ता है। यह श्रीमद्भागवत जो गीता प्रेससे छपा है, वह कल्याणका भागवतांक जब निकला था, उस समय मैंने इसका अनुवाद लिखाया था। तो जब दूसरी बार श्लोकोंके साथ जोड़ना हुआ

न, तो हमको ही बैठकर उसमें महीनों तक परिश्रम करना पड़ा। पहले तो बिना श्लोकके स्वतन्त्र लिखा था, तो वह स्वातन्त्र्यकी धारा दूसरी थी और जब श्लोकके साथ मिलाकर लिखना हुआ तो कितना ही संशोधन करना पड़ा। मैं संन्यासी होनेके बाद जाकर गोरखपुरमें रहा और उसको ठीक-ठाक किया। तो अनुवादमें जो गलती है, वह कोई अस्वाभाविक नहीं है। उपनिषदोंके अनुवादमें गलती जो सनातन देवजीकी हैं, हम उनको बीच-बीचमें ध्यान दिलाते हैं और नया संस्करण होता है तो वे ठीक कर देते हैं।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि अनादि होनेसे कोई वस्तु सत्य नहीं होती। अच्छा नित्य होनेसे भी कोई वस्तु सत्य नहीं होती। सत्यकी परिभाषा साधारण लोग नहीं जानते हैं। कोई भी वस्तु नित्य होनेसे भी सत्य नहीं होती और अनादि होनेसे भी सत्य नहीं होती। यह आकाशकी नीलिमा है न, आपका इसके बारेमें क्या ख्याल है? जबसे आकाश है तबसे यह नीलिमा है, आकाश अगर अनादि है तो नीलिमा भी अनादि है, आकाश सादि है तो नीलिमा भी सादि है और आकाश यदि नित्य है तो नीलिमा भी नित्य है। लेकिन व्यवहारमें आकाश सत्य है, नीलिमा मिथ्या है। यह क्यों? कि जिस अधिष्ठानमें नीलिमा दिखायी पड़ रही है, उस अधिष्ठानमें नीलिमा बाधित है।

देखो नीलिमा आकाशकी दृष्टिसे अनादि है और नीलिमा आकाशकी दृष्टिसे ही नित्य है। क्योंकि नैयायिकादिकी दृष्टिमें तो आकाश अनादि और नित्य ही है। ऐसे तो परमाणु भी अनादि और नित्य ही होते हैं और परमाणुओंका आधारभूत जो आकाश है वह नैयायिक मतमें अनादि और नित्य है।

यदि आकाश अनादि और नित्य है तो नीलिमा अनादि और नित्य है कि नहीं? पर नीलिमाके अनादि और नित्य होनेपर भी नीलिमा सत्य है क्या? अच्छा, क्यों सत्य नहीं है, नीलिमा? देखो, नीलिमा आँखसे दिखती भी है। इसलिए आप यह नियम नहीं बना सकते कि जो आँखसे दिखे सो सत्य। और नीलिमाकी आदि नहीं ज्ञात होती और उसका अन्त भी ज्ञात नहीं होता, फिर भी नीलिमा मिथ्या है, क्योंकि वह अधिष्ठान ज्ञानसे बाध्य है। जब आकाशके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान होता है कि आकाश निराकार, व्यापी,

प्रकाश आनेपर प्रकाशका लेप नहीं होता, चाँदनी छिटकनेपर शीतलताका लेप नहीं होता, तूफान चलनेपर धूल-हवाका लेप नहीं होता; तब नीलिमा कहाँ भास रही है ? कि नीलिमा अपने अभावके अधिकरणमें भास रही है। इसलिए अधिष्ठान ज्ञानसे बाध्य होनेके कारण नीलिमा मिथ्या है।

यहाँ यह बात इसलिए सुनायी कि केवल '**अनादि**' शब्दका प्रयोग हो जानेसे या नित्य शब्दका प्रयोग हो जानेसे या दृश्य शब्दका प्रयोग हो जानेसे कोई भी वस्तु सत्य नहीं हो जाती। सत्य वही वस्तु होती है कि जिस अधिष्ठानमें वह भास रही हो उस अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर भी वह वस्तुरूपसे सिद्ध होवे। रज्जुका ज्ञान होनेपर भी जब साँप उसमें मिले तब तो साँप सच्चा और यदि रस्सीका ज्ञान होनेपर साँप उसमें न मिले तो साँप मिथ्या। इसी प्रकार यह जो देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, और सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न ब्रह्म तत्त्व है, वही परिच्छिन्नताके अभावका अधिकरण है, अधिष्ठान है; अतः ब्रह्मज्ञानसे परिच्छिन्नता बाधित हो जाती है। इसलिए बीजांकुर न्यायसे परिच्छिन्नता अनादि होने पर भी; और परिच्छिन्नता भासमान होनेपर भी; और परिच्छिन्नताका अन्त प्राप्त न होनेपर भी परिच्छिन्नता मिथ्या है।

परिच्छिन्नता भासती है देह आदिके रूपमें, तो भी मिथ्या है। ऐसा भी मालूम पड़ता है कि यह देह और यह अन्तःकरण और यह प्रपंच बीजांकुर न्यायसे अनादि है और प्रवाह रूपसे इसका कहीं अन्त नहीं है, फिर भी यह मिथ्या है। जैसे स्वप्नकालमें स्वप्नपर विचार करो, तो बीजांकुर न्यायसे स्वप्नका दृश्य अनादि सिद्ध होगा और स्वप्नकालमें स्वप्नकी नित्यता भी सिद्ध होगी, स्वप्नकालमें स्वप्न प्रतीत भी होगा, लेकिन किसमें स्वप्न हुआ, जब इसका हम विचार करते हैं तो मालूम पड़ता है कि स्वप्न उसमें प्रतीत हुआ जिसमें स्वप्नका अत्यन्ताभाव है। तो अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेके कारण जैसे स्वप्न मिथ्या है, इसी प्रकार यह अनादि और नित्य और कार्य-कारणादिके रूपमें भासमान, देश, काल, वस्तुके रूपमें भासमान यह जो प्रपंच है वह अपने अभावके अनन्त अद्वितीय अधिष्ठानमें भासित होनेके कारण ***अनादित्वेऽपि मिथ्या, नित्यत्वेऽपि मिथ्या,***

भासमानत्वेऽपि मिथ्या तथा देशकालवस्तु रूपादित्वेऽपि मिथ्या—ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए अनादि शब्द देखकर डरना नहीं **विद्धि अनादी उभावपि** जरा प्रकृति और पुरुषका विवेक लेवें।

विकारांश्चैव गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।

प्रकृति माने माया। *निमित्तोपादाने विनापि कृतिः यस्याः प्रकृष्टा कृति* अर्थात् रचना, जिसकी प्रकृष्ट है, सो प्रकृति कैसी प्रकृष्ट है? *निमित्तं विनापि, उपादानं विनापि, आधाराधेय-भावं विनापि कृतिर्यस्या सा प्रकृतिः।* बिना उपादान और निमित्त कारणके और बिना आधार-आधेय भावके जो रचना करके दिखा दे वही प्रकृतिकी प्रकृष्टता है। जादूके खेलमें जैसे बिना माँ-बापके बेटा दीख जाय अथवा बिना बीजका पेड़ दीख जाय अथवा बिना जन्मान्तर ही योन्यन्तर दिखने लगे।

एक बार क्या हुआ, श्रीहरिबाबाजी महाराज ढाका गये। आनन्दमयी माँ-का कोई उत्सव था। कोई बाईस बरस पहलेकी बात है, मेरे संन्यासी होनेके बादकी बात है। मैं श्री उड़ियाबाबा जी महाराजके साथ था। तो हरिबाबा जी माँके उत्सवमें गये ढाका। उनके साथ पच्चीस-तीस आदमी थे, गंगाजीके खादरमें जो देहात है, वहाँसे गये थे। वे तो गये ढाका, पर अब गाँवमें यहाँ किसीने गप्प हाँकी कि वह तो बंगाल है—बंगालका जादू तो प्रसिद्ध ही है—तो हरिबाबाजीके साथ जितने गये थे बहादुरसिंह, गुलाबसिंह, रामसिंह आदि जितने उनके भक्त थे, उनको बंगालके जादूने भेंड़ा बना दिया है और हरिबाबाजी अकेले पेड़के नीचे बैठे हुए रो रहे हैं क्योंकि उनको तो भेड़ा नहीं बना सके वे लोग, लेकिन वे अपने भक्तोंके भेड़ा हो जानेपर रो रहे हैं, मैं देखकर आया हूँ। ऐसा किसीने गाँवमें आकर कह दिया। अब वह बहादुरसिंह की माँ, गुलाब सिंहकी बहन और फलाने और ढिकाने सब रोते हुए उड़ियाबाबाजी महाराजके पास आये और बोले— महाराज, हमारे घरवाले तो सब भेड़ा बन गये।

तो जादूके खेलमें क्या होता है? भेड़ा और भेड़से दूसरे भेड़ाकी उत्पत्ति नहीं होती, उसमें माँ-बापकी जरूरत नहीं पड़ती, उसमें पंचभूतके उपादानकी जरूरत नहीं पड़ती। मायाका अभिप्राय है कि उसमें मैटरकी जरूरत नहीं है, उसमें माँ-बापकी जरूरत नहीं है। उसमें किसीके पेटमें

जानेकी जरूरत नहीं है। ऐसे ही ज्यों-की-त्यों रहते हुए ही वस्तु रूपान्तरित भासती है। अब उड़िया बाबाजी महाराजने जो सुना तो हँसने लगे। अब उनका चातुर्य देखो—उन्होंने ऐसे नहीं कहा कि नहीं, ऐसा नहीं हुआ। अगर वे कह देते कि नहीं, नहीं, ऐसा कोई नहीं कर सकता तो जल्दी विश्वास नहीं होता लोगोंको। बाबा बोले—मूर्खो, हरिबाबाजी साक्षात् ईश्वर हैं और वे वहाँ मौजूद हैं उनके रहते क्या कोई जादू उनके भक्तोंपर चल सकता है? अरे, वे मौतसे भी तुम लोगोंको बचा सकते हैं, जादूगरकी क्या बात है?

अब हरिबाबाजीका माहात्म्य सुनकर उन लोगोंकी माता-बहनोंके मनमें विश्वास हुआ। तो मायाका खेल वह होता है जो बिना मैटरके, बिना माँ-बापके, बिना दूसरेके पेटमें गये, बिना देशका देश, बिना कालका काल, बिना वस्तुका वस्तु बना दे।

तो प्रकृति माने प्रकृष्ट कृति, प्रकृष्ट रचना। सबसे श्रेष्ठ रचना कौन होगी? आदमी खिलौना बनाता है तो माटीको लेकर बनाता है। एक मनुष्य जब शरीरकी रचना करता है तो टाँकी लेकर करता है, हथौड़ा लेकर करता है, वह कूँची लेकर तस्वीर बनाता है। पर ब्रह्माजी जब तस्वीर बनाते हैं तो कूँचीसे नहीं बनाते, जीवका कर्म देखकर अपने संकल्पसे ही जीवका शरीर बना देते हैं, लेकिन ब्रह्माजीके लिए कर्मरूप निमित्त चाहिए, पंचभूतरूप मैटर चाहिए, कर्ता जीव चाहिए और वे अपने संकल्पसे बनाते हैं। अब ब्रह्मासे ईश्वरको कुछ तो श्रेष्ठ समझो। ईश्वर कैसे बनाता है? ईश्वर ऐसे बनाता है कि पहलेसे जीव भी न हो, पहलेसे पंचभूत भी न हो, कर्म-संस्कार भी न हो और एक सबसे बढ़िया बात यह है कि ईश्वर संकल्प भी न करे। मायाका स्वभाव आपको सुनावें—मायाकी बात आपको गणितकी रीतिसे बता देते हैं। असलमें अनन्तको दृश्य बनानेकी जो चेष्टा है, उसके कारण ही हम उसमें अतात्त्विक अन्यथाभाव देखने लगते हैं। जैसे देखो, हम तो अपनेको देह बनकर बैठे हैं और अनन्तमें अपनी सीमित इन्द्रियोंसे देख रहे हैं। तो एक देखनेके अयोग्य पदार्थको, अनन्तको, अद्वितीयको, जब हम अपने इन्द्रियोंसे, मनसे देखनेकी कोशिश करते हैं, तो उसका नतीजा क्या होता है? जैसे हम अपनी आँखसे आकाशको देखनेकी जो कोशिश करते हैं तो वह नीला दिखता है। अतात्त्विक अन्यथा भाव दिखता है। यदि हम आँखसे

समुद्रकी गहराईको नापना चाहते हैं तो अतात्त्विक अन्यथाभाव दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार जब हम अन्त:करण और इन्द्रियोंके द्वारा ब्रह्मको नापनेकी कोशिश करते हैं, तब यह अतात्त्विक अन्यथा भाव दिखायी पड़ता है। माया ब्रह्ममें नहीं है, यह हम जो देह बनकर, मनुष्य बनकर, परमात्माको अपना दृश्य बनानेकी कोशिश करते हैं, उस दर्शनके अयोग्यके दर्शनके लिए जब हम कोशिश करते हैं, उस असीमको सीमामें लेनेकी जो चेष्टा है, उस चेष्टाके कारण वह अनन्त सान्त होकर दिखता है। यह अनन्तकी प्रकृति होती है कि अनन्त सान्त हो करके दिखे।

ब्रह्ममें माया नहीं है, ब्रह्म दृष्टिसे माया नहीं है, मायाकी कल्पना करनी पड़ती है। जब हम सोचते हैं कि अरे, ब्रह्म ऐसा कैसे दिखायी पड़ रहा है? तो उत्तर देते हैं मायावीके समान। क्योंकि जब हम मनुष्य होकरके, शरीरधारी होकरके, अन्त:करणवाला हो करके, उसको देखनेकी कोशिश करते हैं, तो चेतन जड़ दिखायी पड़ता है, एक अनेक दिखायी पड़ता है, अद्वय सद्वय दिखायी पड़ता है, अनन्त सान्त दिखायी पड़ता है, अमर मृत्युशील दिखायी पड़ता है, अजन्मा जन्मवाला दिखायी पड़ता है, अपरिवर्तनशील परिवर्तनवाला दिखायी पड़ता है! जब इस अन्त:करणको मैं-मेरासे मुक्त कर देते हैं, स्वयं इससे पृथक् होते हैं, स्वयं अनन्तसे एक होते हैं, तो अनन्तमें न माया है न छाया है, न विद्या है न अविद्या है, न प्रकृति है, न पृथक् पुरुष है।

(२)

प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि समझो। विकार और गुण इन दोनोंको प्रकृति संभव, प्रकृतिजन्य समझो। कार्य-शरीर और इसमें करण इन्द्रियाँ अन्त:करण और कर्तापन;—इनका हेतु है प्रकृति। और सुख-दु:खके भोक्तापनमें हेतु है पुरुष, ऐसा कहा जाता है। पुरुष प्रकृतिमें स्थित होकर प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है और जब उन गुणोंमें आसक्त होता है, तब यह गुणासक्ति जो है कि हम ऐसे ही रहें, वह सत् और असत् योनियों में जन्मका कारण है। असलमें यह जो पुरुष है, यदि इसका शोधन कर लिया जाये, इसको प्रकृतिसे विलक्षण रूपमें जान लिया जाये तो यह भोक्ता पुरुष

नहीं है और यह आसक्त पुरुष भी नहीं है और यह सदसद् योनिमें जन्मवान् पुरुष भी नहीं है। तब यह क्या है?

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इस शरीरमें रहता हुआ ही यह महेश्वर है, यह परमात्मा है। पुरुष तो यही है, पर है परमात्मा। तो किस प्रक्रियासे इसको परमात्मा समझें वह प्रक्रिया भगवान् समझा रहे हैं।

असलमें प्रक्रिया कहो, प्रकृति कहो, प्रकार कहो, अर्थ एक ही है। प्रकार क्या होता है? देखो, चना होता है एक वस्तु और एक विशेष प्रकारका स्वाद जो चना है वह उसकी प्रकृति है। अब चाहे कच्चे चनेको खायें, पके चनेको खायें, भाड़में भूनके खायें, दाल बनाकर खायें, बेसन बनाकर, पकौड़े बनाकर खायें, ये उसके खानेकी भिन्न-भिन्न प्रक्रिया हुईं, लेकिन वह स्वादवाली जो मूल प्रकृति है वह चनेमें बनी रहेगी, वह चनेकी मूल प्रकृति है, उसका सोंधापन। इसी प्रकार गेहूँकी एक प्रकृति है, चावलकी एक प्रकृति है। लेकिन अगर गेहूँसे अलग करके गेहूँकी प्रकृति और चनेसे अलग करके चनेकी प्रकृति ढूँढ़ने लगेंगे तो वह नहीं मिलेगी। तो वस्तु और उसकी प्रकृति, अलग-अलग बीजकी अलग-अलग प्रकृति होती है। जैसे पानीमें मिट्टीको कितना भी घोल दो, कुछ दिनोंके बाद वह नीचे बैठ जायेगी, फिर मिट्टी निकल आवेगी। तो मिट्टीकी प्रकृति जुदा है और पानीकी जुदा है। पानीको जमाकर रख दो तब भी वह ढीला हो जायेगा, फिर द्रव हो जायेगी। अग्निकी प्रकृति है दाह-जलाना। कितना भी प्रतिबन्ध उत्पन्न करो, मणिसे मन्त्रसे, औषधसे, लेकिन अग्नि गर्म-की-गर्म है। वायुकी प्रकृति गति है। आकाशकी प्रकृति है शब्दका वाहनत्व। यह अलग-अलग हुआ। ऐसे एक-एक स्त्रीकी प्रकृति अलग होती है, पुरुषकी प्रकृति अलग होती है। इसमें भी स्त्री सामान्यकी प्रकृति है और पुरुष सामान्यकी प्रकृति है। समाज सुधारक पुरुष सामान्य पुरुष पर विचार नहीं करते हैं। देखो गर्भाधानकी योग्यता केवल स्त्रीकी प्रकृतिमें है। इस दृष्टिसे स्त्रीके नियममें और पुरुषके नियममें, उनके धर्ममें भी फर्क हो जायेगा। स्त्री-मर्यादामें और पुरुष-मर्यादामें अन्तर होगा। दोनोंमें समानता कैसे होगी? अरे भाई, खानेमें

समानता होगी, पहननेमें समानता होगी, पढ़नेकी सुविधामें समानता होगी, नौकरी करनेमें समानता होगी, लौकिक बातोंमें समानता होगी, लेकिन प्रकृति दर्शन-मूलक जो धर्म होगा उस धर्ममें समानता कैसे होगी? चान्द्र प्रकृति स्त्री है, सौर प्रकृति पुरुष है; रयि प्रकृति स्त्री है प्राण प्रकृति पुरुष है। सोम प्रकृति स्त्री है, अग्नि प्रकृति पुरुष है। धर्माधर्मके निर्णयमें इन सब बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। समानता-समानता कहनेसे या कि हम क्या तुमसे घटकर हैं, यह कहनेसे काम थोड़े ही चलेगा। यह सब प्रकृति और पुरुषका विवेक करना पड़ता है। पुरुषका स्वरूप पुरुष शरीर ही नहीं होता और स्त्रीका स्वरूप स्त्री-शरीर ही नहीं है। पुरुषकी भी प्रकृति होती है। पुरुष शरीरमें भी प्रकृति होती है। स्त्री शरीरमें भी प्रकृति होती है। त्याग-प्रधान पुरुष प्रकृति होती है और तपःप्रधान स्त्री प्रकृति होती है। कह लेना पुरुषकी प्रकृति होती है और सह लेना स्त्रीकी। अपने-अपने धर्ममें दोनों ठीक हैं। गोपनीयता स्त्री शरीरमें अधिक होती है, पुरुष शरीरमें कम होती है।

तो प्रकृतिकी बात समझानेके लिए यह बाहरका बखेड़ा-प्रपंच आपको सुना रहे हैं। एक बार श्रीउड़ियाबाबाजीके यहाँ मैंने सुना, मेरे सामने ही बात हुई, उनके दो भक्तोंमें विवाद हुआ। दिनमें तीन-चार दफा हम जाकर बाबाके पास बैठते थे, सत्संगियोंसे अलग। उस समय मेरे सिवाय दूसरे सत्संगी नहीं होते थे। सबेरे बाबा चाय पीते थे, मैं दूध पीता था, उस समय दूसरा कोई नहीं होता था। दोपहरमें भोजन करते थे। तीसरे पहर कथाके पहले फिर वे चाय पीते थे, मैं कोई दूसरी चीज लेता था। रातको फिर भोजनमें इकट्ठे होते थे। तो एक दिन विवाद हुआ कि बाबा दयालु हैं कि कठोर हैं? तो जो पुरुष भक्त थे वे कहते थे कि बाबा बड़े ही दयालु हैं और जो स्त्री भक्त थीं, वे बोलती थीं कि बाबा बड़े कठोर हैं। स्त्री कोमल है तो उसको बाबा कठोर मालूम पड़ते हैं और पुरुष स्वयं कठोर है तो उसको बाबा कोमल मालूम पड़ते हैं। अपेक्षा दृष्टि होती है। विवाद हुआ तो बोले कि बाबा, आप ही बताओ कि आप कोमल हो कि कठोर हो? दयालु हो कि कठोर हो? तो बाबाने बताया। यह बात जरूर थी कि अगर दोनोंमें से किसी एकका पक्ष लेते तो दोनों ही रूठ जाते। वह पुरुष भी रूठने वाले स्वभावका

था। तो बाबाने बताया कि देखो हमारा स्वभाव दयालु है और मेरा स्वरूप असंग है। तो यह स्वरूप पुरुष हुआ। क्योंकि पुरुष असंग होता है और प्रकृति दयालु हुई। दोनों बाबामें था—पुरुषकी असंगता और प्रकृतिकी दयालुता, जो लोग उनके व्यक्तित्वको देखते हैं वे जानते हैं कि बाबा जब किसीको भूखा देखते हैं, तो तड़प जाते हैं और जो लोग उनके स्वरूपकी ओर देखते हैं, वे जानते हैं कि कोई मरे, कोई जरे, कोई छूटे, कोई टूटे, कोई फूटे, दुनिया बदल जाये, वे एकरस चले जा रहे हैं। यह पुरुष प्रकृतिका विवेक है। स्वभाव और स्वरूप। स्वभाव प्रकृति है और स्वरूप पुरुष है। इसमें स्त्री-पुरुष शरीरका भेद नहीं है। एक बार फिर यह बात दोहरा देता हूँ कि जो कहते हैं कि स्त्री प्रकृति है और मर्द पुरुष है, लिंग-भेदसे प्रकृति और पुरुषका निश्चय करते हैं वे गलत निश्चय करते हैं; क्योंकि यह लिंग-भेद प्राकृत है, स्त्रीका शरीर भी प्रकृतिका विकार है और पुरुषका शरीर भी प्रकृतिका विकार है और दोनोंमें जो आत्मा है वह अखण्ड है, दोनोंका वास्तविक स्वरूप असंग है।

इस प्रकार जड़ वस्तुका स्वरूप और स्वभाव—यह विवेक किया। अग्नि और दाहकता अग्निका स्वभाव। जल और द्रवता उसका स्वभाव। पृथिवी और कठोरता उसका स्वभाव। वायु और गमनशीलता उसका स्वभाव। आकाश और अवकाश दातृत्व उसका स्वभाव। इन्द्रिय आँख और देखना उसका स्वभाव; आसक्त होना आँखका स्वभाव बिलकुल नहीं है। अगर आँख कहीं कहती है कि इसीको देखते रहो तो आँख अस्वाभाविक आचरण कर रही है, वह नेत्रकी प्रकृति नहीं है, नेत्रकी विकृति है। क्यों? कि नेत्रमें-से जो रूपज्ञान निकलता है, वह ज्ञान तो पुरुषका स्वरूप है और वह ज्ञान असंग है। आप देखो, नेत्रका स्वरूप है ज्ञान और विषय-विशेषको प्रकाशित करना, यह उसकी प्रकृति है। इसी प्रकार वाणीमें जो ज्ञान है सो पुरुष और केवल शब्द ही सुनाना—यह उसकी प्रकृति। त्वगिन्द्रियका स्वरूप ज्ञान और प्रकृति स्पर्श-ज्ञान मात्र। ज्ञान ज्ञान एक ही होते हैं; पुरुष ही है जो नेत्रकी उपाधिसे द्रष्टा, श्रोत्रकी उपाधिसे श्रोता, त्वक्‌की उपाधिसे स्पृष्टा, घ्राणकी उपाधिसे घ्राता—यह पुरुष है। इस पुरुषका स्वरूप है ज्ञान। इसका स्वभाव कैसा है कि जिससे मिले उसके अनुरूप भासे। स्वभाव माने प्रकृति।

आपको यह बात सुनावेंगे कि प्रकृति पुरुषसे बिलकुल भिन्न नहीं होती है। हमने परीक्षा कर ली है कि जो जिसकी प्रकृति होती है वह उसके बिना सिद्ध नहीं होती है। प्रकृति उत्पन्न नहीं होती, वह द्रव्य-भाव्य है। वह पुरुषसे पृथक् भी तो नहीं है न! तो पृथक्ता कैसी है? कि कार्य-गम्य पृथक्ता है।

देखो, जो वेदान्तका विचार करते हैं उनको यह बात ठीक समझमें आवेगी। रूप दिखानेके कारण नेत्रोपाधिक ज्ञान पृथक् है और शब्दको सुननेके कारण श्रोत्रोपाधिक ज्ञान पृथक् है लेकिन जहाँ शब्द और रूपका भेद नहीं है, जहाँ श्रोत्र और नेत्रका भेद नहीं है, वहाँ ज्ञान एक है। यही तो पुरुष है। द्रष्टा, श्रोता, स्पृष्टा, मन्ता, ज्ञाता, विज्ञाता—ये सब एक ही पुरुष है। तो देखो, नेत्रकी प्रकृतिसे ज्ञान रूपका प्रकाशक है, तो रूपके सम्बन्धसे ज्ञान रूपका प्रकाशक है; रूपके सम्बन्धसे पुरुषमें नेत्रका आरोप हुआ। पुरुषको नेत्र है यह कैसे मालूम पड़े? ऐसे कि वह रूपको देखता है। अच्छा, रूप किसको कहते हैं? कि जो नेत्रके द्वारा पुरुषको दिखायी पड़े सो रूप और नेत्र किसको कहते हैं? जो पुरुषको रूप दिखावे सो नेत्र। तो पहले रूप कि पहले नेत्र? दोनों अन्योन्य भावसे सिद्ध हैं। रूप विषयसे नेत्रकी सिद्धि और नेत्र करणसे रूपकी सिद्धि। पहले नेत्रका लक्षण ज्ञात होगा कि पहले रूपका लक्षण ज्ञात होगा? कि ये दोनों युगपत् होंगे। तो ये अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए ये दोनों तत्त्व नहीं हैं। तत्त्व वह ज्ञान है जिससे दोनोंकी सिद्धि होती है। वह ज्ञान जो नेत्रकी उपाधि और रूप विषय, इन दोनोंको छोड़कर होता है वही तत्त्व होगा।

तो लक्षण बनाओ—***घ्राणग्राह्य गुणो गन्धः।*** घ्राण ग्राह्य जो गुण है उसको गन्ध बोलते हैं। और घ्राणका लक्षण बनाओ—***गन्ध ग्राहकमिन्द्रियम्***—गन्ध-ग्राहक इन्द्रियको घ्राण बोलते हैं। अब बताओ लक्षणमें न गन्धके बिना घ्राणका लक्षण सिद्ध होता, न घ्राणके बिना गन्धका लक्षण सिद्ध होता; तो व्यावहारिक दशामें ही घ्राण और गन्ध दोनों हैं, दोनोंका अभाव जहाँ है वहाँ केवल चिद् वस्तुकी सिद्धि होगी। तो चिद् वस्तुकी प्रकृति ही है घ्राण और गन्ध, श्रोत्र और शब्द, नेत्र और रूप, त्वक् और विषय—ऐसे! यह प्रकृतिका आरोप कर दिया? पुरुषपर, चिद्वस्तुपर;

और उस चिद् वस्तुके स्वरूपमें घ्राण-गंध, श्रोत्र-शब्द, नेत्र-रूप, त्वक्-विषय, कुछ नहीं। इसको अध्यारोप अपवाद बोलते हैं। यह सिद्ध वस्तुकी प्रकृति है। आपको क्या सुनावें? मन और मन्तव्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहं और अहंकृति, चित्त और चैत्य—ये सब प्रकृति हैं। ये द्वन्द्व हैं। न तो उनके लक्षणका ज्ञान होवे न तो इनके सम्बन्धमें कोई प्रमाण है।

प्रमाणोंके अस्तित्वमें कोई प्रमाण है कि नहीं? हमको कल एक सज्जनने बताया, वह यहीं बैठे हैं, कि यहाँके हिन्दू लोग—आदिवासी, अनुसूचित जातिके लोग, तो ईसाई हुए जा रहे हैं और अमेरिकामें जो पहलेके ईसाई हैं वे ईसाईपनेको छोड़ते जा रहे हैं। क्यों छोड़ते जा रहे हैं? कहते हैं कि प्रमाण दो कि ईश्वर है, प्रमाण दो कि बाइबिल ईश्वरने भेजी है। हम बिना प्रमाणके नहीं मानते ईश्वरको और ईश्वरकी बाइबिलको। तो वहाँके जो विज्ञान प्रिय लोग हैं, तर्क प्रधान हैं, युक्तिप्रधान हैं, वे तो रोज-रोज ईसाईपनेको छोड़ते जा रहे हैं, क्योंकि उनको बाइबिलके बारेमें, ईश्वरके बारेमें कोई प्रमाण ही नहीं मिल रहे हैं। और यहाँके जो भोले-भाले लोग हैं वे ईसाई होते जा रहे हैं। और समझते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान् हैं! तो अब बताओ—इन्द्रियके होनेमें तो विषय प्रमाण हैं और विषयके होनेमें इन्द्रिय प्रमाण हैं, तो अब दोनोंके होनेमें क्या प्रमाण है? इसमें अपने आपाके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् अपना आपा स्वयं प्रमाण है। इसका यह अर्थ हुआ कि चिद् वस्तु स्वयं प्रमाण होती है।

अच्छा तो यह स्वयं प्रमाण चिद्वस्तुको तुमने परिच्छिन्न कैसे मान रखा है? बोले—परिच्छिन्नतामें भी हम स्वयं प्रमाण हैं। कि नहीं, अपनी परिच्छिन्नतामें तुम स्वयं-प्रमाण नहीं हो, उसी द्वन्द्वात्मक वस्तुके साथ तादात्म्य करके तुम अपनेको परिच्छिन्न मान रहे हो—***परप्रत्ययमेव बुद्धिरेव।*** परिच्छेद्य वस्तुको मैंमें आरोपित करके, देहको अपने मैंमें आरोपित करके तुम अपनेको परिच्छिन्न मान रहे हो। जरा प्रकृति पुरुषवाली बातको लो। आकाशकी प्रकृति क्या है? विशालताकी प्रकृति क्या है? नीला दिखना। अपने स्वरूपके बिलकुल विपरीत, निराकार होनेपर भी साकार दिखना।

अब जरा आप स्वयं प्रकाश और अनन्त वस्तुकी प्रकृतिपर विचार करो

कि वह क्या होगी? स्वयं प्रकाश जो वस्तु है वह प्रकाशित किये बिना रह नहीं सकती और दूसरा कोई प्रकाशित करनेके लिए है नहीं, इसलिए वह अपनेको ही प्रपंचके रूपमें प्रकाशित कर रही है, यही उसकी प्रकृति है। अनन्तकी प्रकृति है विषयका न होना; जो अनन्त वस्तु होगी, वह दृश्य नहीं हो सकती। और स्वयं प्रकाश जो है उसकी प्रकृति है कि दृश्य बनाये बिना रह नहीं सकता। यदि अनन्त जड़ होवे तब तो दृश्य-द्रष्टाका कोई प्रसंग ही नहीं उठता। अनन्त यदि चेतन होवे तभी दृश्य द्रष्टाका प्रसंग उठता है। तो अनन्तकी प्रकृति है न दिखना और स्वयं प्रकाशकी प्रकृति है दिखाना। तो अनन्त पूरा नहीं दिखेगा अधूरा दिखेगा और स्वयं प्रकाश पूरेको नहीं; अधूरेको दिखावेगा। फल क्या होगा? कि अनन्त सान्त दिखेगा, चेतन जड़ दिखेगा, आत्मा अनात्मा दिखेगा—व्यवस्था ही उलट-पलट हो गयी न!

इस विज्ञानको आप समझिये। आप शीशेमें अपने आपको देखें, तो यदि आप पूर्व मुँहसे खड़े हैं तो शीशेमें पश्चिम मुँहसे दिखते हैं; परन्तु शीशेमें पश्चिम मुँहसे दिखनेपर भी 'मैं पश्चिम मुँहसे नहीं हूँ, पूर्व मुँहसे हूँ'—यह बात आप अपनी बुद्धिसे समझते हैं कि नहीं? तो शीशेमें आप दिखते हैं पश्चिम मुख और बुद्धिसे आप समझते हैं पूर्व मुख—लेकिन अपनी बुद्धिका तो सत्यानाश नहीं कर देते न! यह जो आपकी प्रत्यक्ता पराक् हो करके दीख रही है, यह शीशेकी करामात है। इसी प्रकार अन्तःकरणरूप शीशेकी करामात है कि जो आप प्रत्यक् होनेपर भी प्राक् दिख रहे हैं, चेतन होनेपर भी जड़ दिख रहे हैं, अनन्त होनेपर भी सान्त दिख रहे हैं, अपरिच्छिन्न होनेपर भी परिच्छिन्न दिख रहे हैं।

तो प्रकृति, पुरुषका भेद यही हुआ। प्रकृतिके अनादि होनेपर भी, प्रकृतिके नित्य होनेपर भी, प्रकृतिके भासमान होनेपर भी, उसमें सत्यत्व नहीं हो जाता। क्योंकि कारण होना सत्यत्वका लक्षण नहीं है, कार्य होना सत्यत्वका लक्षण नहीं है, भासमान होना सत्यत्वका लक्षण नहीं है, अनादि होना सत्यत्वका लक्षण नहीं है, नित्य होना सत्यत्वका लक्षण नहीं है। फिर सत्यत्वका क्या लक्षण है? तो पहले मिथ्याका लक्षण सुनो। जिस अधिष्ठानमें, जिस समय, जो वस्तु भास रही है, उसी समय उस अधिष्ठानमें

यदि वह न होवे तो वह वस्तु मिथ्या होती है। अधिष्ठानके ज्ञानसे जो बाधित हो जावे, यह मिथ्यात्वका लक्षण है। जैसे—देखो, इस समय मेजपर घड़ा नहीं है और अगर घड़ा दिखे तो? उसको मिथ्या कहना पड़ेगा, क्योंकि मेजपर घड़ा नहीं है और दिखायी पड़ता है। दूसरे कालमें घड़ा नहीं है या दुनियामें कहीं घड़ा नहीं है, इससे हमारा कोई मतलब नहीं है। दूसरे रूपमें घड़ा नहीं है, इससे भी हमारा कोई मतलब नहीं। कहना यह है कि अधिष्ठान ज्ञान बाध्य जो वस्तु होती है वह मिथ्या होती है, तो अनन्तरूप अधिष्ठानमें, अपरिच्छिन्नरूप अधिष्ठानमें, अपने अभाव वाले अधिष्ठानमें दिखती हुई जो परिच्छिन्नता है वह मिथ्या है।

यदि समझो, आपको स्वप्नमें विष्णु भगवान् दर्शन दें और उस कालमें आपकी विष्णु बुद्धि भी है, तो उन विष्णु भगवान्‌को आप अनादि मानेंगे कि नहीं? वह विष्णु नित्य हैं कि नहीं? लेकिन जब आप जागेंगे तब क्या कहेंगे? कि स्वप्नमें जो विष्णु थे, वह तो हमारे मनमें जो संस्कार है उसीसे पैदा हो गये थे। तो वह अनादित्व और नित्यत्व भी जो स्वप्नमें विष्णुके दर्शनका है, वह स्वाप्निक विष्णुके सत्यत्वका सूचक नहीं है, क्योंकि वह अधिष्ठान ज्ञानसे बाध्य है। स्वप्नका जो चित्त है, स्वप्नका जो मन है, स्वप्नका जो द्रष्टा है, स्वप्नकी जो दृष्टि है, स्वप्नका जो देश है, स्वप्नका जो काल है, उसमें विष्णुकी सत्यता नहीं है।

महस्ते विष्णु सुमतिं भजामहे। अधिष्ठानरूपसे ही विष्णुकी सत्यता है। विष्णु सत्य हैं, परन्तु प्रत्यक् चैतन्याभिन्न रूपसे ही सत्य हैं, प्रत्यक् चैतन्यसे भिन्न हो करके सत्य नहीं है।

यह आपको इतना विस्तार करके क्यों समझाता हूँ कि आप प्रकृति और पुरुषका जो विवेक है, उसको बिलकुल ठीक-ठीक समझ लें। जिसकी प्रकृति होती है, उससे वह भिन्न नहीं होती है, परन्तु भिन्न भासती है। क्योंकि लोगोंके मनमें प्रकृति शब्दका कुछ और अर्थ बैठ गया है, इसलिए वेदान्तशास्त्रमें वर्णित जो प्रकृति शब्दका अर्थ है, वह समझाना अभीष्ट है। वेदान्तमें प्रकृतिको अव्याकृत बोलते हैं। व्याकृत दशाको अप्राप्त, व्यक्ति दशाको अप्राप्त, व्यक्तताको अप्राप्त, नामरूपकी अभिव्यक्तिके बिना जो बीज सत्ता है, चिद्-विष्ठित, (चिदधिष्ठित) जो बीज सत्ता है, चित् सत्ता रूप

अधिष्ठानमें व्यावहारिक कार्य-कारणको देख करके जो कल्पित संस्कार-मूलक बीजत्व है; उस अव्याकृतको, उस अज्ञानको, उस अविद्याको, उस सबके निधानको, उस कल्पित समष्टि बीजको, वेदान्त शास्त्रमें प्रकृति शब्दसे कहते हैं। सामान्यत: लोगोंके चित्तमें जो सांख्य योगका संस्कार बैठा हुआ है, उसके द्वारा विचार करनेके कारण यह प्रसंग जल्दी समझमें नहीं आता है। तो पुरुष और प्रकृति क्या? प्रकृति वह जो प्रकार भेदका मूल है और पुरुष वह जो प्रकृतिके सम्पूर्ण प्रकार-भेदमें अधिष्ठानके रूपसे, व्यापकके रूपसे विद्यमान है। इन दोनोंका द्वैत अनादि है।

अब इसको समझो—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १३.१९
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। १३.२०

विकारका मतलब समझो कि पंचभूत, इन्द्रियाँ, मन और विषय। गुणान् माने विषय। विकार माने षोडश विकार जिसको बोलते हैं, वही ले लें। और विकार माने जितनी भी विकृतियाँ होती हैं; बीजसे जितने अंकुर उत्पन्न होते हैं और जितने उनमें विशेष-विशेष गुण होते हैं—ये सब प्रकृतिमूलक हैं।

कार्य माने देहादि जो ठोस पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। और करणकारण जो इनके अन्त:में विद्यमान हैं अन्त:करणादि। और कर्तृत्व—क़र्तापन जो पृथक्-पृथक् अविवेकके कारण हैं, वे सब प्रकृतिकी प्रधानतासे हैं।

आपको पहले सुनाया—पुरुषमें गन्तापन क्यों है? पाद-इन्द्रियकी उपाधिसे। और स्रष्टापना क्यों है? कि मूत्रेन्द्रियादिकी उपाधिसे। कर्तापना क्यों हैं? कि हाथकी उपाधिसे। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्तापना है। कर्मेन्द्रियोंके बिना पुरुषमें कर्तापना आपको दिखेगा ही नहीं। अच्छा ज्ञानेन्द्रियों और मनकी उपाधिसे पुरुषमें ज्ञातापना है—ऐसा कहो कि ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे संसारका ज्ञातापना है। आँखके बिना रूपका ज्ञातापना कहाँ है? बहरेको शब्दका ज्ञातापना कहाँ है? अच्छा, आनुकूल्य-प्रातिकूल्य, राग-द्वेष, सुख-दु:ख, शत्रु-मित्र—इनका ज्ञातापना कहाँ है? वह मनकी उपाधिसे है। धर्म-अधर्मका ज्ञातापना बुद्धिकी उपाधिसे है। स्मरण और स्मर्यमानता इनकी उपाधि कहाँसे है? चित्तसे है। और

अहंकृति-अहंक्रियमान कहाँसे है? अहंकी उपाधिसे है। यह सब प्रकृति है। व्याधि-आधि-समाधि—ये तीनों कहाँ हैं? व्याधि स्थूल शरीरमें, आधि सूक्ष्म शरीरमें और समाधि कारण शरीरमें। वह भी असलमें वेदान्तकी दृष्टिसे तो भास ही रही हैं। तीनों कहाँ हैं? कि उपाधिमें-औपाधिक। ये आकृतियाँ कहाँ हैं? संस्कृतियाँ कहाँ हैं? विकृतियाँ कहाँ हैं? प्रकृतिमें हैं। तो आकृति, संस्कृति, प्रकृति, विकृति ये सब-के-सब प्रकृतिमें कल्पित हैं। तो कार्य-कारण कर्तृत्वमें हेतु क्या है? बोले—प्रकृति।

अब भोक्तृत्व कहाँ है? **पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।** चैतन्यकी प्रधानतासे भोक्तृत्व होता है। अविविक्त चैतन्य ही भोक्ता होता है। तो सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु है—**अहं सुखी अहं दुःखी।**

सुष्ठु शोभनानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत् सुखम्।
दुः दुष्टानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तद् दुःखम्।

जिसमें अपना मन और इन्द्रियाँ खूब निर्मल हों, प्रसन्न हों, उसको सुख बोलते हैं, और जिसमें अपने मन और इन्द्रिय रुआँसे हों, विकृत हों, उसका नाम दुःख है। अनुकूल वेदना सुख है और प्रतिकूल वेदना दुःख है। स्वातन्त्र्य सुख है और पारतन्त्र्य दुःख है।

सुष्ठु शोभनान् संस्कारान् खनति इति सुखम्।
दुष्टं संस्काराणि खनति इति दुःखम्॥

भीतर जो अच्छे और बुरे संस्कार भरे हुए हैं, उसमें अच्छे संस्कारोंको जो खोद निकाले, अपने बढ़िया-बढ़िया कामोंकी याद आवे तो सुख होगा; और बुरे-बुरे कामोंकी याद आवे तो दुःख होगा। दुःख और सुखका संसारमें द्वन्द्व होनेपर भी अनुभवकी प्रणालीमें यह विशेषता है कि सुषुप्ति अवस्थामें दुःख किसीको नहीं होता। दुःखीसे दुःखी आदमी यदि सो जाये तो उसके विश्राममें जैसे सुखका अनुभव होता है, तो—***सुखमस्यात्मनो रूपम्।***

सुख तो आत्माका स्वरूप है, हमारा होना ही सुख है। सुख-दुःखमें विलक्षणता यह है कि सुख आत्मगामी है और दुःख केवल मनोगामी है। माने सुख भीतरसे बाहर आता है और दुःख बाहरसे भीतर जाता है। यह विवेकके लिए ऐसा कहते हैं, यह तत्त्व दृष्टि नहीं है; लेकिन दुःख आप खरीदते हैं, बाहरसे लेते हैं दूसरेके घरसे लाते हैं, दुःख दूसरेमें-से आता है और सुख

अपने आपमें-से निकलता है। कितना भी घूमो, कितनी भी अच्छी जगह जाओ, चाहे कश्मीर जाओ, चाहे स्विट्जरलैण्ड जाओ, बड़े-बड़े मजे लूटकर आओ, लेकिन अपने घरमें लौटनेपर जो सन्तोष मिलता है, वह कहीं नहीं है, मालूम पड़ता है कि अपने घर लौट आये। आप लोगोंको अगर ऐसा मालूम होता हो कि असलमें बाहर ही सुख होता है, भीतर सुख नहीं होता है, तो हम आपके अनुभवके विश्लेषणको ही धन्य कहेंगे| बोले—नहीं, चौपाटीपर सुख है, सिनेमामें सुख है। कि नहीं; घरमें लौटनेपर जो सन्तोष होता है वह बाहर रहनेपर नहीं होता। वृन्दावन रहनेवाले भी जब कभी घर लौट आते हैं तो अगर वहाँ बहू-बेटेका झगड़ा न हो, बेटे-बेटीका कोई झगड़ा न हो, रहनेकी जगहकी कमी न हो, तो लौटकर कहेंगे वाह-वाह! अपने घरमें जो सुख-सन्तोष है, वह बाहर नहीं है। असलमें आत्माकी उपस्थिति-विद्यमानता ही सुख है।

तो ये भोक्ताप्रधान होते हैं सुख-दु:ख, परन्तु यह भोक्तापन काहेसे है। तो—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

असलमें यह (भोक्ताका) मजा झूलेपर बैठनेका है, यह शान्त शैय्यापर शयनका आनन्द नहीं है। कई लोग सोते भी झूलेपर ही हैं, जरा भी झूला हिल जाये तो नींद टूट जायेगी। अरे भाई, सोना पसन्द करें, पर कहाँ ? पलंगपर सोना पसन्द करें; झूलेका आनन्द आगन्तुक है और पलंगका आनन्द शान्ति है। झूलेका आनन्द रजोगुण है और पलंगका, समाधिका आनन्द सात्त्विक है। उपासनागत जो आनन्द है वह विषय, ईश्वरकी प्रधानतासे उसमें चांचल्य है, रजस् है। और धर्मका जो आनन्द है उसमें क्रिया और वस्तुकी प्रधानता होनेसे तमस्‌का किंचित् सम्बन्ध है। उपासनामें राजस्‌का किंचित् सम्बन्ध है। समाधिमें सत्त्वका किंचित् सम्बन्ध है। परन्तु अपना जो स्वरूप है, वह प्रकृतिमें स्थित होकर शान्त होता है, प्रकृतिमें स्थित हो करके सुखी होता है, प्रकृतिमें स्थित होकरके भोक्ता होता है, सुख-दु:ख दोनोंका—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

असलमें 'पुरुष: पर:' यह पुरुष तो सुख-दु:खसे भी परे है और प्रकृतिसे भी परे है।

अब यही समझो कि यदि कोई यही चाहे कि हम यहीं रहें बस—आने-जानेवाली चीजमें; यदि यही चाहें कि परदेशीसे प्रीति करें, तो घरसे निकल जाना पड़ेगा। यह अकल कम-से-कम आनी चाहिए।

अच्छा समझो, एक आदमी आँखके सामने है, उससे आप प्रीति करते हैं और एक चीज आँखके भीतर है, उससे आप प्रेम करते हैं। तो आँखसे बाहरवालेसे जो प्रेम करोगे, उसे तो आँख खुली रखनी पड़ेगी कि नहीं? तो आँख खुली रखनेमें तो आपको बड़ी तकलीफ होगी, पलक झपकने न पावे एकटक देखते रहें निर्निमेष, तो आँखको निर्निमेष कभी आप बना सकेंगे? पलक कटवानी पड़ेगी, कि भाई प्रेम है, कटवा दो। अच्छा, पलक कटवा देनेपर भी क्या आप जागकर हमेशा बाहरवाली चीजको देखते रहेंगे? तो यदि आप सुख अपना ऐसी जगह फेकेंगे जो बिना किसी मशीनके, बिना दूरबीनके, बिना खुर्दबीनके दिखायी न पड़े, तो क्या हर समय दूरबीन, खुर्दबीन आप अपनी आँखपर लगाये ही रखोगे? क्या आपको नींद नहीं आवेगी? तो बाहरवाली वस्तु बड़ी तकलीफ देगी।

अब आजकलकी बात नहीं करते हैं; हम अपने बाप-दादाके जमानेकी एक बात आपको सुनाते हैं। गाँवमें इस बातकी निन्दा होती थी उस समय कि अमुककी बहू, अमुककी बेटी जब देखो तब दरवाजेपर लगी रहती है, जब देखो तब खिड़कीमें बैठी रहती है। हमारे पुराने जमानेमें खिड़कीमें बैठना या दरवाजेमें लगे रहना वेश्याका लक्षण मानते थे। लेकिन फिर भी कब तक बैठोगे? यह आँख खिड़की है। यह मुँह दरवाजा है, यह मन भी खिड़की है, यह बुद्धि भी खिड़की है, कबतक इसमें लगोगे? यह प्रकृतिस्थ होना है। एक स्वस्थ होता है और एक प्रकृतिस्थ होता है। दोनोंमें फर्क होता है। अपने काममें लगे हैं तो किसीका क्या पता लगे? लेकिन कुछ लोग दिन भर सड़क ही नापते रहते हैं, मोटर गिनते रहते हैं। हमारे एक मित्र हैं तो वे छज्जेपर खड़े हो जाते हैं और घड़ी ले लेते हैं हाथमें और देखते हैं एक मिनटमें कितनी मोटर गुजरी। आप तो भलेमानुष हैं ऐसा नहीं करते होंगे; लेकिन यह शरीरका जो छज्जा है ना, यह खिड़की है, आँखकी खिड़की, नाककी खिड़की यह जीभपर तरह-तरहके स्वाद डालना, यह

खिड़की पर ही रहना है, यह कानमें तरह-तरहकी आवाज डालना—यह खिड़कीपर ही रहना है। तो

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि। जब आकर दूसरेके घरमें बैठ गये, प्रकृतिके घरमें बैठ गये, तब प्रकृतिजन्य जो गुण हैं, उनको भोगना पड़ेगा।

संन्यासी होनेके पहले मैं कल्याण-परिवारमें रहता था। प्रेस विभागके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं था। क्योंकि हम सालभरमें दो-तीन दिन मुश्किलसे प्रेसमें कोई काम होवे तो जाते थे।

तो एक बार उड़िया बाबाजी महाराजके पास कर्णवास गया। सब कुशल मंगल हुआ तो बाबाने एक बात सुनायी,। वृन्दावनका आश्रम बन तो गया था, पर बाबा कर्णवासमें थे उस समय। बोले—देखो एक था महात्मा, बड़ा विरक्त था, लंगोटी-मात्र पहनता था और भिक्षा माँगकर खा लेता और मस्त जंगलमें पड़ा रहता। एक दिन उसको आयी मौज और शहरमें निकला और बोला—कहीं कब्र है कब्र? तो कोई उसकी बात समझे नहीं, बोले—पागल है, कब्र-कब्र बोलता है। एक गृहस्थ बड़ा ज्ञानी था, अनासक्त था। वह गया, हाथ जोड़ा और बोला—कहीं मुर्दा है, मुर्दा? तो महात्माने अपनी तरफ हाथ करके दिखा दिया कि यह मुर्दा है। तो उसने अपने घरकी तरफ दिखाया कि यह कब्र है महाराज! अब महात्माजी उसके घरमें घुस गये। अब जाकर चुप मौन! एक कमरा उनके लिए निश्चित हो गया, किवाड़ी बन्द रहती, समयपर भोजन दे देते। वे अपनी मस्तीमें पड़े रहते। इस तरह बारह बरस वे महात्मा उसके घरमें रहे। एक दिन उस गृहस्थके घरमें आये चोर और उन्होंने तिजोरी तोड़ ली, हजारों-लाखों रुपयेका माल निकाल लिया। महात्मा तो जाग रहा था। देखा उसने तो उसके मनमें आया कि देखो, बारह बरससे इसके घरमें रहते हैं, इसकी रोटी खाते हैं, हमारे देखते-देखते चोरी हो रही है तो यह अच्छा नहीं है। हल्ला तो नहीं किया उसने पर जब चोर माल लेकर गये तो उनके साथ निकल गया, उनके पीछे। वे घोर जंगलमें गये तो महात्माने अपनी लंगोटी निकालके उसको फाड़ डाली और रास्तेमें पेड़पर बाँधता बाँधता, जहाँ तक वे गये वहाँ तक चला गया। और जाके उन्होंने एक कुएँमें सारा माल डाल दिया कि कभी निकालेंगे। महात्माने वह सब देख लिया और आकर सबेरे उसने जिस सेठकी चोरी हुई थी, उसे

बता दिया। पुलिस आयी। वह रास्ता तो ठीक था ही, कपड़े बँधे हुए थे। सेठको वह अलग ले गया, सारा माल मिल गया सेठको, बड़ी खुशी हुई। चोर भी पकड़े गये। जो कुछ हुआ सो हुआ, उससे मतलब नहीं। अब जब सब लोग स्वस्थ हुए तो सेठजी तो बड़े ज्ञानी थे, वे महात्माके पास आये और उन्होंने पूछा कि महाराज कब्र सच्ची कि मुर्दा सच्चा? तो महात्माने बोल दिया, नहीं तो बारह बरस बोले नहीं थे, बोल दिया कि भाई कब्र तो सच्ची है; परन्तु मुर्दा झूठा है और उसके बाद वहाँसे निकल गये।

तो विरक्त पुरुष भी जब किसीके घरमें रहने लगता है, किसीका खाने लगता है, तो उसके प्रति थोड़ा झुकाव हो ही जाता है। यह जो पुरुष है न, यह प्रकृतिके घरमें रह रहा है और रहते-रहते अपना वह जो असंग स्वरूप था, विरक्त स्वरूप था, उसे भूल गया है। प्रकृति और शरीर चाहे मरे, चाहे जरे और रहे चाहे ना रहे, इसमें जो पुरुषकी असंगता थी, उसको भूल गया है। कब्र तो सच्ची है पर मुर्दा झूठा हो गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

और इसका फल यह हुआ कि चोरके पीछे चलना पड़ा, पुलिसके साथ भी जाना पड़ा।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

इसीके चक्करमें पड़कर भली-बुरी जगह जाना पड़ता है।

तो हमने बाबाकी इस बातको ऐसे समझा कि अब यह कहते हैं छोड़ो गीता प्रेस, संन्यास ले लो, लेकिन वह अपना ख्याल था, उनका क्या अभिप्राय था, वह तो वे ही जानें।

(३)

जैसे आकाश अधिष्ठान है और उसकी नीलिमा उसमें अध्यस्त है, वैसे पुरुष अधिष्ठान है और प्रकृति उसमें अध्यस्त है। ***प्रकृति अध्यस्ता पुरुषः अधिष्ठानः***। जबतक पुरुष अज्ञात है तबतक उसकी संज्ञा पुरुष है और जब पुरुषका स्वरूप ज्ञात है, तब उसकी संज्ञा ब्रह्म है। अज्ञात ब्रह्म पुरुष—शब्द-वाच्य है, ज्ञात पुरुष ब्रह्म-संज्ञावाच्य है। पुरुष और ब्रह्म—ये भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, एक ही पदार्थ है; जब उसकी ब्रह्मता अज्ञात है तब उसका

नाम पुरुष है और जब उसकी ब्रह्मता ज्ञात है तब उसका नाम ब्रह्म है। और प्रकृति जबतक अधिष्ठानमें अध्यस्त है माने साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान नहीं है तबतक उसका नाम प्रकृति है। जब साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान हो गया तो प्रकृति प्रकृति-शब्द-वाच्य नहीं है, वह प्रतीति-शब्द-वाच्य है। प्रकृतिके अधिष्ठानको जान लो तो उसमें प्रकृति अध्यस्त है, प्रतीतिमात्र है, तो ***ज्ञाताधिष्ठाना प्रकृति*** प्रतीति है। और पुरुषका स्वरूप ज्ञात है तो ब्रह्म है और ब्रह्मका स्वरूप अज्ञात है तो वह पुरुष है। केवल ज्ञानाज्ञान विषयक भेद है, वस्तु-भेद नहीं है।

अब देखो, जबतक अधिष्ठान और अध्यस्तका ज्ञान नहीं है तबतक रज्जु सर्प है। अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर सर्प रज्जु है। माने सर्पका अधिष्ठान कौन है? कि रज्जु। और रज्जु ही सर्पके अभावका भी अधिष्ठान है। तो अपने अभावके अधिष्ठानमें प्रतीत होनेके कारण सर्प रज्जुसे पृथक् नहीं है। अब कहो कि नहीं, एक रज्जु है और एक उसमें सर्प है तो असलमें रज्जुमें सर्प अध्यस्त भी नहीं है। इसका एक रहस्य आप सुनो। रहस्य यह है कि भ्रान्ति-सिद्ध जो पदार्थ होता है वह अन्य अधिष्ठानमें नहीं होता। अर्थात् भ्रान्तिका जो अधिष्ठान होता है, वही भ्रान्ति सिद्ध पदार्थका भी अधिष्ठान होता है। जैसे रज्जुमें जो सर्प है वह भ्रान्तिसिद्ध है। और भ्रान्तिका अधिष्ठान भ्रान्ति-अवच्छिन्न चैतन्य है। तब भ्रान्तिसिद्ध सर्पका अधिष्ठान भी रज्जु नहीं, भ्रान्ति-अवच्छिन्न-चैतन्य ही सर्पका अधिष्ठान है।

अच्छा, यह जो आकाशमें नीलिमा है, यह क्या ऐसी है कि आकाश अधिकरण है और नीलिमा उसमें अधिकृत है? कदापि नहीं। नेत्रोंके ग्रहणासामर्थ्यके कारण, नेत्रमें सम्पूर्ण आकाशके ग्रहणकी जो असमर्थता है, उस असमर्थताके कारण नेत्र आकाशमें नीलिमा देखते हैं। न आकाशमें नीलिमा उत्पन्न हुई, न आकाशमें नीलिमा स्थित है, न आकाशमें नीलिमाका लय है—

न त्यागो नाग्रहो लयः। और न तो अलगसे आकर आगन्तुक सत्ता भी नीलिमाकी आकाशमें है। तो असलमें नीलिमा आकाशमें नहीं है, बुद्धिमें है। अतः नीलिमाकार वृत्तिका जो अधिष्ठान है वही नीलिमाका भी अधिष्ठान है, क्योंकि नीलिमाका अधिष्ठान आकाश बिलकुल नहीं है।

तो प्रकृति कहाँ है? यह कार्य-कारण रूप जो प्रपंच है, यह जिसका दृश्य हो रहा है, उसकी दृष्टिमें ही यह प्रपंच है। अनन्तके अज्ञानसे, अपरिच्छिन्न ब्रह्म तत्त्वके अज्ञानसे, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वके अज्ञानसे ही ऐसा लगता है कि ब्रह्मतत्त्व आधार है और प्रपंच उसमें अध्यस्त है परन्तु वह ज्ञात होनेपर यह सम्पूर्ण प्रपंच बुद्धिस्थ ही है और बुद्धि जैसे प्रतीतिमात्र है वैसे यह प्रपंच भी प्रतीति-मात्र है। वृत्त्यावच्छिन्न चैतन्य और प्रपंचावच्छिन्न चैतन्य पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जो वृत्त्यावच्छिन्न है वही प्रपंचावच्छिन्न है।

तो अब देखो, पुरुष और प्रकृति दोनों आविद्यक स्थितिमें अनादि हैं, अनादित्वेन कल्पित हैं। और फिर उनमें विकार हैं, उनमें गुण हैं, उनमें कार्य-कारण भाव है, यह सब आविद्यक दशामें ही है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

अब इसी अविद्याकी निवृत्तिके लिए विवेक करते हैं। यह संसार कैसे है? तो संसारमें दो अंश मालूम पड़ता है। एक जडांश और एक चेतनांश। तो कार्य माने शरीर, ये हमलोगोंके अलग-अलग शरीर। और करण माने इनमें जो इन्द्रिय मन-बुद्धि—ये सब हैं। कार्य माने देह और करण माने पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एक मन, बुद्धि, अहंकार। इनके कर्तृत्वमें, इनके आकारके परिणाममें—माने एतद् आकार-परिणाममें, कार्यकरणाकार परिणाममें अथवा कार्यकारणाकार परिणाममें,- हेतु कौन है? कि केवल प्रकृति है। 'हेतुः प्रकृतिरुच्यते'—उच्यते अर्थात् अध्यारोपित है, इसका अध्यारोप किया जाता है। अध्यारोपित हेतुत्व है प्रकृतिमें, क्योंकि ब्रह्म अज्ञात है। जबतक ब्रह्म अज्ञात हैं तबतक प्रकृति सत्य है। और प्रकृति सत्य है तो यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीररूप जो व्यष्टिभाव है यह भी सत्य है। कबतक? कि जबतक अपनी अपरिच्छिन्नताका बोध नहीं होता, तब-तक। और—

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

जैसे कोई चतुष्कोण लोहा हो और उसको अग्निसे आप्यायित करदें, तो वहाँ चतुष्कोणत्वका आरोप हो गया अग्निपर और अग्नित्वका आरोप हो

गया चतुश्कोणत्व लौहपर। अग्निमें चतुष्कोणत्व नहीं है और लोहमें दाहकत्व नहीं है। इसीको परस्पराध्यास कहते हैं। शरीरकी परिच्छिन्नता आत्मामें चली गयी और आत्माका प्रकाशकत्व शरीरमें आ गया। इसी परस्पराध्यासके निमित्तसे, अविवेकके निमित्तसे यह संसार चल रहा है। तो—

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

अब संसारकी व्याख्या कर दी। क्या? संसारकी व्याख्या यह की कि आत्माकी प्रधानतासे भोक्तृत्व होता है। क्योंकि ये जितने कार्य हैं और करण हैं ये अलग-अलग होते हैं—अलग-अलग हाथ, अलग-अलग पाँव, अलग-अलग शरीरके एक-एक अवयव और इनमें अलग-अलग इन्द्रियाँ, अलग-अलग वृत्तियाँ—पर इनका भोक्ता तो एक ही है।

चक्षुर्भ्याम् अद्राक्षम स एवाहं श्रोत्राभ्याम् शृणोमि।

जिस मैं-ने दोनों आँखोंसे देखा, वहीं मैं दोनों कानोंसे सुन रहा हूँ। तो कानसे सुननेवाला और आँखसे देखनेवाला अलग-अलग नहीं है। तो प्रकृति तो आँख बनी, कान बना, बीजानुसार, लेकिन पुरुष दोनोंमें एक है। तो ***चेत्यानि अहं सुखदुःखादीन उपलभेत्*** मैं ही शरीरको चेतन बनाता हूँ और मैं ही सुख-दुःखको उपलब्ध करता हूँ।

अब आप यह विचार करो कि यदि कार्य-कारण सुख-दुःखस्वरूप हेतु ***फलात्मना प्रकृतिर्न परिणमेत तदा पुरुषः किं उपलभेत्?*** यदि कार्य-कारण सुख-दुःखस्वरूप हेतु फलरूपसे प्रकृति परिणत न होती, तो पुरुषको उपलब्धि किसकी होती? ***अनुपलब्धे वा कथं संसारी स्यात्।*** और यदि प्रकृतिकी उपलब्धि ही न होती तो यह पुरुष संसारी कैसे हो जाता? अच्छा, मान लो, पुरुषको उपलब्धि न होती, पुरुष ही न होता, तो प्रकृतिका उपयोग क्या होता? किसके काम प्रकृति आती? प्रकृति तो अनेक रूपमें है। ***अनुपलब्धका वा प्रकृतिः कुत्र उपयुज्येत्।*** यदि इस प्रकृतिका उपलब्धा कोई एक न होता, तो इस प्रकृतिका क्या उपयोग होता? इसलिए पुरुष और प्रकृति-उपलब्धा और उपलभ्य इनका जो संयोग है, यही संसारका कारण है। यह भाष्यकी व्याख्या है। शंकराचार्य भगवान्ने जैसा भाष्य लिखा है, उसकी यह नीलकण्ठ कृत व्याख्या है। सम्पूर्ण महाभारतके

व्याख्याता जो नीलकंठ हैं, वे शंकराचार्यके बादके हैं, तो उन्होंने गीतापर जो शांकर भाष्य है, उसकी व्याख्या की।

वह्नि तादात्म्यं प्राप्तं लौहं वह्नेश्चतुष्कोणत्वादावि हेतुर्भवति।
सुखदुःखभोक्तृत्वे स्वच्छाया प्रदानेन पुरुषः कारणम्।

जैसे वह्निमें लौह और लौहमें वह्नि—इसी प्रकार गौरोऽहं, मनुष्योऽहं, पुत्रोऽहं, खञ्जोऽहं, करोम्यहं—मैं कर्ता हूँ, मैंने किया—यह सारी कल्पना प्रकृतिके विकारके साथ तादात्म्य करके पुरुष अपने आपमें आरोपित करता है और यह है सब प्रकृति। हाथ कर्ता है और मैं अपनेको कर्ता मानता हूँ। लौकिक दृष्टिसे हमने देखा है, लौकिक दृष्टिसे भी करनेका जो अभिमान है वह बिलकुल झूठा है।

अहं करोमीति वृथाऽभिमानः।

मैं कर्ता हूँ—यह अभिमान बिलकुल वृथा है। विचार करके देखें। धरती हमें खड़ा होनेको जगह न दे तो हम कैसे करेंगे? समष्टिसे सम्बन्ध छोड़कर कोई काम कर सकते हो? शरीरमें यदि रक्त न दौड़े और अमुक मात्रामें गरमी न हो, तो काम कर सकते हो? साँस न मिले लेनेके लिए, तो काम कर सकते हो? समष्टिसे अलग होकर व्यष्टि कहाँ काम कर सकता है? अच्छा, यहाँका वातावरण यदि ऐसा ही न हो, जैसा है, समझो मील-दो-मील, चार मील आसमानमें ऊपर हो, तो क्या तुम्हारा वजन इतना ही रहेगा? ऐसे ही किसी चीजको पकड़ सकोगे? तो समष्टिके अनुग्रहसे ही तो काम होता है। बिना समष्टिके अनुग्रहके काम कहाँ होता है? एकने हमको बताया कि यदि यह पृथिवी सूर्यसे दो फुट और पास होती, तो सारा मसाला ही बदल जाता। गर्मी इसपर बहुत ज्यादा होती, ऐसे शरीरसे रह नहीं सकते थे, ऐसे पेड़ पौधे रह नहीं सकते थे; उस वातावरणके योग्य शरीर और पौधे होते हैं। चन्द्रमासे दो फुट अगर यह धरती और पास होती तो यह बम्बई शहर यहाँ नहीं हो सकता था। यह जो समुद्रका ज्वार है, इसकी ऐसी रूपरेखा होती कि यह बम्बईका वातावरण बिलकुल डूब जाता उसमें।

तो बिना समष्टिके अनुग्रहके व्यष्टि काम कर नहीं सकता। हाथ नहीं हिला सकता। जबान नहीं हिला सकता। साँस नहीं ले सकता, चल नहीं सकता, चीजको पकड़ नहीं सकता। तो समष्टिके द्वारा इतनी शक्ति प्राप्त

करके व्यष्टि जब काम करती है, तो इसमें बैठा हुआ अहंकार कहे कि मैंने किया और समष्टिको, ईश्वरको भूलकर कहे—हमारी आस्तिक भाषामें ईश्वरको भूलकर अगर यह कोई कहे कि हमने काम किया, तो बिलकुल गलत कहता है।

अच्छा, यह सोचो—अगले मिनटमें आप क्या करोगे? बोले—हमारे मनमें जो आवे सो करेंगे, हमारे मनमें आवेगा कि ताली बजाओ तो ताली बजावेंगे। अच्छा आपके मनमें आवेगा सो आप करेंगे, लेकिन आपके मनमें क्या आवेगा सो तो बताइये। बोले—वह तो नहीं मालूम है। तब? एक अज्ञात दिशासे अज्ञात प्रेरणा आवेगी और आपसे वह काम करावेगी, आप काहे को अभिमान करते हो कि मैं करता हूँ! तो असलमें *अहं करोमीति वृथाऽभिमानः।* और पुरुषके सामने जो प्रकृति नाच रही है, उस प्रकृतिसे मिल करके ही पुरुष भोक्ता बना हुआ है। भोक्ता एक होता है और भोग्य अनेक होते हैं। देखो, आप नाकसे सूँघते हो, जीभसे खाते हो, आँखसे देखते हो, त्वचासे छूते हो, कानसे सुनते हो, मनमें बढ़िया-बढ़िया कल्पना कभी कर लेते हो। झूठी खबर सुनकर भी आदमी इतना खुश हो जाता है कि जिसकी कोई हद नहीं। बोले—एक दुकानसे घाटेकी खबर आयी हुई हो और आदमी बिलकुल व्याकुल हो, तो उसको कैसे भी यह खबर पहुँचा दो कि दूसरी दुकानमें बहुत लाभ हुआ है, झूठी हो चाहे सच्ची, उसकी तकलीफ तुरन्त कम हो जायेगी। जैसे बेटेके बेटी हुई हो और दुःख हो रहा हो कि हाय-हाय बेटी हो गयी; तुरन्त उसकी बेटीके बेटा हो गया, यह खबर पहुँचा दो। माने यह सब-का-सब झूठ हो कि सच हो, मन बन जाना चाहिए। कई लोग तो अपने मनको झूठ ही कड़वा करके बैठते हैं संसारमें। एक जगह ब्याह छूट गया लड़कीका, तो एक सज्जन रोने लगे, तो दूसरेने कहा—अभी हम तुम्हारी लड़कीका ब्याह राजकुमारसे करवा देते हैं, हमारी तो इतनी पहुँच है कि महारानी हमारी बात मानती हैं, महाराज हमारी बात मानते हैं, राजकुमार हमारी मुट्ठीमें है। तो अब देखो, वह कहेगा कि बहुत अच्छा हुआ जो वहाँसे ब्याह छूट गया। तो हुआ कहीं कुछ नहीं, भले ही चार दिन बाद राजकुमारसे ब्याह न हो, लेकिन उस दिन खुशी हो जायेगी। तो यह सब बिलकुल मनका खेल है। यह जो हम इस मशीनको मैं मानते हैं,

मशीनको ही नहीं, मशीनके कवरको भी मैं मानते हैं और इतना ही नहीं, मशीनको ढोनेवाली गाड़ीको भी मैं मानते हैं—अज्ञान तो यहाँ तक बढ़ गया। अन्तःकरणरूप मशीनको, यन्त्रको मैं मानते हैं—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

जो इस यन्त्रपर बैठ गया वह भ्रमेगा अवश्य और बैठना क्या? चेतनका बैठना क्या? चेतन तो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, साक्षी है, पृथक् है, उसका बैठना क्या? मैं-मेरा यह अविवेकमूलक तादात्म्य, अज्ञानमूलक तादात्म्य कर लेना-यही बैठना है।

तो असलमें पुरुषमें भोग नहीं है, उसका भोक्तापन औपाधिक है। देखो, यहाँ यह बात स्पष्ट हो गयी कि भगवान् यहाँ सांख्यके सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि सांख्य मतमें तो पुरुष स्वयं भोक्ता है और यहाँ कह रहे हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

भोक्तृत्वे हेतुः। पुरुषः भोक्ता न भवति, भोक्तृत्वे हेतुर्भवति। प्रकृति कर्तृ न भवति, कर्तृत्वे हेतुर्भवति।

संसारका लक्षण क्या है, संसारकी पहचान क्या है? ***कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः संसारः*** हम ईंट पत्थरको संसार नहीं बोलते। अच्छा देखो, जब कोई कहे कि तुम्हें आत्माका ज्ञान हो जायेगा, तो तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे। तो उस अज्ञानी पुरुषने यह कल्पना की कि जब हमें आत्माका ज्ञान होगा तब न यह धरती रहेगी हमारे लिए, न पानी रहेगा, न आग रहेगी, न नरक रहेगा, न स्वर्ग रहेगा, न मर्त्यलोक रहेगा। अ-हा-हा! संसारसे हम मुक्त हो जायेंगे, तो हमारे सामने स्त्री-पुरुष, धन, मकान कुछ नहीं होगा, हम तो एकदम निहंग लाड़िले होंगे। बोले—नहीं, हम जो यह बताते हैं कि आत्मज्ञानसे संसारसे मुक्ति होती है, उसका आप सीधा अर्थ कर लो—संसार माने कर्तापन और भोक्तापनका अभिमान।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः संसारः।

यह जो आप अपनेको पापी समझकर रोते हैं और पुण्यात्मा समझकर खुश होते हैं और कभी आप अपनेको सुखी समझते हैं और कभी दुःखी

समझते हैं, यह जो दिनभरमें सत्रह रूप धारण करते हैं, बहुरूपिया बने डोल रहे हैं, इस घनचक्करका, नाम, इस भवचक्रका ही नाम संसार-चक्र है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः संसारः।

संसारकी पहचान क्या है? संसारका लक्षण क्या है? कर्तृत्व और भोक्र्तृत्व ही संसार है। अब यहाँ विवेक यह किया कि कर्तृत्वका हेतु तो है प्रकृति और भोक्तृत्वका हेतु है पुरुष और प्रकृति और पुरुषके अध्यास लक्षण सम्बन्धके कारण यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपने आपमें आ गया। इसी संसारसे मुक्त होना है। यह नहीं कि मुक्त होनेपर कर्म ही नहीं होंगे। ब्रह्मा सृष्टि करता हुआ भी मुक्त है। विष्णु पालन करता हुआ भी मुक्त है, रुद्र संहार करता हुआ भी मुक्त है। इन्द्र कभी-कभी स्वर्गका राज्य करता हुआ भी मुक्त होता है। और धर्मराज नरकका शासन करता हुआ भी मुक्त होता है। माने कोई-कोई मुक्त पुरुष आधिकारिक रूपमें, कारक पुरुषके रूपमें धर्मराज होते हैं और कोई इन्द्र होता है। ब्रह्मा भी दो तरहके होते हैं—कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी। तो जब ज्ञानी ब्रह्मा होता है, विष्णु होता है, रुद्र होता है, इन्द्र होता है, धर्मराज होता है, सूर्य होता है, तो ये सम्पूर्ण विश्व सृष्टिके कर्मका निर्वाह करते हुए भी मुक्त ही होते हैं। जब यह नीलिमा अज्ञात होती है तो यह सच्ची मालूम पड़ती है, इसमें रँग जायेंगे, यह कहीं है—उसमें 'है' बुद्धि होती है। नीलिमा अस्ति, नीलिमा भाति—ये दो प्रतीति हैं नीलिमामें। यदि नीलिमा अस्ति है, तो आकाशके अज्ञानसे है। अच्छा, नीलिमा भाति, परन्तु 'मत्तः' पृथक् भाति—मुझसे पृथक् भासती है-यह भी अज्ञान है जो वस्तु भातिमात्र होती है वह अपनेसे पृथक् नहीं होती है। जो वस्तु भातिमात्र होती है वह भासकसे पृथक् बिलकुल नहीं होती है। तो अपनेको न जानकर, प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके, शरीरके साथ होनेवाले कर्मको, अन्तः-करणसे होनेवाले कर्मको, अपना मानकर और उससे होनेवाले सुख-दुःखको अपना मानकर पुरुष भोक्ता होता है। अर्थात् पुरुष प्रकृतिस्थ होनेपर, अन्यस्थ होनेपर ही भोक्ता होता है, स्वरूपतः नहीं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

इसी कारण जो प्रकृतिजन्य गुण हैं उनसे पुरुष तादात्म्य कर लेता है। मोहाकार प्रकृति हुई, बोले—मैं मूढ हूँ; घोराकार प्रकृति हुई, बोले—मैं घोर

हूँ; शान्ताकार प्रकृति हुई, बोले—मैं शान्त हूँ। प्रकृति कभी घोर होती है कभी शान्त होती है। देखो, आँख कभी चढ़ जाती है तो क्या तुम चढ़ जाते हो? और आँख कभी शान्त हो जाती है तो क्या तुम शान्त हो जाते हो? यह तो आँखका काम है। इसी प्रकार अन्तःकरण भी ऊँचा-नीचा होता रहता है। आपने यह श्लोक तो गीताका कितनी बार देखा होगा—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ (१४.२२)

अब यह पुरुष प्रकृतिस्थ नहीं है। क्यों? कि प्रकाश माने अन्तःकरणका सात्त्विक परिणाम। प्रवृत्ति माने यह अन्तःकरणका राजस परिणाम और मोह माने अन्तःकरणका तमः-प्रधान परिणाम तो अन्तःकरण तामस-वृत्त्याकार परिणामको प्राप्त हुआ—निद्रा, आलस्य, प्रमाद आ गया; अथवा अन्तःकरण राजस वृत्त्याकार परिणामको प्राप्त हुआ—प्रवृत्तिमें लग गया—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (१४.१२)

अथवा अन्तःकरणका सात्त्विक परिणाम हुआ—प्रकाश हो गया; इसमें-से कोई रहे कोई न रहे, बोधवान् व्यक्ति न तो किसी परिणामसे द्वेष करता है और न राग करता है; वह प्रवृत्त हो जाय, तो द्वेष नहीं करता और इनकी निवृत्तिकी आकांक्षा भी नहीं करता।

अच्छा, आकाशमें कब तूफान आवे और कब शान्ति रहे, यह क्या तुम्हारे हाथमें हैं? कब गर्मी पड़े, कब सरदी पड़े, यह क्या तुम्हारे हाथमें है? ऐसे ही यह शरीर प्रकृतिके द्वारा संचालित है। जब तुम इसमें अपने स्वरूपको न जान करके प्रकृतिमें, केवल प्रत्ययमें, केवल प्रतीतिमें, जो एक अपनी चमक है, अपनी दमक है इधर-उधर करना चाहते हो तब तुम भोक्ता हो जाते हो। द्रष्टाकी दृष्टिका नाम प्रकृति है और द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान है। द्रष्टा स्वयं चमक रहा है, बस चमक अन्य मालूम पड़ रही है, द्रष्टाकी दमक अन्य मालूम पड़ रही है। यह विश्व प्रपंच क्या है? यह द्रष्टाकी दृष्टि है, द्रष्टाकी दमक है, द्रष्टाकी चमक है। लेकिन उसीको अपनेसे अन्य जानकरके अपने महत्त्वको, अपने स्वरूपको न जान करके प्रकृतिसे उत्पन्न

गुणोंका भोक्ता बन जाता है। **प्रकृतिजान्गुणान् भुङ्क्ते**। और जान जाये अपने आपको तो?

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।

अन्तःकरणमें चाहे शान्ति आवे, चाहे प्रवृत्ति आवे, चाहे मोह आवे, आनेसे द्वेष नहीं है और चले जायें तो उनको बुलानेकी इच्छा नहीं है कि हाय-हाय, यह प्रकाश क्यों चला गया! अरे भाई, जैसे आया, वैसे गया, तुमको क्या फिकर है? फिर आ जायेगा, नहीं भी आया तो क्या है? कहते हैं—हमने ये-ये काम किये, अब तो करनेकी कुछ प्रवृत्ति नहीं होती, हमने यह स्वर्ग-नरक देखा, यह देवताका दर्शन हुआ, अब नहीं दिखता। बहुतसे साधु लोग पछताते रहते हैं कि पहले तो हमको देवताओंके दर्शन हुआ करते थे। अब तो नहीं होते हैं। तो सात्त्विक वृत्तियाँ जो हैं, वेही तो अप्सरा होकर आती हैं।

श्रीशंकराचार्यने गीताके भाष्यमें एक स्थानपर लिखा है क़ि ये सात्त्विक वृत्तियाँ ही अप्सरा हैं। वहीं जब ठोस मालूम पड़ने लगती हैं तो मालूम पड़ती हैं मूर्तिमती, सत्य मालूम पड़ती हैं, और लोग कहते हैं कि हमको अप्सराकी उपलब्धि हो गयी। ये अपने कारणमें-से ही निकलती हैं। अप् माने कारण। अप्भिः सरन्ति—जो कारणभूत जलसे प्रकाशित होती हैं, वह अप्सरा। जैसे जलकी तरंग होती है, वैसी कारणात्मामें जो प्रकाशित होती हैं वह है अप्सरा। इनके लिए रोना नहीं। **भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्** जब प्रकृतिसे एक हो जाओगे तो शान्तसे, घोरसे, मूढ़से तादात्म्य करके रोवोगे।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

यह संसारका कारण क्या है? क्यों मनुष्य इसमें बँधा हुआ है? न प्रकृतिमें पुरुषको बाँधनेका सामर्थ्य है और न पुरुषमें प्रकृतिके साथ बन्धनकी योग्यता है। पुरुष ज्ञानमात्र होनेके कारण प्रकृतिके साथ बँध नहीं सकता और प्रकृति जड़ होनेके कारण, दृश्य होनेके कारण, परिवर्तनशील होनेके कारण, मिथ्या होनेके कारण, पुरुषको बाँध नहीं सकती। तब यह पुरुषके चित्तमें जो गुणसंग है उसीमें बँधा हुआ-सा रहता है। गुणसंग माने बस हमको तो यह दिखे, यही मिलना चाहिए। देखो, एक आदमीके मनमें हुआ कि हमको तो ऐसा ही वस्त्र पहनना है। तो ऐसा वस्त्र मिलेगा इतने

रुपयेमें, तब इतना रुपया कमाना है। फिर इतना रुपया कहाँ मिलेगा? बोले—इमानदारीसे तो नहीं मिलेगा, चोरी-बेईमानीसे मिलेगा, तब फिर चोरी-बेईमानीमें जाना, भाई चोरी-बेईमानी करोगे तो कभी-न-कभी पकड़े ही जाओगे, तो जेलमें जाना होगा! इस बन्धनका हेतु क्या हुआ? कि ऐसा ही कपड़ा पहनेंगे-यह आग्रह। जेलमें कैसे गये? जब मनुष्यके मनमें यह हो जाता है कि हम ऐसा ही भोग भोगें। रोटीकी कमी नहीं है। बोले—हम बाजरा नहीं खायेंगे, चावल ही खायेंगे, हम ज्वार नहीं खायेंगे, गेहूँ खायेंगे। यही तो रोटीकी कमी है न, और क्या कमी है? बोले—हम गाढ़ा नहीं पहनेंगे, नाइलॉन पहनेंगे। अरे, गाढ़ा आया, गाढ़ा पहन लिया, नाइलॉन आया, नाइलॉन पहन लिया। गेहूँ मिला, गेहूँ खा लिया, बाजरा मिला, बाजरा खा लिया। बोले—हम तो ऐसे ही पलंगपर सोवेंगे, यह बन्धन है।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य। ऐसे ही मकानमें रहेंगे, अरे भाई, कभी जैसे धर्मशालेमें जाकर रहते हैं, तो वहाँ कहाँ एयर कण्डीशन जाता है, वहाँ कहाँ पलंग जाता है—

जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिए।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य—बोले, ब्याह नहीं होता है। क्यों नहीं होता है? आपलोग अगर दो-दो, चार-चार लड़केकी बात जानते हों, तो हम हजार लड़के-लड़कीकी बात जानते हैं। क्यों नहीं होता है? माँ-बापको अपनी लड़की या अपने लड़केमें जो अयोग्यता है वह नहीं दिखती है, अपने अन्दर जो रोग है वह नहीं दिखता है, समधीके अन्दर जो रोग है वह दिख जायेगा। बोले—भाई, लड़केके बापको तो यह रोग है, तो लड़केमें भी होगा, हम कैसे उसको ब्याहें? तो बोले—तुम लड़कीके बाप हो, तुम्हारे अन्दर जो रोग है वह लड़कीको हो जाये तो? तो यह बात नहीं दिखेगी। स्वयं दस हजार रुपया घरमें हो, तो चाहेंगे कि दस लाख वालेके साथ ब्याह होवे। लड़की साँवरी होगी तो चाहेंगे कि गोरे लड़केसे ब्याह होवे। लड़की मूर्ख होगी, तो कहेंगे पढ़े-लिखे लड़केसे ब्याह होवे। तो यह क्या है? कि यह गुणोंमें आसक्ति है। ममतामें आसक्ति है

यह संसारमें बन्धनका हेतु कहाँ है? कि तत्त्व दृष्टिसे नहीं देखते हैं, एक खास आसक्तिपूर्ण दृष्टिसे देखते हैं। शरीरको अमुक प्रकारसे रखनेके

लिए असुविधा होती है, दुःख होता है। बोले—हमने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि हमारी आँखसे आँसू न गिरें। अब यह प्रकृतिके नियममें तो है नहीं, वे तो कभी-न-कभी गिरेंगे। अगर ईश्वरके लिए रो लो तो बहुत बढ़िया है, नहीं तो पतिसे लड़ाई करके रोना पड़ेगा, पुत्रसे लड़ाई करके रोना पड़ेगा, धन जानेपर रोना पड़ेगा। आँसू तो निकलेंगे। अब तुम कहते हो हमारा मन हमेशा ऐसा ही रहे, कभी इसमें गम न आवे। यह जो तुम्हारा आग्रह है, कि इसमें दुःख न आवे, यही दुःखका हेतु है। दुःख न आवे—यह आग्रह ही दुःखका हेतु है। आप गौर करके देखना।

डाक्टरने एक आदमीसे पूछा कि भाई, तुमको रातको नींद नहीं आती है, तो तुमको क्या फिक्र रहती है? तो बोले—यह फिकर रहती है कि नींद नहीं आ रही है। डाक्टरने कहा—अच्छा लो, हम दवा देते हैं, आज जरूर नींद आ जायेगी। लेकिन नींद फिर भी नहीं आयी। तो पूछा—अब आज क्या फिकर थी? तो बोला कि आज यह फिकर थी कि आपका बिल कहाँसे चुकावेंगे? माने जिनका चिन्ता करनेका स्वभाव हो जायेगा, वे एक चिन्ता छोड़ेंगे तो दूसरी करेंगे, दूसरी छोड़ेंगे तो तीसरी करेंगे। डाक्टरने कहा कि भला यह कोई चिन्ता करनेकी बात है? तुम इस चिन्ताको छोड़ दो, नींद आ जायेगी। लेकिन दूसरे दिन भी नींद नहीं आयी तो पूछा—आज क्या चिन्ता थी? बोले—आज यह चिन्ता थी कि इतनी मामूली-सी बात कि नींदकी चिन्ता मत करो, तो नींद आ जायेगी, हमारी समझमें पहले ही क्यों नहीं आ गयी? पहले हमने नींदकी चिन्ता क्यों नहीं छोड़ दी?

तो ये दुनियादार लोग दुःखी कैसे होते हैं? ये दुःख बुला-बुलाकर दुःखी होते हैं। आँखसे दुःखी नहीं हैं, हमारी आँख इस डिग्रीतक जाकर नहीं देख सकती, इसके लिए दुःखी हैं। कान तो है और कोई बात करे, तो सुनते हैं; पर दुःख यह है कि हमारे कान दुश्मनकी बात दीवारके भीतर जाकर क्यों नहीं सुनते? जब वे पति-पत्नी आपसमें हमारे बारेमें बात करते होते हैं, तब हमारे कान क्यों नहीं सुनते हैं? इस बातका दुःख है। असम्भव-असम्भव बातोंके लिए ये दुःखी होते हैं। एक धनीके पास अभी लाखों रुपये हैं, पर वे दुःखी हैं। क्यों दुःखी हैं? कि पहले करोड़ थे। अरे बाबा, रोटी मिलती है कपड़ा मिलता है, वे जो गये हुए करोड़ हैं उनके लिए तुम

लाखका मजा क्यों बिगाड़ते हो? तो वह करोड़में जो आसक्ति है न, वह दुःख दे रही है। हमारा मन ऐसा था, इसकी याद करके दुःखी होते हैं, ऐसा हो जाये, इसकी कल्पना करके दुःखी होते हैं। शरीरके बारेमें दुःखी होते हैं कि हाय-हाय हमारे बाल सफेद हो गये।

केशव केसनि अस करी जस अरिहुँ न कराय।

बाल पक गया और महाकवि केशव रोने लग गये कि हमारे सफेद बालोंने तो वह काम कर दिया जो दुश्मन भी नहीं करते। क्या नुकसान हुआ बाबा, आपका? बोले—

चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जायँ।

तो यह दुःख उनको है! अगर जिन्दगी भर बालको काला ही रखना चाहोगे तो दुःख होगा। अपनी स्त्रीको हमेशा अनुकूल ही रखना चाहोगे, कभी तुम्हारे खिलाफ वह कुछ बोले ही नहीं, तो दुःख होगा। अब उसके मुँहमें जुबान है और उसके मनमें अनुकूलता-प्रतिकूलताका भाव आता है, तो कभी अनुकूल बोलेगी, कभी प्रतिकूल बोलेगी, कभी कड़ा बोलेगी, कभी मीठा बोलेगी, यह तो बिलकुल स्वाभाविक है। जब हम संसारके किसी भावमें आग्रह कर लेते हैं, तब दुःख होता है।

एक हमारे पण्डितजी थे। ऐसा विलक्षण स्वभाव था उनका कि दूध लेकर जाओ उनके पास, तो पूछेंगे कि किसने गर्म किया है? यदि कह दें कि हमने ही गर्म किया है, तो बोलते-मूर्ख!तूने क्यों गर्म किया? दादाने क्यों नहीं गर्म किया? अब गर्म हो गये वे। माने अमुक हाथ चाहिए गर्म करनेके लिए। अच्छा, गर्म करके आया, हाथमें लिया, बोले—इतना गर्म? चार बातें सुना दीं। बोले-ठंडा करो। ठंडा किया तो बोले—एकदम ठंडा कर दिया, फिर गर्म करके लाओ!

तो यह संसारमें दुःख किस बातका है? हमारे लिए ऐसा ही दृश्य देखनेको मिले, ऐसा ही शब्द सुननेको मिले। यहाँ दुर्गन्ध कहाँसे आगयी? सिर पीट रहे हैं भला। ऐसा स्वाद आवे। राम-राम-राम! आज तो मुँहका जायका ही बिगड़ गया। क्यों बिगड़ गया? कि यह आदमी सेबेरे-सबेरे हमारे सामने आगया। तो इसीको बोलते हैं— **गुणसङ्ग**। दुनियामें यह चीज बहुत अच्छी होती है और चूँकि मैं ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हूँ संसारमें, इसलिए

दुनियाकी सब अच्छी-अच्छी चीजें हमको ही मिलनी चाहिए। कपड़ेके लिए दु:खी नहीं होते, ऐसा कपड़ा मिले, इसके लिए दु:खी होते हैं। साड़ीके लिए दु:ख थोड़े ही है। साड़ी तो घरमें है, परन्तु ऐसी साड़ी क्यों नहीं है-इसका दु:ख है। खाना तो घरमें है, परन्तु ऐसा खाना क्यों नहीं है? मकान तो है, परन्तु ऐसा मकान क्यों नहीं है? केवल जीवन-निर्वाहके उपयोगी पदार्थमें सन्तोष नहीं है। किसी अप्राप्त वस्तुमें गुणकी भ्रान्ति हो जानेके कारण उसके लिए दु:खी हो रहे हैं। तो अब यह ऐसा ही रहे हमारा शरीर! दोनों तरहसे दु:ख होता है—बुरा मानकर भी दु:ख होता है और अच्छा मानकर भी दु:ख होता है। अच्छा मानकर दु:ख क्यों होता है? बोले—यह छूट न जाये। और बुरा मानकर दु:ख क्यों होता है कि यह प्राप्त न हो जाये। तो यह जो कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व है, यह गुण-सङ्ग है। यह इन्द्रिय हमारी बनी रहे! हमारी आँख कमजोर नहीं होनी चाहिए। क्यों नहीं होनी चाहिए? जब प्रकृतिसे बनी तो तुम्हारी आँख क्यों न कमजोर हो? बोले—हमारी स्मृति-शक्ति कमजोर नहीं होनी चाहिए। अरे, जब शरीर बुड्ढा होगा! बाबा तो स्मृति-शक्ति भी कमजोर हो जायेगी।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशाः दंता जीर्यन्ति जीर्यतः।

बुड्ढे हो जाओगे तो दाँत कमजोर हो जायेंगे, बाल कमजोर हो जायेंगे, आँख कमजोर हो जायेगी, ये हमेशा ऐसे ही कैसे बने रहेंगे?

बोले—हमारा अन्तःकरण ऐसा बना रहे। आप देखो, विषयी लोग चाहते हैं कि हमारा विषय ऐसा बना रहे। यह संग्रही लोगोंका मोह है। अर्थमें जो महत्त्वबुद्धि है, इस कारणसे हमारे पास इतना संग्रह, हमारे आसपास ऐसा होना चाहिए।

अच्छा भोगी लोगोंका क्या सिद्धान्त है? कि वस्तुएँ चाहे वही रहें, चाहे चली जायें, लेकिन हमारी इन्द्रियोंको भोग मिलना चाहिए।

उपासक लोगोंका क्या आग्रह है? कि हमारे मनमें इष्टाकार वृत्ति होनी चाहिए। अब वह जब नींद आ जाती है, सो जाते हैं, ऊँघ आ जाती है, तो बेचारे रोते हैं। योगी लोगोंका क्या आग्रह है कि हमारे मनमें हमेशा शान्ति, समाधि होनी चाहिए। और काम करनेवालोंका क्या आग्रह है कि हम

अट्ठारह घण्टे काममें लगे रहें, वैसे अगर साँस शक्ति काम नहीं देती है तो आक्सीजन रखो सामने, लेकिन काम करते रहो! फिर भी तो उनको सोना पड़ेगा और रोना पड़ेगा। तो जो लोग वृत्तिको शान्त ही रखनेका आग्रह करते हैं, वे लोग भी दुःखी। जो इष्टाकार ही रखनेका आग्रह करते हैं, वे भी दुःखी, जो भोगाकार रखनेका आग्रह करते हैं, वे भी दुःखी, जो इन्द्रियोंकी शक्ति बनाये रखना चाहते हैं, वे भी दुःखी। जो शरीरको एकरस जरा रोगसे विनिर्मुक्त ही रखना चाहते हैं वे भी दुःखी और जो लोग संसारके विषयोंको, स्त्रीको, पुरुषको, महलको, धनको, बनाये रखना चाहते हैं, वे भी दुःखी।

इसमें सुखी कौन है? कि जिसने प्रकृतिको छोड़ दिया, छुट्टा-छड़िंगा, जो हो-सो- हो! सिनेमाके पर्देपर जो दृश्य आवे, हम तो उसका मजा ही लेंगे। रोना होगा रो लेंगे, हँसना होगा हँस लेंगे, तारीफ करनी होगी, तारीफ कर लेंगे, आलोचना करनी होगी आलोचना भी कर लेंगे, लेकिन तमाशा देखकर आये हैं भला! यह सुख कभी छूटनेवाला नहीं है।

कारणं गुणोसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु।

जब गुणासक्ति हो जाती है, तब सद्‌सत् योनियोमें जन्म होता है। देखो, शान्ताकार वृत्ति, घोराकार वृत्ति और मोहाकार वृत्ति—यह हुआ त्रिगुण और उसमें फिर अमुक वृत्ति बनी रहे या अमुक निश्चय बना रहे—यह हुई गुणासक्ति। अरे, तुम्हारा अस्तित्व क्या तुम्हारी बुद्धि-वृत्तिके निश्चयपर आलम्बित है? यह निश्चय जब नहीं हुआ था तब भी तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-आत्मा ब्रह्म थे और यह निश्चय नहीं रहेगा तब भी ब्रह्म रहोगे। सुषुप्तिमें निश्चयका लोप हो जाता है, तो क्या तुम ब्रह्म नहीं रहते हो? तो निश्चयके चक्करमें क्यों पड़े हो? बोले—हमारी यह प्रीति बनी रहे, तो वाह-वाह! हम भगतराज रहेंगे। अब वह प्रीति तो सुषुप्तिमें चली जाती है, दिनभरमें दस ओर झाँक आती है। कभी-कभी चिट्ठी आती है कि 'स्वामीजी, महाराज, हम चौबीसों घण्टे आपकी याद करते रहते हैं।' अब हम समझते हैं इस बातको कि चौबीस घण्टेमें चौबीस सेकेंड लगातार एकबार उसको याद नहीं रही होगी और चौबीस घण्टेमें चौबीस मिनट भी उसने हमारी याद नहीं की होगी, लेकिन वह चिट्ठीमें लिखता है कि हम चौबीसों घण्टे आपकी याद करते रहते हैं। ये भगतराज जो कहते हैं कि हम चौबीसों घण्टे भगवान्‌की

याद करते हैं, वे कभी गौरसे देखें तो छह घण्टे तो उनके नींदके ही चले जायेंगे जिसमें भगवान्‌की याद नहीं थी। उनके शौचके, उनके स्नानके, उनके व्यापारके, उनके खानेके घंटे अलग। जब पत्नीसे लड़ गये थे तब भी भगवान्‌की याद नहीं थी, जब बच्चेको डाँट रहे थे, तब भी भगवान्‌की याद नहीं थी। अरे भाई, जो सत्य है, जो यथार्थता है, उसको स्वीकार करना चाहिए। यह प्रकृतिका स्वभाव ही है कि वह कभी शान्त होती है, कभी विक्षिप्त होती है, कभी मूढ़ होती है; कभी उसमें स्मृति होती है,कभी विस्मृति होती है; कभी ज्ञान होता है, कभी अज्ञान होता है; कभी निश्चय होता है, कभी अनिश्चय होता है। जो प्रतीतिको नियन्त्रित करके रखना चाहता है, असलमें वही अज्ञानी है। प्रतीति कभी नियन्त्रित नहीं होती, प्रतीतिका नियन्त्रण भी प्रातीतिक होता है और प्रतीतिका नियन्ता भी प्रातीतिक होता है। जब प्रतीति सत्य ही नहीं हैं तो उसका क्या नियन्त्रण और उसका क्या नियन्ता? और नियन्ता और नियन्त्रण दोनों प्रतीतिमात्र हैं कि नहीं है? जब नियन्ता और नियन्त्रण दोनों प्रतीतिमात्र हैं तब उसके लिए आग्रह करके बैठना अज्ञान ही तो है। परिणाम? **सदसद्योनिजन्मसु**।

कभी तुमने गीधको अच्छा समझा था तब गीध हुए हो, क्योंकि जब देखा कि गीधको मांस खानेकी छूट है तो तुम्हारे मनमें कभी आया था कि हम भी गीध होते तो छुट्टा मांस खाते। तुमने कभी साँपको डँसते देखा तो मनमें आया कि हम भी साँप होते, तो अपने दुश्मनको डँस लेते— **सदसद्योनिजन्मसु** यह जो तुमको सर्पका आकार प्राप्त हुआ, गृद्धका आकार प्राप्त हुआ, कभी-न-कभी गुणबुद्धि जरूर उसमें हुई है। तुम चाहते हो कि टपसे किसीको डंक मार दें, शब्दका जहर किसीके कानमें घुसेड़ना चाहते हो, तो बिच्छू हो गये न! मनुष्य रहते ही बिच्छू हो गये। तो अब यदि तुम्हें बिच्छूकी योनि प्राप्त हो तो आश्चर्य क्या? तो अच्छी योनियोंमें, देवादि योनियोंमें और बुरी योनियोंमें, पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें और सद्-असत् अर्थात् मनुष्य योनिमें जन्म होनेका कारण क्या है? तद्-तद् विषयोंके प्रति आसक्ति। असलमें पुरुष सद् योनिमें या असद् योनिमें जानेवाली चीज नहीं है। किसी योनिमें आबद्ध हो जाये, यह किसी भी योनिका सामर्थ्य नहीं है—न पशुयोनिका, न पक्षी योनिका, न मनुष्य योनिका। । और पुरुष इतना

नन्हा-मुन्ना भी नहीं है कि वह चाहे जिस योनिमें समा जाये। लेकिन यह जो आसक्ति है, यह उसे वहाँ ले जाती है।

एक शहरमें रहनेवाला सभ्य पुरुष, पढ़ा-लिखा, एक बार देखा गया कि वह आदिवासियोंके घरके चारों ओर मँडरा रहा है। यह शहरमें रहनेवाला और अच्छी तरहसे जीवनयापन करनेवाला पढ़ा-लिखा सभ्य पुरुष, ये ऐसी जगह क्यों पहुँच गया? बोले—आदिवासीकी एक लड़कीसे इनकी आसक्ति हो गयी है। इसलिए उसको देखनेके लिए वहाँ घूम रहे हैं। तो ये आत्मदेव भी जहाँ-जहाँ आसक्ति होती है वहाँ-वहाँ मँडराते हैं न वहाँ मँडराने लायक ये हैं और न वह आदिवासीकी झोपड़ी इनको अपने अन्दर पचा सकती है। लेकिन आसक्ति भी तो विचित्र है, किसको कहाँ ले जाती है! तो, बुरी योनियोंमें ले जानेवाली यह आसक्ति ही है।

आत्मदेव कैसे हैं? अरे, इनकी मत पूछो। ये तो महेश्वर हैं, जैसा चाहें वैसा बन जायें। ये तो परमात्मा हैं। असलमें उपाधिसे संस्पृष्ट होना—यह जीवका लक्षण है और उपाधिसे संस्पृष्ट न होना—यह ईश्वरका लक्षण है। यह देह अन्तःकरणादि ही उपाधि हैं। देखो, हमारे यहाँ अंग्रेज थे, वे किसीको रायबहादुरकी उपाधि दे देते, राजा भी बनाते थे और रायसाहब, खान साहब उपाधि दे देते थे। अब वे गये और वहाँसे अपना पट्टा ले आये और बाँध लिया, जैसे बैलको बाँधते हैं। अब वे राजा हो गये, रायबहादुर हो गये, सर हो गये। पण्डितोंमें महामहोपाध्याय होते थे। अब उसके बाद अंग्रेज सरकार कहती थी कि देखो, हमने तुम्हारा इतना सम्मान किया है, यह दुपट्टा तुमको दिया है और यह साफा तुमको दिया है, यह ओहदा तुमको दिया है, अब तुम हमारे खैरख्वाह रहो, नहीं तो छीन लेंगे तुम्हारी उपाधि और जेलमें डाल देंगे। अब महाराज, वह उपाधि हमारे साथ लगी रहे! कहीं हमारी राय बहादुरी छिन न जाये! इसके लिए अंग्रेजके पिट्ठू हो गये। तो आत्मदेवको भी उपाधि दे दी—मैं ब्राह्मण हूँ-यह उपाधि है, बिलकुल वेदने कहा कि इससे रोज होम करवाओ, इसको अग्निहोत्री बनाओ। बोले—ऐसे तो यह अग्निहोत्री नहीं बनेगा, इसको ब्राह्मणका खिताब दे दो। ब्राह्मणका खिताब है—ऐसे ही वेदमें लिखा है—*तस्य दामानि नामानि च।* नाम रख दिया।

बोले-अब इनको जरा गंगाजीके किनारे घुमाओ, विरक्त बनाकरके इनसे थोड़ा भीख मँगवाओ, लोगोंको यह बतावें कि धनी होनेमें ही सुख नहीं है, बिना धनके भी सुख है, भोगी होनेमें ही सुख नहीं है, बिना भोगके भी सुख है। यह बाबाजी जरा बतावें तो सही। तो बोले-तुम्हारा नाम तो आश्रमियोंमें शिरोमणि संन्यासी है। अच्छा, मेरा नाम संन्यासी है? कि हाँ। तो संन्यासीको कैसे रहना चाहिए? कि ऐसे रहना चाहिए। राजा साहब अगर लाट साहबके पास आवें, तो कैसे सलाम करें, कितनी डिग्री झुक करके सलाम करना पड़ेगा।

तो यह जो उपाधिके साथ संस्पृष्ट हो जाना है, यही गुलाम होना है। यही जीव होना है। देहके साथ मिल गये, इन्द्रियके साथ मिल गये, अन्त:करणके साथ मिल गये, एक कल्पित नाम रख लिया अपना, संन्यासी बन गये, अवधूत बन गये, सिपाही बन गये, यही सब उपाधि हैं। और, उपाधिसे जो संस्पृष्ट न होवे, वह ईश्वर है। ईश्वर उपाधिकी बंशीसे जीवात्माको फँसाता है। उपाधिसे जो संस्पृष्ट न होवे, उसका क्या होगा? बोले—

उपाध्यायसंस्पृष्टत्वं ईश्वरत्वं।

हमारे जगद्गुरु शंकराचार्य थे, वे खुद तो लिखते नहीं थे, पर उनके पास जो आवे उसीसे चिट्ठी लिखवा देते थे, पर लिखनेके बाद खुद हस्ताक्षर भी नहीं करते थे, कहते थे—तुम्हीं हस्ताक्षर करो; और नीचे लिखवाते थे— 'प्राइवेट सेक्रेटरी।' जो चिट्ठी लिखे वही प्राइवेट सेक्रेटरी। अब वह आदमी समझता था कि हम शंकराचार्यके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। क्या पूछना है! तो ये सेक्रेटरी बने और चिट्ठी लिखनेका काम सिर पड़ा। इसीको उपाधि— संसृष्ट बोलते हैं। जो उपाधिके चक्करमें पड़ा, उसको महाराज सदसद् योनिमें जन्म लेना पड़ेगा। नहीं तो इसका स्वभाव क्या है? कि—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।

अरे, यह तो परमात्मा है। कैसे हैं? कि उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है। यह बात आपको क्रमसे सुनावेंगे।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

पुरुष माने आत्मा। अपने अदृश्य, अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण, शुद्ध चिन्मात्रस्वरूपको न जान करके देहस्थ हो जाता है, अपनेको देहस्थ जानने, मानने लगता है कि मैं यह देह ही हूँ तब '**भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**', तब प्रकृतिजन्य जो गुण हैं, माने अन्तःकरणका शोकरूप परिणाम, मोहरूप परिणाम, राग-द्वेषरूप परिणाम और शान्तिरूप परिणाम—इनका भोक्ता बन जाता है। यह प्रकृतिस्थ माने देहस्थ होकर ही भोक्ता बनता है। यह देह ही प्रकृति है। बोले—भाई यह देखनेमें आता है कि अज्ञानी हो, चाहे ज्ञानी, रहता तो शरीरमें ही है। यहाँ ज्ञानी भी शरीरमें ही है, अज्ञानी भी शरीरमें है। यह बात तो बिलकुल पक्की है, तो दोनों ही भोक्ता हुए। कि नहीं, दोनों भोक्ता नहीं हुए। आखिर ज्ञानी भी तो मुँहसे ही खाता है, पाँवसे ही चलता है, हाथसे ही करता है, आँखसे ही देखता है। अरे ठीक है, यह सब तो ठीक है, लेकिन वह श्लोक आपको भूल गया क्या—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रनश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५.८-९)

यह कोई दूसरे ग्रन्थका श्लोक नहीं है। गीताका ही है। हमने गाँवमें देखा था बचपनमें—एक आदमीके शरीरपर कोई भूत-प्रेत, पिशाच, कोई यक्ष, कोई चुड़ैल आती थी। आवेश होता था। तो उसको मारते थे। तो वह जो भूत-प्रेत-पिशाच था वह चिल्लाता था कि हमको मत मारो, हमको चोट लगती है। कि अच्छा फिर कभी मत आना इस शरीरपर, तब छोड़ेंगे। तो जबतक वह यक्ष, वह जिन्द, देहके साथ तादात्म्यापन्न है, तबतक सारी चोट उसपर लगती थी—लाल लोहेसे दागते थे, मिर्च आगमें डालते थे और वह चिल्लाता था हाय-हाय मैं मर गया। बोले अब कभी मत आना। उससे वादा

करवाते थे, तब छोड़ते थे, और जिसका शरीर था न, उसको खबर नहीं होती थी। वह जब होशमें आता तो बोलता-भाई, हमको तो मालूम नहीं क्या हुआ। यह दाग हमारे शरीरपर कैसे हैं?

तो ये आत्मदेव जबतक शरीरके साथ तादात्म्य करके बैठे हैं, तबतक इसका घर, अपना घर, शरीरका हड्डी-मांस, अपना हड्डी-मांस, शरीरके रिश्तेदार नातेदार अपने रिश्तेदार नातेदार; और जहाँ शरीरके साथ तादात्म्य टूटा तो? *अविद्वान् इव विद्वानपि*-मूर्खके समान विद्वान् भी इस शरीरमें ही रहता है। तब दोनोंमें फर्क क्या है? मूर्ख इस शरीरको ही मैं और मेरा मान करके इसमें फँसा रहता है। और तत्त्वज्ञानीको यह भ्रम नहीं होता कि यह शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है। तो-

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

प्रश्न यह है कि जब एक ही शरीरमें एक ही आत्मा है तो जैसे ज्ञानी मुक्त हो जाता है वैसे मूर्ख क्यों नहीं मुक्त हो जाता? या जैसे मूर्ख बद्ध हो जाता है, वैसे ज्ञानी भी क्यों बद्ध नहीं हो जाता? बोले—देखो, शरीरमें रहना मात्र बन्धनका हेतु नहीं है, किन्तु आविद्यक जो आसक्ति है वह बन्धनका हेतु है। अपने आपको जाना नहीं। स्वयं प्रकाश कभी प्रकाशित किया नहीं जाता; लेकिन प्रकाशित किये बिना रहता नहीं। और, अनन्त कभी प्रकाशका विषय होता नहीं। इसलिए ज्ञानस्वरूप और अनन्त आत्मामें अपने आप ही अज्ञातता भी भासने लग जाती है, अज्ञातता भी भानमात्र ही है। अपने स्वरूपके ज्ञानसे उसको उड़ा दो—

असंगस्य ससंगेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनो नात्मना योगो वास्तवे नोपपद्यते॥

असंग जो संगाभावका अधिष्ठान है, उसका संगसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जो विकाराभावका अधिष्ठान है, निर्विकार वस्तु, कूटस्थ, उसका सविकारसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जो आत्मा है, उसका अनात्मासे कोई संयोग नहीं हो सकता। यह केवल अज्ञानमूलक अवास्तविक है और यह गुणसंगके कारण है।

गुणसंग माने वही जो कल आपको जरा हल्का-फुल्का करके सुनाया था। वह किसी चीजकी कमी नहीं है। चावल न मिलता हो इसलिए दुःखी

नहीं है, महीन चावल नहीं मिलता है, इसके लिए दुःखी है। अन्न नहीं मिलता-इसलिए दुःखी नहीं है, गेहूँ नहीं मिलता इसलिए दुःखी है। जीवन निर्वाहका काम तो सब चल ही सकता है, तो गुणसंग है। यह चीज बहुत बढ़िया होती है, यह जो आसक्ति है, ऐसे मकानमें रहना, ऐसे लोगोंके साथ रहना, ऐसा कपड़ा पहनना, ऐसा खाना खाना, हमारे शरीरमें यह चिकनाई रहना, हमारी इन्द्रियोंमें यह ज्योति-चमक रहना, और फिर बोले—हमारे मनमें यह विषय रहना इसकी याद रहना, हमारे मनमें यह शान्ति रहना यह जब कोई आग्रह कर लेते हैं, तब गुणसंग हो जाता है। शान्ति रहे यह आसक्ति भी सत्त्वासक्ति है। समाधि रहे—यह भी सत्त्वासक्ति है। और मोहब्बत बनी रहे—यह राजसासक्ति है। भाँग पीकर, शराब पीकर पड़े हैं। यह तामसासक्ति है। यह जो अपनी बुद्धिको निर्बल बना करके संसारके दुःखसे बचानेवाली चीजें हैं, ये तामस हैं। बुद्धिमें मोह उत्पन्न करके, जैसे अफीम खाकर पीड़ाका निवारण—यह तामस है। भाँग-पीकर मस्ती—यह तामस है। गाँजा पीकर मस्ती—यह तामस है। किसीकी मोहब्बतमें मतवाला हो जाना राजस है। और समाधिमें हो जाना, बोले—सात्त्विक है। लेकिन किसी भी चीजको अगर बनाये रखनेकी कोशिश करोगे, तो न समाधि हमेशा रहेगी, न मोहब्बत हमेशा रहेगी, न नशा हमेशा रहेगा। नशा माने तो नाश ही है न, ***नश्यति अनया इति नशा***। जहर खायेंगे तो शरीरका नाश होगा और नशा खायेंगे तो बुद्धिका नाश होगा। तो—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

इस पुरुषका **'सदसद् योनिजन्मसु किं कारणम्'**? विद्वान्, अविद्वान् दोनों देहमें रहते हैं, तो क्यों विद्वान्का पुनर्जन्म नहीं होता और अविद्वान्का पुनर्जन्म होता है? बोले—भाई, विद्वान् पुरुष जानता है कि रात आती है और फिर दिन आता है—न रातमें आसक्ति है, न दिनमें। चोरकी आसक्ति रातमें है और अभिसारिकाकी आसक्ति रातमें है। उल्लूकी आसक्ति कहाँ है? अब यह कालके समान अवयवमें, अवयव विशेषमें जो आसक्ति है वह पूर्णताके अज्ञानके कारण है। स्थानमें आसक्ति है। कई लोग ऐसे होते हैं कि उस जगहपर न सोवें, तो नींद नहीं आती है, उनके मकानमें ही अगर दूसरे स्थानपर सोनेको कह दो, तो नींद नहीं आवेगी। तो यह आसक्ति असलमें

दु:खदायी है। बोले-दुकानमें नोट आया, बस यही नोट हमारे पास रहे। सम्पत्तिके रूपमें सोना ही रहे। यह आसक्ति दु:खद है। अब उसीके साथ जब चिपक जाते हैं तब वह जहाँ-जहाँ जाना चाहोगे तो मांस खाना चाहोगे गीध या शेर होना पड़ेगा। घास चरना चाहोगे तो भैंस या बैल होना पड़ेगा। अप्सराका भोग चाहोगे तो देवता होना पड़ेगा। मार-काटका मजा लेना चाहोगे तो दानव होना पड़ेगा। तो सद्-असद् योनियोंमें जन्मका हेतु क्या है? गुणसंग।

वस्तुत: आत्मामें जन्म और मरण नहीं है। अच्छा, गमनागमन भी नहीं है। जन्ममृत्यु माने काल-परिच्छेद नहीं है। गमनागमन माने देशपरिच्छेद भी नहीं है। और वस्तुपरिच्छेद-यह मैं तू भी नहीं है आत्माके वास्तविक स्वरूपमें। अरे, देहमें है तो क्या? लो देहका स्वभाव आपको बतावें।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष: पर:।
अस्मिन् देहे वर्तमानोऽपि पुरुष: परो भवति।

इस देहमें रहकर यह पुरुष—यह आत्मा इस देहसे परे हैं। माने हम दो प्रकारसे इस श्लोकका अर्थ आपको बताना चाहते हैं। तो पहले ध्यानमें ले लो—**अस्मिन् देहे वर्तमान: पर: शुद्ध: पुरुष:** आत्मा, निरुपाधि आत्मा। पर: माने निरुपाधि—इस देहमें रहनेवाला जो निरुपाधि शुद्ध आत्मा है, **स एव परमात्मा इति चाप्युक्त:**। उसीको उपनिषदोंमें परमात्मा कहा गया है। ***तत्त्वमसि। अहं ब्रह्मास्मि। अयमात्मा ब्रह्म।*** उसीको कहा गया है। ***आत्मैव ब्रह्म। ब्रह्मैवात्मा।*** ऐसे श्रुति बोलती है। आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही आत्मा है। **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।** ब्रह्म ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। पहलेसे ही ब्रह्म था। एक तो यह बात हुई कि *पर: अस्मिन् देहे एव। य: पर: पुरुष: स परमात्मा इति चापि उक्त:।* और *अस्मिन् देहे वर्तमान एव पुरुष: पर: देहात् परो भवति*। एक विवेककी दृष्टि है और एक ज्ञानकी दृष्टि है।

विवेककी दृष्टि क्या है? पहले उसीको लो। **अस्मिन् देहे वर्तमान पुरुष: देहो न भवति। देहात् परो भवति**—इस देहमें रहता हुआ पुरुष देह नहीं है, देहसे परे है। देह माने ढेर। संस्कृत भाषामें देह माने ढेर—***दिह् उपचये***-भानुमतीका कुनबा। जैसे कचरेकी पेटी होवे न, घरमें टोकरी रखते हैं, डस्टबिन, कि घरका कूड़ा-कचरा उसमें डाल दिया। वैसे ही यह चामकी थैली है, यह क्या है? कि दुनियाका सब कूड़ा-कचरा उठाकर

इसमें डाला हुआ है। यह चामकी थैली है, इसमें क्या-क्या है, अब क्या-क्या आपको गिनावें? अब आप तो शीशेके सामने अपनेको देखते हैं, क्या चमक-दमक है। अरे, फोटो खिंचवानेमें क्या मजा आता है! लोग कहते हैं कि हमारे जैसा सुन्दर कोई नहीं है। इसमें स्त्री-पुरुषकी बात नहीं है। हमने देखा कि जिसके शरीरका रंग काला है, वह बताता है कि हमारी आँखें जरा देखो, कितनी अच्छी हैं, जरा हमारे होंठकी बनावट देखो, हमारी नाक कितनी अच्छी है, हमारा गला कैसा सुराहीदार है, मुँह भले ही टेढ़ा हो। लेकिन वह अपना सुराहीदार गला जरूर बतावेगा। तो अपनेमें सौन्दर्य मालूम पड़ता है। तो क्यों मालूम पड़ता है? असलमें शरीरमें सौन्दर्य नहीं है, परम सुन्दर तो आत्मा है, परम प्रेमास्पद जो आत्मा है, सबसे ज्यादा प्यार हमारा जिससे है, जिस अपने-आपसे है, उसीको जब इस शरीरमें बैठा देते हैं, तो यह तादात्म्याध्याससे आत्माको शरीर बना देनेके कारण हम आत्माका सौन्दर्य-माधुर्य शरीरमें देखने लगते हैं।

अच्छा, एक बात आपको सुना देते हैं: दुनियामें जितनी अपवित्रता होती है, वह इसी शरीरमें-से निकलती है। हड्डी बाहर गिर जाये तो छूकर हाथ धोओ, खून बाहर निकले तो छूकर हाथ धोओ, पीब निकले तो हाथ धोओ, चाम निकले तो हाथ धोओ. दाँत निकले,बाल निकले, थूक निकले, कीचड़ निकले, खोंट निकले, बलगम निकले, विष्ठा निकले, मूत्र निकले, पसीना निकले तो साबुन लगाओ, बाल निकले तो काटकर फेंको और नहाओ। एक बात और है: जो चीज शरीरमें-से निकली हुई नहीं है, किसी भी प्राणीके शरीरसे निकली हुई नहीं है या उससे छू नहीं गयी है, वह अपवित्र नहीं होती, गन्दी हो सकती है। गन्दी होना दूसरी चीज है, पानीका गँदला होना दूसरी चीज है और उसका अपवित्र होना दूसरी चीज है। तो सम्पूर्ण अपवित्रताओंकी खान यही झरना है। मूत्रका झरना। शौचका झरना। थूँकका झरना। इसी देहको मैं मानना माने अपनेको गंदगीका खजाना मानना।

योगदर्शनमें आया है—जरा पवित्र रहनेकी आदत डालो, इनमें-से कुछ भी छू जाये, तो हाथ धो लो। हड्डी-मांसादि कुछ भी गंदी चीज छू जाये, तो हाथ धो लो। नाकमें उँगली डालो, तो हाथ धा लो। पवित्रताका थोड़ा

ख्याल बढ़ाओ, अपने दिलमें। तो योगदर्शनमें लिखा है, इसका फल क्या होगा? इसका फल होगा—*शौचात् स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः* (योग० २.४०) अपने ही शरीरके प्रति निन्दा बुद्धि हो जायेगी। हाय रे, सबसे बड़ा अछूत अगर दुनियामें कहीं है तो यह शरीर है। सबसे बड़ा पवित्र सृष्टिमें वही है जो कभी शरीरका स्पर्श नहीं करता। अपने शरीरका स्पर्श नहीं करता सो नहीं, जो अपनेको इस चामकी पोटलीके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही असलमें पवित्र है। इसीका नाम विवेक है। इसीसे *परैरसंसर्गः* अर्थ यह लगाते हैं-कि हम दूसरेको नहीं छूते। तो एकने कहा—क्या दूसरोंको तुम इतना अपवित्र समझते हो कि दूसरोंको नहीं छूते? बोले—न, न, हम अपने शरीरको इतना अपवित्र समझते हैं कि दूसरेके छूने योग्य यह है ही नहीं, रूपका अर्थ ही बदल गया। *परैरसंसर्गः*—कहा दूसरेको नहीं छूते हैं, क्योंकि हड्डीसे क्या छुयें, मांससे क्या छुयें, जीभसे क्या छुयें? यह शरीर किसी दूसरेको छूने लायक नहीं है!

तो दूसरा अर्थ निकाला इसका। *परैरसंसर्गः अन्यैः असंसर्गः*—ये जो हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्र हैं—ये अन्य हैं। *'अन्यैः स्वाङ्ग भूतैरपि'* भले अपने शरीर हैं तो क्या हैं? अन्य हैं, इनके साथ ससंर्ग मत जोड़ो।

यह संसर्गाध्यास बड़ा ही बुरा है। शरीरमें दोनों प्रकार अध्यास है—अर्थाध्यास भी है और ज्ञानाध्यास भी है। यह शरीर ही मैं हूँ—यह तो अर्थाध्यास है और यह मेरा है यह संसर्गाध्यास है।

तो इसी शरीरमें तुम्हारा 'मैं' क्या है? कि उज्ज्वल चमचम चमकता हुआ ज्ञानस्वरूप, अपनेको क्यों चामकी पिटारी समझते हो?

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः। इसीमें जो पुरुष है, चैतन्य है, वह परे है। पूर्णत्वात् पुरुषः—पूर्ण होनेके कारण पुरुषको पुरुष कहते हैं।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।

इस नवद्वारवाले शरीरमें यह पुरुष न कर्ता है, न करवाता है। इसीलिए तत्त्ववित् पुरुष इस शरीरमें रहकर भी अपनेको कैसा मानता है? **नैव किंचित् करोमीति। पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्** ज्ञान स्वरूप है। वह आँखकी पुतली नहीं है, वह कानका छेद नहीं है, वह चाम नहीं है। वह नाक नहीं है। सब कुछ करता हुआ भी सबसे न्यारा है—**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**।

दिह् उपचये—यह देह ढेर है। तो बोले कि 'यह देह' कहनेसे ही आत्मा इससे पृथक् है, यह बात सिद्ध हो जाती है। यह संस्कृत भाषाकी विलक्षणता है। वे कहते हैं कि यह तो ढेर है। तो जो चीज कई चीजोंसे मिलाकर बनती है, वह चीज खुद उसी चीजके लिए नहीं होती, वह किसी दूसरेके लिए होती है। ***संघातस्य परार्थत्वात्।***

संघात माने कई चीजके मेलसे बनी। जैसे एक दवा बनाओ आप, तो दवा दवाके लिए नहीं होगी, मनुष्यके लिए होगी। अच्छा, मोटर बनाओ, कई-कल पुर्जेसे, तो मोटर मोटरके लिए नहीं होगी, मनुष्यके लिए होगी। तो यह यंत्र है शरीर। ये हाथ, ये पाँव, यह नाक, ये आँख; ये तो अलग-अलग हैं, तो यह संघात है, ***संघातस्य परार्थत्वात्।*** किसी एक सवारी गाँठनेवालेके लिए यह मशीन, यह यंत्र, यह मोटर बनी हुई है। यह अपने लिए नहीं है। तो हमको याद आ गयी, आजकल लोग बोलते हैं—'कला कलाके लिए'। जैसे एक कविता लिखते हैं तो कहते हैं कि कविता कविताके लिए लिखते हैं। बढ़िया-सी कविता बन जाये, इसके लिए लिखते हैं। कला कलाके लिए। अरे, भाई, वह बढ़िया कविता लिखकर अपनेको मजा आता है इसलिए लिखते हैं और दूसरोंको सुनाकर मजा आता है, इसके लिए लिखते हैं। दूसरे उससे सन्मार्गपर चलते हैं, इसके लिए लिखते हैं—

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

जो हम चित्र बनाते हैं या जो हम कविता लिखते हैं या जो हम कई शब्दोंका वाक्य बोलते हैं, कई अक्षरोंका शब्द बोलते हैं, वह अपने लिए नहीं होता। शब्द शब्दके लिए नहीं होता, शब्द वक्ताके लिए होता है या तो श्रोताके लिए होता है, आत्माके लिए होता है। अनेकता जो होती है वह एक आत्माके लिए होती है, यह बात भूलना नहीं चाहिए।

तो **देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** वह जो एक है, वह इस अनेकसे जुदा है। अनेकात्मक शरीरसे एक न्यारा है। पुरुषः-पूर्णत्वात् पुरुषः। पुरीशयनत्वाद्वा पुरुषः। इस नवद्वारवाले परमें वह शयन करता है, इसलिए उसको पुरुष बोलते हैं। तो अब यह पुरुष इस देहमें रहकर भी कैसा है? बोले—परः पर है। क्यों? तो हेतु देते हैं-*उपद्रष्टृत्वात् अनुमन्तृत्वात् भर्तृत्वात् भोक्तृत्वात्* ***महेश्वरत्वात् परमात्मत्वात्***—इस देहमें रहकर यह जो पुरुष है, आत्मा है,

वह देहसे परे है। कैसे परे है? उपद्रष्टृत्वात्—है तो बिलकुल पास, निरतिशय सामीप्य। माने यह तो कहा गया कि पास है, लेकिन यह नहीं बताया गया कि कितना पास है, परिमाण नहीं बताया गया कि एक बित्ता पास है कि एक इंच पास है। तो बोले कि बिलकुल पास है, बिलकुल पास माने अव्यवहित, व्यवधान रहित सामीप्य है अर्थात् आत्मा द्रष्टा ही है। इस देहमें जो पुरुष है, वह द्रष्टा ही है। आँख रूपको प्रकाशती है और कान शब्दको प्रकाशता है,नाक गन्धको प्रकाशती है, जिह्वा रसको प्रकाशती है, त्वचा स्पर्शको प्रकाशती है, पाँव चलता है, हाथ पकड़ता है, नीचेकी इन्द्रियाँ मल-मूत्रका त्याग करती हैं, वाणी बोलती है, मन सोचता है और वह? बोले—उपद्रष्टा। ये सब मशीनें अपना-अपना काम करती हैं और वह इन मशीनोंमें रह करके, मशीनोंके साथ रहकरके, द्रष्टा रहकरके सिर्फ देखता रहता है। उपद्रष्टा। तो-**अस्मिन् देहे पुरुषः देहात् परः। कस्मात्?** कि उपद्रष्टृत्वात्—इस शरीरमें रह करके यह जो पुरुष है, वह देहसे परे है। क्योंकि वह देहकी क्रियाको देखता रहता है। जो देखनेवाला होता है वह दृश्यसे विलक्षण होता है।

अब दूसरी बात देखो—**अनुमन्ता च** और यह महाराज अनुमति देता है। आँख देखना चाहे तो कभी रोकता नहीं। अनुमन्ता है—देख ले भाई, देख ले। यह रोकने-राकनेका काम नहीं करता।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जब मनमें वैराग्य हो जाये तो घरमें कैसे रहना—

विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां।

हृदयसे तो विरक्त रहे और ऊपरसे रक्तके समान मालूम पड़े और अपने मनुष्यत्वको मनुष्योंमें रख दे। अब उसमें एक बात बड़ी विलक्षण वहाँ बतायी है कि ये जो अपने सम्बन्धी हैं—पत्नी, पुत्र, भाई, बन्धु, माता और पिता इनके साथ कैसा बर्ताव करे? इनके ऊपर अपनी चलावे कि इनकी अपने ऊपर चलने दे? तो विरक्त पुरुषका लक्षण बताया, क्या?

यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः।

यह श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें युधिष्ठिरको नारदजी महाराज उपदेश कर रहे हैं। वे कहें कि आज हमने आकाशमें एक हाथी चलते हुए

देखा है—यद् वदन्ति। तो है तो यह बिलकुल झूठ परन्तु उनसे विवाद न करे कि तुम झूठ काहे को बोलते हो? क्योंकि विवाद करने जायेगा तो विक्षेप तो उसीको होगा ना! अरे चलने दो भाई, होगा चलता हुआ। तुम्हारी मौज हो तो उसपर कभी सवारी कर आना, हमारा मन नहीं है उसपर जानेका। और **यदिच्छन्ति**—वे कहें कि देखो, आज तुम पलंगपर नहीं सोना, धरतीपर सोना, तो बोले ठीक है, अरे नींद ही तो लेना है, क्या पलंग क्या धरती! वैराग्यवान् पुरुष अपने स्वजनोंको अपना समझकरके उनको अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार चलानेका संकल्प नहीं करता, आग्रह नहीं करता। उनके साथ-साथ अहं-मम, मैं-मेरा नहीं जोड़ता। ये मेरे कुछ लगते हैं—ऐसा ख्याल छोड़करके, यही सोचे कि अच्छा, तुम्हारी इच्छा पूरी हो। इस अन्तःकरणमें जो इच्छा हो, सो ही पूरी हो, उसमें जो हो सो न पूरी हो, ऐसा क्यों सोचते हो? अरे, वहाँ भी तुम्हीं आत्मा हो, उनका संकल्प भी तुम्हारा ही संकल्प है, यह पूरा नहीं हुआ, वह पूरा हो जाये, इसमें क्या आपत्ति है? तो वैराग्य माने अपनेको ऊपर रखना नहीं है, कि हम देखो, वैराग्यवान् हैं, हमारी सब बात घरवालोंको माननी पड़ेगी। धर्मात्मा लोग ऐसे बोलते हैं कि देखो हम सन्ध्यावन्दन करते हैं तो घरमें जो सन्ध्यावन्दन नहीं करेगा उसको रोटी नहीं मिलेगी।

एक घर हमने देखा मैसूरमें। उन्होंने कहा आजसे जो प्रार्थना नहीं करेगा उसको घरमें रोटी नहीं मिलेगी। तो बेचारे सब इकट्ठे होकर प्रार्थना करते। अब थोड़े दिनोंके बाद उनका विचार बदल गया, वे बोले—हम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हैं, प्रार्थना करनेमें क्या लगता है! तब उनकी प्रार्थना छूट गयी तो घर भरकी प्रार्थना छूट गयी। तो बोलो कि वे बड़े धर्मात्मा, बड़े विरक्त हैं! कि नहीं, न धर्मात्मा न विरक्त; वे तो बड़े आग्रही और बड़े ममतावान् हैं; क्योंकि सबको अपना समझते हैं और सबपर अपनी चलाते हैं। यह बात घरगृहस्थी लोगोंके लिए मैं नहीं कह रहा हूँ, यह तो विरक्तकी पहचान बता रहा हूँ।

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भुवन बुहार॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च। किसीने कहा—हम रामका भजन करेंगे, कि

करो बेटा! किसीने कहा—हम शिवका करेंगे, कि करो। एक ही तो परमात्मा है। उसीका नाम राम है, उसीका नाम शिव है। बोले—अभी तो हमारा मन कमाईमें लगता है। बोले—अरे भाई, वह भी तो भगवान्की घरवालीका ही विलास है। वह भी तो लक्ष्मीका ही विलास है। कमाईमें ही लग जाओ। कि नहीं, अभी तो हमारे मनमें काम बहुत है, हम तो ब्याह ही करेंगे। बोले—अरे, वह तो भगवान्का खास बेटा है। उन्हींके परिवारमें सब हैं। काम भगवान्का बेटा है। लक्ष्मी भगवान्की पत्नी हैं। अरे मनमें बड़े संकल्प-विकल्प होते हैं कि वह भगवान्का पोता है अनिरुद्ध है, जो रोके न रुके, जो निरुद्ध न हो, सो अनिरुद्ध। वह तो वही है। अपने स्वरूपमें बैठे रहो बाबा! अपनी आँख तो अपने काबूमें नहीं, अपना मन तो अपने काबूमें नहीं, अपना हाथ तो अपने काबूमें नहीं और अपनी दो तोलेकी नन्हीं-सी जीभ तो अपने काबूमें नहीं और चलते हैं दूसरेको काबूमें रखनेके लिए। तो अनुमन्ता रहो। **अनुमन्तृत्वात्।**

यह आत्मा जो है वह सबको अनुमति देता है—जब मन क्रोध करता है, तो उसमें भी अनुमति देता है, रोकने थोड़े ही जाता है। कर्ता होवे तो रोके, कर्ता तो है ही नहीं। कर्ता नहीं है तो रोके कहाँसे? तो अनुमन्तृत्वात्। आत्मा मतिके पीछे बैठ करके उसको सत्ता स्फूर्ति दे रहा है। इसलिए अनुमति दे रहा है। अनुमन्तृत्वात्।

भर्तृत्वात्—यह आत्मा भर्ता है। यह तो जब स्त्री पुरुषमें झगड़ा होता है न, तो स्त्रीको डाँटता है पुरुष—ऐ, मैं तेरा भर्तार हूँ कि तू मेरी भर्तार है? यह 'भर्तार' शब्द जो हिन्दीमें आया है, यह भर्ता शब्द है जिसका अर्थ है भरण-पोषण करनेवाला। जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है और जिसकी ज्ञानकी एक रश्मिसे आँख देखती है, एक रश्मिसे कान सुनता है, सबका भरण-पोषण करता है, जो सबको चैतन्यात्मक ज्ञानात्मक रश्मियोंका दान करता है, वह भर्ता है। भर्तृत्वात् भर्ता—यही सबका आधार है और यही सबका उपादान है।

भोक्तृत्वात्—भोक्ता माने उपलब्धा है, सबको देखता है। बोले—भोक्ताका एक अर्थ और है। जैसे हिन्दीमें बोलते हैं कि वे तो उनको खा गये, वे तो उनको चबा गये; जैसे बोलते हैं—**रविस्तमसांशं भुङ्क्ते**—सूर्य

अन्धकारको खा रहा है; ऐसे ही यह भोक्ता आत्मा कैसा है? कि **अविद्याकृतं सर्वं भुङ्क्ते**—जितना अविद्याकृत अन्धकार है उसको यह चबा जाता है, इसमें उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। ब्रह्मसूत्रमें यह सूत्र है—***अत्ता चराचरग्रहणात्।*** (ब्र०सू० १.२.९)

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्योर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठ० १.२.२५)

इसमें बताया कि यह जो ब्रह्मशक्ति है प्रज्ञा, और जो क्षात्र शक्ति है प्राण, इन दोनोंको जो खा जाता है, दोनों जिसमें-से उदय हुई हैं, दोनों जिसमें निलयको प्राप्त होती हैं वह अत्ता है, माने भक्षक है। ब्रह्मसूत्रमें एक प्रसंग आता है, उसमें यह प्रश्न उठाते हैं कि जैसे यह कहते हैं कि, ***जन्माद्यस्य यतः। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।***

जिससे सृष्टि हुई, जिसमें स्थित है और जिसमें लीन होती है, तो यह प्रश्न उठाया कि ये तीनों मिलकर एक लक्षण ब्रह्मके हैं कि तीनों अलग-अलग लक्षण हैं? माने यदि यह कहें कि जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई, यह ब्रह्मका लक्षण हो जाता है कि नहीं? जिसमें सब प्रलीन हो जाते हैं, कि यह ब्रह्मका लक्षण हो जाता है कि नहीं? बोले—हो जाता है। प्रत्येक पृथक्-पृथक् लक्षण है। कैसे? बोले—**अत्ता चराचरग्रहणात्।** इस अत्ताधिकरणमें केवल अत्तत्व ही ब्रह्मका लक्षण बताया गया है—ब्रह्म चराचरको निगल जाता है, खा जाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने स्वरूपके ज्ञानसे द्वैतभ्रमको ध्वंस कर देता है। यह भोक्ता है। यह तो अपने आपको जो ब्रह्म नहीं जानते हैं, वे लोग आत्माको भोक्ता कहनेमें हिचकते हैं। हम लोग वेदान्तको ब्रह्म प्रतिपादक नहीं मानते हैं और आत्म-प्रतिपादक भी नहीं मानते हैं, अपितु ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक मानते हैं। माने अन्य प्रमाणसे आत्माका जो ब्रह्मत्व है वह ज्ञात नहीं हो सकता। वह न समाधिसे ज्ञात है, न उपासनासे ज्ञात है, न तद्भावापत्तिसे ज्ञात है, न अर्थापत्तिसे, अनुपलब्धिसे, न उपमानसे, न अनुमानसे, न प्रत्यक्षसे और न एक पदार्थ प्रतिपादक वाक्यसे। तत्पदार्थ प्रतिपादक अथवा त्वं पदार्थ प्रतिपादक वाक्यसे ज्ञात नहीं है। यह ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक वाक्यसे ज्ञात नहीं है।

इसलिए वेदान्त आत्मा और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादक है। यह नहीं कि ***सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*** से ब्रह्म ज्ञात है और ***'नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'*** से आत्मा ज्ञात है, लो बस, हो गया वेदान्त, है, कि नहीं, ***तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि***। जो ब्रह्म है सो द्रष्टा है। जो द्रष्टा है सो ब्रह्म है। ***महेश्वरत्वात्***—यह पुरुष महेश्वर है। महेश्वर कैसे है? आपको क्या सुनावें। ईश्वर माने जो अपने प्रकृति मंडलके वशमें न होवे। जैसे एक राजा है, तो उसके साथ प्रकृति मंडल रहता है। प्रकृति-मण्डल क्या है? उसकी रानी है, उसका बेटा राजकुमार है, राजा पुरुष है, सेनापति है, कोषाध्यक्ष है और अन्य मन्त्री हैं—ये सब उसके प्रकृति मण्डल हैं। अब यह हुआ कि राजा रानीके सिखाये काम करता है, रानी अगर कह दे कि इस आदमीको सजा दे दो, तो दे दे और कह दे कि इसको छोड़ दो, तो छोड़ दे। तो रानीके कहे अनुसार जो चले, वह राजा नहीं हुआ, वह ईश्वर नहीं हुआ, वह तो ईशितव्य हो गया, रानीके अधीन हो गया। तो जो राजा रानीके कहे अनुसार, बेटेके कहे अनुसार, मन्त्रीके कहे अनुसार, कोषाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनाध्यक्षके कहे अनुसार अपना काम करे वह राजा राजा नहीं हुआ। राजा वह हुआ जो अपने प्रकृति-मण्डलके वशीभूत होकर काम न करे। प्रकृति-मण्डलसे, उपाधिसे असंस्पृष्ट होना ही ईश्वरत्व है। तो यह जो **असङ्गोऽयम् पुरुषः** है, यह रानीसे आसक्त नहीं है, यह राजकुमारसे आसक्त नहीं है, यह सेनापति, कोषाध्यक्ष, मन्त्री अधीन नहीं है। यह बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके अधीन नहीं है। ये रहें कि न रहें, यह किसीके साथ आसक्त नहीं है, किसीके साथ बँधा नहीं है। सबसे बड़ा ऐश्वर्य यही है कि पारतन्त्र्य न होना।

वेदान्ती लोग कभी-कभी विचार करते हैं कि परमानन्द क्या है? तो वेदान्तमें एक सिद्धान्त ऐसा है, कि यह जो आत्माका स्वातन्त्र्य है, यही परमानन्द है।

स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्।

यह आत्मा बुद्धिके अधीन नहीं है। बुद्धि, बुद्धिका धर्म, बुद्धिकी अवस्था, बुद्धिका गुण, बुद्धिका होना, बुद्धिका न होना, बुद्धिका परिवर्तन इस असंग आत्मापर किंचित् भी प्रभाव नहीं डाल सकता। यही उसका माहैश्वर्य है।

परमात्माको चाहे जड़के रूपमें देखो, चाहे चेतनके रूपमें, सबका परम अधिष्ठान, परम प्रकाशक अद्वितीय यही है। कौन? कि इसी देहमें जो मैं-मैं-मैंका असली अर्थ है वही; यह उसीका वर्णन है। यह बैकुण्ठवाले ईश्वरका वर्णन नहीं है, यह गोलोकवाले ईश्वरका वर्णन नहीं है। यह जो तुम्हारे हृदयके बीचके माँय मैं-मैं-मैं करके खेल रहा है, मैं-मैं, यह-यह, तू-तू जिसका खेल है, जिसमें यह परिच्छिन्न मैं और परिच्छिन्न तू केवल प्रातिभासिक हैं, केवल प्रत्ययमात्र हैं, केवल प्रातीतिक हैं, जिसमें देश-काल-वस्तु केवल प्रातीतिक प्रत्ययमात्र हैं, यह तुम्हारे परिच्छिन्न अहंका जो पारमार्थिक स्वरूप है उसीका ही वर्णन है। क्या? कि—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तः देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(५)

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः—पुरुष इस देहसे परे है। दूसरा अभिप्राय इसका यह है—

अस्मिन् एव देहे पुरुषो परः भवति।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।

इस शरीरमें ही परम पुरुष रहता है। इस शरीरमें ही न होवे तो फिर और कहीं होनेमें कोई सन्तोषजनक युक्ति नहीं हो सकती। तो कहते हैं—हे मनुष्यो! तुम इसी शरीरमें परमात्माको पहचानो—देहेऽस्मिन् पुरुषः परः। इसी शरीरमें परम पुरुष है।

अब यह जो परम पुरुष है यह पुरुषोत्तम है। उत्तम पुरुष कहो या पर-पुरुष कहो। 'उत्तम'की जगह 'पर' शब्द आ गया—परः पुरुषः माने उत्तमः पुरुषः। उत्तम पुरुष पुरुषोत्तम इसी शरीरमें है। ढूँढ़ लो। इसमें क्षर है, अक्षर है और पुरुषोत्तम है। जो कार्यकरण संघात है वह क्षर है, जो कारण है वह अक्षर है और जो उससे परे है अपना आपा, वह पुरुषोत्तम है।

हम बचपनमें गीता बहुत पढ़ते थे। हमारा हंडियावाला अवधूत, सुदर्शन सिंह चक्र, मैं और एक-दो जने और थे—लेकर अलग-अलग गीता

बैठ जाते और एक-एक श्लोकपर किसने क्या कहा, वह पढ़ते। शंकराचार्यने क्या कहा, मधुसूदनीमें क्या है, शंकरानन्दीमें क्या है, लोकमान्य तिलकने क्या कहा, ज्ञानेश्वरीमें क्या है—ऐसे मिलाकर पढ़ते थे। तुलनात्मक समालोचन करते थे, क्योंकि हम लोगोंको संस्कृतके श्लोकका अर्थ लगानेके लिए तो पढ़ना पढ़ता नहीं था। तो पुरुषोत्तम शब्दका अर्थ हम लोगोंने ऐसे बैठाया था। जैसे व्याकरणमें पढ़ते हैं—एक होता है प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष, कौन? कि *सः गच्छति*—वह जा रहा है। और एक होता है मध्यम पुरुष, तुम जा रहे हो—*त्वं गच्छसि*। और एक होता है उत्तम पुरुष। कौन? ***अहं गच्छामि*** वहको प्रथम पुरुष बोलते हैं, तुमको मध्यम पुरुष बोलते हैं, अहंको उत्तम पुरुष बोलते हैं। तो पुरुषोत्तम माने उत्तम पुरुष माने अहं। ऐसे बचपनमें बैठके ऐसे सोचते थे।

यद् क्षरं भवति तदपि अन्यत्। यद् अक्षरं भवति तदपि अन्यत्—जो क्षर होता है वह भी अन्य है और जो अक्षर होता है वह भी अन्य होता है। *अहं उभयो साक्षी उत्तमः पुरुषः।*

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेति उदाहृतः। (१५.१७)

यहाँ 'परमात्मेति चाप्युक्तो' है और वहाँ है 'परमात्मेति उदाहृतः'। उसी पुरुषोत्तमका नाम वहाँ परमात्मा बताया और यहाँ पर पुरुषका नाम परमात्मा बताया तो यदि दोनों लक्षणमें एक न हों, तो यह लक्षण समन्वय कैसे होवे? तो यह महावाक्यका उपदेश कर रहे हैं भगवान्। क्या?

अस्मिन् देहे यः पर पुरुषः।

इस शरीरमें जो पर-पुरुष है वही भगवान् है। इसीसे भगवान्को व्रजमें पर-पुरुष बोलते हैं। राधाके पर पुरुष, चन्द्रावलिके पर-पुरुष—ऐसे बोलते हैं। भगवान्को पर-पुरुष बोलनेका अभिप्राय यही है।

अच्छा, एक आपको बिलकुल लौकिक बात सुनाते हैं। हमको जो यह मालूम पड़ता है कि हम भोजनसे बहुत प्रेम करते हैं, तो भोजनको सुख पहुँचानेके लिए प्रेम करते हैं, कि अपनेको सुख पहुँचानेके लिए भोजनसे प्रेम करते हैं? पक्का है न, कि अपनेको सुख पहुँचानेके लिए भोजनसे प्रेम करते हैं। तो भोजन हमारा प्यारा हुआ कि आत्मा हमारा प्यारा हुआ? आप देख लो। भोजन प्रिय है, यह तो हम बोलते हैं, परन्तु आत्मा परमप्रिय है कि

नहीं है? इसी प्रकार हम संसारमें जो शब्दसे, स्पर्शसे, रूपसे, रससे, गन्धसे, मनुष्यसे, पशुसे, पक्षीसे, देवतासे, किसी भी अन्य पदार्थसे जो प्रेम करते हैं, वह अपने सुखके लिए अपनी तृप्ति के लिए प्रेम करते हैं। तो परमप्रिय कौन हुआ? एक प्रिय हुआ, एक परमप्रिय हुआ। संसारमें पुरुष है, पर परम-पुरुष कौन है? अपना आत्मा है।

तो इसको उपद्रष्टा क्यों बोलते हैं? ***उपद्रष्टृत्वात् सांख्यैः योगैः द्रष्टृत्वात्। अस्मिन् देहे परः पुरुषः परमात्मा इति उक्तः।*** जिसको योगी लोग और सांख्य लोग उपद्रष्टा बोलते हैं, उसीको इस देहमें परमात्मा कहा गया है। उपद्रष्टाका शंकराचार्य भगवान्‌ने दो अर्थ किया है। एक तो यह किया है कि जैसे यज्ञमें बहुत लोग लग रहे हों और एक आदमी देख रहा हो, ऋत्विज देख रहा हो। वह करता कुछ नहीं, पर देखता सब कुछ है, तो उसको उपद्रष्टा बोलते हैं। दूसरे, एक और अर्थ उन्होंने बहुत बढ़िया किया है। वे कहते हैं कि जैसे किताबको कौन देख रहा है? आँख। आँखको कौन देख रहा है? मन। मनको कौन देख रहा है? कि मैं। और छोटे मैंको कौन देख रहा है? कि साक्षी। और साक्षीको कौन देख रहा है? ***दृगेव न तु दृश्यते।*** कि साक्षी-द्रष्टा किसीका दृश्य नहीं होता।

तो बोले—फिर तो द्रष्टा ही बोलो, उपद्रष्टा क्यों बोलते हो?

कई लोग यह विश्वास करते हैं कि ईश्वर हमको देख रहा है। ईश्वर द्रष्टा तो है, पर वह सातवें आसमानमें बैठकर देख रहा है—जैसे सूर्य अपनी रोशनीसे देख रहा हो—ऐसे दूरस्थित होकर द्रष्टा नहीं है। उप माने व्यवधानरहित निरतिशय समीप, जिससे पास और कोई नहीं; अपना आपा हो करके ही यह देख रहा है। उपद्रष्टा।

तो योगियोंने और सांख्योंने आत्माका जैसा निरूपण किया, उस रीतिसे भी यह परम पुरुष जो है, यह द्रष्टा परमात्मा है। **अनुमन्ता**—परमात्मा जिद्दी नहीं है, आग्रही नहीं है। जो लोग संसारको सत्य समझते हैं उनका बड़ा भारी आग्रह होता है। जैसे देखो, जो आदमी समझे कि यह बच्चा किसीका कुएँमें गिर जायेगा तो दौड़कर उसको रोकेगा। अच्छा, ईश्वर क्यों नहीं रोकता? ईश्वर कहता है कि कुएँमें जायेगा, तो भी घूम-फिरकर हमारे ही पास आयेगा।

एक आदमी पाप करनेके रास्तेपर बढ़ा। तो ईश्वर उसको रोके कि न रोके? एक सवाल है। एक तो, ईश्वर यदि सब पापियोंको रोकने लगे, तो उसको बड़ा भारी विक्षेप होगा, छह सात बच्चोंसे निबटनेमें तो तुमको इतना विक्षेप होता है, ईश्वर अपने कोटि-कोटि बच्चोंको रोकने लगे कि तुम लोग लड़ो मत, झगड़ो मत, रोओ मत, स्कूल जाओ, घरमें मत बैठो, तो ईश्वरको कितना विक्षेप होगा! एक बच्चेके लिए तो तुम्हें रोना पड़ता है और अनन्त बच्चोंके लिए ईश्वरको क्या करना पड़ेगा? तो एक आदमी पापके मार्गपर चला। तो यदि ईश्वर केवल उसीकी देखभाल करता, तो उसको रोक देता, मत करो। अरे उसके हृदयमें जो मशीन बना दी ईश्वरने, उसने मना किया, आटोमेटिक मना किया कि मत जाओ। एक बार, दो बार मना किया, सुन लो। नहीं सुने तो मशीन भी काम करना बन्द कर देती है। अच्छा, ईश्वरने कहा कि भाई पाप तो इसने पहले भी किये हैं और आज भी कर रहा है तो थोड़ा और कर लेने दो। जितना ज्यादा पाप कर लेगा, नरककी उतनी कड़ी आँचमें गिरेगा, उतने दिन ज्यादा रहेगा और नरककी आँच जब लगेगी, नरकमें दु:ख जब भोगेगा, तो इसके जो पिछले पाप लगे हुए हैं, उसका तो दण्ड हो जायेगा, उसका तो प्रायश्चित हो जायेगा और वह पाप करनेके कारण फल भोगनेसे ऐसा संस्कार लेके आवेगा कि फिर जल्दी पाप नहीं करेगा। कभी-कभी माताएँ भी नाराज हो जाती हैं—बच्चा अगर बारम्बार आग छूनेकी कोशिश करे, तो हाथ पकड़कर कहती हैं कि ले छू! और जब 'ले छू' कर देती हैं और हाथ जलता है तो बच्चा फिर कभी आगके पास नहीं जाता है। यह भी एक कृपा है, यह भी एक स्नेह है, यह भी एक प्रेम है।

तो **अनुमन्ता**का अर्थ यह है कि ईश्वर कुएँमें जानेकी भी अनुमति देता है। नरकमें जानेकी भी अनुमति देता है। यह आत्मा तो हमारा ही है और यह मर सकता नहीं, और यह हमेशाके लिए बेवकूफ बन नहीं सकता और हमेशाके लिए दु:खी हो नहीं सकता और ज्यादा झगड़ा क्यों पालना? थोड़ा सीखो, सबक लो दुनियासे—**अनुमन्ता च**। अनुमति देता है। तुम्हारी वासना जिधरको ले जाना चाहती है, उधरसे ही सबक लो। जैसे पापीको भी आकाश अपनेमें चलनेकी अनुमति देता है, पृथिवी अपने ऊपर पाँव रखनेकी

अनुमति देती है, जल तृप्ति देता है, अग्नि गर्मी देती है, वायु साँस देनेसे इंकार नहीं करता; तत्त्वका यह स्वभाव ही है; और जैसे पापीमें भी मन रहता है, बुद्धि रहती है, महत्तत्त्व रहता है, प्रकृति रहती है, आत्मा रहता है, परमात्मा रहता है; तो ये सब तत्त्व हैं और सबमें रहते हुए ही सबको उनकी वासनाके अनुसार अनुमति देते हैं।

पहले एक वैष्णवाचार्यके साथ मैं गया था। जरा हल्की-फुल्की बात भी सुन लिया करो। उन्होंने कहा कि भाई! काम तो सब ईश्वर ही करवाता है; यह नहीं कि अनुमति देता है, वे तो ऐसे बोलते थे कि सब ईश्वर ही करवाता है—***स एव साधु कर्म कारयति यं उन्निमीषते*** जिसको ईश्वर ऊपर उठाना चाहता है, उससे अच्छा काम करवाता है। और

स एवासाधु कर्म कारयति यं अधोनिमीषते।

जिसको नीचे ले जाना चाहता है उससे बुरे काम करवाता है।

तो बोले कि यह मत समझना कि ईश्वर किसीसे नाराज है और उससे बुरा काम करवाता है जिससे वह नीचे गिर जाता है; या कि ईश्वर किसीसे खुश है, तो उससे अच्छे काम करवाता है, जिससे वह ऊपर जाता है। तब बात क्या है? कि ***आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था।*** जो ईश्वरकी ओर मुँह करके, अनुकूल होकर चलते हैं उनसे ईश्वर अच्छे काम करवाता है और अपने पास बुला लेता है। और जो ईश्वरकी ओर पीठ करके खड़े हैं, उनसे ईश्वर कहता है कि जाओ बेटा जरा दुनियामें घूम आओ।

यह भौतिकतामें अत्यन्त आसक्ति जो होती है वह ईश्वरकी ओर पीठ करनेसे होती है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९.२९)

भगवान् कहते हैं—बाबा, हम किसीसे दुश्मनी भी नहीं करते हैं और प्यार-पक्षपात भी नहीं करते हैं, परन्तु जो प्रेमसे हमारी सेवा करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। बोले—अपने भक्तके प्रति तो हम पक्षपाती भी हैं।

अच्छा, तो 'अनुमन्ता च'। अनुमति शब्दका अर्थ यह भी है कि मति बुद्धि जिधरको चलती है, तो भगवान् तो उसमें बैठे ही रहते हैं, कहते हैं कि

अच्छा, बेटा हो आओ, जरा इधरका तमाशा भी देख आओ। अगर ईश्वरको अपने मनके अनुसार चलाना पड़े, तो ईश्वर भी विक्षिप्त हो जायेगा। ईश्वर मनको धारण नहीं करता, जब तुम चाहोगे कि हम ईश्वरके पास आना चाहते हैं, तो वह दस हाथ बढ़ाकर पकड़ लेगा और अपने पास उठा लेगा। वह शरणागतिमें सौकर्यापादन करेगा। 'आश्रयण सौकर्यापादकत्व'—यह गुण है ईश्वरमें। अनुमन्ताका अर्थ यह भी आप समझ लेना कि एक बार, दो बार वह मना भी कर देता है। लेकिन जब कोई न माने तो कहता है अच्छा जाओ, जब तुम हमारी माननेके लिए तैयार नहीं हो, तो हम तुमसे मनानेके लिए भी प्रयत्न क्यों करें? अपने ऊपर जिम्मेवारी काहेको लें?

भर्ता—भर्ता माने भरण-पोषण करनेवाला। वह वृत्ति बन्द नहीं करता।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी—इस श्लोकमें जो बात कही गयी है, वह इसमें भी है। उसमें जो 'प्रभुः' है उसके स्थानपर यहाँ महेश्वर है। और उसमें जो साक्षी है उसके लिए इसमें उपद्रष्टा है।

तो भर्ताका अर्थ है जो सबका भरण-पोषण करता है। आपने देखा, शिवाजी महाराजको यह ख्याल हो गया था कि दुर्भिक्षके समय हम सबका भरण-पोषण करते हैं। तो समर्थ रामदासने एक पत्थरपर, चट्टानपर हथौड़ा मरवाया। जब चट्टान फूट गयी तो उसके भीतरसे एक कीड़ा निकला, कीड़ेके मुँहमें चावल था और उसके पीनेके लिए वहाँ पानी मौजूद था। तो सबका भरण-पोषण ईश्वर ही करता है, अतः भर्ता है।

हमने एक कथा पढ़ी थी। एक सेठका नियम था कि रोज किसी-न-किसी साधुको, महात्माको भोजन कराना। बिना भोजन कराये वह स्वयं भोजन न करे—ऐसा नियम था। वैसे एकाध नया पैसा रोज धर्मके लिए निकालना चाहिए। चार दाने निकालो, चार नया पैसा निकालो, कुछ-न-कुछ रोज देना चाहिए। श्रुतिमें लिखा है कि इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।

श्रद्धया देयं अश्रद्धया देयं ह्रिया देयं भिया देयं, संविदा देयम्।

शर्मसे दो, समझदारीसे दो, भयसे दो, श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे दो, कैसे भी कुछ-न-कुछ मनुष्यको देना जरूर चाहिए।

सो सेठका ऐसा नियम था। अब एक दिन भोजनके समय कोई महात्मा नहीं मिला। नौकर सब घूमघामकर आया, तो सेठ बोला—किसीको भी ले आओ। दो बजते-बजते एक महात्मा मिल गये—बड़े वृद्ध, लम्बे, तगड़े, गौर वर्ण, हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ट-निश्चिन्त होते हैं ना—मुशटण्डे; उनको वह नौकर बुलाकर ले आया। उनके हाथ-पाँव धुलाकर पीढ़ेपर बैठाकर उनके सामने थाली लगा दी। उसने खाना शुरू कर दिया। तो सेठने पूछा कि महाराज, एक शंका है हमको, आपने ईश्वरको भोग नहीं लगाया। भोजन करते समय तो भगवान्‌का स्मरण करना चाहिए न, महात्मा बोले—भाई हम तो ईश्वर-अनीश्वर कुछ मानते नहीं हैं। सेठ, एक दम बोल उठा— अरे राम-राम-राम! नास्तिक हैं आप? बोले—हाँ भाई, नास्तिक हैं, कहो तो खायें तुम्हारे घरमें, कहो तो न खायें। हमको तो रोटी मिलती है। सेठने कहा—महाराज, आप सरीखे नास्तिकको तो हम रोटी नहीं देते हैं। चले गये महात्मा, दूसरी जगह माँगकर खा लिया।

अब गोविन्द! रातको सेठजीको आया अपने भगवान्‌का सपना। उन्होंने पूछा—'सेठजी उस साधुकी उम्र कितनी थी?' बोले—सत्तर बरसकी तो होगी महाराज।

'देखनेमें कैसा था? खाता-पीता था कि नहीं?' बोले—खाता-पीता तो था।

'तो उसको सत्तर बरसकी उम्रतक किसने भोजन दिया था?' बोले—आपने दिया था।

भगवान्‌ने कहा—मैं मालिक होकर सत्तर बरसतक उसको रोटी खिलाऊँ और तुम हमारे भक्त हो करके एक समय भी उसको रोटी न दो तो शर्मकी बात है न! तो ईश्वर सबका—आस्तिकका, नास्तिकका—सबका भरण करता है। ईश्वर दैत्यको भी भोजन देता है, राक्षसको भी भोजन देता है। सबका भरण पोषण वही कर रहा है—भर्ता। पेड़में जब पानीकी कमी होती है, वही बरसा देता है।

राम भरोसे जे रहें पर्वत पै हरियायें।
तुलसी बिरवा बागके सींचतहूँ कुम्हिलायें॥

बगीचेमें पेड़ लगाओ तो सींचनेपर भी कुम्हला जाते हैं, सूख जाते हैं

और पहाड़ पर उगते हैं तो *राम भरोसे जे रहें पर्वत पै हरियायें।* अरे, भाई ऐसी बात हम आपको क्या सुनावें, बिलकुल एकान्तमें, जंगलमें जहाँ कोई न हो, खानेका जहाँ कोई डौल न हो ईश्वर कोई-न-कोई विधि ऐसी बैठा देता है।

शंकराचार्य भगवान्‌ने यह अर्थ किया है, अनुमन्ताका कि अनुमोदन करता है अथवा कार्य-करणकी प्रवृत्तिमें स्वयं प्रवृत्त न होकरके प्रवृत्त समान तदनुकूल देखनेमें आता है। अनुमन्ताका अर्थ है कि अपनी-अपनी वासनाके अनुसार प्रवृत हैं जो कर्ममें उनको कभी रोकता नहीं है। और भर्ता शब्दका अर्थ यह किया कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि ये इकट्ठे होकर जिस चैतन्यके लिए काम कर रहे हैं, सबके शरीरमें अलग-अलग चैतन्याभास हैं, उनके स्वरूपका धारण वही करता है। स्वयं चिद् रूपसे रह करके चिदाभासका पालन पोषण वही कर रहा है। भर्ता है—भरण-पोषण करनेवाला है। उस आत्मदेवके बिना न शरीरका भरण पोषण हो सकता, न प्रपंचका भरण-पोषण हो सकता।

सांख्य और योगी आत्माको उपद्रष्टा बोलते हैं। न्यायवाले कर्ता मानते हैं। वैशेषिकमें तटस्थ द्रष्टा मानते हैं और भक्तलोग-भागवत, उसको भर्ता मानते हैं। चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायके गौड़ेश्वरादि उसीको भोक्ता कहते हैं। वही अपने प्रेमीका भोग करता है, अपने प्रेमीको देख-देखकर खुश होता है।

भोक्ताका एक अर्थ कल आपको सुनाया ही था—भोक्ता माने अत्ता। चराचर सृष्टिको, प्रज्ञा और प्राणको भी, परमात्मा भातकी तरह खा जाता है। प्रज्ञाकी दाल और प्राणका चावल मिलाकर चटनीके साथ खाता है। *मृत्युर्यस्योपसेचनम्*-प्राण और प्रज्ञा, दोनोंके अभावकी चटनी कर लेता है, ऐसा परमात्मा भोक्ता है।

अच्छा, कश्मीरी शैवादि जिसको महेश्वर बोलते हैं वह यही परपुरुष है। यह सब दूसरा नहीं समझना। यही जो इस शरीरमें परपुरुष है, इसीको योग सांख्यवाले द्रष्टा, वैशेषिक तटस्थ ईश्वर, भागवती इसीको भर्ता और मध्वाचार्यादि भोक्ता बोलते हैं; और इसीको हैरण्यगर्भ आदि इसीको परमात्मा कहते हैं। किसको? कि जो—**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** इस शरीरमें जो परपुरुष है, शुद्ध, निरुपाधिक, इसीके ये भिन्न-भिन्न नाम हैं।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

एक ईश्वरके ही हजार नाम हैं।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।

श्रीमद्भागवतमें बताया कि इसीका नाम ब्रह्म, इसीका नाम परमात्मा, इसीका नाम भगवान् है। यही है। कि कौन है? कि—

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।

आपको मालूम है कि आँखको एक कोनेसे जरासा दबा दें तो एक चन्द्रमाका दो चन्द्रमा दिखने लगता है, एक दीएका दो दीया दिखता है, एक बल्बका दो बल्ब दिखता है। कोण विशेषमें नेत्रके दबानेसे एकका दो दिखने लगता है। तो यह जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न और सजातीय-विजातीय स्वगत भेदसे रहित शुद्ध ज्ञान है, जब यह अन्तःकरणकी उपाधिके कोणसे देखने लगता है तब निर्विशेष सविशेष दिखने लगता है, एक अनेक दिखने लगता है, अनन्त सान्त दिखने लगता है। परन्तु स्पष्ट है कि ऐसा दिखनेमें जो सत्यत्व बुद्धि है, वह भ्रान्ति है। यह सिद्धान्त है कि जिस अन्तःकरणमें भ्रान्ति होती है, उसी अन्तःकरणमें भ्रान्ति सिद्ध पदार्थ होता है। इसलिए भ्रान्तिसे उपहित जो वस्तु है, भ्रान्ति सिद्ध पदार्थसे भी उपहित वही वस्तु है। माने—**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।** इस अध्यस्त अन्तःकरणका अधिष्ठान जो आत्मा है, अन्तःकरणके द्वारा मालूम पड़ने वाले देश-काल-पदार्थका भी अधिष्ठान वही आत्मा है। अपना स्वरूप ही अन्तःकरणका भी अधिष्ठान है और अन्तःकरणसे मालूम पड़नेवाले पदार्थोंका भी अधिष्ठान है। यह विलक्षण बात है। जैसे रज्जु, रज्जुके अज्ञानसे भासता हुआ सर्प, भ्रान्ति सिद्ध सर्प है। तो भ्रान्तिका जो अधिकरण है वही भ्रान्ति सिद्ध सर्पका भी अधिकरण है। रज्जु अधिकरण नहीं है सर्पका। क्योंकि वहाँ तो सर्प है ही नहीं। सर्प तो सर्पबुद्धि है। तो सर्पबुद्धिका जो अधिकरण है वही सर्पका भी अधिकरण है। इसलिए अन्तःकरणका जो अधिकरण है, अन्तःकरणसे भासमान प्रपंचका भी वही अधिकरण है।

इसलिए देशसे, कालसे, वस्तुसे, अवस्थासे, स्थितिसे, गतिसे, मतिसे, रतिसे सबसे अनवच्छिन्न जो आत्मचैतन्य है यही सर्वाधिष्ठान है। इसलिए **परमात्मेति चाप्युक्त** इसको परमात्मा भी बोलते हैं।

अच्छा, परमात्मा आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न है? देखो जरा परमात्मा शब्दपर ही देखो। जो जिसका परमरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता है। जैसे परमं मधुरं—माधुर्यकी पराकाष्ठा माधुर्यसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार आत्माका जो परमरूप है, वह आत्मासे भिन्न नहीं है। परमरूप माने उपाधि संस्पर्श-लेश-रहित जो आत्माका स्वरूप है यही आत्माका पारम्य है। तो आत्माका जो परमरूप है? उपाधिसे असंस्पृष्टरूप, शुद्ध रूप है, वह आत्मासे भिन्न नहीं है, आत्मा ही है, आत्माका ही शुद्ध रूप है। और वह कौन? कि—

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।

उसीको परमात्मा बोलते हैं। तो यह श्लोक तत्त्वमसि महावाक्यका अर्थ है। वेदान्ती लोगोंके द्वारा '**देहेऽस्मिन् परः पुरुषः परमात्मा इति चाप्युक्तः**'। महावाक्यके द्वारा जिसको परमात्मा कहा गया, शैवोंके द्वारा जो महेश्वर कहा गया, प्रेमरसरसिक अनन्य वैष्णवोंके द्वारा जो भोक्ता कहा गया, शरणागति प्रधान वैष्णवों द्वारा जो भर्ता कहा गया, तटस्थ ईश्वरवादियों द्वारा जो अनुमन्ता कहा गया और योगसांख्यसे जो उपद्रष्टा कहा गया, सो कौन है? कि **देहेऽस्मिन्**, इसी देहमें और पुरुषका ही वह परमस्वरूप है।

पुरुषः परमात्मेति चाप्युक्तः।

यह पुरुष अखण्ड एकरस परमात्मा है।

प्रकृति-पुरुष-विवेकका फल

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ १३.२३

अर्थ :-जो इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जानता है, वह किसी भी प्रकारसे वर्तता हुआ क्यों न हो, उसका फिर दुबारा जन्म नहीं होता अर्थात् उसका मोक्ष हो जाता है।

इस देहमें जो पुरुष है वही परमात्मा है। ऐसा जो परमात्माका निरूपण किया उसकी क्या आवश्यकंता है? आवश्यकता यह है कि इस प्रकार जाननेसे तुम्हारे सब बन्धन टूट जायेंगे। तुम्हें संसारके जेलखानेमें-से निकलनेका यही एक उपाय है। इसको जानोगे तब इस जेलखानेसे छूट जाओगे!

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

तो **य एवं वेत्ति पुरुषं**—जो इस प्रकार पुरुषको जानता है। किस प्रकार? कि उपद्रष्टृतया, अनुमन्तृतया, भर्तृतया, भोक्तृतया, महेश्वरतया, परमात्मतया परं पुरुष तथा 'एवं पुरुषं त्रेत्ति'। जो इस रूपमें पुरुषको जानता है कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है, वह मुक्त हो जाता है। तो 'एवं'का अर्थ है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि। अनादिमत्परं ब्रह्म। क्षेत्रज्ञ एव अनादिमत्परं ब्रह्म इति समानाधिकरण्यतया ऐक्येन वेत्ति।

यह क्षेत्रज्ञ ही, जिसको भगवान्‌ने अपना 'मां' कहा है, 'अनादिमत् परं ब्रह्म' है—इस मुख्य समानाधिकरण्यसे जो क्षेत्रज्ञ और ब्रह्मकी एकताको जानता है, वही इस ज्ञानसे मुक्त हो जाता है। और प्रकृति व उसके गुणोंको कैसे जानता है? कि वे सब अविद्या-कल्पित हैं।

गुणैः सह प्रकृतिं च वेत्ति। एवं यो वेत्ति पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च स अविद्याकल्पितं वेत्ति। अविद्याकल्पितं प्रकृतिं च वेत्ति।

जब संसारको देखते हैं, प्रपंचको देखते हैं, शरीरको देखते हैं, तो इसमें (प्रकृतिकी) कार्यावस्थाका भान होता है और (प्रकृतिके रूपमें) इसकी कारणावस्थाकी कल्पना होती है। यह कार्यकारणकी कल्पना क्यों होती है? कि अपने स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान स्वरूपके अज्ञानसे कार्य-कारणभावकी कल्पना होती है। जबतक अपने आपमें परिच्छिन्नाताकी स्वीकृति है, तभी तक उपाधि और औपाधिक प्रपंच सत्य है; और जहाँ अपनेमें परिच्छिन्नाताकी निवृत्ति हुई वहीं समस्त कार्य-कारणरूप प्रपंच मिथ्या हो जायेगा। अपनेमें जो यह परिच्छिन्नता मालूम पड़ती है, यह अविद्याकृत स्वीकृति है, आविद्यक स्वीकृति है।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सृष्टि मान्यतासे है और यदि हम अपनी मान्यता बदल देंगे तो सृष्टि मिट जायेगी। यह वेदान्त सिद्धान्त नहीं है कि हमने ही तो स्वर्ग-नरक, जीव-ईश्वर, पुनर्जन्म माना है और जब हम मानना छोड़ देंगे तो इससे छूट जायेंगे। ऐसे मत समझना, यह भूलकी बात है। ऐसे लोग सस्तेमें वेदान्त-ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। बोले—हमने माना है, अब हम नहीं मानते। अरे बाबा, तुम बिल्लीको चाहे मानो, चाहे मत मानो, आँख बन्द करके चाहे बैठ जाओ, पर बिल्ली तो तुम्हारे ऊपर कूद ही पड़ेगी। जबतक तुम अपनेको अखण्ड ब्रह्मस्वरूप, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नहीं जानते, तबतक यह स्वीकृति तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी, यह मान्यता तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी। यह अज्ञानकृत मान्यता है, इसलिए जब मान्यताका बाप अज्ञान मरेगा तब यह मरेगी।

प्रकृतिके तीन गुण माने जाते हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। ये गुण दिखायी नहीं पड़ते हैं। हम गुणमूलक सृष्टि नहीं मानते हैं, गुण तो आनुमानिक हैं। आनुमानिकका क्या अर्थ है? हमको यह देह मालूम पड़ता है; तो देहके कारणको हम तमस् बोलते हैं, इसकी क्रियाके कारणको रजस् बोलते हैं और इसमें जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, उस वृत्तिके कारणको, वृत्तिज्ञानके कारणको सत्त्व बोलते हैं। समझमें न आवे तो याद ही कर लो। यह जो शरीरमें हड्डी-मांस-चाम है, इसके मूल कारणको तमस् बोलते हैं, जिससे तादात्म्य करके हम अपनेको मूढ़ मानते हैं और क्रियाके कारणको रजस् बोलते हैं जिससे तादात्म्य करके हम अपनेको विक्षिप्त-घोर मानते हैं। और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदिका जो ज्ञान होता है, और जो वृत्ति ज्ञान है—घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान,—उसके मूल कारणको सत्त्व बोलते हैं। असलमें ये तीनों चिद्रहित सत्तामें कल्पित (प्रकाशक) हैं परन्तु चिद्रहित सत्ता तो अपने प्रकाशक, अपने अधिष्ठान चित्-सत्तामें कुछ है ही नहीं; इसलिए मूढ़ घोर शान्त अवस्थाकी मूल कल्पना ही निराधार है। मूल कल्पनामें तो ईक्षण है : ***ईक्षतेर्नाशब्दम्*** (ब्र० सू० १.१.५) *'अशब्दं न शब्दप्रतिपाद्यं, केवलं अनुमानगम्यं, केवलं प्रधानं जगतः कारणम् न भवति'*। हमारे वेदान्त-दर्शनमें यह बिलकुल स्वीकार नहीं है कि कोई चिद्रहित सत्ता होती है। जो भी सत्ता होगी, वह चित्से प्रकाश्य होगी, चित्से अनुगत होगी और मूलसत्ता असलमें चिन्मात्र ही होगी। तो यह जो आत्मसत्ता है यही चित्सत्ता है। यह आत्मसत्ता देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, सजातीय विजातीय स्वगतभेद से शून्य है, यह परमप्रिय है। इससे अन्यके प्रति राग मत करो। यही अविनाशी है, इसलिए विनाशी पदार्थोंमें मत लगो, वर्ना जन्म-मरण भोगोगे। और यही चिन्मात्र है, माने इसके अतिरिक्त सब सत्ता पर प्रकाश्य है, अध्यस्त है।

तो जहाँ अपने स्वरूपको जाना तो क्या होगा? कि **सर्वथा वर्तमानोऽपि**। फिर यह प्रश्न नहीं रहेगा कि योरोपमें रहें कि एशियामें? 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'। फिर शरीरका मृत्युकाल है कि जीवनकाल-यह प्रश्न नहीं रहेगा। जो जीवनकालमें है सो ही मृत्युकालमें है। जो एशियामें है वही योरोपमें है। जो नरकमें है वही स्वर्गमें है। जो तत्त्व सृष्टिकालमें है

वही तत्त्व प्रलयकालमें है। जो नरकमें है वही लोकालोक और लोकातीतमें भी है।

यदिहास्ति तदमुत्र यदमुत्र तदन्विहि:।

अरे, जानो तो सही। देखो वह मजा, वह परम स्वातंत्र्य। देखो, तुम मल्लाहके काबूमें कबतक हो? जबतक नावपर बैठे हो। वह नावको घुमावे, नचावे, डुबावे, रोक दे। मल्लाहका तुम्हारे ऊपर काबू कबतक है? जबतक तुम नावमें बैठे हो।

यन्त्रारूढानि मायया।

ईश्वरने कह दिया, भाई तुम यन्त्रारूढ़ हो और हम तुमको घुमानेवाले हैं, कबतक? कि जबतक यन्त्रपर बैठे हुए हो और यन्त्रसे तादात्म्य छूटा और उसके बाद पारतन्त्र्य भी छूटा। कर्मका पारतन्त्र्य छूट गया, कर्मफलका पारतन्त्र्य छूट गया। कहाँ होगा कर्मफल? अन्त:करणमें होगा। यह पैसा-वैसा कर्मफल नहीं है। कर्मका फल केवल अन्त:करणमें जो मैं सुखी, मैं दु:खी-जो सुखाकार-दु:खाकार वृत्ति होती है, वही कर्मफल है। यदि धनी दु:खी है तो पापका फल भोग रहा है और यदि गरीब सुखी है तो पुण्यका फल भोग रहा है। क्योंकि फल तो वह होता है जो आत्मासे संसृष्ट होता है। पैसा कहीं आत्मासे संसृष्ट है? असलमें पैसेवाला भी दु:खी है, तो क्या पुण्यका फल पैसा है और उसको वह भोग रहा है? क्या पैसेको भोग रहा है? और यदि गरीब भी, बिना पैसेवाला भी सुखी है, तो क्या वह पापका फल भोग रहा है? वह हृदयमें जो सुखाकार-दु:खाकार वृत्ति होती है, वह असलमें पापका, पुण्यका फल होता है। पाप-पुण्यका संस्कार न मकानमें होता, न पैसेमें होता, न औरतमें होता, न मर्दमें होता। वह कहाँ होता है? कर्मका संस्कार अन्त:करणमें होता है। और वह संस्कार जब फलदानोन्मुख होता है, तो सुखाकार अथवा दु:खाकार परिणामको प्राप्त होता है। सब दु:खी, चाहे वे धनी हों, चाहे गरीब, जो दु:खी है वह पापका फल भोग रहा है और जो सुखी है वह पुण्यका फल भोग रहा है। उसका पुण्य-संस्कार फलदानोन्मुख हो गया है। और उसका पाप संस्कार फलदानोन्मुख हो गया है।

अब बोले—मैं दु:खी और मैं सुखी—यह अभिमान? यह अज्ञानजन्य

है। तुमने सुखाकार वृत्तिसे तादात्म्य क्यों किया? इसको फल क्यों बोलते हैं? वृत्तिमें प्रतिबिम्बित जो आत्माभास है, उसीको फल बोलते हैं। प्रतिबिम्बको ही फल बोलते हैं, उसके साथ जब तादात्म्य करोगे कि यह मैं हूँ, तो तुम सुखी और दुःखी हो जाओगे। और, जहाँ तत्त्वज्ञान हो गया वहाँ- 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'। गरीबीमें भी तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा और अमीरीमें भी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा। भोग मिले तब भी, न मिले तब भी, मकानमें रहो तो भी, जंगलमें रहो तो भी। बहुत विलक्षण स्वातन्त्र्य है यह। यहाँ कर्म और कर्मफलकी गति नहीं है—**सर्वथा वर्तमानोऽपि**। देश-विदेश नहीं है इसमें। जन्म-मरण और सृष्टि-प्रलय नहीं है इसमें। ऐसा सुख। इसमें वैकुण्ठ देश-विदेशमें रहें तो सुखी हों, यह बात नहीं है। हम आपको क्या सुनावें, वैकुण्ठ व्यापक है। इस हॉलमें जहाँ हम बैठे हैं, यहाँ वैकुण्ठ है। यह जो तुम्हारा हृदय है, इसमें भी वैकुण्ठ है। तुम जब चाहो जब वैकुण्ठमें बैठ जाओ और नरक भी है भला तुम चाहो तो नरकमें बैठ जाओ। ये दोनों—सुखाकार वृत्ति और दुःखाकार वृत्ति हृदयमें हैं। भागवतमें पढ़ना, तीसरे स्कन्धमें है भला—

नरकस्तम उन्नाहो स्वर्गसत्त्वगुणोदयाः।

जब जीवनमें तमोगुण बढ़ता है, उसका नाम नरक है। कपिलदेवजी देवहूतिसे कहते हैं जब अपने जीवनमें सात्त्विक प्रसाद आवे तब स्वर्ग है।

तो 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—नरकमें रहो चाहे स्वर्गमें और स्वदेशमें रहो चाहे परदेशमें, बहिर्मुख रहो चाहे अन्तर्मुख, समाधिमें रहो चाहे विक्षेपमें, तमस् बरतें चाहे रजस्, रजस् बरतें चाहे सत्त्व, सत्त्व बरतें चाहे तमस्, सर्वथा वर्तमानोऽपि।

हे भगवान्! वसिष्ठादिवत् पौरोहित्य करना पड़े, दत्तात्रेयादिवत् अवधूती हो, जनकादिवत् राजत्व होवे; ***कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी,*** शुक त्यागी हैं, कृष्ण भोगी हैं ***नृपौ जनकराघवौ***-जनक और रामचन्द्र राजा हैं, *कर्मनिष्ठा वसिष्ठाद्या*-वसिष्ठ आदि कर्मनिष्ठ हैं। ***सर्वे ते ज्ञानिनः समाः*** इनके ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है। यह नहीं कि शुकदेव ज्यादा ज्ञानी हैं और वसिष्ठ कम ज्ञानी हैं और कृष्ण कम ज्ञानी हैं और राम ज्यादा ज्ञानी हैं—ऐसा नहीं, ज्ञान सबका समान है।

'स्वाराज्य सिद्धि'कार कहते हैं—

योगिनो भोगिनो रागिणश्चेतरे दृश्यन्ते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः।

ज्ञानीकी एकरूप स्थिति देखनेमें नहीं आती। चार आदमियोंने साथ-साथ भाँग पी। एक गाने लगा, एक सो गया, एक ध्यान करने लगा, एक गाली देने लगा। बोले—यह क्या, भाँग एक और नशा चार? बोले—अपनी-अपनी प्रकृति। तो बोले—तब क्या यह उच्छृंखल स्थिति ही तत्त्व-ज्ञानका फल है? बोले—अरे 'अपि' शब्दपर तो ध्यान दो बाबा! **सर्वथा वर्तमानोऽपि। किं पुनः मर्यादायां स्थितः?** सर्वथा वर्तमान होनेपर भी उसका पुनर्जन्म नहीं होता-**न स भूयोऽभिजायते**। तो यदि मर्यादामें स्थित होवे, तब तो कहना ही क्या? 'अपि' शब्दका यह अर्थ निकलता है। जैसे बोलते हैं न—**हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते** ज्ञानी यदि सारी दुनियाकी हत्या कर डाले, तो भी न वह मारता है, न मारा जाता है, न बद्ध होता है। तो बोले—फिर तो ज्ञानीका यही काम हुआ कि वह दुनियाको मारा करे। बोले—भाई, 'अपि' शब्द पर भी तो ध्यान दो उसका अर्थ है कि न मारे, तब तो कहना ही क्या! मारे, तब भी हानि नहीं, 'अपि' शब्दका यही अर्थ है।

तो यदि ज्ञानी मर्यादामें हो, तब उसका पुनर्जन्म नहीं होता, जन्म-मरणसे मुक्त—इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या! यदि वह कदाचित् ऐसा न होवे तब भी। ब्रह्माकी तरह सृष्टि बनावे, विष्णुकी तरह पालन करे, रुद्रकी तरह संहार करे, सनकादिकोंकी तरह बालवत् खेल खेले, क्रीड़ा करे, शुकदेवादिवत् समाधि लगावे, दत्तात्रेयादिवत् स्वच्छन्द आचरण करे, बन्धन कट गये कि नहीं? अब देखो, बन्धन जो था, कि ऐसे रहो, ऐसे मत रहो—ये सारे-के-सारे बन्धन कट गये कि नहीं? क्योंकि उसकी आत्मा जन्म-मरणशील नहीं है। आत्माका स्वरूप जन्म और मरण नहीं है।

इस सम्बन्धमें यदि विशेष देखना हो, तो ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें तदधिगम अधिकरणमें देखना चाहिए—***तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद्व्यपदेशात्।*** (४.१.१३) **इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु।** (४.१.१४)

उसमें क्या बताया? विलक्षण है—कि परमात्माका अधिगम होना

जरूरी है और यदि अधिगम हो गया—अधिगम माने परमात्माका आत्मत्वेन बोध हो गया, परमात्माको सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न रूपसे जान लिया-तो इससे क्या होगा कि 'उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेष विनाशौ' पूर्वाघका विनाश हो गया। तत्त्वज्ञानके पूर्व, वृत्तिज्ञान उदय होनेके पूर्व जितनी कर्मराशि थी, वह तो भस्म हो गयी; और आगे जो कर्म रह गये, चाहे वह अवधूती हो, चाहे वह समाधि हो और चाहे वह धर्मानुष्ठान होवे, चाहे स्वच्छन्द आचरण होवे, उससे असंश्लेष हो गया। इसका स्वच्छन्द आचरणके समर्थनमें बिलकुल अभिप्राय नहीं है, ज्ञानके माहात्म्यका प्रतिपादन करनेमें इसका अभिप्राय है। तत्त्वज्ञानकी ऐसी अभूतपूर्व महिमा है।

एक ही तरहसे ज्ञानी रहते हों सो बात नहीं है, कोई योगीके रूपमें अन्तर्मुख रहते हैं, कोई भोगीके रूपमें रहते हैं, कोई रागीके रूपमें रहते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरो योगी विचचार महीतले॥

था तो ज्ञानी, पर कहीं शिष्टकी तरह रहता, कहीं भ्रष्टकी तरह रहता, कहीं भूत-पिशाचकी तरह रहता, अनेक रूप धारण करके, वह विचरण करता। ऐसी है ज्ञानीकी स्थिति। कोई देवता, कोई दानव-दैत्य, कोई मनुष्य, कोई शास्त्र, कोई विधि-विधान उसके ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। क्योंकि जिस मशीनको पकड़कर ईश्वर नचाता था—**यन्त्रारूढानि मायया**—यन्त्रपरसे वह उतर गया, यन्त्र ही टूट गया, यन्त्र ही मिथ्या हो गया, जिस यन्त्रसे तादात्म्य किये हुए था, वह यन्त्र ही मिथ्या हो गया। ऐसी स्थिति हुई कि उसको कोई पहचान न सके।

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥

कोई कहे सन्त है, कोई कहे असन्त है, कोई कहे मूर्ख है, कोई कहे विद्वान् है, कोई कहे सदाचारी है, कोई कहे दुराचारी है।

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः
किं वा तर्कनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्थं तर्क-वितर्कजल्पमुखरैः सम्भाषयाणैजनैः
न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः॥

यह ब्राह्मण है कि चाण्डाल, कोई तपस्वी है कि शूद्र है, यह तार्किक विद्वान् है कि कोई योगेश्वर है, लोग उसके बारेमें तर्क-वितर्क, वाद-विवाद करते रहते हैं, सुन करके उसके मनमें न खुशी होती है, न नाराजगी होती है। वह तो अपनी मस्तीमें, अपनी मौजमें चलता रहता है। ऐसा स्वातन्त्र्य है। 'स्वातंत्र्य परमं सुखम्'। जातिसे स्वातन्त्र्य, समाधिसे स्वातन्त्र्य, तर्कसे स्वातन्त्र्य, वर्णाश्रमसे स्वातन्त्र्य, श्रुतिस्मृतिसे स्वातन्त्र्य, धर्माधर्मसे स्वातन्त्र्य, ईश्वर परमेश्वरसे स्वातन्त्र्य, माया अविद्यासे स्वातन्त्र्य। उसके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, तो उसके लिए स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्यका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। ऐसी अद्भुत स्थिति।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥

सारा जगत् नन्दनवन हो गया, सारे वृक्ष कल्पद्रुम हो गये। सारे कर्म धर्म हो गये, पुण्य हो गये।

हिन्दीमें बोले चाहे संस्कृतमें बोले, क्षेत्रीय भाषामें बोले, चाहे राष्ट्रीय भाषामें बोले, सब वेदवाणी है। जो बोलता है वह वेदवाणी है। सारी धरती काशी हो गयी—***वाराणसी मेदनी।*** हाय-हाय करके चिल्ला रहा है और धरतीमें लोट-पोट हो रहा है और समाधि लगाकर बैठा है, सारी स्थिति ही ब्रह्मरूप है—***सर्वावस्थितिरस्य ब्रह्मरूपा***-सब उसकी दृष्टिमें परब्रह्म है।

वैकल्पिक उपाय

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

संगति—'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'—ऐसी महिमा जो तत्त्वज्ञानकी बतायी तो बोले—भाई, ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिए, यह ज्ञान, यह आत्मदर्शन प्राप्त करनेके लिए क्या करना चाहिए?

तो आप गीताकी शैली देखो। दो बात भगवान् चौदहवें अध्यायमें बताते हैं। बोले—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १४.१९

यह गुणातीत होनेका साधन बताया। क्या कि जो ऐसा समझता है कि प्रकृतिके गुणोंके अतिरिक्त दूसरा तो कोई कर्त्ता नहीं है और स्वयं वह अपनेको द्रष्टा समझता है तथा गुणोंका अधिष्ठान-प्रकाशक समझता है, वह स्वयं परमात्मा ही हो गया, भगवान् कहते हैं कि मेरा स्वरूप ही हो गया। यह उपाय तो बताया गुणातीतका वर्णन करनेसे पहले और गुणातीतका वर्णन करनेके बाद एक उपाय और बतलाया—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १४.२६

विचारसे यदि देखोगे तो पहले उपायसे जिसको गुणातीत-स्वरूपका बोध नहीं हुआ, उसके लिए दूसरा उपाय बताया गया, यह बात वहाँ आपको स्पष्ट मालूम पड़ेगी।

इसी शैलीसे यहाँ तेरहवें अध्यायमें भी बता चुके हैं कि **अमानित्वादि** साधनोंसे सम्पन्न होकर जिसने क्षेत्रज्ञ और ब्रह्मकी अभेदताका विचार किया,

उसको तो ब्रह्मज्ञान हो गया। यदि नहीं हुआ तो दूसरा उपाय यह बताया कि प्रकृति-पुरुषका विवेक करके प्रकृति और प्राकृतको पुरुषमें अध्यस्त जान ले। अर्थात् यह जान ले कि अपने स्वरूपमें अविद्या कल्पित प्रकृति अपने गुणोंके सहित अध्यस्त है। यहाँ भी ये दो उपाय तो हो ही गये।

अब बोले—क्या ये उपाय इतने ही हैं? कि नहीं, और भी उपाय अधिकारी भेदसे हो सकते हैं। तो अब वैकल्पिक उपाय आत्मदर्शनके बताते हैं।

आत्मस्वरूपज्ञाने उत्तममध्यममन्दमन्दतराधिकारक्रमेण उपाय चतुष्टयम् आह—अधिकारी भेदसे चार विकल्प बताते हैं :—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्यः उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३.२४-२५)

अर्थः-कोई ध्यानयोगके द्वारा अपने आपसे अपने आपको देखते हैं। दूसरे सांख्ययोगसे और तीसरे कर्मयोगसे अपने आपको देखते हैं। इनसे अलग (चौथे) तो इनमें-से कोई साधन नहीं जानकर दूसरोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। ऐसे वे श्रवण-परायण भी मृत्युको तर जाते हैं।

'केचिद् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति अन्ये सांख्येन योगेन आत्मानं पश्यन्ति च अपरे कर्मयोगेन आत्मानं पश्यन्ति'। फल देखो, सबका एक ही है-'आत्मानं पश्यन्ति।' सबको देखना है, पहचानना है अपने आपको। आत्मदर्शन फल है। **आत्मानं पश्यन्ति।** अर्थात् **आत्मानं परमात्मानं पश्यन्ति।** अपने आपको परमात्माके रूपमें देखते हैं। किन्तु अधिकारी और तदनुसारी साधनमें अन्तर हो जाता है।

प्रथम वैकल्पिक साधन ध्यानका है। इन चारमें यह उत्तम अधिकारी है। पहले 'ध्यानेन'का अभिप्राय समझो। जैसा ध्येय होता है उसके अनुरूप ध्यान होता है। रुपयेका भी ध्यान होता है, रुपयेकी भी धारणा होती है। रुपयेका भाव भी होता है। 'के भाव है? के धारणा है? के ध्यान है?' सबेरे उठकर दुहराते हैं लोग। माने बाजारका क्या रूप होगा? तो वह भी एक

ध्यान है। तो वह बाजारका ध्यान छोड़ो। दूसरेका ध्यान छोड़े बिना परमात्माका ध्यान नहीं होगा। हृदयको मुसाफिरखाना नहीं बनाया जा सकता कि दस आवें और दस जायें और उसीमें अपने प्रियतमसे मिल भी लें! उसके लिए एकान्त कमरा चाहिए, हृदयका एकान्त कमरा चाहिए।

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

श्रुति कहती है यह परमात्मा गुहामें छिपा हुआ है।

अच्छा, छोड़ो संसारका ध्यान। वैसे आप जानते हैं कि मरी हुई पत्नीका भी अनजानमें लोग ध्यान कर बैठते हैं और उसका दर्शन होता है। असलमें वह पत्नी नहीं आती, उनके ध्यानसे बनी हुई मूर्ति चुड़ैल बनकर उनके पीछे आती है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें इसका बड़ा वर्णन है। ***नष्टवनिता-साक्षात्कारवत्।*** ध्यानके बलसे मरी हुई पत्नीका दर्शन होता है। परन्तु यह दर्शन तो किसी कामका नहीं।

अच्छा, तो याज्ञिक लोग जब यज्ञानुष्ठान करते हैं तो देवताका ध्यान करते हैं—

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट् करिष्यन्।

जब इन्द्र देवताके लिए हविष्य हाथमें लेवें तो इन्द्र देवताका ध्यान करें—***वज्रहस्तः पुरन्दरः।*** यह एक ध्यान हुआ। लेकिन वह बदलता रहेगा क्योंकि जब इन्द्र देवताके लिए हविष्य हाथमें लिया तो इन्द्र देवताका ध्यान, जब पूषा देवताके लिए हविष्य हाथमें लिया तो पूषा देवताका ध्यान, जब आदित्य देवताके लिए हविष्य लिया तो आदित्य देवताका ध्यान। जिस-जिस देवताके लिए हविष्य हाथमें लेंगे, उसका-उसका ध्यान करना होगा। यह तो घर-गृहस्थीका ध्यान हो गया—कि जो अतिथि घरमें आगया, उसको खिला दिया।

अब देखो भक्तका ध्यान। भक्तका ध्यान तीन प्रकारका होता है। एक—योगके अंगके रूपमें अपने इष्ट देवताका ध्यान, ऐसा कि ध्यान करते-करते समाधि लग जाये। दो-ज्ञानके अंगके रूपमें इष्ट देवताका ध्यान, जिससे संसारमें वैराग्य हो जाये और जिज्ञासाका उदय हो। और तीन—भगवान्के लीला-लोकमें प्रवेश करनेके लिए, प्रेमके अंगके रूपमें भगवान्का ध्यान। योगांग ध्यान, ज्ञानांग ध्यान, प्रेमांग ध्यान—ये तीनों ध्यानी भक्त हैं। उन तीनों

ध्यानोंकी भी यहाँ चर्चा नहीं है। इष्ट-देवताका ध्यान यहाँ नहीं है, न योगांगरूपसे न प्रेमांगरूपसे, और न ज्ञानांगरूपसे क्योंकि **आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति।** ध्यानकी यहाँ विलक्षण प्रक्रिया दी हुई है।

अच्छा सांख्यवादी कहते हैं कि ध्यान करना हो तो कर्तृत्वपूर्वक अपनी चित्तवृत्तिको समेटनेकी जरूरत नहीं है, एक बातका ध्यान रखो कि कहीं राग-द्वेष न होने पावे और व्यवहार करते रहो-***रागोपहतिर्ध्यानम्।***

यह सांख्य दर्शनका सूत्र ही है। कहीं राग-द्वेष न होने पावे। जब तुम संसारमें किसीकी निन्दा करने लगते हो या किसीकी स्तुति करने लगते हो, तो उसमें निन्द्यके दोष या स्तुत्यके गुण प्रकट नहीं होते। वह तो बेवकूफ लोग समझते हैं कि हाय-हाय वह कितना बुरा है कि तुम उसकी निन्दा कर रहे हो या वह कितना महान् है कि तुम उसकी स्तुति कर रहे हो। वह तो तुम उसके ऊपर गुण-दोषका आरोप कर रहे हो। तुम उसको नहीं जानते हो। असलमें तुम अपने हृदयकी अभिव्यक्ति करते हो, तुम्हारे दिलमें क्या जहर भरा है या क्या अमृत भरा है—इस बातको तुम उगलते हो। किसीकी निन्दा करनेसे, जिसकी निन्दा की जाती है उसके साथ वे दोष जुड़ नहीं जाते और किसीकी तारीफ करनेसे उसके साथ वे गुण जुड़ नहीं जाते। तुम्हारे हृदयमें उसके प्रति क्या राग या क्या द्वेष भरा हुआ है—यही जाहिर होता है। जब आदमीको गाली दी जाती है तो जिसको दी जाती है उसको गाली नहीं लगती, देनेवालेके हृदयमें गाली-ही-गाली भरी हुई है, इस बातका परिचय मिल जाता है। तो आप अपने आपको जाहिर करते हैं।

सांख्यवादियोंका कहना है कि ध्यान क्या है कि इस प्रकृतिके साम्राज्यमें राग-द्वेष मत होने दो—

सुधा सराहिये अमरता गरल सराहिये मीचु।

अमृतकी यह प्रशंसा है कि उसको सूँघने मात्रसे ही मनुष्य अमर हो जाये, पीनेकी तो बात ही क्या? और विषकी यह महानता है, यह महत्ता है कि उसके सूँघनेमात्रसे ही मनुष्य मर जाये। विष भी प्रशंसनीय है और अमृत भी प्रशंसनीय है। उनकी अपनी-अपनी महत्ता पृथक् होती है। तो संसारमें राग-द्वेष न होने पावे, सब प्रकृतिका विलास है। सांख्यका दृष्टिकोण यह है कि सबमें जो पुरुष है वह तो असंग है और जितना दृश्य है वह

सब प्रकृतिका विलास है। इसमें कहीं भी राग-द्वेष नहीं करना **रागोपहतिर्ध्यानम्।**

अब योगियोंका ध्यान देखो। वह ध्यान इससे विलक्षण है। योगियोंका ध्यान है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

जैसे गंगाजलकी धारा समुद्रमें गिरती है, जैसे एक लोटेका पानी दूसरे लोटेमें गिरता है, जैसे तेलकी धारा अविच्छिन्न संततिरूपा दूसरे मात्रमें गिरती है, इसी प्रकार अपने ध्येयको विषय करना—यह योगका ध्यान है। अब इसीको जब साकार इष्टदेवमें लगावेंगे तो वह समाधिका अंग ध्यान हो जायेगा। और जब उसको सर्वस्व समझ लेंगे तो भक्ति हो जायेगी। और यदि वह केवल संसारसे मन हटानेका, वैराग्यका साधनमात्र है, क्योंकि अन्ततोगत्वा तो वेदान्तका विचार करना है, तो वह ज्ञानका अंग हो जायेगा। भक्तोंके ध्यानकी अभी चर्चा नहीं करते हैं—उसमें भक्त लोग धाम, रूप, गुण, चेष्टा, क्रिया, लीला, स्वभाव, सेवा—इन सबका समागम पर्यन्तका ध्यान करते हैं। वह पृथक् विषय है।

अब वेदान्तमें ध्यान किसको कहते हैं, इसकी चर्चा करते हैं। देखो, तर्क-वितर्कका नाम वेदान्त नहीं है, इस बातको तो बिलकुल छोड़ देना। युक्ति और प्रयुक्तिका नाम वेदान्त नहीं है। अकलका जो खेल है, बुद्धिका जो विलास है, व्यायाम है, उसका नाम वेदान्त नहीं है। वेदान्त माने वेदका अन्तिम भाग, जहाँ वेद प्रतिपाद्य धर्म-कर्मका अन्त होकर लक्ष्यभूत जो वस्तु है, उसका साक्षात्कार हो जाता है; उसको वेदान्त बोलते हैं। ज्ञानकी पराकाष्ठा, ज्ञानकी अंतिम कक्षा; जिसको जानकर कुछ जानना शेष नहीं रहता। तो वेदान्तमें 'ध्यायति' शब्दका जो प्रयोग होता है, वह छान्दोग्योपनिषद्में तीन बार आया है।

ध्यायतीव वकः। ध्यायतीव पृथिवी। ध्यायन्तीव पर्वताः **तीन उपमा दी गयी है ध्यानकी—बगुला ध्यान-सा करता है, बिलकुल शरीर हिलता नहीं, चारों ओरसे अपने आपको समेटके जैसे बैठता है।** ***ध्यायतीव बकः*** **में शरीरकी स्थिरता है।**

ध्यायतीव पृथिवी—**चाहे कोई कुआँ खोदे, चाहे कोई बाँध बनावे,**

चाहे कोई पूजा करे, पृथिवी अपनी जगहपर अविचल, माने विघ्नसे प्रतिहत न हो। बगुलाके सामने मछली आवे तो उसका ध्यान टूट जाता है। परन्तु 'ध्यायतीव पृथिवी' जैसे पृथिवी ध्यान कर रही है, इसमें पृथिवी पूजासे भी विकृत नहीं होती और खोदनेसे भी विकृत नहीं होती। मच्छर आकर काट दे, तो ध्यान छोड़नेकी जरूरत नहीं है। और किसीने आकर प्रणाम ही कर लिया तो भी ध्यान नहीं छोड़ना है।

ध्यायन्तीव पर्वताः—पर्वत मानो ध्यान कर रहे हैं। इसमें है दृढ़ता। बिलकुल शिला हृदय। श्री उड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

निरस्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥

शरीर स्थिर हो और प्रलोभन कोई बहिर्मुख न कर सके और सारे संकल्प मिट जायें; जैसे घन शिला बिना किसी दूसरी वस्तुको अवकाश दिये स्थिर रहती है, ऐसी स्थिरता हो और न जाग्रत् हो, न निद्रा हो, माने जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति न हो; और ऐसी स्थिति हो घन शिलावत्; इसको स्वरूप-स्थिति बोलते हैं। वे बोलते थे—

जडतां वर्जयित्वैतां शिलायाः हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा॥

ऐसी अमनस्कता आवे हृदयमें कि जैसे शिलाका हृदय हो, चट्टानका दिल। जैसे चट्टानमें कोई संकल्प नहीं है, ऐसे हृदय संकल्प विनिर्मुक्त होवे।

तो अब देखो—एक ध्यान यह हुआ। पर वेदान्तमें एक बात विचार करनेकी है। ये बताते हैं कि कोई भी क्रिया या भावना या अभ्यास या चिन्तन जो होता है, वह प्रतिपक्षीकी निवृत्तिके लिए होता है। अगर आप यह नहीं समझोगे कि उसका निवर्त्य क्या है, माने किस चीजको हटानेके लिए आप ध्यानको अपने हृदयमें बसा रहे हो, तो आपका ध्यान आपकी लक्ष्यपूर्तिका साधन नहीं बनेगा। यह ध्यानके साथ रिश्ता जोड़ा है, काहेके लिए? अरे पुलिसको तो बुला लाये, काहेके लिए? चोरको हटानके लिए, चोर पकड़नेके लिए, तो यह ध्यान भी पुलिस ही है। हमेशा घरमें रखनेका नहीं है। यह किस चोरको भगानके लिए ध्यानकी पुलिस बुलायी? आपको इसबातपर ध्यान देना चाहिए। आपके मनमें संसारकी आसक्ति है, संसारका

मोह है, तो क्या उसको मिटानेके लिए आपने ध्यानको बुलाया है ? या कि आपके मनमें चंचलता है, उसकी निवृत्तिके लिए ध्यानको बुलाया है ? या कि आपको अज्ञान है, उसको हटानेके लिए ध्यानको बुलाया है ? या कि आपको दुनियाकी बात अच्छी नहीं लगती, सहज स्वभावसे तो उसको हटानेके लिए ध्यानको बुलाया है? आखिर ध्यानका निवर्त्य क्या है? व्यावर्त्य क्या है ? इस बातको समझना आवश्यक है। यह ध्यानका प्रसंग है, इसलिए कुछ थोड़ा ध्यानके सम्बन्धमें इधर-उधर कर लें।

यदि किसीको मोह और आसक्ति होवे तो उस समय यदि केवल एकाग्रता मात्र ही तुम करोगे तो जितनी देर एकाग्रता रहेगी उतनी देर तो मोह और आसक्तिकी प्रतीति नहीं होगी, परन्तु जब एकाग्रता टूट जायेगी तो मोह और आसक्ति फिर आवेगी। मोह और आसक्तिको हटानेके लिए तो वैराग्य चाहिए और वैराग्यके लिए विवेक चाहिए परन्तु केवल विवेक समयपर काम नहीं देता है। इसलिए ईश्वरकी जो आसक्ति और ईश्वरका जो ध्यान है, सो होना चाहिए। ईश्वरके प्रति मोह और ईश्वरके प्रति आसक्ति उत्पन्न होनी चाहिए विवेक करके मनको संसारकी ओरसे हटाना चाहिए। ईश्वरके प्रति मोह, आसक्ति उत्पन्न करे, ऐसा ध्यान आपको मोह और आसक्ति छुड़ानेके लिए काम देगा।

मान लो कि आपका मन केवल चंचल हो, आसक्ति न हो, मोह न हो, तब कैसा ध्यान करें ? इसको आप ऐसे समझ सकते हैं कि क्या आपका मन एकान्तमें बैठनेपर किसी चीजकी खास तौरसे याद करता रहता है कि यहाँसे वहाँ भटकता रहता है ? यदि खास तौरसे किसी चीजकी यादमें आपका मन लगता हो—पत्नीमें गया, पुत्रमें गया, धनमें गया, मित्रमें गया, पहले लोग प्राय: सम्बन्धियोंका ही चिन्तन ज्यादा करते थे, आजकल 'फ्रेंड' नामकी चीज और आ गयी है, माने मनके लिए एक काम और बढ़ गया है तो समझो कि आपके मनमें मोह है, आसक्ति है। और यदि किसी खास चीजमें मन नहीं जाता बल्कि इधर-उधर भटकता है, तो समझो कि मनमें चंचलता है। यदि इस मोह और आसक्तिको मिटाना हो तब तो ईश्वरका ध्यान करना चाहिए। उससे एक ओर मन लगेगा और दूसरी ओरसे वैराग्य होगा। भक्ति, वैराग्य दोनों एक साथ आते हैं। विवेकसे भी वैराग्य होता है। परन्तु विवेकके

साथ-साथ यदि भक्ति हो तो वैराग्यमें स्थिरता आ जाती है। यह बात अनुभवकी बताता हूँ। विवेकके साथ भक्ति हो तो वैराग्यमें दृढ़ता होती है।

अच्छा, यदि आपके मनमें कहीं मोह और आसक्ति न हो, मात्र चंचलता हो, तो योगकी रीतिसे ध्यान चाहिए। योगकी रीतिसे दो तरहका ध्यान होता है—'प्रत्ययैकतानता ध्यानं'—एक वृत्तिको, किसी भी एक वृत्तिको पकड़ लीजिये और उसको एक लक्ष्यमें ले चलिये। अथवा सांख्यकी रीतिसे ध्यान कीजिये, फिर राग-द्वेष नहीं होगा। अथवा 'ध्यानं निर्विषयं मन:' अपने मनको शुद्ध करनेके लिए किसी भी विषयका चिन्तन मत कीजिये। परन्तु यदि आपके मनमें असम्भावना, विपरीत भावना होती है तो उस दोषकी निवृत्तिके लिए ध्यानका रूप दूसरा होगा। यह जो एक ही हलमें सब बैल जोते जाते हैं न, वह गलत है। कोई बैल बैलगाड़ीमें जोतनेका होता है, कोई हलमें जोतनेका होता है, कोई तेलीके कोल्हूमें जोतनेका होता है, उनकी भी योग्यता अलग-अलग होती है। सोलहो धान बाईस पसेरी नहीं होता। योग्यताके अनुसार, आप पहले अपने दोषका निश्चय कीजिये। आपके मनमें यदि चांचल्य है तो स्थिरताका अभ्यास कीजिये। आसक्ति है तो भक्तिका अभ्यास कीजिये। यदि लक्ष्यको पकड़नेकी जरूरत नहीं है तो—***ध्यानं निर्विषयं मनः***—यह समाधानकी स्थिति प्राप्त कीजिये।

ध्यानं निर्विषयं मनः—यह किस साधनमें है? परम्परा साधनमें है कि बहिरंग साधनमें है, कि अन्तरंग साधनमें है? तो कर्ममें इन्द्रादि देवताका ध्यान, उपासनामें एक इष्ट देवताका ध्यान और योगमें प्रत्ययैकतानता-ये तीनों परम्परा साधन हैं। ध्यानका नाम सुनकर लोग समझते हैं कि अब स्वर्गसे कोई लड्डू गिरा। तो परम्परा साधनवाला ध्यान दूसरा है। और बहिरंग साधन-वाला ध्यान क्या है? कि शम, दम, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधान। जैसे किसी चीजको कब्रमें दफना देते हैं, वैसे अपने मनको बिलकुल समाहित कर देना, जैसे कब्रमें दफना दिया, कोई दूसरी वस्तुको नहीं सोचना। यह एकाग्रता है। यह चांचल्य विरोधी एकाग्ररूप समाधान, यह बहिरंग ध्यान है। यह बहिरंग ध्यान क्यों है? कि यह केवल मनमें आनेवाली चंचलताका निवारण करनेवाला है। यह लक्ष्यके स्वरूपको लखानेवाला नहीं है।

अब आपको यदि अज्ञानका विरोधी ध्यान चाहिए, तो अज्ञानका नाश

तो होता है आत्मज्ञानसे, परन्तु आत्मज्ञानसे बिलकुल सन्निहित जो ध्यान है, वह ध्यान करना चाहिए। एक बात आप अपनी गाँठमें बाँध लो, चाहे तुम अपनेको देह समझो चाहे जीव समझो लेकिन जब तक मैं को तुम परिच्छिन्न समझ रहे हो, तबतक यह मेरा परिच्छिन्न आत्मा जीव ब्रह्म है—यह बात असम्भव सरीखी लगेगी। यह बिना श्रवणके कोई चाहे कि हम प्रत्यक्ष द्वारा अपनी अनन्तता और अनुमान द्वारा अपनी अनन्तता, अर्थापत्ति अनुपलब्धिके द्वारा अपनी अनन्तताका निश्चय कर लेंगे या एतिह्यसे या सम्भवसे या चेष्टासे अपनेको अनन्त ब्रह्मज्ञानके योग्य समझ लेंगे, तो यह बात बिलकुल गलत है। जबतक महापुरुषोंसे या शास्त्रोंसे श्रवण नहीं करोगे कि यह तुम्हारा जो अहमर्थके रूपमें परिच्छिन्न भासनेवाला आत्मा है, वही ब्रह्म है, तबतक बिना सुने किसीको अपने आप इसकी सम्भावना होना शक्य नहीं है; और यदि कहीं देखनेमें आती है, तो वह पूर्व-पूर्वका श्रवण किया हुआ है, यह बात माननी पड़ेगी। तो असम्भावना निवृत्त होनेके लिए कि 'मैं भला ब्रह्म अनन्त अद्वितीय कैसे हो सकता हूँ? यह अनहोनी कैसे हो सकती है कि मैं परिच्छिन्न, ब्रह्म होऊँ?'—श्रवण चाहिए। और एक विपरीत भावना भी बैठी हुई है। वह क्या? कि मैं लोकलोकान्तरमें जाने-आनेवाला संसारी परिच्छिन्न जीव हूँ। यह विपरीत भावना है 'मैं पाप-पुण्य करनेवाला कर्ता हूँ', मैं सुख-दुःख भोगनेवाला भोक्ता हूँ, मैं देह हूँ—यह विपरीत भावना है। तो ध्यान कैसा चाहिए ? ध्यान ऐसा चाहिए जो विपरीत भावनाको मिटा दे। मुख्यरूपसे ध्यान चाहिए विपर्ययको मिटानेवाला। विपर्यय माने क्या? मैं ब्राह्मण हूँ—यह विपर्यय है। मैं संन्यासी हूँ—यह विपर्यय है। मैं हिन्दू हूँ—यह विपर्यय है। मैं मनुष्य हूँ—यह भी विपर्यय है। ये सब तो हड्डी मांस चामवाले इस शरीरके आधारपर कल्पित प्रत्यय हैं। इस विपर्ययको दूर होना चाहिए। तो जरा आप लाओ दृढ़ता।

नेति नेतीति वाक्येन शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात् तदस्मीति सुखी भव॥

पहले नेति नेति—यह नहीं, यह नहीं? ध्यान माने जो विपरीत प्रत्यय हैं, माने अनात्माकार प्रत्यय हैं, जो अनात्माकार वृत्ति प्रवाह है, उसका तिरस्कार करके किसी भी परिच्छिन्न पदार्थमें मैं-पनेकी बुद्धि न होने पावे।

विजातीय प्रत्ययके तिरस्कारपूर्वक, माने अनात्माकार वृत्तिके तिरस्कार पूर्वक—परिच्छिन्नात्माकार वृत्तिका जो प्रवाह है, उसका तिरस्कार करके प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्मैक्याकार जो वृत्ति-प्रवाह है—प्रत्यक् चैतन्य ही ब्रह्म है, इत्याकारक वृत्तिका जो प्रवाह है—उसको ध्यान कहते हैं।

श्रुत-मत अर्थमें जो सजातीय वृत्तिका प्रवाह है, जिसमें विजातीय वृत्तिका उदय नहीं है या तिरस्कार है, वह वेदान्तका ध्यान है। श्रुत अर्थ माने असम्भावित न होवे। और मत अर्थ होवे माने, युक्तिसे सिद्ध होवे। तो श्रुति-युक्तिसे सिद्ध प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मताकी तदाकार वृत्तिका जो प्रवाह है उसको ध्यान कहते हैं। इस ध्यानमें अपने अहंको तो परिच्छिन्न करो मत, काटो मत, और ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाह होता रहे। मनोवृत्तिका प्रवाह तो होवे ब्रह्माकार, परन्तु 'अहं वृत्तिमान्, अहं प्रवहवान्' इत्याकारक अभिमानका उदय न होवे।

एक महात्मा ऐसे बोलते हैं—अब एक-एक महात्माकी याद करें तो प्रसंग बहुत लम्बा हो जायेगा, क्योंकि इतने महात्माओंसे बरसों तक मुख्य प्रश्न ही यही करते थे कि ब्रह्माकार वृत्तिका स्वरूप क्या है? तो एक महात्मा ऐसे बोलते थे—***कर्तृत्वभोक्तृत्वोल्लेखशून्य***—जिस अन्त:करणमें अपने कर्तापन और भोक्तापन, माने मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ और मैं सुखी-दु:खी हूँ, यह उल्लेख तो न होवे; और ***वासनोन्मेषशून्य***—वासनाका उन्मेष न होता हो; ऐसे शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिमात्र अन्त:करणमें जो चिन्मात्र, अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन है, उसको ध्यान बोलते हैं।

हम आपको वह बात भी बता देंगे कि गलेकी यह नस दबा दो तो कैसा ध्यान होता है; वह बेहोशी होती है, ध्यान नहीं होता। जितने तरहके ध्यान किये जाते हैं, कहो तो उनकी पोल पट्टी भी बता दें। क्या दोष है सो बता दें। हम खुद ही बताते हैं कि ऐसे ध्यान करो। तो फिर उसकी पोलपट्टी बताने लगेंगे तो जिनको बताया है, उनके मनमें शंका हो जायेगी। अभी दो चार दिन पहले ही एक सज्जन आगये थे, वे पूछ रहे थे कि मन एकाग्र नहीं होता, तो कैसे हो? तो मैंने उनको बताया कि दोनों आँखकी पुतली हिलने न पावे, न बायें न दायें, न ऊपर न नीचे; केवल इतना ही ध्यान रखो तुम कि पुतली न हिलने पावे, तुम्हारा मन एकाग्र हो जायेगा। देखो मन एकाग्र

करनेके लिए यह बिलकुल ठीक उपाय है। कहो तो इसका विज्ञान बता दें। इसका विज्ञान क्या है? कि जाग्रत् अवस्थामें उपनिषद्के अनुसार पुरुषका निवास आँखमें है। नेत्र व्यवहार पूर्वक ही शरीरके सारे व्यवहार होते हैं। तो जब नेत्रकी व्यावृति बन्द कर दी, नेत्रका व्यवहार बन्द कर दिया तो ज्ञान शक्तिका व्यवहार बन्द हो गया। ज्ञानशक्तिका व्यवहार बन्द हुआ तो क्रिया शक्ति शिथिल पड़ गयी, माने प्राण भी शिथिल हो जायेंगे। सांसका गमनागमन मन्द हो जायेगा और सुषुम्नाका संचार होने लगेगा। तुम्हारा सारा ध्यान तो चला गया आँखकी पुतलीमें कि हिलने न पावे। अब मन चंचल कहाँसे होगा?

प्रत्येक वस्तुका विज्ञान होता है—क्रियाका विज्ञान होता है, भावका विज्ञान होता है। पर देखना तो यह है कि तुम्हें तो वह ध्यान चाहिए, कि जिस ध्यानके करनेसे 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति'—अपनेमें, अपने आपसे, अपने आपको देखते हैं। तुमको वह ध्यान चाहिए। तो 'निर्विषयं मन:'में यह नहीं होगा। निर्विषय मन अज्ञानका विरोधी नहीं है। यदि अज्ञान निवृत्त हो चुका है, तो आप निर्विषय मन करके बैठे रहो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि कोई कर्तव्य नहीं है। और यदि आपका मन चंचल होवे तो भी निर्विषय मन करके बैठ जाओ; निर्विषयता चांचल्यकी भी विरोधी है। परन्तु यदि अज्ञानको निवृत्त करना है तो अज्ञानकी कल्पनाको निवृत्त करनेके लिए तो ज्ञानकल्पना चाहिए, ज्ञानैकाकार कल्पना चाहिए। अब ज्ञानैक-आकार कल्पना क्या है? कि विजातीय प्रत्ययका तिरस्कार करके सजातीय प्रत्ययका प्रवाह अनात्म प्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माकार-प्रत्ययका प्रवाह। यह जो वृत्ति प्रवाह है, यह आविद्यक भ्रान्तिका निवर्तक है। इसकी जो होड़ है वह भ्रान्तिके साथ है, विपर्ययके साथ है। विपर्यय, भ्रान्ति, आवरण और अविद्याका भी विवेक होता है, माने इनका भी अलगाव किया जाता है।

अच्छा, तो लो ध्यानकी पद्धति सुनाते हैं। वेदान्तमें ध्यानकी दो पद्धति हैं—एक लय पद्धति, एक बाध पद्धति। लय पद्धति क्या है? कहते हैं—अरे हमने दुनियाको छोड़ दिया, हम तो द्रष्टा हैं ज्ञान मात्र। तो ठीक है तुम ज्ञानमात्र द्रष्टा हो और जो दुनिया तुमने छोड़ दी है, इसको छोड़ा तो द्वैत है। यह तुम्हारा वेदान्तज्ञान नहीं है, द्वैतज्ञान है यह। जिसको दृश्य बनाके तुमने

छोड़ दिया और जिसके द्रष्टा होके तुम खुद बैठ गये, तो एक दृश्य है, एक द्रष्टा है, यह तो द्वैतज्ञान हुआ। तो बोले-पहले यह जो द्वैत है, यह जितना पशु-पक्षी-मनुष्यादिका भेद है, यह पाञ्चभौतिक है। तो पहले द्वैत-प्रपंचको पंचभूतोंमें लय करो। फिर पंचभूतोंमें भी कार्यको कारणमें लय करो। पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें लय करो। उसके बाद आकाशको मनमें और मनको अहंतत्त्वमें और अहंतत्त्वको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको अव्याकृतमें लय करो। अन्तमें उस अव्याकृतमें सच्चिदानन्दघन जो ब्रह्म है, अधिष्ठान तत्त्व, उसका चिन्तन करो। और जब तुमने पंचभूतसे लेकरके अव्याकृत तक लय किया, तो उसमें तुम्हारा शरीर जो है, पाँच भौतिक, वह तो गया पंचभूतमें और जो तुम्हारा अन्तःकरण है वह सब गया अहं तत्त्वमें। तो अहंतत्त्व और महत्तत्त्व व्यष्टि नहीं होते, समष्टि होते हैं। तुम्हारी उपाधि समष्टि उपाधिमें लीन हो गयी। जब कार्योपाधि कारणोपाधिमें लीन हो गयी, जब यह क्षणिकता पूर्णकालमें लीन हो गयी, तो अव्याकृत कैसा है? पूर्ण देश, पूर्णकाल और पूर्ण द्रव्यकी जो बीजात्मक समष्टि है उसको अव्याकृत कहते हैं। वहाँ नाम और रूप प्रकट नहीं हुए हैं उसके आश्रयभूत सच्चिदानन्दघन तुम हो और तुम्हारी अद्वितीयता अनन्ततामें वह अव्याकृत केवल कल्पनामात्र है, अवास्तविक है, अतत्त्व है; तुम्हीं तत्त्व हो।

तो एक ध्यान तो यह हो गया। इसका नाम लय प्रक्रिया है। अब दूसरा ध्यान देखो, दूसरा ध्यान क्या है? उसको बाध प्रक्रिया बोलते हैं।

(२)

'केचित् ध्यानेन पश्यन्ति आत्मानं, क्व पश्यन्ति, आत्मना आत्मनि पश्यन्ति। ननु आत्मा केन दृश्यो भवति?' भला आत्माको कौन देखता है। *'आत्मना पश्यन्ति, आत्मनैव आत्मा दृश्यो भवति। आत्मन्येवआत्मा दृश्यते।'* आत्माका साक्षी दूसरा नहीं होता। स्वयं साक्षी है। सर्वावभासक साक्षी आत्मा स्वयं है। वह किसीका दृश्य नहीं है। वह किसी दूसरेमें नहीं दिखता, कोई दूसरा नहीं दिखता। अपना आपा अपने आपको ही अपने आपमें ही देखता है।

तो सब लोग क्यों नहीं देखते? बोले—**ध्यानेन पश्यन्ति**। ध्यान

शब्दका अर्थ मधुसूदन सरस्वतीने किया है—*श्रवणमननपरिपाकजन्येन आत्मचिन्तनेन।*

पहले श्रुतिसे श्रवण करे कि आत्मा क्या है। जो शुद्धान्त:करण पुरुष हैं, उनका श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है, क्योंकि प्रमाण है श्रवण। कि भाई देवदत्तका घर कौन-सा है? कि वह, कौआ जिस पर बैठा है। शाखा चन्द्र न्यायसे। कौआ कोई घरका धर्म थोड़े ही है। तो सुन लिया, तो पहचान लिया। देखना दूसरी चीज है और पहचानना दूसरी चीज है। हमारे कई मित्र और मित्रोंके घरके लोग यहाँ बैठे हैं, पर हम उनको नहीं पहचानते हैं। तो आँखसे देखना दूसरी चीज है और पहचानना दूसरी चीज है।

मुझको क्या तू ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।

अरे जिसको तू अहं-अहं-अहं बोलता है, इस धाराका, प्रत्यय परम्पराका जो साक्षी है, उसको ही आत्मा बोलते हैं और दूसरा कोई नहीं हैं—यह अहमर्थका सार मैं ही। तो श्रवणसे ही काम बन जाये। लेकिन प्राय: नहीं होता, संशय होता है। यह संशय अन्त:करणकी अशुद्धिके कारण ही होता है। कई लोग संशय करते हैं तो समझते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान् हैं। बुद्धिमान् तो हैं पर शुद्धिमान् नहीं हैं। एक बुद्धिमान् होते हैं एक शुद्धिमान् होते हैं। वृत्तिका उभय कोट्यवगाहिनी होना, उसके सर्पिणी होनेका लक्षण है। जैसे साँप कभी दाहिने कभी बाँये होता है, ऐसे बुद्धि किसी पदार्थके निर्णयमें कभी अनुकूल चले, कभी प्रतिकूल चले, कभी दाहिने चले, कभी बाँये चले, तो यह उभयकोटि-अवगाहिनी बुद्धि सर्पिणी है। तो संशयालु शुद्धिमान् नहीं होता—इसमें प्रमाण क्या है कि उनकी बुद्धि सर्पिणी है।

संशयात्मा विनश्यति। अगर यह संशयवृत्ति सर्पिणी न होती तो तद्वान्‌का नाश क्यों बताया जाता?

अच्छा मान लो संशय भी आ गया तो मन्त्र चाहिए उसके लिए। सर्पका विष तो मन्त्रसे ही उतरता है! तो यह जो मनन है, यह मननात्मक मन्त्र है। *मननात् मन्त्र:।* मनन तो मन्त्र है। जैसे मन्त्रसे सर्पिणीका विष उतर जाता है, वैसे मननके मन्त्रसे संशयका जहर दूर होता है। जहर चढ़नेपर आदमी छटपटाता है, वैसे संशयालु पुरुष छटपटाता है।

अब बोले—भाई, हमारे तो संशय भी निवृत्त हो गया, फिर भी श्रवण

काम नहीं दे रहा है। तो क्यों काम नहीं दे रहा है? कि श्रवण-मननके पूर्वकालमें जो विपर्यय रहा है उसके कारण विपर्यय माने पर्ययके विपरीत वृत्ति। पर्यय माने परिज्ञान। परि उपसर्ग है और 'अय' तो वही धातु है जो अध्ययनमें है। जैसे परीत, विपरीत, वैसे पर्यय, विपर्यय। तो पर्यय किसको कहते हैं? कि जो विच्छिन्न-विच्छिन्न उदय होने वाली वृत्तियोंमें, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें या घटाकार-पटाकार-मठाकार वृत्तियोंमें अनुगत चैतन्यकी एकरस धारा है उसको कहते हैं—पर्यय। उस एकरस चैतन्य धाराको जो सर्व वृत्तियोंमें, अवस्थाओंमें, धर्ममें, स्वभावमें, गुणोंमें अनुगत मैं न समझकरके देश भेदसे, कालभेदसे, वस्तु भेदसे उदय होनेवाले वृत्ति-विशेषोंको मैं समझ बैठना है, नाशशील वृत्ति विशेषोंको मैं समझ बैठना है—यह विपर्यय है। देहमें मैं, जातिमें मैं, वर्णमें मैं, आश्रममें मैं, मरनेवालेमें मैं, जीनेवालेमें मैं, छोटे-मोटे पदार्थोंमें मैं, इसीका नाम विपर्यय है। पर्यय माने सर्वानुस्यूत, सर्वानुगत सर्वाधिष्ठान एक रस, एक आत्मवस्तुमें मैं का होना; और विपर्यय माने इस पर्ययमें मैं न होकरके क्षण-क्षणमें, कण-कणमें, स्थान-स्थानमें पृथक्-पृथक् होनेवाले जो वृत्ति-विशेष हैं, उनमें प्रतिफलित अहंको अहं मान बैठना विपर्यय है। प्रतिबिम्बत अहंको अहं मान बैठना और स्वयंप्रकाश अहंको अहं जानना—यह पर्यय है और पर्ययके विरुद्ध विपर्यय है। तो इस विपर्ययकी निवृत्तिके लिए क्या चाहिए? कि ध्यान चाहिए। बिना ध्यानके विपर्ययकी निवृत्ति नहीं होती। उसको क्या कहा? कि ***श्रवणमननपरिपाक जन्येन आत्मचिन्तनेन— ध्यानेन***। यह आत्मचिन्तन ध्यान है।

तो श्रवणने कहा—त्वं पदार्थके श्रवणने कहा कि तुम हड्डी मांस चामके पुतले नहीं हो, इन्द्रिय नहीं हो, इन्द्रियोंके समूह नहीं हो, मन नहीं हो, बुद्धि नहीं हो, कर्ता नहीं हो, भोक्ता नहीं हो, शुद्ध साक्षी हो, चिन्मात्र तत्पदार्थके श्रवणने बताया कि परमात्मा पंचभूत नहीं, पंचतन्मात्रा नहीं, अहंकार नहीं, महत्तत्त्व नहीं, अव्याकृत नहीं। परमात्मा सर्वज्ञ भी उपाधिसे ही है। स्वरूपसे वह शुद्ध चिन्मात्र है। महावाक्यने बताया कि शुद्ध चिन्मात्र दोनों एक ही है।

आत्मसत्ताको परिच्छिन्न करनेवाला पदार्थ तो आत्माके अस्तित्वसे ही सिद्ध होता है, आत्मासे ही प्रकाशित होता है। परिच्छिन्न करनेवाला जो दृश्य

पदार्थ है, उसको आत्मासे ही आत्मलाभ होता है, बिना हमारे वह सिद्ध ही नहीं हो सकता। तो वह हमको परिच्छिन्न कहाँसे करेगा? तो श्रवण-मननके परिपाकसे जन्य जो आत्म-चिन्तन है, अपने स्वरूपका चिन्तन वह ध्यान है।

आपको कल सुनाया था कि इस ध्यानकी दो प्रक्रिया हैं। यह जो देहमें मैं-पना है—यही सबसे बड़ा पाप है सृष्टिमें, और कोई पाप नहीं होता। सबसे बड़ा पाप है ज्ञानके विपरीत आत्मख्याति। जैसे तुम हो। उसके विरुद्ध अपने आपको मानना—यह सबसे बड़ा पाप है। नशेमें ऐसा होता है। शराबी आदमी है कंगाल और शराब पीके अपनेको बादशाह मानता है और है तो एक स्वस्थ स्वाभाविक मनुष्य, लेकिन अपनेको ग्लानिसे दबा देता है। बदल जाता है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥ (मनुस्मृति)

जो है तो कुछ, और अपनेको मान बैठा कुछ, सत्यका तिरस्कार किया, ज्ञानका तिरस्कार किया, प्रियताका तिरस्कार किया, सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका उसने तिरस्कार किया, उसने अपने आपको खो दिया, आत्महत्या की, वह चोर है। उसने ऐसा कौन-सा पाप है जो नहीं किया? जिसने अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माको हड्डी-मांस-चामका पुतला समझा, वह पापी है। जिसने अच्छिन्नको छिन्न समझा वह पापी है। परिपूर्णको परिच्छिन्न समझा, अनन्तको सान्त समझा, अजर अमरको जन्मने-मरनेवाला समझा वह पापी है।

यह बात क्यों बोलते हैं? इसलिए बोलते हैं कि चित्तमें आत्मज्ञानकी इच्छा उदय होवे कि हम कौन हैं? इस बातका पता लगाओ नहीं तो पाप-पुण्यके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकते। सुख-दुःखके द्वन्द्वसे मुक्त नहीं हो सकते, जन्म-मरणके द्वन्द्वसे मुक्त नहीं हो सकते। अपने आपका पता लगाओ। यह अपने आपका पता कैसे लगेगा? कि ध्यानेन! ध्यानसे लगेगा।

श्रवणमननपरिपाकजन्येन आत्मचिन्तनेन।

अच्छा, आत्मचिन्तनके लिए एक बात तो पतेकी है, अनुभवकी है, पर अनुभवकी प्रक्रिया भी सबकी जुदा-जुदा होती है, इसलिए एक प्रक्रियापर जोर नहीं देते हैं। आपको अगर जँचे तो! यह जो अपना शरीर है, इसको आप

सबसे पहले पंचभूतसे अभिन्न समझो। आँख बन्द करके और भौहें तानके, सांस रोकके दिमागको ब्रह्माण्डमें चढ़ानेकी जरूरत नहीं है। यह बात स्वस्थ रहकर समझदारीके अन्दर ले आओ कि यह तुम्हारा शरीर पंचभूतसे जुदा नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे देखो तो यह एक बूँद पानीसे पैदा हुआ है। पानीमें गर्मी जरूर है, मिट्टी भी जरूर है और उसमें गति भी जरूर है और उसमें अवकाश भी जरूर है। और मरनेके बाद यह राख हो जाता है, आगमें जलता देखा जाता है। यह शकल सूरत तो बीचमें बनी हुई है, लेकिन इसके आदिमें पंचभूत हैं, अन्तमें पंचभूत हैं और बीचमें भी पंचभूत हैं। देखो यह मिट्टीके बिना, अन्नके बिना रह नहीं सकता। पानीके बिना रह नहीं सकता, गरमीके बिना रह नहीं सकता, हवाके बिना रह नहीं सकता, अवकाशके बिना नहीं रह सकता। तो जो जिसके बिना न रह सके, वह उससे भिन्न कहाँ हुआ? और जो जिससे पैदा हुआ है वह उससे भिन्न कहाँ हुआ? और जो जिसमें मिल जायेगा मरके, उससे भिन्न कहाँ हुआ? तो पहली बात यह है कि यह जो शरीर है यह तत्त्वतः पंचभूतसे पृथक् नहीं है, यह बात समझदारीमें आनी चाहिए। इसमें जो विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं और उनके ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियोंके पीछे बैठकरके जो मनीराम हैं, वे पंचतन्मात्रासे जुदा नहीं हैं। पंचभूतोंकी सत्ता ही पंचतन्मात्रासे जुदा नहीं है। ये पंचतन्मात्राएँ और पंचमहाभूत अहंकार तत्त्वसे जुदा नहीं हैं। अहंकार-तत्त्व एक ही है परन्तु संतोषके लिए आप ऐसा कह सकते हैं कि ज्ञानवृत्ति-प्रधान वैकारिक अहंकार, कर्मप्रधान राजस् अहंकार और द्रव्य प्रधान तामस अहंकार—ये एक अहंकारके तीन भेद गुणोंकी प्रधानतासे हैं। अहंकारका कारण है महत्तत्त्व और महत्तत्त्वका कारण अव्याकृत और अव्याकृत चेतन-ईश्वरसे अधिष्ठित हुए बिना कोई काम नहीं कर सकता। और उस ईश्वरको, अव्याकृतके अधिष्ठाता ईश्वरको, मैं जान रहा हूँ। तो मैंके उपाधि अंश—देह, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकारको उनके कारणमें लीन कर दो—अल्पको सर्वमें लीन कर दो और अल्प और सर्वकी उपाधिका तिरस्कार करके चेतनांशकी सिद्ध एकताको अपना स्वरूप जान लो। सर्वमें सर्व हटाकरके, अल्पमें अल्प हटाकरके 'ज्ञ' अंशमें जो एकता है, उसको जानकरके, यह जो देहोपाधिक—जीव है, जीवत्वसे उपलक्षित चैतन्य है, वही

अव्याकृतोपाधिक ईश्वर-चैतन्य है। वही चैतन्य अपना स्वरूप है जिसमें यह कार्यकारणरूप सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच भानमात्र है तो एतादृश ब्रह्मात्मैक्य बोधमें जो वृत्तिका स्थैर्य है, बोधकी अदृढ़ताके निवृत्यर्थ, उसको ध्यान बोलते हैं।

अच्छा, अब दूसरी प्रक्रिया लो। पहली प्रक्रिया तो यह हुई कि व्यष्टिको समष्टिमें डालकर, अल्पको सर्वमें डालकर, कार्यको कारणमें डालकर, क्षणिकको अविनाशीमें मिलाकर, इससे अद्वैतका बोध होता है। और देखो एक बात, कहनेकी तो नहीं होती है पर कह देनेमें अच्छा ही है। आप लोग तो सब वेदान्तके प्रेमी हैं। शून्य बोधकी भी एक प्रक्रिया होती है और जड़ बोधकी भी एक प्रक्रिया होती है और जीवत्व बोधकी भी एक प्रक्रिया होती है और ईश्वरत्व बोधकी भी एक प्रक्रिया होती है। यदि आप ठीक प्रक्रियासे साधनके मार्गमें नहीं चलेंगे तो पथ-भ्रष्ट हो जायेंगे। यह प्रत्यक् चैतन्य और ब्रह्मके अभेद बोधकी भी एक प्रक्रिया है, इसका एक सम्प्रदाय है। इसका उपनिषद् है। जिन लोगोंको यह अभिमान है कि हम केवल तर्कसे, केवल युक्तिसे, केवल विज्ञानसे इस यथार्थ सत्यका साक्षात्कार कर लेंगे, वे केवल यथार्थ सत्यके एक अंशका, एक अंश मात्रका साक्षात्कार कर सकेंगे। यदि इस पूर्णात्मबोधका साक्षात्कार करना है तो उसके लिए जो प्रक्रिया है, उसीसे चलना पड़ेगा। और इसमें जो बाधा डाले वह कुसंग है। द्वैतवादियोंका संग नहीं करना चाहिए, शून्यवादियोंका संग नहीं करना चाहिए। उपनिषद् विरोधियोंका संग नहीं करना चाहिए। जान लो, उसके बाद बात करो, लेकिन बीचमें अगर प्रक्रिया गड़बड़ा जायेगी, तो बुद्धि भटक जायेगी। ऐसा तो विज्ञानमें भी है—आल्मोनियमको मिट्टीमें-से निकालनेकी जो प्रक्रिया है, अगर उस वैज्ञानिक प्रक्रियाको छोड़कर मनमाने ढंगसे उस मिट्टीको पकाने लगें, तो उसमें-से आल्मोनियम निकलेगा? हम गये थे आल्मोनियमका कारखाना देखने तो उन्होंने हमको बताया, मिट्टी रखी हुई थी। किस प्रक्रियासे उसमेंसे आल्मोनियम निकाली जाती है, अगर जरा भी इधर-उधर हो जाये तो वह नहीं निकलेगा। माटी तो सब होती है। तो ब्रह्मात्मैक्य बोधकी भी एक प्रक्रिया है, इस बातको भूलना नहीं। वैसे तो हमसे भी कोई बातचीत करे तो हम कह देंगे कि अच्छा रहने दो, एक बार

उपनिषद्‌को रहने दो, वेदान्तको रहने दो, सम्प्रदायको भी रहने दो, आओ हमसे तुम सीधे बात कर लो, ऐसे बात करेंगे। लेकिन प्रक्रियाको छोड़ना नहीं चाहिए।

दूसरी बात यह है, पहले ही यह निश्चय बैठाओ कि अखण्ड अद्वैत कल्पनागन्ध-शून्य अपना आत्मा ही ब्रह्म है। इसमें दूसरी कोई वस्तु है नहीं। और उसमें अविद्यासे कल्पित माया और कल्पित मायामें महत्तत्त्व, उसमें कल्पित अहंकार, उसमें कल्पित पंचतन्मात्रा, उसमें कल्पित राजसता, तामसता, सात्त्विकता; उनमें कल्पित ज्ञान, क्रिया और द्रव्य और कल्पित ज्ञान, क्रिया, द्रव्यमें कल्पित यह धरती-ब्रह्माण्ड और इसमें कल्पित राष्ट्र, उसमें कल्पित प्रान्त, उसमें कल्पित नगर, उसमें कल्पित शरीर—सबका सब मुझ अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्वमें कल्पित रूपसे ही रज्जु-सर्पवत् भास रहा है। पहली चोटमें ही द्वैतका बाध कर लो—यह स्वीकार करके कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूँ। मेरे किस अंशमें सृष्टि है? बोले—कहीं नहीं। मेरे किस कालमें सृष्टि है? बोले—काल ही नहीं। सृष्टिका कितना वजन है? बोले—सत्ता शून्य, बन्ध्यापुत्रका क्या वजन होता है? या रज्जुमें जो सर्प है उसका क्या वजन होता है? आकाशकी नीलिमा कोई तराजूमें तौलनेकी चीज नहीं है। तो न मुझमें कहीं ऐसा अंश रूप-देश है जिसमें यह प्रपंच हो, न अंशरूप काल है जिसमें यह प्रपंच जन्मता-मरता हो या प्रपञ्चका सृष्टि-प्रलय होता हो और न मुझमें कोई वस्तुरूप प्रंपच है जो मुझसे अन्य हो; मैं ही अखण्ड अद्वय ब्रह्म हूँ। तो अपनेको अखण्ड अद्वैत जानकरके मुझमें माया नहीं, अविद्या नहीं और मुझमें माया अविद्याका कार्य नहीं, महत्तत्त्व नहीं। यह बाध प्रक्रिया है। मुझमें माया नहीं है, अव्याकृत नहीं है, मुझमें, अविद्या नहीं है मुझमें और महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, पंचतन्मात्रा पंचभूत, पंचभूतमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डोंमें धरती और धरतीमें मनुष्य जाति, मनुष्य जातिमें शरीर; यह है ही नहीं मुझमें, मेरे स्वरूपमें।

एक है आरोह प्रक्रिया-नीचेसे ऊपर चढ़ो। और, एक अवरोह प्रक्रिया है, ऊपरसे नीचे आओ। अपनेको ब्रह्म जानकरके, दृश्यमान प्रपंचका बाध करो-यह अवरोह प्रक्रिया है; और कार्यको कारणमें लीन करते-करते ले जाकर परमेश्वरमें स्थापित कर दो और परमेश्वरको अपनेसे अभिन्न जानकर

तब प्रपंचका बाध करो—यह आरोह प्रक्रिया है। इस प्रकार ध्यानकी ये दो प्रक्रियाएँ हैं।

अब, ये जो जिज्ञासु आते हैं महात्माओंके पास; किसीसे यह आशा करना कि हमने कह दिया कि तुम देह नहीं हो और वह तुरन्त ही मान जाये कि हम देह नहीं हैं, व्यर्थ है और वह बुद्धिसे मान भी जाये, तर्कसे मान भी जाये, युक्तिसे मान भी जाये, तब भी अन्त:करण शुद्ध न होनेके कारण मैं देह-देही भाव और उसके अभावका अधिष्ठान साक्षी हूँ-यह बात जल्दी बैठती नहीं है, गलेके नीचे नहीं उतरती है। तो चेले जितने बनाये जाते हैं, वह यह मानकर बनाये जाते हैं कि ये व्यक्ति हैं। गुरु अपने शिष्यको जो भी बात कहता है, उपदेश करता है, वह गुरु-शिष्यके अध्यारोपित भावसे करता है। अध्यस्त जो गुरु-शिष्य भाव है वह परिच्छिन्नाताको लेकरके ही चलता है। परन्तु चेलेने कहा—महाराज आप हमको जीव मानकर बात कर रहे हैं? तब तो गुरुजीका मुँह ही बन्द हो गया। अब क्या बोलें गुरु जी? चेला कहता है—हमको ब्रह्म मानकरके बात करो। बोले-हाँ भाई; हम तो तुमको ब्रह्म मानकरके बात करेंगे, तुम तो हमको जीव ही मान करके बात कर रहे हो ना! तो चेला तो गुरुको जीव मानकर बात कर रहा है, और गुरु चेलेको ब्रह्म मानकरके बात करे।

बोले—अच्छा; आओ हम तुम दोनों एक! तब तो बात करनेकी कोई जरूरत ही नहीं। बात तो दूसरेसे करनेकी होती है, अपने आपसे तो बात करनेकी जरूरत नहीं होती। तो गुरु लोग अपने शिष्यको यह समझके कि कहीं जीवत्वकी भ्रान्ति इसकी शेष न रह जाये, लेशाविद्या भी न रह जाये, इसके लिए कृपा करके उसको व्यक्तिगत रूपसे भी ब्रह्म होनेकी विद्या बताते हैं, अपनेको ब्रह्म जाननेकी, समझनेकी विद्या बताते हैं।

तो यह ध्यान क्या है? बहुत छोटी-छोटी बात आपको सुनाता हूँ-व्यक्तिगत रूपसे ध्यान इसका कैसे करना? तो पहले देखो तुम्हें तीन अवस्था होती है कि नहीं? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। यह श्रौतपन्थ है। एक बात और है विलक्षण कि श्रुतिमें जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है, वह यह नहीं है जो रोज तुमको होती है। इसका वर्णन नहीं है उसमें। उसमें तो जाग्रत्-अवस्था माने सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि और स्वप्नावस्था माने सम्पूर्ण सूक्ष्म-सृष्टि और सुषुप्ति

अवस्था माने सम्पूर्ण कारण सृष्टि होता है। तभी जाग्रतावस्थामें जो चैतन्य है उसका नाम विश्व और उसी चैतन्यका नाम स्वप्नावस्थामें तैजस और उसीका नाम सुषुप्ति अवस्थामें प्राज्ञ-ये चैतन्यके तीन नाम होते हैं। उसीका नाम स्थूल समष्टिमें वैश्वानर, सूक्ष्म समष्टिमें हिरण्यगर्भ और कारण समष्टिमें ईश्वर हो जाता है। ***एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः।***

तो देखो जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्तिमें नहीं रहता और स्वप्न जाग्रत्-सुषुप्तिमें नहीं रहता और सुषुप्ति जाग्रत्-स्वप्नमें नहीं रहती और तुम तीनोंमें रहते हो। इसलिए तुम तीनोंसे विलक्षण हो। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंको दृष्टान्तसे जरा-सा और समझ लो। क्या? कि स्वप्नमें जो धरती दिखती है, समुद्र दिखता है,पहाड़ दिखता है, हवा चलती है, सूरज उगता है, बड़ा भारी अवकाशवाला आकाश दिखता है, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्खिन होता है, उसमें जातपाँत होती है, अपनी पूर्व परम्परा होती है, अपने बच्चे-कच्चे होते हैं, वह सब स्वप्नावस्थाके विलास हैं। स्वप्न-द्रष्टामें वे बिलकुल नहीं हैं। इस दृष्टान्तको समझकरके आप देखो कि आपको जाग्रत् अवस्थामें जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश दिख रहे हैं, जो पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्खिन दिशाएँ दिख रही हैं, जो इसमें जात-पाँत-सम्प्रदाय दिख रहा है, यह जाग्रत् अवस्थाका विलास है, जाग्रत-अवस्थाके द्रष्टाके संग इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जो स्वप्नावस्थाका द्रष्टा है वही जाग्रतावस्थाका द्रष्टा है। और जब ये दोनों वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तो सुषुप्ति दशामें कोई प्रपंच दिखायी नहीं पड़ता, लेकिन द्रष्टा तो वही है ज्यों-का त्यों। इसका अर्थ हुआ कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे विलक्षण है यह द्रष्टा और इसमें यह तीन अवस्थाएँ केवल वृत्तियोंका विलासमात्र हैं। और वृत्तियोंका जो विलास होता है वह रज्जु सर्पवत् होता है। जो वस्तु केवल वृत्तिमें ही होती है, वृत्तिसे बाहर नहीं होती है, वह रज्जु-सर्पवत् मिथ्या होती है। तो तुम्हारे द्रष्टा स्वरूपमें दृष्टिमात्र हैं ये सत्त्व रज, तम, भू, र्भुवः, स्वः ये अकार, उकार, मकार, ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश; और ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड केवल दृष्टिमात्र हैं, और दृष्टिमात्र जो वस्तु होती है वह मिथ्या वस्तु होती है वह अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती है। इसलिए *'ध्यानेन'*।

अच्छा लो, अब व्यक्तिकी दृष्टिसे और बात लें। जैसे देखो आपका

यह जो हड्डी, मांस, चामका बना हुआ शरीर है, यह अन्नमयकोश है—अन्नसे बना हुआ है, अन्नका विकार है। अब इसमें एक अन्नमय पुरुष है माने जो चैतन्य अपनेको अन्नमय शरीरमें मैं-करके बैठा हुआ है सो अन्नमय पुरुष है। वह चैतन्य है भला, वह जड़ नहीं है। वेदान्तमें कई बार कोष और पुरुषका परस्पर भ्रम हो जाता है। आप तैत्तिरीयोपनिषद् जरा ध्यानसे कभी पढ़ें, बड़ा विलक्षण है—

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

तो यह जो अन्नमय कोश है, इसमें अन्नमय चैतन्य है। प्राणमयकोशमें प्राणमय चैतन्य है। मनोमयकोशमें मनोमय चैतन्य है। और विज्ञानमयकोशमें विज्ञानमय चैतन्य है और आनन्दमयकोशमें आनन्दमय चैतन्य है। और कोश उपाधिको छोड़ देनेपर चैतन्य बिलकुल एक है।

कोशोपाधि विवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।

अब अन्नमय कोश कैसा? जैसे हाथको उठाया। यह उठनेवाला जो हाथ है यह अन्नमय कोश है। अच्छा, इसको उठानेमें ताकत लगती है कि नहीं? तो शक्ति हुई ना, उसको प्राणमय कोश बोलते हैं, लेकिन यह अन्नमयकोश है चैतन्यके होनेसे और यह उठानेवाली जो शक्ति है, वह भी है चैतन्यके होनेसे। मनोमय कोश क्या है? कि देखो हाथ उठा और ताकतने उठाया, पर संकल्प भी तो है उठानेका। वह संकल्प मनोमयकोश है। उसमें भी चैतन्य है। यदि चैतन्य न होवे तो संकल्प कोई काम नहीं कर सकता। चैतन्य न हो तो प्राण कोई काम नहीं कर सकता, चैतन्य न हो तो अन्नमय कोश कोई काम नहीं कर सकता। अच्छा, अब हाथ उठानेमें जो कर्त्तापन है, उसको विज्ञानमय कोश कहते हैं। मैंने संकल्प किया, मैंने ताकत लगायी और मैंने हाथको उठा लिया—इसमें जो 'मैं' है, वह विज्ञानमय कोशसे तादात्म्यापन्न चैतन्य ही है। वही विज्ञानमय पुरुष है। तो आप अन्नमय कोशको मत देखो, जो इसमें चेतन है, उसकी खोज करो। प्राणमय कोशको, ताकतको मत देखो, उस ताकतमें जो चैतन्य है उसको देखो। संकल्पको मत देखो, संकल्पमें जो चैतन्य है उसको देखो और कर्तापनेमें कि मैंने यह हाथ उठाया उसमें चैतन्यको देखो।

अब देखो, हाथ उठानेमें चार अवस्था आपके ध्यानमें आयी—

उठनेवाला हाथ, उठानेकी शक्ति, उठानेका संकल्प और उठानेका अभिमान। अभिमान है विज्ञानमय कोशमें, संकल्प है मनोमयमें, शक्ति है प्राणमयमें और द्रव्य है अन्नमयमें, पदार्थ है। और चैतन्य चारोंमें है। अब यह हाथको उठाने-बैठानेमें जो मजा आता है, वह क्या है? हमको बोलनेमें मजा आ रहा है और आपको सुननेमें मजा आ रहा है, यह मजा क्या है? यह मजा कर्तृत्वके अन्दर है। जहाँ आदमी जान-बूझकर कोई काम करता है, वहाँ कर्मकी सफलतामें, जब वासना शान्त होती है, तब यह शान्त वासनाकी उपाधिसे अभिव्यक्त होता है। इसको आनन्दमय कोष कहते हैं और इसमें जो चैतन्य मैं है उसको आनन्दमय पुरुष बोलते हैं।

जैसे आपके मनमें गुड़ खानेकी इच्छा हुई, तो गुड़ द्रव्य है और उसको आपने हाथसे उठाया, मनसे संकल्प किया कि खायेंगे, उसको मुँहमें डालकर चबाया या उसका स्वाद लिया। अब थोड़ा मजा आया। तो बोले—मजा गुड़में-से आया कि जीभमें-से आया कि और कहींसे आया? यदि आपका मन कहीं और हो तो गुड़ खानेका मजा आवेगा? नहीं आवेगा। तो मनकी एकाग्रता जरूर चाहिए। अच्छा गुड़ खानेकी आपकी इच्छा न हो और कोई जबरदस्ती आपको गुड़ खिलावे तो मजा आवेगा? माने कर्तृत्वके बिना मजा नहीं आवेगा। वह तो डाइबिटीजका रोगी हो और खुद परहेज करना चाहता हो कि हम गुड़ नहीं खायेंगे और कोई जबरदस्ती मुँहमें डाल दे, तो उसको गुड़ खानेका मजा आवेगा? सुख नहीं होगा। स्वाद जो जिह्वापर आता है वह दूसरी चीज है और सुख दूसरी चीज है। यह आपरेशन करते समय जो दर्द होता है, वह पीड़ा दूसरी चीज है और दुःख दूसरी चीज है। पीड़ाका नाम दुःख नहीं है और स्वादका नाम सुख नहीं है। सुख तो स्वादका त्याग करनेमें भी होता है, कि इतनी बढ़िया चीज हमारे सामने आयी और हमारे मनमें कोई प्रलोभन नहीं आया और हमने उसका त्याग कर दिया। तो सुख तो कर्तृत्वसे भी अन्दर है। तो क्या होता है कि गुड़ खानेकी इच्छा हुई थी, गुड़ मिल गया, तो गुड़ खानेकी इच्छा शान्त हो गयी। अब क्या हुआ कि जब तक दूसरी कोई इच्छा आयी नहीं, तबतक गुड़ खानेका मजा है और जहाँ यह आया कि अब कोई चटपटी मसालेदार नमकीन चीज चाहिए खानेको, उसी समय गुड़का स्वाद स्वाहा हो गया। क्यों? कि वह एक वासना पूरी

होनेपर और दूसरी वासनाके उदय होनेके पूर्व जो तुम्हारे चित्तमें शान्त वासनाकी स्थिति थी, उसमें आनन्दमय आत्मा प्रतिबिम्बित हो रहा था। हाथ उठाया, हाथ गिराया इससे एक इच्छा पूरी हुई, अपने कर्तृत्वका अभिमान पूरा हुआ, थोड़ा मजा आ गया। यह मजा आनन्दमय कोशमें गया; इसमें भी चैतन्य है। यह मजा किसको आवेगा? चैतन्य होगा उसको मजा आवेगा। चैतन्य होवे तो कर्म होगा। विकार बिना चैतन्यके भी भले ही होता होवे, लेकिन कर्म बिना चैतन्यके नहीं होता। विकार दूसरी चीज है। विकारका मजा नहीं आता चैतन्यको। माने बिना किये जो काम हो जावेगा, उसमें मजा नहीं आता। यह जैसे बाल बढ़ जाते हैं, भोजन पच जाता है, साँस अपने आप आती जाती रहती है, उनका मजा कहाँ आता है? यदि हम प्राणायाम कर लें तो साँसको रोकनेका मजा हमको आवेगा और अपने आप जो सांस चलती है उसका मजा ही नहीं आवेगा।

तो वस्तुका होना अन्नमय, वह भी बिना चैतन्यके सिद्ध नहीं है; और क्रियाका होना प्राणमय, वह भी बिना चैतन्यके सिद्ध नहीं है; और संकल्पका होना मनोमय, वह भी चैतन्यके बिना सिद्ध नहीं है; और कर्तापनका होना विज्ञानमय, वह भी बिना चैतन्यके सिद्ध नहीं है; और अगली वासनाका उदय होनेसे पूर्व और पिछली वासना शान्त हो जानेके बाद जो तुम्हें मजा आ रहा है, (भोगसे मजा नहीं आ रहा है, वासना शान्त होनेसे मजा आ रहा है) यह आनन्दमय, यह भी चैतन्यसे ही सिद्ध होता है। अब देखो, इन पाँचोंको सिद्ध करनेवाले चैतन्य पाँच हैं कि एक है? इन पाँचोंको सिद्ध करनेवाला चैतन्य एक है। इसलिए जब अन्नमय काम करता है, तब भी और नहीं करता है तब भी, जब प्राणमय काम करता है तब भी और जब नहीं करता है तब भी, जब मनोमय काम करता है तब भी और नहीं करता है तब भी, और जब विज्ञानमय और आनन्दमय काम करते हैं तब भी और नहीं करते हैं तब भी चैतन्य एक ही रहता है। *ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहाशयपरम्परा।* ये पंचकोष गुफा हैं। आत्मारूप जो शेर है, सिंह है, वह इन पाँच गुहाके भीतर छिपा हुआ है। वह अन्नमय, प्राणमय आदि कोषोंमें काम करता है, पर उनसे न्यारा है। यही पाँचों कोशोंसे न्यारा जो आत्म चैतन्य है, वही तुम हो। बोले—ठीक है हमने जान लिया, पंचकोशका जो साक्षी है सो मैं हूँ, सो

आत्मा है। बोले—अच्छा, तुम इन कोशोंसे न्यारे हो, एक वर्गीकरण यह अभी रहने दो।

ये जो तुम्हारे पंचकोश हैं, वे क्या हैं? तामस पंचभूतमें अन्नमय कोश है, राजस पंचभूतमें प्राणमय कोश है और सात्त्विक पंचभूतमें मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। और ये तीन गुण— सत्, रज, तम—ये अहंकारमें एकीभूत हैं और अहंकार जो है वह समष्टि बुद्धिका विलास है। और समष्टि बुद्धि अव्याकृतका विलास है और अव्याकृत जो है वह अन्तर्यामीके आश्रित होकरके काम कर रहा है; और अन्तर्यामीमें जो शुद्ध चिन्मात्र है—अकर्ता, अभोक्ता—और इन पंचकोशोंमें जो चिन्मात्र है, अकर्ता अभोक्ता—ये दोनों एक हैं—ऐसा वेदान्त बताते हैं।

यदि इस प्रक्रियासे इसपर विचार नहीं करोगे, तो परिणाम स्वरूप आप या तो जड़वादपर पहुँचोगे या शून्यवादपर पहुँचोगे। और यदि भाव प्रधान हुए तो अनुमानसे ईश्वरमें पहुँचोगे। बुद्धि प्रधान हुए तो अनुमानसे शून्य बौद्ध सिद्ध होगा और केवल व्यवहार प्रधान हुए, ऐन्द्रियक हुए, तो पंचभूत सिद्ध होंगे; जड़वाद रहेगा। वैज्ञानिक बुद्धिकी प्रधानता हुई तो जड़ाद्वैत सिद्ध होगा और वेदान्तकी प्रधानतासे, औपनिषद प्रक्रियासे जब विचार करेंगे तो प्रत्यक् चैतन्य और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होगा और प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं, यह सिद्ध होगा।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति।

और प्रक्रिया ध्यानकी सुनाते हैं। पाँवके अँगूठेमें ब्रह्मका चिन्तन किया जाता है। और ऐसा मत भी हमको मालूम है कि गुदाके पास ब्रह्मका चिन्तन किया जाता है। मूत्रेन्द्रियके पास ब्रह्मका चिन्तन किया जाता है। अलग-अलग पंथ हैं। हृदयमें, कंठमें, आज्ञा चक्रमें, उसके बाद श्याम तिलमें, त्रिकुटीमें, बंकनालमें भंवर गुफामें, सहस्रारमें, शून्य शिखरमें, ब्रह्मरन्ध्रमें, नेत्रमें, नाककी नोंकपर, जीभकी नोकपर, ब्रह्म चिन्तन कैसे-कैसे किया जाता है, यह सब हमको मालूम है। पर अब आपको यह सब तमाशा जाननेकी कोई जरूरत नहीं है। मैं सत्रह-अट्ठारह बरसकी उम्रमें साधुओंके चक्करमें आया। अब वहाँ कोई पैसा कमानेकी विद्या हम थोड़े ही उनसे सीखते थे। उनसे तो यही सब सीखते थे।

एक विद्या आप देखो, भावनासे डरना नहीं। देखो यह स्थूल शरीर परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। यह शरीर धन्य है जिससे परमात्मा मिलता है। वैराग्यके लिए तो इसके दोष बताते हैं और साधनमें उत्साहित करनेके लिए इसके गुण बताते हैं। और अन्तमें गुण, दोष दोनोंका अपवाद कर देते हैं—*'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'*। वैराग्य करानेके लिए शरीरमें हड्डी, मांस, चाम बताते हैं और साधन करानेके लिए इसको दुर्लभ बताते हैं।

इस दुर्लभ शरीरसे साक्षात्कारके साधनके रूपमें भावना बड़ी ऊँची चीज है। एक साधुने एक बार कहा कि पंडितजी! शरीरको तो बैठने दो धरतीपर और तुम छतपर बैठा करो। शरीर धरतीपर रहे और अपने मैंको शरीरसे अलग छतपर बैठाया करो। यह साक्षी-भावकी साधनामें ध्यान है।

एकने ऐसा हमको बताया था कि पलंगपर लेट जाओ और भावना करो कि पाँवके अँगूठेसे लेकर जाँघ तक, गुदा पर्यन्त, मिट्टी प्रधान अंग है। उसके ऊपर मूत्रेन्द्रिय पर्यन्त जल प्रधान है, उसके बाद नाभि अग्नि प्रधान है, पेट और हृदय वायु प्रधान हैं और हृदयसे कंठ तक आकाश प्रधान है, और कंठसे लेकर आज्ञाचक्र तक मनःप्रधान है। आँख, नाक, जीभ, कान, त्वचा सब इसीमें। अब आप सोते समय क्या करो, यह ख्याल करो, यह भावना करो कि मिट्टी वाला हिस्सा पानीवाले हिस्सेमें मिल गया, पानीवाला हिस्सा गर्मीवाले हिस्सेमें मिल गया, गर्मीवाला हिस्सा हवा वाले हिस्सेमें मिल गया, हवावाला हिस्सा आकाशमें मिल गया, और आकाशवाला हिस्सा मनमें मिल गया। आज्ञा चक्रके ऊपर बुद्धिवाला हिस्सा और उसके ऊपर सहस्रार चक्र तक बहुत विलक्षण, जीवात्मा बैठा हुआ है और जीवात्माके भीतरके मायँ परमात्मा जगमग-जगमग विराजमान है, उसमें न कोई नाम है न रूप है।

सुरति विरहुलिया छाई निज देश

पाँचभूतको लीन हो जाने दो मनमें, मनको लीन हो जाने दो बुद्धिमें, बुद्धिको लीन हो जाने दो जीवात्मामें और जीवात्माको परमात्मामें लीन हो जाने दो। मैं परमात्मासे अभिन्न हो गया—लेटे ही लेटे पलंगपर परमात्मासे मिल जाओ और सो जाओ।

यह तो बहुत बढ़िया साधन हुआ! सोते ही सोते हो जाये। कुछ करना

न पड़े, तो लोग बहुत खुश होते हैं क्योंकि तुम्हारे कर्म तो ईश्वरको पानेके लिए थोड़े ही हैं, वे तो पैसा पानेके लिए, भोग पानेके लिए हैं।

इस साधनमें भी एक सावधानी रखनी चाहिए। ऐसा सोचते-सोचते सो गये और जब नींद टूटे तब क्या करें? कि फिरसे हम परमात्मासे जीवात्मामें, जीवात्मासे बुद्धिमें, बुद्धिसे मनमें, मनसे आकाशमें, आकाशसे वायुमें, वायुसे अग्निमें, अग्निसे जलमें, जलसे पृथ्वीमें और पृथ्वीसे शरीरमें आयें और फिर सारा व्यवहार करें। और फिर जब सोवें तो फिर वैसे ही सोवें। थोड़े दिनोंके अभ्यासके बाद तुम्हारी सुषुप्ति समाधि हो जायेगी। यह इस साधनका माहात्म्य-ज्ञान हुआ।

देखो व्यक्तित्वको लेकर यह बात हुई। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति वाली बात और पंचकोशवाली बात—ये दोनों तो श्रौत हैं। और पहले जो कार्य-कारणका विलय बताया था ना, वह भी श्रौत है, श्रौत पद्धति है। कौन सी? कार्यको कारणमें लीन कर दो और तुम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके द्रष्टा पंचकोशके द्रष्टा, पंचभूतके अन्तर्यामी, यह श्रौत प्रक्रिया है। अवस्थात्रय, पंचकोश विवेक, कार्य कारणमें लय, द्रष्टा-दृश्य विवेक—यह औपनिषद प्रक्रिया है सबकी सब। और यह जो आखिरी बतायी है, यह तन्त्रकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाका नाम तान्त्रिक विधि है।

(३)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

परोक्षतया ज्ञात परन्तु अपरोक्षतया अननुभूत जो आत्मतत्त्व है उसकी अपरोक्षानुभूतिके लिए ध्यानकी प्रक्रिया बतायी। यह आत्मा परोक्ष रूपसे 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' शास्त्रसे श्रवण किया, गुरुमुखसे श्रवण किया, विचारके द्वारा निश्चित किया, श्रवण किया मनन किया, फिर भी अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हुआ। बिलकुल निर्विचिकित्स, जिसमें कोई विचिकित्सा, कोई इलाज करना बाकी न रह जाये, रोगका लेशमात्र भी शेष

न रहे, ऐसा निर्विचिकित्स्य अपरोक्षीकरणके लिए ध्यान प्रक्रियाका उपदेश करते हैं। ध्यान बताते हैं। ***आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति केचिद् विरलः,*** अपने आपमें अपने आपसे, अपने आपको अनुभव करते हैं। पश्यन्तिका अर्थ है 'अभेदेन अनुभवन्ति'। कौन? कि उत्तम अधिकारी— 'केचिद् विरलः'।

अब अच्छी तरहसे इसको अपने ध्यानमें बैठा लें। श्रुतिमें यह बात सहस्रशः आती है कि ***आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।*** अपने आपमें, अपने आपको देखे। जैसे आप देखो *'अहं द्रष्टा चक्षुषा मंचे पुस्तकं पश्यामि।' अहं प्रमाता अन्तःकरणावच्छिन्नः कूटस्थः प्रमाता। चक्षुषा मंचे पुस्तकं पश्यामि'*। मैं इस मेजपर आँखसे पुस्तक देख रहा हूँ। देखनेवाला अन्तःकरणावच्छिन्न मैं, अन्तःकरण-चक्षु आदिपर आरूढ़ हो करके इस मंचपर स्थापित इस पुस्तकको देख रहा हूँ। तो देखनेवाला मैं कर्ता हुआ, नेत्रादिकरण हैं, मंच अधिकरण हुआ और पुस्तक कर्म हुआ—इसप्रकार यह कर्म सम्पन्न हो रहा है। तो लोकमें किसी चीजको जब हम देखते हैं तो वह चीज एक स्थानमें दीखती है। उसके लिए एक आधार पीठ चाहिए। आधारपीठ पर देवीका मैं चिन्तन करता हूँ। जैसे *'प्रतिमायां विष्णुं— ध्यायामि'*— प्रतिमामें मैं विष्णुका ध्यान करता हूँ। तो जो आधार पीठ है वह देश प्रधान है। और ध्येय जो है, वह अपनेसे अन्य है और देखनेवाले जो करण हैं चक्षु आदि वे अपनेसे पृथक् हैं। मनसे ध्यान करो, नेत्रसे देखो जाग्रत्कालमें व्यवहारमें हम एक जगह रखी हुई चीजको नेत्रसे देखते हैं और यदि ध्यान करना हो तो उसी नेत्रसे देखी हुई वस्तुमें, मूर्तिमें, प्रतिमामें, चित्रमें, अधिष्ठानमें, अधिकरणमें करण द्वारा किसी कर्मभूत वस्तुका हम ध्यान करते हैं।

अब वेदान्तका ध्यान इससे विलक्षण है, इस बातको देखो। व्यावर्त्यका बोध हुए बिना जो विशेषण होते हैं उनका अर्थ स्पष्ट बोध नहीं होता। आप देखो कि एक तो आत्मामें भूति दशामें वहाँ दर्शन और दृश्यका भेद नहीं होता; यह तो आपने उपनिषद्में पढ़ा है—

यत्र वा अस्य सर्वं आत्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत्। (वृहद. २.४.१४)

यही *दृश्* धातुकी *पश्येत्* क्रिया वहाँ भी है। *'केन कं पश्येत्। केन आत्मना कं आत्मानं पश्येत्'*। माने आत्मानुभूतिमें न दृश्यरूपसे आत्माकी

उपस्थिति है और न तो आत्मा किसी अधिकरणमें है और न तो उसको देखनेके लिए कोई औजार है, कोई करण भी नहीं है। जो दीखता है सो दूसरा नहीं है, जिसमें दीखता है सो दूसरा नहीं है, जिससे दीखता है वह दूसरा नहीं है।

आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्। आत्मन्येव न तु अनात्मनि— आत्मनैव न तु अनात्मना। आत्मानमेव न तु अनात्मानं।

अपने आपमें ही देखे अनात्मामें नहीं। अपने आपको ही देखे अनात्माको नहीं। अपने आपसे ही देखे अनात्मासे नहीं।

यह तो बमगोला ही हो गया आत्माके ध्यानमें! कहते हैं *'केन कं पश्येत्'*। वहाँ ज्ञेय कहाँ है? वहाँ ध्येय कहाँ है? वहाँ ज्ञेय और ध्येयको देखनेके लिए करण कहाँ है? न वहाँ मंच है, न वहाँ पुस्तक है और न वहाँ आँख है। इसका मतलब हुआ कि देखनेवाला स्वयं है।

अब फिरसे देखो, जैसे देवीका ध्यान आधारपीठपर करते हो या जैसे गणेशकी स्थापना करते हो या विष्णु भगवान्‌को वैकुण्ठमें स्थापित करते हो, तो एक देशमें तुम्हारा ध्येय रहता है। यहाँ देशकी कल्पनासे अवच्छिन्न जो आत्मतत्त्व है उसका विवर्त है देश। देश कल्पनावच्छिन्न आत्म तत्त्वका विवर्त है देश। तो विवर्त देशमें आत्माका ध्यान मत करना क्योंकि वह तो तुमसे अलग ही नहीं है। विवर्त विवर्तीसे पृथक् नहीं होता—एक बात।

इसका अर्थ हुआ कि अन्य देश नहीं है बिल्कुल। बाह्य देशमें ध्यान नहीं करना, अन्तर्देशमें ध्यान नहीं करना, नेत्रादि इन्द्रियोंमें ध्यान नहीं करना, मन, बुद्धि आदिमें भी ध्यान नहीं करना, स्थान ही नहीं है अन्य। तो अनात्म-देशकी व्यावृत्तिके लिए 'आत्मनि' शब्दका प्रयोग है। दूसरी जगह वृत्ति प्रणालीके द्वारा विषयके देशमें जा करके व्याप्त होना—ऐसे आत्म ध्यान नहीं होता। माने घटज्ञान कैसे होता है? ज्ञाता जो आत्मा है, अन्तःकरणावच्छिन्न आत्मा, वह अन्तःकरणरूप नालीमें होकर वृत्ति नालीमें होकर वृत्य घटदेशमें जाकर जब घटमें व्याप्त होता है, घटसे अभिन्न होता है-माने जब बहिर्देशमें कल्पित घट अन्तर्देशमें जब कल्पित हो जाता है—तब अन्तर्देशावच्छिन्न और घटावच्छिन्न आत्मदेव एक हो जाते हैं; 'तब अहं घटं जानामि'—मैं घड़ेको जानता हूँ, यह ज्ञान प्रतिफलित होता है—यह फलज्ञान होता है।

अब अन्य देशमें आत्मा नहीं, आत्माका ध्यान करनेके लिए अन्त:करण वृत्तिपर आरूढ़ हो करके घटादिके समान अन्यके आकारको ग्रहण नहीं करना है। तो **आत्मानं पश्यन्ति न तु घटादिकम्** दृश्यका दर्शन नहीं करते हैं, घटादिका दर्शन नहीं करते हैं माने दृश्यका, अन्यवस्तुका बिलकुल निषेध कर दिया। और **आत्मनि पश्यन्ति,** बहिर्देशमें नहीं देखते हैं, देशकी कल्पनाका परित्याग करके देखते हैं, ऊपर नीचे नहीं देखते हैं, बाहर भीतर नहीं देखते हैं; बाहर भीतर और ऊपर नीचेकी कल्पनासे, स्थूल सूक्ष्मकी कल्पनासे विनिर्मुक्त अपने आपमें ही देखते हैं। और उसको देखनेके लिए आँख, मन, इन्द्रिय वृत्तियाँ और मनोवृत्तियोंको काममें नहीं लेते हैं। तो करणका निषेध करनेके लिए **आत्मना** शब्द है। मनसे नहीं, इन्द्रियसे नहीं, बुद्धिसे नहीं, तो बोले-अच्छा साक्षीभास्य होगा अपने आपसे देखते हैं सुषुप्तिके समान। तो बोले—साक्षी भास्य नहीं है। क्यों? कि **आत्मानं**—अपने आपको ही देखते हैं। तो बोले यह भी कोई हृदयका ऊहा-पोह होगा। बोले—नहीं, यह हृदयमें नहीं है, वहाँ तो हृदय ही नहीं है।

आत्मनि एव पश्यन्ति।

तो दृश्य नहीं है माने अन्य नहीं है। अन्य नहीं है, अन्यमें नहीं है और अन्यसे देखा नहीं गया। तो वह जो आक्षेप था कि **केन कं पश्येत्**—किससे किसको देखोगे? बोले—**आत्मानं आत्मना पश्येत्**-यह ध्यान हुआ। 'केन कं पश्येत्'में तो दर्शनके करण और दर्शनकी विषयता दोनोंका निषेध है। और यहाँ दर्शनके करण और दर्शनकी विषयताका निषेध न करके अपने आपमें ही सबका अध्यारोप कर दिया, मात्र अन्यताका निषेध किया—

आत्मनि एव आत्मानं एव आत्मनैव पश्येत्।

अपने आपको ही देखे दूसरेको नहीं, यह वस्तु भेद कट गया। 'आत्मनि एव पश्येत्'— यह देशभेद कट गया। और 'आत्मना एवं पश्येत्'-यह करणका भेद कट गया। बिलकुल अपने आपमें अपना आपा।

अब यह 'पश्यन्ति' जो है उसे देखो। दृश्य और दर्शन (माने मनोवृत्तिरूप आदि करण) और अन्य विषय और अन्य स्थान नहीं रहा—

अन्ये अस्मिन् काले न पश्येत्। अन्योस्मिन् देशे न पश्येत्। अन्ये अस्मिन् वस्तुनि न पश्येत्। अन्यद् वस्तु न पश्येत्। अन्येन करणेन न पश्येत्।

इसका अर्थ क्या हुआ? कि **यत्र दर्शनं द्रष्टृ च द्रष्टातः पृथक् न भवतः।** जहाँ द्रष्टा और दर्शन पृथक् नहीं है, अपृथक् हैं। इसीसे 'पश्यन्ति' क्रियाका प्रयोग किया।

पश्यन्ति क्रिया क्या है? व्याकरण-रीतिसे भी 'पश्यन्ति' क्रिया विवर्त है। क्या विवर्त है इसमें? कि यह धातु तो है दृश्। अच्छा आप देखो 'पश्यन्ति' वर्तमानमें बनता है, उसकी भूतकालिक क्रिया बताओ। जल्दी याद नहीं आवेगी—'ददर्श' और भविष्यकालिक क्रिया बताओ—'द्रक्ष्यति' तो कहाँ दर्श और कहाँ द्रक्ष्यति। और यह 'पश्यति' बीचमें 'प' कहाँसे आ गया? तो यह जो परिवर्तन है, यह बताता है कि यह दर्शनका विवर्त है। माने वास्तविक दर्शन नहीं है। अदर्शनकी निवृत्तिके लिए, अदर्शनका भ्रम निवृत्त करनेके लिए एक विवर्तात्मक दर्शन है। माने यहाँ देखनेवाला और दर्शन, ये पृथक-पृथक् नहीं हैं—ऐसा ध्यान जहाँ मन और इन्द्रियका निषेध हो गया, ऐसा ध्यान जहाँ ध्येयताके लिए विषयकी अपेक्षा नहीं है और हृदयमें ध्यान करें कि बाहर ध्यान करें इसकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि अन्य वस्तु ही नहीं है। **स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।** पुरुषोत्तम तुम स्वयं अपने आपसे, अपने आपमें अपने आपको जानते हो। **यत्र चैवात्मात्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति।** ऐसा ध्यान कि जिस ध्यानमें ***श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।***

अब, श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे प्रश्न किया कि वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हो सकती। क्यों नहीं हो सकती? कि वृत्ति तो है छोटी और ब्रह्म है बड़ा, और ब्रह्ममें कोई आकार ही नहीं है। पहले तो ब्रह्माकार शब्द ही गलत है। ब्रह्ममें आकार नहीं। ब्रह्मका आकार नहीं। ब्रह्म आकार नहीं। तो जिसमें आकार ही नहीं है तो वृत्ति कौन-सा आकार ग्रहण करेगी कि तब ब्रह्माकार कही जायेगी? और वृत्ति तो बेचारी स्वयं ब्रह्ममें विवर्त मात्र है, कल्पित है। कल्पित वस्तु क्या किसीका आकार ग्रहण करती है? तो वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हो सकती। वृत्तिमें तो योग्यता नहीं है कि वह ब्रह्मको विषय करे और ब्रह्ममें

योग्यता नहीं है कि वह वृत्तिका विषय बने। ब्रह्माकार वृत्ति शब्द तो बिलकुल पोल-पट्टी ही मालूम पड़ता है। तो बाबा बोले—कि यही जो तुम बोल रहे हो, यही ब्रह्माकार वृत्ति है। ब्रह्ममें आकारका निषेध माने ध्यानकी ज्ञानकी विषयताका निषेध और वृत्तिमें ध्यान-रूपताका निषेध, ध्यान करणताका निषेध।

तो ब्रह्ममें ध्यानका, ज्ञानका विषय बननेकी योग्यता नहीं—यह तो ब्रह्मके अनात्मत्वका निषेध हो गया, और वृत्तिमें ब्रह्मको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं—यह वृत्तिके करणत्वका निषेध होगया। तो **आत्मना,** माने अनात्मभूत वृत्ति आदिके द्वारा ध्यान नहीं बनेगा और अनात्मभूत अन्य वस्तुका जैसे ध्यान होता है, वैसे ध्यान नहीं होगा। तो ध्येय और ध्यानका जब निषेध हो गया तब यह विचार करो कि ध्यातामें ध्यातृत्व है कि नहीं है। तो जहाँ ध्यान वृत्ति नहीं है और ध्येय विषय नहीं है वहाँ अपनेमें ध्यातापना कहाँ है? तो अन्तःकरणका सम्बन्ध ही कट गया। तो विषय, विषयग्राहिणी वृत्ति और वृत्तिके समूह वृत्ति-पुंज, अन्तःकरणके सम्बन्ध लेशसे शून्य अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी कल्पनासे विरहित पंचकोशकी कल्पनासे असंपृक्त, देश-काल-वस्तु, भूत-भविष्यकी कल्पनासे अनास्कंदित, देशकी कल्पनासे अनाक्रान्त, द्वैतकी कल्पनासे सर्वथा विनिर्मुक्त केवल अपना आपा ही है और इसमें दर्शन और दृश्यका भेद नहीं है। पश्यन्तिका अर्थ है कि यह दर्शन भी विवर्तमात्र ही है। यह अदर्शनकी कल्पनाका व्यावर्तक दर्शन है, अदर्शनकी कल्पनाको मिटानेवाला दर्शन है।

एक अष्टावक्र-गीताका श्लोक भी सुना देते हैं—

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद् हृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्यं करिष्यसि॥ (१५.२०)

छोड़ दो ध्यान। फेंक दे वृत्तिको चिदाकाशमें, बाधित है। ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों बाधित हैं और इनके साथ अपना अधिष्ठान और अध्यस्त रूप भेद भी नहीं है।

मा किंचिद् हृदि धारय—कुछ भी धारण मत करो। *आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि*—तुम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त आत्मा स्वयं हो, विचार करके क्या करोगे?

अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि।

तुम अपने अन्त:करणको एक खास स्थितिमें ले जा करके जो समाधि लगाना चाहते हो, यही तुम्हारा अन्त:करणमें तादात्म्य है, माने *अहं अन्त:करणी ममान्त:करणम्।* मैं अन्त:करण वाला हूँ और अन्त:करण मेरा है। अब अन्त:करण है, अन्त:करण मेरा है, मैं अन्त:करणी हूँ, इत्याकारक भ्रान्तिसे आक्रान्त हो करके अपनेको ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटीमें आबद्ध मानते हो, इस त्रिपुटीका निषेध ही ध्यान है। आत्मनि माने अधिकृत और अधिकरण भावका परित्याग कर दो। किसमें कौन? नहीं; आत्मनि माने किसीमें कोई नहीं, न काल न देश। और आत्मानंका अर्थ है ध्येयका विषय अपनेसे अन्य नहीं और आत्मना अर्थात् यह मन, बुद्धि इन्द्रियादि नहीं, इन तीनोंका निषेध करके जो तुम स्वयं बैठे हुए हो—***विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।*** उस इस विज्ञाताको तुम किस-किस करणसे जानना चाहते हो?

स्वयं तु तत्त्वं स्वयमेव बुद्धं।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम्।

तुम्हारी बुद्धिका बन्धन यही है कि तुम ब्रह्मको जुदा और इस द्रष्टाको जुदा समझते हो।

तो बाबाने आखिरी बात क्या कही थी कि नहीं, कोई ब्रह्माकार वृत्ति नहीं है, और न अपनेमें कर्तृत्व थोप करके कुछ (ब्रह्माकार वृत्ति आदि) करना—यही जीव वृत्ति है, यही प्रपंचाकार वृत्ति है।

अच्छा यह तो बात हुई बाबाकी। एक और पुराने महात्माकी बात सुनाते हैं। वे जरा मस्त फकीर थे, समझानेका काम नहीं करते थे। एक आचार्य कोटि होती है सन्तोंमें और एक अवधूत कोटि होती है, फक्कड़। यह देश तो ऐसा है कि जिसके साथ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ शब्द न जुड़ा हो, उसको महात्मा ही न माने। परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ—एक मील लम्बा विशेषण-विशिष्ट महात्मा होते हैं।

एक पेज दो पेजमें उपाधि लिखी जाये तो बोले बहुत बड़ा आदमी है। उसमें भी एक प्रचारक कोटि होती है। प्रचारक कोटि दूसरी है और आचार्य कोटि दूसरी है। और एक होती है सन्त अवधूत कोटि। आचार्य माया

विशिष्ट कोटि है। सम्प्रदाय विशिष्ट आचार्य है। और जो अवधूत होता है, सन्त होता है, वह किसी सम्प्रदाय परिच्छेदको भी स्वीकार नहीं करता, उसको ब्रह्मकोटिका सन्त बोलते हैं। अवधूत, सन्त! दण्डी है कि मुण्डी है—यह प्रश्न नहीं है, वह पात्री है कि करपात्री है कि अ-पात्र है यह प्रश्न उसके साथ नहीं जुड़ता है।

तो बड़े ही विचित्र महात्मा थे। बहुत ही प्रसन्न थे, बोले कि गुरु, जब कुछ नहीं है तब तो इतना दिखता है और कुछ करोगे तो यह घटेगा थोड़े ही, और बढ़ जायगा।

आप यह सुनोगे लेकिन आपकी कर्तव्य बुद्धि मिटेगी नहीं। क्यों नहीं मिटेगी? आप इस बातको देखो कि आपका घरमें कर्तव्य है। यह बात आप जानते हैं, पत्नी, पुत्रके प्रति आपका क्या कर्तव्य है। आपका दुकानमें कर्तव्य है। आपका समाजमें कर्तव्य है, प्रान्तमें कर्तव्य है, राष्ट्रमें कर्तव्य है, विश्वमें कर्तव्य है, मानवतामें कर्तव्य है और ईश्वरके विषयमें कर्तव्य है कि हम उसकी भक्ति करें। क्योंकि जब आप कर्ता बनके बैठे हो तो कर्तव्यसे मुक्त नहीं हो सकते। आपको कुछ पाना है और कुछ करना है। जब आप इस कर्तृत्वकी भ्रान्तिसे मुक्त होगे—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (१४.२३)

जब तक आप कर्ता हो, जबतक आप परिच्छिन्न हो, जबतक आप अपनेको सुख-दु:खका भोक्ता समझते हो, जबतक आप अपनेको अन्त:करण वाला समझते हो, तबतक परिच्छिन्नका पूर्णके प्रति कर्तव्य होता है, जीवका ईश्वरके प्रति कर्तव्य होता है। व्यक्तिका जातिके प्रति और कर्ताका महाकर्ता-ईश्वरके प्रति, भोक्ताका भोगदाताके प्रति, परिच्छिन्नका पूर्णके प्रति कर्तव्य होता है। जैसे साँप, केंचुल छोड़ देता है, वैसे जबतक आपका अहमर्थ परिच्छिन्नताका केंचुल नहीं छोड़ देगा, तबतक आप अपनेको संसारमें कर्तव्य-मुक्त नहीं समझोगे और जबतक संसारमें आप अपनेको कर्तव्यमुक्त नहीं समझोगे तो परमार्थमें कोई लाख समझावे कि आप कर्तव्य मुक्त हैं, आप नहीं समझेंगे। कहीं-न-कहीं कर्तव्य जोड़ लेंगे। इसीसे जो विरक्त पुरुष होता है, वह प्रपंचमें हमारा कोई कर्तव्य है—इस

भ्रान्तिको जो छोड़करके परमार्थमें ही हमारा समूचा कर्तव्य है, एकमात्र इसी बोझसे ग्रस्त होता है। उसके लिए कर्तव्यका भार मिनटोंमें उतर जाता है। एक महात्माके पास हम दर्शन करनेके लिए गये। हमारी उम्र जरा छोटी थी—सत्रह बरसका होऊँगा। उस समय भी लोग हमको पंडितजी बोलते थे। बाबाजी भी बोलते थे, परन्तु महात्माओंमें जाते तो पण्डित जी बोलते। वे बोले—पण्डितजी! देखो अगर संसारमें कुछ भोगना हो और कुछ करना हो, कुछ बनाना हो तो पहले कर आओ। रही बात अविद्या दूर करनेकी तो अविद्या तो है ही नहीं, चुटकी बजावेंगे और दूर हो जायेगी; एक सेकेण्डमें अविद्या दूर कर देंगे यदि संसारमें कुछ बाकी छोड़के नहीं आओगे तो! संसारमें बहुत सारा बाकी है, तो तुम हमारा यह ध्यान छोड़ दो, समाधि छोड़ दो, ब्रह्माकार वृत्ति छोड़ दो, यह बात मत मानना।

यह हमारी कही हुई बात भी तुम तब तक मत मानना, जब तक तुम्हें संसारमें कर्तव्य भासता है। हमारा कहनेका अभिप्राय यह भी नहीं है कि परमार्थका जो कर्तव्य है, उसको छोड़ दो और संसारका कर्तव्य तुम्हारा बना रहे। हम यह बिलकुल नहीं चाहते। हम कहना यह चाहते हैं कि संसारमें क्या भोगना है, क्या करना है, क्या पाना है और क्या छोड़ना है, क्या जानना है-जब ये कोई तुम्हारा नहीं रहेगा, तो एक सेकेण्डमें परमार्थमें भी तुम्हारे लिए कुछ प्राप्तव्य, कुछ कर्तव्य, कुछ ज्ञातव्य नहीं रहेगा। यह जितना झगड़ा है वह सारा-का-सारा संसारकी पकड़का है, परमार्थको पकड़नेमें देर नहीं है। यह तो जो दुनिया पकड़ी हुई है, उसको तुम छोड़ नहीं रहे हो। पकड़ी हुई दुनियाको छोड़नेका झगड़ा है, परमात्माको प्राप्त करनेमें कोई दिक्कत नहीं है।

अच्छा, **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति**—इस सम्बन्धमें सारी बात आपको सुनायी। ब्रह्म ध्यानकी अनेक पद्धति हैं-अवस्थामें भी ब्रह्म-ध्यानकी पद्धति है, कोशमें भी ब्रह्म-ध्यानकी पद्धति है। कारणरूपसे भी ब्रह्म-ध्यानकी पद्धति है, प्रकाशक रूपसे भी ब्रह्म-ध्यानकी पद्धति है। ब्रह्मध्यानकी अनेक पद्धति हैं। लेकिन यह जो, **केचिदात्मानमात्मना** है, इस पद्धतिमें अनात्मामें, अनात्मासे, अनात्माके ध्यानके निषेधको ही ध्यान कहा गया है।

अट्ठारह-उन्नीस बरसकी उम्रमें मैंने दो पुस्तक लिखी थीं, गीता प्रेसमें

जानेसे पहले लिखी थीं। एक पुस्तकका नाम था **विज्ञानसूत्राणि** और एकका नाम था **तत्त्वरसायनम्।** 'तत्त्वरसायनम्' आर्या छन्दमें संस्कृतमें थी और 'विज्ञानसूत्राणि जैसे सूत्र होते हैं ऐसे था'। उसमें जहाँ ध्यानका प्रसंग आया कि आत्माका ध्यान कैसे करना, उसमें सूत्र था—**अचिन्तनं चिन्तनम्।** आत्मचिन्तन क्या है? अचिन्तनं, चिन्तनम्—कुछ चिन्तन न करना ही आत्म-चिन्तन है। अविद्या यदि व्यावर्त्य नहीं है, अविद्याको यदि मिटाना नहीं है, मिट चुकी है तो विचार भी विक्षेप ही है।

भाति तद् भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत्।

जो भासता है वह भासे, यह तो जादूकी तारीफ है। कि अनहुए पदार्थ भासें।

अच्छा तो **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति**—श्री उड़िया बाबाजीके यहाँ कर्णवासमें एक महात्मा थे, हैं—अब तो उनकी बड़ी उम्र हो गयी, बड़े-बूढ़े हैं और बड़े तगड़े हैं। तो वे कभी ध्यान करते थे, आत्म ध्यान करते थे गुफामें बैठकर। एक दिन आये और बोले—हमको तो आत्माका दर्शन हो गया। हमलोग तो समझो बालक थे बाबाके पास। बड़ा कौतूहल हुआ कि क्या हुआ? तो बोले कि जिस गुफामें बैठके हम ध्यान कर रहे थे—नीचे गंगाजी बहती थीं, तट पर ही गुफा बनायी हुई थी—हमारी गुफा तो बिलकुल बन्द थी, अन्धेरा हमेशा रहता है उसमें। आज उसमें एकाएक प्रकाश हो गया और न गुफाकी दीवार दिखे न दरवाजा दिखे, न शरीर दिखे। बस प्रकाश ही प्रकाश। तो यह प्रकाश ही तो आत्माका स्वरूप है। आज तो हमको आत्मदर्शन हो गया।

तो किसीको रोशनी दिख जाये तो कहे—आत्मदर्शन हो गया। आपको यह मालूम होना चाहिए कि यह जो प्रकाश-प्रकाश हमलोग बोलते हैं, यह सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिके प्रकाशके समान कोई भौतिक प्रकाश नहीं है। यह आँख बन्द करनेपर भी, देखो स्वप्नमें पदार्थ दिखते हैं—स्त्री दिखती है, पुरुष दिखता है, जमीन दिखती है, घड़ी दिखती है, तो वहाँ किससे दिखता है? वहाँ आत्म-ज्योतिसे ही सब दिखता है। तो बोले—वैसा ही प्रकाश होगा? बोले—वैसा भी नहीं है। अब यह बताओ सुषुप्तिमें कुछ नहीं मालूम पड़ा, यह किस प्रकाशसे दिखा? यह भी तो ज्ञानमात्र आत्मासे ही दिखा।

सुषुप्ति भी कैसे दिखी? बोले—नहीं, केवल अभावको भासित करनेवाला जो प्रकाश है, वह भी वह नहीं। क्यों? बोले—वहाँ परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति तो नहीं मिटी। हमने सुषप्ति जैसा जाग्रत्-स्वप्नका अभाव तो देखा, परन्तु उस समय मैं परिच्छिन्न नहीं था, 'मैं परिच्छिन्न नहीं हूँ'—यह बोध तो नहीं हुआ ना! तो सुषुप्ति, समाधिमें भी बोध नहीं होता है। समाधिमें तो वृत्ति नहीं रहती है तो बोध कहाँसे होगा?

तो असलमें विषय और करण और देश और कालका चिन्तन छोड़करके स्वयं प्रकाश रूपसे देशातीत, कालातीत, द्रव्यातीत और देशव्याप्त, कालव्याप्त, द्रव्यव्याप्त और देशकाल द्रव्यके अस्तित्वसे शून्य चैतन्य आत्म प्रकाश है। देखो अतीत कहनेसे काम नहीं चलता—देशातीत, कालातीत, द्रव्यातीत; तो क्यों? कि इसका अर्थ हुआ कि देश-काल-द्रव्य तो हैं, परन्तु आत्मा उनसे अतीत है। तो फिर बोले कि आत्मा देशव्याप्त, कालव्याप्त, द्रव्यव्याप्त, व्यापक है। परन्तु इसका अर्थ भी यही हुआ कि आत्मामें व्याप्य-व्यापक भाव होगा। तब बोले—नहीं, देशशून्य, कालशून्य, द्रव्यशून्य, इनसे केवल अतीत नहीं, इनके अस्तित्वसे रहित; द्रव्याधिष्ठान, देशाधिष्ठान, कालाधिष्ठान; देश-प्रकाशक, काल-प्रकाशक, द्रव्य-प्रकाशक; देशाकार-तया—कालाकारतया-द्रव्याकारतया भासमान और इनके अभावाकारतया भी भासमान; और स्वयं निर्विकार यह आत्म तत्त्व है। करो इसका ध्यान।

अचिन्तनं चिन्तनम्।

चिन्तनकी रीढ़ जबतक न तोड़ी जाये तबतक अन्त:करणके साथ सम्बन्ध नहीं टूटता। उसका मेरुदण्ड जबतक बाधित न होवे कि यह अन्त:करण सच्चा, यह अन्त:करण मेरा, यह अन्त:करण मैं, और यह कि मैं इस अन्त:करणके द्वारा एक कल्पित विशेष आकारका ब्रह्मके रूपमें ध्यान कर रहा हूँ, तब तक आत्मचिन्तन नहीं होता। अरे, ऐसे ध्यानमें तुम तो गायब ही हो गये। गये ध्यान करने और तुम गायब हो गये!

अब मध्यम अधिकारी, औसत दर्जेके अधिकारीकी बात लो।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।

यहाँ अन्ये माने मध्यमाधिकारिण:। अपने अन्दर मध्यम अधिकारीको दो शक्ति बढ़ानी चाहिए-एक शक्ति तो होनी चाहिए कि उसका

विचार, उसकी बुद्धि सूक्ष्म होवे और दूसरी कि उसकी बुद्धि नुकीली हो, एकाग्र हो—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। (कठ० १.३.१२)

सूक्ष्मा बुद्धि होनी चाहिए और अग्रया माने नुकीली हो—बाणमें ऐसा नोक हो कि जाकर बिलकुल अपने लक्ष्यमें लग जाये, वह पेड़-पत्तेमें न लगे, वह चिड़ियाके पाँख और पाँवमें न लगे, बिलकुल आँखमें जाकर बैठे निशाना। इसको बोलते हैं अग्रया बुद्धि। और सूक्ष्म कैसी? कि ***सूक्ष्म पदार्थावगाहिनी,*** सूक्ष्म विषयको पकड़नेमें और वहाँ स्थिर होनेमें समर्थ बुद्धि चाहिए।

तो, संख्या—संख्यासे सांख्य शब्द बनता है—

सम्यक् ख्यायते अनया इति संख्या।

जिससे कोई वस्तु भली भाँति जाहिर कर दी जाये, माने जिससे जिस वस्तुका विचार करना हो उसका रोआँ पकड़ लिया जाये, जिससे उसकी सम्यक् ख्याति होवे, उसका नाम होता है संख्या; और उस संख्याकी प्रधानतासे जो विचार है, उसको सांख्य बोलते हैं। देखो सांख्यकी तारीफ ही यह है कि वह गिनती करके संसारके तत्त्वोंको बताता है। ये पाँच विषय हैं। पाँच महाभूत हैं, पाँच इन्द्रियाँ हैं, पाँच प्राण हैं, पाँच तन्मात्रा हैं। त्रिविध अहंकार है, महत्तत्त्व है, फिर प्रमा है, फिर द्रष्टा है। इसका नाम सांख्य विधि रखा है। परन्तु सांख्य शब्द जो है यह जब सांख्य दर्शन नहीं था, तब से प्रचलित है—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमम्—उपनिषद्में आया—वह कारण कैसे मालूम पड़ता है? बोले सांख्य और योगसे मालूम पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें व्याख्या की है।

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।

जितने पदार्थ हैं, उनका पहले ऐसे विचार करो कि इनका लोप होगा तो किसमें? और इनका उदय होगा तो किसमें? उनके जन्म और मरणकी प्रक्रियापर विचार करो तब उनका तात्त्विक रूप समझमें आवेगा। तो पहले सांख्यकी दृष्टिसे ही आपको सुनाते हैं। यह जो कपिलका सांख्य है उसको पहले लेते हैं, फिर वेदान्तका सांख्य लेंगे। वेदान्तमें सांख्य शब्दका जो अर्थ

होता है सो, और सांख्य दर्शनमें सांख्य शब्दका जो अर्थ होता है सो—ये पृथक्-पृथक् हैं। फिर सांख्य भी सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य, दो प्रकारका होता है और महाभारतमें सांख्यका बड़ा सुन्दर निरूपण है। श्रीमद्भागवतमें जो सांख्य है वह तो सेश्वर सांख्य है। और ईश्वर कृष्णकी कारिकाओंमें जो सांख्य है, वह निरीश्वर सांख्य है।

चार बात सांख्यमें मानी जाती हैं:—(१) कार्य तत्त्व—ये पंच महाभूत हैं। इनको कार्य क्यों बोलते हैं? इनका कोई कार्य नहीं होता, माने सृष्टिमें अन्तिम वस्तु जो है, विकारकी पराकाष्ठा—ये पंचमहाभूत हैं; इनसे कोई दूसरे तत्त्व उत्पन्न नहीं होते; ये अन्तिम कार्य हैं। बोले—यह शरीर तो पैदा हुआ है पंचमहाभूतसे! बोले—यह शरीर पञ्चमहाभूत ही है, यह पञ्चमहाभूतमें पैदा नहीं हुआ है, पञ्चमहाभूतमें कल्पित है। सोलहों आने पञ्चमहाभूत है। जलानेपर क्या होगा? मिट्टी-मिट्टीमें, पानी-पानीमें, आग-आगमें! इसका कोई कार्य नहीं है।

(२) कारणतत्त्व—प्रकृति। सांख्य दर्शनमें अन्तिम कारण मानते हैं प्रकृतिको; माने उसका कोई कारण नहीं है। कारण वह है जिसका दूसरा कोई कारण न हो, नहीं तो अनवस्था हो जाती है और कार्य वह है जिसका आगे कोई कार्य न हो, नहीं तो अनवस्था हो जाती है। तो पंचमहाभूत अन्तिम कार्य है इसका कार्य नहीं होता; और प्रकृति अन्तिम कारण है उसका कोई कारण नहीं होता।

(३) कारण-कार्य दोनोंमें महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा है। ये कुल सात हैं। अन्तिम कारण और कार्यके बीच कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो कार्य और कारण दोनों हैं। जैसे महत्तत्त्व जो है, वह प्रकृतिका तो कार्य है और अहंकारका कारण है; और अहंकार महत्तत्त्वका कार्य है और पंचतन्मात्राका कारण है; और पंचतन्मात्रा अहंकारके कार्य हैं और पंचमहाभूतके कारण हैं इसलिए इनका नाम प्रकृति-विकृति भी है। कार्य-कारण उभयात्मक।

मूल प्रकृति किसीका कार्य नहीं है और महद्, अहंकार और पंचतन्मात्रा कार्य-कारण दोनों हैं। और पंचभूतोंका कोई कार्य नहीं है, ये अन्तिम कार्य हैं। इस प्रकार ये तीन तत्त्व हुए—कारण प्रकृति, कार्य पंचमहाभूत और इनके बीचमें कार्य-कारण उभयात्मक सात पदार्थ।

(४) चौथी चीज है पुरुष—'न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।' यह द्रष्टा आत्मा न कार्य है न कारण है, यह कार्य-कारण दोनोंका द्रष्टा है। इस प्रकार यह चार विभाग हुआ—अब आगेकी बात—

इस श्लोकमें तीन साधनोंकी चर्चा है कि चारकी, इस बातकी व्याख्या टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न रूपोंसे की है। एक चौथा कौन-सा निकल आया? तो 'अन्ये सांख्येन' अलग, 'अन्ये योगेन' अलग, 'अपरे कर्मयोगेन' अलग और 'ध्यानेन' अलग। पहली अर्धालीमें—चार साधनोंकी चर्चा है, ऐसा कोई-कोई भाष्यकार मानते हैं। प्रश्न यह है कि ये सब अलग-अलग स्वतन्त्र साधन हैं या कि सभी एक ही एक साधनके क्रमसे अंग हैं? माने इनका किसीमें समन्वय है कि ये सब-के-सब स्वतन्त्र हैं? हमारे महापुरुष ऐसा मानते हैं कि पहले कर्मयोगको लो, कर्मसे ईश्वरकी आराधना करो।

मनुष्य जब संकीर्ण भावनासे, परिच्छिन्नताकी भावनासे आक्रान्त हो जाता है, तब उसको दूसरी बात सूझती नहीं है। तमिल भाषामें द्राविड़ वेद है-'द्राविड़ाम्नाय' उसको बोलते हैं। वे उसको इतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जैसे हम लोग वेदको मानते हैं। वे तमिल भाषाकी उपेक्षा भला कैसे कर सकते हैं? कोई उनसे कह तो दे कि तुम तमिल छोड़कर अन्य भाषाका आश्रय लो, भले वे दूसरी भाषा पढ़ें, उसका आदर करें, पर तमिलमें तो उनका प्राण बसता है। गुरुमुखी है—हम लोग कहें छोड़ दो गुरुमुखी और पढ़ो हिन्दी-संस्कृत, तो गुरु साहबकी जो भाषा है, गुरु ग्रंथ साहब है, सिख धर्मके अनुयायी उसको कैसे छोड़ सकते हैं? पर दोष कब होता है जब वे गुरुग्रन्थ साहबको तो मानते हैं और वेदका तिरस्कार कर देते हैं। वे द्राविड़ वेदको तो मानते हैं, और प्राचीन वेदका, जो प्रागैतिहासिक है, तिरस्कार कर देते हैं। उदासी लोग 'मात्रा शास्त्र'को कैसे छोड़ सकते हैं? एक श्रीचन्द्रजीकी रचना है 'मात्रा शास्त्र'। कहनेका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने-अपने घेरेमें ही जब आसक्त हो जाता है, तब उसको पूर्णताका बोध नहीं होता। अपने शरीरके लिए दूसरेके शरीरका तिरस्कार, अपने परिवारके लिए दूसरेके परिवारका तिरस्कार, अपनी जातिके लिए दूसरी जातिका, अपने सम्प्रदायके लिए दूसरे सम्प्रदायका, प्रान्तके लिए राष्ट्रका, राष्ट्रके लिए विश्वका, जाति और सम्प्रदायके लिए मानवताका, मानवताके लिए

प्राणिताका, प्राणीके लिए जीवताका, जीवके लिए ईश्वरताका और ईश्वरके लिए ब्रह्मताका तिरस्कार—माने एक-एकके आगे जो भरपूर वस्तु, परिपूर्ण अद्वितीय वस्तु है उसका तिरस्कार करके परिच्छिन्न घेरेमें जो आसक्त हैं, वे ईश्वरको भला कैसे प्राप्त कर सकते हैं? तो इसके लिए कर्मयोगकी अपेक्षा होती है। **कर्मयोगेने चापरे।**

एक होता है कर्म और एक होता है कर्मयोग। कर्म तो सब करते हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (३.५)

संसारमें कोई ऐसा नहीं है जो क्षण भर भी बिना कर्म किये रह सके, कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है। परन्तु कर्मयोग करना कितनोंको आता है? देखा चिड़िया जंगलमें पहले खुद खा लेती है फिर अपने बच्चेके लिए चारा लेकर आती है, दूसरेके बच्चेको चिड़िया चारा थोड़े ही देती है। जो पशु-पक्षीका स्वभाव है, वही धारण करके यदि मनुष्य भी रहे तो उसमें उसकी क्या विशेष बात रही? केवल कर्म और भोगके लिए मनुष्य जीवन नहीं हैं। इसलिए **कर्मयोगेन चापरे**—कर्मके द्वारा योग करें। योग करें माने कर्म तो करें परन्तु अपने कर्मका फल अपनी ओर न खींच करके; सम्पूर्ण विश्वमें जो आत्मा है उसके प्रति विकीर्ण कर दें, समर्पित कर दें-**अनेन कर्मणा विश्वात्मा तृप्यताम्।** जो मैं कर्म कर रहा हूँ, उससे विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों।

श्रीमद्भागवतमें आया है—श्रीकृष्ण यशोदा माताका दूध पीते थे, परन्तु अकेलेके लिए नहीं, सम्पूर्ण विश्वके लिए। वे यशोदा मैयाका दूध पीकर परिपुष्ट हुए, पहलवान बने, वह घूँसा मारकर मुष्टिक, चाणूर, शल, तो शलको विदीर्ण कर दिया, तृणावर्तका गला ही घोंट दिया। वे दूध अपने लिए नहीं पीते थे। लोकहितके लिए पीते थे। उन्होंने द्रौपदीका साग खाया, बटलोहीमें लगा हुआ, संकल्प किया—

अनेन विश्वात्मा तृप्यताम्।

इससे सम्पूर्ण विश्वात्मा तृप्त हो जाये। तो यह मनुष्य, यह जीवात्मा, कर्म करे इस दृष्टिसे कि इससे संसारमें किसीका भी अहित न हो, सबका हित हो। बोले—सबको कहाँसे ढूँढ़ने जायें कि तुम्हारा भी हित, तुम्हारा भी

हित? तो सबकी आत्माका सांकेतिक नाम है ईश्वर। यह प्रतीकात्मक नाम है। नाम तो जितने होते हैं सब प्रतीकात्मक होते हैं, संकेतात्मक होते हैं। तो सबके लिए कि हे चिड़िया! हम तुमको चारा देते हैं, हे पशु! हम तुमको भुस देते हैं, हे देवता हम तुमको हविष्य देते हैं, हे मानव, हम तुमको रोटी देते हैं—ऐसे अलग-अलग संकल्प न करके सबके हृदयमें विराजमान जो एक अर्न्तयामी ईश्वर है, उसके प्रति अपने कर्मको समर्पित कर देना, माने उसके लिए कर्म करना, किसी व्यक्तिके लिए, किसी परिवारके लिए, किसी वर्णके लिए, किसी आश्रमके लिए, किसी जिला, प्रान्त, राष्ट्रके लिए नहीं, ईश्वरके लिए कर्म करना है।

यह जो सबके अर्न्तयामी, व्यष्टि-समिष्टके अर्न्तयामी, जड़-चेतन सबसे विशिष्ट, सबके आत्मा, सबके संचालक, सबके प्रेरक, सबके हृदयमें बैठे हुए ईश्वरको उद्देश्य करके जो कर्म होता है, उसका नाम कर्मयोग होता है—**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं अवाप्स्यसि**—भगवान्‌के लिए कर्म करो। भगवान्‌के लिए माने सर्वान्तर्यामीके लिए, विष्णुके लिए उसको काटो मत। बंगालके लिए नहीं, महाराष्ट्रके लिए नहीं, गुजरातके लिए नहीं, सम्पूर्ण भारतके लिए; सम्पूर्ण भारतके लिए नहीं, सम्पूर्ण एशियाके लिए। सम्पूर्ण एशियाके लिए नहीं सम्पूर्ण धरतीके लिए। सम्पूर्ण धरतीके लिए नहीं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका जो अन्तर्यामी है उसको अपनी दृष्टिमें रखकर कर्म करो। संसारमें उससे किसीका अहित न हो, सबको सुख मिले। ऐसा होम करो कि सब जगह सुगन्ध फैल जाये।

लेकिन होता क्या है? बोले—नहीं, हम दान तो करेंगे करोड़ रुपयेका, लेकिन उससे अपने लिए स्वर्ग चाहेंगे, अपने लिए बादशाहत चाहेंगे। यह क्या हुआ? कि यह व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत सुख आ गया। तो यह कर्मयोग नहीं हुआ। कर्मयोग वह हुआ कि अपने हिस्सेका जो श्रम है, जो धर्म है वह तो करें; परन्तु अपने लिए नहीं, सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर परम पुरुष पुरुषोत्तमके लिए करें। इसका नाम कर्मयोग होता है। इससे क्या होता है? आप देखो, आपको ही मालूम पड़ेगा, आपकी वासनाएँ निवृत्त होंगी। अन्त:करणमें-से यह करें, तो यह पावें, यह करें तो यह बिगड़े ये जो आपकी वासनाएँ हैं वे निवृत्त होंगी, आपका कर्त्तापन- भोक्तापनका अभिमान

शिथिल होगा, आप जो संकीर्ण सीमाओंमें बँधे हुए हैं, वह बन्धन छूटेगा, आपका हृदय शुद्ध होगा।

हृदय शुद्ध होनेका लक्षण यह है कि परमेश्वर क्या है, सत्य क्या है, परमेश्वरका क्या स्वरूप है, यह जिज्ञासा उदय होवे। तो जो व्यक्तिगत, जातिगत, सम्प्रदायगत संकीर्ण स्वार्थ और भोगकी वासनासे ऊपर उठकर कर्म करता है, उसका हृदय शुद्ध होता है और उसमें विविदिषा-जिज्ञासाका उदय होता है। क्योंकि कर्म और भोगके फन्देसे वह छूट रहा है। तो सत्यकी जिज्ञासा उसके हृदयमें होती है। जब सत्यकी जिज्ञासा होती है तब वह परमात्माके बारेमें विचार करने लगता है कि परमात्मा क्या है? तो—

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।

यह जो कर्मयोग है आपको कहाँ पहुँचा देगा। योगमें पहुँचा देगा, अथवा सांख्ययोगमें पहुँचा देगा; एक मानो चाहे दो मानो, उसमें कोई फर्क नहीं है। तो प्रमाणगत असम्भावनाको दूर करनेके लिए श्रवण, मनन होता है। तो जब अन्त:करण शुद्ध होता है तो जिस ईश्वरके लिए काम किया है, उस ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें श्रवण-मनन मध्ये जितने संशय होते हैं, वे सब निवृत्त हो जाते हैं; और जब विचार करते हैं कि वह ईश्वर कैसा है, तो मनके निरोधकी प्रधानतासे विचार करनेसे यह योग हो जाता है।

परमात्माको ढूँढना कैसे? रमण महिर्षका श्लोक है—

दिशि हृदि मनसा त्वां चिन्वता मज्जता वा
पवन-चलन-रोधाद् ब्रह्म-रूपो भवत्वम्।
हृदय-कुहर-मध्ये निर्विकारं निरीहे
अहमहमिति साक्षात् ब्रह्मरूपेण भाति॥

सबके हृदयकी गुफामें अहं-अहं-अहं ऐसा प्राणमेंसे घोष हो रहा है। प्राणमें-से ध्वनि निकल रही है, क्या? अहं-अहंकी स्फुरणा हो रही है। चिदाभास फुर रहा है। ठीक है, अहं तो नाम है, शब्द है और अहंकी तो हृदयमें एक आकृति है। इस नाम और आकृतिका अधिष्ठान कौन है? इसको सोचो, इसका विचार करो।

तो कर्मयोगके द्वारा हृदय शुद्ध होनेपर जब परमात्म-तत्त्वकी जिज्ञासा होती है तो वासना क्षीण हो जानेके कारण मनकी चंचलता मिट जाती है और

जब मनकी चंचलता मिट जाती है, तब मन शान्त हो जाता है और शान्त हो जानेपर हम इस शान्त मनके द्रष्टा हैं—यह योगकी रीतिसे द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। *तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।* (योगा० २.६) —जब मन निरुद्ध हुआ, तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें बैठ गया और जब मन चंचल हुआ तो वृत्ति सारुप्य हो गया, फिर उससे एक हो गया।

अब 'सांख्ये' जो है यह योगसे भी थोड़ा ऊपर है। वृत्ति धाराके नैश्चल्यका नाम तो योग है। जिसमें नैश्चल्य कालमें द्रष्टा अपने स्वरूपमें रहता है और वृत्ति-चांचल्य-कालमें वृत्तिकी चंचलतासे द्रष्टा अपनी स्वरूपावस्थितिको ठीक नहीं देख पाता है; लेकिन सांख्यमें वृत्ति नैश्चल्यकी अपेक्षा नहीं है। योगमें और सांख्यमें यही अन्तर है। योगमें वृत्ति निरोध है और द्रष्टा अपने स्वरूपमें है और सांख्यमें वृत्ति निरोधमें भी और वृत्ति चांचल्यमें भी दोनोंमें द्रष्टा द्रष्टा ही है। वृत्ति सारुप्य नहीं होता। वृत्तिके चांचल्य दशामें, चांचल्यकालमें द्रष्टा वृत्तिसे तादात्म्यापन्न नहीं होता, द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है। इसको सांख्य बोलते हैं।

पहले आपको सांख्यका अभिप्राय सुना रहा था। देखो, कर्मयोगके ऊपर योग और योगसे ऊपर सांख्य। योगमें वृत्तिका निरोध है; परन्तु सांख्यमें विचारका प्रवाह है। क्या? कि सृष्टिके सब शरीर—स्त्रीके, पुरुषके, पशुके, पक्षीके, देवताके, दानवके जितने शरीर हैं—वे सब-के-सब पंचमहाभूतमें कल्पित हैं। सांख्यकी रीतिसे ये शरीर सच्चे नहीं हैं; क्योंकि कार्यकी सीमा पंचमहाभूत हैं। पंचमहाभूतमें कल्पित हैं ये सारे-के-सारे शरीर। ये पंचभूतके कार्य नहीं हैं। भले ही पंच महाभूत सांख्यकी दृष्टिसे प्राकृत होनेके कारण सच्चे होवें परन्तु पंचमहाभूतमें बने हुए जो शरीर हैं, ये तत्त्व नहीं हैं, ये तो नामरूप मात्र हैं। केवल आकृति खींची है, केवल नाम रखा गया है—अयं पशु, अयं पक्षी, अयं मनुष्यः। इयं स्त्रीः, अयं पुरुषः। सांख्यकी रीतिसे भी ये बिलकुल क्लृप्त हैं, कल्पित हैं। तब सांख्यसे क्या विचार करते हैं? कि संसारके जितने रूप-भेद हैं, जितने आकृति-भेद हैं, वे सब पंचमहाभूतमें और पंच महाभूत, पंचतन्मात्रामें और पंचतन्मात्रा अहंकारमें और अहंकार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और प्रकृतिसे सब उदय होते हैं।

आप देखो, प्रातीतिक और प्राकृतिक सृष्टिका विलास। सांख्यमें दो प्रकारकी सृष्टि मानी जाती है। एक प्राकृतिक, एक प्रातीतिक। दोनोंका भेद आपको जरा सुना देते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज इनको अलग दो शब्दोंसे बोलते हैं—एक जगत् और एक संसार। स्त्री शरीर और पुरुष शरीर—ये दोनों प्रकृतिकी धारामें पंचमहाभूतसे बने हुए हैं। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान सबके शरीरमें हैं-पशु-पक्षी, मनुष्य सबके शरीरोंमें। यह तो प्रकृतिमें, प्रकृतिसे बन गये। लेकिन यह मेरा पति और यह मेरी पत्नी? नोट तो बनाया सरकारने और यह नोट मेरा और वह नोट तेरा, यह कैसे बना? देखो पंचभूतसे बना मकान, ठीक लेकिन यह मेरा और यह तेरा? प्राकृतिक है पेड़, लेकिन मेरा पेड़? प्राकृतिक है खेत जमीन, मिट्टी, प्लाट, नम्बर एक, नम्बर दो, नम्बर तीन प्लाट; लेकिन यह मेरा प्लाट, यह तेरा प्लाट, सो? यह मेरा-तेरा जितना है यह संसार है और प्लाट जगत् है। जब तुम्हारा ईश्वरके साथ सम्बन्ध होगा तो मेरे तेरेका भाव कट जायेगा और प्लाट बना रहेगा। इसी प्रकार जो अहंता-ममताका सम्बन्ध है वह अविवेकजन्य है। तो अविवेकजन्य होनेके कारण यह प्रातीतिक है। मैं और मेरा यह प्रकृतिमें नहीं है। और प्रकृतिके कार्यमें जो मैं-पना और मेरा-पना है यह अविवेकजन्य है। सांख्यमें अविद्या शब्दका प्रयोग नहीं होता है, अविवेक शब्दका प्रयोग होता है माने; दोनोंका अलगाव न जाननेके कारण है कि प्रकृति क्या है और पुरुष क्या है, इसका ठीक-ठीक विवेक न होनेके कारण है।

अच्छा, दुःख कौन देता है? जगत् दुःख नहीं देता, स्त्री दुःख नहीं देती, पुरुष दुःख नहीं देता, जमीन दुःख नहीं देती, मकान दुःख नहीं देता, पेड़-पौधा दुःख नहीं देता, हीरा-मोती, सोना-चाँदी, लड़की-लड़का कोई दुःख नहीं देता। दुःख कौन देता है? यह जो मैं और मेरा, यह जो अविवेकजन्य भाव है, यही दुःख देता है। संसारमें दुःख है, जगत्में दुःख नहीं है।

अच्छा, कहो तो इसको वेदान्तपर भी एक बार आरूढ़ कर दें। भक्ति सिद्धान्तमें तो वल्लभाचार्यजीका मत समझो—संसार और जगत्। सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका है, उसमें मैं और मेराका संसार बनाके ईश्वरसे विमुख हो रहे

हो और बँध रहे हो और दुःखी हो रहे हो। सम्पूर्ण जगत् प्रकृति और पुरुषका विलास है, इसमें पुरुष प्रकृतिको अपनेसे पृथक् न जानकर प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें मैं-मेरा करके बँध गया है। यह बना रहे और यह बिगड़ जाये, यह दोस्त है यह दुश्मन है, यह प्रकृतिमें थोड़े ही बन गये, यह तो मैं-मेराने बनाया है। अपना-पराया, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, यह प्रकृतिने नहीं बनाया है। यह मेरा हीरा—जरा हीरेसे पूछो, हीरेको पता ही नहीं कि यह मेरा कहनेवाला कौन होता है? सोनेको पता ही नहीं कि यह मेरा मालिक बना हुआ कौन है? चाँदीको पता ही नहीं, धरती बेचारीको पता ही नहीं, इसको कोई तकलीफ नहीं है कि तुम चाहे मरो चाहे जिओ, उसका कोई दुःख नहीं है, लेकिन तुम उसके लिए मर रहे हो, जी रहे हो। तो प्रकृति सृष्टिमें दुःख नहीं है। अविवेककृत जो सृष्टि है, जो अहंता ममतामूलक सम्बन्ध है, उसीमें दुःख है।

वेदान्तमें इस बातको इस तरह कहते हैं कि सृष्टि दो तरहकी है—ईश-सृष्टि और जीव-सृष्टि। क्योंकि वेदान्तमतमें अचैतन्यको सृष्टिका कारण नहीं मान सकते। या तो जीव बनावे या तो ईश्वर बनावे या तो अपने लिए बनावे या तो परायेके लिए बनावे, पर परायेको भी क्यों बनावे? अपने लिए बनावे। तो सृष्टि दो तरहकी है-एक ईश्वरकी बनायी हुई, एक जीवकी बनाई हुई। पंचदशीमें यह प्रसंग है—

ईशसृष्टं जीवभोग्यं।

तो देखो, ईश्वरने सृष्टि क्या बनायी? आकाशके ये चन्द्रमा, सूर्य, तारे और ये धरतीके चमकते हुए हीरे—आप सब लोग। जैसे आकाशके चमकते हुए नक्षत्र होते हैं, वे हीरे हैं जो आकाशमें बिखेर दिये गये हैं, ऐसे ही धरतीमें ईश्वरने हीरे बिखेर दिये और उनका नाम स्त्री है, पुरुष है, पशु है, पक्षी है। यह धरती ईश्वरकी सृष्टि है, सोना ईश्वरकी सृष्टि है, चाँदी ईश्वरकी सृष्टि है; लेकिन मैं-मेरा—यह शरीर मैं हूँ और ये शरीर सम्बन्धी मेरे हैं, यह धन मेरा है, यह मकान मेरा है, यह जमीन मेरी है, ये हीरे-मोती मेरे हैं—यह मेरा-पन, यह अहंता और ममता, यह ईश्वर-सृष्टि नहीं है। यह ईश्वराज्ञानमूलक सृष्टि है, ईश्वर वैमुख्यमूलक सृष्टि है।

तो दुःख कहाँ रहता है? ईश्वरकी बनायी हुई सृष्टिमें दुःख नहीं है,

जीवकी बनायी हुई सृष्टिमें दुःख है। ईश्वर तो स्वयं आनन्दरूप है। आप लोगोंने श्रुति सुनी—

आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दम् प्रयन्ति। आनन्दं आभिसंविशन्ति। (तैत्तरीय उपनिषद्)

आनन्दरूप अभिन्न निमित्तोपादान कारणसे ये सबके सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दमें उत्पन्न होकर इसीमें जी रहे हैं और सब-के-सब आनन्दकी ओर जा रहे हैं। आनन्दमें तृप्त हो रहे हैं। आनन्दमें प्रवेश कर रहे हैं, आनन्दमें डूब-उतरा रहे हैं। ईश्वरकी सृष्टिमें आनन्दके सिवाय और कोई नहीं है। तो वेदान्तमें व्यावहारिक दृष्टिसे जीव-सृष्टि और ईश्वर-सृष्टि और सांख्यमें प्राकृत-सृष्टि और अविवेक सृष्टि, वैष्णव धर्ममें जगत् और संसार—इसका मतलब है कि अपने दुःखके जिम्मेवार आप हैं। हमारे दुःखकी जिम्मेवार प्रकृति नहीं है। हमारे दुःखका जिम्मेवार ईश्वर नहीं है। सच पूछो तो हमारे दुःखके जिम्मेवार हमारी भूल है। हमारी भूलके सिवाय, हमारी भ्रांतिके सिवाय हमारे दुःखका जिम्मेवार और कोई नहीं है। एक महात्मा बोलते थे—हमको जरा डबल दुःख है। क्या डबल दुःख है? एक तो आदमी दुःखी हुआ, दूसरे उसको बेवकूफ कहा। तो आनन्दसे वंचित हुआ बेचारा दुःखी हुआ, यही बड़े दुःखकी बात है, अब उसपर और ठोंक दें कि तुम बेवकूफ हो। तो महात्माके कहनेका अभिप्राय क्या है कि बेवकूफीके बिना, अज्ञानी हुए बिना कोई दुःखी नहीं हो सकता, और अज्ञानी हुए बिना कोई अपनेको जन्मने-मरनेवाला शरीर नहीं मान सकता। अज्ञानके कारण ही अपनेमें जन्म-मरण, अज्ञानके कारण ही अपनेमें लोक-लोकान्तरका गमनागमन और अज्ञानके कारण ही अपनेमें दुःखीपना है। यह सच्चिदानन्दके विरुद्ध अगर तुममें कोई भाव है—यदि तुम अपनेको सत्के विरुद्ध असत् मानते हो कि मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ; यदि तुम अपनेको चित्भावके विपरीत कहीं-से-कहीं जाने-आनेवाला, देशमें उड़नेवाला मानते हो और अपनेको जड़ मानते हो, अपनेको आकाशमें उड़नेवाली चिड़ियाके समान शरीरधारी मानते हो, अपनेको अचित् मानते हो; अचित्में ही गमनागमन होता है, चित्में नहीं, अचित् ही परिच्छिन्न होता है चित् नहीं;

और यदि तुम अपनेको दु:खी मानते हो; तो तुम अपने स्वरूपको नहीं जानते—

'प्रातिलोम्यतः अनुलोम्यतः अनुध्यायेद्' सांख्यसे यह विचार करे कि ये पंचमहाभूत तन्मात्रामें, तन्मात्रा अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इन सबके लीन होनेपर भी मैं लीन नहीं होता। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, पंचमहाभूतके क्रमसे सृष्टि होती है और महाभूतका पंचतन्मात्रा, अहंतत्त्व, प्रकृतिके क्रमसे लय होता है। उत्पत्ति और प्रलय प्रकृतिके राज्यमें, प्रकृतिके साम्राज्यमें चलते रहते हैं और मैं इनका द्रष्टा चेतन इनसे बिलकुल न्यारा हूँ। एक बातका ध्यान रखना कि वहाँ भी अपने शरीरको मत जोड़ देना। प्रकृतिके राज्यमें प्रकृतिकी विशालतामें यह परिच्छिन्न शरीर न तो अपना स्थान रखता है, क्योंकि महत्तत्त्व उदय होनेके पूर्व तो समष्टि देशकी कल्पना भी नहीं रहती है। महत्तत्त्वका, बुद्धिका उदय होता है तब समष्टि देशकी कल्पना होती है और तब समष्टि प्रलयकाल और उत्पत्तिकालकी कल्पना होती है। अब अहंकार, अहंकारके बाद पंचतन्मात्रा, उनमें पंचमहाभूत, पंचमहाभूतोंमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, उनमें-से एक ब्रह्माण्डमें पृथिवी और उस पृथिवीमें एक राज्य, उसमें एक प्रान्त, फिर एक जिला, एक गाँव उसमें रहनेवाला एक परिवार, उस परिवारमें एक बाप, उस बापके एक बूँद पानीसे तुम्हारा जन्म हुआ। तो जब हम यह विचार करते हैं कि हम प्रकृतिसे भी विलक्षण हैं, तो केवल इतना ही सोचकर मत रह जाना कि हम इस शरीरसे विलक्षण हैं। उस समय पुरुषका स्वरूप विभु माना हुआ है। सांख्य दर्शनकी दृष्टिसे भी आत्मा परिच्छिन्न वस्तु नहीं है। ये दो बात तो खास करके सांख्यके विचारकको ध्यानमें आनी चाहिए। कि एक तो सांख्यकी दृष्टिसे शरीर - तत्त्व तो पंचमहाभूत ही है और यह शरीर उसमें कल्पित है। और दूसरी बात यह ध्यानमें आनी चाहिए कि केवल एक शरीरका द्रष्टा 'मैं' कोई परिच्छिन्न चेतन तत्त्व नहीं है। इन दो बातोंका ध्यान रखकर आप अपनेको द्रष्टा समझो, कि देखो, सांख्य समझमें आता है।

अब आपको थोड़ी-सी बात और सुनाते हैं। आपको बताया था कि सांख्यमें चार प्रकारके तत्त्व माने जाते हैं:-कार्यतत्त्व (अथवा विकृति) पंचमहाभूत, कारण-तत्त्व, प्रकृति, दोनोंके बीचमें महाभूतके कारण और

प्रकृतिके कार्य—कार्यकारण उभयात्मक (प्रकृति-विकृति) और पुरुष जो कैसा है? *'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'*—अकार्य-अकारण।

अब बोले—महाराज इन तत्त्वोंको कैसे समझें? ये पंचमहाभूत जो हैं ना इनकी सूक्ष्म तन्मात्रा हैं, उन तन्मात्राको पहले आप ऐसे समझो। सांख्य मतमें परमाणु नहीं हैं, सांख्य मतमें तन्मात्रा हैं। तो ये जो पंचमहाभूत हैं, (और इनसे बने जो पदार्थ हैं) उनमें तो मिट्टी, पानी, आग, हवा सब एक दूसरेसे मिले हुए हैं। आप गुलाबका फूल देखो उसमें गन्ध है तो मिट्टीकी है, उसमें जो स्वाद है सो पानीका है, उसमें जो रंग है सो तेजका है और उसमें जो सूखना-मुरझाना हिलना है वह वायुका है, उसमें कोमल जो स्पर्श है, वह वायुका है। किन्तु मात्र जल हो और उसमें अन्य चार तत्त्व न हों तो वह जल तन्मात्र है— *जलमात्रं न पृथिव्यादिसंवलितं।* इसी प्रकार मात्र पृथिवी, मात्र तेज, मात्र वायु, मात्र आकाश-ये सब तन्मात्र हैं। वे कहाँ हैं? कि इनके अस्तित्वका दर्शन तो होता है पृथक्-पृथक् ज्ञानेन्द्रियोंमें परन्तु ये रहते हैं—एक अहं में। यदि उनको देखनेवाला अहं न हो, तो उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। अहं होनेपर उनकी सिद्धि होती है, अहंके बिना उनकी सिद्धि नहीं होती है। अहंका उनमें अन्वय है और उनसे अहंका व्यतिरेक है। उनके बिना भी अहं है। अहं उनमें अनुवृत है और अहं उनसे व्यावृत है। अहंको ही समष्टिमें अहंकार कहते हैं।

अब बोले—भाई, यह कैसे समझें कि अहंसे विलक्षण बुद्धि (महत्तत्त्व) है और बुद्धिसे विलक्षण प्रकृति है। आप देखो, जब सोकर उठते हो, तो उस समय जरा ध्यान करना। श्रीमद्भागवतमें तो उस बातपर बहुत जोर दिया हुआ है—

सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः॥ (७.१३.५)

श्रुति भी यही बात कहती है—

स्वप्नान्तरं जागरितं च उभौ ये न पश्यति।

जिससे सुषुप्ति और जागरण दोनों मालूम पड़ता है।

तो अब देखो, जिस समय नींद टूटती है और जाग्रतावस्था होनेवाली होती है, उनकी संधिमें क्या होता है? हमको कई बार ऐसा हुआ! नींद टूट

गयी, पर मेरा क्या नाम है, मैं संन्यासी हूँ कि गृहस्थ, मैं ब्राह्मण हूँ कि संन्यासी, वृन्दावनमें हूँ कि बम्बईमें—मैं कौन हूँ, यह वृत्ति तो उदय हुई नहीं और नींद टूट गयी, तो दोनोंके बीचमें क्या है? वहाँ बोध तो है, नींद नहीं है, होश तो है, पर मैं-पनेका भाव नहीं है। अहंकार नहीं है। तो सुषुप्तिको समझो, प्रकृतिकी उपमा और होशको समझो महत्तत्त्वकी उपमा; और उसके बाद याद आयी—अरे, मैं तो अमुक हूँ और बम्बईमें हूँ, तो यह कौन हुआ? बोले—अहंकारका उदय हो गया। तो यह व्यष्टिमें जैसे सुषुप्तिके बाद बुद्धि और बुद्धिके बाद अहं, वैसे ही समष्टिमें प्रकृतिके बाद महत्तत्त्व और महत्तत्त्वके बाद अहंकार है। और अहंके बाद हुआ? कि अरे, यह देखो, यह मकान है, ये हरे-हरे पेड़ हैं और यह समुद्र है और यह चन्द्रमा है। इसी प्रकार समष्टिमें अहंकारके बाद पंचतन्मात्राएँ, तन्मात्रके बाद पंचमहाभूत और फिर सम्पूर्ण सृष्टि। अब पुरुष (द्रष्टा)का स्वरूप देखो योगदर्शनमें। अपनेको द्रष्टा जाने तो भी अवस्था-विशेषका दुःख आ जाता है। अवस्था-विशेषका दुःख क्या? कि मन निरुद्ध हो तब तो द्रष्टा अपने स्वरूपमें और यदि मन चंचल हो जाये तो बोले—वृत्ति नहीं बनती। सांख्यने इस झगड़ेको काट दिया। चाहे वृत्ति बने कि नहीं बने, नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा बुद्धिमें होवे, नयी-नयी बात उठे। देखो, पंचभूतसे बनी हुई सभी चीजोंका द्रष्टा मैं, अहंकारका भी द्रष्टा मैं, वैकारिक, तैजस, तामस तीनों प्रकारके अहंकारका द्रष्टा मैं, महत्तत्त्वका भी द्रष्टा मैं और सुषुप्तिवत् जो प्रकृति है, अव्याकृत है, उसका भी द्रष्टा मैं। अब ये जो प्रकृति और प्रकृतिके कार्य हैं, इनकी चाहें सृष्टि हो चाहे स्थिति हो, चाहे प्रलय हो, चाहे ये बनें, चाहे बिगड़ें, चाहे इनका निरोध हो, चाहे विक्षेप हो, चाहे विचाररूप विक्षेप हो और चाहे समाधिरूप शान्ति हो, हर स्थितिमें मैं एक द्रष्टा हूँ। यह सांख्य हुआ।

अब यह जो द्रष्टा है, यह कौन है?

केचिद् ध्यानेन आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति।

श्रवण-मननके परिपाकसे जन्य जो निदिध्यासनात्मक आत्म-चिन्तनात्मक ध्यान है, उससे *आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति। आत्मनि स्वहृदये। स्वेनैव आत्मना, स्वेनैव आत्मानं परमात्मनं परमेश्वरम् पश्यन्ति अभेदेन अनुभवन्ति।*

शुद्धान्त:करण हो करके, मनोवृत्तिका निरोध करके, आत्म-अनात्म विवेक करके, जो सर्वद्रष्टा-देहका द्रष्टा, प्राणका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, व्यष्टिका द्रष्टा, समष्टिका द्रष्टा, कार्यका द्रष्टा, कारणका द्रष्य, उत्पत्ति कालका द्रष्टा, प्रलयकालका द्रष्टा—यह जो द्रष्टा है ज्ञानमात्र, चिन्मात्र वस्तु आत्मा, इसको परमात्माके रूपमें जानते हैं।

इसलिए ये अलग-अलग स्वतन्त्र साधन नहीं हैं, सब-के-सब ये समन्वित साधन हैं। (पहले कर्मयोगेन, फिर सांख्येन योगेन और फिर ध्यानेन)।

अब देखो एक बात। वाचस्पतिमिश्र ऐसा बोलते हैं कि जिस समय अखण्डार्थका, अखण्ड वस्तुका साक्षात्कार होता है, अविद्याकी निवृत्ति होती है—आत्मैक्य बोधसे जिस समय अविद्याकी निवृत्ति होती है, अखण्डार्थ विषया जब वृत्ति होती है कि आत्मा और परमात्मा एक है, उपाधिका निरसन करके, अल्प और सर्वका निरसन करके, कार्य और कारणका निरसन करके, व्यष्टि और समष्टि, सृष्टिकाल और उत्पत्तिकाल दोनोंका निरसन करके जब ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार होता है; तब बोले—भला वृत्ति जो अविद्याका कार्य है, स्वयं जड़ है, वह अविद्याको कैसे निवृत्त करेगी तो बोले—वृत्ति अविद्याको निवृत्त नहीं करती, वृत्त्यारूढ़ चैतन्य ही अविद्याको निवृत्त करता है। तो वही जो वृत्त्यारूढ़ चैतन्य है, उसीको यहाँ आत्मना कहा है। और उसमें जो अखण्डता है वही आत्मानं है; और अन्य अधिकरणमें नहीं, स्वाधिकरणमें, माने अपने आपमें— देशमें नहीं, कालमें नहीं, वस्तुमें नहीं। यह हिरण्यकशिपु बाहर-भीतर नहीं मरता, यह दिनमें, रातमें नहीं मरता। हिरण्यकशिपुकी मृत्यु न दिनमें होती है न रातमें, न बाहर होती है न भीतर होती है, न पशुसे होती है, न मनुष्यसे होती है। यह ऐसा है। तो—**वृत्त्यारूढेन आत्मना। अनारूढं अखण्डं आत्मानं। आत्मनि देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-व्यतिरिक्तेन स्वस्मिन्। पश्यन्ति अभेदेन अनुभवन्ति साक्षात् कुर्वन्ति।**

बोले—जब साक्षात्कारमयी वृत्तिका उदय होता है, तो वहाँ कहाँ है कर्म? वहाँ कहाँ है योग? वहाँ कहाँ है विवेक? वहाँ तो इनकी पहुँच ही नहीं। तो बोले-अच्छा, निदिध्यासनमयी वृत्ति जो उनके पूर्व है, विपर्ययकी

निवृत्तिके लिए उसमें कर्म होवे? बोले—उसमें भी कर्म नहीं है। अच्छा, तो मननात्मिका जो वृत्ति है उसमें कर्म होवे? उसमें भी कर्म नहीं है। अच्छा, तो श्रवणात्मिका जो वृत्ति है उसमें कर्म होवे? उसमें भी कर्म नहीं है। अच्छा, उसके पहले जो जिज्ञासात्मिका वृत्ति है उसमें कर्म होवे? उसमें भी कर्म नहीं है। अच्छा उनके पहले शमदमादिरूप षट् सम्पत्ति है, उसमें कर्म होवे? तो उसमें भी कर्म नहीं है। तब कर्म कहाँ है? बोले शमदमादि सम्पत्तिके पूर्व अन्त:करणमें जो दुर्वासनाएँ भरी पड़ी हैं, उनको निवृत्त करके अन्त:करणको ईश्वराभिमुख कर देनेके लिए कर्म है। तो कर्मयोगसे योग, योगसे सांख्य और सांख्यसे—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

अब आपको कल सुनावेंगे।

अब एक बार जो साधन सम्बन्धी विवेक हुआ है, उसपर पूरी दृष्टि डालेंगे।

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते—जिसको जानकर अमृतत्वसे एक हो जाता है। 'अश्नुते व्याप्नोति। अमृतं अश्नुते अमृतो भवति इत्यर्थ:'। 'अश्नुते'—इस क्रियापदका अर्थ है 'व्याप्नोति अमृतो भवति। यज्ज्ञात्वाऽमृतो भवति'।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

केवल क्षेत्रज्ञके स्वरूपके ज्ञान मात्रसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति प्रारम्भमें और मद्भावकी प्राप्ति अन्तमें। अर्थात् अमृतत्व और मद्भाव दोनों एक हैं और ज्ञानमात्रसे ही प्राप्त होते हैं। यह बात कही। **यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते**—यह उपक्रम और **मद्भावायोपद्यते**—यह उपसंहार। तो 'ज्ञात्वा'का और 'विज्ञाय'का अर्थ एक है। और अमृतका एवं मद्भावका अर्थ एक है। तो केवल ज्ञानमात्रसे ब्रह्मात्मैक्यानुभूति अविद्याकी निवृत्ति, अमृतत्वकी प्राप्ति, भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति।

उसके बाद फिर प्रकृति और पुरुषका विवेक फिरसे बताया।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

और विवेक करके पुरुषको **उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर:**। प्रकृतिसे विविक्त आत्माका ज्ञान करवाकर फिर उसको ब्रह्म बताया। पहले देखो सीधे ही ब्रह्म बताया था। **अनादिमत्परं ब्रह्म न**

सत्तन्नासदुच्यते पहले क्षेत्रज्ञको सीधे-सीधे ब्रह्म कह दिया था। यह पहली चोट थी और दूसरी चोटमें प्रकृति और पुरुषका विवेक करवाकर तब पुरुषको ब्रह्म-स्वरूप बताया। और तब दृश्य जगत् परब्रह्म परमात्मासे विलक्षण नहीं है, इसलिए **सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते** चाहे कैसी भी स्थितिमें रहे उसका जन्म नहीं होता। जन्ममृत्युसे वह मुक्त है। तो स्वातन्त्र्यकी जीवनमें प्राप्ति हो गयी, यह दूसरी बात बतायी।

तीसरी बात यह बतायी कि **ध्यानेन** ध्यान करो—यदि विपर्यय विशेष होवे और केवल ज्ञान और विवेकसे ही काम न बने, तो! ज्ञान तो श्रवणमात्रसे कार्यकारी हो गया और प्रकृति पुरुष विवेक जो है वह मननसे कार्यकारी हो गया और ध्यानेन यह निदिध्यासनसे कार्यकारी हुआ। तो निदिध्यासन प्रधान क्या हुआ? ***आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति।*** ध्यान करके विपर्ययकी निवृत्ति हो गयी। अरे, जो देखनेवाला है वही देखा जानेवाला और वही सर्वाधिष्ठान है—***आत्मनि अधिष्ठाने, आत्मना प्रकाशकेन, आत्मानं ब्रह्मरूपम्, पश्यन्ति अनुभवन्ति।***

तो तीन बात हो गयीं। आपको यह सुनाया कि ब्रह्मज्ञान तो एक ही होगा—ज्ञान ब्रह्म एक है—उसके लिए प्रक्रियामें भेद होता है। तो पहली प्रक्रिया सीधी औपनिषद तत्त्वमस्यादि वाक्य रूप है और दूसरी विविक्त आत्मैक्यज्ञान रूप है और यह तीसरी प्रसंख्यान रूप है। ध्यानसे विपर्ययको दूर करो। पहले सुन लो, सुननेसे ग्रहण तो होगा नहीं जल्दी, क्योंकि शुद्धान्त:करण हो तो ग्रहण हो, अशुद्धान्त:करण होंगे तो अपनेको तुम माई-बाप समझोगे कि हम अपने बेटेके माई-बाप हैं या अपने माई, बापके बेटे हैं, यह समझोगे। अपनेको ब्रह्म नहीं समझोगे? तो अपनेको माई-बाप समझनेकी आदत पड़ी हुई है या अपनेको बेटा-बेटी समझनेकी आदत पड़ी हुई है, यह विपर्यय है। इस विपर्ययको दूर करनेके लिए ध्यान करना पड़ता है और ध्यान करनेपर विपर्यय दूर हो गया।

अच्छा, कल एक बात और सुनायी थी आपको कि कर्मयोगसे सांख्य योग, सांख्य योगसे ध्यानयोग उत्तम है और सबका फल है 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति।' तो क्या यह दो तरहसे है—(१) कर्मयोगसे सांख्ययोग, सांख्ययोगसे ध्यानयोग अथवा (२) ये तीनों योग स्वतन्त्र हैं? मुक्तिमें फलमें

स्वतन्त्र नहीं हैं, अविद्याकी निवृत्तिमें ये तीनों स्वतन्त्र नहीं हैं, अविद्याकी निवृत्ति तो ज्ञानसे ही होती है, ज्ञानके सिवाय और किसी प्रकार अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। अन्धकारको तो प्रकाश ही निवृत्त करता है। घटज्ञानसे जो कठिनाई है वह घटज्ञानसे ही निवृत्त होगी, विपर्यय आदिकी निवृत्तिके लिए यह साधना है। तो बोले—भाई यह बात तो समझमें आयी कि कर्मयोग करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हुई, अन्तःकरण शुद्धि होनेपर सांख्ययोगसे विवेक हुआ, विवेक होनेपर ध्यानयोगसे आत्मदर्शन हुआ, परन्तु ये तीनों स्वतन्त्र नहीं हैं आत्मदर्शनमें, यह कैसे?

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

यहाँ ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है, 'आत्मनि आत्मानं आत्मना पश्यन्ति।' तो एक तो हुआ ध्यानयोग, यह आत्मज्ञानका साधन है। शंकराचार्यने कहा कि 'अन्ये सांख्ययोगेन' यह भी आत्मज्ञानका साधन है। यह भी यही अनुभव करेंगे, 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति अन्ये अधिकारिण: सांख्येन योगेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति।' और 'अपरे च कर्मयोगेन आत्मन: आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति'। अन्वय तो वही होगा क्योंकि क्रियापद तो पश्यन्ति है और कर्म है आत्मानं और अधिकरण है आत्मनि। तो बात तो वहीं-की-वहीं रहेगी।

अब देखो, कि यह प्रश्न हुआ कि सांख्ययोगसे आत्मदर्शन कैसे होगा? तो सांख्य योग होता है त्वं पदार्थका शोधन गिनती करो, क्या-क्या देखते हो। बोले—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध। इनको कहाँ देखते हो? पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आकाशमें। किनके द्वारा देखते हो? पंचाज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं और इनमें वासना हो तो इनकी प्राप्तिके लिए कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रयत्न करते हैं और मनमें इनकी वासना इकट्ठी होती है और मनमें अहं बन करके हम बैठे हुए हैं, यह प्रसंख्यान हुआ, सांख्य हुआ। तो इस मनसे अपने अहंको अलग करो और अहं बुद्धिमात्र है और बुद्धि अव्याकृतसे पृथक् नहीं है और मैं, आत्मा-द्रष्टा हूँ और यह द्रष्टा वितत जो देश है और क्रमका प्रकाशक जो काल है, उसका भी प्रकाशक है।

आप देखो, हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ये चीजें जिसमें नहीं हैं

उसका नाम देश है, जिसमें हैं उसका नाम देश है। यह मकान और यह धरती, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ऊपर - नीचेके बीचमें ही तो है न, तो अपनी लम्बाई-चौड़ाई यह मकान जिसमें रखता है, वह देश है। तो मकानकी लम्बाई-चौड़ाईके रूपमें तो हम देशको जानते हैं, पर यह भी कल्पना हम कर सकते हैं कि मकान नहीं रहेगा, तब भी देश रहेगा। मकानका भाव भी देशमें और अभाव भी देशमें, यह कल्पना हम कर सकते हैं। माने देशको हम वस्तुके अभावकी संवित्के साथ जोड़ सकते हैं, परन्तु देशके अभावकी संवित्के साथ हम वस्तुको नहीं जोड़ सकते। आप कल्पना करो कि अवकाश नहीं है, पूर्व-पच्छिम-उत्तर-दक्षिणकी कल्पना जिसमें होती है, वह देश नहीं है, परन्तु मकान है—यह कल्पना नहीं कर सकते। अच्छा देखो, एक मकानकी कल्पना करेंगे तो उसमें ये जो चार खम्भे हमको एकसाथ दिख रहे हैं, इनमें समकालकत्वकी कल्पना कहाँसे आयी? पूर्वापरकी कल्पनासे ही यह समसामयिकत्वकी कल्पना जाग्रत् होती है। ये खम्भे कभी बने थे और एक कालतक रहेंगे। तो इस समय इकट्ठे साथ-साथ दिखायी पड़ रहे हैं। माने इनका भूतरूप, इनका वर्तमानरूप, इनका भविष्यरूप, पर खम्भोंके बिना काल रहेगा कि नहीं? यह कल्पना तो हम कर सकते हैं कि खम्भोंके बिना काल रहेगा। लेकिन कालके बिना खम्भे होंगे, यह कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए द्रव्यमात्रमें जन्यताकी उत्पत्ति स्यूत रहती है। तो द्रव्य तो कार्य-कारण भावरूप दो अवस्थाको प्राप्त होता है और देश-कालमें कार्य-कारण रूपता केवल द्रव्यकी उपाधिसे आती है। तो जब हम देशके या कालके अभावकी कल्पना नहीं कर सकते, तो कालका गुण जो है अनादि और नित्यता और देशका गुण जो है पूर्व-पश्चिम आदिके परिच्छेदसे राहित्य, ये दोनों कहाँ रहेंगे? ये दोनों अपने प्रकाशकमें ही तो रहेंगे अपने अधिष्ठानमें रहेंगे। तो इनका अधिष्ठान कैसा होगा? पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, ऊपर नीचेकी कल्पनासे विनिर्मुक्त किन्तु परिपूर्ण और भूत-भविष्य, वर्तमानकी कल्पनासे विनिर्मुक्त किन्तु अनन्त। तो ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें देश और काल दोनों सावयव रूपसे कल्पित हैं और निरवयव रूपसे अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं।

हमने बचपनमें एक पुस्तक पढ़ी थी, उसका नाम था 'विश्व प्रपंच'

पुस्तक तो थी, जर्मनके दार्शनिक हैकलेके ग्रन्थका अनुवाद; परन्तु उसकी जो भूमिका लिखी हुई थी वह भारतीय विद्वान्‌के द्वारा थी। वह बड़ी पाण्डित्यपूर्ण थी, मैंने वह पुस्तक सोलह-सत्रह बरसकी उम्रमें पढ़ी थी, उस समय तो बड़ी पाण्डित्यपूर्ण लगी थी, उसके बाद फिर पढ़नेको वह मिली नहीं। उसमें देश और कालका सावयव और निरवयव दो भेद किया था। तो देश और कालमें सावयवता कहाँसे आयी? बोले—द्रव्यकी उपाधिसे, वस्तुकी उपाधिसे। यदि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदिकी उपाधि छोड़ दो, द्रव्यसे अतिरिक्त जो देशकाल है, द्रव्यसे विविक्त जो देशकाल है वह अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्मसे पृथक् नहीं हो सकता—यह प्रतिपादन उसमें बहुत बढ़िया किया हुआ था।

तो यह जो द्रव्यका अभाव करके देश और कालकी कल्पना है उसका अधिष्ठान ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता और उसका जो प्रकाशक है वह भी ब्रह्मके सिवाय और कोई नहीं हो सकता। जब केवल द्रव्यकी उपाधिको अहंके रूपमें पकड़ लेते हैं, तब आत्माको परिच्छिन्नकर देते हैं। और जब द्रव्यकी उपाधिको देश-कालके साथ जोड़ देते हैं तब ब्रह्माण्डको परिच्छिन्नकर देते हैं। चैतन्यमें भी देश-काल-वस्तुकी समष्टि जोड़ लेते हैं और आत्मामें भी देश-काल-वस्तुकी व्यष्टि जोड़ लेते है। बस यही व्यष्टिकी उपाधिको अपने साथ जोड़ना ही सम्पूर्ण अनर्थकी जड़ है।

अन्ये साख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।

अब एक देखो, लोकमान्य तिलकका गीता रहस्य पढ़ा, तो बड़ा पाण्डित्यपूर्ण लगा। फिर एक महाराष्ट्रमें वामन विष्णु वापटकी टीका देखी। बिहारमें स्वामी सहजानन्द सरस्वतीने भी बड़े विस्तारसे उसपर विचार किया।

अब आपको यह सुनाते हैं कि ये जो आत्मदेव हैं, इनकी अद्वितीयता परिपूर्णता अविनाशिता, अखण्डता और चैतन्यरूपताका जो सम्बोध है, वह द्वैतके भ्रमको सर्वथा ही मिटा देता है। ज्ञानसे जो चीज मिटती है, वह तो अज्ञानजनित ही होती है। तो सांख्य योगके द्वारा विवेक किया, अपनेको द्रष्टा—केवल द्रव्यके द्रष्टा नहीं, देश-कालके द्रष्टा, अन्तर्देश, बहिर्देश अन्तराल देश, भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल कालके द्रष्टा। यह जो

कालमें कल्पित विधा हैं, प्रकार हैं, इनसे विनिर्मुक्त कालको देखो, उसके द्रष्टा तुम विभु हो। और विभुमें अनैक्य भी दृश्य है। कहते हैं कि विभु आत्माकी जो अनेकता है वह दृश्य है। सांख्यके विभु आत्माके बहुत्वका वाचस्पति मिश्रने ऐसा बढ़िया खण्डन किया। सांख्यपर उनकी व्याख्या भी है। वे तो ऐसे विद्वान् हैं कि जब जिसकी व्याख्या करते हैं, उसको बिलकुल ठीक-ही-ठीक करते हैं। वेदान्तपर उनकी 'भामती' है। तो उसमें ऐसा खण्डन किया, बोले—हे सांख्यवादी, तुम यह बताओ कि ये जो तुम्हारे अन्तःकरण हैं ये तो प्राकृत हैं और जन्म-मरण करण और सुख-दुःख इत्यादि तो अन्तःकरणमें होते हैं; तो इनके भेदके कारण तुम चैतन्य द्रष्टाको भिन्न-भिन्न क्यों मानते हो? भेदकी उपस्थिति प्रकृतिमें और उसके कारण द्रष्टामें भेद मानते हो, यह बात बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि अन्यगतसे अन्यमें भेद सिद्ध करते हो। यदि ब्रह्माण्ड अलग-अलग हैं तो क्या आकाश अलग-अलग हो जायेगा तो जन्म-मरण करणाना-ऐसे 'ईश्वर कृष्ण'की कारिका है। बोले—तुम अन्यगत भेदसे अन्यमें भेद सिद्ध करते हो, दृश्यगत भेदसे द्रष्टामें भेद सिद्ध करते हो, जड़गत भेदसे चेतनमें भेद सिद्ध करते हो,अन्तःकरणगत भेदसे चैतन्यमें भेद सिद्ध करते हो, यह तुम्हारी युक्ति बिलकुल गलत है।

तो जब एकबार सांख्ययोगके द्वारा द्रष्टाका विवेक हो जाता है, तब वेदान्त आ करके स्पष्टम्-स्पष्टम् बताता है कि यही जो सांख्यके द्वारा विविक्त आत्मा है, यह अद्वितीय ब्रह्म है और इसमें अन्य वस्तु नहीं है।

कर्मयोगेन चापरे—कर्मयोग शब्दका अर्थ कल सुनाया था आपको। तो क्रमसे, कर्मयोगसे सांख्ययोग, सांख्ययोगसे ध्यानयोग, ध्यानयोगसे त्वं पदार्थका विवेक और तत् पदार्थसे ऐक्य। कहाँ तक पहुँच गये? **अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।** लेकिन यदि इनको स्वतन्त्र ही मानें, तो?

अब आपको एक बात सुनाते हैं। क्या? कि यह हमारा जो 'भामती प्रस्थान' है वह तो मानता है कि कर्म विविदिषाके साधन हैं,जिज्ञासाके। कल आपको सुनाया था साक्षात्कारमें भी कर्मयोग नहीं निदिध्यासनमें भी नहीं, मननमें भी नहीं, श्रवणमें भी नहीं, शमदमादिमें भी नहीं। केवल अन्तःकरण शुद्धिके लिए कर्मयोग परम्परा साधन है। परम्परा साधन है कर्मयोग,

उपासना और योग; बहिरंग अन्तःकरण शोधक साधन हैं, शमदमादि पदार्थ आत्मा और परमात्माके शोधक साधन हैं, श्रवण मननादि और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो अखण्डार्थ वृत्ति है वह अविद्या निवर्तक है। तो परम्परा साधन है कर्मयोग—ऐसा भामती प्रस्थान मानता है। और हमारे गीता प्रेसके जो कर्मयोगाचार्य हैं सेठ जयदयालजी, उनकी भी अपनी एक विवेचनकी पद्धति है। तो एकदिन हमने पूछा कि तुम्हारे और लोकमान्य तिलकमें क्या भेद है? वे बोले कि भेद यह है कि लोकमान्य तिलक साधनके रूपमें भी कर्मयोगको स्वतन्त्र मानते हैं और फिर ज्ञानीके लिए भी कर्मयोग अवश्य कर्तव्य मानते हैं। हमारा उनसे यह भेद है कि हम ज्ञानके बाद कर्मयोगको अवश्य कर्त्तव्य नहीं मानते, क्योंकि जब कर्तापन और भोक्तापन बाधित हो जाता है तब तत्त्वज्ञानी पुरुषके स्वातन्त्र्यके साथ कर्मयोगके विधानकी संगति नहीं बैठती, इसलिए हम ज्ञानी पुरुष कर्म ही करे, इसमें हमारा मतभेद है।

अब दूसरी बात यह हुई कि कर्मयोग केवल अन्तःकरण शुद्धिका ही साधन है कि ज्ञान भी दे सकता है? एक प्रश्न यह हुआ। इसपर जो विवेक है वेदान्तमें वह गंभीर है।

तमेतम् वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।

यह श्रुति है, एक और श्रुति कहती है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

अर्थात् कर्मसे ज्ञान नहीं हो सकता, सन्तानोत्पादनसे ज्ञान नहीं हो सकता, धनसे ज्ञान नहीं हो सकता। ***न कर्मणा***—यहाँ कर्म शब्दका अर्थ धर्म है, धर्मपुरुषार्थ, प्रजया माने काम पुरुषार्थ, धनेन माने अर्थ-पुरुषार्थ माने त्रैवर्गिक आयाससे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। श्रुतिका अर्थ यह है। कर्म शब्दको देख करके झगड़ेमें नहीं पड़ना ***न कर्मणा न प्रजया न धनेन।*** चतुर्थ जो पुरुषार्थ है—परम पुरुषार्थ मोक्ष, वह कर्म माने धर्म पुरुषार्थसे, प्रजया माने काम पुरुषार्थ और धनेन माने अर्थरूप पुरुषार्थसे विलक्षण है। इन तीनोंसे चतुर्थ पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती। वे जो तीन ऐषणा हैं, लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा है, उनसे ग्रस्त हैं ये उपाय धर्ममें लोकैषणा है—कैसे? इस लोकमें यश, परलोकमें सुख। पुत्रैषणा काम पुरुषार्थमें है और वित्तैषणा

अर्थ पुरुषार्थमें है। तो अर्थ-धर्म-काम—इन तीन पुरुषार्थोंसे विलक्षण है मोक्ष, इसलिए वह त्यागके द्वारा प्राप्त होता है—**त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।** तो ***कस्य त्यागेन?*** यह प्रश्न होगा ना? तो ***कर्मत्यागेन प्रजात्यागेन, धनत्यागेन***—यही उसका अर्थ निकलेगा। और जब कर्मत्याग, प्रजात्याग, धनत्याग उसका अर्थ निकलेगा तो संन्यास उस श्रुतिमें-से अपने आप ही निकल आया। तो यहाँ तो कर्मका किया निषेध और ***तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन***—यहाँ बताया कि यज्ञ और दानसे विविदिषा करते हैं, जिज्ञासा होती है।

अब विचार करो कि 'भामती प्रस्थान' तो कहता है कि कर्मयोग अन्तःकरण शुद्धि द्वारा केवल जिज्ञासाका साधन है और सेठ जयदयालजी कहते हैं कि यह ज्ञानका ही साधन है अर्थात् कर्मयोगके फलस्वरूप ज्ञानकी ही प्राप्ति होती है।

अच्छा, तो हम एक बात आपको सुना देना चाहते हैं। यह मत भी वेदान्तमें मान्य है। विवरण प्रस्थानमें इसपर यह विचार किया हुआ है कि जैसे कोई कहे कि ***अश्वेन जिगमिषति***—घोड़ेसे मनुष्य जाना चाहता है। तो घोड़ेका अन्वय जानेकी क्रियाके साथ होगा, कि जानेकी इच्छाके साथ होगा? क्रियाके साथ होगा, इच्छाके साथ नहीं होगा। वहाँ मुख्य जाना है। ***अश्वेन जिगमिषति-अश्वेन गन्तुम् इच्छति।*** 'अश्वेन इच्छति'—यह अन्वय नहीं होगा 'अश्वेन गन्तुम् इच्छतिः' गमन क्रियाके साथ होगा। तो यद्यपि प्रकृतिकी अपेक्षा प्रत्ययका प्राधान्य होता है, तथापि यहाँ प्रत्यय जो है, सन् प्रत्यय जो है, वह धातुकी प्रकृतिसे विलक्षण अर्थका बोधक नहीं है। बोले—कि कई जगह प्रत्यय बिलकुल गौण होता है। कैसे? कि जैसे—***वृक्षः पिपतिषति***—पेड़ गिरना चाहता है। क्यों भाई, पेड़में गिरनेकी इच्छा है? वृक्ष गिरनेवाला है, तो उसमें तो इच्छा नहीं है। वहाँ तो पतन ही मुख्य अर्थ है, गिरना ही मुख्य अर्थ है, गिरनेकी इच्छा मुख्य अर्थ नहीं है।

अच्छा यह तो हुई बात व्याकरणकी, तो **विविदिषन्ति**में यज्ञेन विदन्ति यह अर्थ होगा, यज्ञेन विविदिषन्ति यह अर्थ नहीं होगा। वहाँ सन् प्रत्यय जो है वह अविवक्षित है—गौण है।

तो बोले—भला यह कर्मयोगसे ज्ञान कैसे हो जायेगा? अब प्रक्रिया

बतानी पड़ेगी। भामती प्रस्थानकी तो प्रक्रिया बहुत बढ़िया है कि कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि हुई, अन्तःकरण शुद्धि होनेका अर्थ संसारसे वैराग्य हुआ, वैराग्य होनेसे सत्यकी जिज्ञासा हुई और जिज्ञासा होनेपर श्रवण-मनन-निदिध्यासन हुआ और तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे वे वृत्तिसे साक्षात्कार मानते है : भामती प्रस्थानमें केवल श्रवणसे साक्षात्कार नहीं माना जाता। वह वृत्तिसे साक्षात्कार मानते हैं और शुद्धका नहीं, उपहितका साक्षात्कार मानते हैं। उपहितका साक्षात्कार हो जानेपर उपाधि अपने आप बाधित हो जाती है। उनकी प्रक्रिया दूसरी है और विवरण प्रस्थानकी प्रक्रिया दूसरी है।

अब आप देखो, विवरण प्रस्थानकी प्रक्रिया इस सम्बन्धमें क्या है? बोले— यज्ञेन विविदिषन्ति नहीं, विदन्ति अर्थ होना चाहिए, यज्ञसे जानते हैं। बोले—यज्ञसे कैसे जानेंगे? यज्ञसे ऐसे जानेंगे कि यज्ञने एक तो वेदपर श्रद्धा करायी, वेदपर श्रद्धा नहीं होगी, तो यज्ञ कैसे करेंगे? एक।

दूसरे यज्ञसे स्वर्ग मिलता है, तो इस शरीरको तो मिलता नहीं, तो देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान कराया। मरेंगे तब स्वर्गमें जायेंगे और यज्ञका फल मिलेगा। तो पहले ही उसने देहसे दूर कर दिया। तो यज्ञसे श्रुतिमें प्रामाण्य बुद्धि और देह पतनके अनन्तर आत्माका अस्तित्व और फिर श्रुतिके तात्पर्य-निर्णयकी प्रक्रिया ज्ञात हुई। श्रुतिका तात्पर्य निर्णय कैसे करना चाहिए? क्या विधि है? अपूर्व विधि क्या है? नियम विधि क्या है? परिसंख्या विधि क्या है? अर्थवाद क्या है? अतिदेश क्या है? बाध क्या है? लक्षणा क्या है? यह जो श्रुत्यर्थ निर्णयकी प्रक्रिया है वह दे दिया यज्ञने। कर्मने बहुत दिया।

अब देखो, उससे प्रवृत्त्यन्तरका निरास हुआ, दूसरी प्रवृत्ति छूट गयी। उसमें आत्मचिन्तनकी प्रवृत्ति बढ़ी। और यज्ञका फलदाता कौन है? यह विवेक उदय होगा। कोई-कोई कहते हैं कि कर्म स्वयं परिणामको प्राप्त होकर सुखाकार परिणामको प्राप्त हो करके फल बन जाती है। उसकी भी प्रक्रिया होती है। इसका विज्ञान है कि कर्म फलका रूप धारण कैसे करता है? केवल जबानी जमाखर्चसे, मुँहसे कह देनेसे तो काम नहीं चलता। अब यही बात जब वेदान्त दर्शनमें जाती है तो **फलमतः उपपत्ते**—ईश्वरका भी विवेक हो जाता है। फल देनेवाला तो ईश्वर है। अब देखो क्या हुआ बढ़िया,

कर्मयोग असलमें निष्कर्म करता है। कर्मकी जो प्रतिक्रिया है न, वह नैष्कर्म्य है। **नैष्कर्म्यं विन्दते परं।**

कर्म करते-करते नैष्कर्म्य दशाको प्राप्त होंगे। दु:ख तो अपने आप ही शिथिल हो जायेगा। कर्तृत्व जब शिथिल हो जायेगा तो कर्म और कर्मफल दोनोंसे निर्मुक्त आत्मवस्तुका बोध होनेमें कठिनाई नहीं होगी। यह नहीं समझना कि ज्ञानके बिना अज्ञान निवृत्त हो सकता है। विवरण प्रस्थान ऐसा नहीं कहता है कि ज्ञान हुए बिना अज्ञान निवृत्त हो जायेगा। ज्ञान ही अज्ञानको निवृत्त करेगा, परन्तु यह ज्ञान कैसे होगा? तो कर्मानुष्ठान करते-करते शुद्धान्त:करण, नैष्कर्म्यकी प्राप्ति और नैष्कर्म्यमें आत्मसाक्षात्कार—यह एक पद्धति है। उसकी एक दूसरी पद्धति भी है। वह दूसरी पद्धति क्या है? कि केवल त्वं पदार्थकी प्रधानता हो, तब तो शमदमादि साधन सम्पत्तिसे युक्त हो करके आत्माका साक्षात्कार करें, परन्तु तत् पदार्थकी प्रधानतासे यदि विचार करें, तो आत्म-साक्षात्कार हो सकता है कि नहीं? पदार्थ तो दोनों एक ही है। तत् पदलक्ष्यार्थ और त्वं पद लक्ष्यार्थ वेदान्तमें एक मान्य है कि नहीं? यदि एक मान्य है तो जैसे त्वं-पदार्थके विवेककी प्रधानता है, ऐसे तत् पदार्थके विवेककी प्रधानता है कि नहीं? तो लो, अब कैसे होता है?

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०.९.१०)

तत् पदार्थका अनुसन्धान होनेसे कर्म किसके लिए किया गया? कल सुनाया था कर्मयोगका क्या अर्थ है, कर्मयोगका अर्थ है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ (५.११)
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८.४६)

अब गीतामें देखो। गीतामें बताया कि कर्मयोग माने ईश्वराराधनाके लिए कर्म। देखो, देश-भक्तिको भक्तियोग नहीं बोलते हैं, मातृभक्तिको भक्तियोग नहीं बोलते। पितृभक्तिको भक्तियोग नहीं बोलते। जब भक्ति ईश्वरकी की जाती है, तब उसको भक्तियोग बोलते हैं।

अच्छा घटपटादिके ज्ञानको ज्ञानयोग थोड़े ही बोला जाता है, ईश्वरके ज्ञानको ज्ञान-योग बोला जाता है। ऐसे ही मार्जनादि जो कर्म घरके हैं उनका नाम कर्मयोग नहीं है। यदि वे ही कर्म ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए हों, ईश्वरप्रसाद सम्पत्यर्थ यदि वही कर्म हो तो उनका नाम कर्मयोग हो जायेगा। तो इससे क्या होगा? ईश्वर प्रसन्न होगा, माने ईश्वर और हमारे बीच जो कूड़ा करकट आ गया है, वह दूर हो जायेगा। असलमें तो आत्मा और परमात्मामें भेद नहीं है, बीचमें आगन्तुक पदार्थ आ गये हैं। तो जब ईश्वरार्पित कर्म किया जाता है, तो संकीर्ण भावनाएँ दूर हो जाती हैं।

ददामि बुद्धियोगं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (१०.११)

यह बात भगवान् बताते हैं। यह नहीं कि जैसे कोई एक रुपया उठाके एक दूसरेको दे देते हैं, ऐसे नहीं, क्योंकि अन्धकारका नाश करना है, तो अन्धकारका नाश भगवान् भी करेंगे तो दीपकके द्वारा ही करेंगे। जैसे ईश्वरके मनमें यह संकल्प हो कि इस व्यक्तिको हम अपनी सुगन्ध दे दें, तो नासिका द्वारा ही तो सुगन्ध देगा। और, भगवान्‌का यह मन हो कि इसको हम एक सौन्दर्यका दर्शन करावें, तो नेत्र द्वारा ही तो सौन्दर्यका दर्शन करावेगा। इसी प्रकार यदि ईश्वरका मन हो कि हम इसकी अविद्याका नाश कर दें, तो अविद्याका नाश ईश्वर ज्ञान द्वारा ही करावेगा। तो **ज्ञानदीपेन भास्वता** भास्वताका अर्थ है प्रतिबन्ध-शून्य। जिस ज्ञान-दीपको बुझानेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है, ऐसा ज्ञानदीप ले करके भगवान् खड़े हो जाते हैं। देखलो ब्रह्म क्या है? अरे देख ले, इस ज्ञानदीपसे कि मैं और तू जुदा-जुदा नहीं हैं। उपाधि तमोमात्र है, अन्धकारमात्र है, कल्पनामात्र है, अज्ञानमात्र है। इसलिए एक पक्ष मानता है कि कर्मयोगसे सुप्रसन्न अन्त:करण द्वारा, शुद्ध अन्त:करण द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। तो ऐसे कहो ना, कि कर्मयोग द्वारा सुप्रसन्न शुद्ध अन्त:करणमें स्पष्टतया प्रतिभासमान जगत्‌का विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप ईश्वर, स्पष्टम्-स्पष्टम् भासमान अन्त:करणान्तर्यामी ईश्वर—अन्त:करणोपाधिक मत बोलो अन्त:करणान्तर्यामी बोलो—वह क्यों नहीं तत्त्वज्ञान दे देगा?

तो **कर्मयोगेन चापरे**। कर्मयोगसे सांख्ययोग, सांख्ययोगसे ध्यानयोग, ध्यानयोगसे प्रकृतिपुरुष विविक्त आत्मज्ञान और उससे '*अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते*' ऐसा ब्रह्मात्मैक्य बोध। इस प्रकार या तो सबकी कड़ी जोड़ दो, और या सबमें ज्ञान देनेकी योग्यता है—ऐसे कर लो। परन्तु अन्तिम फल; सब साधनोंका ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान है। ज्ञानके बिना अविद्या निवृत्त नहीं हो सकती और अविद्या निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं हो सकता; अविद्या निवृत्ति ही मोक्ष है।

यह बात सिद्धान्त रूपसे स्वीकृत है। निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्य बोधमें शास्त्रका तात्पर्य है। इसमें तो मतभेद नहीं है, परन्तु प्रक्रियाएँ जो होती हैं, उसके प्रकारमें भेद होता है। आपको भारतीय विद्या भवन आना है, तो चाहे बसमें आइये, चाहे टैक्सीमें आइये चाहे घरकी मोटरमें आइये, आना तो भारतीय विद्या भवन ही है। माने प्राप्त करना तो आत्मा और परमात्माके ऐक्यका ज्ञान ही है, उस ज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होती है।

बोले—भाई, हम यह सब नहीं समझते हैं। बोले—यह तो ईश्वरने तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ी कृपा की, कि नहीं समझते हो। अगर ज्ञान नहीं समझते हो तो ईश्वरकी कृपा तो समझो कि है तुम्हारे ऊपर। बोले—महाराज, जब बुद्धि ही नहीं है, ज्ञान ही नहीं है तो क्या ईश्वरकी कृपा समझें? बोले—भाई, अपनी बुद्धि हो तो उससे काम लिया जाता है और अपनी बुद्धि न हो, तो तुम्हारे गाँवमें क्या कोई बुद्धिमान नहीं रहता है कि उसकी बुद्धिसे काम करो? यह तो बात है कि नहीं? अपने घरमें पाँच रुपया हो तो खाना बनने दो और न हो तो थोड़ा उधार भी ले आओ, भोजन तो बन ही जायेगा, तृप्ति तो हो ही जायेगी। जब भोजन हो जाये तो तुम परम तृप्त हो, पाँच नहीं, पाँच हजार लौटा सकते हो।

जब अपने को कोई रास्ता नहीं मालूम होता है तो क्या करते हैं? पूछते हैं कि नहीं पूछते हैं? अपनेको मालूम हो तो बहुत बढ़िया, परन्तु न मालूम हो तो मोटर रोककर रास्ता पूछ लेते हैं कि नहीं? कभी-कभी गाँवके किसी बच्चेको बिठा लेते हैं, कि अमुकका घर कहाँ है, बता दे। तो वह रास्ता बता देता है। आप यदि ईश्वरके बारेमें ठीक-ठीक जानते हैं, समझते हैं आपकी बुद्धि काम करती है, बहुत बढ़िया ईश्वरकी कृपा, लेकिन अगर नहीं समझते

हैं स्वयं, तो आपके गाँवमें कोई संत नहीं है क्या? या कि आपका सन्तपर विश्वास नहीं है क्या? तो यदि किसी दूसरेके सन्त होनेपर आपका विश्वास नहीं है, तो आप अपनेको सन्त बनानेकी क्या कोशिश करेंगे? यदि आजतक कोई ज्ञानी सृष्टिमें हुआ ही नहीं या पहले हुआ है इस समय कोई दूसरा नहीं है, तो आप अपने ज्ञानी होनेकी क्या आशा रख सकते हैं? कहाँसे सम्भावना ढूँढते हैं? और यदि दूसरा कोई है तो उसके अनुभवका आप फायदा क्यों नहीं उठाते? हम ऐसी बात कह रहे हैं कि तुम श्रद्धा नहीं करो, तब भी तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। तो हमारे सबसे अधिक श्रद्धालु कौन हैं? जो हमारी यह बात मानते हैं कि तुम श्रद्धा नहीं करोगे, तब भी कल्याण हो जायेगा। हमारी यह बात जो मानते हैं, वे सबसे ज्यादा श्रद्धालु हैं।

अच्छा, तो कानपुरमें यह बात हुई, किसीने कहा था कि यह तो श्रद्धाकी बात हुई विवेककी, विचारकी तो कोई बात ही नहीं हुई। तो मैंने कहा-भाई, श्रद्धा करना पाप है, यह बात मैंने आजतक किसी शास्त्रमें नहीं पढ़ी है। बोले—हम श्रद्धा तो करते हैं, पर अन्ध श्रद्धा नहीं करते हैं। अच्छा, तुम अन्धश्रद्धा दूसरेपर तो नहीं करते हो लेकिन अपनी बुद्धिपर तो अन्धश्रद्धा करते हो न, तुम अपनी बुद्धिसे ही हिप्नोटाईज हो गये हो, तुमको यथार्थ ज्ञानमें बाधा तो अपनी बुद्धिका अभिमान ही डाल रहा है। तो जब मैंने कहा कि श्रद्धा करना कोई पाप है क्या? तो स्वामी शरणानन्दजी तो हँसने लग गये, बड़े खुश हुए। सभी बैठे थे, हरिबाबाजी, आनन्दमयी माँ, शरणानन्दजी। बहुत प्रसन्न हुए। संशय पाप है। श्रद्धा पाप नहीं है।

नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः।

जो सुखमें, लोकमें, परलोकमें बाधा डालनेवाला है, वह पाप है। **संशयात्मा विनश्यति।** जो विनाशका साधन है वह पाप है। तो संशय पाप होता है, श्रद्धा पाप नहीं होती। यह बात समझनी चाहिए। यदि आप खुद मार्ग नहीं जानते हो तो दूसरेसे पूछ लेते हो। यदि आपके घरमें रुपया नहीं होता है, तो दूसरेके घरसे पाँच रुपया, दस रुपया ले आते हो। तुम जन्मसे ही हिन्दी सीखकर पैदा हुए थे, या अंग्रेजी सीखकर पैदा हुए थे? अरे, किसीसे सीखा ही तो। तो ईश्वरके बारेमें भी यदि तुम्हारे ज्ञानमें किसी प्रकारकी न्यूनता है तो वह दूसरेसे सीख क्यों नहीं लेते?

नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः।

ऋग्वेदने कहा कि अश्रद्धालु पुरुषका पालन-पोषण देवता लोग नहीं करते। ***श्रद्धया सत्यमाप्यते***—श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। ***प्रातः श्रद्धां हवामहे श्रद्धां मध्यंदिने परे।*** हम प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल आवाहन करते हैं—श्रद्धा देवी आओ, आओ!

यह श्रद्धा देवी अन्धेको मार्ग देनेवाली है। यह अविवेकीपर भी कृपा करके उसका पालन-पोषण करनेवाली है। यह लँगड़ेको भी जिसके पाँव नहीं है, उसको भी रास्तेपर पहुँचाने वाली है।

एक प्राचीन श्लोक आता है, कई जगह है—महाभारतमें है, वाल्मीकि रामायणमें है, स्मृतियोंमें है, विष्णु-पुराणमें है—

इह सन्तो न वसन्ति सतो वा त्वं नानुवर्तसे।
यथैवं विपरीतास्ते बुद्धिराचारवर्जिता॥

क्या तुम्हारे गाँवमें कोई सन्त नहीं रहता? अथवा क्या तुम किसी सन्तके पीछे चलते नहीं? जिसके कारण तुम्हारी बुद्धि ऐसी आचार रहित विपरीत हो गयी है।

लोग बच्चोंको तो धर्मका संस्कार डालते नहीं और जब वे धर्मविरुद्ध काम करने लगते हैं तो दुःखी होते हैं। कहते हैं जब यह बड़ा होगा, जब बुद्धिमान होगा, तब स्वयं सीख जायेगा। अरे उनके हृदयमें श्रद्धा सम्पत्तिकी स्थापना तो करनी चाहिए बचपनमें। उसके अन्दर धर्मका, जातिका, सम्प्रदायका, मर्यादाका, निर्वासनताका, अपना मन रोकनेका कोई संस्कार पड़ा नहीं, जब बड़ा होगा तो पहले आगमें हाथ डालकर हाथ जला लेगा, उसके बाद समझेगा। तो श्रीकृष्णने कहा—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ (१३.२५)

जो न ब्रह्मको जानते और न मायाको और न मायाके अधिष्ठाताको जानते, जो ध्यान नहीं कर सकते, जो सांख्ययोग नहीं कर सकते, जो कर्म नहीं कर सकते, वे इनमें-से किसी भी बातको अन्यसे श्रवण करें, जानकारसे श्रवण करें।

अन्ये तु एवं अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते।

दूसरे जो स्वयं ऐसा नहीं जानते हैं, जानकारोंसे इसका श्रवण करके उपासना करते हैं। वे भी मृत्युका अतिक्रमण करते ही हैं।

इसमें असलमें कहना इतना ही है कि *'ते मृत्युं अतितरन्ति, ते अपि अतितरन्ति।'* लेकिन 'अपि' कर दिया न; 'अपि' से मालूम पड़ता है कि यह साधन गौण है। 'तेऽपि'—वे भी तर जाते हैं। लेकिन 'अतितरन्ति'के बाद जो 'एव' जोड़ दिया, उसमें फल अव्यभिचरित हो गया तो 'अपि' और 'एव' दोनोंको यदि छोड़ करके श्लोक पढ़ें तो, 'ते मृत्युं अतितरन्ति' इतना ही रहेगा 'अपि' से 'एव' का अर्थ काट दें और 'एव' से 'अपि'का अर्थ काट दें। लेकिन एक ओर तो साधनको कर दिया गौण, दूसरी ओर फलको कर दिया 'अव्यभिचारी, अतितरन्ति एवं।'

तत्त्वज्ञानसे क्या होता है? *'तमेव विदित्वा अतिमृत्युं एति'*—वहाँ 'अति' पदका, अन्वय मृत्युके साथ नहीं है। 'एति'के साथ है 'मृत्यु अत्येति,' वेदमें ऐसा नियम है कि व्यवहित उपसर्ग जो है, वे भी क्रियाके साथ जुड़ जाते हैं। तो वही 'मृत्यु अत्येति' जो है, उसको यहाँ कहा—'मृत्युमतितरन्ति' अतितरन्त्येव—वे मृत्युका अतिक्रमण कर जाते हैं माने जन्ममरणके चक्करसे छूट जाते हैं। असत्‌में उनका अभिनिवेश अहं भाव नहीं रहता। मृत्युका अतिक्रमण क्या है? असत्‌में मैं-पना यही मृत्यु है। असत्‌में जो जन्मने-मरनेवाली, कभी भासनेवाली और कभी न भासनेवाली जो चीज है, उसको मैं समझना यही तो मृत्यु है न! तो मरनेवाले घोड़ेपरसे उतर गये, असत्‌पनसे मैं हट गया, तो मृत्युका अतिक्रमण हो गया। जड़पनसे मैं हट गया, तो बेवकूफी छूट गयी, और दुःखपनेसे मैं उतर गया, तो परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी। सच्चिदानन्द हो गया।

असत्‌में मैं छोड़कर सत्‌में करो और जड़में-से मैं हटाकर चित्‌में करो और दुःखमें-से मैं हटाकर आनन्दमें करो। तो सच्चिदानन्द हो गये। और परिच्छिन्न सद्वितीयमें-से हटाकर अपरिच्छिन्न अद्वितीयमें मैं करो, ब्रह्म हो गये। इतनी तो विद्या है। यह यदि अपने आपमें समझ नहीं आती है तो दूसरेसे श्रवण करके 'श्रुतिपरायणाः' श्रद्धायुक्त अन्तःकरणसे उसी श्रुत पदार्थके परायण हो जाओ तो मृत्युका अतिक्रमण हो जायेगा।

तत्त्वज्ञकी दृष्टि

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (१३.२६)

अर्थ :—हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अचर या चर जो कोई भी चीज उत्पन्न होती है, उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे हुआ जानो।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (१३.२७)

अर्थ :—सब विनाशशील भूत-प्राणियोंमें जो अविनाशी परमेश्वरको समरूपसे स्थित देखता है वही (परमार्थ-सत्य) देखता है।

व्याख्या*

(१)

अब इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं। प्रसंग यह चल रहा था कि या तो श्रौत प्रक्रियासे हम क्षेत्रज्ञकी और भगवान्‌के माम्-पदका अर्थ जो ईश्वर है

---

* इन श्लोकों पर परमपूज्य महाराजश्रीका प्रवचन उपलब्ध नहीं है। अतः ग्रन्थकी पूर्णताको उद्देश्यमें रखकर संपादक द्वारा यह व्याख्या शांकरभाष्यानुसार लिखी गयी है।

उसकी—दोनोंकी एकताको समझें (**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**); अथवा प्रकृति-पुरुषके विवेककी प्रक्रियासे उस एकताको समझें, तथा/अथवा ध्यानके द्वारा, सांख्यके द्वारा, योगके द्वारा, कर्मके द्वारा या दूसरोंसे सुनकर उस एकत्व विज्ञानको बुद्धिमें दृढ़तासे धारण करें। बिना धारण किये अविद्याकी निवृत्ति होना शक्य नहीं है। उत्तम अधिकारीको, जो अमानित्वादि बीस साधनोंसे सम्पन्न होता है, श्रवणसे ही ज्ञान हो जाता है। मध्यम अधिकारीमें वैराग्यकी कमी और मुमुक्षताकी शिथिलता होती है। अत: उसे प्रकृति-पुरुषके विवेककी प्रक्रियासे तत्त्वज्ञान सुलभ होता है तथा उसकी दृढ़ताके लिये ध्यानका साधन बताया गया है। उत्तम अधिकारीको निष्ठाके लिये ध्यान अर्थात् निदिध्यासन करना इष्ट है और मध्यम अधिकारीके लिए अविद्या-निवृत्ति और ज्ञाननिष्ठा दोनोंके लिए ध्यान (निदिध्यासन) आवश्यक है। जो मन्द और मन्दतर अधिकारी है उन्हें सन्तसे सुनकर पहले कर्मसे कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। उससे उनका अन्त:करण शुद्ध होगा, उससे या तो भगवान्‌की भक्ति करके भगवान्‌की कृपासे तत्त्वज्ञान हो जायेगा अथवा योगसाधना और सांख्य विवेकके द्वारा मध्यम अधिकारीकी श्रेणीमें पदार्पण करके उसके अनुसार प्रकृति-पुरुषके विवेकसे तत्त्वज्ञान हो जायेगा।

अब भगवान् बताते हैं कि किसी भी प्रकारसे तत्त्वज्ञान क्यों न हो गया हो, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि कैसी होती है उसको समझना चाहिए।

व्यवहारमें जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, संसारकी सभी वस्तुएँ उत्पन्न हो-होकर मृत्युको प्राप्त कर रही हैं। जो कोई भी वस्तु हों (यावत् किंचित् सत्त्वं), चाहे वह **स्थावर** हो (अचर हो) अथवा **जंगम** हो (चर हो), यदि वह वस्तु उत्पन्न होती है (**संजायते**)—तो वह समानभावसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होती है (**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् संजायते**) इति विद्धि—ऐसा जानो।

यदि दृश्य वस्तु स्थावर है तो उसमें जो विकार और गुण हैं वे प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण तथा दृश्य होनेके कारण क्षेत्र हैं, और वह इन्द्रिय-वृत्ति आदिके माध्यमसे क्षेत्रज्ञ द्रष्टामें प्रतिफलित होकर उसके ज्ञानका विषय बनता है। यदि वस्तु जंगम है, प्राणी है, तो उसके स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें प्रकृति हेतु

है इसलिए वे शरीर क्षेत्र हैं; उनमें जो एक कर्ता-भोक्ता-सुखी-दुःखी चेतन पुरुष मालूम होता है, वह क्षेत्रज्ञ है। किसी भी जंगम प्राणीका क्षेत्रज्ञ किसी दूसरे क्षेत्रज्ञके ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। शरीरमें इच्छापूर्वक जो क्रिया दृष्टिमें आती है उस क्रियासे उस शरीरमें किसी चेतन क्षेत्रज्ञकी उपस्थितिका बोध होता है। परन्तु प्रत्येक प्राणीमें स्वयंकी चेतनता स्वसंवेद्य है क्योंकि चैतन्य स्वयं-प्रकाश होता है। वेदान्त-विचारसे यह निश्चय किया जाता है कि यह जो प्रति शरीर स्वयं-प्रकाश चेतन तत्त्व 'मैं' नामसे-क्षेत्रज्ञ नामसे-जाना जाता है वही ब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही महेश्वर है।

अब प्रश्न यह है कि प्राणी-अप्राणी, जो भी ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त शरीर और शरीरधारी हैं, जो भी जड़-चेतनात्मक व्यक्तित्व हैं, वे कालकी अनादि-अनन्त धारामें कभी नहीं थे और कभी नहीं रहेंगे—बीचमें ही कुछ कालके लिए दीखते हैं; उनकी उत्पत्ति और विनाश मालूम भी पड़ता है; तो उनकी उत्पत्ति, उनकी प्रतीति, उनका लय कैसे होता है?

इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि भूतोंकी उत्पत्ति-आदि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होती है, ऐसा जानो। इसमें दो बातें हैं—एक तो विधेयात्मक पक्ष है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पत्ति होती है, और दूसरा नकारात्मक पक्ष है कि इसके अतिरिक्त जितने और विकल्प* हो सकते हैं वस्तुओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें उनको यथार्थ मत जानो।

भगवान् श्रीशंकराचार्य भाष्यमें प्रश्न उठाते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगका यहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है? क्षेत्रज्ञ तो स्वयंप्रकाश चेतन तत्त्व है और आकाशके समान निरवयव है, उसमें हिस्से नहीं हैं; और क्षेत्र सावयव परिच्छिन्न और जड़ है। इसलिए उनका संयोग ऐसा तो हो नहीं सकता जैसे घड़ेको रस्सीसे बाँध देते हैं। माने उनमें ऐसा सम्बन्ध नहीं हो सकता जिसमें अवयवोंका संश्लेष हो, सम्पर्क हो।

यदि कहो कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञमें कार्य-कारण सम्बन्ध है अथवा समवायी

* कौन-से विकल्प हैं? कर्मके द्वारा उत्पत्ति, प्रकृतिके परिणामके द्वारा उत्पत्ति, परमाणुओंके द्वारा उत्पत्ति, ब्रह्मके ही अविकृत परिणाम द्वारा उत्पत्ति, चार भूतोंसे उत्पत्ति, क्षणिक विज्ञान या शून्यसे उत्पत्ति, पुद्गलसे उत्पत्ति इत्यादि। ये सब विकल्प दूषित हैं—इसकी चर्चा महाराजश्री अपने पूर्व प्रवचनोंमें यथास्थान कर चुके हैं।

सम्बन्ध है जैसे सूत और कपड़ेका सम्बन्ध है, तो वह भी सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि क्षेत्रज्ञका क्षेत्रसे अलगाव प्रसिद्ध है। क्षेत्रज्ञके द्वारा क्षेत्र प्रकाशित होता है—क्षेत्रके भाव और अभाव दोनों क्षेत्रज्ञसे ही प्रकाशित होते हैं, अत: क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे स्वतंत्र सत्तावाला है।

तब फिर बताना चाहिए कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग कैसा है?

इसपर श्रीशंकराचार्य भगवान् बताते हैं कि क्षेत्र विषय है और क्षेत्रज्ञ विषयी है। अर्थात् क्षेत्र जाना जाता है और क्षेत्रज्ञ जाननेवाला है। विषय, दृश्य, ज्ञेय होनेके नाते जड़ है, विकारी है, विनाशी है, परिच्छिन्न है, सावयव है और हेयोपादेयरूप अथवा उपेक्षणीय है। जबकि क्षेत्रज्ञ द्रष्टा, ज्ञाता होनेके कारण चेतन है अत: विकारी, अविनाशी, अपरिच्छिन्न, निरवयव है और हेय-उपादेय दृष्टिसे रहित है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों अंधकार और प्रकाशकी भाँति अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले हैं। अत: दोनोंका परस्पर संयोग-सम्बन्ध शक्य नहीं है। फिर भी हमारा कहना यह है कि दोनोंमें अविद्यामूलक अध्यास-सम्बन्ध है। अर्थात् दोनोंमें जो सम्बन्धकी कल्पना है वह भ्रमरूप है और उसका हेतु है दोनोंके वास्तविक स्वरूपोंका यथार्थ ज्ञान न होना। जब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका अलग-अलग यथार्थ ज्ञान नहीं होता तो उनके धर्मोंका अलगाव न करनेके कारण दोनोंके धर्मोंका परस्पर अध्यास हो जाता है अर्थात् क्षेत्रका धर्म क्षेत्रज्ञमें और क्षेत्रज्ञका धर्म क्षेत्रमें प्रतीत होने लगता है। यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अध्यासरूप संयोग कहलाता है। जैसे रज्जुके अज्ञानसे उसमें सर्प और सर्पके धर्म आरोपित हो जाते हैं; और जैसे शुक्ति (सीपी) के अज्ञानसे उसमें रजत (चाँदी) और रजतके धर्म आरोपित हो जाते हैं; और जैसे अज्ञानके कारण रज्जु और सर्पका अथवा शुक्ति और रजतका संयोग मालूम पड़ने लगता है; उसी प्रकार क्षेत्रज्ञके ब्रह्म-स्वरूपके अज्ञानके कारण उसमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके धर्म और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है। यही अविद्याजनित जो प्रातीतिक संयोग है उसीके कारण वस्तुओंकी उत्पत्ति आदि मालूम पड़ते हैं।

इसी आध्यासिक सम्बन्धके कारण क्षेत्रज्ञके अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपमें क्षेत्रज्ञमें क्षेत्रकी उत्पत्ति हुई मालूम पड़ती है। यह अर्थाध्यास हुआ। फिर

इसी मिथ्या अर्थमें सत्यत्व-बुद्धि बनी रहनेके कारण क्षेत्रमें ममत्व और आसक्ति हो जाती है। इसको संसर्गाध्यास कहते हैं। इस प्रकार अर्थाध्यास और संसर्गाध्यासके हेतुओंसे क्षेत्रज्ञ बार-बार उत्पन्न होता है और मरता है और नाना योनियोंके दुःख और सुखका भोग भोगता रहता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (१३.२१)

इस पुनर्जन्मकी शृंखलासे छूटनेका क्या उपाय है? उपाय भगवान्ने यह बताया कि पहले तो शास्त्रोक्त रीतिसे आचार्यके उपदेशके द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अलग-अलग लक्षण और भेदका ज्ञान प्राप्त करे। फिर जैसे मूँजमें-से सींक अलग कर लेते हैं वैसे क्षेत्रसे अपनेको पृथक् करे और अपनेको यथोक्त लक्षणोंवाला क्षेत्रज्ञ अनुभव करे। इसके बाद या तो श्लोक १२ से १७ तककी श्रौत प्रक्रियासे उसके ब्रह्मत्वका ज्ञान प्राप्त करे अथवा २२वें श्लोकके अनुसार—'उपद्रष्टानुमन्ता च' इत्यादिके अनुसार-उसका ब्रह्मत्व अनुभव करे।

तब अपने ब्रह्मस्वरूपमें जितना भी क्षेत्र है—चाहे वह स्थावर रूप हो अथवा जंगम रूप हो—और क्षेत्रका जो मूल प्रकृति है वह-वह सब ब्रह्माभिन्न अनुभवमें आता है। इससे क्या होता है कि सम्पूर्ण क्षेत्र अपने ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें मायिक अनुभवमें आता है। जैसे माया (जादू)से निर्मित हाथी, अथवा स्वप्नमें देखे हुए चराचर भूत अथवा गंधर्वनगर अथवा रज्जु-सर्प—इनके बारेमें यह निश्चय-ज्ञान हो जाता है कि ये हैं तो असत् परन्तु सत्के समान प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर यह निश्चय हो जाता है कि मुझ ज्ञानस्वरूप परमात्मामें ये सम्पूर्ण क्षेत्र असत् हैं भले ही वे सत्के समान भासते हों। इस ज्ञानका फल यह होता है कि क्षेत्रज्ञमें क्षेत्रके साथ जो अर्थाध्यास और संसर्गाध्यास हो रहा था, वह सारा-का-सारा मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। और पुनर्जन्मकी शृंखलाका अन्त हो जाता है माने मोक्षोपलब्धि हो जाती है। इसलिए यह जो भगवान्ने कहा कि **'अतितरन्त्येव मृत्युं'** (१३.२५) तथा

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ (१३.२३)

अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह ठीक ही कहा है।

(२)

अब भगवान् श्रीकृष्ण पुनः मुक्त पुरुषकी दृष्टिका अनुवाद करते हुए कहते हैं कि दृश्य-जगतमें उसकी दृष्टि सदैव अधिष्ठान पर ही रहती है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ १३.२७

विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु—विनाशशील सब भूतोंमें। ब्रह्मादि देवताओं, ऋषियोंसे लेकर मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, कीट-पतंग तक जितने भी जंगम प्राणी हैं और जितने भी स्थावर भूत हैं—उन सबके शरीर (जो व्यष्टि इकाईके आधार हैं) विनाशशील हैं। उनके लिए तो पहले कह चुके हैं कि तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें वे सब मायिक हैं, अविद्यासे उत्पन्न अध्यास-सम्बन्धसे जन्य हैं, अतः वे भ्रमरूप हैं। परन्तु सिद्धान्त यह है कि कोई भी भ्रम निरधिष्ठान नहीं होता। अतः प्रश्न यह है कि क्या तत्त्वज्ञ महापुरुषको सिर्फ माया ही दिखती है या अधिष्ठान भी दिखता है? इसके उत्तरके लिए कहते हैं—

यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु अविनश्यन्तं परमेश्वरं समं तिष्ठन्तं पश्यति सः पश्यति।

जो विनाशशील सर्व भूतोंमें अविनाशी परमेश्वरको समरूपसे स्थित देखता है वही देखता है।

भूतोंको विनाशशील और परमेश्वरको अविनाशी कहनेका तात्पर्य क्या है? यह है कि परमेश्वर भूतोंसे अत्यन्त विलक्षण है। एक अधिष्ठान परमात्मामें अध्यस्त जो सर्वभूत प्रतीत होते हैं वे उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयवाले प्रतीत होते हैं। सभी भूत उत्पन्न होते हैं, फिर अस्तित्वमें आते हैं, फिर बढ़ते हैं, परिणमित होते हैं, फिर उनका क्षय होता है और अन्तमें उनका प्रलय अथवा नाश हो जाता है। जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते तथा विनश्यति—ये छः षड्भाव-विकार कहलाते हैं। सभी भूतोंके साथ छहों भाव-विकार लगे हैं—इस बातको सूचित करनेके लिए 'सर्वेषु भूतेषु'के साथ 'विनश्यत्सु' विशेषण दिया है। छःमें-से एक भाव-विकारका यहाँ संकेत दिया है। जिसकी उत्पत्ति होगी उसीकी सत्ता मालूम पड़ेगी और वही

विनाशको प्राप्त होगी। इसके विपरीत परमेश्वर अविनाशी है इसलिए उसकी न उत्पत्ति है और न बीचके कोई भाव-विकार परमेश्वरमें हैं।

वह परमेश्वर एक होता हुआ सबमें स्थित है या अनेक भूतोंमें अनेक परमेश्वर हैं? दूसरे शब्दोंमें परमेश्वर सम है या विषम है? निर्विशेष है (भेद रहित है) या सविशेष है (भेदरूप है)? इसका उत्तर है कि परमेश्वर **सम** है, निर्विशेष है, एक है। जो अनेक रूप होगा, सविशेष होगा, विषम होगा वह परिच्छिन्न होगा अतः षड्भाव विकारोंसे ग्रस्त होगा। वह सर्वभूतोंमें स्थित भी नहीं हो सकता। अतः परमेश्वर सम है, निर्विशेष है और एक है।

सब भूतोंमें जो एक **परमेश्वर** है वह परम् इसलिए है कि वह प्राणियोंके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अव्यक्त और चिदाभास जीवकी अपेक्षा परम् है, आन्तर है, सूक्ष्म है, श्रेष्ठ है और सबका ईशन, नियमन करता है। यहाँ सर्वान्तर्यामीको ही परमेश्वर कहा है। वृहदारण्यकके अन्तर्यामी ब्राह्मणमें वर्णन है—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो। यं सर्वाणि भूतानि न विदुः। यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतानि अन्तरः यमयति एष त आत्मा अन्तर्याम्यामृतः। (३.७.१५)

'जो समस्त भूतोंमें स्थित है और सब भूतोंके अन्तर है; जिसको सब भूत नहीं जानते। सब भूत जिसके शरीर हैं; जो सब भूतोंके अन्तरमें रहता हुआ उनका नियमन करता है; यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

श्रुति में 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' है। वही प्रस्तुत गीताके श्लोकमें भी है। श्रुतिके आधार पर तथा प्रकरणके अनुकूल इस श्लोकका यह अभिप्राय है कि 'सभी विनाशशील भूतोंमें जो एक अविनाशी परमेश्वरको समरूपसे देखता है और इसलिए उसे अपने आत्माके रूपमें अनुभव करता है, वही वास्तवमें देखता है, उसीका अनुभव यथार्थ है।'

व्यापक वस्तुको आँखसे देखता है, ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। **पश्यति** का अर्थ अनुभवति ही है। आँखसे शरीर दिखता है, अनुभवमें शरीर आता है (शरीर) जो परमेश्वर है उससे जीव, जगत् भिन्न नहीं हैं—ऐसा देखना ही वास्तवमें देखना है।

अज्ञानीकी दृष्टिमें तो केवल शरीर ही आते हैं। जिज्ञासुकी दृष्टिमें शरीर भी आते हैं और (शरीर) जो आत्मा या परमात्मा है उसको बुद्धिसे विवेक करके भावना और निश्चयके द्वारा अनुभव करता है। ज्ञानीकी दृष्टिमें परमात्मा आत्माके रूपमें अनुभूत है और समस्त ऐन्द्रियक जगत् उसमें उससे अभिन्न-रूपमें दृश्यमान होता है। आत्मामें जगत् अनिर्वचनीय रूपसे, मिथ्यारूपसे भासमान है।

जैसे नेत्रमें तिमिर दोषसे एक चन्द्रमा अनेक रूप दिखता है परन्तु निर्दोष दृष्टि वालेको एक ही दिखता है जो कि यथार्थ स्थिति है; उसी प्रकार अविद्या दोषसे ग्रस्त बुद्धिवाले आत्माको अनेक रूप देखते हैं और वह तत्त्व ज्ञान सम्पन्न महापुरुष जिसकी अविद्या नष्ट हो गई है सर्वत्र एक ही आत्माका अनुभव करता है। यही यथार्थ देखता है, शेष अन्य सब देखते हुए भी नहीं देखते—

इतरे पश्यन्तः अपि न पश्यन्ति विपरीतदर्शित्वाद् (भाष्य)

तत्त्वज्ञकी स्तुति

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ १३.२८

अर्थ—क्योंकि सर्वत्र सब भूतोंमें समानरूपसे स्थित परमेश्वरको समानरूपसे ही देखता हुआ तत्त्वज्ञानी अपने द्वारा अपनी हिंसा नहीं करता अत: वह परम गति अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यह बात कही कि ईश्वर ही परमार्थ वस्तु है। **विनश्यत्स्वविनश्यन्तं** और सब तो विनाशी हैं और केवल परमार्थतत्त्व जो है, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म, वही अविनाशी है। वह विषममें सम है, वह अनेकमें एक है, वह उत्पत्ति-विनाशशीलमें अजन्मा है और वह गतिशीलमें स्थिर है; वह पराधीनमें स्वाधीन है, विनाशीमें अविनाशी है; उसको जो देखता है, सच्ची दृष्टि उसीकी है। सच्ची दृष्टि उसीकी है जो अभेद रूपसे अपनेसे अभिन्न रूपमें उसे देखता है।

अब थोड़ी इस प्रत्यक् ब्रह्मदर्शीकी अपने आत्माको ब्रह्मके रूपमें अनुभव करनेवाला जो महापुरुष है उसकी, स्तुति करते हैं जहाँ प्रशंसा होती है, वहाँ प्रवृत्तिके लिए होती है, प्रेरणाके लिए होती है, नहीं तो प्रशंसा करनेकी कोई वस्तु सृष्टिमें नहीं है। इसमें क्या अच्छा क्या बुरा, क्या मुक्ति

क्या बन्धन! पर आत्मज्ञानके लिए सब लोगोंको प्रवृत्त होना चाहिए। जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिए ज्ञानकी प्रशंसा है।

न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

यदि इसी जीवनमें परमात्माको नहीं जान लिया, तो तुमने अपना सत्यानाश कर लिया।

य एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति।

जो इसको जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं। इसलिए महान् विनाशसे बचनेके लिए और अमृतत्वकी प्राप्तिके लिए हे मनुष्यो! आओ, आओ! इस प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्मको जानो। तो

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। (१३.२८)

'समं सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरं पश्यन् आत्मना आत्मानं न हिनस्ति। ततः परां गतिम् याति'। आओ नारायण! सबमें देखो एक सरीखा समं। ***अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।*** (कठोपनिषद्)

सब शरीरोमें वह शरीर रहित है। शरीर कल्पित हैं और अकल्पित सत्य है। ***अनवस्थेष्ववस्थितम्***—सभी स्थिति हीन पदार्थोंमें, सभी गतिशील पदार्थोंमें वह अडिग, अटल सत्यके रूपमें स्थित है।

तो अब जरा शब्दोंका मजा लेते हैं। आत्मघाती कौन है? **न हिनस्त्यात्मनात्मानं**। कहते हैं जो इसको जान जाता है वह स्वयं अपने आपसे अपने आपका हनन नहीं करता, हिंसा नहीं करता। माने जो इस परमात्माको नहीं देखता है, नहीं जानता है, वह आत्म-हिंसा कर रहा है।

तो बोले—भाई! आत्म-हिंसा तो प्राप्त ही नहीं है, उसका निषेध कैसे करते हैं? शंकराचार्य भगवान्‌ने भाष्यमें यह एक प्रश्न उठाया। कोई अपने आपका नाश करता ही नहीं, सब लोग अपनी वृद्धि, समृद्धि, सम्पन्नता, स्वस्थता, आनन्दरूपता चाहते हैं, कोई अपनी हिंसा नहीं करता है। तो यह क्या बात है? ***प्राप्तौ सत्यां निषेधः।*** जब कोई बात कहींसे प्राप्त होती है, तब उसका निषेध किया जाता है। जब प्राप्त ही नहीं है तो निषेध कैसा? जैसे हवनके लिए अग्नि स्थापन करना है, तो उसमें यह वचन आया—

न पृथिव्या नान्तरिक्षे न दिवि अग्निश्चेतव्यः।

अग्निका चयन ऐसे ही धरतीमें नहीं कर देना। जैसे भलेमानुसको घरमें बुलाते हैं तो आसन देना चाहिए, वैसे सीधे धरतीमें अग्नि नहीं रखनी चाहिए। अन्तरिक्षमें भी अग्नि स्थापन नहीं करना चाहिए, स्वर्गमें अग्नि स्थापन नहीं करना चाहिए। तो बोले—ठीक है, मिट्टीमें तो अग्नि स्थापन नहीं करना चाहिए, लकड़ी पर आग डालनी चाहिए। परन्तु स्वर्गमें कौन अग्नि स्थापन करेगा? अन्तरिक्षमें कौन अग्नि स्थापन करेगा? वहाँ प्राप्त ही नहीं है तो निषेध क्यों किया? इसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि जब अपनी हिंसा प्राप्त ही नहीं है, फिर निषेध क्यों किया?

तो बोले—देखो अपनी हिंसा प्राप्त है। कैसे प्राप्त है? कि साक्षाद् अपरोक्ष आत्मा है साक्षी ब्रह्म, अविनाशी अपरिच्छिन्न अद्वय चैतन्यरूप अब यह जो अपना आत्मा है, इसकी हिंसा क्या है? जैसे विद्वान्को मूर्ख कहना उसका तिरस्कार है और सुन्दरको कुरूप कहना उसका तिरस्कार है, धनीको कंगला कहना उसका तिरस्कार है और आँखवालेको अन्ध कहना उसका तिरस्कार है; उसी प्रकार जब तुम अपने आपमें स्वयं अविनाशी होकरके अपनेको जन्ममरणवाला विनाशी मानते हो तो अपना तिरस्कार करते हो, अपनी हत्या करते हो। जब तुम ज्ञानस्वरूप होकरके अपनेको अज्ञानी मानते हो तो आत्महत्या करते हो। जब आनन्द स्वरूप होकरके अपनेको दुःखी मानते हो, तो अपनी हत्या करते हो। मनुस्मृतिमें बताया कि सबसे बड़ा पाप जीवनमें यही है—**न तस्मात् पापकृत्तमः**। जो अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मस्वरूपको न जानकरके उसको जन्मने-मरनेवाला, लोक-परलोकमें जाने आनेवाला और दुःखी मानता है, उससे बढ़करके दुनियामें और कोई पापी नहीं। यही हिंसा है। इसीको ईशावास्य उपनिषद्में आप पढ़ते हैं—

असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ (ईश० ३)

वहाँ आत्महनः है कि नहीं? यही आत्महिंसा है। अच्छा अब एक आत्महिंसा और बताता हूँ। ज्ञानस्वरूप होके अपनेको अज्ञानी जानना—यह आत्म हिंसा है। पूर्ण होकरके अपनेको परिच्छिन्न जानना—यह आत्महिंसा है। और किसीसे राग कर बैठना, मोहब्बत कर बैठना कि इसके बिना मैं जी नहीं सकता, इसके बिना मैं रह नहीं सकता, इसके लिए सौ-सौ अन्याय

करो, सौ-सौ पक्षपात करो, यह आत्म हत्या है। ऐसा कोई दृश्य पदार्थ नहीं है जिसके बिना आत्माके अस्तित्वमें कोई बाधा पड़ती हो। तो यह सोचना कि इस चीजके बिना, इस वस्तुके बिना, इस व्यक्तिके बिना, इस देशके बिना, इस कालके बिना, इस जातिके बिना, इस भोजनके बिना, इस कर्मके बिना, इस भोगके बिना, इस स्थितिके बिना मैं नहीं रह सकता—यह आत्माका तिरस्कार है, आत्महिंसा है।

और, एक दूसरी बात। यह दुश्मन हमको मार डालेगा—यह डर भी आत्म हिंसा है। दूसरेसे भयभीत होना आत्महिंसा है। अरे दूसरा है ही नहीं। द्वेष किससे करते हो? तो किसीसे राग करना माने अपनेको हीन समझना और किसीसे द्वेष करना, यह डरपोक आदमीका लक्षण है। तो सबके हृदयमें एक ही परमात्मा बैठा हुआ है, उसमें किसीका पक्षपात करने योग्य नहीं है। और किसीसे भयभीत होने योग्य भी नहीं है। तो राग-द्वेष करना भी आत्म-हत्या ही है। अपनेको इतना अभाव-ग्रस्त समझना कि दूसरेके बिना हम पूर्ण नहीं होते, यह अपनी अपूर्णताका भ्रम है और अपनेको इतना कच्चा समझना कि दूसरा हमको चबा जायेगा, अपनेको ककड़ी समझ लेना कि कोई हमको खा लेगा—यह भी अपना तिरस्कार है।

अच्छा, अपनेको देह मानना, हड्डी-मांस-चामकी इतनी गन्दी चीज मानना—जो शुद्ध निर्मल, मायामलसे मुक्त है, कर्ममलसे मुक्त है, जो न करता है, न कर्म संस्कारसे युक्त है, उसको यह देहके रूपमें मान लेना—यही आत्म-हत्या है।

तो ईश्वर-दर्शनका फल क्या है? ईश्वर-दर्शनका फल यह है कि **न हिनस्त्यात्मनात्मानं**—अपने आप अपने आपकी हिंसा मत करो।

विवेक करके यह निश्चय किया **समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्**—परमात्मा सबमें सम है। इस विवेकके लिए आपको सुनाते हैं। यह वेदान्तियोंकी नहीं, सर्वदर्शन प्रतिपन्न सर्वसम्मत बात आपको सुनाते हैं। इसमें पूर्व मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध—सबकी सम्मति है। वह यह कि काल तत्त्व एक ही होता है। इसमें जो क्षण, घण्टा, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प—आदिके जो काल-भेद हैं, ये सबके सब कल्पित ही हैं, औपाधिक हैं। यह

बात सर्वदर्शन प्रतिपन्न है। माने एक निरवयव महाकालमें, निरंशकालमें, ये सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-पृथिव्यादिकी उपाधिसे ही यह क्षण, घण्टा, प्रहर, दिनरात्रि, सप्ताह, पक्षमास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग कल्प, महाकल्पकी सारी कल्पनाएँ हैं; ये वास्तविक नहीं हैं।

एक दूसरी बात आपको सुनाता हूँ। यह पूर्व है, पश्चिम नहीं; और यह पश्चिम है, पूर्व नहीं—इस बातको सर्व दर्शनकार औपाधिक स्वीकार करते हैं। हमारे देहकी उपाधिसे यह भेद है। यह हमारे बैठनेके स्थानकी दृष्टिसे पूर्व, पश्चिमका विभाग है। तो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन, आग्नेय, नैऋत्य वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व, अधः, अन्तराल, अन्तरिक्ष—ये सारे भेद देशमें केवल देहको अथवा मकानको, अथवा धरतीको, बीचमें एक द्रव्यकी उपाधि रखकरके कल्पना की जाती है; देशमें भेद बिल्कुल नहीं है। दृष्टान्तके रूपमें यह बात सुना रहा हूँ।

एक तीसरी बात सुनो। यह नाकका, कानका, मुखका, पेटका आकाश और मैत्रमें आकाश, चैत्रमें आकाश, यज्ञदत्तमें आकाश, देवदत्तमें आकाश, मोहनमें आकाश, सोहनमें आकाश—यह आकाशमें भेद नहीं है, केवल उपाधिके कारण ही आकाशमें भेदकी कल्पना होती है। आकाशमें भेद बिल्कुल नहीं है, औपाधिक भेद है। जब तुम निराकार आकाशमें भेदको औपाधिक मानते हो, जब तुम निरवयव कालमें भेदको औपाधिक मानते हो, जब तुम निरवयव देशमें भेदको औपाधिक मानते हो, तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें जिससे भेद, अभेद दोनोंकी सिद्धि होती है, भेद स्वाभाविक कहाँसे आवेगा? हे सांख्याचार्य, हे न्यायाचार्य, हे वैशेषिकाचार्य आप बताओ कि आप आकाशमें, दिक्‌में, कालमें तो भेद औपाधिक मानते हो और त्रिकालाबाध्य दिक्कालाभ्यनवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र वस्तुमें भेदको तुम स्वाभाविक मानते हो, यह कहाँकी युक्ति है, कहाँकी बुद्धि है, कहाँका अनुभव है?

अभी आप लोग पाठ कर रहे थे गीताका, तो उसमें आया—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। (गीता ८.१९)

तो हमको ऐसा लगा कि जैसे कोई भूतोंकी नगरी हो। भूतग्राम माने भूतोंका गाँव। समझो कि श्मशानके पास एक भूतोंकी नगरी है; उसमें कोई

काले, कोई गोरे, कोई लम्बे, कोई नाटे, कोई मोटे, कोई दुबले, कोई सींगवाले, कोई दाढ़वाले, कोई टेढ़े मुँहवाले, कोई एक आँखवाले भूत रहते हैं। उनके बच्चा होता है, बेटा-बेटी होती है, उनका ब्याह होता है, उनके यज्ञोपवीत संस्कार होता है, अन्त्येष्टि संस्कार हो रहा है, बड़ा उत्सव है, गाजे बाजे बज रहे हैं—भूतोंका गाँव है। उसकी पहचान क्या है? कि **भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**—भूत्वा भूत्वा माने बारम्बार प्रकट होता है और हो-हो करके बारम्बार लीन होता है। बारम्बार दीखता है और बारम्बार छिप जाता है। तो वह निरवयव काल जिस सद्वस्तुमें कल्पित है, इसलिए वह सद्वस्तुमें अनन्त है; निरवयव देश जिसमें कल्पित है, इसलिए वह अनन्त है; वह मूल सत् वह आयतन सत्—***तन्मूला सदायतना सत्-प्रतिष्ठा।***

वह प्रतिष्ठा रूप सत्, वह आयतन रूप सत्, वह मूल रूप सत्, देश, काल, वस्तुका मूल सत्, देश, काल, वस्तुका अधिष्ठान सत्, देश, काल, वस्तुका प्रतिष्ठान सत्य, उस परम सत्यमें यह जो भेद मालूम पड़ता है, यह बिल्कुल बुद्धिकी उपाधिसे है।

आप विचार करके देखें तो मालूम पड़ेगा कि आकाशमें जो नीलिमा है और आकाशमें जो प्रकाश है—रोशनी, ये दोनों नेत्रकी उपाधिसे मालूम पड़ते हैं। न आकाशमें नीलिमा है, न आकाशमें प्रकाश है। और आकाश बुद्धिकी उपाधिसे मालूम पड़ता है। देश, काल बुद्धिकी उपाधिसे मालूम पड़ता है। कार्य-करण बुद्धिकी उपाधिसे मालूम पड़ता है। मैं-तू-यह-वह आत्माका भेद, जीव ईश्वरका भेद सब बुद्धिकी उपाधिसे मालूम पड़ता है। बस, एक बार इस बुद्धिकी जो मोटर-कार है, यन्त्र है, उस पर से उतर जाओ। 'यन्त्रारूढानि मायया'—यह जो यन्त्र पर आरुढ़ हो, केवल कल्पनामें ही हो, बस एक बार 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य जन्य कल्पित वृत्ति-ज्ञानसे अपने आपको इस यन्त्रपरसे उतार करके अद्वितीय ब्रह्मरूपसे जान लो, फिर यह यन्त्र भी मिथ्या हो जायेगा। इस पर आरूढ़ता भी मिथ्या हो जायेगी। अनन्त अधिष्ठानके रूपमें अपने आपका बोध होते ही, आत्मामें आत्माके अतिरिक्त सब मिथ्या हो जायेगा। कल्पित बोध और कल्पित अविद्या! कल्पित अविद्याकी निवृत्तिके लिए, वास्तविक बोधकी जरूरत नहीं है, कल्पित बोधकी जरूरत है; कल्पित बोध कल्पित अविद्याको निवृत्त करके

स्वयं भी निवृत्त हो जाता है, आत्मरूप हो जाता है। एक भूत तुमको सता रहा है, तो ओझाके द्वारा कल्पित एक भूत तुम ले आओ, सयानेके द्वारा कल्पित भूत ले आओ; एक तुम्हारा कल्पित भूत और एक सयानेका कल्पित भूत दोनों आपसमें लड़ेंगे और वह सयानेके द्वारा कल्पित भूत तुम्हारे कल्पित भूतको भगा देगा।

समं पश्यन् हि सर्वत्र—ये वेदान्ती (वेदान्ताभिमानी) लोग कभी-कभी ऐसे बोलते हैं कि हमको तो ज्ञान हो गया, हम तो अकर्ता हैं चाहे जो करें, निंदा करें, स्तुति करें, राग करें, द्वेष करें, हमको तो हो गयी छुट्टी, लेकिन ये दूसरे जो अज्ञानी लोग हैं—हमारे सिवाय दूसरे जो अज्ञानी लोग हैं—उनको न राग करनेका अधिकार है और न कुछ और करनेका अधिकार हैं। दूसरोंके शरीरमें तो आत्मा पापी-पुण्यात्मा-कर्ता-भोक्ता है, रागी-द्वेषी है और हमारे शरीरमें जो आत्मा है वह तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। यह बेवकूफीकी हद है, भला! यह अज्ञानकी पराकाष्ठा है, ज्ञानकी नहीं। आत्मा अपने शरीरमें, सबके शरीरमें एक जैसी ही है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

विषमे तु समं—यह जितना वैषम्य दिखायी पड़ रहा है, उसमें सबमें आत्मा एक जैसा ही है। क्या वैषम्य है? कि नाक सूँघने वाली है और कान सुननेवाला है—यह विषम हुआ। विषमे तु समं-इनमें देखो, नाकमें और कानमें जो आकाश है वह भी सम है। इनमें जो देश है वह भी सम है। इनमें जो काल है वह भी सम है, इनमें जो सत्ता है वह भी सम है। इनमें जो माया है वह भी सम है। इनमें जो मायारूढ़, मायामें आभास रूप जो ईश्वर है, परमार्थ जो ईश्वर है, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, वह भी सम है। तो देखो न, समताको देखो—**समं पश्यन् हि सर्वत्र**। इसीमें असलमें मा है। यदि आप **समको देखोगे तो माको देखोगे**। मा माने कारण रूपसे जो उपस्थित है वह। **माता ही तो कारण है न!** मा माने प्रमा यथार्थ ज्ञान। मा माने लक्ष्मी। मा-माने शोभा। समं पश्यन् हि—वही प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञान होगा जब समत्वका दर्शन होगा।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम्।

अब 'सर्वत्र समवस्थितम्' की भी बात सुनावें। एक होता है

अवस्थितम् और एक होता है समवस्थितम्; और एक होता है कुत्रचित् अवस्थितम् तथा एक होता है सर्वत्र समवस्थितम्। तो यह 'सर्वत्र' जो सप्तमी है, उसका अर्थ है—*सर्वस्मिन् देशे, सर्वस्मिन् काले, सर्वस्मिन् वस्तुनि, सम्यक् काले कालाभावे च, देशे देशाभावेच, वस्तुनि वस्त्वाभावे च।* यह 'सर्वत्र' पदका जो प्रयोग है वह बहुत बढ़िया है। पाणिनी अष्टाध्यायीके आठवें अध्यायमें *'न मुने'* सूत्र है, उसमें अभाव विषयक चर्चा है। बोले—अभावमें यह प्रत्यय होता है। आपको केवल उसका परिचय ही बताता हूँ। बोले—अच्छा अभावमें यह प्रत्यय होगा तो अभावके अभावमें यह प्रत्यय होगा कि नहीं होगा? बोले कि होगा। बोले—यहाँ सूत्रमें तो अभाव ही का उल्लेख है, अभावके अभावका उल्लेख नहीं है। तो बोले—एक अभाव कहने पर फिर जितने अभाव होंगे सबका ग्रहण हो जायेगा। भला एकके कहने पर सबका ग्रहण कैसे हो जायेगा? तो महाभाष्यमें एक दृष्टान्त दिया है—वृद्धा तपस्विनीका दृष्टान्त। एक वृद्धा तपस्विनीने बहुत दिनों तक देवताकी आराधना की, बड़ी तपस्या की तो उसके सामने देवता प्रसन्न होके प्रकट हुए। और बोले—'तपस्विनी, वर माँग ले।' उसके मनमें तपस्या करते-करते, बहुत दिन विरक्त रहते-रहते, कुछ भोगकी वासना आ गयी थी। तो अब उसको कैसे बतावे? शर्म आयी। तपस्या करते-करते अन्धी भी हो गयी थी, बुढ़िया भी हो गयी थी, कोई सम्पत्ति भी नहीं थी। इधर देवताने कहा—कोई भी एक वर माँग ले। तो उसने कहा—'अच्छा मैं यह वर माँगती हूँ कि मैं अपने पौत्रको सोनेके बर्तनमें हाथी पर बैठे हुए खीर आदिका भोजन करते हुए अपने इन्हीं नेत्रोंसे देखूँ।' अब यहाँ तो ब्याह ही नहीं हुआ है, पुत्र कहाँ? पुत्र नहीं तो पौत्र कहाँ? घरमें कानी कौड़ी नहीं तो खीर आदिका भोजन कहाँ? अन्धी है तो नेत्रों से देखनेका प्रश्न कहाँ? तो महाभाष्यकारने लिखा कि इसने एक वर माँगा और उसमें सब आ गया कि पहले तो हम जवान हो जायँ, आँख मिल जाये, पतिसे ब्याह हो, फिर हमारे पुत्र होवे, पुत्रके पौत्र होवे, मकान होवे, सोनेके बर्तन होवें, हस्ति-अश्व आदि वाहन होवें। तो वे बोले कि वृद्धा तपस्विनीने एक वर माँगा और उसमें सब आगया।

ये दृष्टान्त बहुत सारे हैं और पुराने हैं। दो-दो हजार, तीन-तीन हजार बरस पुराने ग्रन्थोंमें ऐसे-ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं कि जिसको आज भी सुनें तो

मजा आ जाये। संस्कृतमें एक 'न्यायसाहस्री' नामका ग्रन्थ है, उसमें एक सहस्र दृष्टान्तोंका संचय किया हुआ है। तो,

सर्वत्र समं पश्यन्, सर्वत्र पश्यन्, सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं पश्यन्।

तो सर्वत्र उपस्थितिकी बात आपको सुनाते हैं। जैसे यह जो मनुष्य-शरीर है यह देशके पेटमें है कि नहीं? देशके पेटमें है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन इसको चारों ओरसे घेरे हुए हैं। पूर्व, पश्चिम आदिकी कल्पनाका आधार, व्यवहारका आधार, जो दिक् है उसके पेटमें यह शरीर है। तो देशमें तो शरीर है ही, कालमें भी शरीर है और पंचभूत रूप द्रव्यमें भी शरीर है। और प्रत्यक् चैतन्यमें भी शरीर भास रहा है। तो सर्वत्र समवस्थितम्‌का क्या अर्थ है? क्या कटोरेमें दूध? जी नहीं, कटोरेमें जैसे दूध होता है वैसे देशके कटोरेमें आत्मा, देशके कटोरेमें परमात्मा, यह बात नहीं है। अच्छा तो जैसे एक घण्टेमें मिनट, घण्टेके पेटमें मिनट वैसे क्या कालके पेटमें ईश्वर? सर्वत्रका क्या अर्थ है? जैसे पंचभूतके पेटमें एक घड़ा, क्या ऐसा? यह हमलोग रोज-रोज सुनाते हैं, कि घड़ेका उपादान मिट्टी, पर वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मानते हैं; वह तो सुनी-सुनायी बात पर हम लोग बोल देते हैं। घड़ेका उपादान मिट्टी नहीं है, घड़ेका उपादान पंचभूत है। मिट्टी, पानी, गर्मी, हवा और आकाश-पाँचों मिले रहेंगे तब मिट्टीसे घड़ा बनेगा। पंचीकृत पंचमहाभूतसे घटका निर्माण होता है। घटका उपादान कारण केवल मृत्तिका नहीं है।

यह बात मैंने एक दूसरी बात सुनानेके लिए कह दी। देखो नियम साधारणत: यह है कि जो वस्तु जिस उपादानसे बनती है, नष्ट होनेके बाद उपादान रूप हो जाती है। माने घड़ा फूटेगा तो पंचभूतरूप हो जायेगा, ठीक है न! अब आपके सामने एक प्रश्न बताते हैं। दूधसे दही बनता है, यह आप जानते हैं तो दूध है उपादान और दही है कार्य। लेकिन यह दही रूप जो कार्य है, यह किसी भी प्रकार दूध नहीं हो सकता। तो दूध रूप उपादानसे दही रूप कार्य उत्पन्न होकरके, फिर दही नष्ट हो तो दूध क्यों नहीं हो जाता? अब यहाँ वेदान्ती कहेगा—ठहरो, ठहरो, यह जो तुमने दहीका उपादान दूधको बताया सो गलत है। क्या है? बोले—दहीका उपादान असलमें दूध नहीं है। दहीका उपादान पंचभूत है। तो पंचभूतसे दही पैदा हुआ है, इसलिए दही जब नष्ट

होगा तो पंचभूत ही होगा। वस्तु नष्ट होनेके बाद जिससे मिलती है, जो रह जाती है, नष्ट होनेके बाद, वही उसका उपादान होता है।

अच्छा तो आपको यह सुनाना है कि सर्वत्र समवस्थितम्‌में सर्वत्र आधार है और समवस्थित ईश्वर आधेय है? जैसे कटोरेमें पानी, जैसे मिट्टीमें घड़ा। अरे राम-राम! ऐसा नहीं समझना कभी, यह बिल्कुल उलटा हो जायेगा। सर्वत्र समवस्थितम्—सर्वत्रका अर्थ है यहाँ अध्यस्त। जैसे हम पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिनमें भटकते हैं, शरीरधारी रूपसे, वैसे ईश्वर पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन आने-जाने वाला नहीं है, वह कभी ऊपर, कभी नीचे जाने-आनेवाला नहीं है। यह ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन सब ईश्वरमें कल्पित है। तो सर्वत्र समवस्थितम्‌का क्या अर्थ है? कि

यथा सर्पे रज्जुः सर्वत्र समवस्थितः तथा सर्वत्र देशे काले वस्तुनि च समवस्थितम् ईश्वरं पश्यन्।

जैसे घड़ेमें मिट्टी है, पंचभूत है; जैसे जेवरमें सोना है, पंचभूत है; जैसे कल्पित सर्पमें रज्जु है; वैसे इस सर्वत्वेन कल्पित प्रपंचमें उपादानतया अधिष्ठानतया, आयतनतया, प्रतिष्ठानतया, मूलतया जो विद्यमान है उसको बोलते हैं 'सर्वत्र समवस्थितम्।'

यह जो प्रपंचकी चकमक है वह ऐसी है जैसे हीरेकी चमक, चिलक। अच्छा हीरेकी चिलक हीरेसे अलग है कि हीरेसे एक है? हीरेके बिना तो चिलक रहती नहीं, लेकिन चिलक हीरेमें हमेशा नहीं रहती। तो चिलक हीरेकी माया है। क्योंकि हीरेको तोड़के उसका कण-कण ढूँढ़ लो, उसमें चिलक नामकी कोई अन्य वस्तु उपस्थित नहीं है। तो परमात्मामें यह जो प्रपंच है वह परमात्मा रूपी हीरेकी चिलक है जो परमात्मामें कभी प्रतीत होता है, कभी नहीं होता।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

यह भूतोंका गाँव है, भूत्वा-भूत्वा रात्रौ—अज्ञान दशायां। जैसे रात्रिके अन्धकारमें भूतोंका गाँव पैदा होता और मिटता है, वैसे ब्रह्माज्ञान रूप परब्रह्म परमात्माकी अज्ञान रूपी जो रात्रि है, उस रात्रिमें यह पंचभूतोंका गाँव उदय होता है और प्रलीन होता है। पंचभूतोंके गाँवका कण-कण परमात्मा है, क्षण-क्षण परमात्मा है। इसका परमाणु देश, परमाणुकाल और परमाणुरूप

तीनों परमात्मा है। परमाणु देश भी परमात्मासे पृथक् नहीं, परमाणुकाल भी परमात्मासे पृथक् नहीं, और परमाणु रूप परमात्मासे पृथक् नहीं। तो सर्वत्र माने देशमें, कालमें और अणु-अणुमें तथा-प्रकृतौ कारणे, कारणाभासे, चिदाभासे-चिदाभास ईश्वरमें, चिदाभास जीवमें और आभास-भास्य प्रपंचमें यह सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही परिपूर्ण है।

समवस्थितं ईश्वरम्।

'सम्यक् अवस्थितं'का भी अर्थ आप समझ लें। क्या? कि यह ईश्वर सर्वत्र अध्यस्त रूपसे नहीं है, सर्वत्र अधिष्ठान रूपसे है। सम अवस्थितम्—यह बाध्य स्थिति नहीं है, अबाध्य स्थिति हैं—सम्यक् अवस्थितम्। त्रिकालाबाध्य है, त्रिदेशाबाध्य है। अन्तर्बहिः और अन्तराल ये तीन देश हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान—ये तीन काल हैं। और प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयकी त्रिपुटी है। कारण, कार्य और कारण-कार्य (अथवा प्रकृति, विकृति और प्रकृति-विकृति)—ये तीन पदार्थके भेद हैं। विकृति माने पंचमहाभूत, प्रकृति-प्रकृति है ही और प्रकृति-विकृति माने महत् अहंकार और पंच तन्मात्रा। *यः सर्वत्र एतद् कल्पनाधिष्ठानतया समवस्थितम्। एतेषु बाध्यमानेषु स्वयं अबाध्यम्।* इनके बाध्यमान होने पर, इनके मिथ्यात्वका ज्ञान होने पर, जिसका बाध नहीं होता, जो मिथ्या नहीं होता। बोले—हमने समझ लिया है कि हम मिथ्या हैं। अरे भाई तुम मिथ्या हो, तो मिथ्या समझनेवाला कौन है?

अब 'ईश्वरम्' पदका अर्थ देखो। वैसे शील अर्थमें ईट् धातुसे वरच् प्रत्यय होने पर ईश्वर शब्द बनता है।

ईशितुं शीलम् अस्य इति ईश्वरः।

जिसका सहज स्वभाव होवे ईशन-नियन्त्रण करनेका, वह ईश्वर है। तो नियन्त्रण क्या है? अरे बाबा! ईश्वरकी आँख ही में नियन्त्रण है। हमने देखा है, गृहस्थोंके घरमें जाते हैं, या गृहस्थ लोग बच्चा लेके आते हैं, तो जब बच्चा कोई ऊधम करता है तो ऐसी आँखसे स्त्रियाँ देखती हैं। बच्चेकी तरफ कि बच्चे सारा ऊधम बन्द कर देते हैं। यह आँखमें, दृष्टिमें नियन्त्रणकी शक्ति है। अरे बच्चेको तो क्या, स्त्रियाँ अपने पतिको ऐसी तिरछी नजरसे देखती हैं कि बेचारे वहीं हक्के-बक्के खड़े रह जाते हैं। आके पति खड़ा हुआ, कोट पैंट पहने, और सिर नहीं झुकाया, तो ऐसी जलती हुई नजरसे देखा कि पतिजी

तो हाथ जोड़नेकी क्या बात, साक्षात् दण्डवत् करने लगे। तो 'ईश्वरम्'का क्या अर्थ है? ईश्वरका अर्थ यह है कि यह जो प्रपंच है, यह पराधीन सत्ता है, सापेक्ष सत्ता है और आत्मा निरपेक्ष सत्ता है। बिना चैतन्यके जड़ प्रपंच भास नहीं सकता लेकिन जड़ प्रपंचके अभावमें भी चैतन्य सत्ता जड़ताके अभावको प्रकाशित करती रहती है। तो ईश्वरत्वका अर्थ है—

उपाध्य-संसृष्टवम्।

ईश्वर माने राजा—तो राजा कौन? कि जो रानीके चक्करमें न आवे, नहीं तो वह तो अपने मायके वालोंको ही राजाके सिरपर बैठा देगी। जो बेटेके चक्करमें न आवे सो राजा, नहीं तो बेटा अपने दोस्तोंका ही काम बनावेगा कि पिता जी इनका यह काम कर दो, इनका यह काम कर दो, जोतेगा अपने बापको। जो मन्त्रीके चक्करमें न आवे, सेनापतिके अधीन न होवे, कोषाध्यक्षके अधीन न होवे, वह है राजा। यही राजाका राजत्व है। नहीं तो वह राजा खिलौना हो जायेगा, कठपुतली हो जायेगा। राजा वह नहीं जिसके वशमें प्रकृति-मण्डल, अमात्य-मण्डल न हो। इसी प्रकार ईश्वरका ऐश्वर्य है प्रकृति मण्डलका उसके अधीन होना। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तत्त्व, पंचतन्मात्रा ये सब उसके अधीन होवें। हिरण्यगर्भ, विराट् ये सब उसके अधीन होवें। तब ईश्वर है। तो—

संसृष्टेषु उपाधिषु स्वयं असंसृष्टः ईश्वरः।

यह उपाधि शब्द पुंल्लिंग है। उपाधि, समाधि, आधि, व्याधि, प्रधि, उपधि—ये सब शब्द संस्कृतमें पुंल्लिंग होते हैं। तो ईश्वर वह जो इनसे संसृष्ट न होवे। ईश्वरको अज्ञान तो कभी होता नहीं, इसलिए न तो ईश्वरको संसर्गाध्यास है और न तो अर्थाध्यास है। भ्रान्ति होवे तब न ज्ञानाध्यास होवे। ईश्वरमें अध्यास नहीं है। वह जानता है कि यह अनहुए मिथ्या ही भास रहे हैं। तो तुम जब ईश्वरको देखने लगोगे, तो देखोगे कि हम और ईश्वर तो एक हैं।

समवस्थितमीश्वरम्।

यह जो वेदान्ती लोग 'ईश्वर' शब्द प्रयुक्त करते हैं, यह इनका पारिभाषिक है। इससे डरना नहीं चाहिए। अच्छा, यदि आज आपको आके कोई खबर दे कि ब्रह्म मर गया, तो आप क्या समझेंगे? क्या आप यही

समझेंगे कि वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म मर गया? अगर यही समझेंगे तब तो वेदान्त श्रवणकी दुर्दशा ही हो गयी। आपको यही समझना पड़ेगा कि ब्रह्म नामका कोई व्यक्ति विशेष था, जो मर गया। तो यह शुद्ध जो पारमार्थिक सत्तारूप चैतन्य है उसको ये अद्वैत वेदान्ती ईश्वर नहीं बोलते हैं। वह चीज तो अखण्ड है, अबाध्य है, अविनाशी है, अनन्त है, परिपूर्ण है; उसको वे थोड़े ही ईश्वर कहते हैं। इन्होंने तो अपने बेटेका नाम ईश्वर रखा हुआ है। यह तो मायामें जो परमार्थ चैतन्यका आभास है, उसका नाम ईश्वर रखा हुआ है। और अविद्यामें जो आभास है उसका नाम जीव रखा है। तो अविद्या तो अपने आश्रयको, जिसमें रहती है उसको व्यामुग्ध कर देती है, व्यामोहित कर देती है, और माया जिस आश्रयमें रहती है, उसको मोहित नहीं करती। माने जादू जादूगरको मोहित नहीं करता। मोहित कौन होगा? जो उस जादूको नहीं पहचानता है, वह मोहित होगा। अब ईश्वर तो मायावी है, वह तो जादूगर है वह अपनी मायासे मोहित नहीं होता। और जीव मायाके खेलको देखने वाला है और नहीं समझता है कि यह मायाका खेल है, इसलिए वह मोहित होता है। अविद्या अपने आश्रयको मोहित करती है, अपने विषयको मोहित नहीं करती और माया अपने आश्रयको मोहित नहीं करती है जिसके ऊपर टूट पड़ती है उसे मोहित करती है। तो अविद्यासे ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता और मायासे भी ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता।

ईश्वरके बारेमें एक दृष्टि तो यह है। दूसरी दृष्टि है कि कारणोपाधिक चैतन्य ईश्वर है और कार्योपाधिक चैतन्य जीव है। अन्तःकरण जिसका है, वह जीव है। यह संकल्प, विचिकित्सा, श्री, ह्री, धीः भी सब जो अन्तःकरणमें होते हैं, ये सब मन ही हैं। एतत् सर्वं मन एव। इस मनको जो मेरा मानकर बैठा है, उसका नाम जीव है। अन्तःकरण कार्योपाधिक है। यह देह कार्य है, ये इन्द्रियाँ कार्य हैं, यह अन्तःकरण कार्य है; इसको जिसने मैं-मेरा मान लिया वह जीव हो गया। और वह समष्टि कारण जहाँ कोई पृथक्त्व ही नहीं है, वह कारण जिसमें कल्पित है उस चैतन्यका नाम ईश्वर है। कार्योपाधिक जीव और कारणोपाधिक ईश्वर और चैतन्यकी दृष्टिसे दोनों एक। द्रव्यकी उपाधिसे यह कार्योपाधि और कारणोपाधिकी कल्पना है।

अब देशकी उपाधिसे बोलते हैं। व्यष्टि और समष्टिकी उपाधिसे बताते

हैं। छोटे देशमें, व्यष्टिमें जो चैतन्य है सो जीव—व्यष्टि चैतन्यका नाम जीव; और समष्टि देशमें जो चैतन्य है, उसका नाम ईश्वर।

यह छोटापन और बड़ापन देश-प्रधान उपाधि है। कार्यपना और कारणपना यह द्रव्य-प्रधान उपाधि है और आभासपना जो है, वह वृत्तिकी उपाधि है, मायावृत्ति और अविद्यावृत्तिकी उपाधि है।

तो यह जो ईश्वर है, देखो तुम भी ऐसे ही हो। जैसे कालबा देवी रोड बह रहा है और उसमें न तुम्हारा राग है न द्वेष, कोई अभिनिवेश नहीं है। एक्सीडेंट हो गया सड़क पर तो तुम बैठे देख ही रहे हो। कौन आया, कौन गया, कोई सम्बन्ध नहीं। चौपाटीपर कौन आया, कौन गया, कोई सम्बन्ध नहीं है, तो अभिनिवेश नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, अस्मिता नहीं और अविद्या नहीं है; साक्षात् अपरोक्ष अपने आत्मवस्तुको अनुभव कर रहे हैं। अच्छाजी, अब यदि किसीसे आपकी ऐसी मोहब्बत है कि उसके बिना मर जायेंगे, तो यह तो राग हो गया न! यह आपने अपने आत्माका तिरस्कार किया, कि हम इसके बिना मर जायेंगे। अरे भाई ऐसे ही मरना हो तो दिनभरमें दस दफे मर लिया करो। जब तुमको मरनेका ही शौक है तो दिन भरमें दस दफे मर लिया करो। बोले—अरे वह दुश्मन आया हमको मार गया! नारायण!क्या द्वेष कर रखा है, अपने आत्माका तिरस्कार करते हैं। परन्तु जब इस तरहसे अपना तिरस्कार न करके अपनेको अखण्ड अद्वय रूपमें जानते हैं तब आत्माका हनन समाप्त हो जाता है—

न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।

आदमीको कोई दूसरा नहीं मारता, वह अपने आप अपनी कल्पनासे, अपनी भ्रान्तिसे मारता है। जैसे—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

'केचिदात्मानमात्मना पश्यन्ति' और 'कश्चिद् आत्मनात्मानं हिनस्ति'- कोई ऐसा होता है जो आत्मासे आत्माका हनन करता है। हनन कैसे करता है? कि जब वह राग-द्वेषका आस्पदीभूत हो जाता है, अपनेको रागी-द्वेषी मानकरके, अपनेको परिच्छिन्न मानकरके, अपनेको जीव, रागी-द्वेषी मानके अपना नाश कर लेता है, तब अपनी हिंसा कर लेता है। और जहाँ अपनेको अखण्ड माना, वहीं आत्माका हनन छूटा। अपने स्वरूपका जहाँ ज्ञान हुआ,

जहाँ देखा कि सर्व देश-काल-वस्तु मुझमें कल्पित है, ये चल हैं मैं अचल हूँ, वहीं अपने द्वारा अपना हनन समाप्त हुआ।

समवस्थितमीश्वरम्—ऐसे ऐश्वर्यशाली हो तुम!

ततो याति परां गतिम्—परां गतिम्‌का अर्थ है कि अब कहीं जाने आनेकी जरूरत नहीं है कि स्वर्गमें जायेंगे तब सुख मिलेगा और कहीं नरकमें न चले जाँय-जहाँ दुःख मिलेगा। हे भगवान्, नरक और स्वर्ग दोनोंके अधिष्ठानके रूपमें तुम पहलेसे ही मौजूद हो। यह ग्लानि ही तो है न, नहीं तो सूर्यलोक तुम्हारी आँखके रूपमें तुम्हारे शरीरमें है; जैसे इसमें रहते हो, वैसे मलद्वार, मलकी आँतें भी तो तुम्हारे शरीरमें हैं, उनमें भी तुम ही हो कि कोई और है? जैसे इस शरीरमें कल्पित शुद्धि, अशुद्धि है, वैसे ही समष्टिमें स्वर्ग-नरक हैं। शास्त्रमें वर्णन आया है कि कोई गलत विचार मनमें आवे तो झट अपना कान छू लेना चाहिए क्योंकि कान ही पवित्र करनेवाला है। अच्छी-अच्छी बात सुनोगे तो तुम्हारा जीवन पवित्र हो जायेगा। तो कान छूना पवित्र है लेकिन नाकमें उँगली डालना अपवित्र है, मुँहमें उँगली डालना अपवित्र है। यह पवित्र और अपवित्र दोनों तुम्हारे शरीरमें कल्पित हैं। दोनोंके अधिष्ठान तुम हो, दोनोंकी कल्पना तुमने मानी है और दोनोंकी कल्पनाएँ जब सो जाती हैं तो सुषुप्तिमें भी तुम्हीं रहते हो, इसलिए तुम अखण्ड वस्तु हो, तुम अद्वय वस्तु हो, तुम परिपूर्ण हो, तुम ब्रह्म हो। अब परागति माने इसके आगे चलनेका नहीं है—शरीरसे नहीं, इसके आगे बुद्धिका चलना भी नहीं है, इसके आगे स्थिति भी नहीं है। परागति माने जिसके आगे कोई गति न हो। सर्वोत्कृष्ट और निरतिशय, सबसे ऊँची और जिससे बड़ी और कोई गति न हो वह यही है कि इस परमात्माको परिपूर्ण रूपमें, इस आत्मदेवको परिपूर्ण ब्रह्मके रूपमें देखो।

अध्यास-निवृत्ति

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३०॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

(१३.२९-३०)

अर्थ :—जो कर्मोंको सर्वप्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किया हुआ देखता है तथा जो आत्माको अकर्ता देखता है वही (परमार्थ-सत्य) देखता है। जब भूतोंके अलग-अलग भावको एकमें ही स्थित देखता है और भूतोंके अलग-अलग भावोंको उसी एकका विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

संगति—यह बात बतायी गयी कि विषम जगत्में सम, सबमें एक, भूतोंमें अजन्मा, गतिशीलोंमें स्थिर, नियम्योंमें परम नियन्ता, परमेश्वर, और विनाशीमें अविनाशी परमात्माका जो दर्शन करता है, वही सच्चा दर्शन करता

है। इस प्रकार समदर्शनका निरूपण किया। फिर २८वें श्लोकमें इस समदर्शनका फल बताया। फल दो तरहका बताया।

एक तो फल यह बताया कि आत्मामें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति नहीं रहती—**न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।** अपनेको जो हीन समझते हैं वे अपनी हिंसा करते है। यह हिंसा छूट जाती है।

दूसरा फल यह बताया कि वह परा गतिको प्राप्त होता है, माने यही सबसे ऊँची स्थिति है, इसके आगे कोई गति नहीं है।

अब दो प्रश्न श्रीशंकराचार्य अपने भाष्यमें उठाते हैं—

स्वगुणकर्मवैलक्षण्यभेदभिन्नेषु आत्मसु। (भाष्य)

वे कहते हैं कि सम-परमात्माका दर्शन सम्भव नहीं है क्योंकि सब जीवोंके गुण और कर्ममें भेद है। सत्त्व-रज-तम जो तीन गुण हैं उनके अनुसार जीवोंमें अपने-अपने गुणोंमें और कर्मोंमें पृथक्ता बनी रहेगी। और यदि यह मान भी लें कि कर्मके कारण पृथक्ता नहीं रहेगी तो भूतसृष्टि तो अलग रहेगी ही, अत: जड़-चेतनका परस्पर भेद बना ही रहेगा। इस प्रकार कर्ममूलक विषमता और द्रव्यमूलक विषमता जब बनी रहेगी तो परमात्माका समदर्शन उपपन्न नहीं होगा माने युक्ति-युक्त अनुभवका विषय नहीं बनेगा।

इन प्रश्नोंके उत्तरमें ये २९ और ३० वे श्लोक कहे गये हैं। २९वें श्लोकमें कहा गया कि आत्माका किसी भी कर्म और भोगके साथ सम्बन्ध नहीं है; और ३०वें श्लोकमें बताया कि आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वेदान्तकी रीतिसे ये दोनों श्लोक महत्त्वपूर्ण हैं। २९वें श्लोकमें आत्मामें संसर्गाध्यासका निषेध है और ३०वें श्लोक में अर्थाध्यासका निषेध है। इसलिए आत्माके समदर्शनमें कर्ममूलक और द्रव्यमूलक विषमता बाधक नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—**य: कर्माणि सर्वश: प्रकृत्यैव क्रियमाणानि पश्यति, न तु आत्मना तथा आत्मानं च अकर्तारं पश्यति, स पश्यति।** यह 'तथा' शब्द 'पश्यति' क्रियाको दुबारा खींचनेके लिए है।

एक बात तो यह होती है कि दूसरेकी चीजको, नहीं, बिल्कुल राहमें पड़ी हुई चीजको, जो किसीकी चीज नहीं है उसको, हम अपनी मान बैठते हैं। तो यह बात वस्तुके बारेमें भी होती है और व्यक्तिके बारेमें भी होती है,

जाति पाँतिके बारेमें भी होती है, शरीरके बारेमें भी होती है। शरीरसे होने वाले कर्मके बारेमें भी होती है, भोगके बारेमें भी होती है। जो अपना नहीं है उसको अपना मानना, इसका नाम संसर्गाध्यास होता है; और जो चीज है ही नहीं, उसको 'है' मानना—यह अर्थाध्यास हुआ। पहले सीपको चाँदी मानना और फिर उस चाँदी पर अपना हक मानना—कि यह मेरा है, यह दो प्रकारका अध्यास हुआ। इसको वेदान्ती लोग ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यासके नामसे बोलते हैं, कोई संसर्गाध्यास और अर्थाध्यासके नामसे बोलते हैं। हैं दोनों अध्यास। तो अध्यास शब्दका वेदान्तमें अर्थ होता है—*अतस्मिंस्तद्बुद्धिः*। जो चीज जैसी न हो उसको वैसा मानना अध्यास है। *अन्यत्र दृष्टो अन्यत्रावभासः* देखा कहीं और देख रहे हैं किसीमें। *पूर्वदृष्टः स्मृतिरूपः* पहले देखा गया और स्मृतिरूप है।

तो अब जरा पहले संसर्गाध्यासकी चर्चा करते हैं। 'मैं' और 'मेरा-यह सम्बन्ध, इसकी कोई जड़ ही नहीं है। हमने ऐसा सुना है कि किसी देशमें यह मकानके ऊपरका जो आकाश है, उसको भी बेचते हैं। संभव है बम्बईमें भी बेचते हों—छतके ऊपर एक मंजिल बनाओ, दो मंजिल बनाओ, तीन मंजिल बनाओ। अभी कुछ बना नहीं है, पर उसके मालिक बनकरके कि यह मेरा है फिर उसको बेचते हैं, कीमत लेते हैं उसकी। यह हमारी धरतीके ऊपर है, यह हमारे छतके ऊपर है, इसलिए यह आकाश हमारा है। यह आप लोगोंने सुना ही होगा जानते ही होंगे! अब जो आकाश है, वह तो सारी सृष्टिका एक ही है, वह आपका कैसे हुआ? उसमें मेरापनकी बुद्धिके सिवाय कि यह आकाश मेरा है, और कौन-सी ऐसी युक्ति है जिसके कारण उस आकाशको मेरा समझा जाये?

अच्छा समझो जमीन है, हमारे बाप उसको मेरी मानते थे, हमारे दादा मेरी मानते थे। यों समझो जिससे मैंने खरीदा वह उसको मेरी मानता था और कीमत चुकानेके बाद हम उसको मेरी मानते हैं। पर वह मेरापन धरतीमें रहता है कि दिलमें रहता है? यह तो आप जानते ही हैं। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान—यह किसी व्यक्तिका नहीं होता है। तो इसी मैटरसे बना हुआ यह जो शरीर है, यह मेरा कैसे होगा?

अच्छा, वस्तुको मेरा समझना और वस्तुसे ही बने व्यक्तियोंको मेरी

समझना, फिर उसमें जाति-पाँतिको मेरी समझना, फिर उसमें सम्प्रदायको मेरी समझना, बिल्कुल कल्पित है। जरा एक जगह चक्र आदिका निशान लगा दिया, एक तरहका चन्दन लगा दिया, चोटी कटा दी, जनेऊ निकाल दिया या चोटी रख ली, जनेऊ पहन लिया, और बोले—यह हमारा सम्प्रदाय हो गया। तो यह मैं और मेरा, सब मनीराम ही बनाते रहते हैं। असलमें तो यह शरीर ही मेरा नहीं है, पंचभूतमें खचित है; और इसमें जो अन्तःकरण है सो भी मेरा नहीं है। और, यह शरीर मैं नहीं हूँ और अन्तःकरण भी मैं नहीं हूँ। तत्त्व दृष्टिसे देखो तुम बिल्कुल साक्षी हो और जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति दशाएँ बदलती रहती हैं।

अब प्रश्न है कि इस शरीरसे होनेवाला जो कर्म है वह मेरा है कि नहीं? क्योंकि कर्मके साथ बड़े-बड़े उपद्रव लगे हुए हैं। इसमें लोकका झगड़ा, परलोकका झगड़ा, भोगका झगड़ा—क्योंकि इस कर्मका फल सुख हम भोग रहे हैं, इस कर्मका फल दुःख भोग रहे हैं, इस कर्मके अनुसार नरकमें जाते हैं, इस कर्मके अनुसार स्वर्गमें जाते हैं, इस कर्मसे इतनी देर सुखी रहते हैं, इस कर्मसे इतनी देर दुःखी रहते हैं।

पहले तो शरीर ही मैं-मेरा नहीं और अन्तःकरण मैं मेरा नहीं और इसमें अहं-अहं करनेवाला अहंकार मैं-मेरा नहीं; फिर इसके द्वारा किया हुआ कर्म मेरा और मैं उसका कर्ता और कर्मके अनुसार सुखाकार और दुःखाकार वृत्तिका मैं भोक्ता और कर्मके अनुसार नरक, स्वर्गमें जानेवाला, कर्मविशेषके कारण देश-विशेष और काल-विशेषमें सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला मैं कैसे? यह बात तो तभी हो सकती है, जब कर्मके साथ और कर्म करनेवाले जो करण हैं उनके साथ, मैं-मेरा सच्चा हो। अरे उसमें जो झूठा अहं बनके, नकली अहं जो काम कर रहा है—नकली अहंको वेदान्तमें आभास बोलते हैं—उस आभासको अपना असली मैं समझ करके इसीके कारण स्वर्ग-नरक समाधि-विक्षेप, सुखीपना-दुःखीपना ये सब जितना झगड़ा-झंटा है वह मालूम पड़ता है। वह सब झूठे अहंको अहं मान लेनेके कारण होता है।

एक बार दो स्त्री मिलीं। एकके था बच्चा, और एकके बच्चा नहीं था। तो जिस स्त्रीके बच्चा नहीं था, उस स्त्रीने बच्चेको खूब प्यार किया, खूब

खिलाया-पिलाया, ऐसा अपनी गोदमें रखा और उस बच्चेको यह समझाया कि तेरी माँ तो मैं हूँ, यह नहीं है। अब उसकी असली माँ परेशान। क्योंकि असलीको तो वह चाची कहने लगा और वह जो माँ नहीं थी, परायी थी, उसको मम्मी कहने लगा। तो फिर अकेलेमें असली माँ ने बच्चेको समझाया कि देखो मम्मी तो दोनों हैं, लेकिन हमको तो तुम मम्मी कहा करो, चाची मत बोलो, और उसको डालडा मम्मी बोला करो। तो अब उस दूसरी स्त्रीको डालडा मम्मी पसन्द नहीं आया, बोली—कैसा लड़का है, इतना तो प्यार किया, इतना खिलाया-पिलाया और यह डालडा मम्मी बोलता है! तो वह उदासीन हो गयी, और असली मम्मी रह गयी।

तो यह तो दृष्टान्त है। इसका द्रार्ष्टान्त यह है कि यह जो तुम्हारा अहं है, यह मम्मी है—यह सब ममका विकार है। असली नकलीकी पहचान कर लो। संस्कृत भाषाके ममका ही यह विकार है—मम्मी! तो भाई मेरे, कर्म कैसे होते हैं, इस पर कभी विचार करना। गीतामें इसके लिए कई दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। कई जगह तो यह प्रसंग आया है कि प्रकृतिके गुण कर्म करते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३.२७)

अब इस श्लोकके साथ इसको मिलाओ। अब यहाँ यह ध्यान तो जाना ही चाहिए कि यहाँ **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि** है और वहाँ 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' है। दोनोंमें क्या फर्क है? दोनोंमें यह फर्क है कि मनुष्यके जीवनमें कभी तमोगुण कभी रजोगुण और कभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति बढ़ती है। एक ही आदमीको देखते हैं कि कभी चोरी करता है, कभी दान करता है। क्यों? आप लोगोंके जीवनमें यह द्वन्द्व नहीं हो, भला करे ईश्वर; अच्छा यदि दान ही करना है तो चोरी क्यों की? और यदि चोरी करनेको पाप नहीं समझते हो तो दान करनेको पुण्य क्यों समझते हो? क्योंकि तुम्हारे अन्दर पाप और पुण्यकी चेतना ही अभी जाग्रत नहीं हुई है—आदिवासी जंगलियोंकी जैसी आदत हो कि पाप-पुण्यकी चेतना ही जाग्रत नहीं हुई। तो चोरी करते हो, उसमें भी अहं रहता है और दान करते हो उसमें भी अहं रहता है—एक में तमोगुणी वृत्तिका अहं रहता

है, एकमें रजोगुणी वृत्तिका अहं रहता है। फिर कहते हो ओहो, हमारा मन एकाग्र क्यों नहीं होता? जब समाधि लगाने लग जाते हो, तो सत्त्वगुणी मन काम करने लग जाता है। एक आदमीको देखते हैं कभी-कभी इतना शान्ति प्रिय होता है कि उसको कुछ कहो, सह लेता है; और कभी जरा-सी बातमें, आँख टेढ़ी करके देखो तो नाराज हो जाता है। तो यह देखो कि कौन-सी ऐसी परिस्थिति बदल गयी कि चोर साहु हो गया, साहु चोर हो गया, शान्त क्षुब्ध हो गया, क्षुब्ध शान्त हो गया? जो लोग राज्य छोड़कर आये, महल छोड़कर आये साम्राज्य छोड़कर आये उनको देखा कि लंगोटीमें ममता हो गयी; और जिनको लंगोटीमें भी ममता नहीं थी, उनको देखा कि महलमें ममता हो गयी। तो यह जो परिस्थिति बदलती है, इसमें कारण क्या है? व्यक्तिके जीवनमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—ये अवस्थाएँ शरीरमें बदलती रहती हैं, तो क्या इनके तुम कर्ता हो? नींद हराम किसकी होती है? जो सुषुप्तिको बनाना चाहता है। सबसे ज्यादा अशान्त वही होगा जो कहेगा हम सुषुप्तिके कर्ता हैं। जब कर्ता बनके बैठोगे तो नींद आवेगी ही नहीं। क्योंकि विज्ञानमें कर्ता होता है और बेफिक्रीमें, निश्चिन्ततामें, आनन्दमें सुषुप्ति होती है। आनन्द भी यदि बनाने लगोगे तो सुषुप्ति नहीं होगी। वह तो—

ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।

जैसे तुम सुषुप्तिके कर्ता नहीं हो, तो क्या स्वप्नके कर्ता हो? तुम जो चाहो सो ही स्वप्न देख सकते हो क्या? हमलोग एक प्रयोग करते थे, हमको यह युक्ति मालूम है कि आज कैसा सपना आये। साधुओंमें घूमते थे, विचित्र-विचित्र खोपड़ीके साधु मिलते थे। तो स्वप्न बनानेकी कोशिश करते थे। यदि सौ सपनेमें दस सपना भी हम अपने मनका बना लेते थे, तो कहते थे कि बस अब हम स्वप्न-सिद्ध हो गये। दूसरेको ऐसा सपना आवे, इसकी भी युक्ति थी। लेकिन वह ऐसा ही है जैसे हमको डाक्टरने बताया कि जब दवाओंका प्रयोग करते हैं, तो साठ-सत्तर प्रतिशत रोगी अच्छे हो जायें तब भी वे उस दवाको दवा नहीं मानते हैं, दवा तो तब मानते हैं जब अस्सी पच्चासी प्रतिशत अच्छे हों, नहीं तो वह तो बाइचांस ही साठ-सत्तर प्रतिशत रोगी अच्छे हो जाते हैं। यह जैसे साँपको झाड़नेवाले लोग होते हैं, तो बहुत सारे साँप निर्विष होते हैं, काट तो लेते हैं पर उनके जहर नहीं होता है तो

आदमी अपने आप ही अच्छा हो जाता है और वे साँप झाड़नेवाले कहते हैं कि हमने अच्छा किया। तो साँपका विष उतारने वालोंका जैसा अभिमान है, डाक्टरोंका अभिमान उससे कुछ कम नहीं है, उनकी मनोवृत्तिमें भी यह है भला! उनको जो अभिमान होता है कि हमने रोग दूर किया, वह दवा न करते तब भी साठ सत्तर रोगी स्वभावसे ही उस रोगको झेलकर अच्छे हो जाते। तो अहंकार ही मात्र है। *वृथाऽहंकरणं हि परः* श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि यह व्यर्थका अहंकार है कि हमको रोग नहीं होगा, मौतसे बचा लेंगे इत्यादि।

अब यह जाग्रत, स्वप्न ? जैसे सुषुप्ति हमारी बनायी हुई नहीं है, शरीरमें आती है; जैसे स्वप्न हमारा बनाया हुआ नहीं है आता है; ठीक वैसे ही यह जाग्रत भी हमारा बनाया हुआ नहीं है, यह आता है और, सपनेमें जैसे मनोवृत्ति काम करती है, जाग्रतमें भी मनोवृत्ति ठीक वैसे ही काम करती है। जाग्रतमें एक बात विशेष है स्वप्नकी अपेक्षा, वैसे है तो स्वप्नमें भी लेकिन जाग्रतमें विशेष है थोड़ी। वह क्या है ? कि जाग्रतावस्थामें हमारी बुद्धि जरा काम करती रहती है तो मनके द्वारा किये हुए ऊटपटांग असंगत कामोंमें हम बुद्धिसे संगति बैठा देते हैं। हम देखो अपने साथ बात करनेवालोंको देखते हैं। वे एक गलती कर जाते हैं चाहे मनसे कर जाते हैं चाहे तनसे कर जाते हैं। हम कहते हैं तुमने गल्ती की तो वे थोड़ी देर ठहरके बोलते हैं—हमने इस अभिप्रायसे, इस विचारसे यह काम किया। अब वह काम करनेके पहले न वह अभिप्राय होता है उनका, न वह विचार होता है। बादमें वह अभिप्रायवान् और विचारवान् बन जाते हैं और बताते हैं कि बड़े विवेकसे हमने यह काम किया है। यदि कोई मनोविज्ञानका विद्यार्थी हो तो उसके काम यह बात आवेगी, इसको आमूली-मामूली बात नहीं समझना।

अच्छा तो आप विचार करो कि अगले क्षण आपके मनमें क्या आनेवाला है ? जैसे आप यह नहीं बता सकते कि रातके समय स्वप्नमें आज हम क्या देखेंगे, वैसे ही आप यह नहीं बता सकते कि अगले क्षणमें हमारे मनमें क्या आवेगा। जब आ जायेगा तो कहोगे कि हमने यह संकल्प किया है। हमको यह बात भिक्षु शंकरानन्दजीने पहले-पहल बड़े प्रेमसे समझायी थी।

जैसे सुषुप्तिका कर्तृत्व अपनेमें नहीं है, जैसे हम स्वप्नमें तीर्थ यात्रा करेंगे कि चण्डूखानेमें जायेंगे, इसमें अपना कर्तृत्त्व नहीं है; जागनेके बाद सोचेंगे कि हाँ-हाँ, उस दिन जाग्रतमें हमने तीर्थ यात्राकी बात की थी, इसलिए स्वप्नमें तीर्थयात्रा दिखी, और वह चण्डूखानेवाला आदमी परसों हमको दिख गया था, इसलिए सपनेमें चण्डूखाने पहुँचे—यह पीछेसे संगति बैठावेंगे, यह बुद्धिका काम है कि वह असंगतको संगत करती चलती है। आप लोग डरना मत, आप लोग निर्द्वन्द्व अपना काम करना, यह तो हम मनका एक रहस्य आपको बताते हैं। आप देखो आपके मनमें एक मन्दिर बनानेका संकल्प उठे और आपके मनमें व्यभिचार करनेका, बेइमानी करनेका, हिंसा करनेका या जुआ खेलनेका संकल्प उठे तो आप भलेमानुष क्या करेंगे कि यह तो आप बता देंगे कि आज मेरे मनमें मन्दिर बनवा देनेका संकल्प उदय हुआ है तो मैं कितना पुण्यात्मा हूँ, लेकिन यह नहीं बतावेंगे कि आज बेइमानी करनेका संकल्प मेरे मनमें आया है। क्यों? कि यह अहंकारसे ग्रस्त हैं। तो—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

प्रकृतिके जो गुण हैं—सत्त्व, रज, तम, ये तीनों सारे-के-सारे कर्म करवाते रहते हैं।

अच्छा पिताका वीर्य तुमने बनाया था? माताका गर्भाशय तुमने बनाया था? उसमें अपने शरीरको तुमने बढ़ाया था? ये बाल तुमने पकाये हैं? ये दाँत तुमने तोड़े हैं? यह शरीरमें बुखार आता है तो तुम लाते हो? यह जुकाम आता है तो क्या तुम अपने आप बुला लेते हो? फिर बोलते हो—नहीं, हमने जरा दही खा लिया रातमें। कार्य-कारण भाव बनानेकी आदत पड़ी है—**अहंकारविमूढात्मा**। कि भाई कुछ न कुछ कारण तो होना ही चाहिए? तो क्या तुम्हारे ऊपर जिम्मेवारी है इसकी कि होना ही चाहिए कारण? यही क्यों नहीं सोचते कि जैसे अकारण स्वप्न आते हैं वैसे ही अकारण यह घटना हुई। यह क्या सोचते हो कि कारणवश स्वप्न आते हैं? यही बात क्यों दिमागमें बैठ गयी है? इसका एक ही उत्तर है—बेवकूफी! एक तो आया मनमें काम और दूसरा उसका पूर्वजन्मके साथ सम्बन्ध जोड़ दिया। यही **अहंकारविमूढात्मा**

का मतलब है कि उसमें कर्मका सम्बन्ध, कर्तृत्वका सम्बन्ध जो जोड़ दिया, यह गीताका ही श्लोक है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

अच्छा वहाँ 'गुण' है और यहाँ 'प्रकृत्यैव' है। दोनोंका फर्क समझो। असलमें बात तो यही कहनेके लिए शुरू किया था, लेकिन आप जानते ही हो हमको। श्लोक आपको लगे कि न लगे, इसकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर नहीं है। श्लोकका अर्थ आप समझो कि मत समझो, इसमें जो वस्तुतत्त्व है, तथ्य है उसको आप समझनेकी कोशिश करो। तो वहाँ गुण है इसलिए कार्य जगत्‌में अहंकार आविद्यक है, यह बात बतायी। गुण कर्म करवाते हैं और यहाँ प्रकृतिसे कर्म होते हैं। इसलिए समष्टि जगत्‌में जो कर्म होते हैं वे सब यहाँ गृहीत हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

ब्रह्मा सृष्टि नहीं बनाता, ब्रह्माके शरीरकी यह प्रकृति ही है; जिसकी उपाधिसे, जिस कार्य भागमें ब्रह्माका शरीर बनता है, उसकी प्रकृति है कर्म करना। विष्णुके शरीरकी प्रकृति है पालन करना, रुद्रके शरीरकी प्रकृति है संहार करना, हिरण्यगर्भके शरीरकी प्रकृति है सब बीजोंको अंकुरित करके रखना। ईश्वरके शरीरकी प्रकृति है सब बीजोंको धारण करना; और वही ईश्वरकी बीजात्मक मायात्मक प्रकृति कहलाती है। प्रकृति उसे क्यों कहते हैं? प्रकृति इसलिए कहते हैं कि अनन्त अनन्त शक्तियोंकी उद्गम शक्ति है; वही माया है क्योंकि एक होकर भी सबका एक ही बीज है और अनन्त, अनन्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति अपनेमें रखने वाली है। जैसे जादूगर एक ही बीजसे दस पेड़ लगा दे, तो कहना पड़ेगा कि वह बीज जादूका है कि बीज एक हो और पेड़ दस तरहके निकलें—पीपल भी उसीमें-से, बड़ भी उसीमें-से, आम भी उसीमें-से, अमरूद भी उसीमें-से, यदि एक ही बीजसे हजार तरहके पेड़ निकलें तो हजार प्रकारके बीजोंकी शक्ति धारण करनेवाला एक बीज, वह जादूगरका बीज है। तो वही ईश्वरका जादू है। उसीको प्रकृति बोलते हैं, उसीको माया बोलते हैं, उसीको अविद्या बोलते हैं, उसीको प्रधान बोलते हैं।

यह प्रक्रियाका विचार तो बहुत ज्यादा है। आपको कहाँ तक विस्तार करके बतावें? ईश्वरके कर्मसे लेकरके एक कीड़ेके कर्म तक जितने भी कर्म हैं उसमें किसीमें चेतन आत्मा कर्ता नहीं है। यह **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः** में, गुणाभिव्यक्ति होनेपर सत्त्व, रज, तममें वैषम्य होनेपर जो क्रिया, प्रक्रिया, विक्रिया जो विद्यमान है, उसमें अहंकार करना यह अज्ञानीका काम है और ईश्वरकी बीजात्मक प्रकृति, माया प्रकृतिसे लेकर **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्**से लेकर एक कीड़ेके शरीरसे जितना कर्म हो रहा है वह **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः** उसमें किंचिन्मात्र भी चैतन्यका योग नहीं है। जो जीव साक्षी और ईश्वर-साक्षीमें ऐक्य है, उस ऐक्यके साथ कर्ता-करण-कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म हो रहे हैं, हो रहे हैं, हो रहे हैं। मिथ्या अभिमान है कि मैं करता हूँ—

अहं करोमीति वृथाऽभिमानः यह अभिमान बिल्कुल वृथा है। श्रुतिमें आया है—*उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः यथैव ज्योतिरात्मा विवस्वान्। आपो भिन्ना बहुधा अन्वगच्छत्।*

वेदका मन्त्र कहता है कि जैसे भिन्न-भिन्न घड़ेमें रखे हुए पानीमें सूर्यके भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वैसे ही आत्मा उपाधिके द्वारा अनेक रूप भासता है वस्तुतः नहीं। और जैसे पानीके हिलनेसे सूर्य हिलता नहीं, पानीके चलनेसे वह चलता नहीं, पानीके छोटा-बड़ा होनेसे प्रतिबिम्ब छोटा-बड़ा भले दिखे परन्तु सूर्य न छोटा न बड़ा; ऐसे ही यह आत्मदेव हैं—तत्तद् उपाधिसे तत्तद् भासते हुए भी तत्तद् होते नहीं हैं।

अच्छा एक बात बताओ कि साँपको जहर किसने दिया? और उसने डसनेकी शिक्षा कहाँसे प्राप्त की? बिच्छूको डंक किसने दिया और टपसे डंक मार देना चाहिए—यह शिक्षा उसको कहाँसे मिली? तो आदमियोंमें भी समझना कोई डंक मारनेवाले बिच्छूकी तरह हैं, अब उनकी प्रकृति है, उनका दोष क्या है? कोई डँसने वाले हैं, कोई गायकी तरह दूध देने वाले हैं, कोई घोड़ेकी तरह पीठपर बैठाके ले चलने वाले हैं, कोई शेरकी तरह खा जाने वाले हैं। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार काम करते हैं। तुमने गायको साँप समझा तो तुम्हारी गलती और साँपको गाय समझा तो तुम्हारी गलती। सब अपनी-अपनी प्रकृतिमें बरत रहे हैं।

अच्छा गीताका एक दूसरा अभिप्राय आप देखो। आत्मा अकर्ता है—यह गीताका मूल सिद्धान्त है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५.८.९)

इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतती हैं। शरीरसे शृण्वन् आदि जो भी कर्म हैं वे हो रहे हैं और आत्मा **नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्** (५.१३) कुर्वन् भी नहीं और कारयन् भी नहीं। कुर्वनको उलट दो तो वर्क बनता है, Working जैसे बोलते हैं। इस आत्माका कोई कर्म नहीं है—बिल्कुल असंग साक्षी। तो गीतामें एक जगह देखो ऐसे समझाया कि शरीरसे जो भी अच्छे और बुरे कर्म होते हैं, उनमें आत्मा हेतु नहीं है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८.१४.१६)

गाली भी दे दी। इसमें क्या गाली है? एक तो दुर्मति कहा है—वैसे तो किसीको नासमझ कह देना बड़ी गाली है, पर दुर्मति माने नासमझ नहीं होता। यदि किसीको अमति कहें और फिर मन्दमति कहें, तो मन्दप्रज्ञ कहना, बेवकूफ कहना गाली नहीं है, उसमें तो केवल यही कहा कि तुम्हारे बुद्धि नहीं है, परन्तु दुर्मति कहना गाली है। किसीको यह कहना कि तुम्हारे घरमें पत्नी नहीं है गाली नहीं है। यह नासमझ कहना तो जैसे पत्नी हीन कहना हुआ; और दुर्मति कहना माने दुष्टा मतिः—तुम्हारी पत्नी व्यभिचारिणी है यह कहना हुआ। तुम्हारी मति उलटी है, दुष्ट है, तुमको दुःख देनेवाली है। और दूसरी गाली क्या? कि 'अकृतबुद्धित्वात्'। क्या अर्थ है? जैसे ब्याह करते हैं

तो माँ-बापसे लड़की मँगनी करते हैं, कन्यादान लेते हैं और कायदेसे ब्याह करते हैं तो वह धर्मपत्नी हुई। अब एक धर्मपत्नी होती है और एक भोगपत्नी होती है। एक आदमी आता है हमारे पास, तो वह अपना परिचय देता है—कहता है 'आज हमारी धर्मपत्नीने यह कहा है।' तो धर्मका व्यावर्तक कुछ होना चाहिए ना! तो किसका व्यावर्तक है धर्म? माने उसकी दो पत्नी हैं एक भोगपत्नी है और एक धर्मपत्नी है। अरे पत्नी तो पत्नी ही होती है, धर्मपत्नीको ही पत्नी बोलते हैं। संस्कृत भाषामें पत्नी माने धर्मपत्नी है—*'पत्यो: नो यज्ञ-संयोगे'*—जो यज्ञ करनेमें साथ बैठे उसको पत्नी बोलते हैं। सो तो धर्मपत्नी हुई। पति शब्दसे नः प्रत्यय होता है तब पत्नः बनता है। पत्नी ही तब है जब यज्ञमें संयोग होवे।

तो अब यह बुद्धि तुम्हारी क्या है? जैसे किसीको कहें—तुमने क्या कहींसे राह चलती घरमें बैठा लिया? यह गाली हुई कि नहीं हुई? श्रीकृष्ण बोले—**अकृतबुद्धित्वात्**—माने तुमने बुद्धिका संपादन कायदेसे नहीं किया है। तुमने गुरु और शास्त्रसे बुद्धिका संपादन किया है कि नहीं? नहीं किया है तो राह चलती बुद्धि घरमें बैठा ली है, सुन-सुनाके, पढ़-पढ़ाके अखबारोंमें, इधर-उधरसे ऊट-पटांग समझकर अपने हृदयमें एक निश्चय बैठा लिया-अकृतबुद्धित्वात् तुम्हारी बुद्धि गुरु शास्त्र द्वारा अनुमोदित नहीं है।

तो दुर्मति और अकृतबुद्धित्वात्—दो गाली हुई अब तीसरी गाली कही—न स पश्यति—तुम अन्धे हो। तो ऐसा दुर्मति, अकृतबुद्धि और अन्धा कौन है? कि जो आत्माको कर्ता मानता है वह।

शरीर वाङ्मनोभिर्यत्—इसमें केवल शरीरकी बात नहीं है, शरीरसे करते हैं, वाणीसे बोलते हैं और मनसे सोचते हैं। तीनोंमें अपनेको कर्ता मानना अन्धापन है, दुष्ट बुद्धिको वशीभूत होना है और दुष्ट बुद्धि भी कुलीन नहीं है, राह चलती है, शास्त्र और सद्गुरुसे प्राप्त नहीं है।

एक दूसरी जगह देखो तो भगवान् कहते हैं—कर्मका कर्ता जीवात्मा नहीं है, स्वभाव है—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ (१८.५९)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (१८.६०)

भगवान् कहते हैं—स्वभावजेन। और जब अर्जुनने कहा—मैं नहीं लड़ूँगा, तो बोले—**यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे**—अरे, लड़ना न लड़ना क्या तुम्हारे हाथमें है? **प्रकृतिस्त्वां**?—तुम्हारी प्रकृति, स्वभाव तुमको युद्धमें जोत देगा अरे जब जोश आवेगा तो तुम हाथ-पाँव पटकने लगोगे। कहीं दुर्योधनने कह दिया कि क्यों बेटा, वह तुम्हारी नपुंसकता फिर लौट आयी क्या जो विराट् नगरमें थी? तो तुम आगबबूला हो जाओगे। यदि शकुनिने तुमको अंगूठा दिखा दिया तो क्या होगा? यह जो तुम समझते हो कि हमारी प्रकृति हमारे वशमें हैं, मैं नहीं लड़ूँगा तो ऐसी तुम्हारी प्रकृति नहीं है। मैं तुम्हारी नस-नस पहचानता हूँ। यह निश्चय तुम्हारा मिथ्या है। प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्याति। पूर्व-पूर्व वासना और कर्मके अनुसार जो संस्कार संचित हैं, उनसे तुम आबद्ध हो।

एक महात्मा पहले गार्ड थे फिर साधु हो गये। एक दिन वह ट्रेनपर गये। अब वह गार्ड जो झंडी दिखा रहा था, वह नया-नया था, उसको न आवे, तो झट उसके हाथसे झंडी खींच ली, बोले—ऐसे दिखाओ। तो भला संन्यासी महात्माको झंडी दिखानेकी क्या जरूरत? बोले—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

अबकी हमको मालूम नहीं है, हमलोग झूँसीमें रहते थे। झूँसीमें हम बहुत रहे प्रयागराजके पास झूँसी स्थान है। एक बरस तो वहाँ लगातार ही रहे गंगाजीके किनारे। दाढ़ी बाल सब बढ़ा रखे थे, नंगे रहते थे, कपड़ा नहीं पहनते थे, ओढ़ते थे चदरा। तो वहाँ एक महात्मा थे, वे पहले कहीं होटलका संचालन करते थे। उनको रसोई बनानेकी विद्या बहुत बढ़िया आती थी। एकदिन उनको बुलाया गया कि आप भोजन करनेके लिए आओ। दंडीस्वामी थे। अब दंडी स्वामी तो आग-वाग नहीं छूते हैं। वे आये तो हमारी रसोई उनको बिल्कुल अच्छी नहीं लगी, वे तो अपने हाथसे बनाके खाने वाले थे। उन्होंने कहा—अच्छा कल तुमलोग हमारे यहाँ भोजन करने आना पर सामान तो हमारे पास नहीं है। ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीने पूछा कि कितना क्या सामान भेजें? तो बोले—दो टीन घी भेज देना। सो दो टीन घी

भेजा गया और जो अन्य सामान मँगाया था, सब सामान भेजा गया। उन्होंने खुद अपने हाथसे साठ-सत्तर प्रकारकी वस्तुएँ बनायीं खानेके लिए। अब वह रसोई बनानेकी जो आदत थी, वह दंडी स्वामी होनेसे छूटती थोड़े ही है। इसीको बोलते हैं स्वभावज कर्म। ऐसे बोलते हैं कि चोरी तो छोड़ दी, तुम्बाफेरी थोड़े ही छोड़ी।

एक चोर था, फिर हो गया साधु। रातको उसको नींद न आवे, सब साधु सो जायें। उसको तो रोज रातको चोरी करनेकी आदत थी। अब क्या करे? तो वह क्या करे कि जब साधु लोग सो जायँ तो उनका कमण्डलु उनके पास, उनका दण्ड उनके पास रख आवे। सवेरे लोग कहें यह क्या हुआ? बोलते-तुमने हमारा कमण्डलु चुरा लिया, तुमने हमारा कमण्डलु बदल लिया, तुमने हमारा दण्ड बदल लिया। अब होवे लड़ाई साधुओंमें। अब वह जो चोर साधु था, वह अपना चुपचाप, किसीसे कुछ बोले नहीं, बस तमाशा देखे कि साधु लोग आपसमें कैसे लड़ते हैं। तो भाई चोरी छूट गयी तो छूट गयी, तुम्बाफेरी थोड़े ही छूटती है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

अच्छा देखो आपको क्या-क्या बात सुनायी? गुणोंके अनुसार काम होता है, प्रकृतिके अनुसार काम होता है, पाँचके सम्मिलित रीतिसे काम होता है और स्वभावसे काम होता है।

अब देखो ईश्वरकी भी बात है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८.६१.६२)

यदि आपके जीवनमें कर्म कोई समस्या उत्पन्न करते हैं, कोई ऐसे काम होते हैं जिनसे ग्लानि होती है, कोई ऐसे काम होते हैं जिनसे अभिमान होता है, तो दुःख आवेगा। अभिमानके कारण भी दुःख होता है, ग्लानिके कारण भी दुःख होता है। तो इस दुःखसे छूटनेका उपाय क्या है? आपने कभी गीता माताकी शरण नहीं ली क्या? आप स्वयं अनुसन्धान करें कि

गीता हमको इस अभिमान और ग्लानि-जन्य दु:खसे और विषय संग्रहजन्य, विषयाभाव-जन्य, सुख-दु:खसे, भोगजन्य सुख-दु:खसे कैसे बचाती है। यह बात तो आप गीतामें देखो!

'यन्त्रारूढानि मायया'—ऐसा भगवान् बोलते हैं। यह शरीर और शरीरमें जो अन्त:करण है, जो दस इन्द्रियाँ हैं और उसके भीतर मन है और मनमें बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि भेद हैं—ये सब यन्त्र हैं, मशीन हैं। पहले बताया था कि हम झूसीमें रहते थे। तो हमारा एक मल्लाह था। अभी भी है। अभी हम गये थे, कानपुरसे जब इलाहाबाद होके आये, तो हम गये वहाँ। और हमारे मल्लाहको मालूम हो गया कि स्वामी जी आये हैं। हम दूसरेकी नावपर बैठे थे। तो अपने दूसरे यात्रीको छोड़के दौड़ आया और उस मल्लाहसे कह दिया, जाओ तुम हमारे यात्रीको संभालो, हम स्वामीजीको लेके जाते हैं। बड़ा प्रेम करता है। तो नावपर बैठकर नावको नचावे पानीपर झांझर खेलते हैं। जैसे अप्सरा नृत्य करे ऐसे जमुनाजीकी छातीपर नाव नाचती है। तो नाव नाचती थी तो हम भी नाचते थे क्योंकि हम नावपर बैठे हुए थे। तो यह अन्त:करण नाव है—यन्त्र है। जब इसमें मैं-मेरा करके हम बैठ जाते हैं तो इसके साथ नाचने लगते हैं, यह डूबे तो हम भी डूबें, यह नाचे तो हम भी नाचें, यह पार लगे तो हम भी पार लगें। यह क्या है? असलमें ईश्वरकी आत्मा और हमारी आत्मा तो एक है, तो उसमें चलाये जानेवाले और चलानेवालेका भेद नहीं है। लेकिन जब मशीन पर बैठोगे तो यन्त्रको चला-चलाके ईश्वर तुमको अपने अधीन रखेगा और अपने वशमें रखके कभी डुबावेगा कभी उभारेगा। **यन्त्रारूढानि मायया। स एव साधु कर्म कारयति। स एवासाधु कर्म कारयति।**

तो **य: पश्यति**—जो यह देखता है कि प्रकृति ही कर्म करवाती है, तथा *आत्मानं अकर्तारं स पश्यति*-और अपने आपको देखता है कि हम तो असंग साक्षी है, अकर्ता हैं, **स पश्यति**—वह तो देखता है और नहीं तो **न स पश्यति दुर्मति:** वह नहीं देखता है।

बोले—अच्छा एक यन्त्र हुआ, एक यन्त्र साक्षी हुआ, तो मैं हुआ साक्षी और यह यन्त्र है प्रकृति और प्रकृतिका कार्य। हम द्रष्टा हैं, अनारुढ़ हो गये—यन्त्रसे उतर गये, हम द्रष्टा चेतन हैं, लेकिन रहा तो द्वैत ही, अद्वैत तो अभी

नहीं हुआ? संसर्गाध्यास तो छूट गया जो हम अपना सम्बन्ध मानते थे मैं और मेरेका प्रकृतिसे, वह तो छूट गया, हम द्रष्टा चेतन हैं, परन्तु अद्वैत तो नहीं हुआ अभी, द्वैत ही रहा। बोले अद्वैतका प्रतिपादन तो श्रीभगवद्गीतामें अनेक रीतिसे है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

यह तत्पदार्थकी दृष्टिसे अद्वैत है। श्रीकृष्ण भगवान् क्या बोलते हैं, सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय माने उत्पत्ति-कारण और नाश-कारण दोनों मैं। माने उपादान कारण मैं हूँ—इसका यह अर्थ हुआ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (१०.८)
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (९.१८)

क्या बोलते हैं भगवान्—मैं ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ। तो भगवद्-दृष्टिसे यह प्रपंच भगवान्से भिन्न नहीं है। अब जरा प्रत्यक् चैतन्य दृष्टिसे भी देखना पड़ेगा। अरे यह प्रत्यक् चैतन्य जगत्का कारण कब नहीं है? जब यह अपनेको देह माने बैठा है। जहाँ देश, काल, वस्तुके साक्षी रूपमें अपनेको जाना तों जैसे भगवान्से अभिन्न है यह जगत्, वैसे हमसे भी अभिन्न है यह जगत्। कैसे? कि

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ (१३.३०)

यह क्या हुआ? कि यह आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म है माने अद्वितीय है। कब? कि यह अनुसन्धान करो। देखो यह सारी पृथक्ता एक अद्वितीय अधिष्ठानमें है, उसीसे यह सब फैलाव फैला है, यह मायाका खेल इसीसे निकला है। *ब्रह्म संपद्यते तदा। य एवं दृष्टा। यदा एवं दृष्टा तदा ब्रह्म संपद्यते।* जब यह विवेक होगा कि एकसे ही सबका निकास और एकमें ही सबका प्रलय है और वह एक मैं हूँ और मैं असंग अपरिवर्तनशील एकरस साक्षी हूँ—तब मुझमें यह प्रपंच कहाँ? यह मुझमें विवर्त है। मैं ब्रह्म अद्वितीय हूँ।

तो पहले सम्बन्धको काटा, उसके बाद 'द्वितीय' के अस्तित्वको

काटनेके लिए यह **यदा भूतपृथग्भावं**—यह श्लोक उपस्थित होता है। संसर्गाध्यास और अर्थाध्यास दोनोंको काटनेके लिए।

अब कल सुनावेंगे।

(२)

कल एक सज्जनने पूछा था, उसकी चर्चा कर लें। पूछते हैं—आपने यह बताया कि—

१. **'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'**—इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बर्तती हैं, आत्मा नहीं।
२. **'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।'** आत्मा न कर्ता है न कारयिता है।
३. **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'** प्रकृतिके गुण ही सब कर्म करता है। आत्मा कर्ता नहीं है।
४. **'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।'** प्रकृति ही कर्म करती है, आत्मा अकर्ता है।
५. **'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।'** इत्यादि **न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। तत्रैव सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।** ये अधिष्ठानादि पञ्चक कर्मके हेतु हैं। शुद्ध आत्मा कर्ता नहीं है।
६. **'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।' मिथ्यैष व्यवसायस्ते** अहंकार है, कुछ होता हवाता नहीं है। यह तो **'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'**
७. **'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।'** स्वभावसे ही कर्म होते हैं।
८. **'यन्त्रारूढानि मायया'**—ईश्वर कर्म करवाता है।

अब वे सज्जन पूछते हैं कि जब आत्मा अकर्ता है और कर्ता अनेक हैं तो अब हम क्या करें? हमारे पुरुषार्थका क्या होगा?

तो पहले तो हम यह दोहरा दें कि आप वास्तवमें कर्मोंके कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। कर्मकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकरके बड़े कर्म करनेसे हम बड़े और तुम छोटा कर्म करनेके कारण छोटे—एक ही आत्मामें इस प्रकारका

भेद बिल्कुल नहीं आरोपित किया जा सकता। यह मायिक है, यह प्राकृत है यह अविवेक-जन्य है, पुरुषके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। श्री सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं—

आत्मा कर्त्तादिरूपश्चेन्मा कांक्षीस्तर्हिमुक्तताम्।
नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेदोष्ण्यवद् रवेः॥

यदि आत्मा वास्तवमें कर्ता होवे, वास्तवमें भोक्ता होवे, तो मुक्तिकी इच्छा ही छोड़ दो, क्योंकि जो सहज कर्ता है, जो सहज भोक्ता है, वह तो हमेशा कर्ता ही रहेगा, स्वभावकी निवृत्ति तो होगी नहीं जैसे अग्नि अपनी उष्णताको नहीं छोड़ सकता। सूर्य जैसे प्रकाशको नहीं छोड़ सकता, इसी प्रकार तुम्हारा आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वको नहीं छोड़ सकेगा, तुम हमेशा पाप-पुण्य करते रहोगे, हमेश सुख-दुःख भोगते रहोगे, मुक्ति बिल्कुल होगी ही नहीं, यदि आत्माका सहज स्वभाव कर्तृत्व होवे। इसलिए आत्मा न कर्ता है न भोक्ता है।

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिता नास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा॥
नर्ते स्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः॥

भगवान् शंकर बोलते हैं कि यदि आत्मा दुःखी होवे, तो यह दुःखी है—ऐसा कौन जाने। जो दुःखीको देख रहा है सो आत्मा है। जो दुःखी हो रहा है सो आत्मा नहीं है। दुःखी साक्षी नहीं हो सकता और साक्षी दुःखी नहीं हो सकता और बिना अपनेमें विकार माने दुःखी हो नहीं सकता। मैं बुद्धिके सहस्र-सहस्र विकारोंका साक्षी हूँ, इसलिए मैं निर्विकार हूँ। क्रिया भी नहीं है और विक्रिया भी नहीं है। तो ऐसे भी मान सकते हैं कि—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

इस श्लोकमें क्रियाका निषेध है। और

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

इसमें विक्रियाका निषेध है। क्रिया अहंकारपूर्वक करनेसे होती है और विक्रिया वह है जो बिना अहंकारके होती है—सुषुप्ति दशामें भी पाचन होता है, रोमवृद्धि होती है, रुधिराभिसरण होता है, श्वास संचालन होता है,

बिना कर्तृत्वके भी, बिना अहंकारके भी ये विकार प्रकृतिमें होते रहते हैं। तो क्रिया, विक्रिया दोनोंसे विनिर्मुक्त है अपना साक्षी, असंग स्वरूप और यही है ब्रह्म। इसमें क्रिया, विक्रियाका क्या प्रश्न है?

तो कल उन सज्जनने पूछा कि फिर हम क्या करें? पौरुष हमारा क्या हो? संस्कृत भाषामें उसे 'पुरुषकार' बोलते हैं। पुरुषार्थ तो बोलते हैं पुरुष जिसको चाहता है—*पुरुषैः अर्थ्यते इति।* धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंको बोलते हैं पुरुषार्थ। पुरुषार्थ तो फलरूप है। कर्म करनेसे धर्म होता है, कर्म करनेसे अर्थ मिलता है, कर्म करनेसे भोग मिलता है और नैष्कर्म्यसे और स्वरूपज्ञानसे, अविद्या-निवृत्तिसे मोक्ष प्राप्त होता है। तो पुरुषार्थ तो बोलते हैं चारको और पुरुषकार अथवा पौरुष बोलते हैं पुरुषके द्वारा किये हुए कर्मको। लौकिक भाषामें पुरुषकारको ही पुरुषार्थ बोलते हैं। ऐसे सामान्य रूपसे भाषामें चलता है।

हाँ तो वे बोले—हम क्या करें फिर? हमारा कर्तव्य कहाँ तक है? तो इसका असलमें तो उत्तर यही है कि जहाँ तक आप अपनेको कर्तव्यहीन, अकर्ता-अभोक्ता, परिच्छेद-शून्य ब्रह्म अनुभव नहीं कर लेते, वहाँ तक आपका यही कर्तव्य है कि आप यह अनुभव करनेके लिए अन्तःकरण शुद्ध करें, जिज्ञासा करें, सत्संग करें, महात्माके पास जायें। यह अनुभव ही कर्तव्य है। इस सत्यको जानना ही कर्तव्य है कि आत्मा कर्म-भोग-द्वैत अविद्यादिके गन्धसे, उनके लेपसे शून्य है। इससे बढ़करके सहज सुख, इससे बढ़करके परमानन्द और कोई है नहीं, अगर आप अपने जीवनको ठीक-ठीक लक्ष्य तक पहुँचाना चाहते हो तो! लेकिन अब देखो आपको थोड़ी बात कर्तव्यकी भी सुनाता हूँ। क्योंकि हम लोग बैठे तो कुरुक्षेत्रमें ही हैं। ब्रह्ममें जो बैठा है उसके लिए कर्तव्य नहीं है और जो कुरुक्षेत्रमें बैठा है उसको तो अपने कानोंसे कुरु-कुरु सुनना पड़ेगा।

यस्मिन् क्षेत्रे 'कुरु कुरु' इति भगवता प्रोच्यते, तत्क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं इति उच्यते।

जहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कुरु-कुरु उसी क्षेत्रको बोलते हैं कुरुक्षेत्र।

तो इसमें आप विभाग कर लें। एक है तमोगुणी पुरुष वह निद्रामें,

आलस्यमें, प्रमादमें पड़ा रहता है। यह मद, प्रमाद, उन्माद सब तमोगुणके विलास हैं, मद होता है शराब आदि पीके, प्रमाद जानबूझके कर्तव्यकी अवहेलना है। अथवा कर्तव्यका स्फुरण ही न होवे। निद्रा तमोगुण है। आलस्य क्या है कि याद तो है कि हमको क्या करना चाहिए, लेकिन आलस आ गया। यह संस्कृतमें जो अलस शब्द है उसका भाव आलस्य है। अलस माने 'न लसति' जिसकी कोई शोभा नहीं होती। शोभा शून्य पुरुषको अलस बोलते हैं। वह नाच नहीं सकता, नृत्य नहीं कर सकता, उसके जीवनमें नृत्योल्लास नहीं है। याद तो है कि गुरुजी आते हैं तो उठके खड़ा होना चाहिए लेकिन अरे भाई, गुरुजी कोई नाराज थोड़े ही होंगे। तो कर्तव्यका स्फुरण होने पर भी उसकी उपेक्षा कर देना आलस्य है। और कर्तव्यका स्फुरण ही न होना प्रमाद है। रोग हो जाना उन्माद है। यह सब तमोगुण है। तो ऐसे जो तमोगुणी व्यक्ति हैं उनके लिए यह विधान है कि तुम करो, कर्म करो। आलस्य, निद्रा, प्रमादपर विजय प्राप्त करनेके लिए कुछ भी करो। इस अधिकारीको यह बात कही जाती है कि करो।

अच्छा जब करने लगा तो थोड़ा तमोगुण कम हुआ, रजोगुण आया। तो क्या करते हैं? बोले—चोरी करते हैं, व्यभिचार करते हैं, जुआ खेलते हैं, लड़ाई-झगड़ा करते हैं, दूसरोंको हानि पहुँचाते हैं। तब शास्त्रकी दूसरी कक्षा आयी। उसने कहा—भलेमानुष! यह क्या करते हो? अपनी भी हानि कर रहे, दूसरेको भी हानि पहुँचा रहे हो, जो धर्मके अनुसार कर्म है, वही करो, धर्मके विपरीत मत करो।

अब धर्म करने लगे। तो बोले—हमारे घरमें पैसा भेजो, हम धर्म करते हैं। माने ईश्वरकी नौकरी कर ली, कि हम करें धर्म और तुम भेजो हमारे घरमें पैसा। माने सकाम कर्म करने लगे। हमारे बेटा आवे, हमारे कुर्सी आवे, हमारे धन आवे, हमारे मकान आवे। तो सकाम धर्म करने लगे तो शास्त्रने कहा—नहीं, नहीं, सकाम धर्म मत करो।

अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव—आसक्ति और फल, रजोगुण छोड़करके कर्म करो। सात्त्विक कर्म करो निष्काम भावसे ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। निष्काम भाव माने अन्तःकरणकी शुद्धि।

निष्काम भाव और अन्त:करणकी शुद्धि—ये दोनों एक ही चीज हैं, दो नहीं। निष्कामता ही अन्त:करणकी शुद्धि है। अच्छा तो पूर्णता निष्कामतामें कब आवेगी? जब भोक्तापनकी भ्रान्ति जायेगी। और कर्ममें नैष्कर्म्य कब आवेगा? कि जब कर्तापनकी भ्रान्ति जायेगी। और कर्तापन-भोक्तापनकी भ्रान्ति कब जायेगी? जब अपनेको परमात्मा जानेंगे।

अच्छा जो सात्त्विक पुरुष हैं, वे लगे सात्त्विक कर्म करने। महात्मा मिले; बोले—अरे भाई तुम कर्म तो करते हो बड़े सात्त्विक और निष्काम भावसे कर्म करते हो, पर बाहर क्यों करते हो, भीतर करो न! ईश्वरकी पूजा मन ही मन करो, मानसिक कर्म करो। तो देखो बहिरंगसे अन्तरंग हुए। दूसरे ने कहा—योगी आया, कहा—क्या कल्पनाके ईश्वरमें लगे हुए हो? अभी मनमें खिलौनेके साथ खेलते हो, आओ-आओ, समाधि लगाओ। तो प्रत्याहार-धारणा-ध्यान, इसका कर्तृत्व होता है, करके समाधि लगावेंगे। तो चित्तकी निर्विकल्प दशा-पर्यन्त समाधिकी गति है। प्रतिलोम परिणामसे चित्तको बाहरसे भीतर लौटावेंगे। एक अनुलोम परिणाम होता है चित्तका—इन्द्रियोंके द्वारा चित्तका बाहर आना; और एक प्रतिलोम परिणाम होता है, चित्तका भीतर जाना तो कहाँ तक जा सकता है बोले—निर्विकल्प समाधि-पर्यन्त।

इसी बीच वेदान्ती लोग मिल गये बोले—भलेमानुस यह जो अभ्यास करके तुमने समाधि लगायी है, यह तो टूट जायेगी, क्योंकि कर्मका फल है। कर्म तो अनन्त होता नहीं, असीम होता नहीं, सीमित होता है, इसलिए उसका फल भी सीमित होता है और समाधिसे उठनेके बाद सोनेके पहले आदमी जितना बेवकूफ रहता है, जागनेके बाद भी उतना ही रहता है। आप देख लो! सुषुप्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है क्या? सुषुप्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है—वही स्त्री, वही पुरुष, वही बेटा, वही मकान, वही ममता, वही मोह, जो सोनेके पहले था, वही जागनेके बाद रहता है। तो समाधिमें परम पुरुषार्थकी सिद्धि कैसे होगी? समाधिमें जब वृत्ति ही नहीं है, तो अविद्याको निवृत्त करनेवाला ज्ञान समाधिमें कैसे होगा? यह कह सकते हैं कि तुम बड़े अभ्यासी हो, इतनी देरके लिए तुमने वासनाओंको शान्त कर लिया, सम्पूर्ण वृत्तियोंको शान्त कर लिया। तुम बिल्कुल एकाग्र,

एक ही लक्ष्यको लेकरके निर्विकल्प बैठे रहे, बड़े महापुरुष हो तुम, तुम्हारे व्यक्तित्वका बड़ा भारी उत्कर्ष, तुम्हारा व्यक्तित्व बड़ा भारी है, लेकिन इससे उठनेके बाद फिर क्या होगा? तो,

समाध्यादीनि कर्माणि जहाति जगतिर्यतिः।

पहले होवे मूर्ख और अभ्याससे लग जाय समाधि, तो फिर समाधिसे उठनेके बाद क्या होगा? बोले—फिर वही चोला पहनेगा। जैसे कोई मैला कपड़ा पहने हुए होवे और समाधि लग जावे, तो कपड़ेका भान भूल जायेगा, लेकिन जब उठेगा तब शरीर पर वही मैला कपड़ा मिलेगा कि नहीं मिलेगा? तो अज्ञानयुक्त अन्तःकरणको जहाँ-का-तहाँ छोड़करके समाधिस्थ हो गये और फिर समाधिसे जगे और अन्तःकरणमें आये, तो फिर वही मैला अन्तः-करण मिलेगा। आप यह नहीं समझना कि समाधिसे संस्कार टूट जायेंगे।

योगदर्शनमें ही इस बातको स्वीकार किया गया है—

तस्य प्रशान्त वाहिता संस्कारात्। (योग० ३.१०)

समाधिकालमें संस्कार प्रशान्त रूपसे, माने विकारको प्राप्त हुए बिना प्रवाहित होते रहते हैं। बोले—यहाँ तक पुरुषार्थ गया। अरे पौरुषसे तो तुम जातिको बदल सकते हो, आकृतिको बदल सकते हो। **जातिपरिवृत्तिः प्रकृत्या पुरात्।** यह वैशेषिक दर्शनका सूत्र है। यदि मनुष्य सचमुच ध्यान करे, तो ध्यानके बलसे यह शरीर देवता हो सकता है। तुकाराम इसी शरीरसे पार्षद हो सकते हैं। बिल्कुल ध्यानमें, उपासनामें, इतना बल है। परन्तु यथार्थका ज्ञान हुआ है कि नहीं? अभी यह प्रश्न एक बाकी है।

तो क्या तुमको यह ज्ञान हो गया कि एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है? आत्मा ही सत्य है, दूसरा कुछ नहीं है?

तो देखो ध्याता बने, योगी बने, समाधिस्थ बने, सब किया। अब शास्त्र कहेगा कि भाई तुमने उपासनासे इष्टदेवका साक्षात्कार कर लिया, ठीक है, योगाभ्याससे तुमने समाधि लगा ली। यह बहुत बढ़िया किया, लेकिन तुम्हारे कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी जो भ्रान्ति है वह टूटी कि नहीं टूटी? अभी अविद्या तो रह गयी। तब अविद्याकी निवृत्तिके लिए वेदान्तकी जरूरत पड़ती है और जब अविद्याकी निवृत्ति होती है, तब ये सब जितनी व्यक्तित्वपरक गति हैं बेमानी हो जाती हैं।

चार्वाक इस देहको संवारना, सजाना, भोग देनेको कहता है न, वह व्यक्तित्व ही तो है! और आर्हत्? जो सिद्धशिला, आलोकाकाशकी नोंकपर जाकरके बैठेगा, वह एक परिच्छिन्न व्यक्तित्व ही तो है न!

अच्छा जी, बौद्ध सौगत जो क्षणिक विज्ञान धाराका उपच्छेद करके आत्मोच्छेद कर देगा, वह आत्मोच्छेद व्यक्तिगत ही तो हुआ ना! सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, प्रत्यक् चैतन्य अभिन्न ब्रह्म तत्त्वका बोध प्राप्त होकरके मूलाविद्याकी निवृत्ति कहाँ हुई?

तो वेदान्त-बोधसे तो परम पुरुषार्थ प्राप्त हो गया। जब कर्ता भोक्ता नहीं है तब कोई कर्तव्य ही नहीं है। इसका मतलब हुआ कि पहले निकम्मेको कर्म करनेको बताया गया, फिर कर्म करने वालेको अच्छा काम करनेको कहा गया, बुरे काम करनेवालेको अच्छा काम करनेको कहा गया, अच्छा काम करनेवालेको निष्काम कर्म करनेको कहा गया, निष्काम कर्म करनेवालेको उपासना करनेको कहा गया। उपासना करनेवालेको योगाभ्यास करनेको कहा गया, और योगाभ्यास करने वालेको भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेको कहा गया और जब स्वरूपकी अनुभूति हो गयी तो कर्माधिकारकी निवृत्ति हो गयी, वहाँ न कर्ता है, न भोक्ता है।

अब थोड़ी-सी बात और! कर्म करनेवाले कर्म तो करते हैं पर बुरे कर्म करते हैं। तो दो स्थिति हो गयी—एक बुरा कर्म करना, एक अच्छा कर्म करना। फिर दूसरी स्थिति लो—अच्छे कर्म करते हैं तो सकाम भावसे करते हैं, निष्काम भावसे करते हैं; दो स्थिति हो गयी। अच्छा निष्काम भावसे करते हैं, तो कर्तृत्वपूर्वक करते हैं कि कर्तृत्वको मिटाकर करते हैं? बोले—अच्छा, चलो कर्तृत्व भी मिट गया, तो केवल भावसे कर्तृत्व मिटाया कि अपनेको ब्रह्म जानकरके कर्तृत्व मिटाया? बोले—भावसे नहीं, समाधिसे नहीं मिटाया, तत्त्वज्ञानसे मिटाया। अच्छा तत्त्वज्ञानसे कर्तृत्व मिट गया, तो वृत्ति अधिकांश विक्षिप्त रहती है कि समाहित रहती है? तो जीवन्मुक्तिकी जो भूमिकाएँ हैं, वे सब-की-सब आ गयीं। तो कर्म करनेमें अच्छा, बुरा दो कोटि; और अच्छा कर्म करनेमें सकाम, निष्काम दो कोटि; और निष्काम कर्म करनेमें कर्तृत्व अकर्तृत्व दो कोटि; और अकर्तृत्वमें भावसे कर्तृत्वकी शान्ति और बोधसे कर्तृत्वकी शान्ति दो कोटि। और बोधसे कर्तृत्वकी

शान्तिमें वृत्तिका विक्षिप्त रहना और समाहित होना—ये दो कोटि। इस प्रकार यह कर्मका प्रसंग होता है। आप स्वयं विवेक करोगे, तब तो यह आपको बहुत मजा देगा। और हमारा सुना हुआ जब तक रहेगा, जब तक आप स्वयं अपने हृदयमें विवेक नहीं करोगे, तो पहले तो भूल जानेकी भी बहुत शंका है। और, कहोगे कि किसी एक किताबमें हम पढ़ लेंगे तो एक किताबमें आपको यह बात नहीं मिलेगी, यह आप सैकड़ों पुस्तक जब पढ़ोगे, तो पढ़नेके बाद भी दिमाग़में सफाई नहीं आवेगी। जब विवेक करोगे, विचार करोगे, अनुभव करोगे, तब दिमागमें सफाई आवेगी।

तो बात यह हुई कि अपनेको अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न ब्रह्मके रूपमें जिसने जान लिया **स पश्यति** वह देखता है। अब यह हुआ कि अच्छा कर्म और भोगका सम्बन्ध तो अपने आत्माके साथ नहीं है परन्तु वस्तुओंके साथ तो सम्बन्ध है ना! तो बोले कि नहीं; यह देखो कि एकसे ही सब निकला है और एकमें ही सब लीन होता है; तुम तो कार्य-कारणके द्रष्टा मात्र हो। यह गीता शास्त्र भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा है। गीताकी एक-एक पंक्ति, एक-एक श्लोक ब्रह्म विद्या है।

ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।

यह गीता ब्रह्म विद्या है, योग शास्त्र है। एक तो उपनिषद्-अपौरुषेय वेद वचन, दूसरे श्रीकृष्णके मुँहसे निकला हुआ गीत। यह तो महाराज द्वैगुण्य हो गया।

आप अपौरुषेय ज्ञानके बारेमें यह बात ध्यानमें रख लो: एक ज्ञान वह होता है जो हम इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, बाहरकी चीजोंका अनुभव कर-करके उनका संस्कार अपने अन्त:करणमें ग्रहण करते हैं। इस ज्ञानका नाम है पौरुषेय ज्ञान। रोगी पर दवाका प्रयोग करके, रोगीके रोगका निदान करके किस-किस विटामिनकी कमी है और फिर किस-किस पदार्थमें यह-यह विटामिन होता है, वह निश्चय करके डॉक्टर जो पथ्य बताता है, वह बाहरसे ग्रहण किया हुआ ज्ञान है। रोगीका रोग भी बाहर और वस्तुएँ भी बाहर, विटामिनकी कमी भी और विटामिन भी और उनकी अधिकता भी सब बाहर। और यह बाहरका ज्ञान प्राप्त करके अपने हृदयमें संस्कारको धारण करना, इसका नाम होता है पौरुषेय ज्ञान। प्रयोग करके इन्द्रियोंका, किसी

चीजको गर्म जानना, किसीको ठंडा जानना, किसीको लाल जानना, किसीको काली जानना, किसीको ठुमरी जानना, दादरा जानना, घनाक्षरी जानना—ये सब पौरुषेय ज्ञान हैं।

अपौरुषेय ज्ञान कौन होता है? जो बाहरसे ग्रहण नहीं किया जाता है, वह केवल प्रकाशित करता है। ग्रहणशील ज्ञान पौरुषेय ज्ञान है और प्रकाशनशील जो ज्ञान है वह अपौरुषेय ज्ञान है। ये मन्त्र जो हैं ये अर्थके प्रकाशक हैं। मन्त्र तो शरीर है। इसमें अक्षर जीव है और इसमें जो ज्ञानात्मक अर्थ है वह इसकी आत्मा है।

ऋचोऽक्षरे परमे व्योम्नि यस्मिन् अधि विश्वेदेवा निषेधुः।

यह ऋग्वेदका मन्त्र है। इसकी व्याख्यामें निरुक्तकारने जहाँ आध्यात्मिक व्याख्या की वहाँ ऋक् शब्दका अर्थ शरीर लिखा है ***ऋक् शरीरं। ऋचन्ति अर्चन्ति ईश्वरं अनेन इति ऋक् देहा।*** ऋक् शब्दको पुँल्लिंग प्रयोग माना है।

तो देखो मन्त्र तो है शरीर, इसमें अक्षर है जीव और इसका जो ज्ञानात्मक अर्थ है सो? बोले- ब्रह्म है। तो आओ—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

पौरुषेय ज्ञानमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, कारण पाटव आदि दोष होते हैं और ये श्रीकृष्ण जिस अपौरुषेय ज्ञानको प्रकाशित कर रहे हैं, वह इन दोषोंसे मुक्त है। भूतोंका जो पृथक् भाव है उस पृथक् भावमें हेतु क्या है? गुणों का पार्थक्य, गुणोंका अलगाव। पृथिवीमें गन्ध है, जलमें रस है, तेजस्में रूप है, वायुमें स्पर्श है, आकाशमें शब्द है। इन गुणोंको हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा चूँकि अलग-अलग ग्रहण करते हैं, इसलिए भूत पाँच मालूम पड़ते हैं। अब मान लो पाँच इन्द्रियाँ न हों, तो भूत कितने मालूम पड़ेंगे? ध्यानिक हो जायेंगे सब!

सर्वं ध्यानिकमेवास्यम् यदेतदभिशब्दितम्। (मनुस्मृति)

मनुस्मृतिमें जगह-जगह वेदान्तका वर्णन है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

पाँचवाँ और बारहवाँ अध्याय मनुस्मृतिका बड़ा ही विलक्षण है। पाँचवेंमें संन्यास धर्मका वर्णन है और बारहवेंमें तो सार ही सार है।

तो भूतपृथग्भाव कहाँसे है? इन्द्रियाँ गुणभेदको ग्रहण करती हैं और गुण क्रियाके आश्रयके रूपमें भूतोंका पार्थक्य निश्चित किया जाता है। अब इन्द्रियोंका भेद कहाँसे है? कि मनसे है। मनका भेद कहाँसे सिद्ध होता है? कि द्रष्टासे। तो मनमें ही देश, मनमें ही काल, मनमें ही वस्तु। देशाकार मन प्रकाशित होता है, कालाकार मन प्रकाशित होता है, द्रव्याकार मन प्रकाशित होता है, जैसे - स्वप्नमें वैसे ही इन्द्रियाकार भी मन ही प्रकाशित होता है। इन्द्रिय माने ये चामके बने हुए आँख, नाक, कानादि नहीं; इनमें जो विषयोंके ग्रहणकी वृत्ति हैं, उसको इन्द्रिय बोलते हैं। तो **एकस्थमनुपश्यति**। शास्त्रके उपदेशसे, आचार्यके उपदेशसे सबको एकमें, अपने-आपमें स्थित देखो। तुम्हारी सत्तासे सबको सत्ता मिलती है। तुम्हारे ज्ञानसे सबको ज्ञान मिलता है। तुम्हारे आनन्दसे सबको प्रियता मिलती है—

एकस्थमनुपश्यति। एकस्थं आत्मस्थं पश्यति।

एकस्थका अर्थ है आत्मस्थ।

छान्दोग्योपनिषद्को उद्धृत किया है शंकराचार्य भगवान्‌ने। क्या?

आत्मत: प्राण : आत्मत: आशा आत्मत: स्मर आत्मत: आकाश आत्मत: तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावा वात्मतोऽन्नम्।

(छां० ७.२६.१)

आत्मासे ही प्राण हैं। आत्मासे ही दिशाएँ हैं। आत्मासे ही आशा है। आत्मासे ही स्मर है। आत्मासे ही आकाश है, आत्मासे ही तेज है, आत्मासे ही जल है। आत्मासे ही आविर्भाव, तिरोभाव है और आत्मासे ही पृथिवी है। तो आत्मासे उत्पत्ति है, आत्मामें प्रलय है, आत्मासे स्थिति है और ***सृज्या-सृज्यं यदन्वयात्*** जो कार्यमें भी है कारणमें भी है, कार्य और कारण कालसे परिच्छिन्न होनेके कारण जिसमें अध्यस्त है, वस्तु सत्ता जिनकी नहीं है। ***तत एव च विस्तारम्***-इसी आत्मवस्तुसे सारा-का-सारा विस्तार हुआ है।

जैसे एक बेचारी रस्सीको, एक आदमीने कहा कि यह माला है, एकने कहा कि साँप है, एकने कहा डंडा है, एकने कहा भूछिद्र है। चार जने चार देख रहे हैं। अरे ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, ये एक ही परमात्माको पाँच-पाँच देख

रही हैं। हमको बचपनकी याद है, कभी गुलाबका फूल आया हाथमें, तो मनमें आया कि नाक तो इसमें गन्ध बताती है, रूप नहीं बताती है। जिह्वाने खाके देखा तो कोई स्वाद ही नहीं है, कड़वा-कड़वा लगता है। नाकसे सूँघा बड़ी मधुर-मधुर गन्ध, तृप्त हो गये। छूआ तो बड़ा कोमल स्पर्श लगा। देखनेमें गुलाबी रंग और जब चिटकता है तो आवाज भी होती है। जब मुरझाता है तब भी आवाज होती है। एक गुलाबका फूल, इसमें आँख बताती है रूप, त्वचा बताती है स्पर्श, कान बताता है शब्द और नाक बताती है गन्ध, जिह्वा बताती है रस। इसमें है क्या? एक सत्ता है, इन्द्रियोंने ही भेद कर लिया है। एक ही सत्ता है, एक ही अस्तित्व है इसमें, केवल इन्द्रियोंके भेदके कारण ही इसमें ये गुण मालूम पड़ रहे हैं। मनसे देखो, बुद्धिसे विचार करो, तो सत्तामें एकत्व है। जब मानसिक गुलाब हो जायेगा तो उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—सब मानसिक होंगे। ध्यान कर लो गुलाबका और बुद्धिसे विचार करो तो एक ही सत्ता यन्त्रके भेदसे, करणके भेदसे अनेक प्रकार भास रही है। और जरा आत्मासे अभिन्न जान लो गुलाबको तो? सत्ता ज्ञान है और ज्ञान सत्ता है-*सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।* ब्रह्मके सिवाय यह गुलाब क्या है!

तो *'तत एव च विस्तारम् ततः आत्मनः'* उस आत्मासे ही यह सारा विस्तार है आत्मासे ही सबकी उत्पत्ति है, आत्मामें ही सबका प्रलय है।

आत्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। आत्मैवेदं सर्वम्।

आत्मा ही सब है जहाँ कार्यकारणात्मक विश्व तुम्हारी दृष्टिमें आया, वहीं स्वप्न पदार्थके समान उत्पत्ति, स्वप्न पदार्थके समान स्थिति, स्वप्न पदार्थके समान प्रलय।

ज्ञान स्वरूप सृष्टि और ज्ञानस्वरूप तुम, ज्ञान-ज्ञान एक, तुमसे भिन्न कुछ नहीं। देश, काल, वस्तु भी तुमसे भिन्न कुछ नहीं। अब क्या हुआ? कि ***ब्रह्म सम्पद्यते तदा यदाऽनुपश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते। यदैव पश्यति तदैव सम्पद्यते। नात्र विलम्बः।***

जिस समय ऐसा अनुभव होता है उसी समय ब्रह्म हो जाता है, मरनेके बाद नहीं। वैकुण्ठमें जाके कोई ब्रह्म नहीं होता, मरनेके बाद कोई ब्रह्म नहीं होता। जिस समय ऐसा दर्शन, ऐसी दृष्टि होती है, उसी समय।

आत्मा अकर्ता-असङ्ग है

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ १३.३१

अर्थ - हे अर्जुन? यह परमात्मा शरीरमें रहते हुए भी अनादि और निर्गुण होनेसे अव्यय है। वह न कर्त्ता है न लिप्त होता है।

(१)

शंका—अच्छा यह ब्रह्मज्ञान तो हो गया, लेकिन कहते हैं कि शरीर तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और शरीरसे कर्म भी होते ही रहेंगे। कर्मको छोड़ तो सकते नहीं।

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (३.५)

जितने भी मर्त्य लोकके प्राणी हैं, स्वर्गलोक और पाताललोकके प्राणी हैं, कोई भी क्षणभरके लिए भी निष्कर्म नहीं रह सकता। प्राणवत्व होना ही क्रियाशील होना है। तो फिर जब कर्म रहेगा ही तो आत्मामें उस कर्मका फल व्यापेगा ही; तब वह सुखी-दुःखी भी होगा। फिर इस ज्ञानसे क्या फायदा हुआ?

समाधान —अरे, इस ज्ञानसे तो ऐसा फायदा हुआ कि फायदे-नुकसानका झगड़ा ही मिट गया।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

आत्मा देहमें स्थित है और देहसे हो रहा है कर्म, परन्तु 'न करोति न लिप्यते' आया है न!

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (१८.१७)

कुर्वन्नपि न लिप्यते। (५/७) **कृत्वापि न निबध्यते।** (४/२२)

करके भी बन्धन नहीं है, करके भी लेप नहीं है। यह लेप क्या है? आत्मामें कोई लेप-वेप नहीं होता, अविद्याके कारण उस कर्मका कर्ता अपनेको समझना, इसीका नाम लेप है। कर्ता-बुद्धि लेप है। इस कर्मका कर्ता मैं हूँ-ऐसी जो बुद्धि, उस बुद्धिको मैं-मेरी समझना इसीका नाम लेप है। अवलेप बोलते हैं। यह जैसे स्त्रियाँ अपने अंगपर रंग लगा लेती हैं ना, और फिर समझती हैं कि मैं सुन्दर हूँ। रंगकी सुन्दरताको लेपकी जो सुन्दरताको लेपोष्ठ्य-लिपिस्टिककी सुन्दरताको बोलती हैं कि यह हमारी सुन्दरता है। रंगकी सुन्दरता है, पावडरकी सुन्दरता है, साड़ीकी सुन्दरता है, जेवरकी सुन्दरता है, उसमें तुम्हारा क्या है? अभिमानके सिवाय तुम्हारा क्या है? वह चमकता हुआ रंग पावडरका है कि तुम्हारा है? वह चिलकती हुई हीरेकी अंगूठी है कि तुम चिलक रही हो? वह चमकती हुई साड़ी जो लोगोंकी आँखोंको गड़बड़ाती है, वह साड़ी है कि तुम हो? तो यह जैसे अभिमान मात्रसे ही तुम अपनेको सुन्दर मानते हो; यह तो आहार्य, अध्याहार्य माने उधारमाल-दूसरेके घरसे जेवर माँगके ले आये, और दूसरेके घरमें जाके धनी बन गए कि हमारे देखो हीरेका कंगन है जबकि अपने पास तो कुछ नहीं है; वैसे ही अरे यह कर्म तुम्हारा नहीं है तुम अपने साथ काहेको जोड़ते हो?

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः। अयम् परमात्मा। अयमात्मा ब्रह्म। अभिनयेन दर्शयति। अयं परमात्मा। नहि कश्चित् वैकुण्ठस्थो वा निराकारो वा परोक्षो वा।

कोई वैकुण्ठस्थ, कोई निराकार, कोई परोक्ष नहीं, अयमात्मा। यही आत्मा ब्रह्म है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः।

इस देहमें जो सर्व देह-धर्म, अवस्था, स्वभाव आदिसे अनाक्रान्त पर पुरुष है उसीको परमात्मा कहते हैं। इस शरीरमें परमात्मा नहीं है तो और कहाँ परमात्मा है? तो वह परमात्मा कैसा है? बोले—**अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।** *अनादित्वात्-अनादीयमानत्वात्। अगृह्यमाणत्वात्।* गृह्यमाणको ही आदि बोलते हैं। *आदानं आदिः।* आदि माने जिसका ग्रहण हो उसका नाम आदि। और जिसका ग्रहण न हो उसका नाम अनादि। *अदृष्टं द्रष्टृ। अश्रुतं श्रोतृ। अमतं मन्तृः* जिसका इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न हो वह अनादि। मूल पदार्थका ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं होता, मनसे ग्रहण नहीं होता, बुद्धिसे ग्रहण नहीं होता। वह तो *चक्षुषश्चक्षुः। वाचो ह वाचं। मनसो मनः।* आप केनोपनिषद्में पढ़ो-

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। (१.४)
यन्मनसा न मनुते ये नाहुर्मनो मतं। (१.५)

यह क्या हुआ? अनादि हुआ।

नास्ति आदिर्यस्य। अनादित्वात्। न आदीयत इति अनादिः अगृह्यमाणत्वात्।

वाणीसे ग्रहण नहीं होता, नेत्रसे ग्रहण नहीं होता, त्वचासे ग्रहण नहीं होता, मनसे ग्रहण नहीं होता।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

ऐसा जो अनादि है वह अदृश्य परमात्मा है। दृश्यमें ही आदि और अन्तकी कल्पना हो सकती है। दृश्यमें यदि अनादित्व होवे तो भी कल्पित और अनन्तत्व होवे तो भी कल्पित। और सादित्व होवे तो? तो वह सादित्व भी कल्पित होगा, क्योंकि दृश्य पदार्थ ही कल्पित है। इसी प्रकार दृश्यमें यदि असान्तत्व होवे तो वह भी कल्पित होगा। कल्पित पदार्थका आदि, अन्त, अनादित्व-सादित्व असान्तत्व सब कल्पित होता है। परन्तु यहाँ यह परमात्मा कल्पित अनादि नहीं है, अकल्पित अनादि है और दृश्य नहीं है। यदि कहो कि दृश्य नहीं है तो वह है या नहीं? कि है, क्योंकि सबका द्रष्टा

तो यही है। यह न होवे तो दर्शन बनेगा ही नहीं। इसलिए आत्मा अकल्पित अनादि है और दृश्यमें जो अनादित्व है वह कल्पित अनादित्व है।

आपको यह बात इसलिए सुनायी कि एक इसमें प्रश्न उठता है। वेदान्तियोंके मतमें ब्रह्म भी अनादि है, अविद्या भी अनादि है, उनका सम्बन्ध भी अनादि है, जीव-ईश्वर भी अनादि है और उनका भेद भी अनादि है। तो अनादि होनेसे कोई वस्तु अव्यय होवे, यह हेतु नहीं दिया जा सकता क्योंकि अविद्या अनादि होनेपर भी ज्ञान निवर्त्य होती है- सान्त होती है। तो परमात्मा अनादि होनेके कारण अव्यय है, *अनादित्वात् अव्ययः*—यह कहना नहीं बनता। तो बोले-भाई अनादि दो प्रकारकी होती है—एक कल्पित अनादि और एक अकल्पित अनादि। जो कल्पित अनादित्व है वह तो अव्ययत्वका हेतु नहीं होता, परन्तु जो अकल्पित अनादित्व है वह अव्ययत्वका हेतु होता है। तो **अनादित्वात् निर्गुणत्वात्।**

निर्गुणत्वात्का अर्थ होता है—*निर्विषयत्वात्। निरन्तःकरणत्वात्। निरिन्द्रियत्वात्*। निर्गुणत्वात्का अर्थ है विषय नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, अन्तःकरण नहीं है। निर्गुणत्वात् माने आत्मामें त्रिगुण ही नहीं है, त्रिगुणकी साम्यावस्था प्रकृति नहीं है।

तो जहाँ प्रकृति विकृति नहीं है, जहाँ कारण कार्य नहीं है वहाँ व्यय कहाँसे होगा? जो कारण होगा वह कार्याकार परिणामको प्राप्त होकरके व्यय भी होगा और जो कार्य होगा वह अपने कारणमें लीन होकर व्यय होगा। लेकिन जो निर्गुण है, त्रैगुण्यका जहाँ सम्बन्ध ही नहीं है, कार्याकार कारणाकार उभयविध परिणाम जिसमें नहीं है, अनुलोम-प्रतिलोम परिणाम जिसमें नहीं है, वह व्यय कैसे होगा? वह तो अव्यय ही अव्यय होगा—

न व्येति। न विपरीतं एति गच्छति। स्वरूपं न त्यजति। इति अव्ययः।

जो अपने स्वरूपका परित्याग न करे, एकरस होवे उसको अव्यय बोलते हैं। तो अनादि होनेके कारण, अदृश्य होनेके कारण और निर्गुण होनेके कारण द्वैत सम्बन्ध गन्ध-शून्य होनेके कारण, द्वैत-कलंक-पंकसे सर्वथा निरस्त होनेके कारण, यह परमात्मा अव्यय है। और—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।

अरे यह देहमें रहके भी न तो करता है, न लिप्त होता है। पहली बात

तो यह कि कर्म करता ही नहीं। दूसरी बात है कि *कुर्वन्नपि न लिप्यते*—यदि अन्य दृष्टिसे, अज्ञ दृष्टिसे वह कर्म करता भी है तो भी *'न लिप्यते न अहं करोति'* अहंकार नहीं करता कि मैं कर्ता हूँ, क्योंकि कर्म, कर्मफल और करण और कर्तृत्व, भोक्तृत्व और संसारित्व और परिच्छिन्नत्व—यह सब-का-सब अपने स्वरूपमें कल्पित ही है, केवल भासमान है, अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित है; इसलिए भासता है तो भासता रहे। *शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति, न लिप्यते*। शरीरमें रहकरके भी आत्मा न करता है और न तो लिप्त होता है।

ऐसी है महिमा ब्रह्म ज्ञानकी। यह श्रीकृष्णकी वाणी ऐसी विलक्षण है कि आपको पापके भारसे, पुण्यके अभिमानसे, पापकी ग्लानिसे, पुण्यके अहंकारसे और दिनभरमें दस बार सुखी-दुःखी होनेके दुःखसे मुक्त कर देती है। नरक स्वर्गके भयसे आवागमनके भयसे, जन्ममरणके भयसे मुक्त कर देती है। आज जन्माष्टमी मना रहे हैं। इससे बढ़िया क्या जन्माष्टमी होगी कि श्रीकृष्णके वचनका चिन्तन करें।

एक वक्ता होता है और एक वचन होता है। तो ये निराकारी लोग जो होते हैं, वे वचनका तो आदर करते हैं, पर वक्ताका आदर नहीं करते। और भक्त लोग जो होते हैं, वे वक्ताका तो खूब आदर करते हैं, लेकिन उसके वचनका क्या अर्थ है, इसको समझनेका प्रयत्न नहीं करते। यह वक्ता तो गुरु है और वचन उसका उपदेश है। उसके उपदेशका तो आदर करें और कहें वक्ता तो कुछ नहीं, मरने वाला है, यह ठीक नहीं है। अरे गुरु अमर है, ब्रह्म है। जिसकी वाणी अमर है, जिसका ज्ञान अमर है वह स्वयं अमर है। इसलिए ये श्रीकृष्ण अमृत हैं।

(२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (१३.३१)

अयं—'यह' परमात्मा। 'वह' परमात्मा नहीं—**अयमात्मा ब्रह्म** यह जो साक्षाद् अपरोक्ष परमात्मा है—

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।

जिसको पहले *अस्मिन् देहे*—देहमें कहा गया और अब भी शरीरस्थोऽपि कहा, वही ब्रह्म है। यहाँ *शरीरस्थोऽपि*का जो अर्थ है वही *देहेऽस्मिन्*का अर्थ है।

तो **अयं परमात्मा अव्ययः**। परमात्मा शब्दका अभिप्राय देखो! एक 'अपरमात्मा' अपरम् आत्मा होता है और एक 'परमात्मा' होता है। अपरम् आत्मा जो परमात्माकी परा कोटि, परा कक्षा नहीं है, वह अपर आत्मा है। देहादि अपर आत्मा हैं। कई लोग तो अपने पुत्रादिको भी अपना आत्मा समझते हैं और धनको भी अपना आत्मा समझते हैं। संस्कृत भाषामें तो धनके लिए, जातिके लिए भी आत्मा शब्दका प्रयोग होता है। 'स्व' शब्दके चार अर्थ व्याकरणमें बताये गये हैं—आत्मा, आत्मीय, जाति और धन। जाति और धनमें 'स्व' सर्वनाम नहीं होता और आत्मा और आत्मीयके अर्थमें 'स्व' शब्द सर्वनाम है। जैसे *'स्वस्मै'*बोलते हैं, *'स्वस्मिन्'*बोलते हैं, यह सर्वनाम हुआ। अब यह जो आत्मा शब्द है एक अविवेकी उस आत्मा शब्दका प्रयोग स्थूल वस्तुके लिए करता है और एक विवेकी पुरुष सूक्ष्माति सूक्ष्म वस्तुके लिए करता है। किसी अविवेकीके धनका नाश होता है तो वह बोलता है हाय रे मैं मर गया, सम्बन्धीका नाश होता है तो बोलता है, हाय रे मैं मर गया। तो यह सम्बन्धीके साथ जो तादात्म्य है, धनके साथ जो तादात्म्य है इनके साथ हमने अपनेको जो एक कर दिया है, इसीके कारण धनके नाशमें, सम्बन्धीके नाशमें, हम अपना नाश अनुभव करते हैं। इसीलिए उपनिषद्में पुत्रादिका निरूपण छठे कोशके रूपमें किया गया है। तो परमात्मा माने? जो यह अपरम आत्मा है—धन है, सम्बन्धी है, स्थूल शरीर है—अन्नमयकोश, प्राणमय-मनोमय विज्ञानमय-आनन्दमय कोष है—इनसे आन्तर जो आत्मा है और जिससे आन्तर कोई नहीं, वह परमात्मा है। और जो किसीसे आन्तर है, जिससे कोई और आन्तर है, वह अपरम् आत्मा है। देखो—मैं धन, मैं पुत्र, मैं पत्नी, मैं घर, मैं देह, मैं प्राण, मैं मन, मैं बुद्धि, मैं भोग-सुख—तो बोले कि नहीं, ये सब तुम नहीं हो, इनके आने-जानेमें भी एकरस रहनेवाले साक्षी आत्मा तुम हो। तो परमात्माका अर्थ है कि—

तस्मादात्मनः परमः कश्चिदन्यो न भवतिः।

जिस आत्मासे श्रेष्ठ और अन्तरंग और दूसरा कोई नहीं होता, उसका

नाम परमात्मा है—तुम्हारा शोधित अहमर्थ, तुम्हारे मैं का आखिरी रूप। वह आखिरी स्वरूप जिसका नाम परमात्मा है—वह कौन है? कि साक्षाद् अपरोक्ष मैं है। अयं परमात्मा।

यह परमात्मा कैसा है? तो बोले—**अव्ययः**, यह अव्यय है। व्यय किसको कहते हैं? *विपरीतं अयनं व्ययः* विपरीत जानेका नाम व्यय है और *न व्ययः अव्ययः। विपरीतं न एति इति अव्ययः। न व्ययो यस्य*। जिसमें विपरीत भावकी, माने विकारभावकी प्राप्ति कभी नहीं है, उसको अव्यय कहते हैं।

विकारानां द्रष्टा। विकारसामान्यस्य द्रष्टा। विकाराभास्यद्रष्टा।

पृथक्-पृथक् जो विकार होते हैं—'जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति'—ये जो षड्भाव विकार होते हैं पृथक्-पृथक्, और इनकी जो जाति है, और इनका जो अभाव है, सबका जो साक्षीभूत आत्मा है उसको अव्यय कहते हैं।

किसी भी वस्तुका जब नाश होता है, तो नाशके कुछ कारण होते हैं। जैसे मिट्टी न रहे तो घड़ा कहाँसे होगा? तो कारणके नाश होनेपर कार्यका नाश हो गया। और, आकाश ही न रहे तो घड़ा कहाँसे रहेगा? तो आश्रयनाशसे भी आश्रित कार्यका नाश हो जाता है। आश्रयनाशसे आश्रितका नाश, कारणनाशसे कार्यका नाश और तीसरा है विकारी होनेसे स्वरूपका नाश। अंगूर बहुत बढ़िया रखा था, पर सड़ गया, कीड़े पड़ गये, विकारी है। विकारवत्व होनेसे नाश। चौथा नाश—कार्यनाशसे कारण-नाश; जैसे धनके नाशसे धनी नामका नाश अथवा चरित्र नाशसे चरित्रवान्का नाश। यहाँ विशेषणके नाशसे विशिष्टका नाश हो गया। तो आश्रयके नाशसे आश्रितका नाश, कारणके नाशसे कार्यका नाश, विशेषणके नाशसे विशिष्टका नाश, और विकारी होनेसे स्वरूपका नाश—नाशके कई रूप होते हैं। तो यह जो परमात्मा है, इसका कोई दूसरा आधार दूसरा आश्रय नहीं है, यही सबका आश्रय आधार है। सबको यही प्रकाशित करता है, यही अधिष्ठान है। यह स्वयं-प्रकाश भी है और सर्वाधिष्ठान भी है। इसकी दृष्टिके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है। इसका कारण कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति

अनुभवका विषय होगी तो किसके अनुभवका विषय होगी? इसीके तो अनुभवका विषय होगी न!

तो कारण नहीं है, इसमें कोई भाव विकार नहीं है, भाव विकारोंका साक्षी है। तो आत्माके नाशका कोई प्रसंग नहीं है, यह अव्यय है। *अयं परमात्मा अव्ययः।*

अब बोले—अच्छा अव्ययका कोई हेतु बताओ। तो दो हेतु यहाँ बताये, ज्यादा खटपट इसमें नहीं है। **अनादित्वात्** और **निर्गुणत्वात्**।

अनादित्वात्—अनादि होनेके कारण परमात्मा अव्यय है क्योंकि जिसकी आदि अर्थात् उत्पत्ति ही अनुभवका विषय नहीं हुई, उसकी मृत्युका क्या प्रसंग है? तो अब उत्पत्ति अनुभवका विषय नहीं हुई, इसके दो रूप हैं। एक तो बन्ध्यापुत्रकी भी उत्पत्ति नहीं होती है और बन्ध्यापुत्रकी मृत्यु भी नहीं होती है। कल्पित भी उत्पत्ति-रहित और मृत्यु शून्य ही होता है। वह तो उसकी जैसे अनिर्वचनीय उत्पत्ति होती है वैसे ही अनिर्वचनीय मृत्यु भी होती है। यह जो अविद्या और आविद्यक प्रपंच है, इसकी उत्पत्ति भी अनिर्वचनीय और इसकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय है। वेदान्तका सिद्धान्त इसके सम्बन्धमें बहुत ही विलक्षण है। ज्यादा गम्भीरतामें जायें तो पहला प्रश्न यही उठाओ कि—अविद्या उत्पत्तिरहित अनादि है कि नहीं? कि हाँ अविद्या भी उत्पत्ति रहित अनादि है और परमात्मा भी उत्पत्ति रहित अनादि है। तो दोनोंमें फर्क क्या है? परमात्मा आत्मरूप होनेके कारण अकल्पित अनादि है, माने हमारा अपना अस्तित्व कल्पना सिद्ध नहीं है, हमारा अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है; और अविद्या कल्पित अनादि है।

अच्छा, उत्पत्ति रहित अनादि पदार्थ भी दो तरहका होता है—एक अकल्पित, एक कल्पित। तो लो, यह ब्रह्म साक्षात्कारात्मक जो वृत्ति है, यही अविद्याका चरम विकार है। जब तक वह क्षुद्र-क्षुद्र पदार्थोंका आश्रय लेकरके भटकती रहती है, अपने कल्पित विषयमें रमती है, तबतक बनी रहती है। और जब अपने अधिष्ठान और अपने प्रकाशक ब्रह्मके आकारको पकड़नेकी चेष्टा करती है, उस समय ब्रह्माकाराकारित होते ही अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाती है। इसलिए जो स्वरूपभूत अकल्पित अव्यय तत्त्व है, वह न तो अस्मिता राग-द्वेष आदिके रूपमें परिणामको प्राप्त होता है, न तो

वह कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिको प्राप्त होता है, और न तो देहादि भावको प्राप्त होता है, वह तो ज्यों-का-त्यों रहता है। और यह अविद्या है जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप भ्रान्ति और भ्रान्तिके विलासके रूपमें परिणामको प्राप्त होती है। वहाँ अनुलोम और प्रतिलोम परिणामकी दृष्टिसे देखें तो वह अविद्या देहाकारताका परित्याग करके, प्राणाकारताका परित्याग करके, मनोमयताका परित्याग करके, जहाँ चरमावृत्ति परमावृत्तिके रूपमें ब्रह्माकारताको प्राप्त होगी, वहाँ वह कल्पित अनादि अविद्या भी विनाशको प्राप्त हो जायेगी। इसलिए अविद्याके साथ इस अव्यय परमात्माकी कोई तुलना नहीं है।

अब दूसरा विचार उठाते हैं। प्राय: यह देखनेमें आता है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिए—फिर यह अनादि सान्तकी बात कैसे? बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने अपनी पुस्तक *दर्शन और जीवन, चिद्विलास* में यह आपत्ति उठायी है कि जब तुम अविद्याको, मायाको, प्रकृतिको अनादि मानते हो तो उसको सान्त कैसे मान सकते हो? अनादि मायाको अनन्त मानना जरूरी है क्योंकि जब उसका जन्म नहीं हुआ तो मरण कहाँसे होगा? हम मानते हैं कि उन्होंने भी दर्शनशास्त्रका विचार किया है, सत्संग किया है, पर भाई हमलोगोंकी थोड़ी बात अलग रह जाती है। इसका निवृत्ति और प्रवृत्तिके साथ भी थोड़ा सम्बन्ध रहता है। अच्छा देखो, जो वस्तु अनादि होगी उसको कालधारामें हम अनन्त मान लेते हैं माने प्रवाहरूपसे नित्य मान लेते हैं। हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि अविद्याको अनादि मानकरके हम प्रवाहरूपसे नित्य भी मान लेते हैं, परन्तु कालकी धारामें नित्य होनेपर भी वह अनादि वस्तु परिपूर्ण है या नहीं? माने कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी देशसे अपरिच्छिन्न है या नहीं? यह प्रश्न उठेगा या नहीं? जैसे परमाणु है, परमाणुको नैयायिक लोग कालसे अपरिच्छिन्न मानते हैं। परमाणु अनादि है और परमाणु नित्य है। ठीक हैं, कालकी धारामें बैठ गयी बात। परन्तु परमाणु देशसे अपरिच्छिन्न है या नहीं?

अब आप देखो, परमाणुके बारेमें जरा विचार करो। हमने परमाणुका बहुत ध्यान किया है। परमाणुके बारेमें हम वैसे ही जानकारी प्राप्त करनेकी कोशिश करते थे। जैसे गौतम, कणादने की होगी। हम सोचते थे जैसे गौतमको, कणादको परमाणुका साक्षात्कार हुआ, आओ हम ठीक उसी

प्रकारसे परमाणुका साक्षात्कार करें। परमाणुका ध्यान करें, तो हमें भी परमाणुका साक्षात्कार होना चाहिए। ठीक है हमने परमाणुको अपना ध्येय बनाया। आओ परमाणु! हमारी आँखके सामने आओ, दृष्टिके सामने आओ। लेकिन आँखके सामने तो परमाणु नहीं आता था। नारायण! बात क्या होती थी कि जब वह दृष्टिके सामने आता था तो सावयव हो जाता था। और, दृष्टिके सामने नहीं आता था तो परमाणु नामकी कोई वस्तु है यह सिद्ध ही नहीं होती थी। आप इसपर विचार करके देखो कि परमाणु-अणुका परमरूप निरवयव है कि सावयव है? यदि यह बात मानें कि उसमें कोई अवयव नहीं है, तो दो परमाणुओंके योगसे अणु नहीं बनेगा, और तीन अणुओंके योगसे त्रिसरेणु नहीं बनेगा। दो परमाणुका एक अणु तो ठीक परन्तु दो परमाणु जब आपसमें जुड़े तो जुड़े कैसे जबकि परमाणु निरवयव हैं। और यदि परमाणु निरवयव और निर्गुण हैं तो परमाणु दो ही कैसे होंगे, एक हो जायेगा; और यदि उनमें पूर्वापर विभाग है माने यदि परमाणु सावयव है और यदि परमाणु संयोग धर्मी है अर्थात् यदि एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे संयोग होगा तो पूर्व दिशासे संयोग होगा तो पश्चिम दिशासे नहीं होगा और पश्चिम दिशासे संयोग होगा तो पूर्व दिशासे नहीं होगा। तब परमाणुसे अणु बनेगा कैसे? माने नहीं बनेगा इसका अभिप्राय यह हुआ कि परमाणुमें निरवयवत्व कल्पित है। और संयोग विभाग रूप गुण होनेके कारण परमाणु निर्गुण भी नहीं है। और पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा उसमें मौजूद है इसलिए यह देशसे दिक्‌से परिच्छिन्न ही है।

अब यह अव्यय जो आत्मा है यह जैसे कालसे अपरिच्छिन्न है, अनादि और अनन्त है वैसे यह देशसे भी अपरिच्छिन्न है। परापर विभाग, पूर्वापर विभाग इसमें बिल्कुल नहीं है। सावयवत्व नहीं है। संयोगित्त्व नहीं है, ऐसा है यह आत्मा।

अब देखो वस्तु परिच्छेदत्व भी आत्मा में नहीं है। यदि यह मानो कि परमाणुकी तरह आत्मा है तो एक देशमें आत्मा है, दूसरे देशमें आत्माका अत्यन्ताभाव है। तब अत्यन्ताभावसे ग्रस्त जो वस्तु है, उसका अधिष्ठान दूसरा होगा, प्रकाशक दूसरा होगा और वह बिल्कुल मिथ्या होगी, वह परमात्मा कैसे हो सकती है? तो गाविन्दाय नमो नमः।

अनादित्वात्—अनादि होनेके कारण यह परमात्मा काल परिच्छेदसे मुक्त अनादि और अनन्त हैं। और ठीक इसी प्रकार यह पूर्व और पश्चात् आदि विभागसे युक्त न होनेके कारण निर्गुण भी हैं, क्योंकि संयोग और विभाग तो गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये संख्या; परिमाण, पृथक्त्व, पर,, अपर, संयोग, विभाग—ये सब गुण हैं। तो निर्गुणत्वात्। निर्गुण होनेसे यह परमात्मा देशसे भी परिच्छिन्न नहीं है, परिपूर्ण है।

अच्छा अब दूसरी बात लेते हैं। अच्छा भाई मान लो यह परमात्मा देशमें भी भरपूर हो और कालमें भी भरपूर हो, माने काल भी परमात्मामें अध्यस्त हो और देश भी परमात्मामें अध्यस्त हो परन्तु हो सकता है यह देश-कालकी कल्पनाके अधिष्ठान-स्वरूप आत्मदेव जीवकी तरह सर्वज्ञ हों, सर्वशक्तिमान हों, परमदयालु हों, अन्त:करणवाले हों, एक-एक आदमीका लेखा-जोखा रखनेवाले अन्त:करणवाले हों और यह भी कि वह शान्त दशामें हों, घोर और मूढ़में न हों या घोर मूढ़में हों, शान्तमें न हों। और ये सर्वज्ञ होवें, ये सर्वशक्तिमान होवें, ये अन्त:करणवाले हों इन्द्रियवाले होंवे, विषयवाले होवें! तो देखो विषयका नाम भी गुण है, इन्द्रियका नाम भी गुण है, अन्त:करणका नाम भी गुण है, शान्त घोर मूढ़का नाम भी गुण है, सत्त्वरजस्तमका नाम भी गुण है।

सत्त्वोपाधिसे तो संज्ञा विष्णु हो जायेगी, रजोपाधिसे संज्ञा ब्रह्मा हो जायेगी, तमोपाधिसे संज्ञा रुद्र हो जायेगी और त्रिगुणमयी साम्यावस्थापन्न जो प्रकृति है उससे संज्ञा ईश्वर हो जायेगी। ये सब सम्भावनाएँ 'निर्गुणत्वात्'से काट दी गयीं। तो सम्पूर्ण गुणमय और गुणकृत उपाधियोंसे विनिर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वह **निर्गुणत्वात्** सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादिसे भी विनिर्मुक्त, सान्त:करणत्व सेन्द्रियत्व सविषयत्व आदिसे भी विनिर्मुक्त, सप्रकृतिकत्व आदिसे भी विनिर्मुक्त अयं परमात्मा अव्यय:—यह परमात्मा अव्यय है।

तो बोले—फिर तो कहीं और ही होगा यह? बोले—नहीं, **शरीरस्थोऽपि**—इसी शरीरमें है। यह परमात्मा *यद्यपि करोति तथापि न करोति न लिप्यते। यद्यपि शरीरस्थ:, शरीरस्थ इव, यद्यपि करोति इव यद्यपि लिप्यते इव तथापि न करोति न लिप्यते।*

यद्यपि यह शरीरमें है, तथापि शरीरमें ही नहीं है, शरीरमें होने जैसा है। शरीर तो आप जानते ही हैं। ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके शरीर होता है, पर अज्ञानी अपनेको शरीर मानता है और ज्ञानी अपनेको शरीर और शरीरकी जातियोंका, विशेष शरीर और विशेष विशेष जातियाँ—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और इनका अभाव, सबका अधिष्ठान और सबका प्रकाशक जानता है। इसलिए जैसे सर्पमें रज्जु है, अध्यस्तमें जैसे अधिष्ठान है, जैसे नीलिमामें आकाश है, जैसे स्वप्न दृश्यमें स्वप्न द्रष्टा है, जैसे प्रतिभासमान रजतमें शुक्तिका है, उसी प्रकार प्रतिभासमान, जो शरीर हैं उनमें—मनुष्य और मनुष्य जाति वाले अन्य शरीरोंमें, और पशु पक्षी—आदि जाति वाले शरीरोंमें इन सबमें और इन सबके अभावमें-अपना अखण्ड अनन्त स्वरूप स्वयं-प्रकाश अधिष्ठानके रूपसे विद्यमान है। और विद्यमान होते हुए भी तादात्म्याभाव—किसी भी शरीरसे तादात्म्य न होनेके कारण, भ्रान्ति न होनेके कारण, अविद्या न होनेके कारण, कहीं भी अहं-भाव न होनेके कारण—**न करोति न लिप्यते,** न तो यह कर्मका कर्ता ही है और न तो इसको कर्मका लेप ही होता है।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

यह प्रातिभासिक प्रकृति, प्रातिभासिक गुण, प्रातिभासिक स्वभाव, कर्मके प्रातिभासिक हेतु—'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।' इत्यादि, प्रातिभासिक ईश्वर, प्रातिभासिक जीव, इनके द्वारा जो कर्म किया जा रहा है, वह यह कर्म और कर्मका कर्ता दोनों दृश्यमान होनेपर भी वास्तवमें 'न करोति'—नहीं करता है।

आप देखो, स्वप्नमें अगर कोई बुरा काम हो जाता है तो उस समय तो ठीक मालूम पड़ता है कि मैंने किया। फिर जागनेपर उसका प्रायश्चित क्यों नहीं करते? अगर जागनेपर उसका प्रायश्चित करने लगो तो ऐसा सपना रोज आने लगेगा, भला! वह सपना रुकेगा नहीं, वह तो विपरीत प्रत्ययके उत्पादनसे परीत प्रत्ययकी उत्पत्ति होने लगती है। यदि जाग्रतमें स्वाप्निक प्रत्ययका प्रायश्चित करने लग जाओ तो वैसा स्वाप्निक प्रत्यय और दृढ़ हो जायेगा। रोज-रोज होने लगेगा। स्वप्नमें हुई हिंसाका या स्वप्नमें हुए अनाचार भ्रष्टाचारका जाग्रतमें प्रायश्चित क्यों नहीं करते? बोले—अरे वह तो

प्रातिभासिक शरीर था भाई, वह तो कुछ था ही नहीं। न शरीर था, न कर्म था, न कर्ता था। वहाँका कर्ता भी भ्रान्ति जन्य ही है और वहाँका धर्मशास्त्र भी, वहाँका नियन्ता भी भ्रान्तिजन्य है तो बोले—स्वप्न तो कालान्तरमें बाधित होता है—स्वप्नकालमें स्वप्न बाधित नहीं होता, जाग्रतकालमें बाधित होता है—परन्तु बोधदशामें तो ठीक इसी कालमें, इसी देशमें, इसी वस्तुमें, माने देश, काल, वस्तुका त्रैविध्य भासमान होनेपर भी, इसमें एक शरीर और उसके द्वारा होनेवाले कर्म भासमान होनेपर भी, और इसमें प्रातिभासिक कर्ता भासमान होनेपर भी, और इसमें प्रातिभासिक भोक्ता भासमान होनेपर भी, जो वस्तुतः आत्मवस्तु है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म और आत्मा नाम दो हैं—**न करोति न लिप्यते**। ब्रह्मात्मामें न कर्तापन है और न कर्मका लेप है, माने न तो कर्म करनेका अभिमान है और न भोग है। न करोति न लिप्यते।

आत्माके अकर्तापन और अलिप्तत्वमें दृष्टान्त

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (१३.३२.३३)

अर्थ—जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश सूक्ष्म होनेके कारण उपलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देहमें सर्वत्र अवस्थित आत्मा उपलेपको प्राप्त नहीं होता॥ ३२॥ जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार, हे भारत! एक ही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है॥ ३३॥

(१)

कहते हैं कि जो शब्दादि गुणसे युक्त आकाशादि पदार्थ हैं वे ही ज्ञेय होते हैं। जो निर्गुण पदार्थ होगा उसमें ज्ञेयका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। तब 'निर्गुण होनेके कारण अव्यय आत्मा न करता है न लिप्त होता है'—इस

कथनमें कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। अत: प्रश्न यह है कि **किं वत् न करोति न लिप्यते?** किसके समान यह आत्मा न करता है न लिप्त होता है?

इस प्रश्नके उत्तरमें ही ये दो श्लोक एक सरीखे और विलक्षण ढंगसे कहे जाते हैं। एक आकाशके दृष्टान्तसे अधिष्ठानकी दृष्टिसे आत्माको अकर्ता बतानेके लिए है और एक सूर्यके दृष्टान्तसे प्रकाशककी दृष्टिसे आत्माको अकर्ता बतानेके लिए है।

आकाश कहो या प्रकाश कहो, आकाश और प्रकाश असलमें दो नहीं हैं। आकाशमें 'आ' उपसर्ग काश के पहले लगा है और प्रकाशमें 'प्र' उपसर्ग काशके पहले लगा है; और काशका अर्थ है दीप्ति। आकाश और प्रकाशमें एक ही धातु है। अच्छा, आकाशके बिना क्या प्रकाश होगा? नहीं। आकाश-स्वरूप ब्रह्म प्रकाश-स्वरूप है और प्रकाश-स्वरूप आत्मा आकाश-स्वरूप है। ब्रह्म प्रत्यक् चैतन्य है और प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म है। आकाशवत् ब्रह्म है और प्रकाशवत् प्रत्यक् चैतान्य है। और प्रकाशवत् प्रत्यक् चैतन्य आकाशवत् ब्रह्म है।

अब आओ श्लोकपर विचार करें। यहाँ **भारत** अर्जुनका सम्बोधन है। अर्जुन श्रीकृष्णका बड़ा मित्र है। श्रीकृष्ण जब अर्जुनको 'कौन्तेय' बोलते हैं तो अपने वंशकी महिमा बोलते हैं और जब 'भारत' बोलते हैं तब अर्जुनके वंशकी महिमा बोलते हैं। देखो बोलनेमें यह सावधानी है। अगर किसी आदमीकी तुम तारीफ तो करो पर यही कहते रहो कि यह हमारे सम्बन्धी हैं तो उस आदमीको अपने अपमानका अनुभव होगा। वह सोचेगा कि हमारे अन्दर तो कुछ बड़प्पन है नहीं, इनके सम्बन्धी होनेसे ही हम बड़े आदमी हैं। यह बात मैंने प्रत्यक्ष देखी! कलकत्तेमें एक सेठके घर गया था। एक लड़केने आके प्रणाम किया; खूब स्वस्थ, बड़ा सुन्दर था। सेठने बताया कि यह बिड़लाजीका जमाई है। मैंने कहा—बहुत अच्छा। अब उसका बाप तो महाराज आग बबूला हो गया। उसने कहा-मैं यहीं खड़ा हूँ, तुम मेरा अपमान करते हो? तुम यह क्यों नहीं कहते कि इनके लड़के हैं! स्वामीजी हमको भी जानते हैं। हमारा लड़का समझके क्या नहीं पहचानेंगे? बिड़लाका जमाई कहनेसे ही पहचानेंगे? हमारा अपमान करते हो? बोले—

नहीं-नहीं, भाई ये भी करोड़पति आदमी हैं, बड़े घरका लड़का है, बड़ा ऊँचा खानदान है, यह तो हमारा ही लड़का है, इसलिए हमने इसके बापका परिचय नहीं दिया!

तो कौन्तेय क्या है? कि कुन्ती वसुदेवजीकी बहन है और श्रीकृष्णकी बुआ हैं। इसलिए कौन्तेय माने यह कि तुम हमारी बुआके लड़के हो, यह बात तुम्हारी समझमें जरूर आ जायेगी, हम बड़े प्रेमसे बताते हैं। अथवा कुन्त शब्दका अर्थ है संगीन, जो बन्दूकके सिरेपर लगाते हैं। अतः कुन्ती माने तीक्ष्ण बुद्धि—*दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः* तुम कुन्तीनन्दन हो, तो तुम्हारी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। कुन्तीकी बुद्धि भी बड़ी तीक्ष्ण थी। उसने तो अर्जुनके पास खबर भेजी थी कि—

यदर्थं क्षत्रियासूते तस्य कालोऽयमागतः।

एक क्षत्रिय स्त्री जिस कामके लिए बच्चा जनती है, उसको पूरा करनेका समय आ गया है।

तो कुन्ती बड़ी समझदार थी। और भारत माने-भरतवंशोद्भव। भरत वंश तो आप जानते ही हैं, कितना पवित्र है। भरतका तो क्या कहना, पाँच वर्षकी अवस्थामें शेरको एक हाथसे पकड़के दूसरा हाथ उसके जबड़ेमें डालके उससे खेलता था। वह बहादुर था। अथवा **भा** माने प्रतिभा उसमें जो **रत** माने लगा हुआ सो भारत। *भायां प्रतिभायां रतः भारतः। तत्संबुद्धौ हे भारत*—तुम प्रतिभाशाली हो, इसलिए यह बात समझोगे।

अब आकाशकी बात देखो।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

यह आकाश सबमें है। भीत (दीवार) में आकाश है कि नहीं? यदि इसमें-से थोड़ी-सी माटी निकाल ली जाये, सीमेन्ट-ईंट निकाल लिया जाये, तो भीतरसे पोल निकलेगी जिसमें हाथ निकाल सको और डाल सको। अच्छा तो वह पोल क्या ईंट निकाल लेनेपर भीतर घुस जाती है कि पहलेसे मौजूद रहती है। ईंट ही हटानी पड़ती है, आकाश घुसेड़ना नहीं पड़ता। ईंट हटानेसे वहाँ पोल दिखती है, पोल वहाँ प्रविष्ट नहीं करनी पड़ती।

अब आप लोग तो सब विद्वान् हैं, लेकिन बचपनमें यह बात हमको नहीं मालूम थी। हमको याद है हम अपना बस्ता काँखके नीचे दबाये पढ़नेके

लिए जा रहे थे, तो हमको ठाकुर प्रसिद्ध नारायण सिंहजी मिल गये। वे थे तो हमारे बाप-दादाके शिष्य, हमसे तो बहुत बड़े थे, तो बोले—बाबाजी, यह बताओ कि जब आदमी घड़ा लेके चलता है तो उसके घड़ेमें जो पोल है, वह घड़ेके साथ-साथ चलती है कि नहीं? मैंने कहा— चलती है। जैसे उसमें गेहूँ भर लें तो घड़ेके साथ गेहूँ चलता है और पानी भर लें तो घड़ेके साथ पानी चलता है, उसमें धुआँ भर लें तो घड़ेके साथ धुआँ चलेगा, वैसे ही जब घड़ा चलता है तो उसके साथ आकाश भी चलता है। वे बोले—कि अच्छा यह हाथ हिलाते हैं तो क्या पोल हटती जाती है और हाथ बढ़ता जाता है? या कि पोल जहाँकी तहाँ रहती है और हाथ उसमें चलता है?

देखो बचपनकी बात आपको सुनाते हैं खैर, आप तो हम सरीखे बच्चे नहीं हैं। उन्होंने कहा—देखो पोल नहीं हटती है, हाथ ही हटता है, पोल तो जहाँकी तहाँ रहती है।

अब देखो, इस आकाशमें सूर्यकी रोशनी फैल जाती है, रोशनी आती है और जाती है; कभी इसमें चाँदनी छिटकती है, तो चाँदनी आती है और चाँदनी जाती है; लेकिन आकाश बिल्कुल एक सरीखा रहता है। रातका अँधेरा आता है और जाता है, दिनका उजाला आता है और जाता है। अच्छा अब आकाशका इन आने जाने वाली वस्तुओंके साथ जो सम्बन्ध है, उसपर विचार करो। क्या इन वस्तुओंके साथ अथवा प्रकाश और अंधकारके साथ आकाशका व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध है? सीता-राम कहो! आकाशमें (आकाशके स्व-रूपमें) नीलिमा है ही नहीं, आकाशमें प्रकाश है ही नहीं, आकाशमें अन्धकार है ही नहीं। यह आकाश तत्त्वका विचार करोगे तब बात समझमें आयेगी। कार्य-कारणकी दृष्टिसे देखो तो ठोस (कठोर) तत्त्वका नाम पृथिवी है, तरल तत्त्वका नाम जल है, गैसका नाम अग्नि है और गतिका नाम वायु है और ये सब जिसमें होते हैं उसका नाम आकाश है। आकाश किसीमें प्रविष्ट हुए बिना ही सबमें विराजमान है। यह नहीं कि जब नीलिमा बनी तब आकाश उसमें प्रविष्ट हुआ या कि जब प्रकाश आया तब आकाश उसमें घुस गया; या कि जब धूल उड़ने लगी तब आकाश उसमें घुस गया। अरे, आकाश तो पहलेसे अपनी जगह पर मौजूद है। उसमें कभी तूफान उठता है कभी शान्त होता है। कभी बादल आते हैं कभी मिट जाता हैं, कभी

उसमें अन्धेरा आता है और कभी मिट जाता है। आकाश किसी चीजके पैदा होनेपर उसमें घुसता नहीं, वह तो पहलेसे मौजूद है, वह चीज ही उसमें उठती दिखती है। आकाशमें बादल उठा और बादल मिट गया। बादल क्या चीज है? बादलमें कुछ नहीं है, कोई तत्त्व ही नहीं है बादलमें। हे भगवान् उसीमें-से पानी बरसता है, पर वह स्वयं वस्तु नहीं है।

कहते हैं कि परमात्मा तो है आकाशकी तरह और माया है उसमें बादलकी तरह और यह जो प्रपंच है, यह उसकी बूँदें हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उस माया रूपी बादलकी बूँदे हैं और परमात्मा आकाशकी तरह है। तो पहले एक श्लोक हम बोलते थे, उसका अर्थ था—

कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा कुम्भाम्बरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः।
अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां नैतावतापि मम चिद्वपुषो विशेषः॥

चाहे घड़ा फूट जाये, चाहे घड़ा बना रहे परन्तु जो घटाकाश है, उसमें विशेषलेश नहीं है। यह शरीर चाहे आज नष्ट हो जाये, या चन्द्र सूरजके बराबर रहे, मुझ चिदाकाश, (चिदांभास नहीं) चिन्मात्र अद्वितीय वस्तुमें लेश कहाँ?

एक घड़ेमें मूत्र भरा हो, एक घड़ेमें शराब भरा हो, एक घड़ेमें अमृत भरा हो, आकाशके साथ न मूत्र का सम्बन्ध है, न शराबका सम्बन्ध है, न अमृतका सम्बन्ध है। आकाश अशुद्ध नहीं होता। यह नहीं कि घड़ेमें यदि यहाँ गन्दी चीज रखी हो और फिर घड़ेको यहाँसे हटालो, तो मेजको भले अशुद्ध मानो, धो लो, और घड़ेको भी ले जाके तोड़ दो, लेकिन आकाशका प्रक्षालन नहीं होगा। जैसे आकाशके साथ धूलिका, पंकका, अन्धकारका और प्रकाशका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार चिदाकाशके साथ पाप पंकका अथवा पुण्यामृतका कोई सम्बन्ध नहीं है।

तो **यथा सौक्ष्म्याद् हेतोः सर्वगतं आकाशं न उपलिप्यते**—जैसे सबमें पहलेसे रहने वाला, सबमें विद्यमान आकाश उपलिप्त नहीं होता। 'कथं न उपलिप्यते? सौक्ष्म्याद् हेतोः।' सूक्ष्मताके कारण। आकाश इतना सूक्ष्म है कि इसको दुनियाँकी कोई चीज छू नहीं सकती। इसी प्रकार 'देहे सर्वत्र अवस्थितः आत्मा सर्वत्र देहे इति, देहे सर्वत्र च।' अन्वय दोनों तरफसे है। 'सर्वत्र देहे'—सारे शरीरमें आत्मा स्थित है। या 'सर्वत्र च देहे च

अवस्थितः' आत्मा—इस देहमें भी वही है और सर्वत्र भी वही है। जैसे रज्जु अधिष्ठानमें सर्प है, जैसे स्वप्न द्रष्टाकी दृष्टिमें स्वप्न-पुरुष है; वैसे आत्मामें एक शरीर और अनेक शरीर हैं।

शरीरको शरीर क्यों कहते हैं? कि *शीर्यते इति* मरता है। क्षण-क्षण छीजता है, इसलिए शरीरको शरीर कहते हैं। यह रहेगा नहीं—'*चार दिनोंकी चाँदनी, फिर अन्धेरी रात।*' जैसे सपनेमें एक आदमी चमक जाता है वैसे ही यह शरीर थोड़ी देरके लिए चमक जाता है, यह रहता नहीं है। जैसे शरीर नहीं रहता, ऐसे प्राण भी नहीं रहते, ऐसे मन भी नहीं रहता, ऐसे बुद्धि भी नहीं रहती। ऐसे सुषुप्ति भी नहीं रहती, ऐसे संसारके सुख-दुःख भी नहीं रहते, ऐसे वृत्ति और निर्वृत्तिकता भी नहीं रहती। समाधि भी नहीं रहती, प्रकृति भी नहीं रहती। माया भी नहीं रहती। अपने अखण्ड स्वरूपमें, अपने परमात्म स्वरूपमें कुछ नहीं रहता। अतः **नोपलिप्यते**।

एक अपनी बचपनकी बात सुनाता हूँ। यह जो नीला-नीला आकाश दिखता है, आकाशमें तल दिखता है मलिनता दिखती है—*यथा बालैः गगने तल-मलिनतादिः अध्यस्यते।* श्रीभगवान् शंकराचार्य बोलते हैं, जैसे बच्चे आकाशमें तल देखते हैं कि जैसे पृथिवी तलपर हम चलते हैं वैसे आकाशतल वह ऊपर दिखायी पड़ रहा है। तो बचपनमें हम सोचते थे कि अगर कोई बड़ा लम्बा बाँस रहता, ऊँचेसे ऊँचा बाँस होता, तो इस नीलिमाको जरा खोदते कि इसमें-से क्या निकलता है। जैसे बादलमें-से पानी बरसता है वैसे इस नीलिमामें-से कुछ बरसता है कि नहीं? फिर मन होता कि जब कभी बड़े होंगे तो चलेंगे किसी तरफ पूर्वको, पश्चिमको, तो यह जो नीलिमा धरतीको छू रही है, वहाँ पहुँचके देखेंगे कि वहाँ क्या है! बचपनमें हमने ऐसा सोचा था। आपको क्या बतावें मनमें ऐसा आता था कि आजकल अंग्रेज राजा हैं, तो हम कैसे इनको भारतवर्षसे निकालके हम स्वयं सम्राट् बन जायेंगे। ऐसा मनमें आता था कि हम पहले अपने महाइच परगनेमें, ऐसा संगठन करें, फिर जिलेका ऐसा करें, फिर प्रान्तका ऐसा करें फिर राष्ट्रका ऐसा करें और एक दिन हम सम्पूर्ण पृथिवीके सम्राट हो जायें। शक्ल सूरत तो बहुत छोटी थी, पर ख्यालमें ऐसी बात आती थी कि हम विश्वके सम्राट् बनेंगे। छोटे-मोटे गाँवके जमींदार बनेंगे-यह ख्याल नहीं

आता था। तो यह जो आकाश है, इसकी नीलिमाको कभी छू लेंगे—ऐसा ख्याल आता था। अच्छा, फिर मनमें यह आता था कि अगर मान लो उड़ने लगें तो जब इस नीलिमाके भीतर घुसेंगे तो हमारा कपड़ा रंग जायेगा कि नहीं?

असलमें आकाशमें यह नीलिमा कुछ है नहीं। तो नीलिमा क्या आकाशमें लिप्त है? किस सम्बन्धसे नीलिमा आकाशमें रहती है? आपको मालूम है? कौन-सा सम्बन्ध है यह? क्या संयोग सम्बन्ध है या समवाय सम्बन्ध है? जैसे दो अंगुली जुड़ गयीं आपसमें, यह संयोग सम्बन्ध है जैसे सूत आपसमें जुड़ गये तब कपड़ा बना; यह समवाय सम्बन्ध है। सम्बन्ध कौन-सा सम्बन्ध है? जैसे जाति-व्यक्तिका अथवा गुण गुणीका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है, वैसा है कि जैसे संयोग सम्बन्ध होता है, वैसा सम्बन्ध है? नीलिमाका आकाशके साथ कौन-सा सम्बन्ध है? कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दूसरी कोई चीज नहीं है। नीलिमा तो है ही नहीं तो सम्बन्ध कहाँसे होगा? इसलिए आकाश और नीलिमामें आध्यासिक सम्बन्ध है। माने आकाशके स्वरूपको न जाननेके कारण उसमें नीलिमा देखते हैं और फिर आकाश और नीलिमाके सम्बन्धकी कल्पना करते हैं। दूसरी चीज ही नहीं है तो रिश्ता कहाँसे बनेगा?

लोग बताते हैं कि हमारी जो पत्नी मर गयी है वह रातको हमारे पास आती है। आप इसको क्या समझते हैं? वेदान्तमें वर्णन है—*नष्टवनिता साक्षात्कारवत्* अरे, ध्यान करते-करते मर गया तुम्हारा मन! खुद तुम्हारा मन ही मुर्दा हो गया है जो 'मुर्देसे मुर्दा मिलने आता है'—ऐसा तुमको मालूम पड़ता है। यह 'नष्ट वनिता साक्षात्कार' जैसे एक मनोविकार है, इसी प्रकार यह आकाश और नीलिमाका सम्बन्ध मनोविकार है। और इसी प्रकार स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न ब्रह्मके साथ इस प्रपंच और अविद्या और मायाका जो सम्बन्ध है वह तुम देहमें बैठके सोचते हो तब है—आध्यासिक सम्बन्ध है वास्तविक नहीं है। आकाशका किसीके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, वैसे एक देहमें और सर्वदेहमें अवस्थित यह जो आत्मदेव हैं, इनका किसीसे भी किंचित् भी दूसरा सम्बन्ध नहीं है।

यह प्रसंग फिर आपको कल सुनायेंगे।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ १३.३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ १३.३२
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ १३.३३

परमात्मा अयं कस्मात् अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्मा माने आत्माका परम स्वरूप, निरुपाधिक आत्मा उपाधिसे जो संश्लिष्ट आत्मा है उसको जीवात्मा बोलते हैं—कर्ता-भोक्ता, और जो उपाधिसे विविक्त आत्मा है, उपाधि जिसमें कल्पित है, जो उपाधिका अधिष्ठान है, जो उपाधिका प्रकाशक है उस आत्मदेवको परमात्मा बोलते हैं। अपना ही नाम परमात्मा है, जब वह ब्रह्म रूपसे ज्ञात हो। और अपना ही नाम जीव है जब अपना स्वरूप अज्ञात हो। अपना नाम जीव है, कब? जब अपना स्वरूप ज्ञात न हो। और अपना ही नाम परमात्मा है जब अपना स्वरूप ज्ञात हो। केवल ज्ञातत्व-अज्ञातत्वकृत विशेष है, वस्तुतः परमात्मामें कोई विशेष, कोई भेद नहीं है।

तो अनादित्वात् अयं परमात्मा अव्ययः अनादि होनेके कारण यह अव्यय है। क्योंकि जो वस्तु आदि वाली होती है—जायते, जिसका जन्म होता है उसमें अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति जन्मके साथ ही आदिके साथ ही सब भाव विकार लगे हुए हैं। तो जिसका जन्म ही नहीं है, उसमें अस्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश नहीं हो सकते। तो नैयायिकोंने कहा कि हमारे एक प्रागभाव नामकी वस्तु है, वह अनादि भी है और विनाशी भी है, वह अव्यय नहीं है। प्रागभाव क्या? कि जैसे घड़ेकी शक्ल पहले नहीं थी, तो घड़ा बननेसे पहले घड़ेका न होना घड़ेका प्रागभाव है। यह अनादि है, लेकिन उसका नाश हो जाता है। जब घड़ेकी उत्पत्ति होती है, घड़ेकी शक्ल बनती है तो उसका न होना मिट जाता है। तो अनादित्व हेतु अव्यय होनेमें साधक नहीं है।

तो पहली बात तो यह है कि वेदान्तियोंके मतमें प्रागभाव नामका कोई पदार्थ ही नहीं है। वेदान्ती लोग अभावको अधिष्ठानसे भिन्न नहीं मानते हैं।

अभाव अधिष्ठान स्वरूप ही है। प्रागभाव तो कालपरिच्छिन्न एक कल्पना मात्र है। अच्छा तो घटकी आकृति कोई पदार्थ होगी! कि सीताराम कहो, वेदान्तियोंके मतमें जो बनी-बनायी घटकी शक्ल है वह आकृति भी पदार्थ नहीं है। **मृत्तिकेत्येव सत्यम्।** तो न घट पदार्थ है न घटाभाव पदार्थ है, ये दोनों अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार प्रत्यक् चैतन्यके अनन्तत्वका ज्ञान न होनेके कारण गृहीत जो नाम रूपात्मक प्रपंच है इसका होना और न होना दोनों स्वप्रकाश अधिष्ठानमें कल्पित है और स्वप्रकाश अधिष्ठानसे न्यारा नहीं है।

बोले-ठीक है, *'अनादित्वात् न विकरोति किं पुनः न करोति'*। विकार जिसको बोलते हैं—'जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'—वह अनादि पदार्थमें होते ही नहीं हैं। तो जब अनादिमें, अजन्मामें, षड्भाव विकार नहीं हैं, स्वयं होने वाले विकार नहीं हैं, विक्रिया नहीं है, तो क्रियाकी प्राप्ति ही कहाँसे होगी?

अब दूसरा हेतु बताया-निर्गुणत्वात्। निर्गुणत्वात्का अर्थ है निर्धर्मकत्वात्। निर्धर्मक होनेके कारण। एकने कहा कि नहीं, आत्मामें तो धर्म है। नैयायिक और वैशेषिक ऐसा मानते हैं कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख-दुःख संस्कार—ये आठ आत्माके धर्म हैं, गुण हैं। तो न्याय वैशेषिक भले मानें पर यह गीताके विरुद्ध हो गया। कैसे? अरे, इसी तेरहवें अध्यायमें **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥** इच्छा-द्वेष-सुख-दुःखादिको क्षेत्र माना है। यह आत्मा अथवा आत्माका धर्म नहीं माना है। तो इसका मतलब हुआ इच्छाका, रागका होना न होना और द्वेषका होना न होना, सुख-दुःखका होना न होना, धर्माधर्मका होना न होना, प्रयत्न संस्कारका होना न होना—ये आत्मामें आरोपित हैं, वस्तुतः आत्मामें नहीं हैं। तो धर्माधर्म भाव आत्मामें वास्तविक नहीं हैं, अध्यारोपित है। तो बात क्या निकली? कि **न करोति न लिप्यते।** 'अनादित्वात् न करोति। निर्गुणत्वात् न लिप्यते'। अनादित्वात् माने षड्भाव विकारसे शून्य होनेके कारण उसमें कर्तृत्व नहीं है, कर्म नहीं है, कर्मका सम्बन्ध नहीं है और निर्गुणत्वात् लेप नहीं है। उसमें इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, त्रिगुण नहीं, धर्माधर्म नहीं, धर्माधर्म जिस अन्तःकरणमें संस्कार रूपसे रहते

हैं वह अन्तःकरण ही नहीं और अन्तःकरणमें जिन त्रिगुणके कारण धर्माधर्मके भेदकी भावना बनती है, वह त्रिगुण ही नहीं, प्रकृति ही नहीं परमात्मामें, तो लेप कहाँसे होगा?

अब इसपर कहते हैं कि माना कि आत्मा अनादि और निर्गुण है परन्तु देखनेमें यह आता है कि जिससे जिसका संसर्ग होता है उसमें थोड़ा दोष थोड़ा गुण आ जाता है।

शुष्केन आर्द्रं दह्यते मित्रभावात्।

सूखी लकड़ीके साथ गीली लकड़ी लगा दो तो साथ रहनेसे दोनोंमें मैत्री हो जाती है। इससे यह होता है कि जब सूखी लकड़ी जलती है तो उसके साथ-साथ गीली लकड़ी भी जल जाती है।

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

संसर्गसे दोष और गुण होते हैं। यह श्लोक हमको बचपनमें हमारे बाबाने बताया था।

अहं मुनीनां वचनं शृणोमि शृणोत्ययं वै यवनस्य वाक्यम्।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥

महात्मा लोगोंके पास एक तोता बचपनमें ही आ गया था। वे रोज उठें और बोलें कि अरे दत्ताराम सीताराम कहो, राम-राम कहो, जय जय सीताराम, सीताराम। तोता भी रोज बोले-जय-जय-सीताराम। थोड़े दिनोंमें जब आदत पड़ गयी तो महात्मा लोग सोते हों तब भी वह बोले—जय-जय सीताराम! उठो महात्मा जी, भजन करो! क्यों सो रहे हो! तो महात्माओंको बहुत पसन्द आया कि यह तोता तो बहुत अच्छा है। तो एक दिन दूसरा तोता जाके बाजारमें-से ले आये। अब वह आया, सवेरा हुआ तो बोले कि अरे ओ कल्लू ओ मल्लू, उठ-उठ, मार-मार, काट-काट। कि छोड़ जा बन्ने पे। महात्मा लोगोंने कहा कि यह तो बड़ा दुष्ट है भाई, रोज सवेरे उठके मार-मार काट-काट करता है, इसको निकाल दो। तो वह जो पहले वाला तोता था वह बोला कि महाराज उसका कोई दोष नहीं—

अहं मुनीनां वचनं शृणोमि—मैं बचपनसे आप लोगोंकी बात सुनता हूँ-सीताराम जय-जय राम शिवोऽहम् शिवोऽहम्, गुरुभाई तीन कालमें सृष्टि हुई नहीं, न कुछ हुआ, न है 'कछु न कछु होवनहार' मैं तो सवेरे-सवेरे यह

सुनता हूँ। और यह कसाइयोंके घरमें था, हमारा भाई है। एक ही मा-बापसे हम दोनों पैदा हुए हैं, पर यह रहा है कसाईके घरमें और मैं महात्माओंकी बात सुनता हूँ। वही दुहरा रहा है। तो *न चास्य दोषो न मे गुणोऽस्ति।* न इसमें कोई दोष है, न मुझमें कोई गुण है। **संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**—ये दोष और गुण संसर्गसे होते हैं।

तो माना कि आत्मा अनादि है, निर्गुण है, परन्तु जब इस सादि और सगुण शरीरके साथमें पड़ गया तो इसमें रहकरके शुद्ध रहे असंभव है। *'काजलकी कोठरीमें कैसोहू सयानो जाय, काजरकी एक रेख लागि है पै लागि है।'* यह शरीर ऐसा है, आपको क्या सुनावें, बढ़ियासे बढ़िया रेशमी कपड़ा भी एकबार पहन लो तो वह फिर देवताको चढ़ाने लायक नहीं रहता है, गुरुको देने लायक नहीं रहता है। एकबार आभूषण धारण कर लो सोनेका, जो कभी अपवित्र ही नहीं होता, वह फिर देवताको पहनाने लायक नहीं रहता।

यं प्राप्यति पवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च।
अशुचित्वं क्षणात् यान्ति, किमन्यदाशुचिस्ततः॥

जिस शरीरके सम्पर्कसे पवित्र वस्त्राभूषण भी अपवित्र हो जाते हैं, उस शरीरसे बढ़करके अपवित्र और क्या होगा सृष्टिमें? सबसे अशुचि सबसे अपवित्र तो यह शरीर है।

और ये आत्मदेव जो हैं, ये इसी शरीरमें रहते हैं। तो तुमने जो कहा कि **न करोति**, वह तो अनादित्वात् निर्गुणत्वात् सिद्ध हो गया। परन्तु **न लिप्यते**—यह तो सिद्ध नहीं हुआ। वह करता नहीं है सो तो ठीक है, लेकिन जब देहमें होगा तो कोई थोड़ा बहुत लेप देहका होगा ही होगा। बोले—भाई देखो नीलिमाके अन्दरसे कोई उड़ता हुआ जाये तो दूसरे देखनेवालेको तो भले दिख जाये कि उसे नीलिमा लग गयी है, लेकिन उस व्यक्तिको यह बात नहीं मालूम पड़ सकती कि नीलिमा हमारे शरीरके साथ चिपक गयी है क्योंकि यह जो आत्मा है वह एक शरीरमें परिच्छिन्न नहीं है। बड़ी अद्‌भुत लीला है इसकी, यह तो सब शरीरोंका अधिष्ठान है।

अधिष्ठान माने आप जानते हैं जैसे प्रतीयमान झूठे सर्पका अधिष्ठान रज्जु है। सच्चा साँप रस्सीमें नहीं लिपटा है। रज्जुको न जानने वाला अज्ञानी

जिस चीजको साँप देख रहा है, रज्जुको जाननेवालेकी दृष्टिमें ठीक वही रज्जु है। अज्ञानीकी दृष्टिमें जो सर्पकी लम्बाई है, चौड़ाई है मोटाई है, जो उसमें पूँछकी ओर पतलापन है, सिरकी ओर मोटा है, जो लपलपाती हुई जीभ है, जो हिलता हुआ फन है, अधिष्ठान रूप रज्जुको न जाननेवालेकी दृष्टिमें जो वस्तु सर्प है ठीक वही वस्तु तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें रज्जु है। रज्जुमें न सर्प आया, न गया, न लिपटा, न था, न है, न होगा, केवल अज्ञान मात्र विभात है। इसका नतीजा क्या है, आप इसपर ध्यान दोगे तब मालूम पड़ेगा। अज्ञानीकी दृष्टिमें जो प्रपंच है, इसका पैदा होना, इसका प्रलय होना, इसका स्थित होना, इसमें गुण दोष होना, इसमें अपना पराया होना, अज्ञानीकी दृष्टिसे यह जैसा गुण दोष रूप प्रपंच भास रहा है, तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें यह लाठी मारे बिना, यह उत्पत्ति-प्रलय हुए बिना ज्यों-का-त्यों ब्रह्म स्वरूप है, इसमें कोई फर्क नहीं है। *अज्ञश्च विज्ञश्च विश्वमस्ति।* तो—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

आकाशका दृष्टान्त देकर बताते हैं - 'सर्वगत' शब्द जैसे आकाशके लिए यहाँ आया है वैसे गीतामें आत्माके लिए भी आया है, भूल नहीं जाना।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (२.२४)

नित्यः कालापरिच्छिन्नः। सर्वगतः देशापरिच्छिन्नः। नित्य होना माने कालसे न कटना। प्रागभाव प्रध्वंसाभावसे मुक्त होना—यह तो नित्यता है। और *सर्वगतः क्या? इह आत्मा नाऽस्ति—इह देशे इदानीं आत्मा न अस्ति* इत्याकारक जो प्रत्यय है उस प्रत्यय देशमें भी आत्मा विद्यमान है—यह आत्माका सर्वगतत्व है। *नास्तीति, ईश्वरः इत्युक्तः नास्ति न भवति। अस्त्युक्त ईश्वरः अस्ति न भवति।*

ईश्वरकी यही विशेषता है कि उसको नास्ति कह दो तो तुम्हारे बोलने भरसे वह नास्ति नहीं हो जायेगा और उसको अस्ति बोल दो तो तुम्हारे कहने भरसे वह अस्ति नहीं हो जायेगा। असलमें जो अस्ति-नास्ति बोल रहा है उसके साथ एक बनके वह बैठा हुआ है। तो अस्ति-नास्ति यह वचन और अस्ति-नास्ति यह वृत्ति दोनोंका साक्षी और दोनोंका अधिष्ठान है ईश्वर अथवा आत्मा।

तो '**न लिप्यते**'- *यथा सर्वगतं आकाशम् सर्वगत: आत्मा सर्वगतं आकाशं।* आकाशकी उपमा देते हैं। अब यह सर्व क्या और उसमें गतत्व क्या? तो—

आकाशाद् वायु: वायोरग्निरग्नेराप: अद्भ्य: पृथिवी पृथिव्या अन्नं अन्नादिमानि भूतानि जायन्ते। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ये सब औषधियाँ और औषधियोंसे ये भिन्न-भिन्न जातिवाले प्राणी-मनुष्य, पशु-पक्षी आदि उत्पन्न होते हैं। अब बताओ आकाशसे वायु आकाशके भीतर उत्पन्न हुई कि आकाशसे बाहर? वायुमें अग्नि वायुदेशमें या बाह्यदेशमें? देखो, कहनेका अभिप्राय क्या हुआ कि आकाश ज्यों-का-त्यों है और इसीके पेटमें वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और भूत हैं। अच्छा तो ये आकाशके सर्वदेशमें हैं कि एकदेशमें? यहाँ देखो कार्यकारणभाव समस्त भूत बिल्कुल स्पष्टम्-स्पष्टम् आकाशमें रह रहे हैं और आकाश जैसे अपने कार्यमें व्याप्त होकरके ही रहता है और अपने कार्यसे लिप्त नहीं होता—प्राणी मरें चाहे जरें, अन्न पैदा हो चाहे न हो, धरती चाहे घूमे चाहे स्थिर रहे, जल हो कि न हो, सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि रहें कि न रहें, हवा चले कि न चले—आकाश अपनेमें बिल्कुल ज्यों-का-त्यों बैठा हुआ है; उसी प्रकार आत्मा अलिप्त है।

जैसे आकाश अपने कार्यमें अन्वित है, ऐसे आत्मा भी अपने कार्यमें अनुगत है। लो, अब वेदान्ती हो तो डण्डा ही मारने दौड़े। आत्मामें क्या कार्य कारण भाव है? क्या आत्माके कोई बीबी-बच्चे, धन-दौलत, कर्म-धर्म हैं? क्या ये सब आत्मामें लगे हुए हैं? तो आत्माका कार्य कैसा? तो आप देखो हम लोग तो सनातन धर्मी हैं न, जैसा देवता होता है वैसा उसका धर्म होता है। आप जानते ही हैं।

यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहन: खर:।

शीतला देवी जैसी हैं उनका वाहन गधा भी वैसा ही है यह संस्कृतमें एक कहावत है, लोकोक्ति है, यह शीतला देवीके तिरस्कारके लिए नहीं है।

हम लोग एक जगह किसी सेठके आमन्त्रणपर गये थे, जरा गाँव था। बड़े सेठ थे और साथ ही बैठे थे मोटरपर, तो उन्होंने बताया कि स्वामीजी जब हिन्दुस्तानमें मोटर नहीं थी, तो पंडित मोतीलाल नेहरुने मोटर खरीदी

थी और मैंने मोटर खरीदी थी। उस समय मोटरमें फाटक नहीं हुआ करते थे, खुली मोटर और फाटक नदारद। बोले—इतनी पुरानी मोटर हमने रख छोड़ी है। पच्चीस मील जाना था, चार घण्टेमें गये हमलोग सेठजी साथ बैठे हुए थे, जितने पुराने सेठ उतनी पुरानी मोटर। *यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः।* दादाजी भी साथ होंगे मैं समझता हूँ।

तो आकाशका कार्य होता है आकाशमें। आकाश जड़ है, जड़का कार्य दूसरे प्रकारसे होता है और आत्मा चेतन है, उसका कार्य दूसरे प्रकारसे होता है। बड़े-बड़े विशिष्टाद्वैतके जो विद्वान् हैं, उनसे मैंने यह बात पूछी अयोध्यामें जाके। हम तो सबके पास जाते हैं भला! गौड़ेश्वरोंमें दामोदर लाल गोस्वामी थे, मैंने प्रत्यक्ष उनके सामने बैठके स्पष्टम् स्पष्टम् बात की। श्रीरामानुज सम्प्रदायके लोगोंमें बैठके उनसे समझनेकी कोशिश की कि जड़ कारण होगा तब तो वह रूपान्तरित होके कार्य बनेगा यह बात समझमें आती है। कारण जड़ भी दृश्य और कार्य जड़ भी दृश्य, लेकिन—**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** जो है, साक्षी और निर्गुण, वह यदि कार्याकार होवे तो उसका परिणाम 'कीदृक्' होगा, कैसा परिणाम होगा? क्या चैतन्य रूपान्तरित हो जायेगा? तो रूपान्तरका साक्षी कौन रहेगा? तो कहो कि एक अंशमें वह रूप रूपान्तरका साक्षी रहेगा और एक अंशमें रूपरूपान्तरको प्राप्त होगा। तो जिस अंशमें वह रूप रूपान्तरको प्राप्त होगा वह साक्षी चैतन्य नहीं रहेगा। और जिस अंशमें साक्षी चैतन्य रहेगा, उसमें रूपरूपान्तरको प्राप्त नहीं होगा। अब कहो कि एक स्थानमें रूपरूपान्तरको प्राप्त हो रहा है और एक स्थानमें साक्षी है तो देश-परिच्छिन्न होनेसे विनाशी हो जायेगा। और यदि साक्षी-साक्षी है और रूपान्तर होनेवाला द्रव्य जड़ है तब यह प्रश्न उठेगा कि जड़ और चेतन दोनों दो कालमें होते हैं क्या? जड़के मर जाने पर चेतन रहता है और चेतनके मर जानेपर जड़ रहता है क्या? बोले—नहीं एक ही कालमें दोनों रहते हैं। अच्छा एक ही कालमें रहते हैं तो दोनों दो देशमें रहते हैं? जड़ देशमें चेतन नहीं और चेतन देशमें जड़ नहीं। अच्छा जड़ वस्तु चेतन नहीं और चेतन वस्तु जड़ नहीं? तो कहाँ रहकर जड़ चेतनसे सम्बद्ध होता है?

असलमें जब हम अपनेको जड़ देहमें चेतन मानकरके वस्तुका विचार

करते हैं तब ईश्वरमें स्थूल और सूक्ष्म उपाधिका अध्यारोप करते हैं कि स्थूल उपाधिमान ईश्वर विराट् है, सूक्ष्म उपाधिमान ईश्वर हिरण्यगर्भ है, कारणका अभिमानी ईश्वर है और निरुपाधिक ब्रह्म है—ऐसी हम अविद्या दशामें रहकरके कल्पना करते हैं। अच्छा यदि ईश्वर अभिमानी होवे तो? यावत् स्थूल सृष्टि तावत् स्थूल सृष्टिमान आप; और जितने काल, जितने देशमें, स्थूल सृष्टि है, उस स्थूल सृष्टिवाला मैं हूँ। ऐसा ईश्वर परिच्छिन्न होगा कि नहीं होगा? स्थूल सृष्टिसे बाहर जो होगा वह क्या होगा? अच्छा मैं सूक्ष्म सृष्टिवाला हूँ, अभिमानी बनकरके बैठा तो ईश्वर परिच्छिन्न हो गया, जीव हो गया। ईश्वर यदि अपनेको स्थूल शरीरी या सूक्ष्म शरीरी या कारण शरीरी स्वदृष्टिसे ही अभिमान करे तो अभिमानवान् होनेके कारण ईश्वर भी परिच्छिन्न हो जायेगा—ईश्वरके शरीरके बाह्य देशमें शरीराभाव होगा, स्थूल शरीराभाव, सूक्ष्म शरीराभाव, कारण शरीराभाव। तो असलमें इसकी पद्धति यही है कि यावत् देशमें यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है, तावत् देशावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्यका विवर्त है यह; और जहाँ प्रपंचकी प्रतीति नहीं है, ऐसा तो ब्रह्म परिपूर्ण है ही; और ब्रह्म दृष्टिसे न देश है, न काल है और न वस्तु है। प्रपंच-भाव भावानुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न ब्रह्ममें ही यह शक्ति और शक्तिका कार्य विवर्त प्रतीत हो रहा है।

एक तो देखो यहाँ 'सर्वगतं' शब्द हैं और 'आकाशं' शब्द है। तो **नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः** यह सनातन सर्वगत है आत्मा और आकाशवत् अपने कार्यका अधिष्ठान है। परन्तु जड़ आकाशका कार्य अन्यविध है और चैतन्य आत्माका कार्य अन्यविध है। चैतन्यमें जो कार्य कारणभाव होता हैं वह विवर्ती होता है और जड़में जो कार्यकारण भाव होता है वह विकारी और परिणामी होता है। तो—

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।

अब **सर्वत्र देहे—सर्वेषु देहेषु पशु-पक्ष्यादिषु हिरण्यगर्भादिषु—** एक कीटसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त और तृणसे लेकर माया पर्यन्त सब शरीरमें अवस्थित आत्मदेव जो हैं; वे अलिप्त हैं—अब यह बताते हैं। *तथात्मा नोपलिप्यते*— आत्माका, चैतन्यका उपलेप कैसा होगा? चैतन्यका जड़के साथ उपलेप कैसा? तो देखो जहाँ समान सत्ताकत्व होता है वहीं उपलेप

होता है, जहाँ विषम सत्ताकत्व होता है वहाँ उपलेप नहीं होता, यह नियम है। इसको साफ समझो कि अगर सपनेमें तुमको कीचड़ लग जाये तो वह जाग्रतके पानीसे नहीं धोयी जायगी और जाग्रतमें कीचड़ लग जाय, तो सपनेके पानीसे नहीं धोयी जाएगी। निवर्त्य-निवर्तक भाव समान सत्ताकत्वमें ही होता है। तो जड़ शरीरमें कीचड़ लगेगी तो जड़ पानीसे ही धोयी जायेगी, और चेतन शरीरमें कीचड़ लगेगी तो चेतन पानीसे धोयी जायेगी। तो चेतनमें कीचड़ जड़ लगेगी कि चेतन? बोले—चेतनमें कीचड़ भी चेतन ही लगेगी, जड़ नहीं लगेगी। तो वह धोयी जायेगी तो चेतनसे ही धोयी जायेगी, जड़से नहीं धोयी जायेगी। बोले—भला चेतन और कीचड़, चेतन और धोना? बोले—चेतनके स्वरूपका अज्ञान होनेसे ही चेतनमें कीचड़का लगना भासता है और चेतनके स्वरूपका ज्ञान होने पर कीचड़का लगना निवृत्त हो जाता है। माने चेतनमें जो उपलेप है वह केवल भ्रान्ति जन्य ही है। बोले—भ्रान्ति ईश्वरको हुई कि ब्रह्मको हुई? तो भ्रान्ति जहाँ बुद्धि होती है वहाँ होती है। ईश्वरमें भ्रान्ति नहीं होती, ईश्वरमें ज्ञान है पर बुद्धि नहीं है। यह अद्भुत लीला है। बुद्धि तो अन्तःकरण है, अन्तःकरणमें संस्कार होता है, अन्तःकरणमें अहंता-ममता कल्पित होती है। तो *कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधि ईश्वरः।* ईश्वरको कभी अज्ञान नहीं होता, ईश्वरको कभी भ्रान्ति नहीं होती। क्योंकि उसकी उपाधि कार्योपाधि अन्तःकरण नहीं है, अन्तःकरण तो जीवकी उपाधि है। सूक्ष्म-स्थूल उपाधिमें अहंता-ममता करके जो जीव बैठा हुआ है उसीको भ्रान्ति होती है। परन्तु जैसे जीव अहंतासे अपनेको मनुष्य जानता है, वह जैसे पशुके भावसे आक्रान्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार ईश्वर भी जिसको अपने चेतनत्वका, अपने ब्रह्मत्वका अज्ञान नहीं है और जो संशयके सम्बन्धसे असंभावना, विपरीत भावनाके लेशसे सर्वथा विनिर्मुक्त ज्ञान है, उस ईश्वरमें यह कीचड़-वीचड़ नहीं होता।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।

कल आपको संक्षेपमें यह बात सुनायी थी कि आकाशका दृष्टान्त है आत्माके सर्वगतत्वको सूचित करनेके लिए है। सर्वगत जो आत्मा है वह देहगत पवित्रता-अपवित्रतासे उपलिप्त नहीं होता, माने यदि आत्मज्ञान होवे तो आत्मदेव तो कभी लिप्त होते ही नहीं। अब यह प्रश्न है कि सब शरीरमें

अलग-अलग आत्मा है या सब शरीरोंमें एक ही आत्मा है। किसीको अपने शरीरकी दृष्टिसे इस स्थूल शरीरमें बैठा हुआ आत्मा शरीरी है और फिर ईश्वरके लिए वह शरीर और आत्मा ही शरीर हो जाता है। अद्‌भुत लीला है। लेकिन आपको यह सुनाते हैं कि जो गीताका ध्यानपूर्वक स्वाध्याय सुनते हैं कि जो गीताका ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करेगा, वह इस बातको समझेगा कि अधिष्ठान अध्यस्तके गुण-दोषसे किंचित् भी सम्बन्धित नहीं होता। साँपका विष रस्सीको नहीं लगता, साँपकी जीभ रस्सीको गीला नहीं करती, साँपका टेढ़ापन रस्सीको टेढ़ा नहीं करता क्योंकि वह तो रस्सीको न जानकर साँप देखनेवालेके मनमें ही वह साँप है। उस साँपका जहर भी देखनेवालेके मनमें है, रस्सीमें नहीं है। इसी प्रकार अख़ण्ड अनन्त परमात्माके अनन्तत्व, अखण्डत्व, अद्वयत्व, प्रत्यक्‌त्वको न जानकरके जो उस अनन्तमें सान्तको देख रहे हैं, निष्प्रपंचमें प्रपंचको देख रहे हैं, अद्वयमें द्वयको देख रहे हैं, निर्विशेषमें विशेषको देख रहे हैं, निर्गुणमें गुणको देख रहे हैं, माने अधिष्ठाननिष्ठ जो अत्यन्ताभाव है उसके प्रतियोगीके रूपमें प्रपंचको देख रहे हैं—***स्वाधिष्ठाननिष्ठः अत्यन्ताभावप्रतियोगी*** के रूपमें जो इस प्रपंचको देख रहे हैं, माने प्रपंचके अभावके अधिकरणमें जो प्रपंचको देख रहे हैं, जहाँ प्रपंच नहीं है वहाँ प्रपंच देख रहे हैं, उनके उस प्रपंचदर्शनसे भी अधिष्ठानमें प्रपंचका कोई भी उपलेप प्राप्त नहीं हो सकता। सान्तका आधार अनन्त है, सादिका आधार अनादि है, जड़का आधार चेतन है, अनेकका आधार एक है। इस अधिष्ठानत्वके बिना तो प्रपंचकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। तो अपने अभावके अधिकरणमें आरोपित होनेके कारण यह प्रपंच अपने अधिष्ठानमें उपलेप नहीं कर सकता; **तथात्मा नोपलिप्यते**—यह बात बतायी आकाशके दृष्टान्तसे अब प्रकाशकके दृष्टान्तसे बताते हैं। जरा ध्यान दो, बड़ा विलक्षण है यह। इसमें एक शब्दको पकड़ो—**कृत्स्नम्**।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रंक्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

अच्छा; *कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति, कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति,* यह दो बार एक ही श्लोकमें **कृत्स्नम्** शब्दका प्रयोग किया गया है। कृत्स्न माने सब। अब यह देखो कि यहाँ यह कृत्स्न शब्दका प्रयोग क्यों हुआ? दो बार है। यह

जो आप क्षेत्रज्ञ हैं, वह आप केवल एक शरीर रूप क्षेत्रके प्रकाशक नहीं हैं, इस बातको आप नहीं भूलना—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (१३.५-६)

देखो महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व) और अव्यक्त (प्रकृति), समष्टिको क्षेत्र कहा गया है कि नहीं? तो आप समष्टि क्षेत्रमें आकाशके समान सर्वगत हैं और समष्टि क्षेत्रके प्रकाशक हैं। यह मत समझना कि इस शरीरमें रहने वाले कोई नन्हें-मुन्ने क्षेत्रज्ञ हैं। यही तो इस प्रसंगमें ध्येय है। उद्देश्य है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक। और विधेय है क्षेत्रज्ञका परमात्मत्व—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**। थोड़ा विचार लगाओ, थोड़ी बुद्धि लगाओ, थोड़ा परामर्श करो।

अच्छा एक बात देखो—यह जो आपका शरीर है पंचभूतमें बना हुआ, यह पंचभूतमें शरीर नामकी मानसिक रेखाएँ खिंची हुई हैं वैसे ही जैसे आकाशमें घटाकाश केवल मानसिक रेखामात्र है; आकाशमें घटाकाश नामकी कोई भी वस्तु नहीं है।

हमको एक माहात्माने बताया कि यह तू पंचभूत-पंचभूत क्या करता है? तू अपनेको आकाश समझ! चेतनकी तो बात छोड़ दे, पहले तू अपनेको आकाश तो समझ।

आप अपनेको जब आकाश समझेंगे तब मनुष्य नहीं समझ सकते। अपनेको आकाश समझना और मनुष्य समझना एक साथ नहीं हो सकता। तब आप अपनेको भारतीय भी नहीं समझ सकते। अच्छा तब आप अपनेको पृथ्वीमण्डलका एक प्राणी-एक मनुष्य भी नहीं समझ सकते। आप अपनेको आकाश समझिये और ये ग्रह, नक्षत्र, तारे, सूर्य, चन्द्रमा और ऐसी-ऐसी कितनी पृथिवी और कितने ब्रह्माण्ड आपके शरीरके अन्दर ऐसे ही डोलते मालूम पड़ेंगे, जैसे आपके शरीरमें खूनके कतरे। आपको शरीरमें जैसे खून दौड़ रहा हो, वैसे आपके आकाश शरीरमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड कीटाणुओंके समान दौड़ रहे हैं। केवल आकाश अपनेको समझो। अरे भाई

यह देहाभिमानीके लिए नहीं है, जो देहको मैं करके बैठा है। अपनेको मिट्टी तो समझा नहीं, तत्त्वज्ञान क्या होगा? यह शरीर कोई तत्त्व है? अपनेको मिट्टी समझो, तो मनुष्यपनेकी भ्रान्ति मिट जायेगी। अपनेको जल समझो, अपनेको अग्नि समझो, अपनेको वायु समझो! अपनेको आकाश करके देखो जिसमें न वायु है, न अग्नि है, न जल है, न पृथिवी है, न पाँच भूतोंसे बने हुए ग्रह-नक्षत्र-तारे हैं, न सौर-मण्डल है, न ब्रह्माण्ड-मण्डल है-ऐसा आकाश अपनेको समझो।

अच्छा, आकाशकी बात छोड़ दो, आकाश भी जिसमें लीन हो जाता है और इन्द्रिया भी जिसमें लीन हो जाती हैं और मनीराम भी जहाँ नेस्तोनाबूद हो जाते हैं, नास्ति हो जाते हैं जरा देखो उस जगह, वहाँ अहं है। तो वहाँ कितना बड़ा अहं है? जहाँ मनुष्य-शरीर नहींमें मिट्टी नहीं, पानी नहीं आग नहीं, आकाश नहीं, पंचतन्मात्रा नहीं, वहाँ कितना बड़ा अहं है? अच्छा जी अहंकारको छोड़ो, अहंकार भी जहाँ नहीं रहता है, उस महतत्त्वको देखो। ये सब तमाशे हैं तुम्हारे देखनेके लिए—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

वह जो सबीज सत्ता है, जिसको माया कहते हैं, प्रकृति कहते हैं उसको देखो।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

क्षेत्रज्ञ कोई मामूली वस्तु है? क्षेत्रज्ञ है अव्यक्तका ज्ञाता। एक चींटीके शरीरसे लेकर अव्यक्त पर्यन्त जितना जड़ वर्ग है, कार्यकारणात्मक कार्य वर्ग है सबके ज्ञाताका नाम क्षेत्रज्ञ है। तब भगवान् कहते हैं—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।** नहीं तो क्या ऐसे ही कह देते? तो

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

द्वैतवादियोंके सामने यह प्रश्न आया कि भाई; यह आत्माको तो बिल्कुल सर्वगत, सर्वव्यापक कहा गया है, लेकिन हमारे अणु-सिद्धान्तमें इसकी संगति कैसे लगेगी? अब हमारे तो सब इष्ट-मित्र ही हैं। हमारे तो समझो ऐसा बढ़िया है वृन्दावनमें कि द्वैतवादी राधारमणी हमसे ऐसा प्रेम करते हैं, द्वैताद्वैतवादी-निम्बार्की लोग हैं, सिद्धाद्वैतवादी राधावल्लभी लोग हैं, वन महाराजके स्वामीजी हैं, ये तो बिल्कुल मध्वसम्प्रदायके हैं, उन्होंने

यूनिवर्सिटी बनायी तो हमको डाइरेक्टर बनाया। कहनेका अभिप्राय यह है कि द्वैतवादी तो हमारी आत्मा हैं, विशिष्टाद्वैतवादी चक्रपाणिजी महाराज बड़े प्रेमसे मिलते हैं। हमारा किसीसे विरोध नहीं है—

अविवादोअविरूद्धश्च।

हम अविवाद धर्म, अविरुद्ध धर्म, सर्वाधिष्ठान धर्म, सर्वावभासक धर्म, स्वयं प्रकाश धर्मका प्रतिपादन करते हैं। यह धर्म क्या है? असलमें आत्माका ही नाम धर्म है। गौड़पादकारिकामें देखना धर्म शब्दका प्रयोग आत्माके लिए है। आप कहो हम बतावें अणुवादमें कैसे आत्माकी व्याप्तिकी संगति है? वे कहते हैं कि जैसे चन्दनकी लकड़ी एक जगह रहती है और सारे घरमें इसकी सुवास फैलती है तो बोलते हैं देखो चन्दन सारे कमरेमें व्याप्त हो गया है, ऐसे अणु आत्मा रहता तो एक जगह है शरीरमें, पर उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। बोले—दीपक जैसे घरमें एक जगह रहता है, परन्तु उसकी प्रभा फैलती है वैसे अणुकी व्याप्ति होती है।

द्वैताद्वैतकी संगति बतावें? जैसे फल अलग है, फूल अलग है, पत्ती अलग है, तना अलग है, यह तो द्वैत हुआ और वृक्षरूपसे सब एक है, इसलिए अद्वैत हुआ। कार्यरूपसे द्वैत, कारणरूपसे अद्वैत, द्वैताद्वैत हुआ।

विशिष्टाद्वैतवादीसे पूछो क्या संगति है? बोले—अनारके फलमें बीज है कि नहीं, गूदा है कि नहीं, कि है? छिलका है कि नहीं? कि है। सबका नाम एक अनार है कि नहीं? है परन्तु बीज और गूदासे विशिष्ट जो अनार है ना, वह शरीरी है। तो उसमें शरीरी अनार है, आत्मातो अनार है, ब्रह्म है, पर बीज भी अनार है, गूदा भी अनार है, छिलका भी अनार है इसको स्वगत भेद बोलते हैं। ऐसे विशिष्ट जो है ब्रह्म और वह अपने विशेषण जीव-जगत्में अनारकी तरह व्यापक है। आओ विचार करो—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

जैसे एक सूर्य सम्पूर्ण लोकको रूपदान करता है, प्रकाशित करता है, वैसे ही यह जो क्षेत्री है, यह सम्पूर्ण क्षेत्रको, (कृत्स्नं दुबारा आया है तो सम्पूर्ण क्षेत्रका ग्रहण होगा) प्रकाशयति—प्रकाशित करता है। उसमें **भूतप्रकृतिमोक्षं च**-भूत प्रकृति है ही नहीं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ १३.३३

यथा—*येन प्रकारेण इमं कृत्स्नं लोकं एकः रविः प्रकाशयति तथा एकः क्षेत्री इदं कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति।*

एक शब्दका अर्थ होता है अनुगत; जो सबके पीछे चले। माने जो दोमें भी हो, तीनमें भी हो, चारमें भी हो, पाँचमें भी हो—जिसके बिना कोई संख्या न हो, उसको एक बोलते हैं। संस्कृत शब्द *'एक'* की यही मर्यादा है। *एति अन्वेति अनुगतिः इति एकः। इण् गतौ-एति इति एकः। एता इता संख्या, एति इत्युच्यते।* जो अन्वित संख्या है, माने जिसके बिना कोई संख्या ही नहीं बनती, जिसके बिना शून्य ही होता है, उसे एक कहते हैं। एक अनेकको प्रकाशित करता है। प्रकाशक एक होता है; प्रकाश्य अनेक होते हैं।

अब जरा सूर्यके प्रकाशकी बात सुनो। सूर्यके प्रकाशकी बात वेदमें भी आयी है और उपनिषदोंमें भी आयी है। कठोपनिषद्‌में एक मन्त्र है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य॥

जरा इस मन्त्रपर ध्यान दो। लोग हैं अलग-अलग, परन्तु सबकी आँख सूर्य है, माने देखते सब सूर्यकी रोशनीमें हैं। आप जरा ध्यान देना, लोग अलग-अलग हैं, उनकी आँखें अलग-अलग हैं, उनके अन्तःकरण, मन, बुद्धि आदि अलग-अलग हैं, परन्तु जिस प्रकाशसे, जिस चैतन्यसे वे देखते हैं, वह चैतन्य एक है। *सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः* और *न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।* किसीकी आँख तेज है, किसीकी आँख मन्द है, किसीकी आँख कानी है, किसीकी आँख अन्धी है, इससे सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। अब किसीका अन्तःकरण मूर्ख है, किसीका अन्तःकरण प्रबुद्ध है, किसीका अन्तःकरण एकांगी-पक्षपाती है, किसीका अन्तःकरण रागी है, किसीकी आँखमें लाल-लाल रोग है, उसका जैसे सूर्यपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वह तो आँखका रोग है, सूर्यका रोग नहीं है। नेत्रका काना होना, नेत्रका मन्दा होना, नेत्रका तेज होना, नेत्रका होना

नेत्रका न होना, नेत्रका पक्षपाती होना, नेत्रका क्रोधपूर्ण होना, नेत्रका कामपूर्ण होना, नेत्रका लोभपूर्ण होना, नेत्रमें आर्ति होना, नेत्रमें याचना होना। आँख-आँखसे माँग लेते हैं, आँख-आँखसे अपनी व्यथा प्रकट कर देते हैं, आँख-आँखसे शृंगाररसका भाव प्रकट कर देते हैं, आँखसे गुस्सा दिखा देते हैं, आँखमेंसे लोभ टपक आता है, आँखसे रो लेते हैं। लेकिन सूर्य ज्यों-का-त्यों। आँखसे छलना भी दिखती है। आँख कभी चंचल होती है, कभी स्थिर होती है, सूर्यके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। **न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः** यहाँ आँख शब्दका अर्थ समझना अन्तःकरण। और सूर्य शब्दका अर्थ समझना अन्तरात्मा। **एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**-पृथक्-पृथक् शरीरमें जो अन्तःकरण है, वह किसीका मूर्ख, किसीका बुद्धिमान्, किसीका काना। अन्तःकरण भला काना कैसे होगा? एकांगी अन्तःकरण ही काना है। किसीका अन्तःकरण क्रूर, किसीका अन्तःकरण कामी, किसीका अन्तःकरण लोभी, किसीका अन्तःकरण आर्त, किसीका अन्तःकरण छली, किसीका अन्तःकरण मलिन, किसीका अन्तःकरण ललित, किसीका अन्तःकरण याचित लेकिन—**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**-भूतोंकी और भूतोंके अन्तःकरणकी पृथक्तासे सर्वभूतान्तरात्माका कोई सम्बन्ध नहीं। देखो, यहाँ यह स्पष्ट है कि शरीर भेदसे, अन्तःकरण भेदसे आत्माका भेद नहीं है, सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है और **न लिप्यते** कहीं लिप्त नहीं होता है। क्या-क्या दुःख देख गया, क्या-क्या सुख देख गया, कितने रिश्तेदार आये और चले गये और कितने चल गये और फिर लौट आये, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिकी परम्परा आती-जाती रहती है, परन्तु जो जाग्रत बीत जाती है वह फिर नहीं आती, जो स्वप्न बीत जाता है वह फिर नहीं आता, जो सुषुप्ति बीत जाती है वह फिर नहीं आती। आत्माके साथ इन सब वस्तुओंका कोई सम्बन्ध नहीं है। सबमें अन्वित है वह एक और सबका सार वही है। पृथिवीका सार—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु।

यह पृथिवी सम्पूर्ण भूतोंका मधु है, यह जल मधु है। यह अग्नि मधु है। वायु मधु है, यह आकाश मधु है। यह मन मधु है। यह बुद्धि मधु है। सम्पूर्ण मधुओंका मधु कौन है? ***अयं आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु।*** ये आत्मदेव हैं।

अच्छा; अब जरा दूसरे दृष्टिकोणसे देखो। प्रतिबिम्बगत जो दोष हैं वे बिम्बका स्पर्श नहीं करते हैं। शीशा मैला हो और उसमें तुम्हारी तस्वीर मैली दिखे तो तुम मैले नहीं हो, वह तो शीशेका मैल है जो तुम्हारे प्रतिबिम्बमें दिखायी पड़ रही है। शीशेकी मैलको अपनी मैल मत समझना। यह जो कर्त्तापन है, भोक्तापन है, संसारीपन है, परिच्छिन्नता है यह शीशेमें है, तुममें नहीं है।

एक ही आत्माके लिए दो दृष्टान्त हैं। इसका मतलब हुआ आत्मा आकाशवत् परिपूर्ण है और सूर्यवत् प्रकाशक है। अगर केवल सूर्यवत् बात कही जाती तो आत्मा भी परिच्छिन्नवत् मालूम पड़ता। क्योंकि सूर्य परिच्छिन्न है; और अगर केवल आकाशवत् बात कही जाती, तो आकाश तो जड़ है आत्मामें जड़त्वकी प्राप्ति होती। तो परिच्छिन्नत्वका निषेध करनेके लिए आकाशका दृष्टान्त है और आकाशमें जो जड़ता है, उपादानता है, परिणामता है, उस जड़तासे विलक्षण बतानेके लिए सूर्यका दृष्टान्त है। आकाशसे प्रकाशकत्व सूचित नहीं होता और सूर्यसे व्यापकत्व प्रकट नहीं होता। तो जब आकाश और सूर्यको एकमें मिलाओ तब आत्माका स्वरूप यह प्रकट होगा कि परिपूर्ण प्रकाशका नाम आत्मा है। आकाशके दृष्टान्तसे अखण्डता और सूर्यके दृष्टान्तसे प्रकाश। तो अखण्ड प्रकाश ही आत्मा है, यह बात दोनोंसे मिली।

अब एक साधनकी दृष्टिसे बात देखो। एक बार किसीके घरमें बैठे हुए थे। तो देखा उसकी दीवालपर रोशनी हो रही है, दीवार चमक रही है। तब यह प्रश्न उठा कि यहाँ बल्ब नहीं है, कोई रोशनीका तरीका नहीं है, यह दीवार चमक क्यों रही है? तो दीवारपर रोशनी कहाँसे आ रही है, इसकी खोज करनेपर क्या निकला कि घरमें एक परात रखी हुई थी, उसमें पानी भरा हुआ था और जहाँ परात रखी हुई थी वहाँ सूर्यकी रोशनी उस परातमें पड़ रही थी, और उस परातमें-से निकलके रोशनी भीतपर पहुँच रही थी। तो भीतमें रोशनी कहाँसे आयी, यह देखनेके लिए हमारी नजर परातपर गयी, और परातमें रोशनी कहाँसे आ रही है? यह देखनेके लिए नजर सूर्यपर गयी? यह साधन है? कैसे? कि यह हमको सारी दुनिया दिख रही है—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह मकान है—तो ये स्त्री-पुरुष किसकी चमकसे चमक

रहे हैं? यह देखनेके लिए हमारा ध्यान अपनी इन्द्रियोंपर अन्तःकरणपर जाता है। अगर हमारे अन्तःकरणमें प्रकाश न होता, चैतन्य न होता तो दुनियाकी कोई भी चीज मालूम पड़ती क्या? तो यह अन्तःकरणमें प्रकाश कहाँसे आता है? जो अखण्ड प्रकाश है वही अन्तःकरणकी उपाधिसे खण्ड-खण्ड होकर अन्तःकरणसे इन्द्रियोंके रास्तेसे बाहर निकल-निकलकर विषयोंको प्रकाशित करता है। तो **यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः**। इससे सिद्धान्त क्या निकला? कि प्रतिबिम्बके द्वारा बिम्बका अनुसन्धान होता है। यदि आप इस बातपर विचार करें कि हमें दुनियाकी वस्तु कैसे मालूम पड़ती है तो यह निश्चित होगा कि आपके अन्तःकरणमें आप चैतन्यरूपसे विराजमान हैं, आपकी उपस्थितिसे ही अन्तःकरणके जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति और राग-द्वेषादि और इन्द्रिय द्वारके बाहरके विषय आपको मालूम पड़ते हैं, आप स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। आप सूर्यवत् प्रकाशस्वरूप हैं और आकाशवत् परिपूर्ण हैं। और, आकाश भी निर्लेप और सूर्य भी निर्लेप।

अच्छा जी, ज्ञान-अज्ञानकी बात सुनाते हैं। आप शीशेके सामने खड़े हों और आपकी जो परछाईं शीशेमें पड़ रही है, जो छाया, जो आभास, उसकी नाक पकड़नेकी कोशिश करें। तो आप शीशेमें दीखनेवाली नाक पकड़ सकते हैं क्या? प्रतिबिम्बकी नाक पकड़नेसे नाक पकड़में नहीं आवेगी। नाक पकड़में कब आवेगी? जब बिम्बकी नाक पकड़ोगे तब। अपनी नाक आप पकड़ लीजिये प्रतिबिम्बकी नाक पकड़में आ जायेगी। और अपनी नाक नहीं पकड़ेंगे तो परछाईंकी नाक पकड़में नहीं आवेगी।

एक आदमी प्रतिबिम्बको जानता हो और बिम्बको न जानता हो, ऐसा हो सकता है कि नहीं? हो सकता है। हमने देखा चिड़िया आती है शीशेपर, तो चिड़िया बैठके लड़ती, चोंच मारती है। देर-देर तक अपनी चोंच शीशेपर मारती है। क्योंकि उसको शीशेमें दूसरी चिड़िया दिखती थी, और वह यह नहीं समझती थी कि यह हमारा प्रतिबिम्ब है। कृष्ण भगवान्‌का आपने सुना है कि शीशेमें अपना प्रतिबिम्ब देखकरके कहते हैं कि *''माखन खाओगे।''* तुम भी बराबर माखन ले लेना। तो चिड़ियाको भी अज्ञान है। बालक भी पहले पहल शीशेमें अपने प्रतिबिम्बको देखकरके डर जाते हैं या

उससे मेल करनेके लिए शीशेके साथ चिपक जाते हैं। क्योंकि उनको ज्ञान नहीं है। और जो जानता है कि मैं बिम्ब हूँ और यह प्रतिबिम्ब है उसके लिए प्रतिबिम्बकी कोई कीमत नहीं। तो केवल सूर्यका दृष्टान्त होता तो यह द्रष्टा आत्मा अन्तःकरण, देह, इन्द्रिय विषयोंका प्रकाशक होनेपर भी परिच्छिन्न मालूम पड़ता और यदि केवल आकाशके समान यह विस्तीर्ण है इतनी ही बात कही जाती तो आकाशमें जैसे जड़ता है, दृश्यता है वैसे आत्मामें भी जड़ता और दृश्यताकी प्राप्ति होती। दोनोंको मिलाकर यह बताते हैं कि यह तुम्हारा प्रकाशक द्रष्टा जो चैतन्य आत्मा है वह परिपूर्ण **आकाशवत् सर्वगतं च नित्यः**—आकाशके समान सर्वगत और नित्य है।

अच्छा तो प्रतिबिम्बके द्वारा बिम्बका विवेक होता है, प्रतिबिम्बगत जो धर्म हैं, वे बिम्बमें आरोपित नहीं होते हैं, प्रतिबिम्ब हिले-डोले-चले, एकांगी हो, इससे सूर्य-चन्द्रमाका कुछ नहीं बिगड़ता। वह परिपूर्ण है; द्रष्टा है। *एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः* आप यह ध्यानमें रखना, परमात्मा एक है। देव माने स्वयंप्रकाश। सारे प्राणियोंमें गूढ़ है, छिपा हुआ है। साक्षी यही है। भूत सर्व हैं पर अन्तरात्मा एक है—***एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।*** (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अब एक प्रक्रियाकी बात सुनाते हैं। आप देखो कि सूर्यके प्रकाशमें केवल प्रकाशात्मक वस्तुओंका ही ज्ञान होता है। केवल रूपका ही ज्ञान करानेमें सूर्य हेतु है। प्रकाशमें केवल प्रकाशके ही अवान्तर भेद देखनेमें आ सकते हैं, प्रकाशातिरिक्त वस्तुका दर्शन प्रकाशित नहीं हो सकता। बोले—हम मिट्टीका घड़ा देखते हैं। कि नहीं, सूर्यके प्रकाशमें मिट्टीका घड़ा नहीं दिखता, घड़ेका केवल रूप दिखता है। सूर्यकी रोशनीमें और नेत्रसे केवल रूपका ही दर्शन हो सकता है रूपातिरिक्त वस्तुका दर्शन नहीं हो सकता। जरा देखकर बताओ कि घड़ेमें कोई गन्धकी वस्तु है क्या? उसके लिए नाक चाहिए। माने अश्विनीकुमारके प्रकाशमें नासिकाके द्वारा गन्धका ज्ञान होगा। माने गन्ध ही गन्धको देखेगा। देवता, करण और विषयके रूपमें गन्ध है। अश्विनीकुमार गन्ध है, नासिका गन्ध है और जो इत्रादिकी खुशबू है वह भी गन्ध है। आँखसे गन्धका पता नहीं चलता, नाकसे चलता है। रूप ही रूपसे

रूपको देखता है। गन्ध ही गन्धसे गन्धको सूँघता है। रस ही रससे रसको जानता है। स्पर्श ही स्पर्शसे स्पर्शको जानता है। शब्द ही शब्दसे शब्दको श्रवण करता है। उपलब्धिकी प्रक्रिया ही यह है कि अपनेसे भिन्नकी उपलब्धि नहीं होती। आप इस नियम पर जरा ध्यान दें। हमको कभी जब यह उपलब्धिका नियम ध्यानमें आया तो हमको खुशी हुई थी। यह बात ध्यानमें आयी कि आँख भी रूप है सूर्य भी रूप है, माने अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों रूप हैं—आँख अध्यात्म है, सूर्य अधिदैव है और रूप अधिभूत है। तो एक रूपतत्त्वके ही तीन भेद हैं—देवता, करण और विषय। इसी प्रकार गन्धतत्त्वके रसके, स्पर्शके, शब्दके तीन-तीन भेद हैं देवता, करण और विषय। अच्छा, ये सब अलग-अलग हैं, संघातरूप हैं। और इनका द्रष्टा इनसे अलग है। यह विवेक कर लो। शब्द, शब्दज्ञानका करण और देवता-ये अलग-अलग है, शब्दका संघात है, माने अनेक हैं। रूप है, रूपका करण है, रूपक संघात है। स्पर्श है, स्पर्श करण है और संघात है। अच्छा; इनका द्रष्टा इनसे न्यारा। क्योंकि ये अनेक हैं और वह एक है। लेकिन जरा इस नियमपर दृष्टि डालो कि रूप ही करण भी है, देवता भी है और विषय भी है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह जो अध्यात्म द्रष्टा है, देवता (अधिदैव)ईश्वर है और अधिभूत विषय सर्व है इसका तीनोंके रूपमें एक ही ज्ञान तत्त्व प्रकाशित हो रहा है।

अब देखो एक बम-गोला और फेंकता हूँ। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राएँ परिणामको प्राप्त होकरके सत्त्व, रज, तमके भेदसे विषयरूप, करणरूप और देवता रूप ग्रहण करता है तो शब्द परिणामी है, रूप परिणामी है, रस परिणामी है, गन्ध परिणामी है। परन्तु चैतन्य परिणामी नहीं है। जो बदल जाये सो चैतन्य परिणामी नहीं अन्यथा बदलनेको कौन देखेगा? तो चित्‌तत्त्व अपरिणामी है। अब, चित्‌तत्त्व अपरिणामी है और द्रष्टा दृश्य और ईश्वरके रूपमें भासता है। चित् होनेसे सबको वही देखता है। चेतनसे ही ईश्वर, जीव और जगत् प्रकाशित होते हैं। चैतन्य अखण्ड है। और अखण्ड चैतन्य ही जीव, जगत् और ईश्वरके रूपमें प्रकट हो रहा है। लेकिन परिणामी होकर नहीं। इसलिए अखण्ड चैतन्यके अतिरिक्त न ईश्वर है, न जगत् है, न जीव है और अखण्ड चैतन्य ही जीवके रूपमें जगत्‌के रूपमें, ईश्वरके रूपमें

भास रहा है। एक प्रक्रिया इसकी आपको सुनायी, यह विचार करनेकी एक प्रक्रिया है। विचारसे धर्म होता है क्योंकि विचारमें कर्तृत्व रहता है। विचारसे समाधि लगती है क्योंकि विचार जब एक विषयका होता है, तो विचार-विचार-विचार परन्तु सबमें अनुगत एक। विचारसे समाधि लगती है विचारसे ध्यान होता है, विचारसे उपासना होती है, विचारसे ईश्वरका साक्षात्कार होता है। विचारसे ईश्वर और जगत्का अभेद होता है। विचारसे जीव और जगत्का अभेद होता है। विचारसे जीव और ईश्वरका अभेद होता है। विचारसे भेदाभेद बाधित होते है। और विचारका जो असली स्वरूप है, जो विचारका सार है, उसका नाम आत्मा है। विचार जिसका विवर्त है उसका नाम आत्मा, उसका नाम ब्रह्म। तो चित्तके अनेक विषयक अत्यन्त चांचल्यका त्याग और स्वत्रिषयक अचांचल्यको ही ध्यान कहते हैं; और अन्य विषयक चांचल्य त्यागकी पराकाष्ठा—इसका नाम समाधि है। स्व, स्व, स्व-वृत्ति स्वमें निश्चल हो गयी।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में।

जो लोग समझते हैं कि त्यागसे ही समाधि लगती है, या कर्मसे ही धर्म होता है, वे लोग सृष्टिके रहस्यको बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं समझते हैं।

मैंने महात्मासे पूछा कि कोई-कोई कहते हैं कि कर्मसे ही ज्ञान होता है, इसपर आपका क्या अभिमत है? तो वे हँस गये, बोले—क्या विचार कर्म नहीं है? स्थूल शरीरके कर्मका नाम ही जब कर्म रखोगे, तब यह कहना पड़ेगा कि कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। लेकिन सूक्ष्म शरीरमें जो विचार होते हैं और जब जानबूझ करके हम उनको तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ विषयक ही करते हैं, तब विचार क्या कर्म नहीं है? और जब करते हैं विचार, तो करते तो हैं। विचारमें अपना कर्तृत्व है कि नहीं? जबतक विचारमें कर्तृत्व है तबतक विचार कर्म ही है। पूछा—कर्मसे समाधि लगती है कि नहीं? तो बोले—अभ्यासमें जबतक कर्तृत्व है तब तक अभ्यास कर्म है। उपासनामें जबतक कर्तृत्व है, तबतक कर्म है। और यदि अपना कर्तृत्व अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित हुआ तो कर्म भी ब्रह्म, उपासना भी ब्रह्म, विचार भी ब्रह्म, धर्म भी ब्रह्म, ईश्वर भी ब्रह्म, समाधि भी ब्रह्म और इनके विरोधी भी

ब्रह्म। तब वाद-विवाद कहाँ है? वाद-विवाद तो अपने-अपने सम्प्रदायकी प्रक्रियाकी रक्षामें होता है।

अच्छा; एक बात और आपको सुनाते हैं। एक महात्मा थे, वे अपने नामके साथ जगद् गुरु लिखते थे। हम लोग विरक्तोंमें बैठे थे। विचार हुआ कि ये जगद्गुरु कैसे? योरोप वाले क्या इनको गुरु मानते हैं? अमेरिका वाले क्या गुरु मानते हैं? ईसाई मुसलमान क्या गुरु मानते हैं? अपने ही देशके नास्तिक क्या गुरु मानते हैं? आर्यसमाजी इनको गुरु मानते हैं? अच्छा यह प्रश्न हुआ कि शांकर सम्प्रदायके जगद्गुरुको रामानुज सम्प्रदायवाले जगद्गुरु मानते हैं? तब इस 'जगद्' शब्दका अर्थ समेटना पड़ेगा। उस विरक्तने कहा-अरे भाई इतनी परेशानीमें काहेको? उसका अर्थ होता है स्वशिष्य-जगद्गुरु। अपने शिष्योंका जो जगत् है उसके गुरु हैं।

तो यह जो प्रक्रियाओंका महत्त्व है वह स्व-सम्प्रदायगत महत्त्व है। प्रक्रियाका तत्त्व-दृष्टिसे, ब्रह्म दृष्टिसे, ईश्वर दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है। यह द्रष्टा दृश्यके विवेककी क्या कीमत है? तत्त्व दृष्टिसे उपास्य-उपासनाकी क्या कीमत है? तत्त्व दृष्टिसे धर्म और स्वर्गकी क्या कीमत है? इतने राजा-रईस-पंडित-विद्वान् हुए और इतने सन्त-महन्त-आचार्य हुए कि आज उनके नामोंकी कोई गिनती करना चाहे तो नाम भी सुननेको नहीं मिलता है! इस अद्वितीय तत्त्वमें किसीकी क्या कीमत?

आकाशमें दो चीज है। एक तो विस्तार और एक उपादानता—चार भूतोंकी उपादानता। उपादानताको, विस्तारको प्रकाशके साथ एक कर दो। देखो महा-वाक्य निकलता है कि नहीं?

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोपलिप्यते।

आकाश, आकाशका विस्तार और आकाशकी उपादानता और प्रकाश और आकाशकी एकता—तब? आकाश कैसा है? प्रकाशरूप है। प्रकाश कैसा है? आकाशरूप है। अर्थात् प्रकाश सर्वोपादान और देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित है, देश, काल वस्तुका प्रकाशक है। यह प्रकाश ज्ञान-स्वरूप है। न इसमें विवर्त है न परिणाम है। आप क्या समझते हैं कि विवर्त कोई सिद्धान्त है? विवर्त सिद्धान्त नहीं है, विवर्त प्रक्रिया है। मिथ्या

सिद्धान्त नहीं है, मिथ्या प्रक्रिया है। जरा वेदान्तके दृष्टिकोणको समझो भाई! अब यह कहो कि जो नौसिखिये लोग हैं, जिन्होंने केवल अनुभवशून्य किताबी वेदान्तको प्राप्त किया है उनके लिए तो वेदान्त ही बाधित नहीं हुआ! एक धृति तो वह है जो जड़ कणोंको धारण करती है। अलग-अलग कणोंको एक करनेवाली जो शक्ति है, विज्ञान-सिद्ध जो परस्पराकर्षण शक्ति है, वह धृति है, वह क्षेत्रके अन्तर्गत है, वह विधरण परमात्माका विवर्त है। तो महाभूतसे लेकरके धृति पर्यन्त जो क्षेत्र है; आप किस किसके प्रकाशक हैं? आप जानते हैं? आप नाम तो कमसे कम उनका जान लें!

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रम्.............।

यह क्षेत्र है और इसके प्रकाशक आप क्षेत्रज्ञ हैं। सम्पूर्ण क्षेत्रके प्रकाशक, अव्यक्तके प्रकाशक। *आकाशवत् सर्वगतश्च।*

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञानका फल-मोक्ष प्राप्ति

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

संगतिः-इस ज्ञान निरूपणके प्रसंगमें मोक्ष अभीतक नहीं आया है। क्षेत्र आया है, क्षेत्रज्ञ आया है, दोनोंका अन्तर आया है, ज्ञान चक्षुका भी वर्णन आया है, परन्तु अभी तक मोक्षका वर्णन नहीं आया। तो इस अगले श्लोकमें मोक्षका वर्णन आया है। और देखो भाई ऐसे मोक्षका वर्णन नहीं है जो मरनेके बाद मिलेगा या जिसका निवास स्वर्गमें है। देश-विशेषमें कैद मोक्षका वर्णन नहीं; जो देश-विशेषमें स्वयं बद्ध है, वह मोक्ष कहाँ? जो काल-विशेषमें बद्ध है, वह मोक्ष कहाँ? कलियुगमें मोक्ष बँधा नहीं है, कलियुगमें मोक्ष खुला ही है। एकादशी भले बँध जाये जगन्नाथपुरीमें जाके, जगन्नाथपुरी आप लोग कभी जाना तो देखना वहाँ एकादशी बाँध ली गयी है। एकादशीको अन्न खानेमें पाप होता है यह साधारण नियम है। परन्तु एकादशी जगन्नाथपुरीमें बाँध दी गयी। बोले यह भी अपवाद कहीं होना चाहिए ना! क्योंकि जितने अध्यारोप होते हैं उनका अपवाद भी निश्चित रूपसे होता है। तो जगन्नाथपुरीमें बँध गयी एकादशी। लेकिन यह मोक्ष! कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं होता है। केवल मोक्षके स्वरूपका अज्ञान ही बन्धन है। और जो चीज अज्ञानसे होती है वह होती नहीं है। और जो ज्ञानसे मिटती है वह थी ही नहीं। तो आओ यह मोक्ष हमारा कहाँ बँध गया? किस सरकारने हमारी मोक्षको बाँध करके कैद कर लिया? किसीमें यह सामर्थ्य नहीं है कि हमारे स्वातन्त्र्यको हमारी मुक्तिको बाँधके रख दे। हमारी स्वतन्त्रता अखण्ड है, अक्षुण्ण है। लेकिन इस स्वतन्त्रताका अर्थ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, प्रान्तीय

स्वतन्त्रता, ब्रह्माण्डीय स्वतन्त्रता नहीं है। आत्मनिष्ठ जो स्वातन्त्र्य है, वह स्वातन्त्र्य हमारा है। मोक्षको जो समझे सो मुक्त।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ १३.३४

अर्थः- जो इस प्रकार ज्ञान-नेत्रोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरको तथा भूतोंकी प्रकृतिके मोक्षको जान लेते हैं, वे परं ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं।

अब तेरहवें अध्यायका जो अभिप्राय है तात्पर्य है उसका उपसंहार करनेके लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही यह अन्तिम श्लोक बोलते हैं। शंकराचार्यने कहा कि—

समस्ताध्यायार्थोपसंहारार्थः अयं श्लोकः।

सारे अध्यायके अर्थका उपसंहार करनेके लिए यह श्लोक है। एक तो होता है संहार और एक होता है उपसंहार। संहारमें नाश होता है और उपसंहारमें नाश नहीं होता, इतना सूक्ष्म विवेचन होता है कि सारी जो विशेषताएँ हैं वे अपने स्वरूपमें आ जाती हैं।

पहली बात इसमें बतायी कि **ये ज्ञानचक्षुषा विदुः**-जिन्होंने ज्ञानकी आँखसे जाना। क्या जाना? **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं भूतप्रकृतिमोक्षं च**। माने **'ये ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं भूतप्रकृति-मोक्षं च विदुः ते परं यान्ति।'**

ये माने जो अधिकारी पुरुष। इसका अर्थ है कि सब इसको नहीं जान सकते, परन्तु जान लें तो चाहे कोई भी हो। सब नहीं जान सकते माने जाननेके पहले अधिकारीकी अपेक्षा होती है। देखो मनुष्यके मनमें संस्कार बैठे हैं। कोई तो अपने देहमें अहं है, उसीको नहीं छोड़ सकते; कोई शरीर, पुत्रादिमें जो ममता है उसको नहीं छोड़ सकते। कोईकी जातिमें, सम्प्रदायमें, प्रान्तमें, राष्ट्रमें वासना बैठी है, नहीं छोड़ सकते; किसीके मनमें स्वर्ग-वैकुण्ठ-साकेत-गोलोकका इतना भाव पक्का हो गया है कि उसको नहीं छोड़ सकता। कोई वेद शास्त्र पुराण धर्मके नामपर अन्य सबको छोड़ सकता है पर इनको नहीं। कोई कहेगा कि जिस स्थितिमें या जिस स्वरूपके साक्षात्कारमें हमारी पत्नी छूटती हो वह नहीं चाहिए, हमारा देह छूटता हो वह नहीं चाहिए, हमारा प्रान्त, राष्ट्र छूटता हो वह नहीं चाहिए, हमारा धर्म,

सम्प्रदाय छूटता हो वह नहीं चाहिए! कोई कहेगा कि अगर हमको वैकुण्ठमें, गोलोकमें हजार दुःख मिले तब भी हमको वही चाहिए, वह छूटना नहीं चाहिये। तो लोग अपनी-अपनी धारणा, अपनी-अपनी वासना अपने-अपने संस्कारके अनुसार, अपने-अपने स्थानपर बँधे हुए होते हैं। महात्मा लोग इस बातको समझते हैं। जो जहाँ बैठा होता है उसको वहाँसे जैसा दिखता है, वह वही बोलता है और जिद करता है कि हम जो बोलते हैं वही सच है और सब झूठ है। अपनी-अपनी नजरमें, अपनी-अपनी अकलमें और अपने-अपने ऊपर जो संस्कार बैठा हुआ है छाप बैठ गयी है दुनियाकी, उसको मनुष्य छोड़ नहीं सकता; और यह बात बिल्कुल पक्की है कि जो अपने मनमें बैठे हुए संस्कारोंको समझ करके उनसे अपना अलगाव अनुभव नहीं करेगा, उसे तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो सकता। इसमें क्या सम्प्रदाय और धर्म और क्या स्वर्ग और वैकुण्ठ और क्या समाधि और धर्म। मनमें जिस बातका महत्त्व बैठ गया है, यदि उसके त्यागके लिए, बाधके लिए कोई तैयार नहीं है, वह अपनी भ्रांतिकालीन धाराकी ही पुष्टि चाहता है, तो उसके लिए दिमाग खपानेकी कोई जरूरत नहीं है, हाँ-हाँ कहना ही ठीक है। नहीं तो किससे-किससे सिर फोड़ोगे? स्वमीजीको कोई विक्षेपका तो जीवन व्यतीत नहीं करना है। जो जहाँ है उसको वहाँ बैठे-बैठे जो दिखता है, ठीक है। कभी वह उठेगा, कभी खड़ा होगा, कभी उसकी दृष्टि आग्रहसे विनिर्मुक्त होगी, कभी असंगता आवेगी, कभी वैराग्य आवेगा, तब वह सत्य वस्तुको ग्रहण कर सकेगा। इसलिए देखो क्षेत्रका निरूपण करनेमें किसी अधिकारकी बात नहीं है—**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।** परन्तु जब क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपका निरूपण करना हुआ तो **अमानित्वं अदम्भित्वं अहिंसा क्षान्तिरार्जवमेव च।** ये अन्तःकरण शुद्धिके साधन बताये गये। मान होगा धनका, शरीरकी सुन्दरताका, जातिका, सम्प्रदायका, अपनी बाईबल, कुरान, पुराणका; अभिमान होगा अपनी बुद्धिका, अभिमान होगा अपनी किसी व्यक्तिगत स्थितिका।

आपको क्या सुनावें, यह जिसको समाधि बोलते हैं, यह व्यक्तिके जीवनमें व्यक्तिकी एक अवस्था है। अव्यक्तकी अवस्था समाधि नहीं है।

व्यक्ति माने अन्तःकरण, मन, जो कभी जाहिर हुआ था। वह चुपचाप हो गया, बैठ गया तो उसको समाधि बोलते हैं यह व्यक्तिका एक खेल है, व्यक्तिकी एक झाँकी है समाधि; और जितने लोक, परलोक हैं वे सब व्यक्तिकी झाँकी हैं और जितने वेद-शास्त्र-पुराणपर विश्वास है, ये सब-के-सब विश्वास अपने सूक्ष्म व्यक्तित्वकी एक-एक झाँकी हैं। तो इनमें जो मान करके बैठा हुआ है कि यह मैं और यह मेरा, उसके लिए यथार्थ सत्यका जिसका स्वरूप बताया—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते।

—इसका साक्षात्कार करना बड़ा कठिन है। इसलिए **ज्ञेय** का साधन जो ज्ञान है उसका अर्थ है **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**—हम सत्यको स्वीकार करेंगे और जो हमारे जीवनमें असत्य है, उसका परित्याग करेंगे। असत्य भाषण नहीं, असत्य धारणाएँ, असत्य वासनाएँ, असत्य संस्कार, असत्य अभिमान जिसको बिना समझे अपने जीवनमें धारण किया गया है, उसका यदि परित्याग नहीं करेंगे या परित्याग करनेके लिए तैयार नहीं होंगे तो सत्यका साक्षात्कार कैसे होगा?

हमारे बचपनकी बात है, हम लोग कनखलमें थे। तो एक महात्माके पास चिट्ठी लिखी कि हम आपके पास आवेंगे और आपके विचारोंका अध्ययन करेंगे। तो उनका उत्तर आया कि हमारे विचारोंका अध्ययन करनेसे लाभ कब होगा? यदि अबतकके तुम्हारे माने हुए जो विचार हैं या संस्कार हैं या धारणाएँ हैं, यदि हमारे विचारसे उनके मिथ्या सिद्ध होनेपर तुम उनको त्यागनेके लिए तैयार हो जाओगे तब तो हमारे विचारसे लाभ होगा और यदि तुम अध्ययन करो हमारे विचारका और अपनी वासनाएँ, अपनी धारणाएँ, अपनी मान्यताएँ, अपने संस्कार और अपनी अहंताएँ छोड़नेको तैयार ही नहीं हो, उन्हींकी कसौटीपर हमको तौलने आते हो, तो हमारे पास आनेसे कोई लाभ नहीं हैं। तुम्हारा भी समय व्यर्थ होगा और हमारा समय भी व्यर्थ जायेगा हम काहेको अपना समय तुम्हारे लिए खर्च करें।

कहिए तो महाराज एक दोहा बोल दो—

सबदी साखी दोहरे कह कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भक्त कलि निंदहिं बेद पुरान॥

गोस्वामी तुलसीदासजीका यह दोहा है—कहानी सुनावें, उपाख्यान सुनावें, दोहे बोलें। महाभाष्यकारने लिखा है *किं भो श्लोकाः प्रमाणं* क्यों जी, कोई बात श्लोक बनाके बोल दी जाये तो क्या वह प्रमाण हो जाती है? यह महर्षि पतंजलिका वचन है। महाभाष्यके मूलमें यह बात है।

तो केवल भाषासे या पद्य बन जानेसे कोई बात प्रमाण नहीं होती है। सत्यके साक्षात्कारके लिए जैसी मानसिक तैयारी चाहिए, वह दुर्लभ है। हम आपको क्या सुनावें, सामान्य लोगोंकी भी सदाचार, दुराचारके बारेमें जो धारणाएँ हैं, वे बहुत विकल धारणाएँ हैं।

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चिद् स ब्राह्मणः॥

ब्रह्मज्ञानी कौन है? जिसको कोई सन्त असन्त न समझ सके, मूर्ख विद्वान् न समझ सके, दुराचारी सदाचारी न समझ सके; चाहे जिस रूपमें, चाहे जिस देशमें रहे, चाहे जिस वेशमें रहे, केश रखे ना रक्खे।

तो यह अविद्या लेश जो है, वह केवल आचार्यों, मण्डलेश्वरों, महन्तोंमें ही होता है, अवधूतोंका स्पर्श अविद्या लेश नहीं करता। देखो यह हम वेदान्तकी एक बात सुनाते हैं। यदि किसीको संस्कार नहीं होगा तो उलटा समझ जायेगा। वेदान्तके ग्रन्थोमें यह बात बतायी गयी है कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद ब्रह्मवेत्ताका शरीर कैसे रहता है? अविद्या निवृत्त हो गयी तो अविद्याका कार्य भी निवृत्त हो जाना चाहिए और अविद्याका कार्य निवृत्त हो जायें तो शरीर ही नहीं रहेगा। फिर यह प्रचारका कार्य कैसे होगा? गुरु-शिष्य परम्परा कैसे चलेगी? महन्त-परम्परा, मण्डलेश्वर-परम्परा, आचार्य-परम्परा कैसे चलेगी? तो वेदान्तके ग्रन्थोंमें ही इसके लिए अविद्या—लेश नामकी एक वस्तु स्वीकार की गयी है कि जैसे किसी दोनेमें गुलाब या चम्पाका पुष्प रखा हो और उसको उठा लिया जाये, तो गुलाब और चम्पा तो उठ गया लेकिन उसकी जो गन्ध थी दोनेमें, वह लगी रह गयी। इसी प्रकार अविद्या तो मिट गयी, लेकिन अविद्याकी जो गन्ध रह गयी, उससे यह जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर रहता है।

लेकिन असलमें जो दिव्य अनुभव सम्पन्न महापुरुष हैं वे लेशा-विद्याको ही स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि अविद्या नामकी कोई

चीज थी ही नहीं, है ही नहीं, होगी ही नहीं, तो उसका लेश कहाँसे आवेगा?
अविद्यापि न किंचित् स कापि भुक्ता कथापि ते। तत्त्वदृष्ट्या त्व विधेयं न कथंच न अविद्यते। नासीदस्ति भविष्यति।

अविद्या न थी, न है, न होगी, उसका लेश कहाँसे आवेगा?

तो भाई यह परमात्माके स्वरूपके अनुभवकी जो प्रणाली है वह बड़ी निराली है। अच्छा एक बात और आपको सुनावेंगे। संस्कृत भाषामें अधिकार शब्दका जो प्रयोग है और आजकल देशी भाषाओंमें जो अधिकार शब्दका प्रयोग है, उसके अर्थमें बड़ा फर्क है। आजकल तो लोग लड़ जाते हैं कि क्या 'भारतीय विद्या भवन'के हालमें आनेका हमारा अधिकार नहीं है? अवश्य तुम्हारा अधिकार है भला! परन्तु ब्रह्मज्ञान शब्दके लिए जब अधिकार शब्दका प्रयोग होता है तो उसका अर्थ दूसरा होता है। जैसे कर्मकाण्डमें अधिकारी अर्थी हो, समर्थी हो—अर्थी हो माने चाहता हो, स्वर्ग चाहता हो और समर्थी माने यज्ञ करनेमें समर्थ हो। अर्थी हो, समर्थी हो और विद्वान् हो और *शास्त्रेण अपर्युदस्ता*—शास्त्रमें उस कर्मका उसके लिए निषेध न हो। पूर्वमीमांसाके प्रारम्भमें ही शबर स्वामीने ये शब्द लिखे हैं।

अर्थी समर्थी विद्वान् शास्त्रेण अपर्युदस्तः।

कर्मकाण्डमें ऐसा अधिकारी होता है। अब वेदान्तमें कैसा? जिसको छिटपुट चीजोंकी और धनकी कीमत न हो मनमें; सम्बन्धकी कीमत न हो मनमें; सम्प्रदायकी, परिवारकी, जातिकी, कोठी बनानेकी, लोक-परलोककी इन सब बातोंकी इज्जत मनमें न हो; केवल सत्य, केवल यथार्थ ज्ञान, परमार्थका स्वरूप क्या है, तत्त्वका स्वरूप क्या है? उसको जाननेकी आकांक्षा हो—अर्थी हो, आकांक्षी हो, जिज्ञासु हो, वह वेदान्तमें अधिकारी है। देखो जो कर्मकाण्डमें अर्थी है, वह वेदान्तमें मुमुक्षु हो जायेगा, जिज्ञासु हो जायेगा। एकमात्र मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा जिसको हो, वह जिज्ञासु है।

अच्छा समर्थका क्या अर्थ हो जायेगा वेदान्तमें? समर्थका अर्थ होगा—

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः। मनसैवेदमाप्तव्यं। एतद् ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

अमानित्वादि—साधन सम्पत्ति—यही सामर्थ्य है। माने जब तुम अपने

संस्कार, अपनी धारणा, अपनी वासना, अपने विचारके विरुद्ध अखण्ड वस्तुका श्रवण करोगे, जिसमें सम्पूर्ण खण्ड-खण्ड खंडित हो जाता है तो तुम्हारी बुद्धि कहीं फट तो नहीं जायेगी? कहीं तुम्हारी बुद्धि टूट तो नहीं जायेगी? कहीं सिर तो नहीं पीटने लगोगे? कि हाय-हाय हमारी तो सारी मान्यताएँ चकनाचूर हो गयी। अपनी मान्यताओंको लेकर बैठे तो नहीं रहोगे? यह यथार्थ वस्तुका जो ज्ञान है, इसमें सामर्थ्य चाहिए सर्वके त्यागकी और जिज्ञासा चाहिए यथार्थ सत्यके ज्ञानकी। और उसके लिए न तो यह ऐन्द्रियक सत्य है कि दूरबीन-खुर्दबीनसे इसकी खोज करें और न तो यह मानस सत्य है कि इसका ध्यान करें। न तो यह धर्मादिके द्वारा उत्पाद्य स्वर्गादि लोक है, न तो यह उपासनाके द्वारा भावित इष्टका लोक है। न तो ये अभ्यासके द्वारा प्रतिलोम परिणामसे उत्पन्न समाधि रूप स्थिति है। समाधि जो है वह अभ्यासके द्वारा उत्पादित परिणामरूप अवस्था है। और उपासना जो है, उपासनासे भावित जो लोक-विशेष हैं वे इष्टदेवके लोक हैं। और धर्मसे उत्पादित जो भोग हैं वे स्वर्गादिरूप हैं। और कर्मसे पुरुषार्थसे सम्पन्न यहाँ मकानादि हैं। **तद्यथा इह कर्मचितो लोकःक्षीयते।**

जैसे लोकमें कर्मसे उत्पन्न सभी क्षयी हैं वैसे ही कर्मसे उत्पाद्य सब लोक विनाशी हैं। ऐसी स्थितिमें उस वस्तुके साक्षात्कारके लिए क्या चाहिए? बोले—ज्ञानचक्षु चाहिए। आप यह बात ध्यानमें रखो खुर्दबीन-दूरबीनसे आँख अखण्ड वस्तुको नहीं देख सकेगी, क्योंकि आँख एक खण्ड सत्यको देखती है, अखण्ड सत्यको आँख नहीं देखती है। वह नाकसे सूँघा नहीं जा सकता क्योंकि नाक खण्ड सत्यको सूँघती है, अखण्ड सत्यको नहीं सूँघती है। मन खण्ड सत्यका ध्यान करता है, अखण्ड सत्यका ध्यान नहीं करता। समाधि खण्ड सत्यमें होती है, अखण्ड सत्यमें समाधि नहीं होती। समाधि एक व्यक्तिकी प्रतिलोमात्मक अवस्था मात्र है। और जहाँ अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है वहाँ द्रष्टाका परिच्छिन्नत्व दूर नहीं होगा। तो ऐसी स्थितिमें **ज्ञानचक्षुषा**—ज्ञान चक्षु चाहिए—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(गीता-११.८)

लो दिव्य दृष्टि तुमको देता हूँ। ज्ञान चक्षु। पहले नेत्रके शीशेमें ही देख लेते हैं कि इस जिज्ञासुके नेत्र कैसे लगते हैं—कटहलके जैसे दो कोये रखे हों ऐसे या जैसे महुआका दो कोयना रखा हुआ हो, या जैसे गुलाबके दो फूल रखे हुए हों या जैसे कमलके दो फूल रखे हुए हों!

यह ज्ञानकी दृष्टि क्या है? ज्ञानकी दृष्टि है जन्मजन्मार्जित जो संस्कार हैं उन संस्कारोंकी स्वच्छ की हुई नहीं, उन संस्कारोंसे विनिर्मुक्त जो दृष्टि है। संस्कार माने पालिश होता है। पालिश किया हुआ ज्ञान नहीं चाहिए। माने गुणाधान संस्कार वाला ज्ञान नहीं चाहिए, दोषापनयन रूप संस्कार वाला ज्ञान चाहिए, जहाँ ज्ञानमें-से सारी बाह्यार्थ (वाह्यात)चीजें निकालके फेंक दी गयी हों। ज्ञानमें-से ज्ञेय रूप अर्थको जब बिल्कुल निकाल दिया जाता है, बाह्यार्थ शून्य जो ज्ञान स्वरूप है, उस ज्ञानसे सम्पन्न दृष्टिसे तत्त्वज्ञान होता है। **ज्ञानचक्षुषा।**

चक्षणात् चक्षुः। ज्ञानका दो स्वरूप बताते हैं, वह आप ध्यानमें रखो। ज्ञान चक्षुसे क्या देखा जाता है? ज्ञान चक्षुसे एक बात यह देखी जाती है कि पहले तो यह समझो कि घड़ीमें जो आकाश है और हालमें जो आकाश है और हालके बाहर जो आकाश है उसमें क्या फर्क है? पहले फर्क समझो। किसी धातुके घेरेमें, यह घड़ी नामका जो यन्त्र है, इसके भीतर जो पोल है सो, मकानके भीतर जो पोल है सो और घड़ी और मकानके भेदसे रहित जो पोल है सो। तो पहले भेदको-वैलक्षण्यको समझना पड़ता है। पहले एक घड़ा छोटा-सा बनाकर रखा है और बड़ा घड़ा-नाद रखा हुआ है। तो घड़ेको नादमें रख सकते हैं कि नहीं? देखो हमने गुजरातियोंके घरमें देखा है, छोटी पतीली उससे बड़ी पतीलीमें, उससे बड़ी पतीली उसमें...........पच्चीस पतीली एक दूसरेमें रखके, एक बड़ी पतीली रखनेकी जितनी जगह होती है, उसमें पच्चीस पतीली रख देते हैं। तो देखो यह जो आकाश है, छोटे दायरेमें, हमारे हाथके भीतर आया हुआ आकाश और हालके भीतर आया हुआ आकाश और हालके भीतर न आया हुआ आकाश। अरे आकाशको तो तुम जानते हो, यह तो जड़ है, यह तो दृश्य है, यह तो मानस है, इसका तो बौद्ध प्रत्यय है। तुम स्वयं ज्ञान स्वरूप हो। देखो एक शरीरके भीतर भासता हुआ ज्ञान, एक ब्रह्माण्डके भीतर भासता हुआ ज्ञान, सम्पूर्ण प्रकृति मण्डलमें

ज्ञान, एक प्रकृति-मण्डलमें कोटि कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। एक-एक ब्रह्माण्डमें अगर एक-एक ब्रह्मा, विष्णु, महेश मानें तो कोटि कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें ऊपर नीचे होते रहे हैं। जैसे त्रसरेणु आकाशमें बिखरते हैं, खिड़कीसे जैसे धूलि-कण आते हैं ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें हैं। कितनोंमें प्रलय हो रहा है, कितनोंमें सृष्टि हो रही है और प्रकृति मण्डलमें बैठा हुआ ईश्वर ज्यों-का-त्यों अपनी नजरसे सबका संचालन कर रहा है। देखो ना, यह कल्पनाकी आँखसे देखो-सबका संचालन कर रहा है और वह ज्ञान जिसमें न यह व्यष्टि मण्डल है, न ब्रह्माण्ड मण्डल है, न समष्टि मण्डल है, न प्रकृति मण्डल है। तो पहले अन्तरको समझो, फिर निरन्तरको समझो। **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं।**

देखो बच्चेको कहो छोटे घड़ेको ले आओ, तो ले आवेगा क्योंकि वह छोटे और बड़ेके अन्तरको समझता है। लेकिन जब तात्त्विक दृष्टिसे देखेंगे तो वह घड़ा पंचभूतका बना हुआ है, उसमें छोटे और बड़ेका फर्क नहीं है। तो जब तत्त्व दृष्टिसे वस्तुको देखा जायेगा तो तात्त्विक दृष्टिसे छोटे बड़ेका भेद नहीं होता है। जो चिन्मात्र अद्वितीय वस्तु है उसमें कार्य और कारणका भेद नहीं है। तो पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका, जड़ और चेतनका दृश्य और द्रष्टाका विषय और विषयीका, इदं और अहंका, अनात्मा और आत्माका भेद समझो।

एतद् क्षेत्रं सविकारमुदाहृतम्—क्षेत्र विकारी, अनित्य बदलने वाला और क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ), निर्विकार, न बदलने वाला, ज्ञाता।

अब देखो क्षेत्रज्ञमें देश, काल, वस्तु सब क्षेत्रकी उपाधिसे ही दृश्य हैं, नहीं तो दृश्य हैं ही नहीं। क्षेत्रज्ञको कहाँसे दिखेंगे? तब अखण्ड क्षेत्रज्ञमें देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित क्षेत्रज्ञमें क्षेत्र अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भास रहा है।

तो क्षेत्र मिथ्या और क्षेत्रज्ञ सत्य। और जो चीज मिथ्या होती है, वह अपने अधिष्ठानसे जुदा नहीं होती। सर्प रज्जुसे जुदा नहीं होता, स्वप्न स्वप्नद्रष्टासे जुदा नहीं होता। तो इस तरह क्या हुआ? नतीजा क्या निकला? बोले—**भूतप्रकृतिमोक्षं च**। पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरको समझो। फिर भूतप्रकृतिके मोक्षको समझो। दो बात समझनेको कह रहे हैं—

ये तु ज्ञानचक्षुषा क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः एवं अन्तरं भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः। भूत माने कार्य, प्रकृति माने कारण और मोक्ष माने दोनोंका अभाव, अत्यन्त अभाव। जिस अखण्ड सत्यमें भूत और प्रकृति-प्रकृति शब्दका शंकराचार्यने अविद्या अर्थ किया है—

भूतानां प्रकृतिः अविद्यालक्षणा अव्यक्ताख्या।
तस्या भूतप्रकृतेः मोक्षणं अभावगमनं च ये विदुः॥

जिनको यह विद्या आ गयी, यह कला आ गयी, कि न कार्य है न कारण, दृश्य द्रष्टाका भेद नहीं है परमात्मामें, परमार्थमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं है, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी, उनको मोक्ष प्राप्त हो गया।

तो विषय और विषयीमें विषयी नित्य और विषय अनित्य; और विषय ज्ञेय और विषयी आत्मा ज्ञाता; और ज्ञेय ज्ञातामें द्रष्टा और दृश्यमें विषय और विषयीमें विषय मिथ्या और विषयी आत्मा सत्य। आप जरा उसको अपने अनुभवमें ऊपर लीजिये। पहले विषय और विषयी, जड़ और चेतन। जड़को जानने वाला चेतन। अनित्य और नित्य, विकारी और निर्विकार, दृश्य और द्रष्टा और मिथ्या और सत्य। तब? कि सत्य ही सत्य। कौन? यदि अपनेसे पृथक् सत्य हो तो बाधित, इसलिए केवल अपना आपा। इस प्रकार 'भूत-प्रकृतिमोक्षं'का अर्थ हुआ अविद्याकी निवृत्ति। 'ये विदुः'—जो जानते हैं, 'ते परम्यान्ति'—***परमपरमार्थतत्त्वं ब्रह्म न पुनर्देहमाददते इत्यर्थः***—वे अपनेको ब्रह्म रूपमें अनुभव कर लेते हैं, उनको फिर जन्म-मरण, नरक-स्वर्गके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता।

एक आश्चर्य इस अध्यायका और है, वह क्या है? १३वें अध्यायके अन्तमें आया—**ये विदुर्यान्ति ते परम्।** और १४वाँ अध्याय शुरू हुआ—**परं भूयः प्रवक्ष्यामि।** तेरहवाँ अध्याय 'परम्' पर समाप्त हुआ और चौदहवाँ अध्याय 'परम्'से प्रारम्भ होता है। तो यह परतत्त्व है माने सबसे परे रहनेवाला तत्त्व जिससे परे कुछ नहीं। संस्कृतमें एक कहावत है—

यस्मात् परो नास्ति। लोकोक्तिकी तरह ही उसका प्रयोग करते हैं—निरतिशय अर्थमें परम्का प्रयोग है। **अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषात् न परं किंचित्। सा काष्ठा सा परा गतिः।**

पिपर्तिः इति परः—जो सत्ता-स्फूर्ति देकरके सबका पालन-पोषण

करता है वह पर है। सबको धारण करके, सबसे असंग, और जिसमें द्वैतका अस्तित्व ही नहीं, उसको पर बोलते हैं। *प्रीञ् पालनपृणयोः* से भी 'पर' शब्द बनता है।

अब यह कहो कि आत्माको ढूँढ़ने जायेंगे, तो मैं को साथ रखके ढूँढ़ने जायेंगे, मैं मिलेगा कहाँ? और ढूँढ़ना छोड़ते आओ तो छोड़ते-छोड़ते तुम रह जाओगे। तो तुम परमात्मा मिलोगे।

अगर आप दूसरेको ढूँढ़नेके लिए जाओ तो आपका मैं बुद्धिको लेकर, बुद्धिका दीया लेकर दूसरेको ढूँढ़नेके लिए निकलेगा। तो आपको जब अनन्त मिलेगा तब आप अनन्तमें समा जायेंगे। लेकिन आपका मैं मरेगा नहीं, आपका मैं विशेषण होकर अनन्तमें रह जायेगा; क्योंकि 'मैं नहीं हूँ'— यह अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। इसलिए मैं को लेकर जो जायेगा ईश्वरको ढूँढ़ने, वह 'मैं' ईश्वरका विशेषण बन जायेगा। इसका नाम विशिष्टाद्वैत होगा। प्रक्रिया ही तो है। और जरा जगत्के मूलतत्त्वकी अन्यता का ख्याल छोड़ो, और इन्द्रियोंका ख्याल छोड़ो और बुद्धिका ख्याल छोड़ो और जीवत्वकी उपाधिको छोड़ो और अपने मैंको देखो तो अनन्त ही मैंका विशेषण मालूम पड़ेगा और अनन्त जब विशेषण मालूम पड़ेगा तो अनन्तत्व जो है वह मैं में समा जायेगा। तब मैं अनन्तताकी कल्पनका भी अधिष्ठान हो जायेगा। माने एक ही वस्तुको जब हम बाहर ढूँढने जाते हैं, तब मैंका बाध न कर पानेके कारण हम उसके शरीर हो जायेंगे और जब शरीर-शरीरी भावकी कल्पना छोड़करके उस कल्पनाका भी बाध करके अपनी अनन्तताको देखेंगे तो शरीर-शरीरी भावकी कल्पना ही बाधित हो जायेगी। यह सबका गुर है। गुर माने किस दृष्टिकोणसे ढूँढ़नेपर क्या नतीजा निकलता है। तो वैराग्यवान् पुरुष किस ढंगसे ढूँढ़ता है और रागवान पुरुष किस ढंगसे ढूँढ़ता है, श्रद्धालु किस ढंगसे ढूँढता है, अश्रद्धालु किस ढंगसे ढूँढ़ता है। वह क्यों उस नतीजे पर पहुँचे, यह उनके ढूँढ़नेके ढंगपर निर्भर करता है। हम तो यह व्यवस्था बतावेंगे कि बौद्धके अनुसन्धानकी क्या प्रक्रिया है जिससे वे शून्यताके नतीजेपर पहुँचते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके साथ वह कौन-सी बुद्धि है जो विशिष्टाद्वैतके नतीजेपर पहुँचाती है? निम्बार्काचार्यके साथ कौन-सी बुद्धि है जो द्वैताद्वैतके नतीजेपर पहुँचाती है? और यह

अद्वैतियोंके पास बुद्धित्यागकी ऐसी कौन-सी करामात है जिस करामातके कारण ये बुद्धिको ही अध्यस्त जान लेते हैं और अपने स्वरूपभूत अधिष्ठानमें शरीर-शरीरी भाव, चिदचिद् विशेषण-विशिष्टरूप भाव अथवा शून्यता, सब मिथ्या हो जाते हैं। अपनी शून्यता कभी हो नहीं सकती, पर इसमें प्रक्रियाकी मूल बात यही है। आप लिख लो, नोट कर लो इस बातको। जो अपनी जड़ताका अनुभव करता है, वह क्या अनुभवका स्वरूप जानता है? जो 'मैं जड़ हूँ' यह अनुभव करता है, उसने असलमें मैंका अनुभव नहीं किया, उसने तो विषयका अनुभव किया। मैं शून्य हूँ—यह आप अनुभव कर सकते हैं? नहीं। फिर यह अनुभवकी प्रणाली भला कैसे हो सकती है? तो जो निवृत्तिकी प्रणालीसे अनुभूति होती है उसमें अपनी अनन्तता, अखण्डता, अद्वितीयताका अनुभव होता है और जो प्रवृत्तिकी प्रणालीसे अनुभव होता है, अन्यका जो अनुसन्धान होता है, उसमें श्रद्धापूर्वक अनुसन्धान करो तो चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर मिलेगा, और अश्रद्धापूर्वक अनुसन्धान करो तो शून्य मिलेगा। और अपनेको भी जड़भूतका बेटा समझ लो तो चार भूत मिलेंगे, जड़ता मिलेगी। और जहाँ मैं कौन हूँ—इस प्रणालीका अनुसन्धान करोगे कोऽहम्-मैं कौन हूँ-तो देखोगे ईश्वरका, जीवका, प्रकृतिका जितना भी भेद है वह सब समाप्त होकरके परतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। यह केवल प्रक्रियाका ही अन्तर है। अपना स्वरूप है अहं ब्रह्मास्मि। वामदेवका अनुभव है—**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**। यह अहंके अनुभवकी प्रणाली है। यह औपनिषद प्रक्रिया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

हरि ॐ तत्सत्-हरि ॐ तत्सत्-हरि ॐ तत्सत्

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती